Minor objections answered

Restatement in clear terms of three out of seven sources of Dharma.

(52) Bearing of the second half on the 1st. Names of the authorities quoted and names of 37 religious precepts (as indicated below):

(53) (a) Truthfulness (1).

(b) Its obligation and nature.

(c) Harishchandra.

(d) Rama

(e) Miscellaneous authorities

(54) Fortitude (2).
Dialogue between Indra and Bali.

(55) Forgiveness (3).

(56) Self-Control (4).

(a) Its nature and obligation.

(b) Arjuna.

(57) Celibacy (5).

(58) अस्तेय (Asteya): Sage Likhita (6).

(59) Non-covetousness (7).

(60) Purity (8).

(61) Restraint of the senses (9).

(62) Penance (10).

(63) Kindness (11):

(a) Nature of kindness. The Dialogue of king Nahusha and the Sage Chyavana. The religious merit of cow-worship in the said dialogue.

(b) The King Shivi in the dialogue of Yudhisthira and sage Lomasa

(64) Non-injury to life (12).

(65) Faith (13).

(66) Hospitality: (14).

(a) Who is guest?

(b) King Ranti Deva.

(67) Charity: (15).

(a) Feeding the hungry.

(b) Free teaching.

(c) Lawful and unlawful charity.

The latter Half Portion of Part IV.

(*c*) Power of Brahmans and the immediate fruit of their worship.

(*d*) Power of Brahmans of the post-Bharat period.

(86) *Shraddha* (34).

(*a*) The identity of God-worship with *Shraddha*, of *Pitris* with *Vasus*, *Pitamahas* with *Rudras* and *Prapitamahas* with Adityas. Universal duty of performing *Shraddhas*.

(*b*) Authority of Veda.

(*c*) Authority of Manusmriti, Ramayana and Bharata.

(*d*) Dayanand's theory about *Shraddhas* examined.

(87) Visiting holy places: (35).

(*a*) Meaning of the word Tirtha and Anusaran and the fruit of sin removal.

(*b*) 1. Suitability of special places for religious practices.

2. Man alone qualified to practise *religion*.

3. Assuming post-mortal body.

(*c*) 1. The comparative sacredness of *Jambudwipa*, *Bharatvarsa* and *Aryavarta*.

2. The limits of *Aryavarta*, *Mlechha-desha* and *Dushta-desha*.

(*d*) Religious efficacy of residence at Kurukshetra and all places like Kashi and Prayag on the banks of the Ganges.

(*e*) Bharat–Varsha (India) as the place of origin of general and special Dharmas and other places that of general Dharma only.

(*f*) Religious ability of holy places as general Dharma.

(*g*) Authority of Veda for sacredness of water.

(*h*) Authority of Veda for sacredness of land.

(*i*) Liberations of beings dying in Kashi.

(*j*) Nature of the Taraka Mantra.

(*k*) Opinion of Sureswaracharya on the time of receiving Taraka Mantra

(*l*) Opinion of Harikrishna Vyasa of Benares on the above.

(*m*) Fates of sinners dying in Antargriha of Kedareshwvar.

(*n*) Efficacy of the Ganges water in lessening post-mortal sufferings.

(*o*) Opinion of Krishna Dvaipayan on the above.

(*p*) The efficacy of death at Kashi independent of time, place and manner.

(*q*) Limits of Baranasi, Avimukta and Antargriha in Kashi.

(*r*) The meaning of *Kashi*, *Baranasi*, *Mahasmasan*, *Anandban* and *Avimukta*.

(*s*) The relative efficacy of the above.

(*t*) Anecdote of Samvarta and Maruta.

(*u*) Rebirth in Kashi after death at other salvation-giving places.

(*v*) Doubts about the disappearance of Kashi in Kaliyuga.

(*w*) Glory of the Ganges.

(88) Battle of Dharma (36).

(89) Devotion to God (37).

(*a*) Devotion to God as a general Dharma.

(*b*) Nature of Devotion.

(*c*) Definition, result and its obligation.

(*d*) Devotion as the best means of salvation.

(*e*) Characteristics of firm devotion.

(*f*) Devotion to God and also his incarnation.

(*g*) God alone can show disinterested mercy and He and his incarnation alone and not human being is the proper object of devotion.

(*h*) Minor kinds of devotion.

(*i*) Devotion in Veda and Gita.

(*j*) Hymn by Prahlad.

(*k*) Hymn by Bhishma Pitamaha.

(*l*) The comparitive efficacy of the three means of salvation (*Gyana*, *Karma* and *Bhakti*) and Dayanand's opinion criticised.

(*m*) Author's reason for not writing *Vishesha Kanda* and *Darshana-Kanda* and for the substitution in their stead of the subjects, widow-marriage, caste, Vedic study and sea-voyage.

THE END OF SAMANTYA KANDA.

इस सनातनधर्मोद्धार के, लिखवाने में जिस विख्यात महाशय ने सहायता (लेखकों का वेतन, कागज, स्याही दो चार मुद्रित पुस्तक) दी थी और छपाने में जिन मेरे सुहृद् देशीय धर्मानुरागी महाशयों ने सहायता दी है, उनको शतशः धन्यवाद देकर उनकी नामावली को सहर्ष प्रकाशित करता हूँ।

---

(१) श्रीमान् पं० माननीय मदनमोहन मालवीय, श्रीप्रयाग
(२) श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य, श्रीस्वामी रामकृष्णानन्दगिरि जी महंत बाघंबरी, श्रीप्रयाग।
(३) श्रीमान् हरिबंशप्रसाद त्रिपाठी, मौ० रामपुर जि० गोरखपुर।
(४) पं० श्रीचण्डीप्रसाद शुक्ल, प्रधानाध्यापक इ० सी हाई-स्कूल—खुर्जा-जि० बुलंदशहर।
(५) श्रीमान् महाबीरप्रसाद शुक्ल, मौ० संपही जि० बस्ती।
(६) बाबू महादेवप्रसाद गुप्त, मैनेजर गोरखपूरबैंक।
(७) श्रीमान् बाबू सरयूप्रसाद पांडे, मौ० कोटिया, जि० बस्ती।
(८) श्रीमान् बाबू जगतबहादुरसाहि, मौ० डुमरिया, जि० चंपारन।
(९) पं० श्रीहरिहरकृपाल द्विवेदी, प्रधानाध्यापक तनसुखराय-पाठशाला-पटना।
(१०) श्रीमान् नागेश्वरप्रसाद मिश्र, बांसी-जि० बस्ती।
(११) श्रीमान् बाबू उत्तमश्लोकराव, मौ० सहिजनवा, जि० गोरखपूर।
(१२) श्रीमान् रामकृष्णशुक्ल, प्र. स्वामीनाथशुक्ल मौ० बनगाई जि० बस्ती।
(१३) पं० श्रीब्रजमोहन पाठक, मौ० सिसवा जि० बस्ती।
(१४) पं० श्रीरमाकान्त मिश्र, मौ० देवघाट जि० गोरखपूर।
(१५) पं० श्रीबच्चूराम द्विवेदी, द्वारपण्डित राजापड़रौना जि० गोरखपूर।

॥ श्रीः ॥

॥ सनातनधर्मोद्धार के सामान्यकाण्ड का शुद्धिपत्र ॥

॥ पूर्वार्द्ध प्रथमखण्ड ॥

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	२१	(मालवी जी)	(मालवीय जी)
६	१०	या	वा
८	५	युष्मद्वेषे	युष्मद्वेषो
११	२१	साधम	साधन
,,	२४	याने	अर्थात्
१४	१९	वृर्त्ति	वृत्ति
१५	३०	पांचों	पांचो
१७	३	तछब्दो	तच्छब्दो
,,	६	भाष्यकारे	भाष्यकारै
,,	७	मध्याहुत	मव्याहृत
,,	२१	वेद में	वेद से
,,	२६	नामोंच्चारण	नामोच्चारण
१८	१८	स्मृितियों	स्मृतियों
,,	२६	वायु से	वायु आदि से
२१	२	गच्छति	गच्छन्ति
२२	११	पुष्पदन्तोंऽपि	पुष्पदन्तोऽपि
,,	२०	भावको	भावकी
२३	३	निरीक्षमाणाश्च	निरीक्षमाणश्च
,,	४	ममत्यर्थं	ममात्यर्थं
,,	९	क्रियों	क्रियो
२३	१५	नुभमनिवेदित- आयमर्थ	नुभवनिवेदित- आयमर्थ
,,	२५	होता हैं	होता है
,,	२८	मैने	मैंने
२६	१४	चाथवापेते	चाथवोपेतः
२७	३	संभवेत	संभवेन
,,	१९	सो	सब
२८	२०	सें	से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२९	३	भवदोय	भवदीय
,,	८	व्यहिते	व्यवहिते
,,	,,	यथाकार	यथाऽकार
,,	११	कैसे	कैसे
३१	२	सपवा	अथवा
,,	५	सत्यें	सत्यं
,,	७	तस्मात्	यस्मात्
,,	१३	सृष्ट्वापि	सृष्ट्वाऽपि
,,	१६	अर्थात्	अर्थात्
,,	१७	जातीं हैं	जाती हैं
,,	२१	किंसी	किसी
३१	२५	धनुष्वखड्ग	धनुषखड्ग
३२	२	तसे	तसै
,,	४	धर्माव	धर्माद
,,	,,	धर्मस्यापि	धर्मस्यापि
,,	१४	तेपां	तेषां
,,	१५	साविदावेथर्म्	संविदावेयम्
,,	३०	इसी उक्त	इसी से उक्त-
,,	३३	मत	न
,,	३४	दी	दे
,,	,,	नुसार	अनुसार
३३	६	प्रियमिष्टं	प्रियमिष्टं
,,	७	निष्कथार्थ	निष्क्रयार्थ
,,	११	प्रमदनपम्टत	प्रमदनमनृत
,,	१६	कर्मेणी	कर्मणी
,,	२१	रस्मत्	रश्मत्
,,	३२	दम	उद्धत श्वास
,,	३३	मत	न

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	४	मिया	भिया
,,	१४	प्रवचन	पुनर्वचन
,,	१७	व्यपित्याह	व्यमित्याह
,,	२०	मित्यादिनेति	मित्यादिनेति
+ ३५	५	मस्याप्पधर्म	मस्याप्यधर्म
,,	३०	(विमूवौट)	(विमूबौट)
,,	३५	तरह	प्रकार
,,	३३	उतपन्न	उत्पन्न
३६	३	यातापि	याताऽपि
,,	२४	शक्तिमान	शक्तिमान्
,,	२५	मूख है	मूर्ख है
३७	११	वर्तापिष्यामि	वर्तयिष्यामि
,,	२६	धर्म को	धर्म की
,,	३०	मैं	में
३८	१	चायैर्मानुषै	चान्यैर्मानुषै
,,	१०	भारतर्षभ	भरतर्षभ
,,	२१	आसूया	असूया
,,	,,	नहीं है४...	(मैं कृतघ्नता से डरता हूं इस से तेरा उपकार करूंगा)
३९	२१	ऐसे	ऐसे
४०	१	तपस्युमे	तपस्युमे
४०	२	कस्याच्चदेवे	कस्याचिद्देवे
,,	७	पश्यगाज्ञां	पश्यराज्ञां
,,	८	दूगदपश्य	दूरादपश्य
,,	१५	सुभंरुद्धा	सुसंरुद्धा
,,	१६	ननुज्ञातः	ननुज्ञातः
,,	१७	शारसा	शिरसा
,,	,,	ब्राह्मगस्तो	ब्राह्मणस्तो
,,	,,	ध्वर्नात्मा	धर्मात्मा
+,,	२१	मे	में
,,	२४	'मुझतर	मुझपर
४१	१	तदसूयितम्	यदसूयितम्
४४	२	सवैर्धर्मो	सर्वैर्धर्मो
,,	२३	सें	से

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४५	६	श्रुतिः—	श्रुतिः इति
,,	९	स्मृतम् ॥	स्मृतम् ॥७॥
,,	१७	ज्ञानंचक्षु	ज्ञानचक्षु
४८	१४	कठ	काठक
,,	१८	के	को
४९	४	सहृत्त्वात्	सहृत्वात्
५०	७	तज्जज्य	तज्जन्य
,,	३२	मत में	मतों में
५२	२१	धर्मज्ञान होने	धर्मज्ञान के होने
५३	६	क्रितालोपा	क्रियालोपा-
५७	२	ग्रीष्मा	ग्रीष्मे
,,	८	दवानां	देवानां
,,	,,	प्रतपत	प्रतपते
,,	२१	यन	येन
,,	२८	का	की
,,	३४	लक्षणरूपी	लक्षणारूपी
५८	२	प्रर्हति	मर्हति
,,	३	शक्राति	शक्नोति
,,	१०	गृह्णीथात्	गृह्णीयात्
,,	२३	उतनेही	उतनेहीं
,,	२८	स्वर्गकामों	स्वर्गकामो
,,	३१	वेदवाक्यों	वेदवाक्यो
५९	१०	तदुच्चारणाश्रवणा	तदुच्चारणश्रवण
६०	९	तेष्वप	तेष्वपि
,,	११	सब	सभी
,,	,,	पदार्थ	पदार्थों
,,	१३	अनुर्वेदादि	धनुर्वेदादि
,,	२७	तो	तब तो
,,	२९	(विहिरा गूंगा)	(बौड़म अर्थात् कहने सुनने में अशिक्षित)
६१	४	थाधकारा	अधिकारा
,,	६	मेवाम्बध	मवम्बिध
,,	१०	रूप पा पावि	रूपमापावि
,,	११	कम विशेष	कर्मविशेष
,,	,,	दृष्टयोापि	दृष्टयोरपि

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	१५	बो	बे
,,	२२	अगामि	आगामि
६२	१	भगवत्युक्तरी	भवदुक्तरीत्यैव
,,	५	कांश्चिदाप	कांश्चिदपि
,,	७	ग्रहाध्वन	ग्रहाध्वन:
,,	११	माणस्त	माणस्तं
,,	,,	दूष्यवेदूष्य	दूष्यवेदुष्य
,,	१३	याश्चकीर्षति	याश्चिकीर्षति
६३	२	प्रमाण्य	प्रामाण्य
,,	३	तपो:	तयो:
,,	६	सवथेवा	सर्वथैवा
,,	९	शब्ददस्यार्थे	शब्दस्यार्थे
,,	२८	हो सकता	सकता
,,	३२	शाह्वस्यार्थेन	शब्दस्यार्थेन
६४	५	जिह्यीषुणो	जिहीर्षुणो
,,	७	वैदिंकं	वैदिकं
,,	२८	भट्ठजी	भट्टजी
६७	१३	दर्शापिष्यते	दर्शायिष्यते
६९	१३	वदिक	वैदिक
७३	२	युक्तमयुर्क्त	युक्तमयुक्तं
,,	४	भगषता	भगवता
,,	३१	पौरषेय	पौरुषेय
७४	१	नुमातु	नुमातुं
,,	९	सर्वज्ञ	सर्वज्ञ
७५	३२	ारमेश्वर	परमेश्वर
७६	८	धौरोपेण	धौरेयेण
७७	१	प्रामोण्य	प्रामाण्य
,,	२	व्ज्ञानव्यक्ते:	व्ज्ञानव्यक्ते:
,,	५	स्समावत्व	स्वभावत्व
८०	१९	पामाण्य	प्राम ण्य
,,	२२	भीं	भी
८१	२२	कीं	की
,,	२९	होंती	होती
,,	३१	सस्य	सत्य
,,	,,	जाना	जाता
८२	२३	हीं	ही
८२	१९	परत: होने से	परत: होने में
,,	२३	ज्ञान हीं	ज्ञान ही
,,	३३	और सर्पादि	और दूसरे सर्पादि
८५	२४	या	वा
८८	१८	शक्ति हो	शक्ति ही
,,	२७	बिषय	बिषम
८९	१४	करै गां	करैगा
९३	२४	होंगी	होगी
९९	२२	तों	तो
,,	२४	कीं	की
१०१	६	भेक्षोपजीवी	भैक्षोपजीवी
१०४	४	तावकानी	तावकीना
१०५	११	कल्पेत	कल्पते
,,	१८	प्रामाण्यम्	प्रमाणम्
१०६	५	प्रामण्यं	प्रामाण्यं
,,	,,	सापक्षम्	सापेक्षम्
१०९	१४	करता है	करना है
,,	३१	पूर्व उद्धृत	पूर्वहीं उद्धृत
,,	३४	अर्थात	अर्थात्
११०	२८	अज्ञान	अज्ञात
,,	३१	या	वा
१११	,,	प्रामाण्यं	प्रामाण्यंबाधकज्ञानात्
,,	५	तमूमप्रा	मूलमप्रा
११२	१	ऽप्रागाण्यम्	ऽप्रामाण्यम्
,,	२	निराकियते	भिराक्रियते
,,	९	न्तरे:"	न्तरै:"
११२	१०	मुणैरिति	गुणैरिति
,,	२७	बाक्षा	आक्षेप
११३	१	अप्व्यवसान	स्वध्यवसान
,,	६	त्यतं	त्येवं
२	२५	अपन	अपने
११४	२	नतु	किंतु
,,	६	धुन:	पुन:
,,	१०	पराश्रय	पराश्रय
,,	१५	सरह	ऐसा
,,	१६	रजत ही है	रजत है

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११६	३	य,नि	यानि
,,	११	निश्चायकत्ववाची	निश्चायकवाची
११७	८	निश्चयात्मर्क	निश्चयात्मकं
,,	२०	स्वतः उसी	स्वतः अर्थात् उसी
,,	२९	पड़ता-कि	पड़ता (जोकि वास्तविक नहीं है) कि
,,	,,	ऐसा-कहने	ऐसा न कहने-
११९	१	मध्यत्	मध्यात्
,,	,,	मसत्वपि	मसत्यपि
,,	४	विन्युच्यते	वित्युच्यते
१२०	३	पूर्वजानात्	पूर्वज्ञानात्
,,	२४	प्रामाण्यकेनिश्चयका	प्रामाण्यका
,,	२८	कै	के
१२३	१	चोदनाग्म्य	चोदनगम्य
,,	११	तदर्थ	तदर्थः
,,	२०	द्रव्यात्वादि	द्रव्यत्वादि
१२५	६	मनुष्पाणा	मनुष्याणा
१२६	१०	स्वल्पमेव	स्वरूपमेव
,,	११	व्याप्तिर्गृत्रहीता	व्याप्तिर्गृहीता
,,	२२	पैदा	उत्पन्न
१२७	८	पानादो	पानादौ
,,	१४	ऽदृष्टपीडा	दृष्टपीडा
,,	,,	वशदेवा	वधादेवा
,,	,,	धर्मत्वामधर्मत्वाच्च	धर्मत्वमधर्मत्वाच्च
,,	३२	अधम है	अधर्म है
१२८	८	विषयोऽस्याः	विषयेऽस्याः
,,	१९	पाडा	पीडा
,,	२०	म्लेच्छजो	म्लेच्छो
१३६	७	कालमरभ्यत	कालमारभ्यत
१३८	२२	धिधायको	विधायको
,,	१६	क्षपार्थकनाया	क्षपार्थकताय
,,	२१	पास	हृदय में
२३९	२६	बा	वा
१४१	२३	औत्पत्तिकसूत्रपर	वाक्याधिकरणमें
१४२	२	पकषाख्याः	पुरुषाख्यः
,,	३	मामान्य	सामान्य
,,	,,	वीशेष	विशेषः
,,	२६	वक्य	वाक्य
१४३	४	पाच्याय	पांच्याया
,,	६	प्रकषः	प्रकर्षः
१४५	३०	तो	तब
१४८	१४	वार्प्यंते	वार्यते
,,	१६	प्रवक्तत्वं	प्रवक्तृत्वं
१४९	१७	तर्किक मत	तार्किकमत
१५१	२१	वसा	वैसा
१५५	८	प्रतिपावतम्	प्रतिपादितम्
१५९	२४	अपेरुषयता	अपौरुषेयता
,,	२९	हिरन्यगर्भः	हिरण्यगर्भः
१६०	३५	गन्थ की	ग्रन्थका
१६१	२८	चाहे	चाहें
१६८	२२	अनुहित	अनुदित
१७०	३०	सामधेनी	सामिधेनी
,,	३१	अंत	अन्त
२७१	३३	इस	इन
१७९	१	र्दिनिषिद्ध	विनिषिद्ध
१८२	७	नाद	नादि
१८३	१६	भार	और
१८४	६	निषेधयोधर्म	निषेधयोर्धर्म
१८७	२	यद्याप	यद्यपि
,,	७	गोचता	गोचरता
,,	११	हेतुस्ति	हेतुरस्ति
१८८	१	जानमात्रे	ज्ञानमात्रे
,,	९	एएी	ऐसी
,,	१२	लगाथा	लगाया
१८९	११	विधि	विधि
१९०	९	सिद्धान्तनो	सिद्धान्तिनो
,,	,,	वैति	वेति
,,	१८	लगाथा	लगाया
१९१	५	स्तम	स्वेनं
,,	,,	दीत	दिति
,,	८	प्रस्यक्ष	प्रत्यक्ष

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
,,	२८	धिवि	विधि
१९२	१२	शाकक	शाकैक
१९७	२३	कूर्को	वानर, कुत्ता, शृगाल
,,	,,	कूर—	और अति चंचल
२०१	५	परषीडा	परपीडा
,,	५-६	युगषद्वा	युगपद्वा
२१०	४	व्यञ्जजकत्व	व्यञ्जकत्व
,,	२७	व्यञ्जक	व्यञ्जक
२११	५	गृहीतत्व	गृहीतभूतजाति-तत्व
२१७	८	भाव्ये	भाव्ये
२१९	११	आर	और
२२५	१	मात्रेण	मात्रेणा
,,	३	वैरुप्या	वैरूप्या
,,	५	अवएव	अतएव
२२७	४	सत्यदष्ट	सत्यदृष्ट
,,	५	तस्था	तस्या
,,	६	ग्रहणमात्रे	ग्रहणमात्रे
२२८	१०	परम्परथोप	परम्परयोप
२३२	९	त्वमध्यपनस्य	त्वं
२४०	११	जौणी	गौणी
२४३	११	दिक	दिक् ।
,,	२६	अर्थवादों की	अर्थवादों के
२५९	३	याञ्चा	याञ्चा
२६०	१२	प्रवत्तेः	प्रवृत्तेः
२६१	३	विशिष्यालङ्का	विशिष्यलिङ्गा
,,	५	स्वाक्षा	स्वाक्षा
,,	२६	अर्थीभावना	आर्थीभावना
,,	२८	अज्ञा	आज्ञा-
२६२	५	तत्कल्पनाया	तत्कल्पनाया
,,	११	त्वापास्तरपि	त्वापास्तिरपि
,,	२६	स्वर्ग	स्वर्ग
२६३	१७	रार्द्धस्योथइति	रार्द्धस्यार्थइति
२६७	९	सें	से
२६९	८	कुर्य्यादेव	कुर्य्यादेव

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७२	६	दृष्टा	दृष्ट्वा
२७५	३४	मेरित	प्रेरित
२७८	४	कक्षेतिष्ठते	कक्षेतिष्ठते
,,	२७	लिङ्गादि	लिङ्गादि
२७९	१	प्रवत्ते	प्रवृत्ते
२८१	३२	कर्मो में	कर्मों में
२८५	३१	यगादि	यागादि
,,	३२	के	के
२८७	२	कष्वमङ्गी	कत्वमङ्गी
,,	१७	सें	से
२८८	१९	अत्यन्तं	अत्यन्त
२९८	१६	क्योंकि	कि
३००	९	दिति	दितिइति
३०६	२५	का	की
३०८	३२	इसी	इसी
३१०	३०	आर	और
३११	१०	वृद्धिवृद्धि	वुद्धिवृद्धि
३१३	६	माहात्म्य	माहात्म्ये
,,	१६	अनुसारं	अनुसार
३१५	६	समाप्तयो	समाप्तये
३१६	११	मीमांया	मीमांसा
,,	३४	स्वध्यायो	स्वाध्यायो
३१८	९	त्वस्व	त्वस्य
,,	२०	शास्म	शास्त्र
३२६	३	कोलाहलःतदा,	कोलाहलःतदा
,,	२९	क्योंकिप्रत्येक	क्योंकि विधि- और निषेधवाक्यें से अन्यप्रत्येक
३३०	२८	उनका	उनका
३३५	३४	होसे	होते
३३८	७	मन्त्रवत्कर्म	मन्त्रवत् कर्म
३४२	२०	कहा है	कही है
,,	२३	अपने २ कामों को	०
३४३	५	मर्त्या	मर्त्यो
,,	७	बिघते	बिद्यते
३४४	१२	और	और दूसरा यह कि यदि लोक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४६	३	प्रमणन्दस्य	प्रमगन्दस्य
,,	,,	मघवन्	मघवम्
३५०	११	इस वाक्य	इस वेदवाक्य
३५२	३३	अन्तरोक्ष	अनन्तरोक्ष
३५५	१३	दर्शयन्त्योऽब्राह्मण	दर्शयन्त्योब्राह्मण
३६०	१०	मन्त्राथा	मन्त्रार्था
३६३	२६	आदि मन्त्रों	आदि के मन्त्रों
३६४	२८	यह	वह
३६५	१२	होत्रे	हौत्रे
,,	१३	द्यादित्व	द्यादित्य
,,	३०	यज्ञ से होता	यज्ञ में होता
३६७	३५	लिय	लिये
३६९	३३	का अर्थ	का जो अर्थ
३७३	२१	कमणि	कर्मणि
,,	२७	मिद्धं	सिद्धं
३७८	३१	यजु में भी साम का गान होता है	यजु संहिता में भी साम कहा है
३७९	३३	किया जाता है	किया जाता है)
३८४	१०	अक्षरो	व्यक्षरो
३८८	२८	पास	समीप
३९२	१६	तथ।तां	तथा तं
,,	१९	गर्मयात्रा	गर्भयात्रा
४०१	६	बदं	वेदं
४०६	८	मीयतामं	मीयताम्
४०७	१०	यज्ञयुक्ते	यज्ञप्रयुक्ते
४०८	१६	साखासु	शाखासु

॥ श्री ॥

॥ सनातनधर्मोद्धार के सामान्यकाण्ड की विषयसूची ॥

॥ पूर्वार्द्ध प्रथमखण्ड ॥

॥ पूर्वार्द्ध द्वितीय खण्ड ॥

क्षुद्रोपद्रवविद्रावण २ प्र. अर्थात् वेद की स्वतःप्रमाणता पर दुर्बल २ विरुद्धमतों की समालोचना।

परिखापरिष्कार ४ प्र. अर्थात् वेदरूपी किले की, स्मृति, सदाचार, आत्मतुष्टि, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, अर्थवेद, रूपी ७ खाइयों में से प्राथमिक ३ का जीर्णोद्धार।

विषय के अङ्क | विषय

॥ उत्तरार्द्ध तृतीय खण्ड ॥

॥ सामान्यधर्मनिरूपणरूपी उत्तरार्द्ध के विषयों की सूची ॥

॥ उत्तरार्द्ध चतुर्थ खण्ड ॥

विषय के अङ्क		विषय

॥ श्रीः ॥

सनातनधर्मोद्धारः

(सामान्यकाण्डस्य पूर्वार्द्धः)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

श्रीशार्द्धं धृतसोमार्धं सोमं सोमार्द्धमद्वयम् ।
उमोमर्थं चिदानन्दमञ्जसोपास्महे महः ॥ १ ॥
वामे मन्दरकार्मुकं हरिशरं पाणौ दधानं परे
संहर्तुं त्रिपुराणि भूरथवरन्यस्ताग्रपादाङ्गुलिम्

॥ भाषा भावप्रभा ॥

सनातनधर्मानुगामी हमलोग उस प्रकाश को अविच्छिन्न ध्यानधारा से स्मरण करते हैं; जिसका नारायण अर्धभाग है । (इससे शैवशाक्तप्रसिद्ध हरिहरमूर्ति का ध्यान सिद्ध होता है) और जो उमा अर्थात् पार्वती देवी से सहित है; (इससे उमासहित ईश्वर का ध्यान सिद्ध हुआ, जिनका वर्णन, "उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्" इत्यादि कैवल्योपनिषदादि श्रुतियों और पुराणादिकों में है) और जिसका अर्द्धभाग उमा है । (इस से आगमप्रसिद्ध अर्द्धनारीश्वर-मूर्त्ति का ध्यान प्राप्त हुआ) और जो वक्र चन्द्रमा को शिर में धारण करता है; अर्थात् इन सभी मूर्तियों का भूषण चन्द्रकला है ।

इस रीति से साकार ईश्वर का ध्यानकर, निराकार परमेश्वर का ध्यान करते हैं, कि जो प्रकाश अद्वितीय अर्थात् 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है और 'उमा' अर्थात् माया-प्रणव और 'ओम्' अर्थात् ॐकाररूप महेश्वरप्रणव का अर्थ है । इन दोनों प्रणवों में अक्षर अ उ म् एक ही प्रकार के हैं केवल क्रम में ही भेद है[1] ।

और जो (प्रकाश) सत् अर्थात् त्रिकालसत्य और चिदानन्द अर्थात् विज्ञान तथा आनन्द रूप है जैसा कि " नित्यविज्ञानमानन्दं ब्रह्म " इत्यादि श्रुतियों में कहा है ॥ १ ॥

दैत्यों के आकाशचारी तीन नगर थे, अर्थात् कमलाक्ष का सुवर्णमय, तारकाक्ष का रजतमय और विद्युन्माली का लोहमय नगर था, उस त्रिपुर के संहारार्थ बाएँ हाथ में मन्दराचलस्वरूप धनुष और

---

[1] इस विषय में प्रमाण लिङ्गपुराण में श्रीजगदम्बिका के प्रति परमेश्वर का वाक्य यह है कि—
त्वदीयः प्रणवः कश्चिन्मदीयः प्रणवस्तथा । त्वदीयो देवि ! मन्त्राणां शक्तिभूतो न संशयः ॥ १ ॥
अकारोकारमकारा मदीये प्रणवे स्थिताः । उकारं च मकारं च अकारं च क्रमेण तु ॥ २ ॥
त्वदीये प्रणवे विद्धि त्रिमात्रं प्लुतमुत्तमम् ।

अर्थात् हे देवी ! कोई तुम्हारा प्रणव (साक्षात् वाचक अथवा स्तुति करनेवाला शब्द) है और कोई मेरा है । इसमें संशय नहीं है कि तुम्हारा प्रणव मन्त्रों का शक्तिभूत, अर्थात् बीज है । तथा मेरे प्रणव (ओम्) में अकार उकार मकार क्रम से स्थित हैं और तुम्हारे प्रणव (उमा) में उकार मकार अकार क्रम से हैं । तथा अन्तिम अकार जो दीर्घ सुनने में आता है वह प्लुत है ।

[illegible]—

[illegible]कोटीर[illegible]—

स्पर्धावर्धकपादुकार्धचरणं भालेक्षणं भावये ॥ २ ॥

आनन्दमन्थरपुरन्दरमुक्तमाल्यं मौलौ बलेन निहितं महिषासुरस्य ।

पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जुमञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ॥ ३ ॥

अन्तर्ध्वान्तहरा हृदब्जविकचीकारैः स्फुरन्तः पुर—

श्चञ्चत्तुम्बकभूतभीमविभवा भीपङ्कसंकोचिनः ।

धर्मोद्धारकराः कृपाञ्चय इमे यस्योपदेशांशव —

स्तातार्कं हरिदत्तसूरिमथ तं वन्दे परैरादरैः ॥ ४ ॥

गर्भे धृतः श्रीहरिवंशयाऽहं संपालितः श्रीयदुवंशयाऽथ ।

कृपाऽऽश्रयः श्रीतिलराज्ञिकायास्त्रिमातुरः स्वाः प्रणमामि मातॄः ॥ ५ ॥

प्रयागदत्तः सुखलालदत्तः सूरिस्तथा कुञ्जरनाथशर्मा ।

[१]द्विवेदिभिर्भूषित एतदार्यैर्वंशे करीरो ननु गौतमीये ॥६॥

॥ भाषा० ॥

दाहिने हाथ में नारायणरूपी बाण को लिये हुए और पृथ्वीरूपी उत्तम रथ पर चढ़ने के लिये अगाड़ी बढ़ाये हुए एक चरण के अङ्गुलियों को रथ पर रख कर, पादुका से उठते हुए दूसरे चरण के पिछिले भाग पर प्रणाम करने के लिये गिरते हुए असंख्य देवताओं के किरीट में स्थित दिव्यरत्नों की चमचमाती हुई कान्तियों में परस्पर संघर्ष को बढ़ाते हुए भालेक्षण त्रिनेत्र अर्थात् श्रीशिवजी का ध्यान करता हूँ ॥ २ ॥

बलात्कार से महिषासुर के शिर को दबा कर खड़ा हुआ, और आनन्दभार से मन्दगामी-इन्द्र की चढ़ाई हुई दिव्यपुष्पमालाओं से भूषित, तथा मञ्जीर अर्थात् पायजेब की सोहावनी झनकार से मनोहर, जगन्माता का चरणकमल, मेरा विजय 'ग्रन्थ की निर्विघ्नपूर्ति' करे । (ये दोनों श्लोक चापिनिर्मित हैं) ॥ ३ ॥

अब मैं अपने सूर्यस्वरूप पिता जी "श्रीहरिदत्त शर्मा" को बड़े आदर से नमस्कार और उनकी स्तुति करता हूँ; जिनके कृपापूर्ण उपदेशरूप सहस्रों किरणें, श्रोताओं के अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेवाली, और हृदय कमलों को विकसित करनेवाली, समक्ष चमकती हुई, तथा इधर उधर फड़कते हुए चुम्बक अर्थात् अनेक ग्रन्थों की सुनी सुनाई थोड़ी २ बातों के लेभग्गू पण्डिताभिमानी प्रेतों को डरवानेवाली, भयरूपी पङ्कों के सङ्कोचक, और शोषक, सनातनधर्म के उद्धारकारी, और मेरी मुक्ति के द्वार हैं, क्योंकि वेद में सूर्य भी क्रममुक्ति के द्वार प्रसिद्ध ही हैं ॥ ४ ॥

अब मैं अपने उन तीनों माताओं को प्रणाम करता हूँ, जिनमें श्रीहरिवंशा देवी के उदर से तो मुझे शरीर मिला, और श्रीयदुवंशा देवी, तथा तिलराज्ञी देवी से मेरा पालन हुआ ॥ ५ ॥

मेरा यह परिचय है कि पं. कुञ्जरनाथ के पौत्रों में पं. सुखलालदत्त और उन (सुखलालदत्त) के भ्रातृपुत्र (नारायणदत्त) के पुत्र पं. प्रयागदत्त और उनके पांच पुत्र १ पं. तुलसीराम

(१) तात्पर्य यह है कि यह वंश वास्तविक में गौतमगोत्रीय मिश्र है परन्तु महाराज महुली जिला बस्ती (जिनके वंश में अब कोई नहीं है) के गुरु कावनीग्रामवासी द्विवेदियों के वंशोच्छेद होने के अनन्तर, उन्हीं महाराज ने इस वंश के पूर्वपुरुषों से मन्त्रोपदेश ले कर कावनी ग्राम उनको दे दिया, और वे वहीं रहने लगे और द्विवेदियों

योजनानां पञ्चदशे काशीतो वायुकोणतः । मण्डलोद्दिशिख्याते पण्डितैर्मण्डिते सदा ॥७॥
जातो गोरक्षपुरे सरयूपारेऽधिकाशि निवसंश्च । नाम्नोमापतिशर्मा परेण नकछेदरामोऽहम् ॥८॥
मनीषी मालवीयो यो द्विजो मदनमोहनः । वकीलेत्यादिविविधशुभोपाधिविभूषितः ॥९॥
आर्यजात्युन्नतिप्रार्थी प्रयागाभ्युदयोचितः । प्रेयसा दूनमनसा भव्यं तेनाभ्यभाषिषि ॥१०॥
अल्पेऽथ शास्त्रकुशलास्तांश्च कालः कलिर्बली । उन्मूलयिषुर्बालः पलिताढ्यान् विलोकते ॥११॥
धर्मः सनातनश्चायं कुमतैरधुनातनैः । तमोभिरिव तिग्मांशुः सायाह्नेऽभिबुभूष्यते ॥१२॥

॥ भाषा ॥

२ पं. हरिदत्त ३ पं. कृष्णदत्त ४ वाचस्पति ५ पं. सोमेश्वर, इत्यादि द्विवेदीपदवीवाले विद्वद्वररूप शाखाओं से भूषित, श्रीगौतम महर्षि के वंश (सन्तानरूपी बाँस वृक्ष) का मैं एक करीर अर्थात् नवीन अङ्कुर (कल्ला) हूं । श्री काशीजी से ६० क्रोश पर वायुकोण को स्पर्श करती हुई उत्तर दिशा में सरयूपार देश के मध्य में गोरक्षपुर नामक नगर मेरी जन्मभूमि है और मेरा नाम "उमापति शर्मा" तथा माता पिता का प्यार से रखा हुआ "नकछेदराम" है और मैं श्रीकाशी में पिताजी के साथ आया, अब (पिताजी के काशीलाभ के अनन्तर) सकुटुम्ब यहां (काशी में) ही रहता हूँ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

वकीलहाईकोर्ट इत्यादि अनेक उपाधियों से भूषित, आर्य (हिन्दू) जाति की उन्नति के प्रार्थी, श्रीप्रयाग में अभ्युदय (निवास और अभ्युदय नामक समाचारपत्र) के लिये उचित (अभ्यस्त और योग्यस्वामी) मेरे प्यारे विश्वविख्यात मालवीय पं. मदनमोहन शर्मा ने शोकपूर्वक, इस अपने शुभाभिलाष को मुझसे प्रकाश किया कि— ॥ ९ ॥ १० ॥

वर्तमान समय में शास्त्रकुशल पुरुष थोड़े ही रह गये हैं और उन कतिपय वृद्ध पुरुषों को भी यह बाल (मूर्ख और अल्पवयस्क) बलवान् कलिकाल, नाश करने की इच्छाकर कुदृष्टि से देख रहा है । और जैसे सायङ्काल में अन्धकारमण्डल सूर्य को आच्छन्न करता है, वैसेही इस प्रबल सनातनधर्म को बहुत से आधुनिक कुमत दबाया चाहते हैं । तात्पर्य यह है कि जैसे अन्धकाररूप अति दुर्बल वस्तु भी काल की महिमा से सूर्य ऐसे महाप्रतापी को दबाकर कुछ कालतक मालिन्य फैला ही देता है, (यह दूसरी बात है कि पश्चात् सूर्योदय से उसका नाश हुआ करता है) वैसे ही समय का चतुर्थ भाग रूप इस कलियुग की सहायता से ये कुमतरूप अप्रमाणिक वस्तु भी अत्यन्त प्रबल अनादि सनातनधर्म को दबाया चाहता है । अर्थात् यद्यपि सत्ययुग में आप ही आप ये सभी कुमतजाल मूल से उच्छिन्न हो जायँगे, तथापि इस बीचवाले समय (आगामी कलिभाग) में तो

के ग्राम में वासमात्र के कारण ये लोग मिश्रवंशीय होने पर भी द्विवेदी (गुरु दूबान) कहलाने लगे । किन्तु कतिपय ग्रामीण केवल भूल ही से कहते हैं कि मिश्रवंशीय महाशय, उन द्विवेदियों के दत्तक (राशि पर) हैं, क्योंकि यदि ये दत्तक होते तो इनका वही गौतम गोत्र; और गौतम, उतथ्य, आङ्गिरस, ये प्रवर तथा यजुर्वेद माध्यन्दिनीय शाखा और कात्यायनसूत्र आदि जो मिश्रों के हैं, आज तक प्रसिद्ध न रहते किन्तु बदल जाते, जैसा कि मनु ने कहा है कि— 'गोत्ररिक्थे जनयितुर्न हरेद्दत्रिमः क्वचित् । गोत्ररिक्थानुगः पिण्डो व्यपैति ददतः स्वधा ॥१४२॥ अ० ९ । अर्थात् दत्तक अपने उत्पादक पिता का गोत्र और धन कभी नहीं पाता है और पिण्ड भी गोत्र और धन का अनुगामी है अर्थात् मनुष्य जिसके गोत्र और धन को पाता है उसी को पिण्ड देता है इसलिये दत्तक देने वाले पिता का वह पुत्र श्राद्ध नहीं करता । निदान इनकी पुरानी पदवी मिश्र है जो कि उक्त कारण से लोगों ने बदल दी है, इति ॥

तस्मात्प्रकाशमादाय राकारजानिनायकः। भवता रच्यतां ग्रन्थ इदानीं किं विलम्ब्यते ? ॥१३॥
रुद्रदत्तो लघुर्भ्राता पुत्रो हरिहरश्च मे। तदुक्तमन्वमंसातां स्वयं चेदमवोचताम् ॥१४॥
कालतो लुप्तशिष्टा ये वेदस्यांशा अमीष्वपि। नेमे वेदा इति पुनर्लुप्यन्ते ते विवादिभिः ॥१५॥
अर्थनाशेन नाश्यन्ते तच्छिष्टा अपि तैर्जनैः। वेदेष्वपि च्छलनैषा शास्त्रत्वस्यावमानना ॥१६॥
अल्पज्ञानैः कतिपयैः क्रियते यदि तर्हि का। पुराणाद्यासु विद्यासु दशस्वन्यासु तत्कथा ? ॥१७॥
लोकायतानुगैरेवमलसैः स्वैरलालसैः। अन्यैर्विप्लाव्यते धर्मो मूलं विप्लाव्य शाश्वतः ॥१८॥

॥ भाषा ॥

सनातनधर्म को दबाकर अज्ञान का प्रचार करना ही चाहते हैं। निदान अभी चतुर्थप्रहररूपी कलिकाल बालक ही है अर्थात् उसका आरम्भ ही है इसलिये इसी समय ऐसा कोई उपाय होना चाहिये जिसमें सनातनधर्मरूपी सूर्य के प्रकाश को अज्ञानान्धकार किञ्चित्काल भी न दबा सके, क्योंकि जब कलियुग की प्रौढतारूप सायङ्काल हो जायगा तब उपाय करना तो (घर के जलते समय कूआँ खोदने के तुल्य) निष्फल ही होगा। किन्तु वह उपाय यही है कि सनातनधर्मरूपी सूर्य के वेदतात्पर्यरूपी प्रकाश को लेकर आगामी कलिभागरूपी पूर्णमासी में नवीन सनातनधर्म नामक ग्रन्थरूप पूर्णचन्द्र का उदय हो। क्योंकि गणित से यह सिद्ध होता है कि सूर्य ही के प्रकाश से चन्द्रमा में प्रकाश आता है। इस पर सिद्धान्तशिरोमणि का वाक्य यह है—

"तरणिकिरणसङ्गादेष पीयूषपिण्डो दिनकरदिशि चन्द्रश्चन्द्रिकाभिश्चकास्ति।
तदितरदिशि बालाकुन्तलश्यामलश्रीर्घट इव निजमूर्तिच्छाययैवातपस्थः" ॥१॥

अर्थात् यह (पीयूषपिण्ड) चन्द्रमा सूर्यदिशा में अर्थात् सूर्य के सामने सूर्य किरणों ही के प्रवेश के कारण चन्द्रिका से पूर्ण होकर चमकता है और अन्य दिशा में तो धूप में स्थित घट के समान अपनी मूर्ति की छाया से बाला स्त्री के केशों के समान श्याम दिखलाई देता है; इसलिये आप धर्मविषय में नवीन ग्रन्थ की रचना करने में विलम्ब क्यों करते हैं ? ॥११॥१२॥१३॥

उन (मालवी जी) की इस वार्ता को, मेरे कनिष्ठ भ्राता पं. रुद्रदत्त और मेरे पुत्र चि. हरिहरदत्त ने भी अनुमोदन किया और स्वयं भी यह कहा कि—

काल के प्रताप से जो २ वेद के भाग लुप्त हो गये हैं वे तो लुप्त ही हैं किन्तु जो बचे हैं उनमें भी ब्राह्मण भागों को, आधुनिक कतिपय, ग्रन्थकर्ता और उनके अनुयायी गण कहते हैं कि—'ये वेद ही नहीं हैं' तथा जिन मुद्रित कतिपय मन्त्रसंहिताओं को वे वेद मानते भी हैं उनका भी अपने मनमाना उलटा ही अर्थ लिख मारा है, इन अत्याचारों से जब चारवेदरूपी मूलधर्मविद्याओं ही के प्रामाण्य का ऐसा अपमान हो रहा है तब शाखारूपी पुराणादि अन्य दश धर्मविद्याओं की तो कथा ही क्या है ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

इस उक्त रीति से चावार्क आदि प्रत्यक्ष, और वेदार्थनाशक प्रच्छन्न, नास्तिकलोग सनातनधर्म को (उसके मूल प्रमाण बिगाड़ने के द्वारा) बिगाड़ रहे हैं ॥ १८ ॥

---

१ सब तिथियों में एक पूर्णमासी ही ऐसी है कि जिसकी सन्ध्या में प्रथम ही से पूर्ण चन्द्रोदय होने के कारण अन्धकार का लेश भी नहीं रहता।

मध्यस्थनास्तिकैस्तद्वदास्तिक्यमतिकञ्चुकैः। धर्मस्यांशाः कतिपये पीड्यन्ते सुदृढा अपि ॥१९॥
ध्वंस्यादधर्मदुर्ध्वान्तं मूलविप्लवमूलकम्। धर्मेन्दुः कुमताभ्रस्थः प्रोकृतो मननाशुगैः ॥२०॥
इति सुनिशम्य विमृश्य च लोकहितेप्सुर्मुदैव विदधामि।
तत्त्वाधियैव सनातनधर्मोद्धाराभिधं ग्रन्थम् ॥२१॥
विद्वद्वरान् साम्प्रतिकानशेषान् नत्वाऽर्थये साञ्जलि सातिहार्दम्।
शुभाभिराशीभिरयं निबन्धः सम्पूर्यतां मे भवतामविघ्नम् ॥२२॥
समुद्यतः कर्मणि दुष्करेऽस्मिन् नचोपहस्येय खलान्यलोकैः
च्युतीर्नृबुद्ध्या सुलभा भवन्तः संशोधयन्त्वत्र विगाह्य गाढम् ॥२३॥
काल्पाशयोऽहं व्यवसायशून्यः क ग्रन्थनं क्षीरधिमन्थनाभम् ?।
भ्रमन् भृशं किन्तु जयत्वयं मे शिवाङ्घ्रिपद्मार्चनमन्दराद्रिः ॥२४॥
पुराण्यश्च प्रमाण्यश्च या या लभ्यन्त उक्तयः। युक्तयश्च निभन्त्स्यन्ते ता एवात्र यथायथम् ॥२५॥

॥ भाषा ॥

और लोकायत (चार्वाक, पूर्णनास्तिक मत अर्थात् केवल प्रत्यक्ष ही को प्रमाण मानना) के अनुसारी, आलसी, केवल स्वतन्त्रता मात्र के दासानुदास, अन्य नास्तिक भी धर्म के अटल अंशों पर भी पीड़ा पहुचा रहे हैं ॥ १९ ॥

श्रीब्रह्मदेव से लेकर भट्टपाद (कुमारिल स्वामी) भगवत्पाद (शङ्कर स्वामी) आदि महापण्डितों पर्यन्त सबने अपने २ ग्रन्थरूपी मन्दराचल के द्वारा वेदसमुद्र से धर्मरूपी चन्द्रमा को उद्धृत किया ही है परन्तु उन ग्रन्थों के भाव, आधुनिक सर्वसाधारण मनुष्यों के समझ में नहीं आ सकते, और यदि वे कुछ कुछ समझ में भी आये तो इस समय के प्रचलित अनेक कुमतों के कारण उनपर लोगों का निश्चय नहीं जमता, इसलिये हम चाहते हैं कि विचाररूपी वायु के वेग से उन कुमतरूपी मेघों के हट जाने पर धर्मरूपी पूर्ण चन्द्रमा प्रकट होकर मूलप्रमाण बिगाड़ने से फैलते हुए उक्त अधर्मरूपी अन्धकार को शीघ्र ही समूल नाश करे ॥ २० ॥

इन सब पूर्वोक्त बातों को सुन और उनके विषयों को समझ बूझकर लोकहित के लिये निष्पक्षपात होकर केवल तत्त्व बुद्धि के अनुसार, अपने यथाशक्ति सनातनधर्मोद्धार नामक ग्रन्थ की रचना करता हूँ—॥ २१ ॥

इस समय के समस्त विद्वद्वरों से बड़े प्रेम और अञ्जलिबन्ध के साथ मेरी यह प्रार्थना है कि "हे विद्वद्वरो ! आप के शुभाशीर्वादों से मेरे इस ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति हो, और अति कठिन इस ग्रन्थरचनारूप कार्य करने के अनन्तर मैं दुर्जनों से अन्य लोगों के उपहास का पात्र न हो जाऊँ, और मेरी भ्रान्ति आदि (स्वाभाविक जीवदोषों) से जो २ इस ग्रन्थ में त्रुटियाँ हों उनको आप लोग गाढ़े विचार से मिटाकर इस ग्रन्थ को सुधारलें ॥ २२ ॥ २३ ॥

यद्यपि कहां मन्दबुद्धि, और विद्या के व्यवसाय से शून्य, मैं ?; और कहां क्षीरसमुद्र-मन्थन के तुल्य इस ग्रन्थ की रचना ? । तथापि मैं प्रतिदिन होतेहुए अपने शिवार्चनरूपी मन्दराचल का जय मानता हूँ ॥ २४ ॥

जहां तक पुराने २ प्रमाण और प्राचीन विद्वानों की जो युक्तियां मिलती हैं वे ही प्रायः ज्यों की त्यों इस ग्रन्थ में लिखी जायँगी ॥ २५ ॥

विख्यापयिषया स्वस्य परेषां द्वेषतोऽपिवा। पक्षपातेन वा नात्र वक्ष्यते किञ्चिदप्यपि ॥२६॥
किन्तु घण्टापथे धर्मराजस्यास्मिन् सनातने। विकीर्णाः कलिना ये ते कण्टका मतिमार्जनीम्॥२७॥
आश्रित्य निरसिष्यन्ते यथाशक्ति यथाविधि।
उक्तीनान्तु पुराणीनां प्रायो विवृतयस्तथा ॥२८॥
ऊहापोहास्तदद्रोहान्न्यासिष्यन्तेऽत्र नूतनाः। अन्वेषणे प्रमाणानां सङ्गतौ भाववर्णने ॥२९॥
कुमतोन्मूलने नव्यैर्मानैस्तर्कैरनेकशः। श्रमो ममायं विदुषां त्वीदृगर्थे श्रमः कियान्? ॥३०॥
नृणां चार्वाकदेश्यानां प्रभुसंमितवाग्द्विषाम्। तोषायात्राश्रयिष्यन्ते प्रत्यर्थं प्राक् सुयुक्तयः॥३१॥
विरोधः स्वमते येषां परिहर्तुं न शक्यते। तेभ्यः श्रुत्यादिवाक्येभ्यः प्रतीपेभ्योऽतिबिभ्यतः॥३२॥
तानि प्रच्छन्नचार्वाकाः प्रक्षिप्तानि वदन्ति ये। न्यायसाम्यान्नृकोटौ ते प्रक्षिप्ता एव नो नराः॥३३॥

॥ भाषा ॥

अपनी अधिक ख्याति के लिये या किसी मत के द्वेष अथवा पक्षपात से इस ग्रन्थ में एक अक्षर भी नहीं कहा जायगा, किन्तु सनातनधर्म के सदाचाररूप राजमार्ग में कलिकाल ने जिन अत्याचाररूप कण्टकों को फैला दिया है वेही इस ग्रन्थ में मतिरूपी मार्जनी से यथाशक्ति और यथा-रीति निकाले जायँगे। और इतना इस ग्रन्थ में नवीन होगा, कि जैसे प्राचीन वाक्यों के तात्पर्यों का विवरण और उनके अनुसार साधन तथा बाधन के बहुत से प्रकार इत्यादि, प्रमाणों का अन्वेषण, सङ्गतिपूर्वक उनका उपन्यास, उनके गूढ तात्पर्यों का विवरण और अनेकानेक नवीन प्रमाणों और तर्कों से दुष्टमतों का खण्डन, इत्यादि कामों के लिये मेरा यह परिश्रम है और विद्वानों को तो ऐसे कामों में क्या परिश्रम हो सकता है? ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

इस ग्रन्थ में जब किसी सिद्धान्त के विषय में प्रमाण देने का अवसर आवैगा तब प्रथम २ युक्ति (अनुमान और तर्क) ही दिखलाई जायगी तदनन्तर वेद आदि के शब्दरूपी वाक्य के प्रमाण दिये जायँगे, क्योंकि इस समय के मनुष्यों में अधिकांश चार्वाकमतवाले अर्थात् प्रत्यक्ष ही को प्रमाणमाननेवाले हो गये हैं, इस कारण से लोग नित्यनिर्दोष वेदवाक्यों पर तबतक कदापि विश्वास नहीं कर सकते कि जबतक उनको वेदादि वाक्यों के अनुकूल ऐसी ऐसी दृढ़ युक्तियाँ न दिखलाई जावें, जो कि लोगों के अनुभवों से गँठी और उन नास्तिकों के अपने तईं बड़े बुद्धिमान् होने के घमण्ड को खण्डनकरनेवाली हों ॥ ३१ ॥

गुप्तचार्वाक (प्रत्यक्षही को प्रमाणमाननेवाले स्थूलनास्तिक होकर भी सनातन धर्मियों के विश्वासार्थ अपनी नास्तिकता को गुप्त रखने के लिये वेद आदि दश पांच धर्मग्रन्थों को बाहर से प्रमाणमाननेवाले) लोग तो अपने प्रमाणित ग्रन्थों में भी अनेक वाक्यों को केवल इस स्वार्थ से क्षेपक (कपोलकल्पित) कहा करते हैं कि उनके मत में उन वाक्यों के ऐसे प्रबल विरोध पड़ते हैं जो कि किसी प्रकार से उनके हटाये नहीं हट सकते, उन्हीं विरोधों के महाभय से उन वाक्यों को मूल ही से मिटाकर वे 'मीठा गप्प कड़ुआ थू' करते हैं। इसलिये उनके प्रतिपक्ष में सनातनधर्मी यह मुक्तकण्ठ होकर कह सकते हैं कि—

(१) वे लोग इस मनुष्यलोक में स्वयं क्यों नहीं क्षेपक हैं, ? अर्थात् वे मनुष्य-कोटि में ही नहीं हैं, किन्तु किसी इन्द्रजाल के बनाये हुए पुतले हैं, क्योंकि जैसे उनके प्रमाण—

इति तान् प्रति किं वक्तुं शक्यं न प्रतिवादिभिः । तेषां तेषां च तुल्यं हि पुस्ते नृषु च दर्शनम् ॥३४॥
तवैव मानं वाक्येषु कथं तेषु न तत्तथा । तथा च तेऽपि तद्वाक्यतुल्याः स्युः क्षेपका यदि ॥३५॥
तत्सिद्धान्ताः कथं तर्हि प्रसिध्येयुरवक्नृकाः । अथ चेद्दर्शनं तेषामुभयेषां प्रमैव तत् ॥ ३६ ॥
नेन्द्रजालबलात्क्लृप्ता यथा ते तद्वदेव हि । तानि वाक्यानि पुस्तेऽपि प्रक्षिप्तानि कदाऽपि न ॥३७॥
येषां प्रक्षिप्तता नान्यैर्नास्तिकैरपि कथ्यते । कथं लोकोत्तरप्रज्ञाः प्रेक्षन्ते तां तु तेषु ते ॥३८॥
प्राचीनैः पण्डितैर्यानि व्याख्यातानि महाशयैः । संदष्टानि तथा पूर्वपरवाक्यैः स्वसंमतैः ॥३९॥
वाक्यानि तान्यपि ग्रन्थे प्रक्षिप्तानीति जल्पता । जय्यैका लोकलज्जैव ननु स्वप्रतिवाद्यपि ॥४०॥
कपोलकल्पितान्येषामैतिह्यानि कथंतराम् । प्रक्षिप्तत्वे प्रमाणानि प्रतिपक्षबुधान्प्रति ॥ ४१ ॥
स्वीकृतं पुस्तके यत्र स्वयं वाक्यसहस्रकम् । विना बाधं दृढं को वा तत्रापि क्षेपकं वदेत् ॥४२॥
स्वमतान्धो वदन्वापि नोपेक्ष्यः स्यात्परीक्षकैः । प्रसङ्गादुक्तमेतावदथ प्रकृतमुच्यते ॥ ४३ ॥

॥ भाषा ॥

मानेहुए पुस्तकों में आज तक वे वाक्य देखे जाते हैं, जिनको कि वे क्षेपक कहते हैं, वैसेही वे भी मनुष्यलोक में देखे जाते हैं । तो यदि पुस्तकों में उन वाक्यों का प्रत्यक्ष होना नहीं प्रमाण है तो मनुष्यों में उन लोगों का प्रत्यक्ष होना भी उनके मनुष्यत्व को नहीं प्रमाणित कर सकता । तात्पर्य यह है-कि यदि उनके मत के विरोधमात्र से वे वाक्य क्षेपक होने लगें तो सनातनधर्म के विरोध से वे लोग भी क्यों न क्षेपक हों ? और यदि ऐसा हो तो उनके सिद्धान्त भी कैसे प्रकट होंगे, तथा यदि मनुष्यकोटि में उनका प्रत्यक्ष होना उनके मनुष्यत्व को प्रमाणित कर सकता है तो उन पुस्तकों में उन वाक्यों के लेख का प्रत्यक्ष होना, उन ग्रन्थों में उन वाक्यों के स्थित होने को क्यों नहीं प्रमाणित कर सकता ? । क्योंकि प्रत्यक्ष तो दोनों तुल्य ही हैं॥३२॥३३॥३४॥३५॥३६॥३७॥

(२) जब कि पूर्वोक्त गुप्त चार्वाकों से अन्य कोई नास्तिक भी, आज तक उन ग्रन्थों में उन वाक्यों को क्षेपक नहीं बतलाता तब यह कैसे संभव भी होसकता है कि उन वाक्यों के विषय में उन लोगों का क्षेपक कहना सत्य होगा ॥ ३८ ॥

(३) जिन ग्रन्थों में अपने मत के विरुद्ध जिन वाक्यों को वे लोग क्षेपक कहते हैं वे वाक्यपुष्प, उन ग्रन्थरूपी वाक्यपुष्पमालाओं में अपने २ पहिले और पीछे के वाक्यरूपी पुष्पों के साथ संगति (अर्थसंबन्ध) रूपी सूत्रों से दृढ संग्रथित होकर शोभायमान हैं तथा प्राचीन २ टीकाकार महापण्डितों ने उक्त सङ्गतिही के अनुसार उन वाक्यों का अवतरणपूर्वक व्याख्यान भी किया है इस पर भी यदि कोई मनुष्य उन वाक्यों को क्षेपक कहे तो वह अपनी लोकलज्जा ही को जीत सकता है, किन्तु अपने प्रतिवादी को कदापि नहीं जीत सकता ॥ ३९ ॥ ४० ॥

(४) 'मैंने अमुक लिखित प्राचीन पुस्तक देखा है उसमें ये वाक्य नहीं हैं' इत्यादि उन लोगों की कल्पित कहानियां तो उन्हीं के मुखों में शोभा देती हैं किन्तु प्रतिवादी के सामने प्रमाण होने के योग्य नहीं हैं ॥ ४१ ॥

(५) जिन पुस्तकों के अन्यान्य सहस्रों वाक्यों को प्रमाण मानकर भी उन्हीं पुस्तकों में कतिपय वाक्यों को क्षेपक कहनेवाले को उचित है कि उन वाक्यों के विषय में किसी अत्यन्त प्रबल बाधक युक्ति को दिखलावे, जो उसके किये कदापि नहीं हो सकता । ३२ वें श्लोक से यहाँ

अनूदते भाषया च ग्रन्थोऽविद्वत्कृते मया । सौक्ष्म्यं तु विषयेष्वेषु निसर्गो दुरपाकरः ॥४४॥
प्रश्नोत्तरक्रमात् प्रायो वैशद्यायैव युक्तयः । भाषाऽनुवादे वक्ष्यन्ते मन्दोपकृतिकाङ्क्षया ॥४५॥
ज्ञानशब्दमयस्यास्य देहस्य मम दुर्जनाः ! । दयध्वं प्रहरध्वं तु चेदिष्टं पाञ्चभौतिके ॥४६॥
युष्मन्मनोविनोदार्थं कलिना बलिना खलु । स्वारोपिते दोषराशौ रंरम्यध्वमनारतम् ॥४७॥
युष्मद्द्वेषो हि निकषो गुणस्वर्णपरीक्षणे । अयं ममाञ्जलिस्तस्माद्युष्मानप्युद्दिदिक्षति ॥४८॥
त्र्यङ्गाङ्केन्दुमिते १९६३ वर्षे वैक्रमेऽद्य शुचौ वदि । एकादश्यामयं प्रातर्ग्रन्थ आरभ्यते मया ॥४९॥
न्यायलोकागमाद्यैककलोलीभावेन भावितम् । धयन्तु धीधनास्तावदस्याद्यं काण्डखाण्डवम्[1] ॥५०॥
पूर्वार्द्धमुत्तरार्द्धं च द्वौ भागावत्र तत्र तु । आद्ये धर्मप्रमाणानां प्रामाण्यं वर्णयिष्यते ॥५१॥

॥ भाषा ॥

तक इतनी प्रासङ्गिक बात कहकर अब पुनः इस ग्रन्थ की रचना के विषय में कहा जाता है कि—॥ ४२ ॥ ४३ ॥

सर्व साधारण के बोधार्थ इस ग्रन्थ का भाषानुवाद भी मैं कर देता हूं, जिससे संस्कृत शब्दों की कठिनता निकल जायगी; परन्तु इस ग्रन्थ में जो २ युक्तियाँ कही जायँगी, वे स्वाभाविक सूक्ष्म हैं इसलिये उनके सूक्ष्मता को कौन दूर कर सकता है ॥ ४४ ॥

और इस ग्रन्थ के भाषाऽनुवाद में प्रायः कठिन २ स्थानों पर प्रश्न और उत्तर के क्रम से सभी बातें कही जायँगी, क्योंकि ऐसा होने से सर्व साधारण के समझने में अधिक सुभीता इस कारण होता है कि बीच २ में विश्राम मिलने से बुद्धि में थकावट नहीं आती ॥४५॥

हे दुर्जनों ! यह ग्रन्थ मेरा ज्ञानमय और शब्दमय देह है इस पर दया रखिये । यदि प्रहार करना ही हो तो मेरे इस पाञ्चभौतिक शरीर पर कीजिये ॥ ४६ ॥

अथवा आपके मन बहलाने के लिये बलवान् कलिकाल अन्यान्य अनेक निर्दोष पदार्थों पर अनेक दोषों का आरोप कर ही रहा है, इससे उन्हीं आरोपित दोषों में आप बराबर अपने मन को बहलाइये ॥ ४७ ॥

यह मेरा अञ्जलिबन्ध तुम लोगों का भी उद्देश करना चाहता था, परन्तु न करने का कारण यह है कि तुम लोगों से किया हुआ विद्वेष ही गुणरूपी सुवर्ण की कसौटी है, अर्थात् वे ही गुण उत्तम हैं जिन गुणों से आप लोग द्वेष करते हैं ॥ ४८ ॥

आज सं० १९६३ के आषाढ बदि ११ के प्रातःकाल में मैं इस ग्रन्थ की रचना का आरम्भ करता हूँ ॥ ४९ ॥

बुद्धिमान लोग प्रथम २ इस ग्रन्थ के इस प्रथमकाण्ड (सामान्य काण्ड) रूपी खाण्डव का पान करें जो कि न्याय, (सत्य और पञ्चावयव अनुमान) लोकव्यवहार, वेदादिरूप शब्द प्रमाण, और तर्कों के एकीभाव से बना है ॥ ५० ॥

इस प्रथम सामान्यकाण्ड में एक पूर्वार्द्ध और दूसरा उत्तरार्द्ध रूप से दो विभाग होंगे

---

१ "सितामध्वादिसुरसो द्राक्षादाडिमजो रसः । विरलश्चेत्कृतो रागः, सान्द्रश्चेत्खाण्डवः स्मृतः" अर्थात् चीनी मधु आदि से मिलित मुनक्का अनार आदि का रस यदि पतला हो तो राग, और गाढ़ा हो तो खाण्डव कहलाता है।

मूलमेतत्समस्तस्य ग्रन्थस्यास्तीति निश्चयः । सामान्यधर्माः सुस्पष्टं वर्ण्यन्ते तु परे दले ॥५२॥

॥ इति भूमिका ॥

● अथ धर्मलक्षणम् ●

अस्ति तावत् अशेषशरीरिमात्रिस्विकमानसप्रत्यक्षैकसाक्षिकम्, सर्वतन्त्रसिद्धान्तितवेद्यताकमपीच्छादिवज्जन्यस्वस्वप्रत्यक्षसमसमयतया स्रक्चन्दनवनितादिभ्यो गरलभुजगकण्टकादिभ्योऽप्यागमस्तनादिभ्यश्च निर्विषयतयेच्छादिभ्यश्च विलक्षणम्, सुरनरतिर्यगाद्यनन्तकायनिकायप्रभेदविवेकस्य परमपरिस्फुरितं निदानम्, संसारपदमुख्यार्थस्य साक्षात्कारस्य विषयतयाऽऽश्रीयमाणम्, सकललोकलोकहृदयालोकसङ्कलितानां विषयतानियन्त्रणाविहीनोपायतानवलीढजन्यताकेतनपताकास्फारपरिस्फारपरंपराणामनन्यनिकेतनम्, चरितार्थितसकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणसदाचारात्मतुष्टिन्यायलोकव्यवहारपरम्परम्, विनिगमनाविरहानुसारदूरोत्सारितपरस्पराभावरूपताकमपि विरुद्धपरस्परम् वस्तुद्वयम् सुखंदुःखञ्च। तत्र आद्यम् निरुपाधिकयावदिच्छाविषयः। निरुपाधिकत्वञ्च स्वविषयधर्मिकोपायत्वज्ञानाजन्यत्वम्

॥ भाषा ॥

'परिस्कारपरिष्कार' प्रकरण पर्यन्त, पूर्वार्द्ध होगा, इसमें, वेद, स्मृति आदि धर्म के प्रमाणों की प्रामाण्य (सत्यता) का निरूपण होगा, अर्थात् यह दिखलाया जायगा कि वेद और धर्मशास्त्र आदि, किन २ कारणों से प्रमाणीभूत हैं ॥ ५१ ॥

और यह पूर्वार्द्ध, अवशिष्ट संपूर्ण अर्थात् ढाईकाण्डरूप इस ग्रन्थ का मूल मन्त्र है क्योंकि जब वेद आदि का प्रमाण होना सिद्ध हो जायगा तब सनातन धर्म की सिद्धि आप से आप इस कारण हो जायगी कि सनातनधर्म, वेद आदि प्रमाणग्रन्थों में कहे ही हुए हैं। और इस काण्ड के उत्तरार्द्ध में सत्य से लेकर भगवद्भक्ति पर्यन्त, सैंतीस ३७ सामान्य धर्मों का पृथक् २ स्पष्ट रूप से निरूपण होगा ॥ ५२ ॥ ॥ इति भूमिका ॥

* उपोद्घात *

सुख और दुःख—ये दोनों पदार्थ जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और इनके स्वभाव संक्षेप से दस (१०) प्रकार के होते हैं ।

(१) सब प्राणियों के अन्तःकरण हीं इनके साक्षी (प्रत्यक्ष प्रमाण) हैं इसी लिये इनकी सिद्धि में किसी अन्य (अनुमानादि) प्रमाण की कुछ भी अपेक्षा कदापि नहीं होती ॥

(२) ज्ञानरूप पदार्थ से भी ये भिन्न हैं क्योंकि ज्ञान का ज्ञान, व्यास, जैमिनि आदि कई दर्शनकारों के मत में नहीं होता, वे कहते हैं कि ज्ञान आप ही (स्वतः) प्रकाश रूप हैं तो प्रकाश में अन्य प्रकाश की क्या आवश्यकता है ? जैसे प्रकाश करते हुए दीप को देखने के लिये दूसरा दीप नहीं जलाया जाता । परन्तु कोई २ शास्त्रकार गौतमादि, ज्ञान का भी ज्ञान मानते हैं उनका मत है कि ज्ञान, सत्य और मिथ्या दो प्रकार के हुआ करते हैं यदि ज्ञान का ज्ञान स्वीकार न किया जाय तो यह निर्णय कैसे हो सकेगा कि कौन ज्ञान सत्य और कौन ज्ञान मिथ्या है, ऐसा विवाद ज्ञान के विषय में है, किन्तु सुख दुःख का ज्ञान तो सभी मानते हैं इसमें कारण यह है कि बिना सुख दुःख के जाने " मैं सुखी हूं " वा " मैं दुःखी हूं " ऐसा बोलने का व्यवहार, जो बुद्धिमान् और मूर्ख सभी में प्रसिद्ध है, वह कैसे हो सकता है ॥

इतरेच्छानधीनत्वं वा, तथोभयमपि विषयत्वानवच्छिन्नोपायत्वासमानाधिकरण फलत्वरूपमुख्यफलत्वस्य सुखे दुरपवदत्वात्तदिच्छायां नानुपपन्नम्। स्रक्, चन्दन, वनितादीनामिच्छास्तु तेषामुपायतया मुख्यफलत्वाभावान्मुख्येष्टसाधनतायास्तेषु ज्ञानं मुख्य फलेच्छाञ्चोपजीवन्तीति सुखं भवत्येव मुख्यमिष्टम्। स्रगादयस्तु सर्व एव तत्साधनत्वादेवेष्यन्ते, व्यवह्रियन्ते चेष्टपदेन। एवं द्वितीयमपि निरुपाधिकयावद्द्वेषविषयः। निरुपाधिकत्वमपि स्वविषयधर्मिकोपायत्वज्ञानाजन्यत्वम्, इतरद्वेषानधीनत्वं वा। तथोभयमप्युक्तस्य मुख्यफलत्वस्य दुःखे दुर्निरसत्वात्तद्द्वेषे नानुपपन्नम्। गरलभुजगकण्टकादीनां द्वेषास्तु तेषामुपायतया ज्ञानं मुख्यफलद्वेषञ्चानुरुध्यैवजायन्त इति नानौपाधिकाः। निरुपाधिकद्वेषविषय एव च मुख्यमनिष्टमाभिधीयत इत्युपपद्यत एव दुःखं मुख्यमनिष्टम्। गरलादयस्तु तत्साधनत्वादेव द्विष्यन्ते व्यवह्रियन्ते चानिष्टपदेन। असुरासितादिपदानामिव विरोध्यर्थकनञ्घटितत्वेनानिष्टपदस्य द्विष्टाभिधायिताया: सार्वलौकिकत्वात्।

॥ भाषा ॥

(३) इनमें अपने कारणों अर्थात् पुष्पमाला, चन्दन, कामिनी आदि और विष, सर्प, कण्टक, आदि से तथा उदासीन पदार्थ "बकरी का गलथना" आदि से भी यह विलक्षणता है कि वे दोनों अपने ज्ञान के साथ ही उत्पन्न तथा नष्ट होते हैं, अर्थात् कभी सुख दुःख अज्ञात नहीं होते, वैदिक दर्शन का यही सिद्धान्त है। पूर्वोक्त पदार्थ तो कभी ज्ञात और कभी अज्ञात भी होते हैं

(४) यद्यपि इच्छादि पदार्थ भी अपने ज्ञान ही के साथ उत्पन्न और नष्ट होते हैं तथापि उनसे भी सुख, दुःख, में यह विशेष है कि वे सविषयक होते हैं इसी से " मैं सुख चाहता हूं दुःख नहीं " ऐसा व्यवहार होता है परन्तु सुख, दुःख, इच्छा, द्वेषादि के विषय तो होते हैं किन्तु आप निर्विषयक हैं इसमें कारण यही है कि सुख दुःख के कारण कामिनी आदि का कारण रूप से तो व्यवहार होता है जैसे स्त्रीसुख इत्यादि, किन्तु कर्म कारक रूप से व्यवहार नहीं होता। ज्ञान से भी यही भेद इनका है।

(५) देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और नरक योनि वाले शरीरों के परस्पर भेद के विवेक में मुख्य कारण सुख दुःख ही हैं क्योंकि इन्हीं के आधिक्य, समता और न्यूनता रूप तारतम्य के लिये इन शरीरों की उत्पति होती है।

(६) 'संसार' शब्द का मुख्य अर्थ, सुख और दुःख का भोग (प्रत्यक्ष) ही है। इसके साधक होने से और सब पदार्थ भी संसार शब्द से कहे जाते हैं इसी लिये ये ही दोनों पदार्थ जगत् में मुख्य गिने जाते हैं।

(७) सुख और दुःख संसार के सब पदार्थों के फल हैं परन्तु इनका कोई फल नहीं है इसी लिये प्रधान प्रयोजन, स्वयं निष्प्रयोजन ही होता है, नैयायिकों के मत में इतना ही विशेष है कि वे इनको ज्ञान का कारण भी मानते हैं।

(८) वेद, स्मृति, पुराण, शास्त्र, इतिहास और लोक के जितने व्यवहार हैं सभी इन्हीं के लिये हैं, यदि ये न होते तो पूर्वोक्त किसी व्यवहार की आवश्यकता न होती क्योंकि इन्हीं की आवश्यकता से व्यवहारों की आवश्यकता होती है।

सुखञ्च दुःखाभावोऽपीष्टपदस्य मुख्योऽर्थः, दुःखञ्च सुखाभावोऽप्यनिष्टपदस्य विषयिजनप्रसिद्धो मुख्योऽर्थः । तयोरपि निरुपाधिकाया इच्छाया निरुपाधिकस्य द्वेषस्य च विषयतायाः सत्त्वात् । अतएव चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं सर्व एव सदुपदेशा इत्यवन्ध्य-उद्घोषः । तत्र प्राप्तेर्भोगरूपत्वात् परिहारस्य चाभावपर्य्यवसायित्वात् । एवमुपपादितरूपो-पपन्नमिष्टमतिमिष्टमीप्सवः सर्वे एव मतिमन्तस्तदुपायमुपलिप्सवोनिपुणतरमनुसरन्तोपि धर्म-मेव तदुपायमाकर्णयन्ति वर्णयन्ति च, न ततोऽन्यम् । न तावत् यदीष्टं न स्यात्तदा लौकि-कोऽपि व्यापारः फलमवलम्बेत किमुत धर्मोपदेशाः । सदपि च यद्यसाध्यं स्यात् आत्मवत् तदापि सैवापात्तिः । साध्यमपि यदि धर्मासहकृतेन येन केनचित्, तदापि तदर्थं धर्मोपदेश-नियमस्यानुपपत्तिः । नचेदमसत्, उक्तयुक्तिभ्यः । नाप्यसाध्यम्, स्वतः प्रागसत्त्वात् । नाप्युपा-यान्तरेण धर्मानपेक्षेण साध्यम्, तस्य निष्फलत्वानिष्टफलत्वान्यतराक्रान्तत्वात् । तस्मात्धर्म-एवेष्टप्राप्तयेऽधर्मएवच निवृत्तिद्वाराऽनिष्टपरिहाराय निरूपणीय इति श्लिष्टनिष्कृष्टम् । अतः सामान्यतो विशेषतश्च धर्माधर्मतत्त्वमत्र विविच्यते । इत्युपोद्घातः ।

॥ भाषा ॥

(९) यदि यह कहा जाय कि दुःख कोई दूसरा पदार्थ नहीं है किन्तु सुख का अभाव ही है तो इसके विरुद्ध भी कह सकते हैं कि सुख भी कोई दूसरा पदार्थ नहीं है किन्तु दुःख का अभाव ही है इस दशा में दोनों में किसी का निर्णय नहीं हो सकता । इसीलिये सुख और दुःख दोनों स्वतन्त्र ही पृथक् २ पदार्थ हैं न कि एक दूसरे का अभाव ।

(१०) अन्धकार और प्रकाश के समान ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं ।

सुख वह पदार्थ है कि जिस की इच्छा निर्हेतुक होती है, अर्थात् संसार के यावत् पदार्थों की इच्छायें सुख के लिये होती हैं किन्तु सुख की इच्छा ऐसी है जो किसी अन्य पदार्थ के लिये नहीं होती, इसी से सुख की इच्छा को निर्हेतुक और सुख को मुख्य इष्ट कहते हैं । सुख के साधन कामिनी आदि तो इष्ट नहीं कहे जाते क्योंकि उन की इच्छा सुखहेतुक है नकि निर्हेतुक- ऐसे ही दुःख भी वही पदार्थ है, कि जिसका द्वेष निर्हेतुक होता है अर्थात् संसार के जितनें पदार्थों से जो २ द्वेष होता है वह सब दुःख के अनुसंधान याने ध्यान ही से होता है किन्तु दुःख से द्वेष किसी पदार्थ के कारण नहीं होता । इसी से दुःख से द्वेष को निर्हेतुक और दुःख को मुख्य अनिष्ट कहते हैं । दुःख के साधन विष आदि भी अनिष्ट कहलाते हैं परन्तु मुख्य अनिष्ट नहीं हैं, क्योंकि उनसे द्वेष, दुःखहेतुक है न कि निर्हेतुक, मुख्य इष्ट सुख के विरोधी दुःख को मुख्य अनिष्ट कहते हैं । जैसे सुख, मुख्य इष्ट कहलाता है वैसे ही दुःखाभाव भी मुख्य इष्ट कहलाता है क्योंकि उसकी इच्छा भी सुखेच्छा के समान निर्हेतुक ही होती है और जैसे दुःख मुख्य अनिष्ट कहलाता है सुखाभाव भी सांसारिक मनुष्यों में वैसे ही मुख्य अनिष्ट कहलाता है क्योंकि उससे द्वेष भी निर्हेतुक ही होता है । इसी लिये यह सिद्धान्त है कि जितने अच्छे उपदेश होते हैं सभी इष्ट की प्राप्ति (भोग) और अनिष्ट के परिहार (त्याग) के लिये होते हैं । पूर्वोक्त मुख्य इष्ट को चाहते और उसके उपाय को बड़े २ परिश्रम से ढूंढते हुए भी बुद्धिमान् मनुष्य, धर्म ही को उसका उपाय, उपदेश द्वारा सुनते और जिज्ञासु मनुष्यों को उपदेश करते आये हैं । यदि इष्ट कोई पदार्थ न होता

अथ धर्मशब्दस्याधर्मशब्दस्य च कोऽर्थ इति चेत्।

॥ अत्र षट् पक्षाः ॥

(१) तत्र मनसो वृत्तिविशेषौ धर्माधर्मौ। आद्यो यागादितो द्वितीयो ब्रह्मवधादितो जायत इति साङ्ख्याः।

(२) क्षणिकविज्ञानसन्तानघटकस्य ज्ञानस्य पूर्वविज्ञानान्तरजन्ये शुभाशुभे वासने एव तौ इति बौद्धाः।

(३) पुद्गलाख्याः कायारम्भनिमित्तभूताः परमाणव एव शुभाशुभकर्मवासनावासितास्तौ इत्यार्हताः।

(४) जीवात्मनो विशेषगुणौ ताविति वैशेषिकाः।

॥ तदुक्तं तैः ॥

विहितक्रियया साध्यो धर्मः पुंसो गुणो मतः।
प्रतिषेध्यक्रियासाध्यःपुंगुणोऽधर्म उच्यते॥ १ ॥ इति

(५) अपूर्वमेव शुभमशुभञ्च तावित्येकदेशिनः।

(६) श्रुतिविहितो ज्ञानादिर्यागादिस्तत्साधनद्रव्यादिश्च धर्मशब्दस्य, श्रुतिप्रतिषिद्धो-द्वेषादिर्ब्रह्मवधादिस्तत्साधनद्रव्यादिश्चाधर्मपदस्य वाच्य इति मीमांसकाः।

॥ भाषा ॥

तो धर्मोपदेशों को कौन कहे लौकिक व्यापार भी सभी निष्फल हो जाते, और यदि इष्ट असाध्य होता तो भी किसी व्यापार की आवश्यकता न होती, और यदि वह धर्म के विना भी सिद्ध हो सकता तो सभी धर्मोपदेश निष्फल हो जाते। तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि इष्ट की प्राप्ति के लिये धर्म का और अनिष्ट के परिहारार्थ अधर्म का निरूपण अत्यन्त आवश्यक है इसलिये सामान्य और विशेषरूप से धर्म तथा अधर्म का तत्त्व इस ग्रन्थ में कहा जाता है॥ उपोद्घात हो गया०

प्र०—धर्म और अधर्म शब्द का क्या अर्थ है?।

उ०—इसके उत्तर छ प्रकार के हैं।

[१] सांख्य शास्त्र का यह मत है कि अन्तःकरण की दो प्रकार की वृत्ति ही धर्म अधर्म शब्द से कही जाती हैं अर्थात् वेदविहित यागादि कर्म से उत्पन्न वृत्ति को धर्म और वेद निषिद्ध ब्रह्महत्यादि कर्म से उत्पन्न वृत्ति को अधर्म कहते हैं।

[२] बौद्ध शास्त्र का यह मत है, कि क्षण २ में उत्पन्न और विनष्ट होने वाला जो विज्ञान है उस की धारा ही आत्मा है वे धाराएं प्रतिशरीर में भिन्न २ होती हैं इसी से आत्मा अनेक हैं। उस धारा के पूर्वविज्ञान से किये हुए अच्छे कर्म से उत्तर विज्ञान में वासना उत्पन्न होकर उस से भी उत्तर विज्ञानों में संक्रमण करती है उसी वासना को धर्म कहते हैं, एवं अनुचित कर्म से उत्पन्न हुई उसी प्रकार की वासना को अधर्म कहते हैं।

तत्र पूर्वे पञ्चपक्षाः भट्टपादैरेव निराकृताः तथाच मीमांसादर्शने प्रथम अध्याये तर्कचरणे चोदनालक्षणसूत्रे

॥ वार्त्तिकम् ॥

अन्तःकरणवृत्तौ वा वासनायांच चेतसः । पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणे अपूर्वजन्मनि ॥ १९५ ॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो नच साधनम् । पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः॥१९६॥
नच वस्त्वन्तरं शक्यमपूर्वं स्वर्गयागयोः । ज्ञातुं साधनभूतं वा साध्यं वा नाप्यतोऽन्यथा॥१९७॥
श्रुतसाधनसाध्यत्वत्यागेनाश्रुतकल्पना । प्रसज्येतास्य तद्रूप्ये व्यतिरेकेत्वरूपता ॥ १९८ ॥
तस्मात्फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् । उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततःपरम् ॥१९९ ॥
शक्तयः सर्वभावानां भावशब्दैर्विशेषतः । नोपाख्यायन्त इत्येवं ना पूर्वे धर्मशब्दता ॥२००॥

नृगुणे आत्मगुणे वैशेषिकसम्मते अपूर्वजन्मनि, यागाद्यनुष्ठानात्पूर्वं न जन्म यस्य तस्मिन् अपूर्वे एकदेशिसम्मते । अयमाशयः । उक्तपक्षपञ्चकं नयुक्तम् । मनोवृत्त्यादिषु-धर्मशब्दप्रयोगस्य क्वचिदप्यदर्शनात् । किञ्च श्रेयःसाधनेष्वेव धर्मशब्दो लोके प्रसिद्धः । श्रेयःसाधनता च मनोवृत्त्यादौ नास्त्येव, प्रमाणाभावात् । वाह्येष्वागमाभासेष्वपि हि चैत्य-वन्दनादीनामेव तत्र २ श्रेयःसाधनताऽवगम्यते नतु वासनादीनाम् किमुत वेदचोदनासु । अथ मा नाम मनोवृत्त्यादीनां क्वचिदपि श्रेयःसाधनताऽवगमि अपूर्वस्य तु 'तेनापूर्वं कृत्वा नान्यथा' इतित्वयैव वक्ष्यमाणत्वात्सा त्वां प्रत्यपि जागर्त्येव, तथाचापूर्वं कथं न धर्मपदार्थ इतिचेन्न—साध्यसाधनभावापन्नाभ्यां स्वर्गयागाभ्यामतिरिक्तस्यापूर्वस्यात्यन्ताप्रामाणिक त्वात् । तथाहि । तत्,

॥ भाषा ॥

[३] आर्हत [जैन] दर्शन का यह सिद्धान्त है, कि शरीर के निमित्तकारण परमाणु, पुद्गल कहलाते हैं, वे ही जब शुभ कर्म की वासना से संबद्ध होते हैं तब धर्म और अशुभ कर्म की वासना से संबद्ध होने पर अधर्म कहलाते हैं ।

[४] न्याय और वैशेषिक दर्शन के आचार्यों का यह सिद्धान्त है, कि वेदविहित कर्मों से जीवात्मा में उत्पन्न हुए गुण को धर्म और वेदनिषिद्ध कर्म से उत्पन्न हुए दोष को अधर्म कहते हैं ।

[५] कोई २ लोग यह कहते हैं, कि अपूर्वनामक, शुभ अशुभ कर्मों से उत्पन्न, गुण और दोष ही धर्म और अधर्म कहलाते हैं चाहे वे कहीं रहें क्योंकि यागादि कर्म तो क्षणिक हैं उनके नष्ट हो जाने पर उन से उत्पन्न एक अपूर्व पदार्थ, स्वर्गलाभ पर्यन्त रहता है ।

[६] मीमांसा दर्शन से यह निश्चित है, कि वेदविहित तत्वज्ञानादि और यागादि कर्म और उसके साधन वस्तु, धर्म कहलाते हैं । और वेदनिषिद्ध द्वेषादि तथा ब्रह्महत्यादि और उन के साधन वस्तु, अधर्म कहलाते हैं ।

इन में से पूर्वोक्त पांच पक्षों को श्री पूज्यपाद कुमारिलभट्ट ने मीमांसादर्शन १ चरण, धर्मलक्षण सूत्र के वार्त्तिक में १९५ से २०० श्लोक पर्यन्त खण्डन किया है, उनका आशय यह है कि पूर्वोक्त पांचो पक्ष, निम्न लिखित कारणों से ठीक नहीं हैं, क्योंकि—

साध्यरूपं, साधनरूपम्, उभयरूपम्, अनुभयरूपं, वा भवेत्। तत्र नाद्यास्त्रयः। तथासति श्रुतस्य स्वर्गनिष्ठस्य साध्यत्वस्य तथाभूतस्य यागनिष्ठस्य साधनत्वस्य च हानिप्रसङ्गात्, अश्रुतस्यापूर्वसाध्यसाधनभावस्य फलकल्पनाप्रसङ्गाच्च। नापि तुरीयः, प्रयोजनप्रमाणविहीन तथाऽपूर्वरूपस्यैव भङ्गप्रसङ्गात्। तत्किम् अपूर्वं नास्त्येवेति चेत्। ननास्ति किन्तु फलं साधयितुमभिप्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रमपूर्वम्। यद्वा उत्पत्तौ प्रवृत्तस्य पश्वादेः फलस्य सूक्ष्मावस्थाशक्तिरेवाङ्कुरस्थानीया अपूर्वम्, नतु ततः पृथग्भूतं वस्त्वन्तरं स्वतन्त्रम्। नच तथापि तस्य धर्मपदार्थत्वे किं बाधकमिति वाच्यम् लोके तत्र धर्मशब्दप्रयोगाभावरूपस्य बाधकस्यानुपदमेवोक्तत्वात्। किञ्च सर्वेषामेव पदार्थानां शक्तयः साधारणैरेव शक्तिसामर्थ्यादिपदैरभिधीयन्ते।

॥ भाषा ॥

[१] अन्तःकरण की वृत्ति आदि पांचो पदार्थों में से किसी में धर्मशब्द का व्यवहार कोई नहीं करता।

[२] लोक में कल्याण के साधन ही में धर्म शब्द का व्यवहार प्रसिद्ध है। और अन्तःकरण की वृत्ति आदि पदार्थों के कल्याणसाधन होने में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि वेद में जिस का विधान है जैसे यज्ञादि का वे ही कल्याण के साधन [उपाय] होते हैं। यहां तक कि नास्तिकों के उपदेश ग्रन्थों में भी चैत्यवन्दनादि कर्म ही का विधान है। इससे कर्म ही के कल्याणसाधक होने में आस्तिक और नास्तिक, सब के उपदेश प्रमाण मिलते हैं और अन्तःकरण की वृत्ति आदि का तो कहीं भी विधान नहीं है, तब वे कल्याण के साधन [उपाय] नहीं हो सकते और कल्याण के साधन न होने से वे धर्म नहीं कहला सकते।

प्र०—अन्तः करण की वृत्तिं आदि तो चाहे कल्याण के साधन न हों परन्तु "अपूर्व" का कल्याणसाधन होना तो मीमांसकों को भी स्वीकृत है क्योंकि वे कहते हैं कि 'यज्ञ से अपूर्व ही के द्वारा स्वर्ग होता है' तब अपूर्व को धर्म कहने में क्या बाध है ?।

उ०–[१] यह बाध है कि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वैदिक विधिवाक्यों में दोही पदार्थ हैं, एक स्वर्ग [साध्य] और दूसरा यज्ञ, [साधन] इन दोनों से भिन्न कोई पदार्थ अपूर्व नामक उन विधि वाक्यों से सिद्ध नहीं हो सकता इस लिये अपूर्व जब आप ही अप्रामाणिक है तब वह कैसे धर्मशब्द से कहा जा सकता है।

[२] अपूर्व माना जाय तो वह क्या स्वर्गादिवत् [साध्य] रूप है, वा यज्ञआदि के समान [साधन] रूप है, अथवा उभयरूप है, ? इन तीनों पक्षों में दो दोष हैं एक तो यह कि वेदवाक्यों से स्पष्ट बतलाये हुए स्वर्गादिरूप साध्य, और यज्ञादिरूप साधन का त्याग करना, दूसरे यह कि अपूर्वरूप अपूर्व विषय को अपनी इच्छा से कल्पना कर पुनः अपनी इच्छाही से उसको साध्य, साधन, बनाना। और यदि साध्य साधन से विलक्षण कोई अपूर्व नामक पदार्थ माना जाय तब तो उसकी सिद्धि ही नहीं हो सकती क्योंकि उस का प्रयोजन और प्रमाण कुछ नहीं है। तो प्रयोजन और प्रमाण के बिना कैसे कोई वस्तु मानी जा सकती है।

प्र०—तो क्या, अपूर्व कोई पदार्थ ही नहीं है ?।

॥ श्रीः ॥

* चर्चासागर से सावधान *

ऊँचे सिंहासण बैठ वसु नृप, धर्म का भूपति भया।
वच झूंठ सेति नर्क पहुंचा, स्वर्ग में नारद गया॥

श्री दिगम्बर जैन धर्मानुयायी सज्जनों से सादर निवेदन है कि "चर्चासागर" नामा ग्रन्थ जो गतवर्ष छपकर प्रकाशित हुवा है, वो ग्रन्थ श्री दिगम्बर जैनाचार्य महाराज कृत नहीं है, बल्कि एक साधारण व्यक्ति ने लिखा है, उस ग्रन्थ में सबसे ज्यादा भ्रम की बात यह है कि इस में मुख्य २ कथन ऐसे वर्णन किये गये हैं जो श्री दिगम्बर जैन शास्त्रों के विरुद्ध मालूम नहीं पड़ते जिससे साधारण बुद्धी वाले भ्रम में आजावें और यह समझलें कि यह ग्रन्थ श्री दिगम्बर जैन संप्रदाय का ही है, परंतु उसके अन्तरगत कई जगह ऐसी २ बातें लिखी हुई हैं जो कि श्री दिगम्बर जैन सिद्धान्तानुसार नहीं हैं। इसी ग्रन्थ की बाबत "धर्म विध्वंशक कुचेष्टा" नामा विज्ञापन कलकत्ते से सर्व सज्जनों को सावधान करनार्थ वितर्ण कियागया है, जिसमें इस ग्रन्थ के कुछ धर्म विरुद्ध कथनों पर जन्ता का लक्ष लाया गया है, सो आप लोगों ने पढ़ाही होगा. उस विज्ञापन में चर्चा नम्बर १६, २२, २५, २७, १३७, १५२, १५५, १६८, १७०, १८४, १८५, १६०, १६१ पर जन्ता का लक्ष विशेष रूप से दिलाया गया है, परंतु समुच्चय ग्रन्थ के देखने से ज्ञात होता है कि उसमें और भी बहुत सी बातें अपने सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं जैसे पत्रे २१७ पर ये दिखाया गया है कि "एक मुनिराज ने एक सेठ की कन्या को यह बताया कि श्रावण शु० ७ दिन उपवास करके भगवान का अभिषेक कर पूजा करनी चाहिये और "पुष्पों की माला पहिनानी चाहिये तथा पुष्पों का मुकुट श्री जिन बिंब के मस्तक पर धारण करे यह कहना चाहिये कि हे जिनवर ? आप मुक्तस्त्री के वर हो इस लिए आपके लिये यह मुकुट और माला पहिनाई जाती है" (नोट—इस कथा के प्रमाण में मुकुट सप्तमी की कथा बताई है) अब पाठक स्वयं विचार करें कि इस प्रकार के कथन व प्रमाणों से जन्ता को कितना भारी भ्रम, धोका हो सकता है, कि क्या दिगम्बर संप्रदाय में भी जिनबिंब के गले में माला और मस्तक पर मुकुट बांधाजाता है ? साधारण बुद्धी वाले भी यह खूब जानते हैं कि यह कथा दिगम्बर संप्रदाय की नहीं हो सकती, क्योंकि अपने श्री दिगम्बर जैनाचार्य्य महाराज वीतराग प्रभू की प्रतमाओं के गले में माला व मस्तक पर मुकुट का सिद्धान्त विरुद्ध उपदेश कैसे देते ? इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे कथन हैं और उन के प्रमाण भी ऐसे ही हैं जैसे मुकुट सप्तमी की कथा का प्रमाण। इसी ग्रन्थ के पत्रे २२१ पर लिखा है कि जप होम दान पितृतर्पण जिनेन्द्र देवकी पूजन जिन शास्त्र अध्ययन बिना तिलक लगाये कभी नहीं करना चाहिये।

पाठकों को यहां विशेष लक्ष यह देना चाहिये की इस कथन के अन्तरगत "पितृतर्पण" भी लगादिया गया है जो कि श्री दिगम्बर जैन सिद्धान्त के अनुसार नहीं है और ग्रन्थकर्ता ने भी इस (पितृतर्पण) की पुष्टी में किसी ग्रन्थ का प्रमाण नहीं दिया तोभी ग्रन्थकर्ता के पितृतर्पण लिखने के कारण जन्ता में भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि क्या जैनी लोग भी पितृतर्पण करते हैं ? पत्रे २८१ पर लिखा है कि "इन विश्वेश्वरादिको के सिवाय मांसाहारी क्रूर देव और भी हैं" ? यह कथन कितना विपरीत है, क्योंकि चारों प्रकार के देवों में कोई भी देव मांसाहारी नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त इसी ग्रन्थ में ब्राह्मणों को गौदान व गीला गोबर (जो कि सर्वथा अशुद्ध संमूर्च्छन जीवों से युक्त होता है) से भगवान के आगे अर्घ उतार कर चर्णों में चढ़ाना चाहिये आदि २ लिखा है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन में धर्मवीर सेठ [illegible]जी ([illegible] जी वालों) का नाम पढ़कर प्रत्येक धर्मानुरागी को आश्चर्य होता है कि उन्हों ने ऐसे ग्रंथ के छपवाने में सहायता कैसे दी, इसकी बाबत जनता का भ्रम निवारणार्थ सर्व साधारण को ज्ञात किया जाता है कि उन के जो पत्र हमारे पास आए हैं, उस में उन्होंने स्पष्ट सूचित किया है कि "हमने धोका खाया" उन्हों ने लिखा है कि "·················ने इसकी बहुत प्रशंसा की और कहा कि यदि कोई भाई इसको छपाकर प्रचार करे तो जनता का बहुत उपकार हो, उनके इन वचनों से हमने उसी समय रु० ५००) की सहायता देने का वचन देदिया और अन्य भाइयों ने भी सहायता का वचन दिया, जब ग्रंथ छपकर प्रकाश में आया और इसके संबंध में अनेक प्रकार की शंकायें उठने लगीं अब हमने यह उचित समझा कि अपने हिस्सों की २५० प्रतियों का प्रचार रोक दियाजाय इसी लिये प्रतियों का वितरण करना रोक रक्खा है। यदि हम पहिले स्वयं इस ग्रंथ का स्वाध्याय करलेते तो हम कभीभी इस प्रकार के ग्रंथों के प्रकाशन में सहायता नहीं देते, हमने तो इसको एक उत्तम ग्रन्थ समझकर इसके प्रकाशन की सहायता का वचन दियाथा, हमारा ऐसे ग्रन्थों की बाबत रंच मात्र भी पक्ष नहीं है" आगे चलकर लिखा है कि चर्चासागर में लिखित शास्त्रविरुद्ध बातों के संबंध में हमारा पक्ष समझना भयंकर भूल है, इत्यादि।

आशा है कि धर्मवीर जी के ऊपर के कथन से जनता का भ्रम शीघ्र दूर होजायेगा।

श्री दिगम्बर जैन समाज से सादर निवेदन है कि इस ग्रन्थ के प्रचार को शीघ्र रोकें और जितना कथन इस में श्री दिगम्बर जैन सिद्धान्तानुसार नहीं है, उस को इसमें से शीघ्र निकाल देवें, यदि समाज इस समय अपने कर्तव्य का पालन नहीं करेगा तो कुछ समय बाद ही यह देखने में आयेगा कि प्रत्येक शास्त्रजी के भन्डारों में यह ग्रंथ मौजूद होजायगा और कुछ वर्षों बाद साधारण बुद्धि वाले इस ग्रंथ को श्री दिगम्बर जैन धर्म का माननीय ग्रंथ समझ बैठेंगे इसलिये श्री जिनेन्द्र धर्म की रक्षा के हेतु शीघ्र ही ऐसा प्रबल परियत्न करें जिस से श्री जैन धर्म की निर्मल कीर्ति पर धब्बा नहीं लगे।

(नोट) १. बीस पंथी भाईयों को यह कहकर उकसाया जारहा है कि यह ग्रंथ बीस पंथी आम्नायकर है इस लिये तेरह पंथी वाले विरोध कररहे हैं। अतः सादर निवेदन है कि बीस पंथी भाईयों को इन बातों के धोके में न आकर स्वयं ग्रंथ को पढ़ना चाहिये जिस से ज्ञात होजायेगा कि इस ग्रंथ में कई बातें ऐसी मिश्रित की गई हैं जिनको कोई भी जैन स्वीकार नहीं कर सकता।

२. इस ग्रंथ की भाषा (बोली) से विद्वानों को ठीक पता लगाना चाहिये कि ग्रंथ किस देश निवासी द्वारा किस समय तैयार हुवा है, इस से भी बहुत रहस्य प्रगट हो सकेंगे।

३. कलकत्ते वाले विज्ञापन मंगाने का पता—श्रीयुत रतनलाल जी झांझरी, मंत्री "श्री दिगम्बर जैन युवक समिति, नम्बर ९४, लोअर चितपुर रोड, कलकत्ता।

कटरा अशरफी,
देहली ता० १६-१०-[illegible]

श्री दिगम्बर जैन धर्म का सेवक,
निर्भयराम जैन।

लक्ष्मी प्रेस, देहली।

धर्मशब्दश्च न शक्तिसामान्यवाची, अग्न्यादिशक्तौ तदप्रयोगात् । अग्न्यादिरूपतत्तच्छब्दा-वच्छिन्नैव च सा शक्तिस्तादृशावच्छिन्नशक्तिवाचकेनाग्निशक्त्यादिपदेनाभिधीयते । नचासौ धर्मशब्दो भावविशिष्टशक्तिवाची भवितुमर्हति । उक्तपक्षे तस्य तादृशभाववाचितायाः अनभ्युपगमेन तद्विशिष्टवाचित्वायोगात् । तस्या अभ्युपगमेत्वपसिद्धान्तापातात् । तस्मान्नापूर्वं धर्मपदार्थ इति । एवम्परिशिष्टः षष्ठः पक्ष उपपादितोपि तत्रैव भाष्यवार्तिककाराभ्याम् । तथाच,

श्रेयस्करभाष्यम्—

तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करः । एवन्तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः किं धर्मजिज्ञासया । उच्यते य एव श्रेयस्करः स एव धर्मशब्देनोच्यते । कथमवगम्यताम्, योहि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते यथा पाचकः लावक इति । तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति स धर्मशब्देनोच्यते । न केवलं लोके, वेदेऽपि "यज्ञेनयज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यसन्" इतियजतिशब्दवाच्यमेव धर्मं समामनन्ति इति,

॥ तद्भट्टवार्तिकञ्च ॥

धर्म इत्युपसंहार्ये यच्छ्रेयस्करभाषणम् । तद्धर्मपदवाच्यार्थनिरूपणविवक्षया ॥१९०॥
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः । चोदनालक्षणैःसाध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ॥१९१॥
अन्यत्साध्यमदृष्ट्वैव यागादीननुतिष्ठतः । धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते ॥१९२॥
पश्वादीनि च धर्मस्य फलानीति व्यवस्थितम् । चित्रागोदोहनादीनां तान्युक्तानि फलानिच१९३।
तस्मात्तेष्वेव धर्मत्वं धर्माणीति चदर्शनात् । लिङ्गसंख्याविनिर्मुक्तो धर्मशब्दो निदर्शनम् ।१९४। इति

॥ भाषा ॥

उ०—पदार्थ तो अवश्य है किन्तु स्वर्गादि को उत्पन्न करने वाली यागादि कर्मों की शक्ति ही अपूर्व है, अथवा स्वर्गादिफलों की पूर्वावस्था ही अपूर्व है जैसे वृक्षों की अङ्कुरावस्था, नकि इन शक्तियों से अन्य कोई स्वतन्त्र पदार्थ अपूर्व है ।

प्र०—यदि उक्त शक्ति ही अपूर्व है तो भी उसको धर्म शब्द से कहने में क्या हानि है ? ।

उ०—(१) पूर्व ही कहा जा चुका है कि लोक में धर्म शब्द से ऐसी शक्तियों का व्यवहार नहीं होता क्योंकि जो लोग ऐसी शक्तियों को नहीं जानते वे भी यागादि कर्मों में धर्म शब्द का व्यवहार करते हैं ।

(२) सभी पदार्थों की शक्तियां साधारण ही शक्ति और सामर्थ्य, आदि शब्दों से व्यवहार में लाई जाती हैं । न कि किसी विशेष शब्द से, और धर्म तो विशेष शब्द है यह लोकप्रसिद्ध शक्ति पदार्थ, अग्नि आदि की शक्ति, को नहीं कहता, जिसकी जो शक्ति होती है उसके नाम ही को साथ लगाकर उस शक्ति का व्यवहार लोक में होता है जैसे अग्नि शक्ति, वायुशक्ति आदि । धर्म शब्द को यागशक्ति वाची वा फल (स्वर्ग) शक्ति वाची, पांचों पक्षवालों में से कोई नहीं मानता क्योंकि यदि वे मानें तो उनके सिद्धान्त ही का भङ्ग हो जायगा, इसलिये अपूर्व, धर्म शब्द का अर्थ नहीं हो सकता है । मीमांसा दर्शन के भाष्यकार और वार्तिककार ने धर्मलक्षण सूत्र ही पर छठें पक्ष को अनेक युक्तियों से सिद्ध किया है वह शाबरभाष्य और वार्तिक संस्कृत भाग में लिखा है जिसका तात्पर्य यह है कि—

अभेदमाकृतम् । धर्मशब्दस्य श्रेयस्करवाचित्वं निरूपयितुमेव श्रेयस्करशब्देनोपसंहारो भाष्ये, अन्यथा प्रकृतत्वाद्धर्मपदेनैवोपसंहारो युक्त इति तत्पदत्यागो निष्प्रयोजनत्वादनुचित एव स्यात् । 'य एव श्रेयस्कर' इत्यादि भाष्येण द्रव्यगुणकर्मणां गोदोहनाऽऽहवनीययागादीनामेव धर्मत्वमुच्यते । तेष्वेव पुरुषप्रीतिरूपश्रेयःसाधनतायाश्चोदनादिभिः प्रमापितत्वात्, यागाद्यनुष्ठातर्येव लोके धार्मिकशब्दप्रयोगदर्शनाच्च । नयाचयागाद्यनुष्ठातैव त्वन्तःकरणवृत्त्यादिकमप्यनुतिष्ठति इति तत्र यागयोगादेव धार्मिकशब्दप्रयोगो नत्वपूर्वादियोगादिति न शक्यते विवेक्तुमिति वाच्यम्, लौकिका हि नापूर्वादीनां स्वरूपमपि जानन्तीति कथं तेषु धार्मिकशब्दं प्रयुञ्जीरन्, किन्तु यागादिष्वेव श्रेयःसाधनतामवधार्य तदनुष्ठायिनि धार्मिकशब्दं प्रयुञ्जते । अतो यागादीनामेव श्रेयःसाधनात्मनां धर्मशब्दाभिधेयत्वम् । अनधिकारिकृतस्य यागादेस्तु श्रेयःसाधनत्वाभावादेव न धर्मत्वापत्तिशङ्कापि । किञ्च पश्वादीनि फलत्वेन प्रसिद्धानि ततश्च तानि येषां फलानि ते धर्मा इति गम्यते, तानि च चित्रादीनां फलत्वेन चोदनातोऽवगतानीति चित्रादीनामेव धर्मत्वम् ।

॥ भाषा ॥

यागादि कर्म और उसके साधन द्रव्य आदि को धर्म कहते हैं, क्योंकि स्वर्गादिरूप कल्याण का साधन [उपाय] होना, इन्हीं में वैदिक वाक्यों से पाया जाता है, और लोक में यागादि कर्मों के कर्ता ही को धार्मिक (धर्म का करने वाला) कहते हैं ।

प्र०–जो याग करता है वही तो पूर्वोक्त अन्तःकरणवृति आदि को भी करता है तब यह कैसे निश्चित हो सकता है कि याग ही करने से लोग उसको धार्मिक कहते हैं न कि अन्तःकरणवृति आदि के करने से ? ।

उ०–जो लौकिक मनुष्य अन्तःकरणवृत्ति के स्वरूप को भी नहीं जानते वे भी धार्मिक शब्द का प्रयोग करते हैं तो यह कैसे कहा जा सकता है कि अन्तःकरणवृत्ति आदि को विना जाने, उसके करने वाले को वे धार्मिक शब्द से व्यवहार में लावेंगे, क्योंकि अज्ञात पदार्थ में व्यवहार नहीं हो सकता । जैसे प्रसिद्ध है कि जो तर्क का स्वरूप नहीं जानता वह किसी को तार्किक नहीं कहता ।

प्र०–यदि ऐसा है तो जो यज्ञादि कर्म, अनाधिकारी के हाथ से किये जावें वे धर्म कहलाते हैं वा नहीं ? ।

उ०–वे धर्म नहीं कहलाते क्योंकि वेदवाक्यों में अधिकारी ही के लिये यागादि कर्म का उपदेश है इससे वही यागादि, कल्याण का साधन है जिसको अधिकारी करता है । अनाधिकारी के किये हुए यागादि के, कल्याण साधन होने में जब कोई प्रमाण नहीं है तब कैसे उसे धर्म शब्द से कह सकते हैं ।

इस कारण से भी धर्म शब्द के यागादि कर्म हीं अर्थ हैं कि वेदवाक्यों में स्वर्गादि फल कहे हुए हैं । वे फल यागादि कर्मोंही से होते हैं, यह भी उन्हीं वेदवाक्यों से निश्चित होता है । धर्म शब्द का अर्थ यागादिक ही है इस मे साक्षात् वेदवाक्य प्रमाण है । वेद में यह कहा है कि "देवता, यज्ञ के द्वारा परमेश्वर का पूजन करते हैं वह प्रथम धर्म है" इस से स्पष्ट रीति से ज्ञात है कि यागादि ही धर्म शब्द के अर्थ हैं ।

अपिच 'यज्ञेन यज्ञम्' इत्यादि श्रुतौ धर्मशब्दस्ययज्ञशब्दसामानाधिकरण्याद्यागस्यैव धर्मत्वम्। नच पुंलिङ्गैकवचनान्तेन यज्ञशब्देननपुंसकबहुवचनान्तस्य धर्मशब्दस्य कथं सामानाधिकरण्यमिति वाच्यम् तानीत्यत्रहितच्छब्दो यागमेव परामृशति तस्यैवप्रकृतत्वात् तत्सामानाधिकरण्याद्धर्मशब्दोऽपि तमेवबोधयति लिङ्गवचनव्यत्ययस्तु छान्दसत्वादेव न सामानाधिकरण्यं प्रतिबध्नातीति । अत्रेदमवधेयम् यज्ञमात्रस्य धर्मपदार्थत्वमिह कर्ममीमांसाप्रकरणादेव भाष्यकारै रुपपादितम् वस्तुतस्तुचोदनालक्षणत्वाविशेषादर्थत्वाच्च ज्ञानयोगोपासनानामपि धर्मपदवाच्यत्वमभ्याहतमेव अतएवयज्ञपदमनुक्त्वा सूत्रे भाष्येच वेदविहितसर्वसङ्ग्राहकमर्थपदमुपात्तम् अर्थइतीति । एवं

मित्रमिश्रोऽपि

(वीरमित्रोदये परिभाषाप्रकाशप्रकरणे) तत्र परमेश्वरनामोच्चारणादावव्यवहितोत्तरक्षणे पापक्षयजनकत्वादपूर्वाजनके,-तादृश एव च कर्मनाशाजलस्पर्शादौ पुण्यक्षयजनके आपामरं धर्माधर्मव्यवहारदर्शनाद्धट्टमतमेत्र साधीय इति प्रतीमः । अतएव 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन' इति श्रुतौ, 'इष्टापूर्तौ स्मृतौ धर्मौ' इति स्मृतौ च यज्ञादिषु धर्मपदप्रयोगः साधु सङ्गच्छते । यस्तु 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' 'पुण्यदः पुण्यमाप्नोति' इत्यादावपूर्वे धर्मपदप्रयोगः स उदाहृतलौकिकवैदिकव्यवहारानुरोधेन क्रियायामेव शक्तौ निर्णीतायां लाक्षणिक इति । एवञ्च न्यायसाम्याद्धर्मो निषिद्धक्रियातत्साधनद्रव्यादिरूप एवेत्युक्तप्रायम् ॥

॥ इतिधर्माधर्मस्वरूपम ॥

॥ भाषा ॥

और यहां भाष्यकार ने कर्म मीमांसा के प्रकरणानुसार केवल यज्ञ ही को धर्म पद का अर्थ कहा है परन्तु वास्तव में तत्त्वज्ञान, योग और उपासना भी धर्म शब्द के अर्थ हैं क्योंकि वे भी वेद में विहित होकर अर्थ हैं । इसी से जैमिनि महर्षि ने मीमांसा दर्शन के द्वितीय सूत्र में 'अर्थोधर्मः' कहा है न कि 'यज्ञोधर्मः' और भाष्यकार शवरस्वामी ने भी 'अर्थःश्रेयस्करः' कहा है न कि 'यज्ञःश्रेयस्करः' ॥

वीर मित्रोदयनामक धर्मशास्त्र ग्रन्थ के परिभाषा प्रकरण में पण्डित मित्रमिश्र ने भी वार्त्तिककार के सिद्धान्त ही का अनुमोदन किया है अर्थात्—

उन्हों ने यह लिखा है कि परमेश्वर के नामोच्चारण आदि जो ऐसे कर्म हैं कि वे पापक्षयरूपी फल को तत्क्षण उत्पन्न करते हैं अर्थात् उनके और उनके फल के व्यवधान न होने से मध्य में अन्तःकरणवृत्ति आदि उक्त पांचो पदार्थों की उत्पत्ति का अवसर ही नहीं आ सकता, उन कर्मों को सब मनुष्य मूर्ख पर्यन्त, धर्म शब्द से व्यवहार करते आते हैं, और कर्मनाशा नदी के जलस्पर्श आदि जो ऐसे कर्म हैं कि वे पुण्यनाश रूपी फल को उसी क्षण उत्पन्न करते हैं अर्थात् उनके और फल के व्यवधान न होने से मध्य में अन्तःकरणवृत्ति आदि पांचो पदार्थों की उत्पत्ति का अवसर ही नहीं आसकता, उन कर्मों को सब लोग अधर्म शब्द से व्यवहार करते हैं । इस

अथ धर्माधर्मलक्षणम् ।

अथ धर्मशब्दस्य अधर्मशब्दस्य च प्रवृत्तिनिमित्ते के ? इतिचेत् ये लक्षणे धर्माधर्मयोः । ते एव के ? इतिचेत्

॥ अत्र मनुः २ अध्याये ॥

विद्वद्भिः सेवितः सद्भिर्नित्यमद्वेषरागिभिः । हृदयेनाभ्यनुज्ञातो योधर्मस्तंनिबोधत ॥१॥ इति

॥ ॥ अत्रानुपदोक्तप्रकरणे मित्रमिश्राः ॥

अत्र यो धर्म इति धर्मसामान्यमुद्दिश्य विद्वद्भिरित्यादिना लक्षणं विधीयते । विद्वद्भिः वेदार्थविद्भिः । सद्भिः प्रमातृभिः । अनेन विशेषणद्वयेन वेदप्रमापितत्वं लक्ष्यते । अद्वेषरागिभिः निषिद्धफलकरागद्वेषशून्यैः । अनेन बलवदनिष्टाप्रयोजकत्वं लक्ष्यते । हृदयेनाभ्यनुज्ञातः इत्यनेन श्रेयःसाधनत्वम् । तत्रैव हि मनोऽभिमुखं भवति । तदयमर्थः । बलवदनिष्टाप्रयोजकत्वे सति श्रेयःसाधनतया वेदप्रमापितत्वमिति । श्येन, स्वर्ग, भोजन, व्यावृत्त्यर्थं विशेषणत्रयम् । कादाचित्कदुर्वृत्तपुत्रजनकपुत्रेष्ट्यादिसंग्रहार्थञ्च बलवदनिष्टं निर्धार्यमाणत्वेन विशेषणीयम् । श्येनस्तु न धर्मः अवधारितबलवदनिष्टप्रयोजकत्वात् । यदि पुत्रेष्ट्यादेः फलस्य पुत्रस्य कूटसाक्ष्यकारित्वं ज्योतिःशास्त्रादितोऽवधार्यते तदा पुत्रेष्टिरप्यधर्म एव निर्धारितगवादिपतनसंकीर्णमार्गस्थकूपखननमिवेति ।

॥ भाषा ॥

से यह सिद्ध होता है कि वार्तिककार ही का मत ठीक है नकि पूर्वोक्त पांचो पक्ष । वेद में साक्षात् कहा है कि "धर्मरूपी कर्म से मनुष्य उत्तम, और पापरूपी कर्म से अधम होता है" और स्मृतियों में भी कहा है कि यागादि कर्म ही धर्म है । और जो कहीं २ स्मृतियों में अपूर्व में धर्म अधर्म शब्द का व्यवहार है वह पूर्वोक्त प्रमाण के अनुरोध से गौण है, जैसे बालक में केवल वीरताविशेष होने से सिंह शब्द का व्यवहार होता है । इसी से यह भी सिद्ध हो गया कि वेदनिषिद्ध ब्रह्मबधादि कर्म और उनके साधन द्रव्यादि अधर्म हैं नकि अन्तःकरणवृत्ति आदि । धर्म अधर्म का स्वरूप समाप्त हुआ

(धर्म अधर्म का लक्षण)

प्र०—धर्म अधर्म का क्या लक्षण (पहचान) (चिन्ह) है अर्थात् कैसी क्रिया धर्म और कैसी अधर्म है । ?

उ०—मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १ में जो मनुमहाराज ने धर्म का लक्षण किया है उसी की वीरमित्रोदय परिभाषा प्रकरण में पण्डित मित्रमिश्र ने व्याख्या की है, वह यह है ।

श्लोकार्थ—

वेदार्थ के ठीक जानने वाले, निषिद्ध फल वाले राग और द्वेष से रहित, महात्मा लोग अन्तःकरण से अभिमुख होकर जिन कर्मों को सदा करते चले आए हैं वे ही धर्म हैं ।

भावार्थ—

जिस के विषय में वेद ही से यह ठीक २ निश्चय हो सकता है कि यह कर्म निश्चित और प्रबल किसी अनिष्ट का कारण न हो कर इष्ट का कारण है, वही धर्म है । भोजन और श्येन

एतेनैव च बलवदनिष्टप्रयोजकतया वेदप्रमापितत्वरूपमधर्म लक्षणमप्युक्तप्रायं बोध्य म् । वेदश्चोभयोरपि लक्षणयोः प्रत्यक्षः स्मृत्याद्यनुमितश्च गृह्यत इति स्मार्तादिधर्माधर्मेषु नाव्याप्तिः । नन्वत्र दशाविशेषे पुत्रेष्ट्यादीनामप्यधर्मत्वमिति मित्रमिश्रेण कण्ठत एवोक्तम् निर्धारितगवादिपतनसङ्कीर्णमार्गस्थकूपखननं च दृष्टान्तितम्, बलवदनिष्टस्य निर्धारणे तदनुद्दिश्य फलान्तरोद्देशेनापि कृतस्य तादृशानिष्टप्रयोजकस्य वैधस्यापि कर्मणो न धर्मत्वम् किन्त्वधर्मत्वमेव किमुत तादृशानिष्टोद्देशेन कृतस्य विहितस्यापि कर्मण इत्ययमर्थश्चाभ्यां दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकाभ्यां स्पष्टतरं प्रतीयते, सच नोपपद्यते तथासति दशाविशेषे सर्वेषामेव वेदविहितानां ज्योतिष्टोमाग्निहोत्रादीनां धर्मत्वस्यानुपपत्तेरधर्मत्वस्य चापत्तेर्दुवारत्वा- दित चेत् ।

अत्रास्मद्वृद्धप्रपितामह श्रीमदनिरुद्धशर्मजनक श्रीकुञ्जरनाथपादाः

इष्टमेवैतत् । तथाहि मानवे धर्मलक्षणवाक्ये द्वेषरागशब्दौ लोभदम्भादीनप्युपलक्ष- यतः तेषामपि दोषताया निर्विवादत्वात् अन्यथा दम्भादिभिः कृतानां यज्ञानामभ्यनुज्ञा- पत्तेः । रागश्चेह वैधफलमात्रविषयकाद्रागादन्योग्राह्यः द्वेषसाहचर्यात्, अधिकारघटकत्वेन तस्यावर्जनीयत्वाच्च । सच निषिद्धक्रियाजन्यफलान्तरविषयकोऽ

॥ भाषा ॥

नामक याग (मारण प्रयोग) तथा स्वर्ग, धर्म नहीं हैं क्योंकि भोजन में बिना वेद के भी सब की प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है, तथा श्येन याग का अन्तिम परिणाम नरक है । एवं स्वर्ग नामक सुख विशेष किसी इष्ट का कारण नहीं है किन्तु स्वयं इष्ट है । पुत्रेष्टि (पुत्रार्थ याग) करने पर यदि कदाचित् दुश्चरित्र पुत्र उत्पन्न हो जाय तब भी वह पुत्रेष्टि धर्म ही है, क्योंकि पूर्व में यह निश्चित नहीं था कि पुत्र कैसा उत्पन्न होगा । ज्योतिःशास्त्रादि द्वारा जिस किसी को यह निश्चित हो जाय कि मेरे दुष्ट ही पुत्र उत्पन्न होगा तदनन्तर वह यदि पुत्रेष्टि यज्ञ करै तो वह पुत्रेष्टि धर्म नहीं है किन्तु अधर्म ही है, जैसे सांकरी गली के बीच में जहां यह निश्चय है कि पशु आदि इसमें गिरें गे वहां कूप खोदना । इस व्याख्यान से अधर्म का भी यह लक्षण निकल आया कि जिस के विषय में वेद से यह ठीक २ निश्चय हो सकता है कि यह निश्चित और प्रबल किसी अनिष्ट का कारण है वह अधर्म है ।

इन दोनों लक्षणों में वेदशब्द से वह वेदभाग भी लिया जाता है जो लुप्त हो गया है किन्तुवर्तमानधर्मशास्त्रों के द्वारा उसकी सत्ता का अनुमान होता है इसी से केवल धर्मशास्त्रोक्त शिखाबन्धननियमादि भी धर्म और उसका त्याग अधर्म है ।

प्र०—ज्योतिःशास्त्र से अधार्मिकपुत्रोत्पत्ति के निश्चय दशा में पुत्रेष्टि आदि यज्ञ को मित्र मिश्र ने अधर्म बतलाया है और उस में दृष्टान्त भी दिया है कि जैसे सांकरे मार्ग में जहां गौ आदि पशुओं का कूपखनने पर गिर जाना अवश्य निश्चित है वहां कूपखनन रूपी धर्म भी अधर्म है, इन दोनों बातों से यह विषय स्पष्ट निकल आया कि वेदनिषिद्ध फलके निश्चय दशा में चाहो दूसरे फल के उद्देश से भी कोई वैदिक याग किया जाय तो वह धर्म नहीं है किन्तु अधर्म ही है । और यदि निषिद्ध फल ही के उद्देश से किया जाय तब तो उसके धर्म न होने और

धिकारविरोधी भवत्येव, वायुभक्षादिपदेषु वाय्वादिपदानामिव स्वर्गकामादिपदेषु स्वर्गादिपदानां सावधारणतया द्वेषाद्युत्थापितश्रुतिप्रतिषिद्धक्रियाजन्यफलकामनाविरहविशिष्टस्वर्गादिकामनाया एवाधिकारघटकत्वेन तादृशफलान्तरकामनाया विधिनैव निषिद्धत्वात्। एवञ्च तया कृतस्य ज्योतिष्टोमादेरप्यधर्मत्वमेव। एवं सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेन नित्यानामपि जीवनादिकं निमित्तं सावधारणमेवेतितत्रापि निषिद्धैव मानादिफलकामना। तथाच मानाद्यर्थकृतानामग्निहोत्रादीनामप्यधर्मत्वमेवेत्येवद्वेषरागिभिरित्यभिदधानस्य मनोः सहृदयहृदयश्लाघनीयं हृदयम्। अत एव रागोऽनिष्टफलत्वेन विशेषितो मिश्रमिश्रेण। एतेन यथा निषिद्धफलकरागादिवशादनिष्टफलत्वेनाधर्मत्वं ज्योतिष्टोमादीनां तथा विहितत्वाद्वेदोक्तफलकत्वेन धर्मत्वमपि स्यात् निमित्तभेदवशेनोभयोरपि समावेशसंभवादिति मत्याशापि निरवकाशा। उक्तरीत्या तस्य निषिद्धत्वेन विहितत्वाभावा दित्यूचुः।

॥ भाषा ॥

अधर्म होने में कहना ही क्या है। परन्तु यह बात ठीक चित्त में नहीं आती क्योंकि यदि ऐसा हो तो निषिद्ध फल की इच्छा से किये हुए ज्योतिःष्टोम आदि काम्यकर्म रूपी और अग्निहोत्र आदि नित्यकर्म रूपी सब वैदिक याग धर्म न होंगे किन्तु उलटे अधर्म हो जायं गे?

उ०—यही उचित और सिद्धान्त है कि वेदनिषिद्ध फलकी इच्छा से किये हुए सभी वैदिक याग अधर्मही हैं नकि धर्म। इसी से मनु ने "निषिद्ध फल वाले राग और द्वेष से रहित" यह कहा है, यहां मनु का अति गम्भीर तात्पर्य यह है कि राग और द्वेष शब्द से केवल राग और द्वेष ही नहीं लेते किन्तु अन्तःकरण के दोष, लोभ दम्भादि सभी लिये जाते हैं, और राग भी जो वेदविहित फल से अन्य फल में हो वही लिया जाता है और जो राग वेदविहित फल में हो उसके बिना तो कोई वैदिक यज्ञों का अधिकारी ही नहीं हो सकता, नहीं तो विरक्त संन्यासी आदि भी वैदिक यज्ञों के अधिकारी हो जायंगे। निदान यह कि वैदिक यज्ञों का अधिकारी वही होता है जिसका कि वेदनिषिद्ध फल में राग न होने के साथ वेदविहित फल में राग (इच्छा) हो, क्योंकि

"स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में स्वर्गकाम आदि पदोंका नियम के अनुसार यही पुरुष अर्थ होता है कि जो स्वर्ग आदि ही की कामना करता है अर्थात् वेदनिषिद्ध किसी फलकी कामना न करता हुआ वेदविहित स्वर्गादि फलकी कामना करता है, जैसे वायुभक्ष आदि शब्द से उसको नहीं कहते जो कि वायु से अन्य वस्तु को भी भक्षण करे। किन्तु जो केवल वायुमात्र को भक्षण करता है उसी को वायुभक्ष शब्द से कहते हैं। वैसे स्वर्गकाम आदि पदों से उसी को कहते हैं जो स्वर्ग आदि ही की कामना करता है। इस से यह स्पष्ट हो गया कि वेदविहित फल से अन्य फल की कामना वेद ही से निषिद्ध है। ऐसे ही आर्थिक नियम सभी वाक्यों में होते हैं जैसे "पूजता है" ऐसा कहने से निर्व्यापार बैठने का निषेध अर्थ से निकलता है। इसी रीति से "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य का भी यही अर्थ है। कि अग्निहोत्र करने में केवल जीवन निमित्त है और मान प्रतिष्ठा आदि की कामना से अग्निहोत्र नहीं करना चाहिये। इस से अग्निहोत्र करने में मान प्रतिष्ठा आदि की कामना भी वेद से निषिद्ध ही है। तस्मात् वेदनिषिद्ध फल की कामना से किया हुआ कोई याग हो वह अधर्म ही है। न कि धर्म।

युक्तं चैतत् । तथाच मनुः

वेदास्त्यागश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसिच । न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छति कर्हिचित् ।
अ० २ । ८७ ॥ इति ।

भावश्चेह संकल्पःसच इदंकरिष्यामीति कर्तव्यत्वाध्यवसायः तद्दोषश्च निषिद्ध-फलकरागादिप्रयोज्यत्वमेव शुद्धिरपितत्सामान्याभावएव । शुद्धमुक्तभावमेव चशीलमित्याचष्टे शिष्टलोकसमाष्टिः तदेतत्सकलमभिप्रेत्यैव ऋषीन्प्रति सौतिरुवाच भारते आदिपर्वणि अनु-क्रमणिकाध्यायस्यान्ते—

तपो न कल्को ऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः ।
प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥ २७५ ॥ इति ।

अयमर्थः तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिः न कल्कः न पापम् । अध्ययनं वेदाध्ययनं न कल्कः । स्वाभाविकः स्वस्ववर्णाश्रमादिपुरस्कारेण विहितः "शमोदमस्तपः सत्यम्" इत्यादिः न कल्कः वेदविधिः वेदोक्तो विधिः अग्निहोत्रसंन्ध्योपासनादिः न कल्कः

॥ भाषा ॥

प्र०—जैसे निषिद्ध फल वाले रागादि वश से किये हुए ज्योतिष्टोमादि कर्म का फल अनिष्ट होता है इस से वे अधर्म हैं । वैसे ही वेदविहित होने से उनका इष्ट फल भी है. इससे वे धर्म भी क्यों नहीं ? अर्थात् वे धर्म अधर्म दोनों हैं, तथा इसमें कोई विरोध भी नहीं हो सकता क्योंकि उनसे इष्ट और अनिष्ट फल का होना ही उनके धर्म अधर्म अर्थात् द्विरूप होने में कारणहै ।

उ०—जब पूर्वोक्त रीति से वे वेद वाक्यों ही से निषिद्ध हो चुके तब उनका फल अनिष्ट ही होगा और वे अधर्म ही हैं, इसी से वे न विहित हैं न उनका फल इष्ट है और न वे धर्म हैं ।

अनन्तरोक्त दो प्रश्नों के ये दो उत्तर मेरे वृद्धप्रपितामह श्री अनिरुद्ध द्विवेदी के पिता श्री कुञ्जरनाथ के सिद्धान्तभूत हैं । और उचित भी येही हैं क्योंकि मनुस्मृति अ० २ श्लोक ९७ में कहा है कि वेदास्त्यागश्च० अर्थात् जिसका भाव दुष्ट है उसके पढ़े हुए वेद, और किये हुए सन्यास, यज्ञ, नियम, तप, कदापि नहीं इष्ट फल दे सकते । "मैं इस काम को करूंगा" यह संकल्प ही यहांभाव शब्द का अर्थ है । रागद्वेष आदि निषिद्ध दोषों से उत्पन्न होना ही इस में दोष, और उन दोषों से न उत्पन्न होना ही इसकी शुद्धि है । और शास्त्र निपुण लोग शुद्ध भाव ही को शील कहते हैं । इसी पूर्वोक्त सिद्धान्त को लेकर महाभारत आदि पर्व १ अध्याय श्लोक २७५ तपोनकल्कः० में भी यह कहा है कि चान्द्रायण व्रत पाप नहीं है, वेद पढ़ना पाप नहीं है, अग्निहोत्र सन्ध्योपासन आदि पाप नहीं है, तीन दिन लङ्घन करने पर एक दिन के भोजन योग्य पदार्थ को किसी दुश्चरित्र मनुष्य से लूट लेना पाप नहीं है, इनके पाप होने की संभावना थोड़ी होती है । कि यदि वे सब काम वेदनिषिद्ध फल की कामना से किये जाते हैं तो येही पाप हैं ॥

प्रमत्त वित्ताहरणं बलात्परवित्तापहरणम् निषिद्धमपि न कल्कः "ततस्तु सप्तमे भक्ते भक्तानि षडनश्नता । अश्वस्तनविधानेन हर्तव्यं हीनकर्मणः" अ. ११।१५। इति मनुस्मरणात् । ननु कथमेषां कल्कतामाप्तिर्यतोऽयं निषेध इत्यत आह तान्येव येष्वयं कल्कस्त्वनिषेधस्तान्येव तपआदीनि भावोपहतानि यदा निषिद्धफलकाभिप्रायेणानुष्ठितानि तदा कल्क इति । कल्कोऽस्त्रीशमलैनसोरित्यमरः । भावो लीला क्रियाचेष्टा भूत्यभिप्रायजन्तुषु इतिवैजयन्ती ।

उद्योगपर्वणि ३२ अध्याये धृतराष्ट्रं प्रति विदुरश्च

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ॥ ७७ ॥ इति ।

अत्रच बलिदक्षयज्ञप्रभृतीनि शतश उदाहरणानि ।

महिम्नःस्तोत्रे पुष्पदन्तोऽपि ।

क्रियादक्षो दक्षः क्रतुपतिरधीशस्तनुभृताम्
ऋषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः ।
क्रतुभ्रंशस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो
ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः ॥ २१ ॥ इति ।

॥ भाषा ॥

यहां दुष्ट भाव से किये हुए वेद विहित कर्म को भी अधर्म कहने तथा शुद्ध भाव से किये हुए वेद निषिद्ध कर्म को भी धर्म कहने का यह आशय है कि दुष्ट भाव से किया कर्म वेद से विहित ही नहीं है तथा वेद निषिद्ध कर्म भी यदि शुद्ध भाव से किया जाय तो वह वेद से निषिद्ध ही नहीं है । क्योंकि वैदिक विधानों में दुष्ट भाव के और वैदिक निषेधों में शुद्ध भाव के न रहने का निवेश है। निदान कर्म के धर्मरूपी और अधर्म रूपी होने में भाव की शुद्धि और अशुद्धि कारण है यह बात वेद के संमत है ॥ और भारत के उद्योगपर्व अध्याय ३२ श्लोक ७७ चत्वारि० में भी कहा है कि अग्निहोत्र, मौन, वेदाध्ययन और अश्वमेधादि यज्ञ, ये चार कर्म धर्म हैं। परन्तु यदि मान प्रतिष्ठा आदिकी कामना से अथवा "मै बड़ा धर्मात्मा हूं" इस अभिमान के साथ किये जायं तो येही भयङ्कर अर्थात् अधर्म हैं । और इस विषय का उदाहरण राजा बलि का अश्वमेध यज्ञ है। जिस में वह वामन अवतार द्वारा बांध कर पाताल भेज दिये गये । क्यों कि एक इन्द्र के अधिकार के बीच ही में उन्हों ने इन्द्र के द्वेष से यज्ञ किया था, एवं श्री परमेश्वर के अपमान की इच्छा से दक्षप्रजापति का यज्ञ, जिस में प्रजापति और यज्ञ इन दोनों का नाश हुआ। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं ।

और महिम्नस्तोत्र श्लोक २१ मे पुष्पदन्ताचार्य ने भी कहा है कि हे परमेश्वर ! दक्ष ऐसा, क्रिया में दक्ष यजमान, ऋषि सब ऋत्विज, और देवतागण सभ्य, जिस यज्ञ में थे उस यज्ञ का नाश आप ऐसे यज्ञफलों के प्रधानदाता से हुआ, इस से यह निश्चय है कि वेदनिषिद्ध फल की कामना से किये यज्ञ, धर्म नहीं हैं। किन्तु मारणप्रयोग ही हैं। वाल्मीकीय रामायण सुन्दर काण्ड ११ सर्ग श्लोक ३७ से ४६ तक में भी कहा है कि उक्तरीति से रावण के सब अन्तःपुर को श्री

वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे ११ सर्गेऽपि ॥
एवं सर्वमशेषेण रावणान्तःपुरं कपिः । ददर्श स महातेजा न ददर्श च जानकीम् ॥३७॥
निरीक्षमाणाश्च ततस्ताः स्त्रियः स महाकपिः । जगाम महतीं चिन्तां धर्मसाध्वसशङ्कितः ॥३८॥
परदारावरोधस्य प्रसुप्तस्य निरीक्षणम् । इदं खलु ममात्यर्थं धर्मलोपं करिष्यति ॥३९॥
न हि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी । अयश्चात्र मया दृष्टः परदारपरिग्रहः ॥४०॥
तस्य प्रादुरभूच्चिन्ता पुनरन्या मनस्विनः । निश्चितैकान्तचित्तस्य कार्यनिश्चयदर्शिनी ॥४१॥
कामं दृष्टा मया सर्वा विश्वस्ता रावणस्त्रियः । नतु मे मनसा किञ्चि-द्वैकृत्यमुपपद्यते ॥४२॥
मनो हि हेतुः सर्वेषा-मिन्द्रियाणां प्रवर्तने । शुभाशुभास्ववस्थासु तच्च मे सुव्यवस्थितम् ॥४३॥
नान्यत्र हि मया शक्या वैदेही परिमार्गितुम् । स्त्रियो हि स्त्रीषु दृश्यन्ते सदा सम्परिमार्गणे ॥४४॥
यस्य सत्त्वस्य यायोनि-स्तस्यां तत्परिमार्ग्यते । न शक्यं प्रमदा नष्टा मृगीषु परिमार्गितुम् ॥४५॥
तदिदं मार्गितं ताव-च्छुद्धेन मनसा मया । रावणान्तःपुरं सर्वं दृश्यते न च जानकी ॥४६॥

माधवपाराशरे शौचप्रकरणान्ते महर्षेर्व्याघ्रपदो वाक्यमपि ।
शौचन्तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं भावशुद्धिस्तथाऽन्तरम् ॥१॥
गङ्गातोयेन कृत्स्नेन मृद्भारैश्च नगोपमैः । आमृत्योश्चाचरञ्शौचं भावदुष्टो न शुद्ध्यति ॥२॥ इति

विश्वजनीनानुभवनिवेदितश्चायमर्थ इत्यलमिह पल्लवितेन ।

पूर्वोक्तमानवलक्षणानुसारादेव चापरेऽपि महर्षयो धर्मलक्षणमूचिरे । तथा च तत्रैव मानवधर्मलक्षणवाक्ये कुल्लूकभट्टाः ।
वेदप्रमाणकः श्रेयः-साधनं धर्म इत्यदः । मनूक्तमेव मुनयः प्रणिन्युर्धर्मलक्षणम् ॥ इति

तद्यथा तत्रैव वीरमित्रोदये,

॥ भाषा ॥

हनुमान् ने पूर्ण २ देखा किन्तु श्रीजानकीजी को नहीं देखा, उन स्त्रियों को देखते २ उन्हें धर्मभङ्ग की शङ्का से बड़ी चिन्ता यह हुई कि सोयी हुई परस्त्रियों का यह दर्शन मेरा धर्मलोप करेगा, आजतक मेरी दृष्टि परदारों पर कभी भी न पड़ी थी किन्तु आज ये सब परदार ही मेरे दर्शन मे आई इस विचार के उपरांत उनका धर्म निश्चय करने वाला एक दूसरा विचार उत्पन्न हुआ कि निश्चिन्त सोयी हुई इन सब रावण की स्त्रियों को मैंने देखा तो अवश्य, परन्तु मेरे मन में कोई विकार नहीं हुआ क्योंकि धर्म और अधर्म रूप अवस्थाओं में इन्द्रियों की प्रवृत्ति का कारण मन ही होता हैं, वह मेरा मन ठीक, विकार से रहित है अर्थात् किसी वेदनिषिद्ध फल की कामना नहीं कर रहा है। किन्तु सीता के अन्वेषण ही की कामना कर रहा है। और स्त्रियों का अन्वेषण, स्त्रियों ही मे सदा किया जाता है। इस से अनन्यगति होकर मैंने स्त्रियों को देखा । तस्मात् मैंने शुद्ध भाव से इन सब स्त्रियों को देखा, यह परस्त्रीदर्शन अधर्म नहीं है,

एवम् माधवपाराशर के शौचप्रकरणान्त में उद्धृत, व्याघ्रपाद महर्षि का वाक्य यह है कि पवित्रता दो प्रकार की होती है, एक बाह्य, जो मृत्तिका और जल से होती है। दूसरी आन्तर, जो कि शुद्ध भाव से होती है, । और जिसका भाव दुष्ट है वह यदि गङ्गा के सम्पूर्ण जल और पर्वत तुल्य

॥ विश्वामित्रः ॥

यमार्याः क्रियमाणं हि शंसन्त्यागमवेदिनः । स धर्मो, यं विगर्हन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥ इति
शंसन्ति वेदविहितं मन्यन्ते । विगर्हन्ति वेदप्रतिषिद्धं मन्यन्ते ।

॥ आपस्तम्बोऽपि ॥

न धर्माधर्मौ चरत आवां स्व इति न देवा न गन्धर्वा न पितर इत्याचक्षतेऽयं धर्मोऽयमधर्म
इति, यंत्वार्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः, यं विगर्हन्ति सोऽधर्मः इति ।

आत्मकथनाय सर्वलोकप्रत्यक्षं धर्माधर्मावावां वर्तावहे इति ब्रुवाणौ न भ्रमतः नापि
देवादयः अयं धर्मः अयमधर्म इत्याचक्षते इत्यर्थः ।

॥ भविष्यपुराणमपि ॥

॥ धर्मः श्रेयः समुद्दिष्टं श्रेयोऽभ्युदयलक्षणम् । इति ॥

श्रेयः श्रेयः साधनम् । मुख्यं श्रेयस्त्वभ्युदयरूपम् । तथा च तत्साधनं धर्म इति मित्रमिश्राः ॥
कणादोऽपि वैशेषिकदर्शने १ अध्याय १ पादे यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः सू० १ इति

अत्र उपस्कारे शङ्करमिश्राः ।

वस्तुतस्तु को धर्मः किंलक्षणश्चेति सामान्यतः शिष्यजिज्ञासायां यतोऽभ्युदयनिः
श्रेयससिद्धिस्तदुभयं धर्मः । एवं च पुरुषार्थसाधारणं कारणं धर्म इति वक्तव्ये पुरुषार्थयोः
सुखदुःखाभावयोर्विशेषतः परिचयार्थमभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिरित्युक्तम् । स्वर्गापवर्गयोरे-
वान्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वेन परमपुरुषार्थत्वमिति ।

॥ भाषा ॥

मृत्तिकाराशि से अपने जीवन पर्यन्त भी पवित्रता करता रहै, तब भी नहीं शुद्ध होता । अब इस
पूर्वोक्त विषय पर अधिक व्याख्यान की आवश्यकता नहीं जानी जाती । क्योंकि यह प्रायःसब विचा-
रवान् महाशयों के अनुभव से सिद्ध ही है ।

पूर्वोक्त मनुवाक्य पर टीकाकार कुल्लूक भट्ट यह लिखते हैं । कि इसी मनुजी के धर्मल-
क्षण के अनुसार अन्य महर्षियों ने भी अपने २ शास्त्रों में लक्षण कहा है । वही बात मित्र मिश्र ने
भी वीरमित्रोदय परिभाषा प्रकरण में उदाहरण रूप से यों दिखलाया है कि—

(१) महर्षि विश्वामित्र ने यह कहा है कि वेदज्ञ आर्य पुरुष जिसको वेदविहित मानते
हैं वह धर्म, और जिसको वेदनिषिद्ध मानते हैं वह अधर्म है ।

(२) आपस्तम्ब ऋषि ने यह कहा है कि धर्म, अधर्म, अपने स्वरूप को कहते नहीं
फिरते कि मैं धर्म हूँ और मैं अधर्म, और न देवता वा पितर वा गन्धर्व किसी मनुष्य से ऐसा
कहते, कि यह धर्म और यह अधर्म है, किन्तु आर्य मनुष्य, किये जाते हुए जिस कर्म की प्रशंसा
करते हैं वह धर्म, और जिस की निन्दा करते हैं वह अधर्म है ।

(३) भविष्य पुराण में यह कहा है कि मुख्य इष्ट का कारण धर्म, और मुख्य अनिष्ट
का कारण अधर्म कहा जाता है ।

एषु च चतुर्ष्वप्यार्षेषु धर्मलक्षणवाक्येषु पूर्वोक्तानां दोषाणां वारणाय पूर्वोपदर्शितमानववाक्यैकवाक्यतया यथाप्रयोजनं तानि विशेषणपदानि पूरयित्वा धर्मलक्षणं व्याख्येयम् एतेषां मानववाक्यस्यावयुत्याऽनुवादत्वादतो नोक्तदोषाणामवकाश इति ध्येयम् ।

जैमिनिरपि ।

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥ मी० द० अध्या० १ सू० २ ।

अत्र चोदनापदम् जनकजनकतावच्छेदकसाधारणेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यन्यतरप्रयोजकत्वेन प्रवर्तकनिवर्तकयोर्वाक्ययोर्ज्ञानयोर्वाऽभिधायकम् । तदुक्तम् इहोपन्यसिष्यमाणे औत्पत्तिकसूत्रे वार्तिककृता "चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः" ११ । इति । अत्र सूत्रेच "प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा या शब्दश्रवणेन धीः" । २१ । सा चोदनेति सामान्य-लक्षणं हृदये स्थितम् २११ ॥ इति । अतएवैतत्सूत्रस्थनिमित्तमात्रइत्यादिद्वादशश्लोकव्याख्यानावसरे न्यायरत्नाकरे पार्थसारथिमिश्रैरुद्धृतः "प्रवर्तेऽहमिति ज्ञानं येन शब्देन जन्यते । सा चोदनोच्यते यद्वा प्रवर्तनफला मतिः" ॥ १ ॥ इति श्लोकः सङ्गच्छते । अत्रच प्रवर्तते इति निवर्तते इत्यस्य, प्रवर्तनेति च निवर्तनेत्यस्योपलक्षणम् । प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा इति वार्तिकानुरोधात् । प्रवर्तकं च ज्ञानं श्रेयःसाधनत्वं प्रकारीकरोतीति चोदनापदेन तल्लाभान्न स्वर्गादावतिप्रसङ्गः । प्रमाणवाचिनो लक्षणपदस्य महिम्ना च वेदप्रमापितत्वं लभ्यते तेन भोजनादौ नातिप्रसङ्गः । लक्षणशब्दस्य चात्र द्वावर्थौ । असाधारणो धर्मः, प्रमाणञ्च । लक्ष्यते ज्ञायते अनेनेति व्युत्पत्तेः । तच्चेदं धर्मलक्षणद्वारा सामान्यतो धर्मस्वरूपोक्त्यर्थमपि । इदमर्थद्वयञ्च वचनव्यक्तिद्वयत एकेनापि सूत्रेणोच्यते । तत्रान्यतरा शाब्दी, अन्यतरा

॥ भाषा ॥

(४) वैशेषिकदर्शन अध्याय १ पाद १ सूत्र १ में कणादमहर्षि ने यह कहा है कि स्वर्ग और मोक्ष का वास्तविक उपाय धर्म है । उसकी उपस्कारनामक टीका में यह व्याख्यान किया है कि धर्म कौन है, और उसका लक्षण क्या है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर इस सूत्र से यह कहा गया है कि जिस से स्वर्ग वा मोक्ष की सिद्धि हो वह धर्म है । यद्यपि इतना ही कहना उचित है कि 'मुख्य इष्ट का कारण धर्म है' तथापि सुख और दुःखाभाव को मुख्य इष्ट कहने के लिये महर्षिने स्वर्ग और मोक्ष का विशेष से नाम लिया है. यहाँ 'स्वर्ग' शब्द से सब सुखों का और मोक्ष शब्द से सब दुःखाभावों का ग्रहण है ।

इन चारो आर्ष धर्मलक्षणों में जो न्यूनता हो उसको पूर्वोक्त मनुजी के लक्षणानुसार विशेषणों के द्वारा पूरी कर देना चाहिये । मीमांसा दर्शन अ० १ पाद १ सूत्र २ से जैमिनि महर्षि ने धर्मलक्षण को यों कहा है कि "चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः" अर्थात् जो. प्रवृत्ति करने वाले वेद वाक्य ही से यथार्थ निश्चय करने योग्य है और उससे कोई निश्चित प्रबल अनिष्ट नहीं उत्पन्न होता वह धर्म है (जैसे यज्ञ, आत्मज्ञान, योग और उपासना)

इस से मनु जी का लक्षण स्पष्ट निकल आया क्योंकि प्रवृत्ति भी इष्टके कारण ही में होती है । और इस सूत्र से यह भी दिखलाया जाता है कि धर्म में प्रमाण, प्रवृत्ति कराने वाले वेद ही हैं न कि प्रत्यक्ष, वा अनुमान, वा बुद्धादि वाक्य । तथा यह सूचित किया जाता है कि नास्तिकों का यह कथन मिथ्या ही है कि वेद अप्रमाण है इस से यह सिद्ध हुआ कि धर्म में वेद प्रमाण

ऽर्थो । तत्र यो धर्म इत्युद्दिश्य स चोदनालक्षणश्चोदनाप्रमाणक इति प्रमाणवचनव्यक्तिः । यश्चोदनालक्षण इत्युद्दिश्य स धर्म इति स्वरूपवचनव्यक्तिः । तत्र चोदनाप्रमाणकत्वस्य धर्मलक्षणत्वात्प्रवर्तनाविषयत्वेन विधेये इव निवर्तनाविषयत्वेन निषेध्येऽपि चोदनालक्षणत्वसत्वादतिव्याप्तिं वारयितुमर्थ इति बलवदनिष्टसाधनत्वाभावोयागात्मतत्वज्ञानयोगोपासनासाधारणं विशेषणम् । श्येनयागादिव्यावृत्त्यर्थं तदिति भाष्ये । तस्यहि फलं हिंसा इति । एवं पूर्वोक्तरीत्या पुत्रेष्ट्यादावव्याप्तेर्वारणाय बलवदनिष्टं निर्धार्यमाणत्वेन विशेषणीयमितिपूरणं विनैवेतोमानबलक्षणलाभः । एवमनेनाधर्मलक्षणमप्यर्थतः सूच्यते । तच्चबलवदनिष्टानुबन्धित्वेन वेदप्रमापितत्वम् । तथा च भाष्यम् । 'कोऽर्थः योऽभ्युदयाय, को ऽनर्थः योऽनभ्युदयाय' इति । तत्रोत्तरस्यां व्यक्तौ तावतैव पर्यवसानम्, आद्यायां तु द्वौनियमौ विवक्षितौ । यो धर्मस्तत्र चोदनैव प्रमाणमित्येकः सच प्रत्यक्षानुमानबुद्धवाक्यादिव्यावृत्त्यर्थः । यो धर्मस्तत्र चोदना प्रमाणमेवेत्यपरः सच नास्तिकाभिमतवेदाप्रामाण्यनिरासार्थं इति सूत्राभिप्रायः ।

अत्राधिकरणरचनातु माधवीयन्यायमालायाम् ॥

विचारविषयो धर्मो लक्षणेन विवर्जितः । मानेन चाथवोपेतस्ताभ्यामिति विचिन्त्यते ॥१॥
लौकिकाकारहीनस्य तस्य किन्नाम लक्षणम् । मानशङ्का तु दूरे ऽत्र प्रत्यक्षाद्यप्रवर्तनात् ॥२॥
चोदनागम्य आकारो ह्यर्थत्वे सति लक्षणम् । अत एव प्रमाणञ्च चोदनैवात्र तत्त्वतः ॥३॥ इति

एतदर्थश्च विस्तरे ।

लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तु सिद्धिः अत एवाहुः 'मानाधीना मेयासिद्धिर्मानासिद्धिश्च लक्षणात्' इति । सजातीयविजातीयव्यावर्तको लक्ष्यगतः कश्चिल्लोकप्रसिद्ध आकारो लक्षणम् । तेन लक्षणेन लक्ष्ये वस्तुनि संभावनाबुद्धौ जातायां प्रमातुमुद्युक्तः प्रमाणेन तदवगच्छति तद्यथा सास्नावती गौरित्युपश्रुत्य चतुष्पात्सु जीवेषु तल्लक्षणलक्षितं पदार्थमन्विष्य

॥ भाषा ॥

ही है । यही बात अधिकरणमाला और उसके विस्तर (व्याख्यान) में माधवाचार्य ने भी अधिकरण (विषय, संशय, पूर्वपक्ष और सिद्धान्त) रूप से कहा है जो नीचे लिखा जाता है ।

विषय–धर्म ही है, जिसके निश्चयार्थ मीमांसादर्शनरूपी विचार किया जाता है ।

संशय–धर्मरूपी विषय, लक्षण और प्रमाण से रहित है वा सहित ।

इस संशय की उपपत्ति यह है कि लक्षण और प्रमाण के बिना किसी वस्तु का निश्चय नहीं होता और सब लक्ष्यों में रहने वाले उस प्रसिद्ध आकार को लक्षण कहते हैं जोकि लक्ष्य के सजातीय वा विजातीय किसी पदार्थ में न रहता हो । जैसे गौरूपी लक्ष्य का सास्ना (गौ के गले का कम्बल) रूपी लक्षण है क्योंकि वह सब गौओं में रहता है और गौ के सजातीय अन्य पशुओं में तथा विजातीय घटादि पदार्थों में नहीं रहता । और "सास्नावाले पदार्थ को गौ कहते हैं" इस वाक्य से जब लक्षण के द्वारा गौकी संभावनाबुद्धि ("ऐसा पदार्थ होता होगा" यह ज्ञान) पुरुष की होती है तब वह चौपाए प्राणियों में अन्वेषण करता हुआ गौ को देखकर अक्षिरूपी प्रमाण से निश्चय करता है कि 'यही गौ है' इस रीति से यदि धर्मका लक्षण और

इयं गौरिति चक्षुषाऽवगच्छति । एवञ्च सत्यलौकिकत्वाद्धर्मस्य नास्ति लक्षणम् तत्र कुतः प्रमाणानुप्रयोगः । कथञ्चिदुद्योगेऽपि न तत्र मानसद्भावः शङ्कितुमपि शक्यः । न तावदत्र प्रत्यक्षं प्रक्रमते, धर्मस्य रूपादिरहितत्वात् । अत एव व्याप्ति ग्रहणासंभवेत कारणाभावा-न्नास्त्यनुमानम्, प्रत्यक्षानुमानमूलश्च शब्दस्य सङ्गतिग्रहः ततो व्युत्पत्त्यभावान्नागमोऽपि तत्र प्रवर्तते । तस्माद्धर्मो लक्षणप्रमाणरहित इति प्राप्तेब्रूमः । माभूच्चक्षुरादिगम्यो लौकिक आकारः तथापि चोदनागम्यस्वर्गफलसाधनत्त्वादिलक्षण आकारोऽस्ति तेनार्थत्वे सति चोदनागम्यो धर्म इति लक्षणं भवति । अर्थो धर्म इत्युक्ते ब्रह्मणि चैत्यवन्दनादौ घटादौ चातिव्याप्तिस्तद्व्य वच्छेदाय चोदनागम्य इति । श्येनव्यवच्छेदाय अर्थ इत्युक्तम् । यद्यपि श्येनस्य शत्रुवधः फलं नतु नरकस्तथापि तस्य वधस्य नरकहेतुत्वाद्वधद्वारा श्येनोनर्थः । नचैवमग्नीषोमीयपशुहिंसायाअपि वधत्वेन नरकहेतुत्वं स्यादिति शङ्कनीयम् । तस्याः क्रत्वङ्गत्वेन क्रतुफलस्वर्गव्यतिरेकेण फलान्तराभावात् । यतश्चोदनागम्यत्वेसत्यर्थत्वं धर्मलक्षणम्, अतएव गम्यधर्मे गमकं विधिवाक्यं प्रमाणम् । यद्यपि प्रत्यक्षानुमानयोरविषयो धर्मः तथापि प्रसिद्धपदसमभिव्याहारेण व्युत्पत्तिः सम्भवति । तस्मात् लक्षणप्रमाणाभ्यामुपेतो धर्म इति । इति धर्माधर्मलक्षणम् ।

॥ भाषा ॥

प्रमाण है तो धर्म के निश्चयार्थ उसका विचार मीमांसादर्शन से हो सकता है । और यदि धर्म का लक्षण तथा प्रमाण नहीं है तब तो उसका निश्चय होही नहीं सकता इस से उसका विचार-रूपी मीमांसादर्शन व्यर्थ है ।

पूर्वपक्ष—धर्म, अत्यन्त अलौकिक पदार्थ है इससे उसका कोई लक्षण नहीं हो सकता और जब लक्षण से धर्म की संभावना बुद्धि नहीं हो सकती तब उसके विषय में कोई प्रमाण भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि जब धर्मका कोई रूप ही नहीं है तो उसके विषय में प्रत्यक्ष तो, प्रमाण हो ही नहीं सकता । और अनुमानादि प्रमाणों का भी प्रत्यक्ष ही मूल है इससे प्रत्यक्ष के बिना, धर्म के विषय में अनुमानादि भी प्रमाण नहीं हो सकते । इस लिये धर्म, लक्षण और प्रमाण से रहित है ।

सिद्धान्त—यागादि क्रिया ही धर्म है जोकि लोक में प्रसिद्ध है, और वही लक्ष्य है तथा उसमें स्वर्गादि फलका साधकत्व है अर्थात् वह स्वर्गादि फल का साधक है यही उसका आकार और लक्षण है । यद्यपि याग का स्वर्गादि के प्रति साधक होना प्रत्यक्षादि प्रमाण से नहीं ज्ञात हो सकता तथापि वैदिकविधिवाक्यरूपी प्रमाण से वह सिद्ध है इसलिये धर्म, लक्षण और प्रमाण से सहित है नाकि रहित । धर्म के लक्षण का विवरण पूर्वोक्त सूत्रार्थ ही से विशेष रूप से हो चुका है, । इसी से इस अधिकरण के अनुवाद में संक्षेप ही से धर्मलक्षण का वर्णन किया गया है ।

प्रयोजन—इस रीति से धर्म के निश्चयार्थ मीमांसादर्शन आवश्यक है । यद्यपि यह प्रयोजन भी अधिकरण का अङ्ग है, क्योंकि अधिकरण पञ्चाङ्ग होता है परन्तु माधवाचार्य की यह शैली है कि वे प्रयोजन को नहीं लिखते उसका यह अभिप्राय है कि सिद्धान्त होने के अनन्तर प्रयोजन, विना लिखे भी आप ही आप समझ में आ जाता है । धर्म अधर्म का लक्षण समाप्त हुआ ।

अथापूर्वम्

एवं धर्मशब्दस्य लक्ष्यार्थत्वेन मित्रमिश्रोक्तमपूर्वमपि यागादिनिष्ठाया वेदसमर्पितायाः श्रेयःसाधनताया उपपादकतयोपपादितं भगवता जैमिनिनैव ।

चोदना पुनरारम्भः मी० द० अध्या० २ पा० १ सू० ५ इति ।

चोदना अपूर्वम् । अस्तीति शेषः । पुनरिति शब्दालङ्कारे । यतः आरम्भः, स्वर्गस्य यागः साधनमित्युपदेशारम्भः आशुतराविनाशिनः कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वोपदेशानुपपत्तिरेवापूर्वे मानमिति सूत्रार्थः । अत्राधिकरणरचना, माधवीयन्यायमालायाम् ।
अपूर्वसदसद्भावसंशये सति नास्ति तत् । मानाभावात्फलं यागात्सिध्येच्छास्त्रप्रमाणतः ॥१॥
क्षणिकस्य विनष्टस्य स्वर्गहेतुत्वकल्पनम् । विरुद्धं मान्तरेणातः श्रेयोऽपूर्वस्य कल्पनम् ॥२॥
अवान्तरव्यापृतिर्वा शक्तिर्वा यागजोच्यते । अपूर्वमिति तद्भेदः प्रक्रियातोऽवगम्यताम् ॥ ३ ॥

अस्यार्थो विस्तरे ।

पूर्वाधिकरणे वर्णकाभ्यां यदिदमुक्तम् अपूर्वस्यैकमेव पदं प्रत्यायकम् । तच्च यजेतेत्याख्यातान्तं भावार्थपदमिति, तदनुपपन्नम् । अपूर्वसद्भावे मानाभावात् । अपूर्वाभावे कालान्तरभाविस्वर्गसाधनत्वं विनश्वरस्य यागस्यानुपपन्नमिति चेन्न शास्त्रप्रामाण्येन तदुपपत्तेरिति प्राप्ते ब्रूमः । दर्शपूर्णमासाभ्यामिति तृतीयाश्रुत्या तावत् यागस्य स्वर्गसाधनत्वं

॥ भाषा ॥

यागादि रूपी धर्म क्षणिक होते हैं, उनकी एक अपूर्व नामक शक्ति याग करने वाले जीवों में रहती है । वही कालान्तर में स्वर्गादि सुख को उत्पन्न करती है, जिसे मित्र मिश्र ने धर्म शब्द का गौण अर्थ बतलाया है । जैसे "सिंहोमाणवकः" (यह बालक, सिंह है) इस वाक्य में वीरता आदि कारणों से सिंह शब्द का मनुष्य अर्थ होता है, और इसी अपूर्व को मीमांसादर्शन अध्या० २ पा० १ सू० ५ में जैमिनि महर्षि ने सिद्ध किया है जिसका यह अर्थ है कि "शीघ्रविनाशी यागादिकर्म कालान्तर में स्वर्गादि को उत्पन्न करता है" यह अर्थ वेदवाक्यों का है, सो यह अपूर्व की सिद्धि में प्रमाण है, क्योंकि यदि अपूर्व न स्वीकार किया जाय तो याग, जो कि स्वर्ग के समय में नहीं है वह कैसे स्वर्ग का साधक हो सकता है ।

यही बात अधिकरणमाला में और उसके विस्तर (व्याख्यान) में माधवाचार्य ने भी अधिकरण रूप से लिखा है जो कि नीचे लिखा जाता है ।

विषय,–अपूर्व है ।

संशय,–यह है कि अपूर्व कोई वस्तु है वा नहीं ।

पूर्वपक्ष,–वैदिक विधिवाक्यों में "यजेत" शब्द रहता है, जिसके दो भाग हैं । "यज्" (याग) और "एत" (करै) इस रीति से दोही पदार्थ इस शब्द से निकलते हैं । एक तो याग और दूसरा पुरुषों की आन्तारिक प्रवृत्तिरूपी भावना । तो ऐसी दशा में इन दोनों से अतिरिक्त

भणितम् । तद्यथोपपद्यते तथाऽवश्यं भवता कल्पनीयम् । तत्र किं यावत्फलं यागस्यावस्थानं कल्प्यते किं वा विनष्टस्यापि स्वर्गोत्पादनम् । नाद्यः यागे क्षणिकत्वस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् । न द्वितीयः मृतगोर्दम्पत्योः पुत्रोत्पत्त्यदर्शनात् । अतो मानान्तराविरुद्धाद्भवदीयकल्पनादस्मदीयमविरुद्धमपूर्वकल्पनं ज्यायः । कल्पितेऽप्यपूर्वे तस्यैव स्वर्गसाधनत्वाद्यागस्य स्वर्गसाधनत्वश्रुतिर्विरुध्येतेति चेन्न यागावान्तरव्यापारोऽपूर्वमित्यङ्गीकारात् । नह्युत्पतननिपतनयोरवान्तरव्यापारयोः सत्त्वेन कुठारस्यच्छिदासाधनत्वमपैति । यदि व्यापारवतो नाशे व्यापारो न तिष्ठेत् तर्हि यागजन्या काचिच्छक्तिरपूर्वमस्तु । शक्तिव्यवधानेऽपि यागस्य साधनत्वमविरुद्धम् । औष्ण्यव्यहितेऽप्यग्नौ दाहकत्वाङ्गीकारात् । यथाङ्गारजन्यमौष्ण्यं शान्तेष्वप्यङ्गारेषु जलेऽनुवर्तते तथा यागजन्यमपूर्वं नष्टेऽपि यागे कर्तर्यात्मन्यनुवर्तताम् । तस्मादस्त्यपूर्वम् । तद्विशेषस्तु संप्रदायसिद्धया प्रक्रिययाऽवगन्तव्य इति । इत्यपूर्वम्

॥ भाषा ॥

अपूर्व, कैसे निकल सकता है। और जब वैदिक विधिवाक्यों से अपूर्व की सिद्धि नहीं हुई तो अन्य प्रमाण से सिद्ध होने की आशा ही क्या है । यह तो कह नहीं सकते कि यदि अपूर्व न माना जाय तो याग, स्वर्ग का साधक होही नहीं सकता, क्योंकि याग क्रिया के पश्चात् बहुत समय व्यतीत होने पर स्वर्ग होता है तो याग क्रिया स्वर्ग का साधक कैसे होगी, प्रसिद्ध है कि मरे हुए स्त्री और पुरुष से पुत्रोत्पत्ति नहीं होती और यदि अपूर्व मान लिया जाय तो याग क्रिया से जो अपूर्व होता है वह स्वर्ग के उत्पत्ति तक रहता है इसी से अपूर्व के द्वारा याग स्वर्ग का साधक होता है । क्योंकि जब बेद में याग से स्वर्ग होना कहा है तो चिरकालनष्ट याग से भी स्वर्ग होहीगा, यदि ऐसा न हो तो बेद ही अप्रमाण होजाय, और ऐसी दशा में अपूर्व नामक पदार्थ के भी स्वीकार का प्रयोजन क्या है ? इस लिये अपूर्व नामक कोई पदार्थ नहीं है ।

सिद्धान्त–यह तो वैदिक विधिवाक्यों ही से निश्चित है कि याग, स्वर्ग का साधक होता है परन्तु यदि यह कहा जाय कि 'स्वर्ग के समय तक याग क्रिया रहती है' तो प्रत्यक्ष प्रमाण से विरोध पड़ता है क्योंकि याग क्रिया का नाश प्रत्यक्ष ही है, और यह भी नहीं कह सकते कि आज नष्ट हुई यागक्रिया से बहुत समय के अनन्तर स्वर्ग होता है क्योंकि यह भी प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही है जैसा कि पूर्व पक्ष में कहा जा चुका है, तो ऐसी दशा में बेद प्रमाण के बल से समाधान करने की अपेक्षा यही समाधान उचित है कि उसी वेद प्रमाण से यह स्वीकार किया जाय कि "यागादि से उत्पन्न एक शक्ति, याग कर्ता जीव में स्वर्ग होने तक रहती है और उसी के द्वारा याग, स्वर्ग का साधक है" क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में प्रत्यक्ष से विरोध नहीं पड़ता । प्रसिद्ध है कि मृगादि शरीर में बाण प्रवेश के अनन्तर मृगादि की मृत्युरूपी कार्य होता है । और विधि वाक्यों से याग की जो शक्ति सिद्ध होती है उसी का नाम अपूर्व है ।

॥ अपूर्व का निरूपण समाप्त हुआ ॥

अथ धर्ममाहात्म्यम् ।

धर्मस्य महिमा च तैत्तिरीयारण्यके । १० । ६३ ॥

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा लोके धर्मिष्ठम्प्रजा उपसर्पन्ति ।
धर्मेण पापमपनुदन्ति धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितं तस्माद्धर्मं परमं वदन्ति ।

धर्मपदलक्ष्यार्थस्यापूर्वस्य प्रलयेऽपि बीजरूपेणावस्थितिः अन्यथा पुनः सृष्ट्यनुपपत्तेः क्रियादिरूपस्य धर्मपदमुख्यार्थस्य तु कल्पादौ सृष्टिःकल्पान्ते च नाश इति सिद्धान्तः ।

तथाच वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषदि । अध्याये ३ ब्राह्मणे ४ ।

स नैव व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अवलीयान् बलीया ऽँ समाश ऽँ सते धर्मेण यथा राज्ञैवं योवै सधर्मः सत्यं वैतत् तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्त ऽँ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥

अत्र भगवत्पादीयं भाष्यम् ।

स चतुरः सृष्ट्वाऽपि वर्णान् नैव व्यभवत् उग्रत्वात्क्षत्रस्यानियताशङ्कया तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत । किंतत् धर्मं तदेतत् श्रेयोरूपं सृष्टम् क्षत्रस्य क्षत्रम्, क्षत्रस्यापि नियन्तृ, उग्रादप्युग्रम् यद्धर्मः यो धर्मः तस्मात् क्षत्रस्यापि नियन्तृत्वात् धर्मात्परं नास्ति तेन हि नियम्यन्ते सर्वे । तत्कथमिति । उच्यते । अथो अपि अवलीयान् । दुर्बलतरः बलीयांसम् आत्मनो बलवत्तरमपि । आशंसते कामयते जेतुम् धर्मेण बलेन । यथा लोके राज्ञा सर्वबलवत्तमेन

॥ भाषा ॥

॥ धर्म का माहात्म्य ॥

धर्म की महिमा तैत्तिरीयारण्यक १०।६३। में कही है कि " सब लोगों का आधार धर्म ही है," और संसार में सब प्रजा धर्मिष्ठ ही के समीप जाती हैं, प्रायश्चित्तादि धर्म ही से पाप का नाश होता है, धर्म ही पर सब निर्भर हैं, इसी से लोग धर्म को मुख्य कहते हैं । यह सिद्धान्त है कि धर्म पद का अपूर्वरूपी पूर्वोक्त गौण अर्थ, प्रलय में भी जीवों में बीज रूप से स्थित रहता है, यदि ऐसा न हो तो प्रलय के अनन्तर किस के अनुसार अनेक प्रकार की सृष्टि होसकती है । धर्म शब्द के मुख्यार्थ क्रियादि की तो कल्प के आदि में सृष्टि, और अन्त में पूर्ण नाश होता है । इस विषय में प्रमाण वाजसनेयिब्राह्मणोपनिषद् अध्याय ३ ब्राह्मण ४ श्रुति १४ है जिस का शङ्कर भाष्य में यह अर्थ किया है कि वह प्रजापति (ब्रह्मा) चारो वर्णों की सृष्टि करके भी संतुष्ट न हुए उन को यह शङ्का हुई कि क्षत्रिय वर्ण बड़ा उग्र हुआ इससे कदाचित् कोई हानि पंहुचै, तब उन्होंने मुख्य इष्ट का साधन धर्म की सृष्टि किया, क्योंकि धर्म उग्र से भी उग्र है, क्षत्रिय वर्ण का भी नियन्ता है, दुर्बल भी धर्म की सहायता से बलवान् को जीतने की कामना करता है । जैसे लोक में कुटुम्बी पुरुष, अतिबलवान् राजा के द्वारा बलवान् को जीत लेता है इस रीति से सब से बलवान् होने के कारण से धर्म, सभी का नियन्ता है, इससे प्रबल कोई नहीं है । लौकिक लोग जब धर्म का व्यवहार करते हैं तब वह धर्म कहलाता है । इसी से धर्म करने वाले को कहते हैं कि यह न्याय (धर्म) करता है, और धर्म कहने वाले को यह भी कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार सत्य कहता है

कौटुम्बिकः । एवम् । तस्मात् सिद्धं धर्मस्य सर्वबलवत्तरत्वात्सर्वनियन्तृत्वम् । यो वै सधर्मः व्यवहारलक्षणो लौकिकैर्व्यवह्रियमाणः सत्यं वै तत् । यथाशास्त्रार्थं सएववानुष्ठीयमानो धर्मनामा भवति । शास्त्रार्थत्वेन ज्ञायमानस्तु सत्यं भवति । यस्मादेवन्तस्मात्सत्यं यथाशास्त्रं वदन्तं व्यवहारकाले आहुः समीपस्थाः उभयविवेकज्ञाः धर्मं वदतीति, प्रसिद्धं लौकिकं न्यायं वदतीति । तथा विपर्ययेण धर्मं वा लौकिकं व्यवहारं वदन्तम् आहुः सत्यं वदतीति । शास्त्रादनपेतं वदतीति । एतत् यदुक्तमुभयम् ज्ञायमानमनुष्ठीयमानञ्च तत् धर्म एव भवति तस्मात् स धर्मो ज्ञानानुष्ठानलक्षणः शास्त्रज्ञानितरांश्च सर्वानेव नियमयति तस्मात् क्षत्रस्यापि क्षत्रम् इति ।

एवम् आचारकाण्डस्थां "कल्पे कल्पे क्षयोत्पत्तौ ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः । श्रुतिस्मृति सदाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा" २० । इति पाराशरींस्मृतिं व्याचक्षाणो माधवोऽपि इमां श्रुतिं व्याचख्यौ ।

तथाच पाराशरमाधवे ।

सः परमेश्वरः प्रजाः सृष्ट्वापि तन्नियामकाभावात्कृतकृत्यतारूपं विभवं नैव प्राप्तवान् । ततो विचार्य नियामकत्वेन श्रेष्ठं धर्ममतियत्नेनासृजत् इति । अहो महदिदं धर्मस्य

॥ भाषा ॥

और सत्य के कर्ता को कहते हैं कि धर्म करता है । तस्मात् ज्ञान और अनुष्ठान के भेद से एक ही पदार्थ को सत्य और धर्म दोनों कहते हैं । अर्थात् जब तक ज्योतिष्टोमादि क्रिया, बेद से ज्ञातमात्र वा उपदिष्टमात्र होती हैं तब तक वे 'सत्य' इस शब्द से कही जातीं हैं और जब कीजाती हैं तब उनको धर्म कहते हैं । इस प्रकार से शास्त्रज्ञ और सामान्य मनुष्य दोनों को धर्म ही नियम से चलाता है ।

एवम् पराशरमाधव में आचारकाण्ड २० श्लोक, पर माधवाचार्य ने भी इस श्रुति का यों व्याख्यान किया है कि "वह परमेश्वर प्रजाओं की सृष्टि करने पर भी किसी नियन्ता (सम्हालने वाला) के न रहने से अपने को कृतकृत्य न समझकर विचार पूर्वक, सब से श्रेष्ठ धर्म ही को नियन्ता उत्पन्न किया, धर्म का बडा आश्चर्य सामर्थ्य है, क्योंकि क्षत्रिय आदि परमसमर्थ पुरुष, धर्म के भय से इस लोक में अनुपयोगी याचक ब्राह्मणादि को भी नहीं मारता, किन्तु उसको धन देता है और धनुध खड्ग, आदि लिये लाखों वीरों को एक निरायुध (विना हथियार का) राजा दिक स्वामी अपराध होने पर सब प्रकार का दण्ड देता है और भटगण धर्म ही के भय से भीत हो उस दण्ड को सहन करते हैं । इससे सिद्ध है कि धर्म से बढकर कोई नियन्ता अन्य नहीं है । यदि यह कोई कहे कि प्रलय काल में धर्म, अधर्म के संहार होने पर पुनः सृष्टि नहीं हो सकती । क्योंकि सृष्टि, धर्म अधर्म के अनुसार ही से होती है तब धर्म अधर्म के न रहने पर वह कैसे

सामर्थ्यं यत्क्षत्रियादिरुग्रो मारणे समर्थोऽपि धर्मोऽनीतः करप्रदानाद्यनुपयोगिनं याचक विप्रादिकं न मारयति प्रत्युत तस्मै धनं ददाति । भटाश्चातिशूरा धनुःखड्गादिधारिणो लक्षसङ्ख्याका एकेन निरायुधेन स्वामिनाऽधिक्षिप्यमाणास्ताड्यमानाः सन्तोऽपि स्वामि-द्रोहाद्बिभ्याति ततोधर्मादप्युत्कृष्टं न किञ्चिन्नियामकमस्तीति । प्रलयकाले धर्मस्यापि संहारे भाविसृष्टेर्धर्माधर्मकार्य्यायां असंभव इति चेन्न पूर्वकल्पानुष्ठानसञ्चितस्य फलबीजस्या-ऽपूर्वस्य संहारानङ्गीकारात् । द्रव्यगुणक्रियारूप एवहिधर्मः संह्रियते पुनरुत्पद्यतेच सर्वदा । इति एवम् धर्मस्य मुख्यत्वम् । तैत्तिरीयोपनिषदि ११ अनुवाके ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्नप्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदि-तव्यम् । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव, पितृदेवोभव, । आचा-र्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि, नोइत-राणि । यान्यस्माक ऌ सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नोइतराणि । ये के चास्म-च्छ्रेया ऌ सो ब्राह्मणास्तेषां त्वयाऽऽसने न प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धयादेयम्, श्रियादेयम्, ह्रियादेयम्, भियादेयम्, संविदादेयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचि-कित्सा वा स्यात । ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः ।

अथाभ्याख्यातेषु ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ताः आयुक्ताः अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तेषु वर्तेरन् तथा तेषु वर्तेथाः एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् एतदनुशासनम् एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् । इति ॥

॥ भाषा ॥

होगी ? तो इसका उत्तर यह है कि पूर्वकल्प का संचित जीवों में वर्तमान, धर्म पद के गौण अर्थ, मूल बीजरूपी अपूर्व का प्रलय में भी नाश नहीं होता, उसी के अनुसार अनेक प्रकार की पुनः सृष्टि होती है । और क्रियादि रूपी धर्म का तो सब प्रलयों में नाश और उनके अनन्तर सृष्टि कालों में उत्पत्ति भी होती है ।

धर्म की मुख्यता तैत्तिरीय उपनिषद ११ अनुवाक में भी कही गई है जिसका शङ्कर भाष्य के अनुसार यह तात्पर्य है कि आचार्य शिष्य को वेदों के शब्दाभ्यास कराने के अनन्तर उनका अर्थ समझाता है, यद्यपि स्मृति में यह कहा है कि वेद पढकर घरको आना चाहिये तथापि इस वेद वाक्य और उस स्मृति के अनुसार (जिसका यह अर्थ है कि वेदार्थ को समझकर कर्मों का आरम्भ करै) गुरुकुल में जैसे वेदका अक्षर ग्रहण करना चाहिये वैसेही उसके अनन्तर वहीं ठहरकर वेदार्थ विचार (मीमांसा शास्त्र का पठन) भी अवश्य करना चाहिये, इसी उक्त स्मृति में वेदका पढ़ना, शब्दाभ्यास और अर्थज्ञान दोनों कहलाते हैं इसलिये दोनों को समाप्त कर घर आना चाहिये । आचार्य के समझाने की रीति दिङ्मात्र यह है कि सत्य, अर्थात् प्रमाण से निर्णीत विषय को कह, वेदविहित कर्मों को कर, वेदाध्ययन में प्रमाद मत कर, समावर्तन (घर आने) के समय, अभीष्ट धन, पढ़ी विद्या के बदले में आचार्य को दी, आचार्य की आज्ञा के नुसार घर आकर अपने

अत्र भगवत्पादीयम् भाष्यम् ।

वेदमनूच्याचार्यो ऽन्तेवासिनमनुशास्ति । ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः । अतोऽवगम्यते अधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति 'बुध्वाकर्माणि चारभे' दिति स्मृतेश्च कथमनुशास्तीत्याह । सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं वद तद्वद्धर्मं चर धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनम् सत्यादिविशेषनिर्देशात् । स्वाध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः । आचार्याय आचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्वा विद्यानिष्क्रयार्थमाचार्येण चानुज्ञातो ऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं सन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः । प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात् अन्यथा प्रजनश्चेत्येकमेवावक्ष्यत सत्यान्न प्रमदितव्यम् प्रमादो न कर्तव्यः । सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः प्रमादशब्दसामर्थ्यात् । विस्मृत्याप्यनृतं न कर्तव्यमित्यर्थः । अन्यथा सत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात् धर्मान्न प्रमदितव्यम् धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वात् अननुष्ठानं प्रमादः स न कर्तव्योऽनुष्ठातव्य एव । कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम् भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् तेहि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः । देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये । मातृदेवः माता देवो यस्य सत्वं भव स्याः । एवं पितृदेवः आचार्यदेवो ऽतिथिदेवो भव देवतावदुपास्या एते इत्यर्थः यान्यपिचान्यान्यनवद्यानि अनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया नोकर्तव्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितानि आम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यानि अदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि नियमेन कर्तव्यानीत्येतत् नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि । ये के च विशेषिताः आचार्यत्वादिधर्मैरस्मत् अस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्ततरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रादयस्तेषामासनेनाऽऽसनदानादिना

॥ भाषा ॥

योग्य किसी सत्कुल कन्या से विवाह के द्वारा प्रजा उत्पन्न कर प्रजा रूपी सूत्र का छेद, न होने दे अर्थात् यदि पुत्र नहीं उत्पन्न हो तो पुत्रेष्टि यज्ञ आदि कर्म के द्वारा उसकी उत्पत्ति के लिये पूरा यत्न कर । सत्यसे प्रमाद न कर अर्थात् वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान अवश्य कर, अपनी रक्षा के लिये जो कर्म हैं उन्हे अवश्य ही कर अपनी वृद्धि के लिये मङ्गलयुक्त कर्मों को अवश्य कर, वेद का पढ़ना पढ़ाना देवकार्य और पितृकार्य नियम से कर, माता, पिता, आचार्य, और अतिथि को देवता समझकर उनकी पूरी सेवा कर, वेद से अविरुद्ध शिष्टाचार के अनुसारी कर्मों को कर, जो कर्म शिष्टाचार के अनुसारी भी हों किन्तु वेद विरुद्ध हों उन्हें न कर, हम आचार्यों की जो चाल चलन वेदविरुद्ध न हों उन्हीं को कर और अवश्य कर हमारी भी जो चलन वेदविरुद्ध हो उसे छोड़दे, हमसे भी बड़े जो ब्राह्मण हैं आसनप्रदान आदि से उनकी पूरी सेवा कर, और जब सभामें वे आसन पर बैठें तब उनके समक्ष तू दम भी न भर, किन्तु वे जो उपदेश करें केवल उसका सारग्राही हो । जो कुछ दानकर वह श्रद्धाही से कर अनादर से दान मत कर, मित्रादि

त्वया प्रश्वसितव्यम् । प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयस्तेषां श्रमस्त्वयाऽपनेतव्य इत्यर्थः । तेषां वाऽऽसने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यम् । प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः । केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम् । किञ्च यत्किञ्चिद्देयं तच्छ्रद्धयैव देयम् अश्रद्धयाऽदेयम् नदातव्यम् । श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम् ह्रिया लज्जया च देयम् । भिया च भयेन देयम् । संविदा च संविन्मित्रादिकार्यम् । अथैवं वर्तमाने त्वयि यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वा आचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् भवेत् ये तत्र तस्मिन्देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा आयुक्ता अपर प्रयुक्ताः अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः धर्मकामा अदृष्टार्थिनः अकामहता इत्येतत् ते यथा तत्र तस्मिन् कर्मणि वृत्ते वा वर्तेरन् तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेष्वभ्युक्तदोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केनचित् तेषुच यथोक्तं सर्वमुपनयेत । ये तत्रेत्यादि । एषआदेशो विधिः एष उपदेशः पुत्रादीनाम् एषा वेदोपनिषत् वेदरहस्यम् वेदार्थ इत्येतत् एतदेवानुशासनम् ईश्वरवचनम् आदेशवाक्यस्य विधेरुक्तत्वात् सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामनुशासनमेतत् तत् यस्मादेवं तस्मादेवम् यथोक्तं सर्वमुपासितव्यम् एवम् चैतदुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं प्रवचनमिति ।

॥ आनन्दगिरिः ॥

विचारमकृत्वा गुरुकुलान्न निवर्तितव्यम् किन्त्वध्ययनविधेरर्थावबोधद्वारेण पुरुषार्थपर्यवसायितासिद्ध्यर्थमक्षरग्रहणानन्तरमर्थावबोधे प्रयतितव्यमित्याह । ग्रन्थग्रहणादन्विति । वेदमधीत्य स्नायादितिस्मृतिरप्येतच्छ्रुतिनिरुद्धेत्याह । अतोऽवगम्यते इति । वक्तव्यमिति । वचनार्हपरस्यहितमित्यर्थः सर्वमेतत्स्पष्टमिति एवं कर्तव्यमर्थमुपदिश्यानुष्ठानकाले समुत्पन्नसंशयनिवृत्त्यर्थं शिष्टाचारः प्रमाणयितव्यइत्याह अथैवमित्यादिनेति ।

॥ भाषा ॥

के कार्यार्थ भी दानकर, ऐसे व्यवहार करने पर भी यदि तुझ को किसी वेदोक्त वा धर्मशास्त्रोक्त कर्म वा चाल चलन में संदेह उत्पन्न हो तो उस देश और समय में जो विचारशील अच्छे कर्म करने और चालचलने वाले दयालु, काम क्रोधआदि से रहित, धार्मिक ब्राह्मण हों, वे उस संदिग्ध कर्म को जैसा करैं और चालको चलैं वैसाही तू भी कर और चल । (इस से शिष्टाचार का प्रामाण्य स्पष्टरूप से प्रतीत होता है) । यदि किसी विषय में कोई किसी मनुष्य पर अपराध का आरोप करै और तू अपने विचार से उसका निर्णय न कर सकै तो ऐसे विषयों में उक्त ब्राह्मणों के उपदेशानुसार निर्णय कर लिया कर, यही पुत्रादिकों के प्रति उपदेश है । यही वेदों का गुप्त तात्पर्य है, यही बड़ों का वाक्य है, जितने विधि निषेध (ब्राह्मण भागों में) प्रमाण हैं उनकी शिक्षा ऐसी ही है इस लिये जैसा मैंने कहा है वैसा ही कर वैसा ही कर इति ।

इसी रीति से अधर्म भी अपने फल देने में प्रबल है, और अधर्मपद का मुख्य अर्थ ब्रह्महत्यादि भी कल्प के आदि में उत्पन्न होता है तथा कल्पान्त में नष्ट हो जाता है परन्तु अधर्म पदका गौण अर्थ अशुभ अपूर्व तो प्रलय काल में भी बीजरूप से जीवों में रहता है और अधर्म

एवमधर्मपदस्यापि शक्यार्थलक्ष्यार्थयोर्बोध्यम् तस्यापि वलवत्त्वे मानन्तु वाल्मीकीय रामायणे सुन्दरकाण्डे ४९ सर्गे,

यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः। स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता ॥१८॥

तथा ५१ सर्गे ।

प्राप्तं धर्मफलं तावत् भवता नात्र संशयः। फलमस्याप्यधर्मस्य क्षिप्रमेव प्रपत्स्यसे ॥ २९ ॥

इति च श्रीहनुमतो वाक्यम् श्रुत्यातु तुल्यन्यायत्वादेव धर्मसृष्टिबलवत्तयोर्वर्णनेनैवा-धर्मस्यापि सृष्टिबलवत्त्वयोर्लाभो भविष्यतीत्यभिसन्दधत्या धर्मस्य प्रशस्तत्वादुपादेयताम-धर्मस्य च गर्हितत्वाद्धेयतामभिव्यङ्क्तुमेवास्मिन्सृष्टिप्रकरणे नाधर्मस्यसृष्टिर्बलवत्ता च दर्शितेति ध्येयम् ।

धर्मस्योपादेयतामाह मनुः अ० ४

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः। परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥२३८॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः। न पुत्रदारा न ज्ञाति-र्धर्मस्तिष्ठतिकेवलः ॥२३९॥
एकःप्रजायते जन्तु-रेकएव प्रलीयते । एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥२४०॥
मृतंशरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ। विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः। धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥
धर्मप्रधानं पुरुषं तपसा हतकिल्विषम्। परलोकं नयत्याशु भास्वन्तं खशरीरिणम् ॥२४३॥

शुकंप्रति व्यासश्च म. भा. शां. प. ३२२

धर्मं पुत्र निषेवस्व सहतीक्ष्णौ हिमातपौ। क्षुत्पिपासे च कोपं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥१॥

॥ भाषा ॥

की प्रबलता भी बालमीकीय रामायण सुन्दर काण्ड ४९ सर्ग १८ श्लोक तथा ५१ सर्ग २९ श्लोक में स्पष्ट वर्णित है। अठारहें श्लोक का यह अर्थ है कि श्रीहनुमानजी ने, रावण और उसकी संपत्ति को देखकर कहा कि यदि अधर्म बलवान् न होता तो यह राक्षसराज, इन्द्रसहित स्वर्ग लोक का भी रक्षक अवश्य होता। तथा उनतीसवें श्लोक में उन्हों ने रावण से यह कहा कि इसमें तो कुछ संदेह ही नहीं है कि तुमने अपने तपोरूप धर्मका फल पाया, परन्तु वैसेही इसमें भी कुछ संदेह नहीं है कि इस सीताहरणरूपी अधर्म का फल भी तुरित ही पाओगे।

पूर्वोक्त श्रुतियों ने तो इस अभिप्राय से अधर्म की सृष्टि, और प्रबलता, धर्मके प्रकरण में नहीं कहा। कि तुल्य युक्ति के अनुसार धर्म की सृष्टि और प्रबलता कहने ही से अधर्म की भी सृष्टि और प्रबलता उक्तप्राय है, तो परमत्याज्य अधर्म की चर्चा इस धर्मप्रकरण में करना अनुचित है।

धर्म की प्रशंसा, अध्याय ४ में मनु ने इस तरह की है कि परलोक में सहायता के लिये मनुष्य को चाहिये कि किसी प्राणी को दुःख न पहुंचाकर जैसे वल्मीक (बिमवौट–बांबी) को पुत्तिका (दीमक) बनाती हैं वैसे शनैः २ धर्म का अर्जन करे क्योंकि परलोक में सहायता देने के लिये पिता, माता, स्त्री, भाई, बन्धु कोई नहीं खड़ा हो सकता किन्तु केवल धर्मही वहां सहाय होता है, प्राणी अकेला ही उतपन्न और नष्ट होता है तथा अकेला ही सुख दुःख का भोग करता

धर्मादपेतं यत्कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम् । न तत्सेवेत मेधावी न हि तद्धितमुच्यते ॥२॥
एक एवसुहृद्धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः । शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥३॥
धर्माय येऽभ्यसूयन्ति बुद्धिमोहान्विता नराः । अपथागच्छतां तेषा-मनुयातापि पीड्यते ॥४॥
शक्तिमानप्यशक्तोऽसौ धनवानपि निर्धनः । श्रुतवानपि मूर्खश्च यो धर्मविमुखो नरः ॥५॥
पुलाका इव धान्येषु पुत्तिका इव पक्षिषु । मशका इव कीटेषु येषां धर्मो न कारणम् ॥६॥
धर्मो माता पिता चैव धर्मो बन्धुः सुहृत्तथा । धर्मः स्वर्गस्य सोपानं धर्मात्स्वर्गमवाप्यते ॥७॥
धर्मं चिन्तयमानोऽपि यदि प्राणैर्विमुच्यते । ततः स्वर्गमवाप्नोति धर्मस्यैतत्फलं विदुः ॥८॥

संचिन्तितश्चाप्युपसेवितश्च दृष्टः श्रुतः संकथितः स्तुतो वा ।
सर्वाणि पापान्यपहन्ति धर्मो निशातमांसीव सहस्ररश्मिः ॥ १२ ॥
तस्मात्सर्वात्मना धर्मं नित्यं तात समाचर ।
मा धर्मविमुखः प्रेत्य तमस्यन्धे पतिष्यसि ॥ १३ ॥
ये संतुष्टाः श्रुतिपरा महात्मानो महाबलाः ।
धर्म्यं पन्थानमारूढा-स्तानुपासस्व पृच्छ च ॥ १४ ॥

॥ भाषा ॥

है, भूमि पर काष्ट, लोष्ट के समान मृतक शरीर को अपने कर्मानुसार त्यागकर भाई, बन्धु, पुत्रादि मुख फेरकर घरको चले आते हैं, केवल धर्मही उस जीव के साथ जाता है इसी से अपनी सहायता के लिये सदा धीरे २ धर्मका संचय मनुष्य को करना चाहिये क्योंकि धर्मकी सहायता से बड़े २ संकट दूर होते हैं। तपसे जिसका पाप नष्ट हो गया ऐसा धार्मिक पुरुष प्रकाशरूपी शरीर को धारणकर परलोक को जाता है। महाभारत शान्तिपर्व ३२२ अध्याय में शुकदेव के प्रति व्यासजी का यह उपदेश है कि हे पुत्र धर्मका सेवन किया कर, तीक्ष्ण शीत, आतप (घाम) को सहन कर, सदा जितेन्द्रिय हो कर क्षुधा, पिपासा और क्रोध को जीत, जो कर्म, धर्म से विरुद्ध हो उस से चाहे कितना भी लाभ हो तथापि बुद्धिमान् उसका सेवन न करै। क्योंकि वह कर्म हित नहीं कहलाता। धर्मही एक मित्र है जो शरीर छूटने पर भी पीछे लगा जाता है और सब पदार्थ शरीर ही के साथ छूट जाते हैं। जो मूढ़ मनुष्य धर्म में दोष निकालते हैं, कुमार्ग मे चलते हुए उनका अनुयायी भी दुःख पाता है। जो मनुष्य धर्म से विमुख है वह शक्तिमान भी हो तो अशक्त, धनवान् होने पर भी निर्धन, और पण्डित होने पर भी मूर्ख है। जो धर्म के अनुसार नहीं चलते वे मनुष्यों में अति तुच्छ हैं जैसे धान्यों में पुलाक (भूसी) पंक्षियों में पुत्तिका (फुदकी) और कीड़ों में मच्छड़। माता, पिता, बन्धु, मित्र, धर्म ही को मानना चाहिये और धर्मही स्वर्गलोक का सोपान (सीढ़ी) है क्योंकि धर्मही से स्वर्ग मिलता है। धर्म का इतना बड़ा फल बड़े लोग मानते हैं कि धर्म करने को कौन कहै ; धर्मका चिन्तन करता हुआ भी यदि कोई मृत्यु को प्राप्त हो तो वह स्वर्ग पाता है। धर्मकी चिन्ता, अर्जन, दर्शन, श्रवण, चर्चा, प्रशंसा से भी सब पाप नष्ट हो जाते हैं जैसे सूर्य से अन्धकार,। हे पुत्र ! इसलिये तू सदा और सब प्रकार से धर्मकर, धर्मविमुख होकर दुःखरूपी अन्धकार में न गिर। जो लोग वेदपरायण संतुष्ट महानुभाव, महात्मा धर्ममार्ग पर आरूढ हैं उनकी उपासना कर और उनसे पूछ उन धर्मदर्शी पण्डित महात्माओं का मत समझकर अपनी विशुद्ध बुद्धि से अपने चित्तको कुमार्गों से वारण कर।

अवधार्य्य मतं तेषां वृद्धानां धर्मदर्शिनाम् ।
नियच्छ परयाबुद्ध्या चित्तमुत्पथगामि वै ॥ १५ ॥

मनो हि सर्वभूतानां सन्तनोति शुभाशुभम् । अशुभेभ्यस्तदाक्षिप्य शुभेऽर्थे चावधारय ॥१६॥
कामंक्रोध भयंलोभं दम्भं मोहं मदं तथा । निद्रां मत्सरमालस्यं नास्तिक्यं च परित्यज ॥१७॥
सत्यमार्जवमक्रोध-मनसूयां दमं तपः । अहिंसां चानृशंस्यं च क्षमां चैवानुपालय ॥१८॥
सोपानभूतं स्वर्गस्य मानुष्यं प्राप्य दुर्लभम् । तथात्मानं समाधत्स्व भ्रश्यसे न पुनर्यथा॥१९॥इति

एवंधर्मस्य महत्त्वोपाख्यानम् यथा—

युधि० उ० शां० २७०

धर्ममर्थञ्च कामञ्च वेदाः शंसन्ति भारत । कस्यलाभो विशिष्टोऽत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥१॥

भीष्म उ० ।

अत्र ते वर्तयिष्यामि इतिहासं पुरातनम् । कुण्डधारेण यत्प्रीत्या भक्तायोपकृतं पुरा ॥२॥
अधनोब्राह्मणः कश्चि-त्कामाद्धर्ममवैक्षत । यज्ञार्थं सततोऽर्थार्थी तपोऽतप्यत दारुणम् ॥३॥
स निश्चयमथो कृत्वा पूजयामास देवताः । भक्त्या न चैवाध्यगच्छद् धनं संपूज्यदेवताः ॥४॥
ततश्चिन्तामनुप्राप्तः कतमं दैवतं तु तत् । यन्मे द्रुतं प्रसीदेत मानुषैरजडीकृतम् ॥५॥
सोऽथ सौम्येन मनसा देवानुचरमान्तिके । प्रत्यपश्यज्जलधरं कुण्डधारमवस्थितम् ॥६॥
दृष्ट्वैव तं महाबाहुं तस्य भक्तिरजायत । अयं मे धास्यतिश्रेयो वपुरेतद्धि तादृशम् ॥७॥

॥ भाषा ॥

सब प्राणियों के धर्म अधर्म मनही से होते हैं इसलिये मनको अधर्म से खींचकर धर्म में लगा। काम, क्रोध, भय, लोभ, दम्भ, मोह, मद, निद्रा, वैर, आलस्य, और नास्तिकता को छोड़ सत्य, सिधाई, मनःशान्ति, अनसूया, (अनिन्दा) दम (इन्द्रियदमन) तप, अहिंसा, आनृशंस्य, (शील) और क्षमा को पालन कर। स्वर्ग का सोपानरूप दुर्लभ मनुष्यशरीर पाकर अपने को ऐसा सावधान कर जिस से पुनः अधोगति न पा। ऐसेही धर्ममहत्व का उपाख्यान भारत शान्तिपर्व अध्याय २७० में कहा है कि युधिष्ठर ने शरशय्या पर शयन किये हुए भीष्मपितामह से पूछा कि हे पितामह! वेद, धर्म, अर्थ, काम को वर्णन करते हैं किन्तु आप मुझसे यह कहिये कि इनमें किससे विशेष लाभ होता है?

पितामह ने उत्तर दिया कि इस विषय में मैं पुराना इतिहास कहता हूं। एक कोई निर्धन ब्राह्मण, अपने काम से धर्मकी इच्छा करने वाले ने यज्ञार्थ धनप्राप्ति के लिये अति कठोर तप किया और विश्वास पूर्वक भक्ति से देवपूजा करने पर भी धन नहीं पाया, तब उसने विचार किया कि कौन वह देवता है जिसको मनुष्यों ने जड़ न बनाया हो और जो मुझपर शीघ्र प्रसन्न हो जाय। इसके अनन्तर कुण्डधार नामक देवानुचर को अपने समीप उपस्थित देखा, देखतेही कुण्डधार में उसकी भक्ति उत्पन्न हुई और उसको यह निश्चय हुआ कि यह देवताओं के निकट रहनेवाला और अन्य मनुष्यों से अपूजित है इसका आकार ही ऐसा जान पड़ता है कि इससे मेरा धन प्राप्तिरूप कार्य्य तुरित सिद्ध होगा, तब अनेक प्रकार के धूप, चन्दन, माला आदि से प्रतिदिन वह ब्राह्मण कुण्डधार की पूजा करने लगा। थोड़ेही दिनों में कुण्डधार ने प्रसन्न होकर

सन्निकृष्टश्च देवानां न चा यैर्मानुषैर्वृतः । एष मे दास्यति धनं प्रभूतं शीघ्रमेव च ॥८॥
ततो धूपैश्च गन्धैश्च माल्यैरुच्चावचैरपि । बलिभिर्विविधाभिश्च पूजयामास तं द्विजः ॥ ९ ॥
ततस्त्वल्पेन कालेन तुष्टो जलधरस्तदा । तस्योपकारनियतामिमां वाचमुवाच ह ॥ १० ॥
ब्रह्मघ्ने च सुरापे च चौरे भग्नव्रते तथा । निष्कृतिर्विहिता सद्भिः कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः ॥११॥
आशायास्तनयोऽधर्मः क्रोधोऽसूयासुतः स्मृतः । लोभःपुत्रो निकृत्यायाः कृतघ्नो नार्हति प्रजाम् ॥
ततः स ब्राह्मणः स्वप्ने कुण्डधारस्यतेजसा । अपश्यत्सर्वभूतानि कुशेषु शयितस्तदा ॥१३॥
शमेन तपसा चैव भक्त्या च निरुपस्कृतः । शुद्धात्मा ब्राह्मणो रात्रौ निदर्शनमपश्यत ॥१४॥
मणिभद्रं स तत्रस्थं देवतानां महाद्युतिम् । अपश्यत महात्मानं व्यादिशन्तं युधिष्ठिर ॥१५॥
तत्रदेवाः प्रयच्छान्ति राज्यानि च धनानि च । शुभैःकर्मभिरारब्धाः प्रच्छिन्दन्त्यशुभेषुच ॥१६॥
पश्यतामथ यक्षाणां कुण्डधारो महाद्युतिः । निपत्य पतितो भूमौ देवानां भारतर्षभ ॥ १७॥
ततस्तु देववचनान्मणिभद्रो महामनाः । उवाच पतितं भूमौ कुण्डधार किमिष्यते ॥ १८ ॥

कुण्ड० उ० ।

यदि देवाः प्रसन्ना मे भक्तोऽयं ब्राह्मणो मम । अस्यानुग्रहमिच्छामि कृतं किञ्चित्सुखोदयम् ॥
ततस्तं मणिभद्रस्तु पुनर्वचनमब्रवीत् । देवानामेव वचनात् कुण्डधारं महाद्युतिम् ॥ २० ॥

म. भ. उ० ।

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रंते कृतकृत्यः सुखीभव । धनार्थी यदि विप्रोऽयं धनमस्मै प्रदीयताम् ॥२१॥
यावद्धनं प्रार्थयते ब्राह्मणोऽयं सखा तव । देवानां शासनात्ताव दसंख्येयं ददाम्यहम् ॥२२॥
विचार्य कुण्डधारस्तु मानुष्यं धनमध्रुवम् । ततोऽस्य प्रार्थयामास धर्मेबुद्धिं सुदुर्लभाम् ॥२३॥

॥ भाषा ॥

उससे यह कहा कि ब्रह्मघाती, मद्यप, चोर और जिसका व्रत भङ्ग हो गया है, उनके अर्थ महर्षियों ने प्रायश्चित्त लिखा है परन्तु कृतघ्न के लिये कोई प्रायश्चित नहीं है। आशा का पुत्र अधर्म, आसूया का क्रोध, निकृत्या (छल) का लोभ है परन्तु कृतघ्न किसी का पुत्र नहीं है। इसके अनन्तर उस ब्राह्मण ने कुण्डधार के प्रभाव से रात्रि में स्वप्न देखा कि देवताओं के समाज में अलकापुरी के यक्षराज मणिभद्र वैठे हैं और देवता लोग धार्मिक मनुष्यों को राज्य, धन आदि दे रहे हैं और पापियों के राज्य, धन आदि को छीन रहे हैं, उन देवताओं के समक्ष कुण्डधार भूमि पर दण्डवत् करता है तथा देवताओं के वचनानुसार मणिभद्र उससे कहते हैं कि हे कुण्डधार तू क्या चाहता है ? कुण्डधार कहता है कि यदि आप लोग मुझ पर प्रसन्न हैं तो मैं यह चाहताहूं कि इस मेरे भक्त ब्राह्मण के सुख का उपाय कोई आप करदें। मणिभद्र ने कहा उठ २ तेरा काम होगया, यह तेरा भक्त ब्राह्मण जितना धन चाहे उतना मैं दूं। कुण्डधार ने यह विचार किया कि मनुष्यका धन कोई चिरकाल स्थायी नही रहता, तब यह चाहा कि इस ब्राह्मण की बुद्धि धर्म मे होजाय और मणिभद्र से कहा कि हेनाथ ! मै इस ब्राह्मण केलिये रत्नपूर्ण पृथ्वी वा रत्न की राशि भी नही चाहता किन्तु यह धार्मिक होजाय यही इच्छा है अर्थात् इसकी बुद्धि धर्मही में तत्पर रहै। यही अनुग्रह मुझपर कीजिये क्योंकि विद्या, रूप, धन, शूरता, कुलीनता, आरोग्य, राज्य, स्वर्ग और मोक्ष तक सभी पदार्थ केवल धर्मही से मिलते हैं। मणिभद्र ने कहा कि धर्म मे शरीर को क्लेश

कुण्डधार. उ० ।

नाहं धनानि याचामि ब्राह्मणाय धनप्रद । अन्यमेवाहमिच्छामि भक्तायानुग्रहं कृतम् ॥२४॥
पृथिवीं रत्नपूर्णां वा महद्वा रत्नसञ्चयम् । भक्ताय नाहमिच्छामि भवेदेष तु धार्मिकः ॥२५॥
विद्यारूपं धनं शौर्यं कुलीनत्वमरोगता । राज्यं स्वर्गश्च मोक्षश्च सर्वं धर्मादवाप्यते ॥ २६ ॥
धर्मेऽस्य रमतां बुद्धिं धर्मं चैवोपजीवतु । धर्मप्रधानो भवतु ममैषोऽनुग्रहो मतः ॥ २७ ॥

म. भ. उ० ।

सदा धर्मफलं राज्यं सुखानि विविधानि च । फलान्येवायमश्नातु कायक्लेशविवर्जितः ॥२८॥

भीष्म. उ० ।

ततस्तदेव बहुशः कुण्डधारो महायशाः । अभ्यासमकरोद्धर्मे ततस्तुष्टास्य देवताः ॥ २९ ॥

म. भ. उ० ।

प्रीतास्ते देवताः सर्वा द्विजस्यास्य तथैव च । भविष्यत्येष धर्मात्मा धर्मे चाधास्यते मतिम् ॥३०॥
ततः प्रीतो जलधरः कृतकार्यो युधिष्ठिर । ईप्सितं मनसो लब्ध्वा वरमन्यैः सुदुर्लभम् ॥३१॥
ततोऽपश्यत चीराणि सूक्ष्माणि द्विजसत्तमः । पार्श्वतोऽभ्याशतो न्यस्तान्यथ निर्वेदमागतः ३२॥

भीष्म० उ० ।

निर्वेदी देवतानां च प्रसादात्स द्विजोत्तमः । वनं प्रविश्य सुमहत्तप आरब्धवांस्तदा ॥३३॥
देवताऽतिथिशेषेण फलमूलाशनो द्विजः । धर्मे चास्य महाराज दृढा बुद्धिरजायत ॥ ३४ ॥

॥ भाषा ॥

होता है और राज्यादि फलही केलिये धर्म है, तो वह ब्राह्मण क्लेशरहित होकर राज्यादि फलही को पावे, केवल धर्म पर तुम क्यों इतना आग्रह विशेष करते हो ? , ऐसा कहने पर भी पुनः पुनः धर्मही पर आग्रह उसने किया इसी से कुण्डधार और उस ब्राह्मण पर प्रसन्न देवसमाजने कहा कि यह ब्राह्मण धर्मबुद्धि और धर्मात्मा होगा,' ऐसे दुर्लभ बरदान को पाकर कुण्डधार अति सन्तुष्ट हुए इस स्वप्न देखने के अनन्तर ब्राह्मण की निद्रा टूटी और अपने समीप में चीर कोपीन रखा हुआ देखा, और उसको देख उसको वैराग्य होगया, तब वह एक वड़े बन में जाकर तपस्या करने, देवता और अतिथि के सत्कार से बचा हुआ फलमूल खाने लगा। इसलिये उसकी बुद्धि धर्म में दृढ़ होगयी। बहुत दिनों के अनन्तर उसकी दिव्य दृष्टि होगयी, तब उसने यह निश्चय किया कि यदि मैं किसी को प्रसन्न होकर धन देनाचाहूँ तो उसै मेरे कहने से तुरित मिल सकता है इसलिये प्रसन्न हो पुनः तपही करने लगा। बहुत समय के उपरान्त पुनः उसै यह ज्ञात हुआ कि मैं यदि अब किसी को बरदान देना चाहूँ तो अवश्य, मेरा बचन मिथ्या न होगा। इसी समय कुण्डधार ने उसै दर्शन देकर कहा कि अब तो तुम दिव्यदृष्टि होगये यहां ही बैठे २ राजाओं की गति और लोकों को देखो, ब्राह्मण ने ऐसा सुन वहीं बैठे २ अपने दिव्य नेत्र से हजारों राजाओं को यमपुरी के नरकों में डूबते देखा। कुण्डधार ने कहा कि भक्ति से मेरी पूजा करने पर यदि तुम दुःख पाओ तो मैं ने तुम्हारा क्या उपकार किया ? । पुनः तुम देखो मनुष्य, कामों की इच्छा कैसे करै क्योंकि कामों ही के कारण स्वर्ग का द्वार मनुष्य के लिये बन्द रहता है अर्थात् कामार्थी मनुष्य वहां नहीं जाने

धर्मे च अश्वासस्य तपस्युग्रे च वर्तता । कालेन महता तस्य दिव्या दृष्टिरजायत ॥ ३५ ॥
तस्य बुद्धिः प्रादुरासीद् यदिदद्यामहं धनम् । तुष्टः कस्यचिदेवेह मिथ्यावाङ् न भवेन्मम ॥
ततः प्रहृष्टवदनो भूय आरब्धवांस्तपः । भूयश्चाचिन्तयत्सिद्धो यत्परं सोऽभिमन्यते ॥ ३७ ॥
यदि दद्यामहं राज्यं तुष्टो वै यस्य कस्यचित् । स भवेदचिराद्राजा न मिथ्यावाग्भवेन्मम ॥ ३८॥
तस्य साक्षात्कुण्डधारो दर्शयामास भारत । ब्राह्मणस्य तपोयोगात्सौहृदेनाभिचोदितः ॥३९॥
समागम्य स तेनाथ पूजाञ्चक्रे यथाविधि । ब्राह्मणः कुण्डधारस्य विस्मितश्चाभवन्नृप ॥४०॥
ततोऽब्रवीत्कुण्डधारो दिव्यं ते चक्षुरुत्तमम् । पश्य राज्ञां गतिं विप्र लोकांश्चैव तु चक्षुषा ॥४१॥
ततो राजसहस्राणि मग्नानि निरये तदा । दूरादपश्यद्विप्रः स दिव्ययुक्तेन चक्षुषा ॥ ४२ ॥

कुण्ड० उ० ।

मां पूजयित्वा भावेन यदि त्वं दुःखमाप्नुयाः । कृतं मया भवेत्किं ते कश्च ते ऽनुग्रहो भवेत् ॥४३॥
पश्य पश्य च भूयस्त्वं कामानिच्छेत्कथं नरः । स्वर्गद्वारं हि संरुद्धं मानुषेषु विशेषतः ॥४४॥

भीष्म० उ० ।

ततो ऽपश्यत्स कामं च क्रोधं लोभं भयं मदम् । निद्रां तन्द्रां तथालस्य मावृत्य पुरुषान् स्थितान् ।

कुण्ड० उ० ।

एतैर्लोकाः सुसंरुद्धा देवानां मानुषाद्भयम् । तथैव देववचना द्विघ्नं कुर्वन्ति सर्वशः ॥४६॥
न देवैरननुज्ञातः कश्चिद्भवति धार्मिकः । एष शक्तोऽसि तपसा दातुं राज्यं धनानि च ॥४७॥
ततः पपात शिरसा ब्राह्मणस्तोयधारिणे । उवाच चैनं धर्मात्मा महान्मे ऽनुग्रहः कृतः ॥४८॥

॥ भाषा ॥

पाते । तब ब्राह्मण ने सब मनुष्यों पर छाये हुये मूर्तिधारी काम, क्रोध, लोभ, भय, मद, निद्रा, तन्द्रा, (झप्पी) और आलस्य को देखा । अनन्तर कुण्डधार ने कहा कि देवताओं को मनुष्यों से सदा भय रहता है कि वे तपस्या कर कदाचित् मेरा स्थान न लेलें इसी से देवताओं की आज्ञानुसार ये कामादिक मनुष्यों को घेरे रहते और उनके धर्म कर्मों मे विघ्न भी किया करते हैं और देवता की अनुज्ञा बिना, कोई मनुष्य धार्मिक भी नहीं होता, देखो तुम तपस्या कर धार्मिक हो राज्य और धन अन्य पुरुषों के लिये देने में भी समर्थ हो यह सुन वह धर्मात्मा ब्राह्मण ने कुण्डधार के चरणों पर शिर रखकर कहा कि ' मुझपर बड़ा अनुग्रह किया गया ' अब मेरी यह प्रार्थना है कि आप मुझ पर अनुग्रह से मुझे धनादिक न देकर केवल धार्मिक बनाने के लिये जो प्रयत्न करते थे और मैं काम और लोभ से उस प्रयत्न में दोष निकालता था (अर्थात् मुझे धनादि नहीं दिलाते) इस मेरे अपराध को आप क्षमा करैं । कुण्डधार ने कहा ' मैनें क्षमा किया ' और ब्राह्मण को हृदय से लगा कर वहीं अन्तर्हित हो गया।

उसके अनन्तर वह ब्राह्मण कुण्डधार के प्रसाद और अपनी तपस्या से सब लोकों में जाने लगा, और आकाशगमनादि सिद्धियाँ उसको प्राप्त होगई । अर्थात् धर्मही से योगसिद्धियों और मुक्ति पर्यन्त प्रशंसनीय गति का लाभ उसको हुआ । यह कहकर भीष्मपितामह ने राजा युधिष्ठिर से कहा कि देवता, यक्ष चारण, और सत्पुरुष लोग सभी धनाढ्यों और कामियों की प्रशंसा नहीं करते किन्तु धार्मिकों हीं की प्रशंसा करते हैं । तुम्हारी बुद्धि धर्मही में सदा निरत रहती है इससे

कामलोभानुबन्धेन क्षुरा ते तदसूयितम् । मया स्नेहमविज्ञाय तच्च मे क्षन्तुमर्हसि ॥ ४९ ॥
क्षान्तमेव मयेत्युक्त्वा कुण्डधारो द्विजर्षभम् । संपरिष्वज्य बाहुभ्यां तत्रैवान्तरधीयत ॥५०॥
ततःसर्वांस्तदा लोकान् ब्राह्मणो ऽनुचचार ह । कुण्डधारप्रसादेन तपसा सिद्धिमागतः॥५१॥
विहायसा च गमनं तथा सङ्कल्पितार्थता । धर्माच्छक्त्या तथा योगाद्या चैव परमा गतिः ॥५२॥
देवता ब्राह्मणाःसन्तो यक्षा मानुषचारणाः । धार्मिकान् पूजयन्तीह न धनाढ्यान्न कामिनः ॥
सुप्रसन्ना हि ते देवा यत्ते धर्मे रता मतिः । धने सुखकला काचिद्धर्मे तु परमं सुखम् ॥५४॥

इतिधर्ममाहात्म्यम् ।

अत्रेदमवधेयम् एवंविधोऽयं धर्मस्यैव धर्मस्य महिमा यदस्याऽऽमुष्मिकैकफला अपि भेदाः परलोकनास्तिकैरपि समासादिततत्तदधिकारिशरीरैर्लौकायतिकप्रभृतिभिरवश्यमेवानुष्ठेया, वर्जनीयाश्च तथाविधा अप्यधर्मभेदाः । तथाहि—आस्तिकनास्तिकान्यतरमतपक्षपातमतिदूरमुत्सार्य यदि विचार्यते तदा आस्तिक्यनास्तिक्यपक्षयोर्विवादस्य कलिकालपरम्पराऽऽयातत्वाद्विविधेभ्यस्तद्विप्रतिपत्तिवाक्येभ्यो जायमानः परलोकास्तित्वसन्देहस्तावत्प्रथमतरमपक्षपातिनामन्तराक्रामति । सचासौ नास्तिकानामास्तिकैरास्तिकानां च नास्तिकैर्वादेषु विजयानां सहस्रशो दर्शनश्रवणाभ्यामन्यतरपक्षसत्यतानिश्चयाभावादबाधितोऽनुवर्तत इत्येषोऽर्थो ग्रीष्मभीष्ममध्याह्नतपनायमानत्वात्सर्वलोकसिद्धान्तभूतो नापह्नवमर्हति । येतु केचन नास्तिका, नास्त्येव संदेहः परलोकनास्तित्वस्यैव निश्चितत्वात् निश्चितो हि वादं करोति

॥ भाषा ॥

मुझको यह निश्चय है कि देवता सब तुम पर प्रसन्न हैं धन में सुख की कोई कलामात्र है, धर्म में तो सभी सुख हैं । धर्म की महिमा पूर्ण हुई ॥

अब यहां इस विषय पर ध्यान देना चाहिये कि धर्म की यह महिमा धर्मही में है न कि अन्य में, कि धर्म के जो भेद, सन्ध्योपासन आदि ऐसे हैं कि जिनका फल परलोक ही में होता है वे भी विचार के अनुसार नास्तिकों के भी करने ही के योग्य हैं और धर्म के विरुद्ध अधर्म भी जो परलोक ही में फल देनेवाला है वह नास्तिकों को भी त्यागने ही के योग्य है, क्योंकि आस्तिक और नास्तिक में किसी एक के मत पर पक्षपातदृष्टि को दूर त्याग कर अर्थात् तृतीय बनकर यदि विचार कियाजाय तो प्रथम २ परलोक के होने और न होने का सन्देह ही विचारक पुरुष के अन्तःकरण में उपस्थित होता है । क्योंकि कलिकाल के प्रताप के अनुसार आस्तिक और नास्तिक के मतों का विवाद बहुत समय से चला आता है जोकि सब पर प्रसिद्ध है और उक्त, पक्षपातरहित विचारक के हृदय से यह संदेह एकाएकी हट भी नहीं सकता क्योंकि ऐसा परिवर्तन सहस्रोंवार होचुका है कि किसी २ समय मे आस्तिकों ने नास्तिकों का और नास्तिकों ने आस्तिकों का पराजय मतवाद में किया और करते भी हैं । पक्षपातशून्य विचारक यदि मिथ्यावादी न हो तो कदापि वह ऐसा नहीं कह सकता कि मेरे हृदय में उक्त सन्देह नहीं है, अर्थात् जैसे तपते हुए मध्याह्नसूर्य को कोई यह नहीं कह सकता कि सूर्य नहीं है, वैसे ही उक्त सन्देह को भी कोई यह नहीं कह सकता कि उक्त विचारक पुरुष के हृदय में नहीं है और जब तृतीय पुरुष के हृदय में यह सन्देह है तब आस्तिक या नास्तिक मतवालों का यह कहना कि मेरे हृदय में यह सन्देह नहीं है, मैं जहांतक समझताहूं

संशयस्तु निर्णयशक्त्यभावादेवेति गजनिमीलिकया प्रलपन्ति ते तु भट्टवार्तिकन्यायकुसमाञ्जलितत्त्वचिन्तामणिप्रभृतिग्रन्थोक्ताभिरितराभिश्च युक्तिभिरस्मिन् काण्डे दर्शनकाण्डे च शिक्षयिष्यन्त एव संशयस्त्वयं प्रत्यक्षसिद्धो न तैरपलपितुं शक्यः । अस्यां परलोकास्तित्वसंशयदशायाञ्च किमनुष्ठेयमिति विचारे यथा पथि भोज्यलाभसंदेहावस्थायामलिकतटादापादतलयुगलं पांसुलकलेवरैर्हालिकलोकैरपिपाथेयकरण्डिकाः क्रोडीक्रियन्ते, यथाच तैरप्यवश्यगन्तव्ये मार्गे शार्दूलाभिपतनस्य सन्देहे नियतमेवद्रढीयांस्यायुधानि पिनह्य गम्यते तथा प्रकृतसंदेहदशायां सर्वैर्धर्मएवानुष्ठेयो वर्जनीयश्चाधर्म इति निश्चीयते । परलोकास्तित्वकल्पे सत्यतायां तथासति केवलकाम्यकर्मभ्य इष्टप्राप्ते र्नित्येभ्यो नैमित्तिकेभ्यश्चानिष्टपरिहारस्य परलोके संभवेन सर्वेष्टसिद्धिः तन्नास्तित्वकल्पे सत्यतायान्तु भोज्यस्यान्यथा लाभे पाथेयोद्वहनस्य, शार्दूलानापतने चायुधोद्वहनस्येव तादृशधर्माचरणवैयर्थ्यमात्रम् नत्वात्ययिककष्टशङ्काऽपीत्युभयोः कल्पयोः कुशलनिश्चयात्, विपर्यये तु नास्तित्वकल्पस्य सत्यतायां

॥ भाषा ॥

वास्तविक में सत्य नहीं हो सकता किन्तु वे अपने मतके पक्षपात ही से ऐसा कहते हैं, और यह तो दूसरी बात है कि मतवाद के अवसर में वे अपने मत पर निश्चय ही प्रकाश करते हैं तथा यदि मान भी लिया जाय कि उनको अपने २ मत पर निश्चय ही है तब भी इस पर क्या विश्वास हो सकता है कि कौन निश्चय सत्य है क्योंकि परलोक का होना वा न होना परोक्ष की बात है इसी से प्रत्यक्ष के द्वारा उसका निश्चय नहीं हो सकता । और कोई २ नास्तिक अपने २ ग्रन्थों में यह लिखते हैं कि हमको परलोक न होने का निश्चय ही है न कि संशय, किन्तु ऐसे आग्रहियों के लिये भट्टवार्तिक, न्यायकुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, और तत्त्वचिन्तामणि आदि और २ ग्रन्थरूपी औषध, स्थितही हैं जिनका आशय इस काण्ड और दर्शनकाण्ड में कहा जायगा । और उनका कथन कुछ सत्य भी है क्योंकि संदेह उसीको होता है जोकि परलोक का होना और न होना इन दोनों कोटियों की युक्तियों को जानता है वे तो परलोकसिद्धि की युक्ति और प्रमाणों के ग्रन्थों को पढ़े ही नहीं हैं, और आंखों से परलोक को देखते ही नहीं तो उनको परलोक का संदेह कैसे हो ? क्योंकि दो चार वर्ष के बालकों को भी परलोक का सन्देह नहीं होता । और ऐसे सन्देह की दशा में जब यह विचार किया जाता है कि क्या करना चाहिये ? तब यह लोकदृष्टान्त सन्मुख खड़ा होजाता है कि हलवाहे भी जब ऐसे दूरवर्ती देश को जाने लगते हैं कि जिसके मार्ग में भोज्य पदार्थ के लाभ का सन्देह है और व्याघ्रादिरूपी हिंसकों से भय का संदेह है तो अवश्य भोज्य वस्तुओं की गठरी और प्रौढ आयुध बांधकर जाते हैं । ऐसे ही उक्त संदेह की दशा में सबको धर्म ही का अनुष्ठान और अधर्म का वर्जन नियम से करना चाहिये क्योंकि यदि परलोक सत्य होगा तो काम्य वैदिककर्म करने से सुख, और नित्यकर्म करने से दुःख का परिहार, परलोक में होगा, यह बहुत बड़ा लाभ है । और यदि परलोक नहीं होगा तो जैसे प्रकारान्तर से मार्ग में भोजन मिलने और व्याघ्रादि के समागम न होने की दशा में, भोज्य की गठरी और प्रौढ आयुध के बोझ उठाने की व्यर्थता होती है वैसे ही धर्मके आचरण और अधर्म के परिहार की व्यर्थतामात्र होगी यह हानि बहुत थोड़ी है, और यह भी लाभ है कि मनका खटका मिटा रहेगा। और यदि धर्म कर्म न किया जाय और अधर्म से न बचा जाय तब तो यदि परलोक न सत्य होगा तो लाभ इतना ही है कि जैसे उक्त संदेह की दशा में भोज्य

व्ययायासयोरभावः। यथाऽन्यतो भोज्यलाभे व्याघ्रानापतने वा पाथेयासंग्राहिण आयुधा-संग्राहिणो वा इत्यस्ति किंचिल्लाभः, अस्तित्वकल्पसत्यतायां तु भोज्यालाभे पाथेयासं-ग्राहिणो व्याघ्रसमागमे चायुधासंग्राहिणो मरणमिव सुखाभावो नरकयातनानुभवश्चेति महदेवानिष्टम्। एवं च यथोक्तसंदेहावस्थायामसंदेहमेव लोकः पाथेयमायुधं च गृह्णाति तथैवोक्तसंदेहावस्थायामपि सर्वैर्लोकैर्धर्मोऽनुष्ठेय एव नतु हेयः, अधर्मश्च हेय एव नतूपादेयः। अथ यदि परलोकस्यास्तित्वमेव सत्यं भविष्यति तदा देहपातानन्तरमेव परलोके केनाचिदुपायेनानिष्टं वारयिष्यामि किमिदानीमेव व्ययायासबहुलेन धर्मा-नुष्ठानेनेति चेत्, एवं तर्हि परलोकस्य शास्त्रोक्तस्य तदा सत्यत्वानुभववत् पारलौकिकदुः खानां परिहारस्योपायोऽपीहैव सम्पादयितुं शक्यो नतु परलोकेऽपीतिशास्त्रार्थस्यापि सत्यतां परस्मिन्नेव लोकेऽनुभविष्यति तत्र च दुःखानुभवात् किमहं भूलोके न धर्ममकार्षं किमिति वा पापमकार्षमिति पश्चात्तापातिरिक्तं न किमपि हस्तगतं भविष्यति। किञ्च यदि फलसंदेहावस्थायामेव सर्वे लौकिका युद्धकृष्यादयो व्याघ्रसर्पकण्टकवर्जनादयश्च व्ययायासबहुला व्यापारा उत्कटैककोटिकसंशयरूपया, फलस्य संभावनयैवानुष्ठीयन्ते न तु निश्चयेन, भाविनि दृढतरप्रमाणाभावात् तदा किमपराद्धं वैदिकैर्धर्मैरधर्मवर्जनैश्च। अपि च यथा क्रीडादयो बहवो लौकिका व्यापारा अल्पिष्ठफला बंहिष्ठव्ययायासाश्च कौतुकमात्रेण

॥ भाषा ॥

की गठरी और आयुध को न लेकर चलने वाले उक्त मनुष्य को दैववश से भोज्य मिलने और व्याघ्रादि के न आने की दशा में परिश्रम से छुटकारा होता है वैसे ही धर्म करने और अधर्म से बचने के परिश्रम से बचना होगा, और यदि परलोक सत्य होगा तब तो जैसे उक्त संदेह की दशा में भोज्य की गठरी और आयुध के बिना चलने वाले मनुष्य का भोज्य न मिलने और व्याघ्र के समागम से मृत्यु होता है वैसे ही धर्म न करने और अधर्म करने वालों को परलोक में सुख न होगा और बहुत कालतक नरकयातनाएं झेलनी पड़ैंगी इससे अधिक क्या हानि होगी। तस्मात् उक्त संदेह के स्थान में जैसे सामान्य मनुष्य भी भोज्य की गठरी और आयुध, नियम से ग्रहण करते हैं वैसे ही परलोक के संदेह की अवस्था में भी सबको धर्म ही का अनुष्ठान और अधर्म का त्याग नियम से करना चाहिये।

प्र०—यदि शरीर छूटने के अनन्तर प्रत्यक्ष से परलोक निश्चित होगा तो वहीं किसी न किसी उपाय से सुख का लाभ और दुःख का परिहार कर लिया जायगा यहां ही बिना परलोक देखे धर्मकार्यों में व्यय और परिश्रम, तथा अधर्मवर्जन के नियम से क्लेश करने का पहिले ही क्या आवश्यकता है?

उ०—जैसे शरीर त्यागने के अनन्तर शास्त्रोक्त परलोक की सत्यता का निश्चय होगा वैसे ही "पारलौकिक दुःखों का औषध (धर्माचरण और अधर्मवर्जन) इसी लोक में हो सकता है न कि परलोक में भी" इस शास्त्र की सत्यता भी परलोक ही में निश्चित होगी, तब तो नरक यातना, और यह पश्चाताप भी सिर पड़ैगा कि 'हाय २ क्यों न मैंने भूलोक में धर्म किया, क्यों पाप किया' और पश्चाताप ही रह जायगा क्योंकि उस दुःख का तो औषध वहां दुर्लभ ही है।

लौकिकैरनुष्ठीयन्ते तथैव धर्मोऽपि यदि कौतुकिभिरेव पारलौकिकदुःखशङ्कापनोदनमात्रार्थिभिरनुष्ठीयेरँस्तदापि लाभ एव ननु हानिः । तस्मात् उक्तसन्देहावस्थायामपि सर्वैर्धर्मोऽनुष्ठेयो वर्जनीयश्च तादृशोऽधर्म इत्यपक्षपातो निर्णयः ।

तदुक्तम् । असत्ये परलोकेऽपि न मर्त्यःसुकृतं त्यजेत् ।
यदि न स्यात्तदा किं स्या यदि स्यान्नास्तिको हतः ॥
इहैव नरकव्याधे श्चिकित्सां न करोति यः ।
संप्राप्यानौषधं स्थानं स रुजः किं करिष्यति ॥ इति ॥

इति धर्मराजसज्जनम् ।

अथ वेददुर्गसज्जनम् ।

तत्र धर्माधर्मप्रमाणोद्देशः ।

एवं धर्मपदस्यार्थो, धर्मलक्षणं, धर्मस्य महत्त्वं क्रियांश्चित्तत्प्रपञ्चस्तस्य सर्वोपादेयत्वं च दर्शितानि । अथ धर्मे कानि प्रमाणानीति जिज्ञासायां तानि निरूप्यन्ते ॥

तत्र मानवे २ अध्याये ।

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूना मात्मनस्तुष्टिरेवच ॥ ६ ॥

॥ भाषा ॥

और जब युद्ध, कृषि, आदि और व्याघ्रादिवर्जनादिरूपी सब ही लौकिक व्यापार फलों की संभावना ही से किये जाते हैं और संभावना उस संदेह का नाम है कि जिसकी एक कोटि, (पक्ष) अन्य कोटि की अपेक्षा वलवती होती है जैसे यदि वृष्टि आदि अनुकूल होगी तो कृषि से अवश्य ही धान्यलाभ होगा, इत्यादि । यह संभावना निश्चय नहीं है क्योंकि अनुकूल वृष्टि होनेपर भी अन्यान्य बाधक होने से धान्यलाभ नहीं होता अर्थात् भावी पदार्थ में दृढतर प्रमाण नहीं मिल सकता इस रीति से जब सभी लौकिक व्यापार (जिनमें कि दुःख और व्यय अधिकाधिक होते हैं) फल के संदेह ही की अवस्था में किये जाते हैं तब धर्मानुष्ठान और अधर्मवर्जन रूपी वैदिक व्यापार ही ने क्या अपराध किया है । और क्रीडा विहारादि बहुत से अनावश्यक लौकिक व्यापार भी कौतुकमात्र के अनुसार अधिकाधिक श्रम और व्यय से लोक मे जैसे किये जाते हैं वैसे ही परलोक में सुख की सम्भावना और दुःख की शङ्का की निवृत्ति के लिये यदि धर्माचरण और अधर्मपरिहार रूपी वैदिक व्यापार भी किये जायँ, तो लाभ ही है न कि हानि । तस्मात् यह निर्णय, पक्षपात से शून्य है कि परलोक के संदेह की अवस्था में भी सबको धर्म ही करना और अधर्म से बचना ही चाहिये ।

यह धर्मराजसज्जन प्रकरण समाप्त हुआ ।
अब वेददुर्गसज्जन का आरम्भ किया जाता है ।
धर्म और अधर्म के प्रमाणों का उल्लेख ।

यहांतक धर्म शब्द का अर्थ, और धर्मका लक्षण, महत्त्व, थोड़ा सा उपाख्यान (कथा) और सबके लिये कर्तव्यता भी दिखलाई गयी अब धर्ममें प्रमाण दिखलाये जाते हैं । मनुस्मृति

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः । स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥७॥
सर्वं तु समवेक्ष्येदं निखिलं ज्ञानचक्षुषा । श्रुतिप्रामाण्यतो विद्वान् स्वधर्मे निविशेतवै ॥ ८ ॥
श्रुतिस्मृत्युदितं धर्ममनुतिष्ठन् हि मानवः । इह कीर्तिमवाप्नोति प्रेत्यचानुत्तमं सुखम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः। ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ ॥१०॥
वेदः स्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः । एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम् ॥
अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते । धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥ १३ ॥

भगवान् याज्ञवल्क्योऽपि

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥३॥
श्रुतिःस्मृतिःसदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदंस्मृतम् ॥

अत्र मानवः षष्ठः, याज्ञवल्कीयश्च सप्तमः श्लोकः उपन्यस्य व्याख्यातौ मित्रमिश्रेण। तथा च यथाक्रमं परिभाषाप्रकरणे वीरमित्रोदये ।

॥ भाषा ॥

अध्याय दो २ श्लोक ६-७-८-९-१०-१२-१३ और याज्ञवल्क्यस्मृति अध्याय १ श्लोक तीसरे और सातवें से धर्म में प्रमाण दिखलाये गये हैं उनमें से मनु के छठें और याज्ञवल्क्य के सातवें श्लोक की व्याख्या विशेष से आगे लिखी जायगी और अवशिष्ट श्लोकों का अक्षरार्थ यह है कि जिस २ का जो २ धर्म मनु ने कहा है वे सब धर्म, वेद में हैं । क्योंकि मनु सर्वज्ञानमय अर्थात् प्रचलित और लुप्त सब वेदशाखाओं के ज्ञाता हैं ॥ ७ ॥ इस पूर्ण मानव धर्मशास्त्र को मीमांसाव्याकरणादि रूपी ज्ञानचक्षु से भली भांति विचार कर वेद रूपी प्रमाण से विद्वान् अपने धर्म में रत हो ॥ ८ ॥ श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्मको करता हुआ मनुष्य इस लोक में कीर्ति और परलोक में स्वर्ग, मोक्ष, रूपी परम सुख पाता है । इस वाक्य से इस विधिवाक्य की कल्पना होती है कि श्रुति और स्मृति में कहे हुए धर्म को करै ॥९॥ वेद को श्रुति, और धर्मशास्त्र को स्मृति कहते हैं। इन दोनों की सबी आज्ञाओं का निःशङ्क पालन करना चाहिये क्योंकि इन्हीं दोनों से धर्म का प्रकाश होता है ॥ १० ॥ वेद, स्मृति, सद्वाचार, और वैदिकों की रुचि ये चार धर्म में प्रमाण हैं ॥ १२ ॥ धनादि रूपी अर्थ और काम के लम्पट जो नहीं हैं उनके लिये, धर्म के ज्ञान का विधान है अर्थात् अर्थ और काम की इच्छा से लोगों को भुलवाने के लिये धर्म करने वालों को उसका फल नहीं मिलता और धर्मजिज्ञासुओं के लिये श्रुति ही मूर्धाभिषिक्त प्रमाण है ॥ १३ ॥ पुराण १ न्याय २ मीमांसा (कर्ममीमांसा-भक्तिमीमांसा-ब्रह्ममीमांसा) ३ धर्मशास्त्र (मन्वादिस्मृति) ४ अङ्ग अर्थात् शिक्षा ५ कल्प ६ व्याकरण ७ निरुक्त ८ छन्द ९ ज्यौतिष १० ये दश विद्याएं और चार वेद, येही चौदह विद्याएं ज्ञान और धर्म के स्थान हैं ॥ ३ ॥

मनु के श्लोक ६ और याज्ञवल्क्य के श्लोक ७ की व्याख्या वीरमित्रोदय के परिभाषा प्रकरण में पण्डित मित्रमिश्र ने यथाक्रम इस रीति से की है कि आपस्तम्ब आदि कल्पसूत्रकार महर्षियों ने मन्त्र और ब्राह्मण दोनों भागों के समुदाय को वेद शब्द का अर्थ बतलाया है, यह वेद अखिल (सम्पूर्ण) धर्म में प्रमाण है। "प्रतितिष्ठन्ति हवा य एता रात्रीरुपयन्ति" (जो लोग रात्रिसत्र, करते हैं वे प्रतिष्ठित होते हैं) इस वेद वाक्य से यह विधि वाक्य निकलता है कि 'प्रतिष्ठाकामारात्रिसत्र-मासीरन्' (प्रतिष्ठा चाहने वाले रात्रि सत्र करैं) यह निकला हुआ वाक्य वैदिक नहीं है इस भ्रम

वेदइति, वेदो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेय' मित्यापस्तम्बाद्युक्तो मन्त्रब्राह्मणसमुदायः अखिलः लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानुमितो ऽतिदेशकल्पश्च "यज्ञं व्याख्यास्यामः स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इति आपस्तम्बादिवचनात्त्रय्या धर्ममूलत्वं नाथर्वणस्येति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं वा ऽखिलग्रहणम्। आथर्वणस्य प्राधान्येन वैतानिकाग्निहोत्रादिधर्माप्रतिपादकत्वेऽपि तुला-पुरुषशान्त्यादिसर्ववर्णसाधारणधर्मप्रतिपादकत्वाद्युक्तं धर्ममूलत्वमितिभावः। धर्मग्रहणमधर्म-स्याप्युपलक्षणम् तस्यापि तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धकीभूतान्तःकरणाशुद्धिहेतोर्हेयत्वेनावश्यप्रतिपाद्य-त्वात्। मूलम्-प्रमाणम्। तद्विदाम् वेदाविदाम्। एतेन न स्मृत्यादेः स्वातन्त्र्येण प्रामाण्यम् किं तु वेदमूलकतयेति ज्ञापयति। स्मृतिः याज्ञवल्क्यादिधर्मशास्त्रम्। शीलम्—ब्रह्मण्यता, देवपितृभक्तता, सौम्यता, अपरोपतापिता, अनसूयता, मृदुता, अपारुष्यम्, मैत्रता, प्रिय-वादिता, कृतज्ञता, शरण्यता, कारुण्यम्, प्रशान्ति, श्चेति त्रयोदशविधं हारीतोक्तम्। अत्र च प्रवृत्तिभिन्नाद्रोहाद्याचारस्य प्रामाण्यमुच्यते, आचारश्चेत्यत्र तु प्रवृत्त्यात्मकस्येत्यपौनरुक्त्यम् आचारः विवाहादौ कङ्कणबन्धनाद्यनुष्ठानम्। साधूनामिति क्वचिद्धर्मत्वसन्देहे सति वैदिक-संस्कारवासनावासितान्तःकरणानां साधूनामेकतरपक्षे आत्मनो मनसः परितोषस्तुष्टिर्धर्मे प्रमाणमिति कल्पतरुः। तथाच तैत्तरीये धर्मसन्देहमुपन्यस्य "ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनो युक्ता अयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथा" इति अनेन पर्षद्रूपमपि प्रमाणमुक्तं भवति। अथवा आचारश्चैव साधूनामिति च्छेदः। एवञ्चावेदविदामपि क्षीणदोषपुरुषाणामाचारः प्रमाणम्। तथाच सच्छूद्राद्याचारस्तत्पुत्रादीन्प्रति भवति प्रमाणम्

॥ भाषा ॥

के वारणार्थ 'अखिल' शब्द कहा गया है अर्थात् वैदिक वाक्य के तुल्य ही उससे कल्पित वाक्य भी धर्म में प्रमाण हैं। अथवा आपस्तम्बादि महर्षियों ने कल्पसूत्रों में कहा है कि 'तीन वेदों में यज्ञों का विधान है' इससे किसी को यह भ्रम न हो जाय कि तीन ही वेद धर्म में प्रमाण हैं न कि अथर्व वेदभी, इसके अर्थ 'अखिल' शब्द कहा गया अर्थात् यद्यपि अग्निहोत्रादि यज्ञ (जिन में कि द्विजो हीं का अधिकार है) अथर्व वेदमें नहीं कहे गये हैं तथापि सब वर्णों के लिये साधारण तुलापुरुष शान्ति आदि धर्मों का विधान अथर्व वेद में है इसलिये ऋग्वेदादि के समान वह भी धर्म में प्रमाण है। धर्म शब्द से अधर्म भी सूचित होता है अर्थात् अधर्ममें भी वेदही प्रमाण है क्योंकि त्याग करने के लिये अधर्म का ज्ञान भी आवश्यक है। याज्ञवल्क्य आदि महर्षियों के निर्मित धर्मशास्त्र, स्मृति कहलाते हैं, एवं हारीत महर्षि ने कहा है कि ब्राह्मणों में श्रद्धा, देवता और पितर में भक्ति, क्रोधका अभाव, अन्य को दुःख न देना, किसी के गुणमें दोष न निकालना, मनकी कोमलता, प्राणियों से मैत्री, प्रिय बोलना, किसी के उपकार को न भूलना, दीनको शरण देना, दया, शान्ति, ये शील कहे जाते हैं। वेद और वेदार्थ जानने वाले पुरुषों की स्मृति और शील भी धर्ममें प्रमाण है इससे यह बात स्पष्ट ही झलकती है कि वेद, स्वतन्त्र प्रमाण है और स्मृति आदि यदि वेद-मूलक हों तभी प्रमाण हो सकते हैं। यदि किसी विषय में धर्म अधर्म का सन्देह हो तो वैदिक वासना से जिन के हृदय सदा वासित रहते हैं ऐसे साधु पुरुषों के आचार, उस विषय में एक पक्ष के निश्चयार्थ प्रमाण हैं। एवम् मन का संतोष भी उनका धर्म में प्रमाण है। जो विषय वेद में विकल्प से

आत्मनस्तुष्टिरेवचेति वैकल्पिकेऽर्थे। सा चात्मानं प्रत्येव। श्रुतिः स्मृतिरिति सम्यक् सङ्कल्पात् शास्त्राविरुद्धसंकल्पाज्जातः कामः यथाभोजनव्यतिरेकेणोदकं न पातव्यमित्येवंरूपः। अथवा सम्यक् सङ्कल्पात् रागादिरहितसङ्कल्पात् ज्ञानात् उपजातं ब्राह्मणोपचिकीर्षादेव मनुना शीलत्वेनोक्तं सम्यक् सङ्कल्पज इत्यनेनोच्यते इति कल्पतरुः अत्रापि धर्मग्रहणमधर्मोपलक्षणम् इति।

इति धर्माधर्मप्रमाणोद्देशः।

अत्र वेदोऽखिल इत्यादौ मानवपद्ये (वेदो धर्ममूलम्) इत्ययमवयवः प्रथमं व्याख्येयः तत्रापि धर्मपदार्थः पूर्वमेव व्याख्यातः अतो "वेदो मूलम्" इति चतुरक्षरोऽवयव इदानीं व्याख्यायते। अत्र मूलशब्दस्य प्रमाणमर्थः

(अथ वेदलक्षणनिर्णयः)

अथ को वेदः?। मन्त्रब्राह्मणसमुदायः "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इति कात्यायनापस्तम्बाभ्यामुक्तेः अथ किं तस्य लक्षणम्? न तावद्वेदपदशक्यत्वम् तत्, शक्यतावच्छेदकज्ञानं विना तस्य दुर्ग्रहत्वात्, नापि शाखासमुदायत्वम् मन्त्रब्राह्मणसमुदायत्वं वा वेदैकदेशस्य शाखात्वेन ब्राह्मणत्वेन च वेदत्वघटिततया तस्याधाप्यानिष्पन्नत्वात्। नापि शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणजन्यप्रमित्यविषयार्थकवाक्यत्वम्। स्मृतिभारतादावतिप्रसङ्गात्।

॥ भाषा ॥

कहे हुए हैं जैसे "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" (चावल से अथवा यव से यज्ञ करै,) ऐसे विषय में अपनी रुचि ही प्रमाण है चाहै दो में जिस से करै॥ याज्ञवल्क्यस्मृति में इतना विशेष भी कहा है कि अच्छे संकल्प से उत्पन्न जो काम (नियम) है वह भी धर्म में प्रमाण है जैसे "भोजन से अन्य समय में मैं जल न पीऊंगा" इत्यादि। अथवा सम्यक् सङ्कल्प, (रागादि दोष से रहित ज्ञान) से उत्पन्न हारीतोक्त शील ही 'सम्यक्सङ्कल्पजकाम' शब्द से यहाँ कहा है। जिस को किं मनुने भी कहा है। यहां भी पूर्ववत् धर्म शब्द से अधर्म भी सूचित समझना चाहिये। धर्म, अधर्म के प्रमाणों का उल्लेख पूर्ण हुआ

मनु के छठें श्लोक का प्रथम चरण यह है "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" इस में भी "वेदो धर्ममूलम्" इतने अंश का तात्पर्य प्रथम कहना उचित है और इस में भी 'धर्म' शब्द का अर्थ प्रथम ही विस्तर से कहा गया है अब "वेदो मूलम्" इन अवशिष्ट चार अक्षरों का व्याख्यान आरम्भ किया जाता है कि, यहां मूलशब्द का प्रमाण अर्थ है, इस से समुदाय का यह अर्थ हुआ कि वेद, धर्म में प्रमाण है।

वेद के लक्षण का निर्णय।

वेद कौन है?। मन्त्र और ब्राह्मण का समूह वेद है क्योंकि कात्यायन और आपस्तम्ब महर्षि का (मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्) (मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय का वेदनाम है) ये एकाकार वाक्य हैं।

प्रश्न—वेद का क्या लक्षण (पहचान, वा असाधारण स्वभाव) है? क्योंकि—

(१) यदि यह कहा जाय कि वेद शब्द से जिसको कहते हैं वही वेद है, तो पुनः यह प्रश्न होगा कि वेद शब्द जिस वस्तु को कहता है उसका क्या लक्षण है? इस पर यदि यह कहा

नापि संदिग्धापौरुषेयताकवाक्यत्वम् वादिनोः प्रत्येकमन्यतरकोटिनिश्चयस्य वादान्यथाऽनुपपत्त्यैवावश्यापेक्षितत्वात् तदुक्तम् "निश्चितौ हि वादं कुरुतः" इति। वादिप्रतिवाद्यनुमानयोस्तुल्यत्वेन मध्यस्थस्य पौरुषेयतासंशय इति चेन्न। अनुमानाभ्यां कोटिद्वयस्मृत्या तस्य संशयः पक्षतावच्छेदकज्ञानं विनाऽनुमानासंभवेन प्रश्नोत्तेयतत्संशयानन्तरञ्चानुमानमितीतरेतराश्रयस्य दुष्परिहरत्वात्। नापि पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वविप्रतिपत्तिविशेष्यवाक्यत्वं तत्, अनुगतानतिप्रसक्त-

॥ भाषा ॥

जाय कि यही उसका लक्षण है कि वह वेद शब्द से कहा जाता है, तो इस पर भी यह प्रश्न होगा कि वेद शब्द से उसको कैसे कहते हैं? क्योंकि घट शब्द से सब घटों को इस कारण से कहते हैं कि उन सब में घटत्वरूपी एक असाधारण धर्म रहता है, इस से यह सिद्ध होता है कि कोई शब्द जब अनेक अर्थों को कहता है तो उन में रहनेवाले असाधारण धर्म के विना उनको नहीं कह सकता, और वेद शब्द हजारों वाक्यों को कहता है तो जब तक उन सब वाक्यों में कोई असाधारण धर्म न हो तब तक उनको वेद शब्द नहीं कह सकता। और असाधारण धर्म ही का नाम लक्षण है, जिसके विषय में प्रश्न किया गया है। इसी से जब तक उस असाधारण धर्म को न बतला सकें तब तक वेद शब्द से किसी को नहीं कह सकते।

(२) यदि कठ आदि शाखाओं का समुदायत्व ही वह असाधारण धर्म माना जाय, तो उस में यह दोष है कि उस का ज्ञान ही नहीं हो सकता क्योंकि उस के ज्ञान में अन्योन्याश्रयनामक दोष पड़ता है जैसे "देवदत्त कौन ?" इस प्रश्न का यदि यह उत्तर दिया जाय कि "यज्ञदत्त के पिता" तब यह पूछा जायगा कि "यज्ञदत्त कौन ?" इस पर यदि पुनः कहा जाय कि 'देवदत्त के पुत्र' तो इन उत्तरों से देवदत्त वा यज्ञदत्त दो में से किसी का निश्चय नहीं हो सकता। इसी के अन्योन्याश्रयदोष कहते हैं। ऐसे ही "वेद कौन है ?" इस प्रश्न का उक्त लक्षण के अनुसार यह उत्तर दिया जायगा कि शाखाओं का समुदाय, तब यह प्रश्न होगा कि 'शाखा कौन ?'–उस पर यह कहना पड़ेगा कि वेद का भाग विशेष, तो इन दोनों उत्तरों से वेद और शाखा, दोनों में से किसी का निश्चय नहीं हो सकता। क्योंकि वेद के निश्चय बिना, शाखा का, और शाखा के निश्चय बिना, वेद का, निश्चय नहीं हो सकता। इसी रीति से मन्त्र और ब्राह्मण के समुदायत्व को भी वेद का लक्षण नहीं कह सकते क्योंकि मन्त्र और ब्राह्मण भी वेद का भाग ही है।

(३) यह भी नहीं कह सकते कि, शब्द और शब्दानुसारी प्रमाण को छोड़ कर अन्य प्रमाण से जिसका ज्ञान नहीं हो सकता ऐसे वस्तु का बोध करा देनेवाला वाक्य, वेद है। और जिन वेदभागों का केवल लौकिक प्रमाणों से जो अर्थ ज्ञात होता है उनका वह अर्थ ही नहीं है क्योंकि विधिवाक्यों का अर्थ तो लौकिक प्रमाणों से ज्ञात ही नहीं होता किन्तु उन्हीं से ज्ञात होता है, और अर्थवादादि वाक्यों का मीमांसा के अनुसार, अपने अक्षरार्थ में मुख्य तात्पर्य ही नहीं है क्योंकि वे भी विधि के अर्थ ही में प्रशंसा द्वारा अन्तर्गत हैं। एवं मन्त्र भी विधिविहित कर्म के स्मारक होने से विधि ही में अन्तर्भूत हैं। इसी से तात्पर्य द्वारा विधिही के अर्थ में मन्त्र और अर्थवाद का अर्थ अन्तर्भूत है। और वह विना विधि के किसी स्वतन्त्र लौकिक प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। इस लिये सभी वेदका अर्थ, शब्द और शब्दानुसारी प्रमाण को छोड़ अन्यप्रमाण से ज्ञात नहीं होता है। इति। क्योंकि ऐसा लक्षण यदि कहा जाय तो मन्वादिस्मृति, और महाभा-

धर्मावच्छेदकं विना तादृशविशेष्यताया अप्यननुगतत्वेन तद्घटितस्य लक्षणस्य दुरनुगमत्वा-पत्तेः तादृशविप्रतिपत्तिविशेष्यतात्वेन विशेष्यतात्वेन वा विशेष्यतानुगमेऽपि भारतादावति-व्याप्तेर्वारयितुमशक्यत्वात् । नापि महाजनानां वेदोवेद इत्यनुगतव्यवहाराज्जातिरेव वेदत्व-मिति साम्प्रतम् । विकल्पासहत्त्वात् तथाहि वेदत्वं जातिः प्रत्येकवर्णपरिसमाप्ता व्यासज्य-वृत्तिर्वा नाद्यः प्रत्येकवर्णग्रहेऽपि तत्प्रत्यक्षापत्तेः नचपूर्वपूर्ववर्णानुभवजन्यसंस्कारसहकृतेन्द्रि-

॥ भाषा ॥

रतादि भी वेद हो जायँगे क्योंकि उनके भी बहुत से अर्थ, धर्मभाग इत्यादि ऐसे हैं जो कि उनके विना, केवल लौकिक प्रमाण से नहीं ज्ञात होते ।

(४) जिस की रचना करनेवाला कोई प्रसिद्ध न हो और इस कारण यह सन्देह हो कि यह पौरुषेय (पुरुषरचित) है वा नहीं, वह वाक्य, वेद है । यह लक्षण भी निर्दोष नहीं है, क्योंकि दो मनुष्य जब वेद के विषय में वाद करेंगे अर्थात् उन में से एक वेद को पौरुषेय, और दूसरा अपौरुषेय प्रतिपादन करेगा, तब दोनों को अपने २ पक्ष का निश्चय ही रहैगा, न कि संदेह, इस कारण लक्षण में सन्देह का समावेश ही नहीं हो सकता । यदि यह कहिये कि मध्यस्थ को तो सन्देह अवश्य होता है क्योंकि वह वादी प्रतिवादी की युक्तियों को सुनता है और युक्तियां विना वेद के जाने नहीं हो सकतीं, क्योंकि जब यह निश्चय हो जाय कि वेद यह वस्तु है तभी उसके पौरुषय वा अपौरुषय सिद्ध होने के लिये युक्तियां कही जायँगी । और जब मध्यस्थ का सन्देह, वादी, प्रतिवादी को ज्ञात होगा तभी उस सन्देह के एक २ पक्ष को लेकर वे युक्तियों को कहेंगे, इससे यह निकला, कि मध्यस्थ के संशय को जाने विना वे युक्तियों को नहीं कहेंगे और विना युक्तियों को कहे, मध्यस्थ को संशय ही न होगा निदान संशय होने पर युक्ति और युक्ति कहने पर संशय होगा इस रीति से युक्ति और संशय में अन्योन्याश्रय दोष पड़ैगा । तथा यह भी नहीं कह सकते कि " जिस वाक्य को कोई अपौरुषेय माने वही वेद है, क्योंकि इस रीति से कुरान, इंजील भी वेद कहलावेंगे । एवम् यह भी नहीं कह सकते कि जिस वाक्य के विषय में " यह पौरुषेय है वा नहीं " यह विप्रतिपत्तिवाक्य (तनकीह वा इज्शू) कहा जाय वह वाक्य वेद है, क्योंकि इसमें भी वही दोष है कि कुरान, इंजील भी वेद कहलावेंगे । और यह भी दोष है कि सब वेदवाक्यों में रहनेवाला असाधारण धर्म जब तक ज्ञात न हो तब तक यह विप्रतिपत्तिवाक्य हो ही नहीं सकता कि ' वेद पौरुषेय है वा नहीं ' क्योंकि उस काल में वेदका तो ज्ञान ही नहीं है और एक २ वाक्य को लेकर यदि विप्रतिपत्तिवाक्य कहा जाय कि " यह वाक्य पौरुषेय है वा नहीं " इत्यादि, तो वेदवाक्यों की संख्यानुसार विप्रतिपत्तिवाक्य, लक्षों होंगे, तब तो यह लक्षण भी एक २ वाक्यों का पृथक् २ होने से लाखों हो गया । इसकारण कैसे सब वाक्यों मे एक असाधारण धर्म सिद्ध हो सकता है ।

(५) यहभी नहीं कह सकते कि अनेक गौओं में 'गौ' 'गौ' इस एकाकार व्यवहार से जैसे सब गौओं में एक जाति गोत्वरूपी सिद्ध होती है, वैसे ही अनेक वेदवाक्यों मे महाशयों के 'वेद' 'वेद' इस एकाकार व्यवहार से सब वेदवाक्यों में एक वेदत्व नामक जाति सिद्ध होती है और वही वेद का लक्षण है । क्योंकि इस पर यह प्रश्न होगा कि वेदत्वजाति गोत्व की नाईं वेद के हरएक अक्षरों में पूर्ण हो जाती है वा सेनात्व के समान वर्णसमुदाय में । इन दोनों में यदि

यद्वा चरमवर्णश्रुतिः सेति वाच्यम् चरमवर्णातिरिक्तसकलवर्णग्रहेऽपि तदग्रहस्यानुभाविकत्वात्, कत्वादिना सांकर्यस्य दुर्वारत्वाच्च । नच कत्वखत्वादिव्याप्यं नानैव वेदत्वमिति वाच्यम् अननुगमवेतालस्य तत्रैवावलम्बनप्रसङ्गात्, नापि द्वितीयः जातेर्व्यासज्यवृत्तितायाः अत्यन्ताप्रामाणिकत्वात् । एवं वेदत्वं नोपाधिरपि तद्धि सखण्डमखण्डं वा स्यात् । नाद्यः तस्य लक्षणत्वेनाद्याप्यनिष्पत्तेः नान्त्यः सोऽपि प्रत्येकवर्णपर्याप्तो, व्यासज्यवृत्तिर्वेति पूर्वोक्तविकल्पेन कवलितत्वात् । तस्माद्वेदत्वं दुर्वचमितिचेत् ।

अत्रोच्यते । शब्दातिरिक्तं शब्दोपजीविप्रमाणातिरिक्तं च यत्प्रमाणं तज्जन्यप्रमितिविषयानतिरिक्तार्थको यो यस्तदन्यत्वे सति, आमुष्मिकसुखजनकोच्चारणकत्वे च सति जन्यज्ञानाजन्यो यः प्रमाणशब्दस्तत्त्वम् वेदत्वम् । अत्र व्यासादिचाक्षुषादिप्रत्यक्षजन्ये दृष्टार्थके भारतायुर्वेदादिभागेऽतिव्याप्तिवारणाय प्रथमसत्यन्तम् । इत्थञ्च तदुभयातिरिक्तं प्रमाणं चक्षुरादिरेव तज्जन्यप्रमितिविषयार्थकतया तयोर्नातिव्याप्तिः । नच दृष्टार्थकवेदभागस्यापि

॥ भाषा ॥

प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय तो वैदिक पदका एक अक्षर सुनने से भी वेदत्व का ज्ञान हो जायगा । दूसरा पक्ष तो स्वीकार के योग्य ही नहीं है क्योंकि कोई जाति ऐसी नहीं होती कि जो एक २ व्यक्ति में समाप्त न हो, अर्थात् व्यक्तियों के समुदाय में रहती हो । जैसे गोत्वादि प्रसिद्ध जाति एक २ गौ में ही समाप्त होती है इसी से एक २ गौ को पृथक् २ गौ कहते हैं ।

(६) यदि यह कहा जाय कि उन वाक्यों में वेदत्वरूपी जाति न हो परन्तु वेदत्व एक अखण्ड उपाधि है जैसे भेदमें भेदत्व । क्योंकि वेदत्व के जाति होने पर जो दोष अभी दिया गया है वही इसमें भी पड़ता है अर्थात् अखण्ड उपाधि भी एकही एक व्यक्ति में समाप्त होता है । तथा यदि यह कहा जाय कि वेदत्व एक सखण्ड धर्म है, जैसे दूतत्व अर्थात् दूतका लक्षण 'समाचार पहुंचाना' है इसीको दूतत्व कहते हैं वह सखण्ड है क्योंकि उसके दो खण्ड हैं एक समाचार, दूसरा पहुंचाना । वैसा ही 'वेदत्व भी सखण्ड धर्म है' यह पक्ष भी निर्दोष नहीं है क्योंकि सखण्ड धर्म ही को लक्षण कहतेहैं, जो यहांतक भी सिद्ध नहीं हो सका यदि वह वेदत्व ही है तो कहना पड़ेगा कि उसके कौन २ से खण्ड हैं जिससे वह सखण्ड है, और उसके खण्ड यहां तक भी उक्त रीति से कहे नहीं जासके । इसलिये वेद का लक्षण कोई भी नहीं सिद्ध हुआ ।

उ०—" शब्द और शब्दमूलक (अर्थापत्ति आदि) प्रमाण ही के द्वारा जिसका अर्थ वा कोई अर्थांश ज्ञात हो तथा जिसके पठन से पारलौकिक सुख उत्पन्न हो, एवं जो जीवों से बनाहुआ न हो वह प्रमाणरूप शब्द वेद है " । भारत वैद्यकशास्त्र आदि के जिन भागों के अर्थ प्रत्यक्ष से ज्ञात होते हैं वे भाग वेद नहीं हैं और मन्त्रों के टुकड़े भी वेद नहीं हैं क्योंकि केवल टुकड़ेमात्र के पढ़ने से पारलौकिकसुख नहीं उत्पन्न होता । असंभववाले झूठे वाक्य, प्रमाण न होने से वेद नहीं हैं मन्वादिस्मृति और भारतादि के अदृष्टार्थक भाग भी वेद नहीं हैं क्योंकि वे जीवों से बनाये गये हैं, इसी से नैयायिक और मीमांसक दोनों के मत में यह वेदका लक्षण ठीक हुआ । क्योंकि नैयायिक, वेदको ईश्वर का निर्मित मानते हैं, और मीमांसक,वेदको अनादि मानते हैं, इसीलिये दोनों मतमें वेद जीवों का बनाया नहीं है । यह तो नहीं कह सकते कि जिन वेदभागों के अर्थ प्रत्यक्ष से ज्ञात होते हैं

लक्ष्यतया कथं तत्र लक्षणसमन्वय इति वाच्यम् अत्रार्थपदस्य मुख्यतात्पर्यविषयपरत्वात् । मीमांसकनये ह्यर्थवादानां प्रशस्तत्वादिलाक्षणिकतया विध्येकवाक्यत्वाद्विध्यर्थ एव मुख्यतात्पर्यविषयः । न्यायनयेऽपि "कृत्स्न एव हि वेदोऽयं परमेश्वरगोचरः । स्वार्थद्वारैव तात्पर्यं तस्य स्वर्गादिवद्विधौ" इत्याचार्योक्तरीत्या विध्यर्थ एव तेषां मुख्यं तात्पर्यं पर्यवस्यति अत एव सत्यन्ते ऽनतिरिक्तेति । तथाच तेषां दृष्टार्थकत्वेऽपि प्रशस्तत्वादिरूपतादृशलक्षितलक्ष्यार्थकत्वादेव नाव्याप्तिः । प्रमित्यविषयार्थकत्वमात्रोक्तावसंभव इति जन्यान्तं प्रमितिविशेषणम् । शब्दोपजीव्यातिरिक्तेन प्रमाणेन वेदात्मकशब्देन वेदार्थस्य प्रमापणात् शब्दातिरिक्तत्वस्य प्रमाणविशेषणतया निवेशः । मन्त्रावयवभूतवाक्ये ऽतिव्याप्तिवारणाय द्वितीयसत्यन्तम् । एवं स्तोभेऽतिव्याप्तिः तस्य निरर्थकतया प्रथमसत्यन्तदलस्यापि तत्र सत्त्वात् मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदत्वमित्यभियुक्तस्मरणेन तस्यालक्ष्यत्वाच्चालो विशेष्यदलम् स्तोभस्य निरर्थकतया न प्रमाणशब्दत्वमिति न दोषः तस्य वेदत्वाभावे ऽप्यध्ययननिषेधो वाचनिक एव शूद्रादीनाम् । अध्ययनस्य शब्दतदर्थोभयविषयस्यापि सम्भवात् 'प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः' इत्यादिवेदप्रतिपाद्येषु मनःप्रभृतिषु प्रमाणेषु द्वितीयसत्यन्तेनाप्यव्यावर्त्येष्वतिप्रसङ्गनिरासाय चरमशब्दत्वोपादानम् । मन्वादिस्मृतिभारताद्यदृष्टार्थकभागेष्वतिव्याप्तिवारणायाजन्य इत्यन्तम् । तदुक्तौ तु नातिव्याप्तिः । वेदादर्थं प्रतीत्यैव स्मृत्यादेः प्रणयनात् तार्किकमतसाधारण्याय ज्ञाने जन्यत्वनिवेशः ईश्वरज्ञानस्य तार्किकमते नित्यत्वादिति दिक् । इतिवेदलक्षणम् ।

बुद्धाद्यागमानां न धर्मे प्रामाण्यम् ।

बुद्धाद्यागमानां तु न वेदत्वम्, नवा धर्मे प्रामाण्यम् भ्रान्तेः पुरुषधर्मतया तेषां निजनिदानानुगामिदूषणगणग्रासशङ्कापङ्ककलङ्कितत्वात् ।

॥ भाषा ॥

अब वे वेद न कहलावेंगे, क्योंकि उनके शब्दार्थ चाहो प्रत्यक्ष से भी ज्ञात हों परन्तु मीमांसक के सिद्धान्तानुसार उनका मुख्य तात्पर्य उन अर्थों में नहीं है किन्तु विधिवाक्यों ही के अर्थों में है जोकि विधिवाक्य के बिना, प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात होते । वेद के उक्त लक्षण में भी अर्थ शब्द से मुख्यतात्पर्यार्थ ही का ग्रहण है, न कि अक्षरार्थ का । "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" इत्यादि वेदवाक्यों के अर्थज्ञानपर्यन्त अध्ययन से धर्म उत्पन्न होता है और वैशेषिक मत में मन आदि के नित्य मानने से वे जीवों के ज्ञान से नहीं बने हैं, इससे मन आदि प्रमाण भी वेद कहलायेंगे । इस दोष के निवारणार्थ अन्तमें 'शब्द' पद है । यहां तक वेद का लक्षण समाप्त हुआ ।

बुद्धदेव आदि के निर्मित आगम (शास्त्र) तो, न वेद हैं और न वे धर्म में प्रमाण हैं क्योंकि बुद्ध आदि के शरीरी होने से उनको भ्रम होनेका संभव है । और भगवद्गीतादिकों की तो स्वतः प्रमाणता नहीं है किन्तु वे स्मृति होने से वेदमूलक होकर प्रमाण हैं, वेदरूप होकर नहीं । जैमिनि महर्षि ने भी मीमांसादर्शन अध्याय १ पाद १ सूत्र ४ से बुद्धादिशास्त्रों के, धर्ममें प्रमाण होने का इस प्रकार खण्डन किया है कि वर्तमान पदार्थ में अपना सम्बन्ध होने से प्रत्यक्षज्ञान उत्पन्न करनेवाले इन्द्रियगण, धर्म का ज्ञान नहीं करा सकते, क्योंकि धर्म, ज्ञान के समय में नहीं

किञ्च—जैमिनिमीमांसादर्शनस्य १ अध्याये १ पादे ।

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्ष
मनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात् ॥ सू० ४ ॥ इति ॥

चोदनैव लक्षणमिति चोदनासूत्रमूलकाद्यनियमोपपादकं सूत्रम् ॥

अस्यायमर्थः । पुरुषस्येन्द्रियाणां सति विद्यमाने विषये संप्रयोगे संयोगे सति, यत्, बुद्धेः ज्ञानस्य जन्म, जातं ज्ञानमिति यावत् ईदृशं यत्प्रत्यक्षम् तत् धर्मज्ञाने अनिमित्तम् नोत्पादकम्, प्रत्यक्षप्रमासाधनानीन्द्रियाणि धर्मप्रमां न साधयन्तीति फलितम् । विद्यमानस्य वर्तमानस्यैव वस्तुनः इन्द्रियैरुपलम्भात् ज्ञानकाले चासत्त्वेन धर्मस्येन्द्रियायोग्यत्वादिति । एवं चेन्द्रियाणां धर्मे प्रमाणत्वस्य निराकरणेन तन्मूलकानामनुमानादीनामपि तत् (प्रामाण्यम्) निराकृतम् । तथाच शाबरे "प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकरणत्वम्" इति, एतेन च प्रत्यक्षादिमूलकानां बुद्धाद्यागमानामतीन्द्रिये धर्मे प्रामाण्यम्प्रत्याख्यातम् । प्रपञ्चितश्चैतद्भाट्टे श्लोकवार्तिके ।

अपभ्रंशमयास्तु परिमितशब्दसदर्था लौकिकस्थूलार्थानुवादिनो यवनाद्यागमाः सुतरां वेदाभासाएव । ईश्वरस्येव वेदस्य सर्वान्प्राणिनः प्रत्यविशिष्टतायाः सर्वास्तिकसंप्रतिपन्नत्वेन वेदस्यैकदेशीयभाषामयत्वे वैषम्यापत्तेर्दुर्वारत्वात् । किञ्च इयं खल्वनादिपरंपरासमायातोपाख्यायिका । तथाहि । पुरा किल कदा कदाचित्कांस्कांश्चित्कारणविशेषानाश्रित्य देशान्तरेषु गतैः, एभ्य एव ब्राह्मणादिवर्णेभ्योवहिर्भूतैः, तत्र २ पुत्रपौत्रीणां वसतिमनुभूतवद्भिः, समयवहिमप्रमहिम्नाचोपचितचरैः, तदा तदाच हेतुविशेषवशेनार्यदेशानागत्यागत्य ब्राह्मणादिवेशच्छद्मनाऽन्यथा वा केभ्यश्चिदिहत्येभ्यः पण्डितेभ्यो लोभादीन् प्रदाय तत्र तत्र वेद-

॥ भाषा ॥

रहता किन्तु ज्ञानपूर्वक कर्म करने से उत्पन्न होता है, और जब प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्मज्ञान नहीं हो सकता तो अनुमानादि प्रमाणों से धर्मज्ञान होने की चर्चा ही क्या है, क्योंकि अनुमानादि प्रमाण प्रत्यक्षमूलक ही होते हैं । इसलिये प्रत्यक्षादिप्रमाणमूलक बुद्धादि शास्त्रों का धर्ममें प्रमाण होना अत्यन्त असम्भव है । इस विषय में शावर भाष्य और भट्टश्लोकवार्तिक में बड़ा विचार किया गया है उसका लिखना यहां विस्तार का कारण होगा इसलिये वह नहीं लिखा जाता है ।

अपभ्रंश (अरबीआदि) भाषाओं में बने हुए छोटे मोटे और लोकप्रसिद्ध बातों को कहनेवाले कुरान आदि तो स्पष्टरूप से वेदाभास (वेद के अनुकरण करने वाले) हैं इससे वे कदापि वेद नहीं कहला सकते । क्योंकि—

(१) यह ईश्वरवादियों को निर्विवाद स्वीकृत है कि ईश्वर के नाई वेद भी सब मनुष्यों के लिये समान है, तो यदि किसी एक देश की भाषा में वेद हो तो वह उस देश के मनुष्यों का पक्षपाती होने से सब मनुष्यों के लिये समान नहीं हो सकता ।

(२) वृद्धपरम्परा से यह बात सुनी और देखी भी जाती है कि बहुत पहिले किसी २ कारण से कभी २ इन्हीं ब्राह्मणादि वर्णों से निकलकर बहुत से मनुष्य देशान्तर को चले गये

शास्त्रार्थलेशान् कथंकथञ्चिदधिगतवद्भिः, परममाननीयनिगमार्थकामनीयकमननमाननीय-मानातिलालसावासितमानसैः, यवनादिभिः स्वस्वाचारानुसारेण स्वस्वदेशे स्वस्वदेशभाषामया ग्रन्था निरमायिषतेति । अस्यांशाद्योऽशो मनुनैव सत्यापितः । तथाच वर्णान् सङ्कर जातीश्च प्रतिपदोक्तमभिधायाभिहितम् ।

मानवे १० अध्याय ।

शनकैस्तु क्रियालोपा दिमाः क्षत्रियजातयः । वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ ४३ ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्द्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः । पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाःखशाः ४४।
मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः । म्लेच्छवाचश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः ॥४५॥ इति

॥ अत्रकुल्लूकः ॥

इमाः वक्ष्यमारणाः क्षत्रियजातयः उपनयनादिक्रियालोपेन ब्राह्मणानाञ्च याजनाध्यापनमायश्चित्ताद्यर्थं दर्शनाभावेन शनैर्लोके शूद्रतां प्राप्ताः ॥ ४३ ॥ पौण्ड्रादिदेशोद्भवाः क्षत्रियाः सन्तः क्रियालोपादिना शूद्रत्वमापन्नाः ॥ ४४ ॥ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां क्रियालोपादिना या जातयो बाह्या जाता म्लेच्छभाषायुक्ता आर्यभाषोपेता वा ते दस्यवः सर्वे स्मृताः ॥ ४५ ॥ इति ॥

एवमान्तरालिको दुरध्यापनांशोऽपि 'अद्यापि कस्कश्चित्पण्डितो लोभादिनाऽनधिकारिणोऽध्यापयति' इति सम्प्रति शास्त्रचुम्बकयवनाद्युपलब्धिमूलकतर्कसहायानुमानप्रमाणितया किंवदन्त्या सत्याप्यते, अन्तिमो ग्रन्थसादित्वांशस्तु एकदेशीयभाषामयत्वादेव सिद्धः । एवञ्चेश्वरस्येव वेदस्य सर्वसाधारण्यात् कस्याश्चिदपि देशभाषायाः सर्वसाधारण्यासम्भवाद्वेदस्य यत्किञ्चिद्देशीयमातृभाषामयत्वे तद्देशीयान् प्रत्यसाधारणत्वप्रसङ्गस्य

॥ भाषा ॥

और वहां उनकी वंशपरंपरा, कालक्रमसे बहुत बढ़ गई और उनमें से कोई २ मनुष्य किसी २ कारणवश इस आर्य देश में आ आकर ब्राह्मणादि के वेष से तथा अन्य उपाय से भी अर्थात् यहां के किसी २ पण्डित को लोभ देकर किसी २ स्थान में किसी उद्योग से शास्त्रों के लेशमात्र को ले भागे । अनन्तर परममाननीय वेदार्थ की मनोहरता के विचार से ललचाते २ अपने २ देश के व्यवहारानुसार अपनी २ देशभाषा में यवनादि, नये २ ग्रन्थों को बना बैठे ।

इसी से वर्ण और सङ्कर जातियों को, नाम २ से कह कर अ० १० श्लो० ४३ से ४५ तकमें मनु ने कहा है, कि जिन क्षत्रियजातियों के नाम अगाड़ी लिये जायंगे वे उपनयनादि संस्कारों के लोप और ब्राह्मणों के सहवास छूटनेसे धर्मच्युत होकर सर्वदा के लिये आर्यजाति से बाहिष्कृत होगये । पौण्ड्रक, चौड, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश, की उनमें गणना है । तथा यह भी कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, (और शूद्र का सधर्मा सङ्कर जाति) जातियों से बाहिर्भूत होकर जितनी जातियां प्रसिद्ध हैं वे सब चाहो म्लेच्छ-भाषा बोलने वाली वा आर्यभाषा बोलने वाली हों परन्तु दस्यु (आर्य से अन्य) कहलाती हैं ।

पूर्वोक्त कहावत में जो यवनादिकों के अध्ययन के छल का अंश है वह इससे सत्य होता है कि इस समय भी यह किंवदन्ती है कि कोई २ लुब्धपण्डित अब भी यवनादि अनधिका-

दुरुद्धरत्वात्पृथक्पृथक् तत्तद्देशीयमातृभाषामयत्वे च ग्रन्थगौरवेणैव सङ्ख्यागौरवेणाप्याक्रमणप्रसङ्गात्सादित्वेनापौरुषेयत्वप्रसङ्गाच्च सकलाभ्यो मातृभाषाभ्यो विलक्षणयैव भाषया घटित ऋग्वेदादिरेव वेद इति नात्र विवादावसरः। नचार्यावर्तीयानां ब्राह्मणानामपि संस्कृता वाणी मातृभाषा कदाप्यासीत्किमुताऽन्येषाम्। तथाच—

वाल्मीकीयरामायणे सुन्दरकाण्डे ३० सर्गे हनुमद्वाक्यम्

अवश्यमेव वक्तव्यं मानुषं वाक्यमर्थवत्। मया सान्त्वयितुं शक्या नान्यथेयमनिन्दिता ॥१९॥ इति

नचात्र मानुषं वाक्यं संस्कृतावागेवेति वक्तुं शक्यम्। तत्रैव—

यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्। रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति।१८

इत्यनेन संस्कृतायाः पूर्वमेव निराकरणात्। नचेह द्विजातिरिवेत्यतः संस्कृताया वाचो द्विजातिमातृभाषात्वमायातीति शङ्कनीयम् तथासति द्विजातीनामपि मनुष्यत्वेन संस्कृताया अपि वाचो मानुषवाक्यतयाऽवश्यमेवेत्यादिना तद्विधाने पूर्वापरविरोधस्य दुरुद्धरत्वापत्तेः। मातृभाषात्वे देशनिबन्धनताया एव दृष्टत्वेन जातिनिबन्धनताया अदृष्टायाःकल्पने मानाभावाच्च। दृश्यत एव हि जातिसाम्येऽपि देशभेदप्रयुक्तो भाषाभेदः। जातिवैषम्येऽपिच देशैक्यप्रयुक्तं भाषैक्यम् तावता च संस्कृतायां वाचि द्विजातिमातृभाषात्वं को नाम सचेताः शङ्कितुमपिक्षमेत। द्विजातिरिवेति तु द्विजातीनां शब्दशास्त्राभ्यासभू-

॥ भाषा ॥

रियों को प्रच्छन्नरूप से वेदादि प्रधान विद्याओं को भी पढाते हैं और इस किंवदन्ती को यह अनुमान सत्य करता है कि यदि ऐसा न होता तो सर्वथा अनधिकारी लोग जो कुछ पढ़े गुने हैं वे क्या मा के पेट से पढ़ आये ?। और कुरान आदि के आधुनिक होने में तो उनका एकदेशीय भाषा में होना ही प्रबल साधन है। इस रीति से यदि किसी देशकी भाषा में वेद होता तो वह उस देश के मनुष्यों का पक्षपाती हो जाता। और यदि पृथक् २ सब देशभाषाओं में वेद होता तो ग्रन्थ और संख्या का भी गौरव होजाता, तथा अनादि भी न कहलाता। तस्मात् सब मातृभाषाओं से विलक्षणभाषारूप यह प्रसिद्ध ऋग्वेदादि ही वेद है इस विषय में विवाद करने का कोई अवसर नहीं है। और संस्कृत वाणी तो इस भारतवर्ष के मनुष्यों की किसी समय में मातृभाषा नहीं थी, इसी से वाल्मीकीय रामायण सुन्दरकाण्ड ३० सर्ग १९ श्लोक में श्रीहनुमान् जी ने कहा है कि मुझको सार्थक मनुष्यवाक्य (देशभाषा) अवश्य बोलना चाहिये क्योंकि अन्यभाषा से यह अनिन्दिता सीता समझाने के योग्य नहीं हैं। यहां यह नहीं कह सकते कि 'मानुष वाक्य' शब्द का संस्कृतवाणी अर्थ है क्योंकि उसी के प्रथम १८ वें श्लोक में कहा है कि यदि द्विजाति के नाईं संस्कृत वाणी बोलूंगा तो मुझे मायारूपी रावण समझ कर सीता डर जायंगी।

(प्रश्न–) अठारहें श्लोक से तो यह निकलता है कि संस्कृत वाणी द्विजातियों की मातृभाषा थी, क्योंकि इसमें स्पष्ट कहा है कि "द्विजाति के नाईं संस्कृतवाणी यदि बोलूंगा"

(उत्तर १–) ऐसा यदि माना जाय तो इस श्लोक से संस्कृतवाणी के निषेध का और १९ वें श्लोक से सार्थक मनुष्यवाक्य के विधान का परस्पर विरोध हो जायगा, क्योंकि द्विजाति भी तो मानुष ही हैं और उनकी संस्कृतवाणी भी मानुषवाक्य ही हुई। तब एक ही पदार्थ का निषेध तथा विधान कैसे हो सकता है ?।

मस्त्वाभिप्रायेणाप्युपपद्यमानं कथमिव संस्कृतायां वाचि प्रमाणविरुद्धं द्विजातिमातृभाषात्वमाक्षेप्तुं शक्नुयात्। अतएव श्रीहर्षमिश्राः नैषधे १० सर्गे—

अन्योन्यभाषाऽनवबोधभीतेः संस्कृत्रिमाभिर्व्यवहारवत्सु ।
दिग्भ्यः समेतेषु नरेषु वाग्भिः सौवर्गवर्गो न नरैरचिन्हि ॥ ३४ ॥

इत्यूचुः। तथाच संस्कृता वाङ् न मानुषमातृभाषेति सुस्थम्।

अथ वेदस्यापक्षपातित्वम्।

नचैवमपि संस्कृतावाग् देवानां मातृभाषैवे त्यत्र न कश्चन विवादः। अतएवात्र "सौवर्गवर्गो न नरैरचिन्हि" इति श्रीहर्षमिश्रैरप्युक्तम्। एवञ्च ऋग्वेदादेः संस्कृतवाङ्मयत्वेऽपि पूर्वोक्तवैषम्यप्रसङ्गोदुर्वार एवेति वाच्यम्। संस्कारयोर्भेदात्, प्राधान्याप्राधान्यभेदाच्चेत्यस्मत्प्रपितामहश्रीनारायणदत्तपितृव्य श्रीसुखलालदत्तचरणैरेव समाहितत्वात्। तथाहि द्विविधो हि संस्कारः शब्दानाम्, लौकिको वैदिकश्च तत्राद्योलोकवेदोभयसाधारणः। लोक इत्यनधिकृत्यैव शब्दशास्त्रे विहितत्वात्। एवं लौकिकः संस्कारःप्रायो लक्षणानुसार्येव, वैदिकस्तु लक्ष्यानुसार्येवेति तत्र लक्ष्यमेव प्रधानं नतु संस्कारः। यथाहुः शाब्दिकाः "छन्दासि दृष्टानुविधिः" इति। किञ्च वैदिका मन्त्रशब्दाः स्वरच्छन्दोभ्यां नियन्त्रिताः, लौकिकास्तु संस्कृता अपि शब्दा न तथा अपभ्रंशवत्। अपिच वैदिकीनां वाचां स्वरूपाण्यर्थाश्च निरुक्तप्रातिशाख्याभ्यां तत्र २ नियम्यमानान्यनुभूयन्ते लौकिकीनांतु तानि न क्वापि तथेत्यपरोऽपि विशेषोदुरपह्नवः। अर्थैकत्वाधिकरणं तु साम्यभूयस्त्वमात्राभिप्रायकम्। यूपाहवनीयादिशब्देषु

॥ भाषा ॥

(२) किसी वाणी के मातृभाषा होने में देश ही कारण होता है, प्रसिद्ध है कि अन्यान्य देशों के एकजातीय मनुष्यों की भी मातृभाषा अन्यान्य हीं होती हैं। और एक देश के भिन्नजातीय मनुष्यों की भी मातृभाषा एक ही होती है। तो द्विजाति होने से, संस्कृतवाणी किसी की मातृभाषा नहीं हो सकती। इसी से इस श्लोक का यह अभिप्राय नहीं है कि 'संस्कृतवाणी द्विजातियों की मातृभाषा थी' किन्तु यही अभिप्राव है कि 'द्विजाति, प्रायः संस्कृतवाणी का विशेष अभ्यास करते हैं। इस विषय में पण्डित श्रीहर्ष मिश्र की भी संमति है, क्योंकि उन्होंने नैषधकाव्य सर्ग १० श्लोक ३४ में यह कहा है कि "दमयन्ती के स्वयंबरसमाज में सब अनेक देशों से आये हुए राजगण परस्पर देशभाषा के न समझने के कारण संस्कृत वाणी ही से व्यवहार करते थे इसीसे उस समाज में आये हुए इन्द्रादि, देवभाषा के द्वारा नहीं पहचाने गये।

अब यह सिद्ध हो गया कि मनुष्यों की मातृभाषा संस्कृतवाणी नहीं है।

बेदका अपक्षपातित्व।

प्रश्न—अबतो सब रीति से यह सिद्ध हो गया कि संस्कृतवाणी देवताओं की मातृभाषा है, तब ऋग्वेद आदि सहज ही में देवताओं के पक्षपाती हो गये, क्यों कि ये भी तो संस्कृतवाणी में हैं। इस से ऋग्वेद आदि भी जब पक्षपाती हैं तब कुरान आदि के नाईं कैसे बेद कहला सकते हैं ?

उत्तर—बेदवाणी संस्कृतभाषा से विलक्षण है क्योंकि—

(१) बैदिक शब्दों के साधुत्व के लिये व्याकरण में बैदिक प्रकरण पृथक् है। यह दूसरी बात है कि लौकिक शब्द भी बेदों में बहुत हैं।

तद्वैदिकलौकिकैः शब्दैरर्थैश्च सहमुख्यैकत्वासम्भवादिति । अत्राधिकन्तु परिखापरिष्कारे स्मृतिप्रामाण्यप्रकरणे उद्धरिष्यमाणेन 'नासन्नियमात् (मी. द. अ. १ पा. ३ सू. १२) इति सूत्रवार्तिकेन विवेचनीयम् एवञ्च लौकिकसंस्कारमात्रयुक्ता वाग्भवतु नाम मातृभाषा दिविषदां नैतावता वेदवाचांतन्मातृभाषात्वं शक्यशङ्कमिति न तासु कथमप्युक्तवैषम्यापादनावकाशः । वेदाक्षरोच्चारणश्रवणयोरेवासाधारणतत्तदर्थानुष्ठानेष्वेव च शुद्धद्विजातिपुरुषाधिकारनियमो नतु तत्तदर्थज्ञाने, नवा साधारणतत्तदर्थानुष्ठाने । किं बहुना यज्ञविशेषेषु सङ्करजातीयानामेवाधिकारो दृश्यते । तथाच पूर्वमीमांसादर्शने अधिकारलक्षणस्य १ पादे १२ अधिकरणे ।

वचनाद्रथकारस्याधाने सर्वशेषत्वात् ॥ ४४ ॥

॥ भाषा ॥

(२) वेद में बहुत से शब्द ऐसे भी होते हैं जिन के साधुत्व के लिये उन्हीं के अनुसार व्याकरणसूत्रों की व्याख्या कर ली जाती है । लौकिक संस्कृत शब्द तो सूत्र ही के अनुसार शुद्ध होते हैं, न कि उनके अनुसार सूत्र की व्याख्या की जाती है ।

(३) वेद में मन्त्रभाग के शब्द, उदात्त, अनुदात्तादि स्वर, और गायत्री, त्रिष्टुप् आदि छन्दों से ग्रथित रहते हैं और लौकिक संस्कृत शब्द तो अपभ्रंश शब्द के नाई उन स्वरों और उन छन्दों से नियमित नहीं होते । इसीसे पिङ्गलाचार्य ने लौकिक छन्दों से पृथक् वैदिक छन्दों की गणना की है।

(४) वैदिक शब्दों के स्वरूप और अर्थ निरुक्त, और प्रातिशाख्यों से नियत होते हैं संस्कृत शब्द वैसे नहीं होते ।

इससे यह सिद्ध हो गया कि लौकिक संस्कृतवाणी ही देवताओं की मातृभाषा है और यदि केवल उसी भाषा में ऋग्वेदादि होते तो पक्षपात का आक्षेप उन पर होता, परन्तु ऋग्वेदादि की वाणी एक ऐसी विलक्षण भाषा है जो देवताओं की भी मातृ भाषा नहीं है। ❀ ये उत्तर मेरे प्रपितामह नारायणदत्त के पितृव्य पण्डित सुखलालदत्त द्विवेदी के हैं ❀। इस विषय में अधिक देखना हो तो आगे 'परिखापरिष्कार' प्रकरण के स्मृतिप्रामाण्यविचार में 'नासन्नियमात' (पू. मी. द. अ. १ पा. ३ सू. १२) के उद्धृत वार्तिक में देखना चाहिये । तो ऐसी दशा में ऋग्वेदादिक कदापि पक्षपाती नहीं हो सकते किन्तु वेद ही हैं । केवल वेदके उच्चारण तथा श्रवण और अग्निहोत्रादिरूप असाधारण यज्ञमात्र में, त्रैवर्णिकों के अधिकार का नियम है और उनमें भी जो त्रैवर्णिक पुरुष पतित वा आशौचग्रस्त हो उसको उक्त कार्यों में अधिकार नहीं है, और पुराणद्वारा वेदों के अर्थज्ञान तथा शम, दम, दया, सत्य आदि वेदोक्त साधारण धर्मों में मनुष्यमात्र का अधिकार है इससे यह सिद्ध है कि वेद, किसी जाति वा व्यक्ति का पक्षपाती नहीं है। अधिक क्या कहना है, अनेक वेदोक्त यज्ञों में त्रैवर्णिकों को कौन कहे, केवल वर्णसङ्करों ही का अधिकार है । इसमें प्रमाण मीमांसादर्शन ६ अध्याय १ पाद १२ अधिकरण ४४ । और ५० । सूत्र हैं । उनमें स्पष्ट यह निर्णय किया है कि जैसे ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक, अग्न्याधानके अधिकारी हैं वैसे रथकार भी। क्योंकि वेदमें यह वाक्य है "वर्षासु रथकारो अग्निमादधीत" इसमें रथकार शब्द से, जिसकी रथकार संज्ञा है उस वर्णसङ्कर जाति का ग्रहण है, न कि जो ही रथबनावे उसी त्रैवार्णिक का, क्योंकि रथकार यह संज्ञाशब्द है,

इति सूत्रेण, आधानस्य वसन्तादिवाक्येन विहिताधानस्य सर्वशेषत्वात् त्रैवर्णिकाङ्गत्वात् वचनात् "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्य," इति विधाय श्रुतात् "वर्षासुरथकार आदधीत" इति वाक्यात् रथकारस्य सङ्करजातीयस्याधाने अधिकार इति सिद्धान्तयित्वा।

सौधन्वनास्तु हीनत्वान्मन्त्रवर्णात्प्रतीयेरन् ॥ ५० ॥

इति सूत्रेण रथकारः सङ्करजातीयो निर्णीतः। अस्यार्थस्तु त्रैवर्णिकात् हीनाः सौधन्वना जातिविशेषा अत्राधिकारिणः। सौधन्वना ऋभवः सूरचक्षस इति, ऋभूणां त्वा देवानां व्रतपते व्रतेनादधामीति रथकारस्येतिच मन्त्रलिङ्गात्। अधिकृताः प्रतीयेरन् प्रत्येतव्याः "क्षत्रियाद्वैश्यकन्यायां माहिष्यो नाम जायते" इत्युक्तलक्षणान्माहिष्यात्. "शूद्रायां करणो वैश्यात्" इत्युक्तलक्षणायां करण्यां जातो रथकारः सङ्करजातिः। "माहिष्येण करण्यां तु रथकारः प्रजायते" इतिस्मृतेः। स एव च सौधन्वन इति।

एवं तत्रैव १३ अधिकरणं।

स्थपतिर्निषादः स्याच्छब्दसामर्थ्यात्। इति, सू० ५१ ॥

॥ अत्र शास्त्रदीपिकायां पार्थसारथिमिश्राः ॥

"ऐन्द्रं वास्तुमयं चरुंनिर्वपेत्" इति प्रकृत्यश्रूयते "एतया निषादस्थपतिंयाजयेत्" इति। तत्र संशयः किं द्विजातिरेव यो निषादाधिपत्यं करोति तस्यात्राधिकारः षष्ठीसमास एवायम्, उत निषाद एव स्थपतिः तस्य। कर्मधारय एवायमिति। तत्र।

पक्षद्वयेऽपि शब्दोयं योगादेव प्रवर्तते। तत्र षष्ठीसमासत्वे विदुषःस्यादधिक्रिया ॥ १ ॥
आहिताग्नेश्च यदितु कर्मधारय इष्यते। अनाहिताग्नेरज्ञस्य प्रसज्येताधिकारिता ॥ २ ॥
तेन षष्ठीसमासोऽयमिति प्राप्तेऽभिधीयते। निषादपदमेवं तु स्थपतौ लक्षणां व्रजेत् ॥ ३ ॥
न हि षष्ठी श्रुता येन तत्सम्बन्धी विधिर्भवेत्। निषादपदमेवातः षष्ठ्यर्थं लक्षयेदिदम् ॥ ४ ॥
कर्मधारयपक्षे तु न काचिदपि लक्षणा। निषाद एव स्थपति रतःश्रुत्या प्रतीयते ॥ ५ ॥
तेन श्रुतिवलादज्ञो ऽनाहिताग्निश्च सन्नपि। निषाद एव स्थपतिः कर्मण्यत्राधिकारभाक्॥६॥ इति

॥ भाषा ॥

और संज्ञा शब्दों में एक २ पदों का अर्थ नहीं लगाया जाता, जैसे व्याघ्र शब्द का यह अर्थ नहीं होता कि (वि) विशेष (आ) सबओर से (घ्र) सूंघनेवाला, किन्तु व्याघ्र शब्द जिसकी संज्ञा (नाम) है वही जंगली पशु व्याघ्र शब्द का अर्थ है और प्रकृत में क्षत्रिय से, विवाहिता वैश्य-कन्या में उत्पन्न अपत्य को माहिष्य कहते हैं, तथा वैश्य से, विवाहिता शूद्रकन्या में उत्पन्न अपत्य को करण कहतेहैं, और माहिष्य पुरुष से करणजातीय कन्या में उत्पन्न अपत्य का रथकार संज्ञा है। तथा यह भी प्रमाण है कि उसी पाद के १३ आधिकरण ५१ सूत्र से यह निर्णय किया गया है कि "वास्तुमयचरु" नामक यज्ञ में निषादनामक वर्णसङ्कर ही का अधिकार है क्योंकि यह वेदवाक्य है कि "ऐन्द्रंवास्तुमयं चरुं निर्वपेत्" "एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इस वाक्य में निषादस्थपति शब्द से निषाद (केवट) का स्थपति (स्वामी) त्रैवर्णिक का ग्रहण नहीं है किन्तु निषाद जो स्थपति (अधिपति) है उसका ग्रहण होता है, क्योंकि प्रथम अर्थ मानने में 'निषाद' शब्द का मुख्य अर्थ अर्थात् निषाद को छोड़कर निषादका संबन्धी अर्थ करना पड़ेगा यह लक्षणरूपी गौरव है। इससे दूसरे ही अर्थ का ग्रहण होता है। यद्यपि निषाद वर्णसंकर है इससे उसको

शावरमपि ।

स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्, निषाद एव स्थपति भवितुमर्हति कस्मात् शब्दसामर्थ्यात् निषादं हि निषादशब्दः शक्नोति वदितुम् श्रवणेनै व निषादानान्तु स्थपतिं लक्षणया ब्रूयात् । श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुति र्न्याय्या न लक्षणा । अथ उच्यते नैष दोषः निषादशब्दो निषादवचन एव, षष्ठी सम्बन्धस्य वाचिका इति । तन्न षष्ठ्यश्रवणात्, न अत्र षष्ठीं शृणुमः । आह लोपसामर्थ्यात् षष्ठ्यर्थोऽवगम्यते इति । सत्यमवगम्यते ननु लोपेन । केनतर्हि । निषादशब्दलक्षणया, तस्याश्च दौर्बल्यम् इत्युक्तम् । समानाधिकरण समासस्तु, बलीयान् । तत्र हि स्वार्थे शब्दौ वृत्तौ भवतः । द्वितीया च विभक्तिः तन्त्रेण उभाभ्यां सम्बध्यते तेन द्वितीयानिर्दिष्टो निषादो गम्यते । तत्र षष्ठ्यर्थं कल्पयन् अश्रुतं गृह्णीयात् । तस्मात् निषाद एव स्थपतिः स्यात् ॥ इति ॥

एवं वेदाध्ययनश्रवणसामान्यानधिकारिणीनामपि स्त्रीणां पत्या सह यज्ञेष्वधिकारोनिरूपितः—

तत्रैव तृतीये अधिकरणे ।

जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात् ॥८॥

इति सूत्रेण, अविशेषात् स्वर्गकामरूपोद्देश्यविशेषणस्य पुंस्त्वस्य ग्रहैकत्ववदविवक्षणात् । जातिम् ब्राह्मणत्वादिकम् अधिकारितावच्छेदकतया बादरायणो मन्यते तस्मात् जात्यर्थस्य स्त्रीपुंसयोरुभयोः अविशेषत्वात् स्त्र्यप्यधिकारिणी प्रत्येतव्येत्यर्थकेन, । तथा

तत्रैव ४ अधिकरणे ।

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १८ ॥

फलवत्तां च दर्शयति ॥ २१ ॥

इति सूत्रयोर्व्याख्यातृभिः "मेखलया यजमानं दीक्षयति योक्त्रेण पत्नीं मिथुनत्वाय" श्रुतस्य युक्तौ—

॥ भाषा ॥

वेद पढ़नेका अधिकार नहीं है और इसी से वह यज्ञ नहीं कर सकता तथापि इस यज्ञ में उक्त वेदवाक्य से उसको अवश्य अधिकार है और उतनेही मन्त्रों को उस यज्ञ के लिये पढ़सकता है । इसी सिद्धान्त को पूर्वमीमांसादर्शन के भाष्यकार शावरस्वामी तथा टीकाकार पार्थसारथिमिश्र आदि पण्डितों ने बड़े विचार से निश्चित किया है ।

एवं वेदके अध्ययन और श्रवण के समान्यतः अनधिकारिणी स्त्रियों को भी पति के साथ यज्ञ करने का अधिकार है, इस में भी प्रमाण उसी अध्याय के ३ अधिकरण ८ वां सूत्र और ४ अधिकरण १८ वां २१ वां सूत्र हैं, जिनमें प्रथम सूत्र का यह अर्थ है कि "स्वर्गकामो यजेत" इस वाक्यके 'स्वर्गकाम' शब्द में पुलिङ्ग की विवक्षा नहीं है किन्तु स्वर्गकामी को त्रैवर्णिक होना चाहिये और स्त्री पुरुष में कुछ विशेष नहीं है, यह मत बादरायण (व्यास) महर्षि का है । और दूसरे तीसरे सूत्र के व्याख्यान में टीकाकारों ने इन वेदवाक्यों को लिखा है । "मेखलया यजमानं दीक्षयति योक्त्रेण पत्नीं मिथुनत्वाय" अर्थ यह है कि मेखला से यजमान को, और योक्त्र (मृगचर्म की रस्सी)—

धुर्य्यावभूतां संजानानौ विजहीतामरातीः" "दिविज्योतिरजरमारभेथाम्" इत्यादीनि वेदवाक्यान्युपन्यस्तानि । अत एवेतिहासपुराणादिभ्यस्तदन्तर्निवेशितवैदिकमन्त्रेभ्यश्च स्वाध्यायनियमविनिर्मुक्तेभ्योऽर्थान् प्रतियन्तः साधारणांश्च दमदानदयादीननुतिष्ठन्तः स्त्रीशूद्रादयोऽपि न मत्सरयन्ति अपि त्वभ्युदयैरेवयुज्यन्त इतीतिहासपुराणादिप्रणय-नचारितार्थ्यं "स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनाम्" इत्यादिवचनेनानुमोदितमिति न सामान्यतो वेदाध्य-यनश्रवणयोरग्निहोत्रादिरूपतदर्थविशेषानुष्ठानेषु च द्विजादीनामेवाधिकार इत्येतावन्मात्रेण भगवत इव साक्षात्परम्परया वा सर्वेषामेव प्राणिनामुपकारिणो वेदस्य वैषम्यं शक्यापादनम्। तथाच श्रीशाण्डिल्यप्रणीतस्य भक्तिमीमांसादर्शनस्य स्वप्नेश्वरीये भाष्ये उद्धृतः श्लोकः । तानेव वैदिकान्मन्त्रान् भारतादिनिवेशितान् । स्वाध्यायनियमं हित्वा लोकबुद्ध्या प्रयुञ्जते इति।

यथा च वेदस्यार्थः स्वतन्त्रप्रमाणान्तरागम्यस्तथा तदुच्चारणाश्रवणातदर्थविशेषानु-ष्ठानानामधिकारोपि । नच श्रवणाद्यनधिकारिणां श्रवणादिभिरनुपकारे वैषम्यं संभवति । तथासति धनुर्वेदे धनुर्धारणाद्यासमर्थानां, वालादीनाम् आयुर्वेदे कटुकौषधभीरूणाम्, अपभ्रंशप्रभाषामयेषु—

॥ भाषा ॥

से उसकी स्त्री को साथ बैठने के लिये दीक्षा दे । "यज्ञस्य युक्तौ धुर्यावभूतां संजानानौ विजहीतामरातीः" अर्थ यह है कि यज्ञरूपी रथ के धुर्य घोड़ों के समान स्त्री पुरुष होते हैं और अपने शत्रुओं का नाश करते हैं, । "दिवि ज्योतिरजरमारभेथाम्" आकाश में अजर अमर प्रकाश का आरम्भ स्त्री पुरुष करते हैं इत्यादि, । इन उक्त सूत्रों और वेदवाक्यों से भी वेदका किसी जाति वा व्यक्ति का पक्षपाती न होना सिद्ध है । इसीसे इतिहास पुराण भी सफल हैं क्योंकि उनमें डाले हुए वैदिक मन्त्रों के श्रवण में सभी का अधिकार है अर्थात् कोई नियम नहीं है । स्त्री, शूद्र, आदि भी उनको पढ़ सकते हैं, और इतिहासादि से सुन और समझ कर सत्य, दया, आदि साधारण धर्मों का अनुष्ठान कर स्वर्गादि सुख के भागी होते हैं, तथा इसी अभिप्राय से पुराणादि बनाये गये हैं । शाण्डिल्यमहर्षिकृत भक्तिमीमांसादर्शन के भाष्य में भाष्य-कार स्वप्नेश्वर पण्डित ने भी १ श्लोक उद्धृत किया है, जिस का यह अर्थ है कि उन्हीं वैदिक मन्त्रों को, जब वे भारतादिक में निवेशित होगये तब वैदिक नियमों को छोड कर लौकिक वाक्य के ऐसा लोग उच्चारण करते हैं । इस रीति से जब परमेश्वर के समान निष्पक्षपात होकर वेद, सब मनुष्यों का किसी न किसी रीति से पूर्ण उपकारी है तो उसके अध्ययन, श्रवण, और अग्निहोत्रादि यज्ञों में शूद्रादिकों के अधिकार न होने मात्र से उस पर पक्षपात के कलङ्क का आरोप भी नहीं होसकता, क्योंकि जैसे वेद का अर्थ वेद ही से ज्ञात होता है नकि दूसरे किसी स्वतन्त्र प्रमाण से, वैसे ही उसके उच्चारणादि उक्त कार्य्यों में अधिकार भी वेदमात्र ही से गम्य है । और वेद अपने श्रवणादि के अनधिकारियों का श्रवणादि के द्वारा नहीं उपकार करता परन्तु इतने से पक्षपाती भी नहीं होसकता क्योंकि यदि इतने से, त्रैवर्णिक का पक्षपाती हो तो धनुर्वेद (युद्धशास्त्र) दो बरस के लड़कों का, आयुर्वेद (वैद्यक) कडुए औषध खाने में असमर्थों का, और कुरान आदि भी महामूर्ख हलवाहों का उपकार न करने से पक्षपाती हो जायंगे । अर्थात् कोई मनुष्य, वा पदार्थ, वा काम, यदि किसी अपने अनधिकारी का उपकार न कर सके—

ग्रन्थेषु हालिकानाम्, अनुपकारेण वैषम्यप्रसङ्गस्य वज्रलेपत्वापत्तेः यदि तु योग्यतासम्पा-दनानन्तरं बालादीनामप्युपकारेण धनुर्वेदादिषु वैषम्यप्रसङ्गः परिह्रियते तदा वेदार्थस्याप्युपकारित्वेतिहासपुराणादितो बोधेन स्वस्वधर्मानुष्ठानाज्जन्मान्तरे नारदादिवदुच्चारणाद्यधिकारिशरीरपरिग्रहान्मनुष्यमात्रोपकारोऽध्ययनेनापि वेदाद्भवत्येवेति कामं वैषम्यशङ्का वराकी॥ अथैवमपि सर्वेषामेव मनुष्याणां वेदोच्चारणश्रवणार्थविशेषानुष्ठानेषु समानेऽपि लौकिके सामर्थ्ये द्विजातय एवाधिकारिणो नेतरे नरा इत्यधिकारवैषम्यात्कथं न वेदे वैषम्यापत्ति-तादवस्थ्यमिति चेत्, इत्थम् कथं तावत् उक्तं लौकिकंसामर्थ्यं सर्वेषाम्? जडान्धषण्ढबधिरोन्मत्तमूकैडमूकादिषु तदभावस्य जागरूकत्वात्। अथ किमेतावता येषूक्तं सामर्थ्यं जागर्ति तेष्वपि द्विजातितदन्यजातीयत्वनिमित्तो ऽधिकारानधिकारविवेक इत्येतावानेव परिकरो वेदवैषम्यप्रसञ्जनायालन्तरामिति चेन्न।

॥ भाषा ॥

तो इससे उस पर विषम होने का आक्षेप नहीं हो सकता, क्योंकि सब पदार्थ से उपकार लाभ करने में अधिकार की आवश्यकता है। जैसे युवा ही युवती से लाभ उठा सकता है नकि अतिवृद्ध वा अति बालक। यदि यह कहा जाय कि अनुर्वेदादि पूर्वोक्त सब ग्रन्थों से सभी को लाभ होसकता है, यदि उन लोगों की योग्यता किसी दशा में होजाय, जैसे बालक, युवावस्था में धनुर्वेद से, कडुआ औषध खाने की शक्ति होने पर वही पुरुष, जो कडुआ औषध नहीं खा सकता था आयुर्वेद से, और वेही हलवाह, उन भाषाओं की छोटी २ दो चार पुस्तकों के पढ़ने पर कुरान आदि से उपकार उठा सकते हैं इसलिये आयुर्वेदादि ग्रन्थ अन्यों के पक्षपाती नहीं होसकते, तो इसी रीति से बेद भी किसी का पक्षपाती नहीं है क्योंकि इतिहास, पुराणादि के द्वारा सब मनुष्य उसके अर्थ को समझ कर अपने २ धर्म का अनुष्ठान कर सकते हैं। और जो बेद के उच्चारण वा श्रवण आदि के अधिकारी नहीं हैं, जैसे शूद्रादि वे भी सत्य, दया आदि अपने साधारण धर्मों के अनुष्ठान से जन्मान्तर में नारद आदि के नाईं अधिकारी ब्राह्मणादिरूपी शरीर पाकर बेद का उच्चारणादि भी कर सकते हैं तो बेद भी सर्वोपकारी हुआ न कि किसी का पक्षपाती।

प्रश्न—सामर्थ्य (अधिकार) दो प्रकार का होता है। एक बेदमात्र से गम्य, दूसरा लोक प्रसिद्ध। तो प्रथम सामर्थ्य की चाहै जैसी वार्ता हो परन्तु लौकिक सामर्थ्य, सब मनुष्यों में तुल्यरूप है अर्थात् वेद के उच्चारण, श्रवण, और अग्निहोत्रादि कर्मों में चाण्डाल तक सभी मनुष्यों की लौकिक शक्ति समान ही है। ऐसी दशा में अलौकिक अधिकार का बखेड़ा लगाकर शूद्रादिकों को जब उक्त कामों से वञ्चित करता है तो वेद कैसे नहीं पक्षपाती है?

उत्तर—पक्षपाती इस रीति से नहीं है, कि लौकिक सामर्थ्य भी सब को नहीं होता जैसे जड़, अन्धा, नपुंसक, बधिर, उन्मत्त (पागल) गूंगा, एडमूक, (बिहिरा गूंगा) आदि को, ऐसे ही वेदैकगम्य सामर्थ्य भी सब को नहीं होता, तो वेद किसी का कैसे पक्षपाती हो सकता है।

प्रश्न—यह अन्य वार्ता है कि लौकिक सामर्थ्य भी सब को नहीं होता किन्तु जिन को लौकिक सामर्थ्य है अर्थात् जो मनुष्य, जड़ वा अन्धा आदि नहीं हैं, उन में भी तो बेद शूद्रत्वादि अलौकिक सामर्थ्य का भेद लगा कर अपने उच्चारण आदि कामों में त्रैवर्णिकों ही का अधिकार बतलाता है, और शूद्र आदि को अनधिकारी ठहरा कर उन कामों से वञ्चित रखता है तो कहिये कैसे नहीं पक्षपाती है?।

भावानवबोधात् तथाहि कथं तावन्मनुष्यजातीयत्वे समानेऽपि कतिपय एव जडा अन्धाः षण्ढा बधिरा उन्मत्ता मूकाएडमूका वा न सर्व एवेति वक्तव्यम्, पूर्वापूर्ववैगुण्यानुगुण्यानुसारादिति चेत्तर्हि वैषम्येण पूर्वापूर्वमेव तदुत्पादयितारमात्मानमेव वोपालभस्व, । प्रकृतेऽपि च कर्मवैषम्यानुसारादेव कतिपय एव वेदाध्ययनाद्यधिकारावच्छेदक ब्राह्मणत्वादिजातिमन्तो न सर्व एवेति कथं वेदमुपालभसे । अथ ब्राह्मणादीनां साम्प्रतिके जन्मनि, शूद्रादीनां तु ब्राह्मणादिजन्मान्तरे वेदश्रवणाद्यधिकार इति वैषम्यमिति चेत् तथाप्ययमेवम्विध एव जन्मविशेषानियन्त्रितोऽधिकारः स्वतन्त्रवेदैकवेद्यो यथा मनुष्यादीनामसाधारणो लौकिको भोगाधिकारो न तिरश्चामिति कम्प्रति क आक्षेपः । तथाच वेदस्य वैषम्यमापादयता कर्मणामेव तत्कारिणां तत्तन्नराणामेव वा विषमतमं वैषम्यमपराधापरपर्यायं वेदाध्ययनाद्यनधिकाररूपसुखविशेषद्वारलोपात्मकदण्डानुरूपरूपमापादितमिति साध्वी मेधा । यथा हि दृष्टेऽधिकारे सामर्थ्यापरपर्याये स्वस्वकृतकर्मविशेषप्रयोज्यता अनधिकारे च तथाभूते, तथैवादृष्टयोरपि वेदाध्ययनाद्यधिकारानधिकारयोः प्रसिद्धिमासादयन्तीं स्वस्वकृतकर्मप्रयोज्यतां को नाम निवारयिता ॥

॥ भाषा ॥

उत्तर—पूर्वोक्त उत्तर का यह तात्पर्य है कि मनुष्य सभी जब तुल्य हैं तब क्यों कोई २ अन्धे, नपुंसक, आदि, होते हैं न कि सब। यदि कहा जाय कि पूर्वजन्म के किये हुए पापकर्मों से अन्ध, नपुंसक आदि होते हैं, और जिन के वैसे पाप कर्म नहीं होते वो अन्धादि नहीं होते हैं। तो इससे उन कर्मों वा उनके करने वालों ही पर पक्षपात का आक्षेप होना चाहिये, और वेद के विषय में भी वैसे ही पूर्व जन्म के किये हुए धर्मों के अनुसार ही से कोई श्रवण आदि के अधिकारी त्रैवर्णिक शरीरों को पाते हैं और जो वैसे पूर्वजन्म के उन धर्मों से रहित हैं वे शूद्रादि अनधिकारी शरीरों को पाते हैं तो यहां भी उन धर्मों के त्याग वा उनके त्यागनेवालों पर आक्षेप हो सकता है न कि वेद पर।

प्रश्न—जब त्रैवर्णिकों को इसी जन्म में वेद के श्रवणादि में अधिकार है और इतर मनुष्यों को धर्मानुष्ठान से अगामि जन्म में त्रैवर्णिक शरीर मिलने पर अधिकार है तब क्या वेद, त्रैवर्णिकों का पक्षपाती नहीं हुआ ?

उ०—लौकिक अधिकार में भी तो स्वाभाविक विशेष होता ही है, जैसे जिन असाधारण भोगों का अधिकार मनुष्यों को है, उन भोगों का अधिकार पशुओं को नहीं है, वैसे ही अनादि स्वतन्त्र वेद से गम्य अधिकार में भी यह विशेष, जो प्रश्नकर्ता कहता है स्वाभाविक ही है। क्योंकि यदि वेद किसी का निर्मित होता तो उक्तरीति से उस पुरुष को पक्षपाती बनाकर वेदपर भी पक्षपात का आक्षेप हो सकता, परन्तु वेद तो अनादि है उसका कहा हुआ अधिकार भी त्रैवर्णिकों का अनादि (स्वाभाविक) ही है तब पक्षपात का आक्षेप किस पर हो सकता है ?।

इस विचार से यहां तक यही निकला कि प्रश्नकर्ता वेदपर आक्षेप करते २ अपने पूर्व जन्म के कर्मोंपर वा उनके कर्तारूपी अपने ही पर आक्षेप कर चुका। जैसे भोगादि के लौकिक अधिकार और अनधिकार, जिसको सामर्थ्य और असामर्थ्य कहते हैं अपने २ पुण्य पापके अनुसार ही होते हैं, वैसे ही किसी ने अधिकारी त्रैवर्णिक शरीर पाया और किसी ने अनधिकारी शूद्रादि का शरीर पाया इस विशेष में वेद वा दूसरे का क्या अपराध है ?।

एवं वैषम्यापादने च सर्वेषामेवेश्वरवादिनां मते भगवत्युक्तरीत्यैव प्रसक्तस्य वैषम्यापत्तेर्वारणाय या या तेषां समाधानश्रेणी शरणीकरणीया न वारणीया एवावारणीयाभ्यो रमणीयाभ्यस्ताभ्यः कथमपि वयमपीषित्क इव तेषामिहाक्षेपकटाक्षप्रक्षेपावकाशः मदीयं पुराणादितो मदर्थमवधृत्य स्वस्वधर्मानुष्ठानाय वेदाध्ययनाद्यधिकारीणि द्विजातिशरीराणि मा परिग्रहीषुरित्यभिप्रयन्वेदः कांश्चिदपि दण्डेन वारयति प्रत्युत परमसुहृद्रूपमनुभूय भूयो भूयो भूयोऽर्थजातं हितमुपदिशन्नज्ञानघनान्धकारान्तरितरूपान् द्विजातिशरीरपरिग्रहाध्वनः सर्वान् भगवान् द्युमणिरिव द्योतयन् व्याधिव्याक्षिप्तचक्षुष्केभ्यः स इवायं वेदोऽपि स्वाध्ययनाद्यनधिकारिभ्यो नैवापराध्यति, तथा च मार्कण्डेयः 'शास्त्रं हि वत्सलतरं मातापितृसहस्रतः,। इति। तस्मादयं जात्यन्धषण्ढादिवत्क्षेत्रियस्वानधिकारानुसंधानदोदूयमानमानसः परमालसः सहजत एव सकलसुखास्वादलालसः स्वकीयदूषणगणोद्धारगरिमाणमत्र शिरसानस्य प्रोञ्छ्य वाञ्छति वेदस्योपरि प्रक्षेप्तुम् अनुभवितुञ्च दोषज्ञाद्दूष्यवद्दूष्यभाजनभूयमित्युपहास्यमेवास्य साहसं वेदवैषम्यभाषिणः।

॥ तदुक्तम् ॥ महामहिम्नामपि यश्चिकीर्षति स्वभावसंशुद्धतरं तिरो यशः ॥
स नूनमाच्छादयितुं प्रवर्तते विवस्वतो हस्ततलेन मण्डलम् ॥ १ ॥ इति

इति संक्षेपः। इति वेदस्यापक्षपातित्वम् ॥

॥ भाषा ॥

जिस क्रम से प्रश्नकर्ता ने अपने अपने कर्म के दोष की ओर से आंखें मीचकर वेदपर आक्षेप किया है इस रीति से सब ईश्वरवादियों के मत में ईश्वर पर भी किसी के सुखी और किसी के दुःखी होने से पक्षपात का आक्षेप हो सकता है और ईश्वरवादी कर्मदोष और पुरुषदोष ही से इस आक्षेप का समाधान कर सकते हैं जैसा कि वेद के विषय में यहां किया गया है। अस्तु यदि वेद, इस अभिप्राय से कि शूद्रादि, इतिहास, पुराणादि द्वारा मेरे अर्थ को न समझें और दया, सत्य, आदि साधारण धर्म को न करें तथा उन धर्मों के द्वारा मेरे श्रवणादि के अधिकारी त्रैवर्णिक शरीरों को आगामी जन्म में न पावें, किसी का इन कामों से निषेध करता तो अवश्य त्रैवर्णिकों का पक्षपाती और अपराधी भी होता। परन्तु वेद ऐसा नहीं करता किन्तु अनधिकारियों को दयालु होकर उनके अज्ञानरूपी घोर अन्धकार से आच्छादित, अधिकारी शरीर के प्राप्तिमार्ग को सूर्य के समान प्रकाश करता है तो ऐसी दशा में जैसे प्रकाश करता हुआ सूर्य अक्षिरोग वाले पुरुषों का अपराधी नहीं होता, वैसे ही जो अनधिकारी शूद्र आदि उक्त मार्ग को पुराणादि द्वारा नहीं देखते, वेद भी उनका अपराधी नहीं हो सकता। इसी से मार्कण्डेय महर्षि ने कहा है कि सहस्रों माता और पिता की अपेक्षा भी वेदादि शास्त्र अधिक हितकारि है। अब इस विचार का उपसंहार यह है कि जैसे अन्ध नपुंसक आदि वैदिक कर्मों से अपने अनधिकार को अपने वर्तमान शरीर से दूर नहीं कर सकते किन्तु पश्चाताप ही उनके हाथ है वैसे ही यह प्रश्नकर्ता भी। क्योंकि अधिकारी ऐसा प्रश्न ही नहीं कर सकता और यह प्रश्नकर्ता उक्तरीति से अपने कर्मदोषों वा अपने दोषों को अपने शिर से पोंछकर वेद के ऊपर फेंका चाहता तथा इसी के द्वारा अपना पाण्डित्य भी प्रसिद्ध करना चाहता है इसलिये इस का वेद को पक्षपाती कहने का यह साहस, उपहास ही के योग्य है, किसी आचार्य ने कहा भी है कि जो वेद के ऐसे महा महिमा वालों के, स्वभाव ही से निर्दोष यशको ढापना चाहता है वह पुरुष मानो सूर्यमण्डल को अपनी हथेली से ढांपना चाहता है, अब यहां यह विचार संक्षेप ही से समाप्त किया जाता है। यहां तक वेद के अपक्षपातित्व का निरूपण हो गया।

अथ वेदस्वतःप्रामाण्यम् ।

अथोक्तरीत्या वेदस्य स्वरूपलक्षणयोरुपपन्नत्वेऽपि न धर्मे प्रामाण्यमुपपद्यते । शब्दार्थयोरुत्पत्त्यनन्तरं हि परमेश्वरेणान्येन वा तयोः संकेतरूपः संबन्धः कल्पितः । स्वप्रयोगहेतुभूतार्थतत्त्वज्ञानमन्यथा शब्दो लोके प्रमाणत्वेन व्यपदिश्यते प्रामाणिकैः तथा च स्ववक्तृज्ञानप्रामाण्याधीनप्रामाण्यतया भ्रमप्रमादविप्रलिप्सादिपुरुषदोषप्रयुक्तस्य शङ्काकवलितानां वाक्यानां लोके संवादाद्विना कथञ्चित्प्रामाण्यग्रहसंभवेऽपि सर्वथैवासम्भवत्प्रमाणार्थानां वेदानां प्रामाण्यकमूलकैतिह्यवद्भ्रान्तादिवाक्यवद्दूरापास्तमिति चेन्न

पूर्वमीमांसादर्शने १ अध्याये १ पादे ।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशो ऽव्यति-
रेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

इति सूत्रेण चोदना, प्रमाणमेवेति पूर्वोक्तं द्वितीयं नियममुपपादयता भगवता जैमिनिना समाहितत्वात् ।

॥ भाषा ॥

अब वेद के स्वतःप्रामाण्य का निरूपण किया जाता है ।

प्रश्न—यद्यपि यहां तक वेद का लक्षण और स्वरूप का निर्णय हो गया तथापि धर्म के विषय में वेद कैसे प्रमाण होसकता है ? क्योंकि आदि सृष्टि के समय जब शब्द अर्थ उत्पन्न हुए होंगे उसके अनन्तर ही परमेश्वर वा किसी दूसरे ने अर्थों के साथ शब्दों के संबन्ध की कल्पना इस रीति से की होगी कि इस शब्द से यह अर्थ जाना जाय, और किसी वाक्य को प्रमाण शब्द से तब कहते हैं कि जब वक्ता जिस ज्ञान से उस शब्द को बोलता है वह ज्ञान प्रमाण (सत्य) होता है, अर्थात् वक्ता के ज्ञान के प्रमाण होने हीं से उसका कहा हुआ शब्द प्रमाण हो सकता है और वक्ताओं में भ्रम, प्रमाद, छल आदि अनेक दोष भी होते हैं इस से सामान्यरूप से सभी वाक्यों में अप्रमाण होने की शङ्का अवश्य होती है । और उस शङ्का के निवारण का यह एक ही उपाय है कि उस वाक्य के अर्थ को दूसरे प्रमाणों से निश्चित करलेना, जैसे किसी ने कहा कि गृह के भीतर पांच फल रक्खे हैं, श्रोता घरमें जा कर पांचों फलों को प्रत्यक्ष से निश्चित कर उस वाक्य को प्रमाण कहता है परन्तु यह रीति लौकिक वाक्यों हीं में हो सकती है वेदवाक्यों का तो स्वर्गादिरूप सभी अर्थ किसी अन्य प्रमाण से निश्चित ही नहीं होते, इसी से वेदके लक्षण हीं में कहा गया है कि "वेद उसी शब्द का नाम है जिसका अर्थ, शब्द वा शब्दमूलक प्रमाण हीं से ज्ञात हो न कि अन्य किसी प्रमाण से " तब वेदका प्रमाण होना किसी रीति से निश्चित हो नहीं हो सकता, जैसे कहावतों का प्रमाण होना नहीं निश्चित होता, और इतना ही नहीं किन्तु सब वक्ताओं में रहनेवाले उक्त भ्रमादि दोष की शङ्का, वेदवक्ता में किसी अन्य प्रमाण से नहीं छूट सकती तो प्रमाण होना, वेदसे बहुत ही दूर है अर्थात् वेद, सर्वथा अप्रमाण झूठा ही क्यों नहीं है ?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान, मीमांसादर्शन १ अध्याय १ पाद में—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥ ५ ॥

इस सूत्र से जैमिनि महर्षि ने स्वयं किया है इस सूत्र का यह अर्थ है कि वेद किसी समय में नवीन नहीं उत्पन्न होता किन्तु नित्य है और उस में एक २ शब्द के—

अत्र 'तुना' पूर्वपक्षो व्यावर्त्यते। शब्दस्य नित्यवेदघटकस्य 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादेः। अर्थेन स्वस्वप्रतिपाद्येन जात्यात्मकेन। सहेति शेषः सम्बन्धः। शक्तिरूपः। औत्पत्तिकः स्वाभाविकः नित्यः नत्वनित्यः संकेतरूप इतियावत्, उपदेशः विधिः। तस्य धर्मस्य। ज्ञानम् ज्ञानकारणम्ज्ञापकमितियावत्। स्मृतेरिव गृहीतग्राहितया कथमदृष्टेऽर्थे विधेः प्रामाण्यमित्याशङ्कां परिजिहीर्षुणोच्यते तत् ज्ञापकम्। अनुपलब्धे प्रत्यक्षाद्यगम्य एव अर्थे धर्मस्वर्गादौ प्रत्यक्षाद्यगम्यस्यैवार्थस्य ज्ञापकमिति यावत्। लौकिकं विप्रलम्भकवाक्यमिव वैदिकं विधिवाक्यं किं क्वचिदप्रमाणमपि भवतीति शङ्कां निराचिकीर्षुणोच्यते। अव्यतिरेकश्च। अत्रोपदेश इत्यनुवर्तते। उपदेशश्च अव्यतिरेकः अव्यभिचारी प्रमाया एवोत्पादक इतियावत्। कुतः। अनपेक्षत्वात् स्वप्रामाण्यग्रहे संवादाद्यपेक्षत्वस्य असंभवेन वक्तृज्ञानप्रामाण्यग्रहापेक्षत्वस्य च अवक्तृकत्वेन अभावात्। प्रमाणम् प्रमाणमेव प्रमाजनकमेव नाप्रमाजनकमितियावत्। बादरायणस्य। इतीत्यादिः मतमित्यन्तः इति एतत्सूत्रोक्तम्। बादरायणस्य मद्गुरोः। मतम् सिद्धान्तः। ममापि चैतदेव मतम्। अतएव न पृथक् स्वमतमत्र वच्मीति हि भगवतो जैमिनेरक्षरानुसारीभावः।

वेदप्रामाण्योपोज्जिघांसयैव च शावरभाष्यभाट्टश्लोकवार्तिकयोः अस्यसूत्रस्य तात्पर्यविषयत्वेन (१६) षोडशार्था निरूपिताः। ते यथा—

(१) अत्र 'यस्यचदुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः स एवासमीचीनः प्रत्ययः इति भाष्योक्तस्य—

॥ भाषा ॥

अर्थ भी सब नित्य हैं क्योंकि शब्दों का अर्थ स्वर्गत्व आदि जाति ही हैं जोकि नित्य पदार्थ हैं शब्द और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध भी स्वभाविक अर्थात् नित्य ही है, अर्थात् किसी का निर्मित नहीं है, और वेद के विधिवाक्य उन्हीं अर्थों का ज्ञान कराते हैं जो अर्थ दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से नहीं जाने जासकते जैसे धर्म स्वर्ग आदि, और लौकिक वाक्य अप्रमाण भी होते हैं क्योंकि उनमें पुरुष (वक्ता) का दोष रहता है। परन्तु वैदिक विधिवाक्य प्रमाण हीं होते हैं क्योंकि वे स्वतः प्रमाण हैं अर्थात् अपने अर्थका ज्ञान उत्पन्न करने में किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं करते और न वक्ता के ज्ञान के प्रमाण होने की अपेक्षा, लौकिक वाक्यों की नाई करते हैं क्योंकि नित्य हैं उनका कोई निर्माता ही नहीं है। और इसी से निर्माता के दोष की शङ्का से उनपर अप्रमाण होने की शङ्का ही नहीं हो सकती। यह मत मेरे (जैमिनि के) गुरू वेदव्यासजी का है, और मेरा भी यही मत है इसीसे अपना मत मैं पृथक् नहीं कहता हूँ।

इस सूत्र पर शावर भाष्य और कुमारिलभट्टजी के श्लोकवार्तिक में इस सूत्र के परमगूढ तात्पर्यों के अनुसार वेदके स्वतःप्रमाण होने में उपयोगी १६ विषयों का निरूपण बड़े विस्तारपूर्वक अनेक युक्तियों से किया गया है जो पूर्णरूप से अतिनिपुण किसी २ पण्डित के बुद्धिगोचर होने योग्य है तथापि इस अवसर में उन विषयों का दिखलाना अत्यावश्यक समझकर यथाशक्ति अतिसंक्षेप और स्थूलरूप से वे विषय दिखलाये जाते हैं।

(१) वाक्य के प्रमाण न होने के दो ही कारण हो सकते हैं न कि तीसरा भी। एक उस वाक्य के कारण—

कारणदोषज्ञानस्याप्रामाण्यहेतोरभावः तुशब्दविकल्पेन सम्बन्ध इत्यन्तेन चतुष्पदेन प्रथमावयवेनोक्तः।

(२) उक्तभाष्योक्तस्यार्थान्यथात्वज्ञानस्य द्वितीयस्याप्रामाण्यहेतोरभावः अव्यतिरेक इत्यनेनोक्तः। तदुक्तं वार्तिके अबाधोऽव्यतिरेकेणेति।

(३) उपदेशस्तस्य ज्ञानम्, इत्यनेन अज्ञापकत्वरूपस्याप्रामाण्यस्याभाव उक्तः "अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः" इति।

(४) एवं श्रेयःसाधनं हि धर्मः। साधनत्वं च भावनाद्वारकम्। भावना च सर्वेष्वेवाख्यातेषुगम्यते, आख्यातं च सर्वेष्वेव वाक्येषु, आकाङ्क्षापूरणस्य तदायत्तत्वात्। अतो विधिंविनाप्याख्यातघटितेन वाक्येन स्वर्गादियागयोर्मिथः साध्यसाधनभावस्यावगन्तुं शक्यत्वाद्विधिरनर्थक एव। नच पुरुषप्रवृत्तये स इति वाच्यम् नहि विधिरपि बलात्पुरुषं प्रवर्तयति किन्तु यज्ञादेः श्रेयःसाधनतां गमयत्येव तस्याश्च ज्ञानात्पुरुषस्येच्छा तयैव च प्रवृत्तिः, श्रेयःसाधनताज्ञानं च विधिनेव जन्यत एवाख्यातान्तरेणापीति किं विधिना। नापि 'न ब्राह्मणं हन्यात्' इत्यादौ निवृत्तिसिद्धये विधिरितियुक्तम् प्रतिषेधमभिदधता नञैव तत्साधनस्य सुकरत्वात्, तथाचान्यथासिद्धत्वात्कथं विधेर्धर्मे प्रामाण्यम् इत्याक्षिप्य—

॥ भाषा ॥

अर्थात् निर्माता का भ्रमादिरूप उक्त दोष, दूसरा उसके अर्थका मिथ्या होना अर्थात् किसी अन्य प्रबल प्रमाण से उस वाक्य के अर्थ के झूठा होने का निश्चय। इससे वेदवाक्यों के विषय में कारणदोषका न होना, इस सूत्र में 'सम्बन्धः' तक कहा गया है।

(२) वेदवाक्य के अर्थों का झूठा न होना उक्त सूत्र के "अव्यतिरेकः" इस शब्द से कहा गया है अर्थात् यह कहा गया है कि वेदके विषय में अप्रमाण होने का उक्त दूसरा कारण नहीं है।

(३) अप्रमाण एक ऐसा भी होता है कि जिस शब्द से किसी अर्थ का ज्ञान हीं न हो, जैसे (अ क त न बा प ब त ट) उक्त सूत्र में "उपदेशस्तस्यज्ञानम्" इस भाग से यह कहा गया है कि वेद उक्त शब्द के ऐसा अप्रमाण नहीं है किन्तु अपने अर्थका ज्ञान कराता है।

(४) यह विषय प्रश्न उत्तर रूप में कहा गया है कि—

प्रश्न—स्वर्गादिरूपी इष्ट के साधन, यागादि क्रिया को धर्म कहते हैं और यागादि तभी स्वर्गादि के साधक हो सकते हैं जब उनकी भावना (अनुष्ठान) की जाय और भावना का सब आख्यातों (क्रियाशब्द अर्थात् खबर, पकाता है खाता है इत्यादि) से बोध होता है और आख्यात सभी वाक्यों में होते हैं क्योंकि आख्यात के बिना सभी वाक्य अधूरे रहते हैं। जैसे "मुझको" इत्यादि शब्द, "मिलता है" इत्यादि आख्यात के बिना अधूरे रहते हैं। इस रीति से जब विधि (प्रेरणा आज्ञा, हुक्म) के बिना भी 'याग से स्वर्ग होता है' इत्यादि आख्यात वाले वाक्यों से, याग के स्वर्गसाधक होने का बोध हो सकता है, तब इसके बोधार्थ, वाक्य में विधिका कोई काम नहीं है इसलिये विधि, व्यर्थ ही है। यह तो कह नहीं सकते कि यागों में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये "यजेत" (याग करै) ऐसे विधि वाक्य की आवश्यकता है, क्योंकि यदि कोई पुरुष याग में प्रवृत्त होना न चाहै तो विधि उसे बलात्कार से प्रवृत्त नहीं करता, किन्तु दूसरे आख्यातों के नाईं इतना ज्ञानमात्र करा देता है कि याग स्वर्ग का साधक है।

विधावनाश्रिते साध्यः पुरुषार्थो न लभ्यते। अतःस्वर्गादिबाधेन धात्वर्थः साध्यतां व्रजेत् १४॥
विधौ तु तमतिक्रम्य स्वर्गादिः साध्यतेष्यते। तत्साधनस्य धर्मत्व मेवं सति च लभ्यते ॥ १५ ॥
इति वदद्भिर्भट्टचरणैरेव विधेरावश्यकत्वं दर्शितम्। श्लोकयोश्च, असति विधौ सत्यप्याख्यातान्तरे समानपदोपात्तत्वेन आख्यातार्थभावनाया भाव्यता साध्यतापरपर्याया धात्वर्थं यागमेवावलम्बेत न तु स्वर्गादिकम्, तस्य स्वर्गकामादिपदोपात्तत्वेन चरमोपस्थितिकत्वात् आख्यातप्रकृत्यनुपस्थाप्यत्वादिति यावत्। न च यागः स्वरूपतः पुरुषार्थः प्रत्युत बहु-वित्तव्ययायाससाध्यत्वाद्द्वेष्यकल्पः। एवञ्चापुरुषार्थसाध्यिकायां पुरुषप्रवृत्तिरूपायामर्थ-भावनायां तादृशवाक्येन बोधितायामपि न प्रवृत्तिरुपपद्यते सति तु विधौ तदुपस्थापि-तया समानप्रत्ययोपात्तत्वाद्धात्वर्थादपि नेदिष्ठया प्रवर्तनारूपया शब्दभावनया कर्मत्वसम्ब-न्धेनानुकृष्यमाणा प्रवृत्तिरूपाऽऽर्थीभावना धात्वर्थं सन्निकृष्टमप्यपुरुषार्थत्वादपहाय विप्र-कृष्टमपि स्वर्गादिकं पुरुषार्थत्वेन स्वानुकूलत्वादुपगृह्णती धात्वर्थं यागं साधनतयैव गृह्णाति। तथाच यागेन स्वर्गं भावयेदित्यादिवाक्यार्थसम्पत्तिद्वारा प्रवृत्तेरुपपत्तये विधे-रावश्यकत्वात्ततः श्रेयः साधनतारूपं धर्मत्वं यागादीनां लभ्यत इति रीत्या विधीनां धर्मे प्रमाणत्वं सुतरामुपपद्यत इति संपिण्डितो भावः ॥

॥ भाषा ॥

और इस ज्ञान से पुरुष को याग करने की इच्छा होती है, तथा, इच्छा से याग में पुरुष की प्रवृत्ति होती है. तो जब इतने काम, बिना विधि के भी साधारण आख्यातों से होते हैं तो विधि का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि "न ब्राह्मणं हन्यात्" (ब्राह्मण को न मारे) इत्यादि वाक्यों से, ब्राह्मणवधादि से पुरुषों की निवृत्ति के लिये विधिकी आवश्यकता है, क्योंकि ऐसे वाक्यों में 'न' शब्द रहता है, जिसका अर्थ है कि 'नहीं' तो निवृत्ति भी उसी से होती है इस रीति से जब पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति, विधि के बिना भी दूसरे आख्यात आदि से होती हैं तो आवश्यक न होने से विधि कैसे धर्म में प्रमाण हो सकता है?

उत्तर—उक्त सूत्र के व्याख्यान में श्लोक १४ ॥ १५ से वार्तिककार ने यह कहा है कि "स्वर्गकामोयजेत" (स्वर्ग चाहने वाला, याग करे) इत्यादि वाक्यों में यदि विधि (प्रेरणा) न हो तो इन वाक्यों का यह अर्थ होगा कि "स्वर्ग चाहने वाला याग करता है" और तब 'करता है' इस शब्द के अर्थ, अर्थात् अनुष्ठान रूप भावना का साध्य, 'कार्य' याग ही होगा जो कि परिश्रम और द्रव्यव्यय रूपी होने से दुःखमय है, और केवल दुःखमय कार्य के अनुष्ठान में साधारण पुरुषों की भी निवृत्ति को छोड़ प्रवृत्ति नहीं होती, तब इस वाक्य से यागादिक में पुरुषों की प्रवृत्ति कैसे होगी?। और वाक्यों में विधि रहने पर तो उक्त अर्थ के अनुसार विधि से प्रेरणा का बोध होता है, तथा प्रेरणा से प्रयत्न रूपी भावना पुरुष में उत्पन्न होती है और अनुष्ठानरूपी भावना. उक्त रीति से दुःखमय होने के कारण याग को छोड़ कर सुखरूपी स्वर्गादि को अपना साध्य बनाती है। और छूटा हुआ याग, कारण (साधन) होकर भावना के पीछे लग पड़ता है। तब विधिवाक्य का यह अर्थ होता है कि याग से सुखरूपी स्वर्ग को उत्पन्न (सिद्ध) करै, अब यह भावना (अनुष्ठान) स्वर्ग को सिद्ध करने वाली है ऐसा ज्ञान होने पर पुरुषों की प्रवृत्ति अवश्य ही होगी, इस रीति से याग की भावना में पुरुषों की प्रवृत्ति होने के लिये विधि की आवश्यकता है। तब विधि ही से याग में सुख का साधन होना भी स्पष्ट निकलता है तथा धर्म होना और सुखसाधन होना एक ही बात है। अब विधि वाक्यों का धर्म में प्रमाण होना सहज में सिद्ध हो गया ॥

(५) अर्थेऽनुपलब्धे इत्यनेन स्मृतेरिव विधेरपि गृहीतग्राहित्वेनापादितमप्रामाण्यं निरस्तम्।

(६) अनपेक्षत्वादित्यनेन च प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वं कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानानधीनस्वरूपमुपदर्शितम्। प्रामाण्यं ह्यर्थतथात्वरूपो विषयधर्मः ज्ञाने तु प्रामाण्यस्य बुद्धिव्यवहारावर्थप्रामाण्यनिबन्धनावेव भवतः। अर्थतथात्वरूपं प्रामाण्यञ्च घटाद्यर्थवत्स्वतो गृह्यते, ज्ञानेनैव विषयीक्रियते। अप्रामाण्यं तु अर्थान्यथात्वम्, तच्च बाधकज्ञानकारणदोषज्ञानविसंवादज्ञानैर्गृह्यते इति परत इत्युक्तम्॥

(७) अनेन च सूत्रावयवेन लौकिकवाक्येषु प्रामाण्यस्य प्रतिष्ठा वक्तृज्ञानहेतुनिश्चयमपेक्षते वेदे तु न तत्र वक्तुरभावात् अतो नोक्तनिश्चयाभावादप्रामाण्यशङ्काऽपीत्यपि प्रतिपादितम्।

॥ इदमिहावधेयम् ॥

यद्यप्यनयोः षष्ठसप्तमयोरर्थयोः प्रमाणतर्काभ्यामुपपादनमत्रैव सूत्रे समुचितम्, अस्य चोदना प्रमाणमेवेत्युक्तनियमोपपादकत्वात्। चोदनासूत्रे त्वनयोरर्थयोस्तथोपपादनमनावश्यकत्वादनुचितम् अस्य सूत्रस्य प्रतिज्ञामात्रार्थत्वात् तथाप्यनागतावेक्षणेन चोदनासूत्र एवेदमर्थद्वयं वक्ष्यमाणतयैव भट्टचरणैरुपपादितम् तच्चानुपदमेवेहापि दर्शयिष्यते इति॥

(८) एवञ्चोदनायास्तदर्थस्य तत्फलस्य स्वर्गादेश्च सत्त्व एव तस्याः प्रामाण्यं धर्मे सम्भवति ना सत्त्व इति बाह्यार्थानां–

॥ भाषा ॥

(५)—उक्त सूत्र में "अर्थेऽनुपलब्धे" इस शब्द से यह कहा गया है कि जैसे स्मरण, अनुभव ही का अनुसरण करता है अर्थात् अनुभव ही के विषय को ग्रहण करता है, इस से स्मरण स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होता है, वैदिक विधि वाक्य वैसे नहीं हैं, क्योंकि ये उन्ही विषयों का बोध कराते हैं कि जिन का बोध दूसरे प्रमाणों के द्वारा दुर्लभ है।

(६)—उक्त सूत्र में "अनपेक्षत्वात्" इस शब्द से दो बातें दिखलाई गई हैं एक यह कि प्रमाणता ज्ञानों की आप से आप ही होती है अर्थात् कोई ज्ञान अपने ज्ञाता के गुण के अनुसार, वा अपने विषय रूप पदार्थ के कार्यानुसार नहीं प्रमाण होता क्योंकि प्रमाण होना अर्थात् सत्य होना घटादि रूप विषयों हीं का स्वभाव है न कि ज्ञान का। ज्ञान जो प्रमाण कहा जाता है वह विषय के प्रमाण होने हीं से, और विषय का प्रमाण होना विषय के साथ आप से आप ही ज्ञात होता है अर्थात् ज्ञान अपने विषय के साथ उसके प्रमाण (सत्य) होने को भी ग्रहण कर लेता है, एवं अप्रमाणता भी, जो पदार्थ जैसा ज्ञात होता है उसका उस से वस्तुतः विपरीत होना हीं है। जैसे संमुखस्थ वस्तु सर्प के आकार से ज्ञात हुआ परन्तु वास्तविक में सर्प से विपरीत अर्थात् रस्सी है। यह अप्रमाणता आप से आप नहीं ज्ञात हो सकती किन्तु जब परिणाम में, दीपक दिखाया गया तदनन्तर रस्सी का ज्ञान हुआ तब अप्रमाणता ज्ञात होती है।

(७) और दूसरी बात यह है कि लौकिक वाक्यों का प्रमाण होना उनके वक्ताओं के सच्चे ज्ञानों के अधीन है, इससे लौकिक वाक्य कोई प्रमाण और कोई अप्रमाण भी होता है, वेदका तो कोई कर्ता ही नहीं है कि जिसके अज्ञानादि दोष से वैदिक वाक्यों पर अप्रमाणता की शङ्का मात्र भी हो सके।

(८) विधिवाक्य, उसका अर्थ भाग, भावना आदि, और उसका स्वर्गादि फल यदि कोई भी वस्तु है, तभी वेदके विधिवाक्य धर्म में प्रमाण हो सकते हैं और यदि ये सब झूठे पदार्थ हैं तो

नोदनाप्रामाण्याय बाह्यार्थमवलम्बमानस्य निरालम्बनवादस्य निरासेन बाह्यार्थसद्भावः प्रति-पादितो भाष्ये ॥

(९) एवं महायानिकसम्मतस्य शून्यवादस्य खण्डनमपि भाष्ये कृतम् । इयांस्तु मतयो-रेतयोर्विशेषो यन्निरालम्बनवादे बाह्योऽपि विषयो नास्ति । संविद्गता नीलपीताद्याकाराश्च न सन्ति अत एव तन्निरासावसरे वार्तिके "स्वच्छस्य ज्ञानरूपस्य नहि भेदः स्वतोऽस्तिते" इत्युक्तम् । उक्ते शून्यवादेतु संविद्गता नीलपीताद्याकाराः सन्तीति । एवञ्च बाह्यार्थमपल-पतां योगाचाराणां बौद्धविशेषाणामेव ज्ञानसाकारतानिराकारतयोराश्रयणेन द्विराशीभवतां सम्मताविमौ वादाविति विवेचनीयम् । सिद्धे च बाह्येऽर्थे अर्थाभावादेव ज्ञानमपि नास्तीति वदतां माध्यमिकबौद्धानां सर्वशून्यतावादोऽपि अर्थाभावरूपस्य हेतोरभावादेव निरस्तः । तदुक्तं वार्तिके "अर्थशून्यमिदं ज्ञानं योगाचाराः प्रपेदिरे । तस्याप्यभावमिच्छन्ति ये मा-ध्यमिकवादिनः" इति ।

(१०) एवम् चोदनाया धर्मे प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमेव स्फोटनिरासोऽपि कृतः । ऊहा-

॥ भाषा ॥

कैसे विधिवाक्य धर्म में प्रमाण हो सकते हैं इस अभिप्राय से बौद्धों के निरालम्बन वाद का खण्डन श्री शबरस्वामी जी ने अपने भाष्य में किया है ।

(९) तथा उक्त ही अभिप्राय से उक्त स्वामीजी ने महायानिक बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन किया है । और उन दोनों मतों का यह परस्पर में विशेष है कि योगाचारनामक बौद्ध दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो कि क्षणिक ज्ञान को छोड़ कर सब पदार्थों को मिथ्या कहते हैं, अर्थात् घटादिरूपी बाह्य विषयों को तो मिथ्या कहते ही हैं किन्तु उसके साथ ही क्षणिक ज्ञान के नील, पीत, हरित, घट आदि आकारों को भी मिथ्या कहते हैं इसीका नाम निरालम्बनवाद है, दूसरे वे, जो क्षणिक ज्ञान और उसके नीलादि आकारों को भी मानते हैं केवल घटादि बाह्य वस्तु को मिथ्या कहते हैं, इसी को शून्यवाद कहते हैं भाष्य में इन दोनों वादों के खण्डन से माध्यमिक बौद्धों के शून्यवाद का भी आपसे आपही खण्डन हो जाता है उनका यह मत है कि क्षणिक ज्ञान, और उसका आकार और घटादि बाह्य पदार्थ सभी मिथ्या हैं कोई सत्य नहीं है ।

(१०) वेदवाक्यों का धर्म में प्रमाण होना सिद्ध करने के अर्थ श्री कुमारिलभट्टजी ने वार्तिक में पातञ्जलदर्शन और तदनुयायी वैयाकरणों के स्फोटवाद का खण्डन किया है, जिस में श्री उपवर्ष आचार्य की भी सम्मति है । और स्फोटवाद का अतिसंक्षिप्तरूप यह है कि कोई पद वा वाक्य किसी अर्थका बोध नहीं करा सकता क्योंकि आगे पीछे उच्चारण किये हुए वर्णों के समुदाय ही को पद और पदसमूह को वाक्य कहते हैं, वह समुदाय ही नहीं बन सकता क्योंकि समुदाय उन पदार्थों का होता है जो एक समय में रहते हैं, जैसे 'वृक्षों का समुदाय वन' और वर्ण तो उच्चारण के अनुसार एक के नष्ट होने पर दूसरा उत्पन्न होता है इस से एक पुरुष के उच्चारित अनेक वर्ण, भिन्न २ हीं समय में रह सकते हैं, न कि एक वर्ण के समय में दूसरा वर्ण । तस्मात् वाक्य से प्रकट होने वाला स्फोटनामक एक नित्य पदार्थ अवश्य स्वीकारयोग्य है, जिस से कि अर्थका बोध होता है । यद्यपि वह प्रत्यक्ष नहीं है तथापि अर्थबोधरूपी कार्य के देखने से अनुमान के

दिवान् हि मन्त्रोच्चारणादिधर्मैः चोदनया यः प्रभेयः पदादिधर्मोहादिः स कथं पदाय-सत्त्वे प्रतीयेत तदेतद् स्फोटनिरासस्य वैफल्यशङ्कापूर्वकमुक्तं वार्तिककारैः ।

वर्णातिरेकः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति ।
कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः ॥ इति ।

(११) एवम् अनित्याया व्यक्तेः शब्दार्थत्वे पूर्वपक्षोक्तयुक्त्या वेदस्याप्रामाण्यापत्तिरतस्तत्प्रामाण्यप्रतिष्ठापयिषयैवाऽऽकृतिवादेन नित्याऽऽकृतिः पदार्थत्वेन स्थापिता । आकृतिशब्दश्च जातिवाची मीमांसकानाम् " जातिमेवाकृतिं प्राहुर्व्यक्तिराश्रीयते यया " इति वार्तिकात् ।

(१२) जातेश्च सौगतसिद्धान्तानुसारेणावस्तुरूपतुच्छान्यापोहरूपत्वे वेदस्याप्रामाण्यापत्तिरतोऽपोहवादनिरासेन जातेर्भावरूपता प्रतिपादिता ।

॥ भाषा ॥

द्वारा निश्चित होता है । परन्तु यदि यह स्फोट माना जाय तो वाक्य नहीं सिद्ध होता है क्योंकि वर्णही स्फोट को प्रकट कर सकते हैं वाक्य का कुछ प्रयोजन नहीं है । एवं पद भी नहीं सिद्ध होता, तो पद समुदायरूपी वैदिक वाक्य धर्म में कैसे प्रमाण हो सकते हैं । और एक देवता के मन्त्र से जब अन्य देवताविषयक कार्य यागों में किया जाता है तब पूर्व देवता का नाम छोड़कर उसके स्थान पर उस मन्त्र में दूसरे देवता का नाम लिया जाता है अर्थात् उस मन्त्र में देवताका नाममात्र बदलता है और मन्त्र जैसा का तैसा रहता है । इसी बदलने को ऊह कहते हैं, इस ऊह के समान अन्यान्य कार्य भी पदों में किये जाते हैं । स्फोटवाद में तो पद कोई वस्तु नहीं है इस से पद के सम्बन्धी ये सब कार्य नहीं बनेंगे इसी से वार्तिककार ने स्फोटवाद का खण्डन किया है ।

(११) यदि घटादिरूपी व्यक्ति घटादि शब्दों का अर्थ माना जाय तो वह अनित्य होने से उत्पन्न होने वाला पदार्थ है और पूर्वोक्त रीति अर्थात् " जब सृष्टिकाल में अर्थ उत्पन्न हुए तब उनके अनन्तर ही किसी पुरुष ने उनका सम्बन्ध शब्दों के साथ जोड़ दिया " यह स्वीकार करना अवश्य पड़ेगा जिस से वैदिक शब्दों में आदि पुरुष की अपेक्षा होने से स्वतन्त्रता नहीं हो सकती इसलिये घटत्वादिरूपी जाति, जो कि नित्य पदार्थ है वही घटादि शब्दों का अर्थ है यह सिद्धान्त किया गया है

(१२) बौद्धों के सिद्धान्तानुसार जाति कोई पदार्थ नहीं है किन्तु अपोहरूप है अर्थात् घट में जो पटादिरूपी अन्य पदार्थों से भेद है वही अपोह कहलाता है और भेद भी घट से अन्य कोई पदार्थ नहीं है किन्तु घटादिस्वरूप ही है और घटत्वजाति अपोह से अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है किन्तु अपोह ही है इसी से घटत्वादि जाति केवल कल्पित पदार्थ है, अर्थात् भेदरूप होने से तुच्छ है, केवल व्यवहार के लिये मान लिया गया है । यदि यह सिद्धान्त सत्य हो, तो नित्य होना तो दूर है जाति कोई पदार्थ ही नहीं है तो कैसे जाति, शब्दों का अर्थ हो सकता है । और वेद को कौन कहे, कोई शब्द नहीं प्रमाण होगा क्योंकि सब शब्दों का अर्थ जाति ही है वह तो झूठी है । इसी से भाष्य और वार्तिक में अपोहवाद का खण्डन करके जातिरूपी नित्य पदार्थ सिद्ध किया गया है ।

(१३) एवं वनादिवत्परमाणुपुञ्जात्मक एवावयवी नार्थान्तरमिति सौगतनयेऽव-यवानां परमाणूनामप्रत्यक्षत्वेन तत्समुदायस्याप्रत्यक्षतया व्यवहारानुपपत्तेरित्यात्र पदा-नां शक्तिग्रहासम्भवेन वेदाप्रामाण्यं प्रत्यापन्नमेवेति तत्प्रामाण्योपपत्तये वनवादेन वनादि-दृष्टान्तवैषम्यमुपपाद्य परमाणुपुञ्जातिरिक्तोऽवयवी साधितः।

(१४) ततः पदपदार्थसम्बन्धस्येश्वरकृतसङ्केतात्मकत्वे वेदस्य तद्ग्रहसापेक्षत्वापत्त्या निरपेक्षतया प्रामाण्यस्य पुनरप्यनुपपत्तिः। किञ्च बुद्धादिसार्वज्ञ्यखण्डनयुक्तीनामीश्वरेऽपि प्रसजन्तीनां दुर्वारतया प्रामाण्यमूलोच्छेदिनः कारणदोषस्यापि वेदेष्वाक्रमणापत्तिरितईश्वरे वेदकारत्वस्य निरासमात्रे पर्यवस्यन्नीश्वरनिरासः सम्बन्धाक्षेपपरिहारेण कृतः। नहीश्वरसद्भावो वेदप्रामाण्यं प्रतिहन्ति जीवसद्भाववत् किन्तु तस्यवेदकारत्वमात्रम्। वेदकारत्वमात्रप्रत्याख्यानेन च न भगवतः सिद्धिः प्रतिबन्धुं शक्यते "द्यावाभूमी जनयन्नित्यादिभिः" "कार्यायोजनधृत्यादेः" इत्यादिना न्यायाचार्योक्तैः सपरिकरैः प्रचुरतरैर्हेतुभिश्च तस्याः अतिसौकर्यात् एवञ्चेश्वरद्वेषिणो मीमांसका इति केषाञ्चिद्भ्रममात्रम्।

॥ भाषा ॥

(१३) बौद्धों का यह सिद्धान्त है कि घटादि पदार्थ, परमाणुओं (अत्यन्तसूक्ष्म अर्थात् द्रव्य का अवयव और अवयव का अवयव होते २ जिस अवयव का अवयव न हो सके वह अर्थात् अन्तिम अवयव) के समुदाय से अतिरिक्त नहीं है अर्थात् परमाणुसमुदाय ही का नाम घट आदि है, जैसे वृक्षों के समुदाय से अतिरिक्त वन कोई पदार्थ नहीं है इसलिये वृक्षों के समुदाय ही का नाम वन है और समुदाय भी अवयवों से भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। जैसे वन वृक्षों से अन्य कोई पदार्थ नहीं है। यदि यह सिद्धान्त सत्य होता तो वनादि दृष्टान्त के अनुसार घटादि भी परमाणुओं से अतिरिक्त न होते परमाणु तो प्रत्यक्ष नहीं होते हैं इस कारण घटादि भी प्रत्यक्ष न होते, तथा प्रत्यक्ष न होने से व्यवहार में कैसे ले आये जाते, और घटादि पदों का सम्बन्ध उनमें कैसे ज्ञात होता। तब शब्दों के अप्रमाण होने से वेद भी अप्रमाण हो जाता, इसी से वार्तिक में वनादि दृष्टान्त से वैषम्य घटादि में दिखलाकर वनवाद प्रकरण में परमाणु-समुदाय से अतिरिक्त घटादिरूपी अवयवी सिद्ध किया गया है।

(१४) पद का, पदार्थ के साथ जो सम्बन्ध है वह यदि ईश्वरेच्छारूप है तो वेद भी शब्दरूप होने से ईश्वरेच्छा का सापेक्ष होगा, इस से वेद निरपेक्ष प्रमाण नहीं हो सकता। और जिन युक्तियों से बुद्धआदि की सर्वज्ञता का खण्डन होता है वे युक्तियां ईश्वर की सर्वज्ञता के खण्डन में भी हो सकती हैं। अर्थात् उनके अनुसार ईश्वर सर्वज्ञ नहीं है, तो वेद यदि उनका निर्मित माना जाय तो कर्ता के अज्ञानादि दोष से दुष्ट होकर प्रमाण नहीं होगा केवल इतने ही अभिप्राय से ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया गया है अर्थात् यही तात्पर्य है कि वेदकार होकर ईश्वर नहीं सिद्ध हो सकता, और यह तात्पर्य नहीं है कि ईश्वर हई नहीं, क्योंकि जैसे जीवों की सत्ता वेद की स्वतन्त्रप्रमाणता में विघ्नकारक नहीं है वैसे ही ईश्वर की सत्ता भी। तो ईश्वर की सत्ता के खण्डन से कोई प्रयोजन नहीं है केवल ईश्वर का वेदकारत्व मात्र वेदों की स्वतन्त्रप्रमाणता में उक्त रीति से विघ्नकारी है इससे ईश्वर के वेदकारत्वमात्र के खण्डन में वार्तिककारों का तात्पर्य है न कि ईश्वर की सत्ता के खण्डन में। और यह तो कह नहीं सकते कि वेदकारत्व के खण्डन से ईश्वरकी

(१५) ततो यः प्रत्यक्षसूत्रे 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वादि' त्यवयवेनानन्तर फलानुपलब्ध्या चित्रादिचोदनाक्षेपः कृतः स परिहृतः।

(१६) ततस्तेनैव प्रत्यक्षसूत्रावयवेन "स एष यज्ञायुधी आत्मा अञ्जसा स्वर्गं लोकं याति' इत्यादिचोदनानां यज्ञायुधवतः शरीरस्य स्वर्गगमनासंभवरूपप्रत्यक्षविरोधादप्रामाण्यमापाद्य तत्साधर्म्यादग्निहोत्रादिचोदनानां यः प्रामाण्याक्षेपः कृतस्तत्परिहारो देहव्यतिरिक्तात्मसाधनेनात्मवादे कृतः। उभौ चेमावन्त्योपान्त्यावर्थावव्यतिरेकश्चेत्यनेनैव सूत्रावयवेनोक्ताविति ध्येयम्।

एषु च षोडशस्वर्थेषु "अनपेक्षत्वादि" त्यनेनोक्तयोश्चोदनासूत्र एवानागतावेक्षणेन वक्ष्यमाणतयैव वार्तिककृता सविस्तरमुपपादितयोः प्रामाण्यस्वतस्त्वकारणदोषाभावयोः षष्ठसप्तमयोश्चतुर्दशभ्य इतरेभ्यो वेदप्रामाण्योपोद्घातभूतेभ्योऽन्तरङ्गतया वेदप्रामाण्यजीवातुत्वादिहावश्यमेवोपपादनमुचितम् तच्च शावरभाष्यश्लोकवार्तिकन्यायरत्नाकरशास्त्रदीपिकाप्रभृतीन्निबन्धानुपन्यस्योपन्यस्य तेषां तात्पर्याणि वर्णयित्वा तानि च प्रमाणतर्काभ्यां परि-

॥ भाषा ॥

सिद्धि का भी खण्डन हो गया, क्योंकि ईश्वरसिद्धि "द्यावाभूमी जनयम् देव एकः" इत्यादि सहस्रों वेदवाक्यों से और जगत् के कार्यत्व आदि, न्यायाचार्योक्त अनेक प्रकार के प्रमाणों तथा तर्कों से होती है। तस्मात् 'मीमांसकगण ईश्वर के द्वेषी हैं' यह किसी २ ग्रन्थकार का कहना भ्रम मात्र से है।

(१५) चित्रा आदि यागों के फल जलवृष्टि आदि प्रत्यक्ष हैं, और किसी समय में चित्रादि याग करने पर भी फल नहीं होते, इससे चित्रादि यागों के विधिवाक्य कैसे प्रमाण होंगे? इस प्रश्न का उत्तर चित्राक्षेपपरिहार नामक प्रकरण में किया गया है।

(१६) "स एष यज्ञायुधी आत्मा स्वर्गं लोकं याति" इत्यादि विधिवाक्यों का यह अर्थ होता है कि यागरूप कार्य के साधन यज्ञपात्रादिरूप आयुध लिये हुए आत्मा स्वर्ग को जाता है। यह बात प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि यज्ञपात्र लिये शरीररूप आत्मा यहां ही नष्ट हो जाता है इससे उक्त विधिवाक्य कैसे प्रमाण हो सकते हैं, और जब ये प्रमाण नहीं हैं तब इनके सजातीय सभी अग्निहोत्रादि के विधिवाक्य कैसे प्रमाण हो सकते हैं? इस प्रश्न का उत्तर, देह आदि से भिन्न आत्मा के साधन द्वारा आत्मवादनामक वार्तिकप्रकरण में दिया गया है।

॥ सङ्गति ॥

इन १६ विषयों में छठां और सातवां, अर्थात् वेदका स्वतःप्रमाण होना और कर्ता के न होने से वेद में कारणदोष का न होना उक्त सूत्र के "अनपेक्षत्वात्" इस भाग से कहा गया है,। वार्तिककारों ने भी पूर्वोक्त धर्मलक्षणसूत्र के व्याख्यान में प्रमाण और तर्क के द्वारा इन दोनों विषयों का बड़े विस्तार पूर्वक प्रथम ही भविष्यबुद्धि से उपपादन किया है, और ये दोनों विषय उक्त चौदह विषयों की अपेक्षा वेद की प्रमाणतासिद्धि में अधिकतर उपयोगी अर्थात् वेद की प्रमाणता के प्राणरूप हैं, इस कारण इस स्थान पर इन दोनों विषयों का पूर्णरूप से उपपादन करना अत्यावश्यक है, क्योंकि वेदनास्तिकों की मुखमुद्रणा भी अत्यावश्यक है किन्तु यदि शावर-भाष्य, श्लोकवार्तिक, न्यायरत्नाकर, शास्त्रदीपिका आदि मीमांसाग्रन्थों के उपयोगी २ भागों को

कृत्य क्रियमाणं तेषां ग्रन्थानामतिविस्तृतत्वाद्दुरवगाहत्वाच्छैष्योपाध्यायिकयेदानीमनति प्रचलितत्वाच्चास्य ग्रन्थस्य भूयस्त्वदुरवगाहत्वे जिज्ञासूनाञ्च क्लेशाश्रद्धे पुष्णीयादतस्तेषां सारभूतानर्थान्निष्कृष्य संगमय्य परमसंक्षेपेण तदर्थद्वयमन्यच्च कियत्कियाद्वेदप्रामाण्यानुबन्धि प्रमाणतर्कजातं पूर्वोत्तरपक्षसमस्यया विशदीकृत्य प्रदर्श्यते । तद्यथा—

ननु ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च स्वत एव, यत्र यस्य स्वाभाविकं सामर्थ्यं नास्ति न तत्र तस्य सामर्थ्यमन्येन केनापि शक्यते कर्तुमिति सत्कार्यवादिनः सांख्याः । तन्मतानुसारेण वेदजबोधे प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्वाभाविकमित्यत्रैकतरकोटिनिर्णायकप्रमाणाभावाद्वेदस्याप्रामाण्यमेव फलतीतिचेन्न।स्वाभाविकस्य वेदे प्रामाण्यस्य गुडे मिष्टत्वस्येवानादिशिष्टजनपरिग्रहपरम्परानुगृहीतत्वेन सुग्रहत्वात् अप्रामाण्यस्य च तादृशापरिग्रहपरम्परयैव गुडे तिक्तत्वस्येव वेदे सुप्रत्याख्यानत्वात् । नच वेदे प्रामाण्यस्य स्वाभाविकत्वे किं मानमिति वाच्यम्, स्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात् । अस्य प्रश्नस्येदानीमनवसरनिरस्तत्वाच्च ।

॥ भाषा ॥

इस ग्रन्थ में रख २ उनके तात्पर्य को वर्णन कर और उनको अन्यान्य प्रमाणों से उत्तेजित कर इन दोनों विषयों का उपपादन किया जाय तो वह दोषों से शून्य न होगा । एक यह कि उन ग्रन्थों के अतिविस्तृत और इस समय में अप्रचलित होने से यह ग्रन्थ इस स्थान पर अत्यन्त कठिन हो जायगा दूसरे ग्रन्थविस्तार भी यहां बहुत अधिक हो जायगा । और इन दोषों से पाठकों के क्लेश, और अश्रद्धा होने का भय है इस कारण उक्त ग्रन्थों के उपयोगी २ भागों से विचारके द्वारा सारांशों को लेकर उनमें स्थान २ पर अन्यान्य उपयोगी प्रमाणों और तर्कों को भी मिलाकर अतिसंक्षेपपूर्वक, प्रश्नोत्तर के क्रम से उक्त दोनों विषय सहज करके दिखलाये जाते हैं कि—

प्रश्न—सांख्य, योग, दर्शन का यह मत है कि ज्ञान का प्रमाण (सत्य) वा अप्रमाण (मिथ्या) होना आप ही आप है । ज्ञान हीं में क्या ? सभी पदार्थों में यह व्यवस्था है कि जिस में जो शक्ति स्वाभाविक नहीं होती उसमें वह शक्ति हजारों उपायों से भी उत्पन्न नहीं की जा सकती जैसे अग्नि आदि में शीतलता आदि । और ज्ञान की प्रमाणता वा अप्रमाणता भी उसकी स्वाभाविक शक्ति है, इसी से उसमें किसी कारण की अपेक्षा नहीं होती, तस्मात् वह स्वतःसिद्धहै । इस मतमें वेद की अप्रमाणता ही सिद्ध होती है क्योंकि वेद से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी प्रमाणता, स्वाभाविक है वा अप्रमाणता ? इस संशय में एक पक्ष का निर्णय किसी प्रमाण से नहीं हो सकता, इसलिये वेद कैसे प्रमाण हो सकता है ?

उत्तर—जैसे गुड़ की स्वाभाविक मिष्टता अनादि प्रत्यक्षपरंपरा से निश्चित है वैसे ही वेद की प्रमाणता भी महाशयों की अनादि स्वीकारपरंपरा से निश्चित है । और जैसे अनादि प्रत्यक्ष परम्परा के विरुद्ध होने से गुड़ में तिक्तता कोई नहीं स्वीकार करता वैसे ही महाशयों के अनादि स्वीकारपरम्परा से विरुद्ध होने के कारण वेदमें अप्रमाणता का स्वीकार कदापि नहीं हो सकता ।

प्रश्न—वेदकी प्रमाणता के स्वाभाविक होने में क्या प्रमाण है ?

उत्तर—(१) किसी पदार्थ के किसी स्वभावपर कोई ऐसा प्रश्न नहीं कर सकता, जैसे गुड़ क्यों मधुर है ? इत्यादि ।

नहीदानीमिदं विचारयितुमुपक्रान्तं ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च स्वाभाविकमिति सांख्यमतं युक्तमयुक्तं वेति किन्तु वेदस्य प्रामाण्यं तन्मतानुसारेण घटते नवेत्येव, तच्च घटत एव । मानवे धर्मशास्त्रेण "आसीदिदंतमोभूतम्" इत्यादिना बहुपद्यात्मकेन प्रबन्धेन सांख्यमतं वेदान्ति मतं वाऽनुसरता भगवता मनुना वेदेऽपि स्वाभाविकमेव प्रामाण्यमङ्गीकृतमित्यत्र को नाम संशयः अयंहि प्रश्नः सांख्यमतानुसारिणा क्रियते । सांख्यमतमयुक्तमिति नास्तिकाक्षेपस्य प्रतिक्षेपस्तु दर्शनकाण्डे करिष्यते ।

अथ ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं च परत एवावधार्यते न स्वतः प्रमाणस्याप्रमाणस्य च ज्ञानस्य दर्शनात् अतः कारणगुणप्रयोज्यं यथार्थत्वरूपं प्रामाण्यं कारणदोषप्रयोज्यञ्चाप्रामाण्यं ज्ञानस्येति नैयायिकाः तन्मतेनापि न वेदस्य प्रामाण्यमुपपादयितुं शक्यते । तथाहि किमिमेवेदाः पौरुषेया अपौरुषेया वा, आद्ये भ्रान्तेः पुरुषधर्मतायाः सर्वानुभवसिद्धतया दोषप्रयोज्यमप्रामाण्यमेव वेदजबोधस्येत्यप्रामाण्यमेव वेदस्य । नच सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तो नित्यसर्वविषयकयथार्थप्रत्यक्षचिकीर्षाकृतिमान् सर्वशक्तिः पुरुषधौरेयो भगवानेव वेदकार इति कथं तदुक्ते वेदे शक्यमप्रामाण्यं शङ्कितुमपीति वाच्यम् अस्यार्थस्य श्रद्धैकसाध्यत्वात् । नहीदृशः पुरुष इदानीं प्रत्यक्षः नाप्यनुमातुं शक्यःआसीदित्ति,

॥ भाषा ॥

उ०—(२) इस अवसरपर यह प्रश्न हो भी नहीं सकता, क्योंकि यहां यह विचार नहीं किया जा रहा है कि 'सांख्य, योग, दर्शन का उक्त मत उचित है वा नहीं' किन्तु इसी विचार का प्रकरण है कि उक्त मत के अनुसार वेदकी प्रमाणता, सिद्ध हो सकती है वा नहीं । और वह प्रमाणता तो उक्त रीति से सांख्यमतमें सिद्ध हो चुकी है ।

उ०—(३) मनु का धर्मशास्त्र, प्रारम्भ ही में "आसीदिदं तमोभूतम्" इत्यादि प्रबन्ध के अनुसार निश्चित होता है कि सांख्य वा वेदान्तदर्शन के अनुसार ही से प्रवृत्त है और इस समय मनु हीं के धर्मशास्त्र के "वेदो धर्ममूलम्" इस वाक्य का व्याख्यान हो रहा है । और मनु ने तो वेदमें स्वाभाविक प्रमाणता स्वीकार ही किया है तो अब सांख्य के मत से वेद की स्वाभाविक प्रमाणता की सिद्धि में कोई सन्देह नहीं हो सकता तथा उक्त प्रश्न भी सांख्यमतानुसारी पुरुष का है । और यदि 'सांख्यमत नहीं ठीक है' यह नास्तिक का आक्षेप हो तो उसका उत्तर दर्शनकाण्ड में दिया जायगा क्योंकि यहां उस प्रश्न का अवसर ही नहीं है ।

प्रश्न—न्याय और वैशेषिक दर्शन का यह सिद्धान्त है कि ज्ञान की प्रमाणता और अप्रमाणता स्वत: नहीं ज्ञात हो सकती, क्योंकि ज्ञान दो प्रकार का होता है, प्रमाण और अप्रमाण, इस से कारणों के गुणानुसार ज्ञान में यथार्थतारूप प्रमाणता और कारणों के दोषानुसार अयथार्थतारूप अप्रमाणता होती है, अर्थात् जिस ज्ञान के कारण इन्द्रियादिक, स्वच्छतादि गुण से युक्त होते हैं वह ज्ञान प्रमाण, और जिसके कारण, रोगादिदोषों से दूषित होते हैं वह अप्रमाण होता है, इस मत से भी वेद कैसे प्रमाण हो सकता है ? क्योंकि इस मत के अनुयायी, वेदको पौरुषेय (पुरुषकृत) ही मानते हैं, और पुरुषों का भ्रम आदि स्वभाव है तो उन्हीं के कथनानुसार वेद से उत्पन्न ज्ञान में पुरुषदोष से अप्रमाणता आ गई ?

उत्तर—भ्रम आदि दोष जीवों हीं के स्वाभाविक हैं परमेश्वर में तो किसी दोष की शङ्का भी नहीं हो सकती क्योंकि उक्त मत में परमेश्वर के प्रत्यक्ष, इच्छा और प्रयत्न, नित्य और सर्वविषयक

सद्धेतोरभावात् प्रत्युत तदभाव एवानुमातुं शक्यते। अतीतः कालः सर्वज्ञशून्यः कालत्वात् एतत्कालवत् इतिप्रयोग संभवात्। नाप्यागमगम्यः सिद्धे हि सर्वज्ञे तदीयस्यागमस्य प्रामाण्यम् तत्प्रामाण्ये च तादृशपुरुषसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयात्। नच नरान्तरप्रणीतागमान्तरेण निर्णयः तस्य शुद्धमूलान्तरासम्भवेन सर्वज्ञे प्रामाण्यासंभवात् नच नित्येनागमान्तरेण, तथा सति तादृशागमान्तरस्येव वेदस्यापि नित्यत्वाङ्गीकारे बाधकाभावेन पौरुषेयत्वपक्षस्यैवापक्षयापत्तेः, तस्यागमान्तरस्य नित्यत्वे मानाभावाच्च, किञ्च भवतु नामासौ भगवान् सर्वज्ञस्तथापि तज्ज्ञानस्य विषयं सर्वमजानता कथमसौ सर्वज्ञ इति ज्ञायताम् नहि किञ्चिज्ज्ञः कस्यचित्सर्वज्ञत्वं ज्ञातुमीष्टे। यदि चेष्टे नासौ किञ्चिज्ज्ञः किन्तु सर्वज्ञ एव, एवं तस्यापि सर्वज्ञतामन्यो जानाति तस्यापि चान्य इत्यसंख्यसर्वज्ञपरम्पराऽऽपत्त्या न क्वचिदवस्थानं स्यात् अनवस्थाभयाच्च कस्याञ्चित्कक्ष्यायां विश्रान्तावाश्रीयमाणायां यस्मिन् पुरुषे विश्रान्तिराश्रीयेत तस्यैव पुरुषस्य सर्वज्ञताया अत्यन्ताप्रामाणिकत्वादाभगवतः सार्वज्ञ्यावधारणानुपपत्तिर्दुष्परिहरैव। एवञ्च तत्सार्वज्ञ्यस्य दुरवधारणत्वात्तद्वाक्यत्वेनाभ्युपगम्यमाने वेदे प्रामाण्यावधारणं दूरतरापास्तमिति फलितमेवाप्रामाण्यम्।

॥ भाषा ॥

हैं तथा परमेश्वर सर्वशक्तिमान् हैं तो जब वही वेद के कर्ता हैं तब वेद में अप्रमाणता की शङ्का भी नहीं हो सकती।

प्रश्न—इस उत्तर में श्रद्धा और विश्वास से अन्य कौन प्रमाण दिखलाया गया? क्योंकि इस समय उक्त प्रकार का पुरुष, कोई प्रत्यक्ष नहीं हैं और न अनुमान हीं कर सकते कि कभी रहा, क्योंकि अनुमान, बिना किसी सच्चे हेतु के नहीं हो सकता और यहां कोई सच्चा हेतु नहीं है किन्तु उलटे पूर्व समय में भी ऐसे पुरुष के अभाव ही का अनुमान हो सकता है जैसे, व्यतीत काल, सर्वज्ञ से शून्य था क्योंकि वह भी काल था जैसे वर्तमान काल। एवं किसी प्रमाणवाक्य से भी ऐसा पुरुष सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि अन्योन्याश्रय दोष पड़ जायगा। जैसे जब उक्त प्रकार का सर्वज्ञ पुरुष सिद्ध हो जाय, तब उसके वाक्य की प्रमाणता सिद्ध हो सकती है, और जब उस वाक्य की प्रमाणता सिद्ध हो जाय तब उस वाक्य से ऐसा पुरुष सिद्ध हो सकता है। यह तो कह नहीं सकते कि अन्य पुरुष के निर्मित वाक्य से ऐसे पुरुष की सिद्धि हो सकती है, क्योंकि अन्य पुरुष का बनाया हुआ वाक्य, भ्रमादि पुरुषदोष से अप्रमाण होने की शङ्का में डूब सकता है तो उस पर क्या विश्वास है कि उस से ऐसे पुरुष की सिद्धि हो सकती है। यह भी नहीं कह सकते कि प्रथम, वेद से अन्य किसी अपौरुषेय वाक्य से ऐसे पुरुष को सिद्ध करेंगे तदनन्तर, ऐसे पुरुष के बनाये हुए वेदवाक्य को प्रमाण कहेंगे, क्योंकि तब तो जैसे वेद से अन्य, वह वाक्य अपौरुषेय होगा वैसे ही वेद के भी अपौरुषेय होने में कोई बाधक नहीं है पुनः वेद पौरुषेय कैसे है? और वेद से अन्य उस वाक्य के अपौरुषेय होने में भी क्या प्रमाण है? और यदि परमेश्वर सर्वज्ञ हों भी तो कोई उनको सर्वज्ञ समझ नहीं सकता क्योंकि वह (अन्य पुरुष) स्वयं सर्वज्ञ नहीं है और जो स्वयं सर्वज्ञ नहीं है वह दूसरे की सर्वज्ञता को जान ही नहीं सकता, क्योंकि यदि जान सके तो वह अवश्य स्वयं सर्वज्ञ है, तात्पर्य यह है कि जैसे जो पुरुष गौ को जानता है

तदुक्तं वार्तिके धर्मलक्षणसूत्रे,

सर्वज्ञोदृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः। निराकरणवच्छक्यया नचासीदितिकल्पना ॥११७॥
नचागमेन सर्वज्ञस्तदीयेऽन्योन्यसंश्रयात्। नरान्तरप्रणीतस्य प्रामाण्यं गम्यते कथम् ॥११८॥
नचाप्येवंपरो नित्यः शक्यो लब्धुमिहागमः। इति ॥
सर्वज्ञोऽसाविति ह्येव तत्काले तु बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥१३४॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव। य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥१३५॥
सर्वज्ञोऽनवबुद्धश्च येनैव स्यान्न तं प्रति। तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत् ॥१३६॥
इति च।

प्रमाणाभावेऽपि श्रद्धामात्रेण भगवतः सार्वज्ञ्येऽभ्युपगम्यमाने तु किमपराद्धं भगवता बुद्धेन, येन तस्मिन्सार्वज्ञ्यं न श्रद्धीयते नवा तत्प्रणीतस्यागमस्य प्रामाण्यमभ्युपगम्यत इत्यवश्यवचनीयं वचनीयमापद्येत। नच किं तस्य सार्वज्ञ्येन। नहि कीटपतङ्गादिसंख्यापरिज्ञानं तस्य कथञ्चिदुपयुज्यते वेदप्रामाण्ये, किन्तु धर्मज्ञतैव। श्रद्दध्महे च तस्य तामेव वयम्। तदुक्तम् ॥ "कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते। सर्वं पश्यतु मा वाऽसौ तत्त्वमिष्टं तु पश्यति"। इतीति वाच्यम्। सार्वज्ञ्यावधारणनिरासन्यायेन तदीयातीन्द्रियार्थदर्शिताया अप्यस्माभिश्चर्मलोचनैर्लौकिकैर्दुरालोकत्वात् एतेन बुद्धाद्यागमानां प्रामाण्यम् "किन्तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जतिमन्दरः"—

॥ भाषा ॥

वही यह जान सकता है कि अमुक पुरुष, गौ को जानता है वैसे ही जो सबको प्रत्येक जानैगा वही यह भी जानैगा कि ईश्वर सबको जानते हैं और जब सबको प्रत्येक कोई नहीं जानता तो इसको भी कोई नहीं जान सकता कि ईश्वर सर्वज्ञ (सबको प्रत्येक जानते) हैं इस रीति से यदि ईश्वर की सर्वज्ञता को कोई दूसरा समझैगा तो वह समझनेवाला सर्वज्ञ ही है और उसकी सर्वज्ञता को तीसरा सर्वज्ञ, तथा उसकी चौथा इत्यादि सर्वज्ञों की परम्परा किसी पुरुष में समाप्त न होगी। इसी को अनवस्था दोष कहते हैं। और यदि अनवस्था के भय से किसी पुरुष में उक्त परम्परा की समाप्ति मानी जाय तो जिस पुरुष में समाप्ति मानी जायगी उस पुरुष में सर्वज्ञता नहीं जानी जा सकती क्योंकि उसकी सर्वज्ञता को यदि कोई अन्य पुरुष जान सकता है तब तो सर्वज्ञता की परम्परा समाप्त ही नहीं हुई, और जब वह अन्तिम पुरुष सर्वज्ञ नहीं है तब उसी के नाईं पूर्व २ पुरुष के सर्वज्ञ न होने से मूलपुरुष (ईश्वर) की भी सर्वज्ञता नहीं जानी जा सकती। इस युक्ति से जब ईश्वर की सर्वज्ञता नहीं सिद्ध हुई, तब उन के निर्मित वेद में प्रमाणता कैसे हो सकती है। इन बातों को वार्तिककार ने पूर्वोक्त धर्मलक्षणसूत्र पर श्लोक ११७-११८ और १३४-१३५-१३६ में कहा है। और उक्त रीति से प्रमाण न मिलने पर भी श्रद्धामात्र से यदि भगवान् की सर्वज्ञता मान ली जाय तो बुद्ध भगवान् ने क्या अपराध किया है जो उन की सर्वज्ञता और उन के निर्मित ग्रन्थ की प्रमाणता में श्रद्धा नहीं की जाती ?

उत्तर—परमेश्वर की सर्वज्ञता से प्रयोजन ही क्या है, क्योंकि परमेश्वर को यदि कीट पतङ्गादि एक २ व्यक्तियों का पृथक् २ ज्ञान न हो तो इस से उन के निर्मित वेद की प्रमाणता में कोई हानि नहीं हो सकती। परमेश्वर में धर्मज्ञता मात्र चाहिये, जिस से उन के निर्मित वेद में प्रमाणता हो और धर्मज्ञता में कोई खण्डन, पूर्वोक्त प्रकार से नहीं हो सकता।

प्रश्न—जिन युक्तियों से सर्वज्ञता का खण्डन हुआ उन्हीं से धर्मज्ञता भी खण्डित हो

इति न्यायादामूलमूलमुन्मूलितमेवाकलनीयम्, द्वितीये तु गुणाभावादेवाप्रामाण्यमित्युभयथापि वेदस्याप्रामाण्यमेवेति चेन्न, किञ्चिज्ज्ञप्रणीतत्वेन लौकिकवाक्यानां प्रामाण्यस्य सम्प्रतिपन्नतया समस्ताप्तशिरोमणिना पुरुषधौरेयेण नित्यसर्वज्ञेन श्रीभगवता प्रणीते वेदे प्रामाण्यस्य कैमुत्यन्यायेनैव दृढतरत्वात्। तादृशसर्वज्ञखण्डनस्य च प्रकृतेऽनवसरेणैव निरस्तत्वात्। तत्त्वसरे च न्यायकुसुमाञ्जलिबौद्धधिकार,तत्त्वचिन्तामणि,प्रभृतिषु तार्किकग्रन्थेषूपन्यस्तैः प्रमाणतर्कशतैः शक्यत एव स पुरुषधौरेयः साधयितुम्। साधयिष्यत एव चेहापि दर्शनकाण्डे। वेदस्य च नित्यनिर्दोषताया अनुपदमेवोपपादयिष्यमाणतया प्रचुरतरप्रमाणसिद्धेन तादृशपुरुषधौरेयेण गगनादेरिव वेदस्याप्रणयनेऽपि न तत्प्रामाण्ये काचित्क्षतिरित्यस्मिन्प्रामाण्यनिरूपणप्रकरणे वेदस्य तत्प्रणीतत्वसाधनाय न प्रयत्यते।

ननु अप्रामाण्यं ज्ञानानां स्वतः, प्रामाण्यं तु परत एवेति सौगताः। अयञ्च तेषामाशयः। न तावत्प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च स्वत इति मतं संभवति। विरोधात् नहि कारणान्तरानपे-

॥ भाषा ॥

जाती है, क्योंकि धर्म का स्वरूप हम चर्मचक्षुओं को प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात हो सकता तो ईश्वर की धर्मज्ञता वही जान सकता है जो स्वयं धर्मज्ञ हो! इसी रीति से बुद्धादि के आगमों की प्रमाणता भी पूर्णरूप से निरस्त हो गई क्योंकि जब इस दोषरूपी समुद्र में वेदरूपी मन्दराचल भी डूब रहा है तो बुद्धागमादिरूपी परमाणुओं की चर्चा ही क्या है? और नैयायिक आदि यदि वेद को अपौरुषेय मान लेवें तब भी एक तो उन के पौरुषेयतारूप सिद्धान्त ही का भङ्ग होगा, दूसरे जब वेद का कोई वक्ता ही नहीं है तो किस के गुणानुसार वे वेद की प्रमाणता सिद्ध करेंगे क्योंकि उन के मत में गुण ही के अनुसार वाक्यों की प्रमाणता होती है?

उत्तर—जब अल्पज्ञ जीवों के वाक्यों का प्रमाण होना भी अवसरविशेष में सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है, तो उक्तगुणविशिष्ट श्रीपरमेश्वर के बनाये हुए वेद पर भी अप्रमाणता की शङ्का करना अज्ञानी ही का काम है। और इस अवसर पर उन की सर्वज्ञता का खण्डन करना भी अत्यन्त अनुचित है क्योंकि इस समय यह विचार हो रहा है कि न्यायादि मत के अनुसार वेद को उक्त सर्वज्ञ का प्रणीत मान लेने पर उस की प्रमाणता हो सकती है वा नहीं? न कि यह विचार किया जाता है कि ईश्वर सर्वज्ञ हैं वा नहीं, जिस से ईश्वर की सर्वज्ञता के खण्डन का अवसर हो। और जब इस का अवसर आवैगा तब न्यायकुसुमाञ्जलि, बौद्धधिकार, तत्त्वचिन्तामणि, आदि न्यायग्रन्थों में कहे हुए सैकड़ों प्रमाणों और तर्कों से ईश्वर की सर्वज्ञता आदि, सिद्ध ही की जा सकती हैं और इस ग्रन्थ के भी दर्शनकाण्ड में की जायगी, तथा अनन्तर ही वेद की नित्यता और निर्दोषता अनेक प्रमाणों से सिद्ध की जायगी तब आकाशादि नित्य पदार्थों के नाई यदि वेद भी ईश्वरप्रणीत न हो तो भी उस की प्रमाणता में कोई क्षति नहीं हो सकती इस से इस अवसर में वेदका ईश्वरप्रणीत होना सिद्ध करने के लिये कोई उद्योग नहीं किया जाता है।

एकस्य ज्ञानस्य तमःप्रकाशवत्परस्परविरुद्धं प्रामाण्यमप्रामाण्यं चाविकलरूपेण स्वभावतया स्वीकर्तुं शक्येते [illegible] । नापि कस्याश्चिज्ज्ञानव्यक्तेः प्रामाण्यं कस्याश्चिदप्रामाण्यं स्वभाव इति व्यक्तिभेदेनोक्तविरोधः शक्यः परिहर्तुम्, नहि तयोर्व्यञ्जकं ज्ञानत्वातिरिक्तमन्योन्यव्यावृत्तं किञ्चिद्रूपं चकास्ति येनेदं प्रमाणमीदृगप्रमाणमिति निर्णीयेत । ईदृक्चिह्नाङ्गीकारे च तादृक्चिह्नाधीननिरूपणत्वात्प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्ज्ञानस्वभावत्वरूपं स्वतस्त्वमेव भज्येत । ज्ञानत्वस्य च पूामाण्याप्रामाण्ययोर्व्यवस्थापकत्वं पूमाणापूमाणसाधारण्येनैव निराकरणीयमिति यस्यामेव ज्ञानव्यक्तौ प्रामाण्यं तामेवापूामाण्यमपि निर्बाधमनुधावत् केन पूतिषिध्येतेति दुरुद्धर एव विरोधः । किञ्च ज्ञानव्यक्तिभेदेपि परस्परव्यावर्तकचिह्नानाश्रयणात्कस्यां व्यक्तौ पूामाण्यं कस्यां चापूामाण्यमिति नियामकाभावेन पूामाण्यापूामाण्यसंकरो दुर्वारः । एवमुभयमपि परत इति मतमपि न पेशलम् । ज्ञानस्य निःस्वभावत्वपूसङ्गात् ।

॥ भाषा ॥

प्रश्न—बुद्धशास्त्र का मन्तव्य यह है कि सब ज्ञान, आप से आप अर्थात् स्वाभाविक अप्रमाण ही होते हैं और किसी कारणविशेष से कोई ज्ञान प्रमाण होता है, इस मत के अनुसार वेद से उत्पन्न ज्ञान सब अप्रमाण ही हैं तो वेद भी सहज ही में अप्रमाण हुआ । और यह बुद्धमत, साधारण नहीं है क्योंकि इस मत का उपपादन यह है कि—ज्ञान की अप्रमाणता का स्वाभाविक होना जो सांख्य का मत है वह ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अग्नि में उष्णता और शीतलता दोनों स्वभाव, परस्पर विरोध के कारण नहीं माने जाते वैसे ही प्रमाणता और अप्रमाणतारूप दोनों स्वभाव ज्ञान में नहीं माने जा सकते, क्योंकि ये दोनों, अन्धकार और प्रकाश के नाईं परस्पर विरुद्ध हैं । यह तो कह ही नहीं सकते कि किसी ज्ञान का प्रमाणता स्वभाव है, और किसी का अप्रमाणता, इस रीति से जब भिन्न २ ज्ञानों के दो स्वभाव हैं तब क्या विरोध है, क्योंकि उन दोनों का ज्ञानत्व धर्म से अन्य कोई ऐसा प्रकार नहीं कहा जा सकता कि इस प्रकार का ज्ञान प्रमाण, और इस प्रकार का अप्रमाण होता है । तब इस में क्या कारण है कि कोई ज्ञान प्रमाण, और कोई अप्रमाण है ? और यदि ऐसे कारण दिखलाये जा सकते हैं तब तो प्रमाणता और अप्रमाणता, उन्हीं कारणों से हुई तो वह ज्ञान का स्वभाव ही नहीं हो सकती, क्योंकि स्वभाव उसी को कहते हैं जो कि अन्य कारण से न हो अर्थात् उत्पन्न ही न हो किंतु नित्य हो अथवा यदि उत्पन्न हो (नित्य न हो) तो जिस में वह रहता हो उसी के कारण से उत्पन्न हो । प्रथम स्वभाव, जैसे आकाश की व्यापकता और द्वितीय स्वभाव जैसे जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता, इत्यादि और ज्ञानत्वधर्म तो प्रमाण और अप्रमाण दोनों ज्ञानों में रहता है, इस से उस के अनुसार किसी ज्ञान की प्रमाणता और किसी की अप्रमाणता की व्यवस्था नहीं हो सकती । निदान—कोई मर्यादा (नियम) न होने से असम्भव है, और इसी दोष से यह मत दुष्ट है । तथा इस मत में इस प्रकार से एक ही ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता को मान ही लेना पड़ेगा, तब तो दोनों का सङ्कर (मेल) हो जायगा इस से भी यह दुष्ट है । एवं प्रमाणता और अप्रमाणता ज्ञानों की, स्वतः नहीं होती किन्तु परतः अर्थात् यथाक्रम गुण और दोष से होती है, यह न्यायमत भी अयुक्त है क्योंकि जब ज्ञान उत्पन्न हुआ तब जब तक उस के कारणगुण वा कारणदोष का निश्चय नहीं

तथाहि। उत्पन्नं हि ज्ञानं गुणदोषावधारणात्प्रागर्थमवगाहते चेत्, प्राप्तं तर्हि स्वत एवास्य प्रामाण्यम् नावगाहते चेत् तर्ह्यप्रामाण्यमेव स्वतः प्राप्तम्। उभयोश्च प्रामाण्याप्रामाण्ययोर्गुणदोषपराधीनत्वाभ्युपगमे गुणदोषावधारणात्प्राग्ज्ञानमनवधारितप्रामाण्याप्रामाण्यतयेतरव्यावृत्तरूपेणार्थानवगाहित्वादनवधारणात्मकं निःस्वभावमेव प्रसज्येत नच तद्युक्तम् नहि संभवति नावधारयत्यर्थं नच नावधारयतीति। इदमप्युक्तं वार्तिके तत्रैव—

स्वतस्तावद्द्वयं नास्ति विरोधात्परतो नच। निःस्वभावत्वमेवं हि ज्ञानरूपे प्रसज्यते॥ ३५॥
कथं ह्यन्यानपेक्षस्य विपरीतात्मसम्भवः। किमात्मकं भवेत्तच्च स्वभावद्वयवर्जितम्॥ ३६॥
विज्ञानव्यक्तिभेदेन भवेच्चेदविरुद्धता। तथाप्यन्यानपेक्षत्वे किं केति न निरूप्यते॥३७॥ इति।

तस्मात् सांख्यतार्किकयोः पक्षौ न क्षोदक्षमौ किन्तु सौगतपक्ष एव प्रतीक्ष्यः। तथाहि। अप्रामाण्यं प्रामाण्याभावः। अभावश्चावस्तुत्वान्नकेनापि जन्यते किमुत दोषैरतो न तदवधारणेनावधारयितुं शक्यमित्यप्रामाण्यं स्वत एव, प्रामाण्यं तु वस्तुत्वेन गुणजन्यत्वाद्गुणावधारणाधीननिर्णयम्। किञ्च घटज्ञानस्य घटादघटाच्च जायमानत्वदर्शनाज्ज्ञानत्वमात्रेण तस्य प्रामाण्यं निर्णेतुं शक्यते। अतोऽवश्यं गुणसंवादार्थक्रियाणामन्यतमस्य ज्ञानेनैव तस्य यथार्थतारूपं प्रामाण्यं निर्णेयमिति प्रामाण्यं परत एव न जातु स्वतः, तथा-

॥ भाषा ॥

होता तब तक वह ज्ञान निर्विषयक रहता है, या घटादिविषयक होता है? यदि निर्विषयक होता है तो वह ज्ञान ही नहीं है क्योंकि ज्ञान किसी अवस्था में निर्विषयक नहीं हो सकता, और यदि घटादिविषयक होता है तब तो उस की स्वतःप्रमाणता आगई। और जब गुण, दोष, का निश्चय नहीं हुआ है तब उस ज्ञान को उस अवस्था में न विशेष का निश्चयरूप ही कह सकते न विशेष का अनिश्चयरूप ही, इस से वह ज्ञान उस अवस्था में निःस्वभाव ही हो जायगा, जो कि न्यायदर्शन में अनिष्ट है। इन सब बातों को बौद्धमत के वर्णन करने में उक्त धर्मलक्षणसूत्र पर वार्तिककार ने श्लोक ३५-३६-३७ से कहा है।

उक्त युक्तियों से जब दोनों मत दूषित हो गये तब बौद्धमत ही माननीय है और इस मत के स्वरूप का वर्णन यों है, कि प्रमाणता के अभाव ही को अप्रमाणता कहते हैं, और अभाव कोई वस्तु नहीं है किंतु शून्य है इसी से दोष से कौन कहे? वह (अप्रमाणता) किसी कारण से उत्पन्न नहीं है किंतु ज्ञानों का स्वभाव ही है। इस कारण सब ज्ञान स्वाभाविक अप्रमाण ही होते हैं। और प्रमाणता तो वस्तुरूप है, इस से गुण से उत्पन्न होती है, और उस का निश्चय, गुणनिश्चय के अधीन है, तथा घट का ज्ञान प्रमाण और अप्रमाण दोनों प्रकार का होता है, प्रमाण ज्ञान तो ठीक २ घट के स्वरूप से उत्पन्न होता है और अप्रमाण ज्ञान भ्रमरूपी होने से अन्य पदार्थों से उत्पन्न होता है, तब घटज्ञान की प्रमाणता का निश्चय ज्ञानत्वधर्म से नहीं हो सकता किन्तु गुणनिश्चय से अथवा संवाद (एक ज्ञान के विषय का, दूसरे ज्ञान से निश्चय) से अथवा अर्थक्रिया (जल भरना आदि) से घटादि ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है, इन सब कारणों से ज्ञान की प्रमाणता स्वतः नहीं होती किन्तु परतः अर्थात् कारण के गुण से होती है यदि ज्ञान की प्रमाणता स्वतः अर्थात् स्वाभाविक होती, तो स्वप्नादि ज्ञान भी प्रमाण हो जाते,

सति हि सर्वेषां स्वप्नादिज्ञानानां प्रामाण्यं प्रसज्येत औत्सर्गिकत्वात्तस्य । नच दोषाधीने-नाप्रामाण्येन तेषां प्रामाण्यमपोद्यतामिति युक्तं वक्तुम् अप्रामाण्यस्य दोषाधीनत्वं न संभवति अवस्तुत्वादिति वाचोयुक्तेरनुपदमेवोक्तत्वात्, अथ कुतस्तर्ह्यप्रामाण्यम्? यदि दोषात् तर्ह्यवस्तुनः कार्यत्वं तव गले पतितम् नच तव तादिष्टम्। अथाकस्मिकमेव तत् तदा किमपि ज्ञानं प्रमाणं न स्यादिति चेन्न आशयानवबोधात्, मम हि मते स्वाभाविकमेवाप्रामाण्यं ज्ञानानामिति कुतस्तरां तत्र कारणापेक्षा मां प्रत्यापाद्यते अपवादकं तु तस्य प्रामाण्यम् तच्च कारणापेक्षम् स्वप्नादिविज्ञानेषु च कारणाभावादेव न तदुपजायते ततश्च स्वाभाविकमप्रामा-ण्यमनपोदितमेव तेषु स्वत एव तिष्ठति ननुदोषैर्जन्यत इति कामाववस्तुनः कार्यत्वप्रसङ्गो वराकः। ननु किं तत्कारणं प्रामाण्यस्य, यदभावात्स्वप्नादिज्ञानेष्वदो नोत्पद्यत इति चेत्, श्रूयताम् । ज्ञानकारणभूतानीन्द्रियादीन्यधितिष्ठन्तः सन्निकर्षादयो गुणा एव प्रामाण्यमुप-जनयन्ति तदभावादेव च न प्रामाण्यं स्वप्नादिज्ञानानाम् । अभावोऽपि तेषां द्वेधा भवति क्वचिदिन्द्रियादिषुसत्स्वपि तद्वृत्तिभिर्दोषैर्गुणानामपसारणात्, यथाशुक्तिरजतादिसंवेदने। क्वचिच्च ज्ञानकारणानामिन्द्रियलिङ्गादीनामाश्रयाणामेवाभावात् । ननु यदि अप्रामाण्यं न दोषप्रयुक्तं तर्हि कथं दोषेषु ज्ञायमानेषु सत्सु तज्ज्ञायत इति चेन्न दोषैर्हि गुणा निराक्रियन्ते ततश्च कारणाभावेन प्रामाण्योपजननाभावादनपोदितमेवाप्रामाण्यं स्वप्नादिविज्ञानेष्वव्यवति-ष्ठत इत्यप्रामाण्यावस्थितिप्रयोजको योऽपवादाभावस्तस्य प्रयोजको योगुणाभावस्तत्प्रयोज-कत्वादेवान्यथासिद्धेष्वपि दोषेष्वप्रामाण्यकारणत्वभ्रमो मीमांसकानाम् । वस्तुतस्त्वौत्सर्गि-

॥ भाषा ॥

यह तो कह नहीं सकते कि कारणदोष के अनुसार वे अप्रमाण होते हैं, क्योंकि यह युक्ति अभी पहले कही जा चुकी है कि अप्रमाणता, दोष से नहीं होती क्योंकि वह अभावरूप शून्य होने से किसी का कार्य नहीं होती। यदि यह प्रश्न किया जाय कि अप्रमाणता किस कारण से होती है, दोष से तो होती नहीं, क्योंकि बौद्धमत में वह शून्यरूप है, तस्मात् इस मत में कोई भी ज्ञान प्रमाण न होगा क्योंकि अप्रमाणता सभी में है। तब कैसे यह कहा जाता है कि ज्ञान की प्रमाणता परतः होती है ? तो इस का यही उत्तर है कि प्रश्नकर्त्ता ने बौद्धमत के तात्पर्य को नहीं समझा क्योंकि जब ज्ञान की अप्रमाणता स्वाभाविक ही है, तब वह दोष से होती है वा किस से, ? यह प्रश्न ही नहीं हो सकता क्योंकि स्वाभाविकपदार्थ का कोई अन्य कारण नहीं होता। और किसी ज्ञान में अप्रमाणता का बाधक प्रमाणता, अपने कारण के गुण से उत्पन्न होती है इस से वह ज्ञान प्रमाण कहा जाता है, स्वप्नादि ज्ञान में तो गुणरूप कारण के न होने से प्रमाणता नहीं उत्पन्न होती इसी से उन ज्ञानों में अप्रमाणता स्वाभाविक रहती है। ज्ञान के कारण नेत्र आदि हैं और घटादि विषयों से जो उन का सम्बन्ध है वही उन का गुण है, उसी गुण से ज्ञान में प्रमाणता उत्पन्न होती है। और स्वप्नादि ज्ञान के कारण मन इन्द्रिय में घटादि विषयों का सम्बन्धरूपी गुण नहीं है क्योंकि स्वप्नावस्था में वहाँ (अन्तःकरण में) घटादि विषय रहते ही नहीं, इसी से स्वप्नादि ज्ञानों में प्रमाणता नहीं उत्पन्न होती। शुक्ति में जो चाँदी का भ्रमरूपी ज्ञान होता है उस के कारणरूपी नेत्र इन्द्रिय में शुक्ति के चमकरूपी दोष से, गुण हटा दिये जाते हैं, इसी से वह ज्ञान अप्रमाण होता है न कि दोष से, यही कारण है कि जिस से मीमांसकों को यह भ्रम है कि "अप्रमाणता, दोष से उत्पन्न होती है" क्योंकि वे इस पर ध्यान नहीं देते कि दोषों से गुण केवल हटाये जाते हैं।

कमेवाप्रामाण्यम् । किञ्च नाप्रामाण्यसामान्ये दोषाणामन्वयव्यतिरेकौ । अज्ञानलक्षणाप्रामाण्ये व्यभिचारात् तस्य ज्ञानकारणाभावमात्रप्रयोज्यत्वादिति ।

तथा च वार्तिके तत्रैव ।

तस्मात्स्वाभाविकं तेषा मप्रमाणत्वमिष्यताम् । प्रामाण्यं च परापेक्ष मत्र न्यायोऽभिधीयते ॥३८॥
अप्रामाण्यमवस्तुत्वा न्नस्यात्कारणदोषतः । वस्तुत्वात्तु गुणैस्तेषां प्रामाण्यमुपजन्यते ॥३९॥
प्रामाण्यं हि यदोत्सर्गी तदभावोऽथ कृत्रिमः । तदा स्वप्नादिबोधेऽपि प्रामाण्यं केन वार्यते॥४०॥
मत्पक्षेकारणाभावा त्प्रामाण्यं नोपजायते । हेतुमत्त्वप्रसङ्गोऽतो न भविष्यत्यवस्तुनः ॥ ४१ ॥
इन्द्रियादिगुणाश्चास्य कारणं तदसद् द्विधा । दुष्टत्वादिन्द्रियादीना मभावेऽन्यतमस्य वा॥४२॥
अत एव च वो भ्रान्ति र्दोषैर्मिथ्यात्वधीरिति । तद्व्याप्तिस्तु गुणाभाव स्तत्कृता ह्यप्रमाणता॥४३॥
तस्मात्कारणशुद्धत्वं ज्ञानप्रामाण्यकारणम् । स्वभावतोऽप्रमाणत्वं तदभावे न लक्ष्यते ॥ ४४ ॥
अन्वयव्यतिरेकाभ्या मप्रामाण्यं न दोषतः । नाज्ञाने दृश्यते ह्येत त्कारणाभावहेतुके ॥४५॥ इति

तथा च स्वप्नादिज्ञानानामिव वेदजबोधस्याप्यप्रामाण्यमौत्सर्गिकम्, प्रामाण्येन तदपवादस्य तु शङ्काऽपि नात्रावतरीतुमीष्टे, मीमांसकमते वेदस्यापौरुषेयत्वेन तज्जन्यज्ञानस्य चागृहीतग्राहित्वेन कारणगुणसंवादार्थक्रियाज्ञानानां प्रामाण्यग्रहकारणानां तयोरनवतारात् पौरुषेयत्वेपि च पुरुषाणां भ्रान्त्यादिदोषदूषिततया गुणानामभावात्प्रामाण्योपजननाभावाच्चेति सौगतमतानुसारेणाप्रामाण्यं वेदस्य दुष्परिहरमेवेति चेन्न प्रामाण्ये परतस्त्वस्य तत्स्वतस्त्वमुपपादयद्भिर्मीमांसकैरेव मर्दितत्वात् ।

तथा च तत्रैव सूत्रे वार्तिकम् ।

स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम् । नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन शक्यते ४७॥

॥ भाषा ॥

और गुणों के न रहने से ज्ञान में प्रमाणता उत्पन्न नहीं होती । इतना हीं काम दोषों का है कि वे गुण को हटाते हैं । अप्रमाणता तो स्वप्नादिज्ञानों में स्वाभाविक ही है तो वह कैसे दोषों से उत्पन्न हो सकती है, और यह भी है कि सामान्य से, अप्रमाणता में दोष नहीं कारण है क्योंकि अनर्थक शब्दों में, ज्ञान न करना ही अप्रमाणता है वहाँ कोई दोष नहीं है किन्तु पूर्व हीं व्यवहार में न आने से उस शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता । इन सब बातों को पूर्वोक्त धर्मलक्षण सूत्र ही पर वार्तिककार ने श्लोक ३८ से ४५ तक में कहा है । इस बौद्धमत के अनुसार स्वप्नादि ज्ञानों के नांई वेद से उत्पन्न ज्ञान में स्वाभाविक अप्रमाणता का बाधक, प्रमाणता के उत्पन्न होने का कोई कारण नहीं है क्योंकि वेद तो मीमांसक के मत में जब पौरुषेय नहीं है तब कारण का गुण कैसे आ सकता है और वेद, ऐसे पदार्थों का ज्ञान कराता है कि जिन का ज्ञान अन्य प्रमाणों से हो ही नहीं सकता तो संवाद कैसे हो सकता है । और यदि वेद, पौरुषेय भी मान लिया जाय तब भी पुरुष के भ्रमादि दोष से दूषित होकर वेद अप्रमाण हीं होगा । निदान—बौद्धमत जब ठीक ही है तब वेद कैसे प्रमाण हो सकता है ? ।

उत्तर—प्रमाणता के परतः होने का मीमांसकों ने अच्छी २ युक्तियों से पूर्ण खण्डन किया है, क्योंकि उन ने प्रमाणता का स्वतः होना सिद्ध किया है जैसा कि उक्त धर्मलक्षणसूत्र पर वार्तिककार ने श्लोक ४७-४८ में कहा है कि—

आत्मलाभे च भावानां कारणापेक्षता भवेत्। लब्धात्मनां स्वकार्येषु प्रवृत्तिः स्वयमेव तु।४८। इति

अनयोश्चपद्ययोरयमाशयः-यदि ज्ञानस्य स्वविषयतथात्वावधारणे स्वतः शक्तिर्न स्याद्-दाऽसौनान्येनापि शक्येत सम्पादयितुम्, अतो न कदाचित्केनचित्कश्चिदप्यर्थोऽवधार्येतेत्यान्ध्य मेवाशेषस्य जगतः प्रसज्येत। कुतश्चास्य परतः सिद्धिः। गुणावधारणादिति चेत्। के पुनर्गुणा नाम, नहि चक्षुरादिषु गुणा नाम केचिदुपलभ्यन्ते। वैमल्यं गुण इति चेत्, दोषाभावोऽयंनगुणः। सोऽपि तथा चेत्, वेदस्यापि तत्संभवाद्गुणाधीनेऽपि वेदप्रामाण्ये नास्माकं काचित्क्षतिः। कथं च गुणात्तत्सिद्धिः, गुणनिमित्तं विज्ञानस्य यथार्थविषयत्वम् अतः कारणभूतगुणावगमेन विषयस्यार्थस्य तथात्वमवगम्यते विषयतथात्वमेव च ज्ञानस्य प्रामाण्यम् अतोऽस्य गुणावगम्यत्वमिति चेत्, स्यादेवं यदि गुणनिमित्तंयथार्थत्वं स्यात् नतुतदस्ति, यदि हि तन्निमित्तंनत् स्यात् ततो गुणरहिताद्दोषयुक्ताच्चक्षुरादेरुपजाते पीनशङ्खादिज्ञाने न किञ्चित्सत्यं गम्येत, गम्यते तु तत्रापि शङ्खादिकं सत्यम्। अतः स्वकारणनिमित्तमेव ज्ञानस्य यथार्थत्वम्, तद्दोषनिमित्तं चायथार्थत्वम्। तथाहि सति पीनशङ्खादिज्ञानस्य स्वकारणतः सत्यविषयत्वम् तद्दोषतश्चासत्यविषयत्वं युक्तं भविष्यति। अस्तु वा प्रमाणभूतस्य ज्ञानस्वरूपस्य

॥ भाषा ॥

(१) यदि ज्ञान में अपने विषय घटादि की सत्यता का निश्चय कराने की शक्ति आप से आप न होती तो कौन उसको उत्पन्न कर सकता क्योंकि जो शक्ति जिसमें कदापि नहीं रहती वह उसमें किसी कारण से भी उत्पन्न नहीं की जा सकती, जैसे अग्नि में शीतलता शक्ति। और यदि ज्ञान में उक्त शक्ति न होती तो किसी विषय का निश्चय न होने से जगत् में अंधेर ही फैल जाती।

(२) प्रमाणता की उत्पत्ति भी किसी से नहीं हो सकती क्योंकि उसकी उत्पत्ति गुणों ही से कही जाती है परन्तु नेत्र आदि इन्द्रियों में कोई गुण नहीं ज्ञात होता। यदि कहा जाय कि निर्मलता गुण है, तो वह मलरूपी दोष का अभाव ही है न कि गुण। तब वेद से उत्पन्न ज्ञान की प्रमाणता यदि उसके अधीन भी हो तो क्या हानि है, क्योंकि जब वेद का कोई निर्माता नहीं है तब वेद में दोषों का अभाव स्वतःसिद्ध ही है। और उसके अनुसार वेद से उत्पन्न ज्ञान में प्रमाणता है इसलिये वेदस्वतः प्रमाण है।

(३) यदि विषयसम्बन्ध आदि कोई २ गुण भी इन्द्रियादि कारणों में माने जायँ तो भी वेद की प्रमाणता उनसे कैसे उत्पन्न हो सकती है, क्योंकि ज्ञान की प्रमाणता, विषय की यथार्थता ही है। और ज्ञान के कारणगुणों के निश्चय से ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय तब कहा जा सकता है कि जब घटादिविषयों की यथार्थता गुणों के अधीन हो सो तो है नहीं क्योंकि यदि वह गुणों के अधीन होती तो गुण से शून्य और पित्तदोष (कँवरू) से युक्त नेत्र इन्द्रिय से जो पीतशङ्ख का भ्रमरूपी प्रत्यक्ष होता है उसमें कोई अंश यथार्थ न होता। अर्थात् उसमें पीतरूप तो मिथ्या ही है परन्तु शङ्खभाग सत्य है सो भी दोष के कारण, और गुण न रहने से मिथ्या हो जाता। तस्मात् ज्ञान की प्रमाणता ज्ञान के कारण ही से होती है न कि गुणों से। अप्रमाणता तो दोष ही से होती है इसी से पीतशंख के प्रत्यक्ष में नेत्र इन्द्रिय रूप कारण से शङ्खरूप भाग में वह ज्ञान सत्य है और पित्तरूप दोष से पीतभाग में मिथ्या है।

गुणवत्कारणजन्यत्वं तथापि विषयावधारणस्य ज्ञानकार्यस्य प्रामाण्यपर्यवसितस्य न जातु ज्ञानप्रयोजकापेक्षत्वं शक्यमास्थातुम्। कचिदप्यदर्शनात्। सर्वे हि भावाः स्वात्मलाभायैव स्वकारणमपेक्षन्ते घटो यथा मृत्पिण्डादिकं स्वजन्मन्येवापेक्षते नोदकाहरणेऽपि, तथा ज्ञानमपि स्वोत्पत्तौ गुणवदितरद्वा कारणमपेक्षतां नाम स्वकार्ये तु विषयनिश्चयेऽनपेक्षमेवेति। किञ्च प्रामाण्यस्य परतस्त्वासम्भवात्स्वतस्त्वमनन्यगत्यैव स्वीकरणीयम्। तथाहि। यद्युपजातमपि ज्ञानं स्वविषयावधारणाय स्वकारणगतगुणावधारणमपेक्षते ततो गुणावधारणाय प्रमाणान्तराज्ज्ञानोत्पादः प्रतीक्षितव्यः नह्यपरिच्छिन्नो गुणः प्रामाण्यं गमयति असत्समत्वात्, तदपिज्ञानं विषयज्ञानवदेव स्वविषयावधारणाय स्वकारणगुणावधारकं ज्ञानान्तरमपेक्षते तदपि तथेति जन्मसहस्रेणापि न कश्चिदर्थोऽवधार्येतति प्रामाण्यमेव सर्वत्रोच्छिद्येत अतः प्रामाण्यं चेदस्ति स्वत एवाङ्गीकर्तव्यम्।

अथ प्रामाण्यस्य स्वतस्त्वेऽपि तथैवानवस्थाकृता दुरवस्था तदवस्था, प्रामाण्यग्रहणे

॥ भाषा ॥

(४) यदि प्रमारूपी यथार्थज्ञान की उत्पत्ति में गुणयुक्त इन्द्रियरूपी कारण मान भी लिया जाय अर्थात् इन्द्रिय के नाईं उसके गुणको भी कारण मान लिया जाय तब भी घटादि विषयों का सत्य निश्चय कराना जो ज्ञान का काम है जिसको कि प्रमाणता कहते हैं उसमें, ज्ञान के कारण इन्द्रिय वा गुण की अपेक्षा कदापि नहीं हो सकती क्योंकि जितने पदार्थ हैं वे केवल अपनी उत्पत्ति के लिये कारण की अपेक्षा करते हैं न कि अपने काम के लिये। जैसे घटादि पदार्थ अपनी उत्पत्ति ही के लिये कुम्हार आदि की अपेक्षा करते हैं, न कि जल भरने के लिये। ऐसे ही ज्ञान भी अपनी उत्पत्ति ही के लिये कारण की अपेक्षा करता है, न कि अपने विषय के सत्यनिश्चयरूपी काम के लिये। और विषय के सत्यनिश्चय ही को यथार्थता वा प्रमाणता कहते हैं, तो उसमें जब किसी की अपेक्षा नहीं है तब ज्ञान की स्वतः प्रमाणता सिद्ध हो गई इति।

यह भी है कि ज्ञान की प्रमाणता उसी ज्ञान हीं से ज्ञात होती है न कि दूसरे से। तो जब दूसरे से नहीं ज्ञात हो सकती तब अनन्यगति होकर, प्रमाणता को आप ही से आप ज्ञात मान ही लेना पड़ता है। क्योंकि ज्ञान के विषय घटादि हैं, उनका सत्य होना हीं ज्ञान की प्रमाणता है तो यदि इस प्रमाणता के निश्चय में ज्ञान के कारणगुण की अपेक्षा होती तो उस गुण के निश्चय के लिये भी अन्यप्रमाण की अपेक्षा अवश्य होती. क्योंकि बिना प्रमाण के गुण का निश्चय कैसे हो सकता है। यह तो कहा नहीं जा सकता, कि गुण के ज्ञात होने का प्रयोजन नहीं है, क्योंकि अज्ञातगुण असत्य के बराबर है, तब इस रीति से विषय के प्रथमज्ञान के नाईं गुण का ज्ञान भी अपने प्रमाणतारूपी विषय की सत्यता के लिये अपने कारणगुण के निश्चय की अपेक्षा करेगा। और वह निश्चय भी कारणगुण रूपी अपने दूसरे विषय की सत्यता के लिये तीसरे कारणगुणनिश्चय की अपेक्षा करैगा। इस रीति से कारणगुणनिश्चयों की परम्परा के अनन्त होने से अनवस्थादोष होगा जिस के प्रभाव से हजार जन्मों में भी किसी एक की भी सत्यता का निश्चय न हो सकैगा। और इसी से ज्ञानमात्र में प्रमाणता उच्छिन्न होजायगी। तस्मात् यदि प्रमाणता कोई पदार्थ है तो वह आप ही से आप ज्ञात होती है; यही सिद्धान्त अनन्यशरण होकर सब का मन्तव्य है।

प्रामाण्यापवादकदोषाभावग्रहस्य कारणता तत्रापि प्रामाण्यस्य ग्रहणे तदपवादकदोषाभावग्रहणान्तरस्येत्यादिरीत्योक्तस्य गुणग्रहणावधारणपरम्परानुसरणन्यायस्य दोषाभावग्रहणेऽपि समानत्वादिति चेत्, स्यादेवं यद्यपवादाभावाय दोषाभावो ग्रहीतव्यः। नत्वेवम्, ज्ञायमाना हि दोषाः प्रामाण्यं विघ्नन्तीति तदज्ञानादेव तदपवादकं मिथ्यात्वं निवर्तते तदज्ञानं चायत्नसिद्धमिति न काचिदनवस्था। तस्माद्बलायातं बोधत्वेनैव बुद्धेः प्रामाण्यम् औष्ण्यमिव वह्नेः, शैत्यमिव जलस्य। तच्च ज्ञानविषयभूतेष्वर्थेष्वन्यथात्वस्य ज्ञानकारणभूतेष्विन्द्रियादिषु दोषस्य वा ज्ञानाज्ज्ञातेनाप्रामाण्येन नैवमयमर्थ इत्यपोद्यते, कुण्ठकमणिमन्त्रादिनेव वह्न्यादेरौष्ण्यादीति परतएवाप्रामाण्यम् ॥

॥ इदमप्युक्तं तत्रैव वार्त्तिके ॥

जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते। यावत्कारणशुद्धत्वं न प्रमाणान्तराद्भवेत् ॥४९॥
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादःप्रतीक्ष्यः कारणान्तरात्। यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा॥५०॥
तस्यापि कारणे सिद्धे तज्ज्ञाने स्यात्प्रमाणता। तस्याप्येवमितीच्छंश्च न क्वचिद्व्यवतिष्ठते ॥५१॥

॥ भाषा ॥

प्रश्न—यदि ज्ञान की प्रमाणता स्वतः मानी जाय तब भी तो अनवस्था अवश्य पड़ती है क्योंकि ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय तभी होता है कि जब प्रमाणता के बाधक दोषों का अभावनिश्चय हो, और तब तो उस दोषाभाव के निश्चय में भी तभी प्रमाणता का निश्चय होगा, जब कि प्रमाणता के बाधक दोषों के अभाव का एक दूसरा निश्चय होगा। इस रीति से उस दूसरे अभावनिश्चय की प्रमाणता का निश्चय भी तभी होगा जब उसके बाधक दोषों के अभाव का एक तीसरा निश्चय होगा। तब तो दोषाभाव की निश्चयपरम्परा हजारों सीढ़ियों पर चढ़ने से भी नहीं समाप्त हो सकती। निदान जैसे प्रमाणता के परतः होने से कारणगुणों की निश्चयपरम्परा अनन्त होने से अनन्तर ही अनवस्था दिखलाई गई वैसे ही प्रमाणता के स्वतः होने में भी दोषाभाव के निश्चयों की परम्परा के अनन्त होने से अनवस्था दोष जब समान है तब क्यों प्रमाणता परतः न मानी जाय?

उत्तर—प्रमाणता के स्वतः होने में अवश्य अनवस्था होती यदि प्रमाणता के निश्चय में दोषाभाव के निश्चय की अपेक्षा होती किन्तु ऐसा हई नहीं है क्योंकि दोष का ज्ञान ही प्रमाणता के निश्चय का बाधक है न कि दोष। और प्रमाणतारूप सत्यता का बाधक, अप्रमाणतारूप असत्यता, दोष के ज्ञान ही से होती है, तो जब दोष का ज्ञान नहीं है तब असत्यता आप से आप ज्ञान से निवृत्त हो जाती है। और दोष का जानना चाहो कारण के अधीन हो, परन्तु न जानना आप से आप सिद्ध है, और उसी से असत्यता निवृत्त हो जाती है। और सत्यतारूप प्रमाणता तो आप ही सिद्ध है तो अनवस्था कैसे हो सकती है। बौद्धमत के प्रदर्शन से लेकर यहां तक यह सिद्ध होगया कि वह्नि की उष्णता और जल की शीतलता के तुल्य प्रमाणता (सत्यता) ज्ञान का स्वभाव ही है और जैसे अग्नि का स्वभावभूत उष्णता भी मणि, मन्त्र औषध से बाधित होती है, वैसे ही सर्पज्ञानादि की स्वाभाविक प्रमाणता भी रस्सी आदि में उत्पन्न अप्रमाणता (असत्यता) से बाधित होती है कि यह सर्प नहीं है। और अप्रमाणता की उत्पत्ति दो ही प्रकार से होती है एक विषयबाध, (ज्ञान के विषय रज्जुआदि का सर्प आदि से अन्यथा होना) से और सर्पादिज्ञान के कारण इन्द्रियादि में अन्धकारादि दोष से। इस रीति से यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान की असत्यतारूप अप्रमाणता स्वतः अर्थात

यदा स्वतः प्रमाणत्वं तदाऽन्यन्नैव गृह्यते। निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः ॥ ५२ ॥
तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। अर्थान्यथात्वहेतूत्थ दोषज्ञानादपोद्यते ॥५३॥ इति

नन्वत्रैव पूर्वपक्षे "अप्रामाण्यं न परतः तस्यावस्तुतया दोषजन्यत्वासंभवात्" इति सौगतैरुक्तम्, तथा च दोषाजन्यस्याप्रामाण्यस्य दोषग्रहेणाग्राह्यत्वात्कथं परतस्त्वमिति चेन्न। ज्ञानाजनकत्वलक्षणस्य शब्दगतस्याप्रामाण्यस्याभावरूपतया तन्मतानुसारेणावस्तुत्वेऽपि संशयविपर्ययगतयोर्वस्तुभूतयोरप्रामाण्ययोर्दोषान्वयव्यतिरेकानुविधायिनोर्दोषजन्यत्वे बाधकाभावात्। अतो दुष्टकारणजन्येन ज्ञानेनात्मनः प्रामाण्यं विषयस्यार्थस्यातथाभूतस्यापि तथात्वरूपमवगतमपि तदर्थान्यथात्वज्ञानेन दोषज्ञानेन वा अपोद्यते। यत्तु अज्ञानरूपमप्रामाण्यं तत्रास्मन्मतेऽपि दोषाणांव्यापारो नैव विद्यते। सौगतानामिवास्माकमपि ज्ञानकारणाभावादेव तस्य सिद्धत्वात्॥ तथाच तत्रैव वार्तिके॥

अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः। वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र संभवो दुष्टकारणात्५४
अविज्ञाने तु दोषाणां व्यापारो नैव कल्प्यते। कारणाभावतस्त्वेव तत्सिद्धं नस्त्वदुक्तवत् ५५ इति

ननु प्रामाण्यस्य परतस्त्वे याऽनवस्था पूर्वमापादिता कथमसावप्रामाण्यस्य परतस्त्वेऽपि नापादयितुं शक्यते आपादकस्य पराधीनत्वस्योभयत्र समानत्वादिति चेन्न।

॥ भाषा ॥

स्वभाविक नहीं है किन्तु परतः अर्थात् कारणवश होती है। और इस युक्तिसिद्ध सिद्धान्त से विपरीत होने के कारण बौद्धों का सिद्धान्त कदापि ग्राह्य नहीं है। यहां तक, ४९ से ५३ तक वार्तिकश्लोकों के गूढ तात्पर्यों का वर्णन समाप्त होगया।

प्रश्न—बौद्धमत में यह पूर्व हीं कहा गया है कि 'प्रमाणता के अभावरूप होने से अप्रमाणता कोई वस्तु नहीं है क्योंकि अभाव शून्य है। इसी से अप्रमाणता, दोष से उत्पन्न नहीं हो सकती. तब अप्रमाणता का ज्ञान भी नहीं होसकता इस कारण अप्रमाणता कैसे परतः हो सकती है।

उत्तर—शब्द की अप्रमाणता यह है कि वह ज्ञान को उत्पन्न न करे जैसे 'अगवड' किसी अर्थ का ज्ञान नहीं कराता इसमें यह अप्रमाणता अभावरूप होने के कारण बौद्धमत के अनुसार कोई वस्तु न हो परन्तु और भी दो प्रकार की अप्रमाणता ज्ञानों की होती हैं जो कि वस्तुरूप हैं, जैसे "यह ठूंठा है वा मनुष्य" इस संशय में अप्रमाणता, और रस्सी में सर्पज्ञान की अप्रमाणता, इन दोनों में प्रथम अप्रमाणता, विरुद्ध विषयों का संबन्धरूप, और दूसरी असत्य पदार्थ का सबन्धरूप है इसी से दोष इनका कारण है। और ये दोनों अप्रमाणता भी ज्ञान की प्रमाणता की वाधिका हैं। और शब्द की अप्रमाणता जो बौद्धों ने दिखलाई है उसका तो अर्थ का न होना कारण है न कि दोष। इस बात को मीमांसक भी स्वीकार करेंगे। इस प्रश्न और उत्तर को भी धर्म लक्षण सूत्र ही पर श्लोक ५४ और ५५ से वार्तिककार ने कहा है।

प्रश्न—जैसे प्रमाणता के परतः होने में अनवस्था दिखलाई गई वैसे ही अप्रमाणता के परतः होने में भी क्या अनवस्था नहीं होगी? क्योंकि अनवस्था का कारण, यही है कि जो कारणों की परम्परा पराधीन होती है, तो अप्रमाणता की कारणपरम्परा भी पराधीन ही होगी। प्रसिद्ध है कि सभी कार्य अपने कारण की अपेक्षा करते हैं, और कारण, अपने कारण की, और वह कारण भी अपने कारण की अपेक्षा कर ही गा।

उत्तर (१) पराधीनतामात्र से अनवस्था नहीं होती किन्तु पदार्थ की कल्पना में उस के सजातीय दूसरे पदार्थ की, और दूसरे की कल्पना में तीसरे सजातीय की, और तीसरे की कल्पना में चौथे सजातीय की जब अपेक्षा होती है और इसी क्रम से सजातीयों की परम्परा कहीं समाप्त

नहि पराधीनत्वमात्रेणानवस्था भवति किन्तुस्वस्वजातीयापेक्षसजातीयपरम्परानुसरणेन, ततश्च यदि प्रामाण्यस्य प्रमाणान्तराधीनत्वमिवाप्रामाण्यस्याप्रामाणान्तराधीनत्वं स्यात् तदा स्यादेवासावनवस्था, इह तु अप्रामाण्यमर्थान्यथात्वस्य दोषस्य वा ज्ञानम्प्रमाणभूतमेवापेक्षते नाप्रमाणम्। किञ्च पूर्वज्ञानस्य बाधं विनोत्पत्तिमेवानासादयता तदुत्तरविशेषदर्शनेन स्वोत्पत्त्यवस्थायामेवार्थान्यथात्वरूपमप्रामाण्यं गृह्यते। एवञ्च नेदं रजतमित्याद्याकारेण विशेषदर्शनेन स्वीयस्वतःप्रामाण्यावधीरितप्रमाणान्तरापेक्षेण शीघ्रतरमेवार्थान्यथात्वरूपमप्रामाण्यं गृह्यत इति नात्रानवस्थोत्थापितत्तद्ग्रहमान्थर्यदौस्थ्यस्यार्थापनावसरः।

॥ इदमप्युक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

दोषतश्चाप्रमाणत्वे स्वतः प्रामाण्यवादिनाम्। गुणज्ञानानवस्थाव न्न दोषेषु प्रसज्यते ॥ ५६ ॥
साक्षाद्विपर्ययज्ञाना ल्लभ्येव त्वप्रमाणता। पूर्वाबाधेन नोत्पत्ति रुत्तरस्येह सिद्ध्यति ५७॥ इति

अथपरेणैव पूर्वं ज्ञानं बाध्यत इति कथं नियमः। परस्परविरोधिविषयताया उभयोरप्यविशिष्टत्वेन पूर्वेणापि परबाधस्य सुवचत्वात्। किञ्च विनिगमनाविरहप्रापितस्य परस्परबाधवैशसस्य परिहाराय यद्येकतरज्ञानसहायतया तत्संवादकं तदन्यज्ञानस्य बाधकं तत्कारणदोषावगाहि वा ज्ञानान्तरमपेक्ष्यते तदा द्वितीयज्ञानेऽपि सहायतया तथाभूतं ज्ञानान्तरमवश्यमपेक्ष्येत। विनिगमकाभावात् एवञ्च सहायज्ञानयोरपि मिथो बाधवैशसे

॥ भाषा ॥

नहीं होती तब अनवस्था होती है, जैसे ज्ञान का प्रमाण होना पूर्वोक्त रीति से अन्य प्रमाण के अधीन हो जाता है इस से अनवस्था कही गई। हां यदि ज्ञान का अप्रमाण होना भी सजातीय अर्थात् दूसरे अप्रमाण के अधीन होता तो यहाँ भी अनवस्था अवश्य होती परन्तु यहाँ वैसा नहीं है क्योंकि ज्ञान का अप्रमाण होना उसके कारणदोष और विषयबाध के अधीन है और वे दोनों सत्य ही हैं न कि अप्रमाण, इससे अप्रमाण की अपेक्षा विजातीय हैं।

(२) प्रथम ज्ञान ही, भ्रान्तिरूपी अप्रमाण होता है जैसे शुक्ति (सीप) में रजत (चाँदी) का ज्ञान, बा रस्सी में सर्पज्ञान। अनन्तर विशेषदर्शनरूपी दूसरा ज्ञान होता है कि यह सीप है चाँदी नहीं, या यह रस्सी है सर्प नहीं, इसी को बाधकज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान पूर्वज्ञान की अप्रमाणता का निश्चय कराता ही उत्पन्न होता है और अप्रमाणता, विषय की असत्यता को कहते हैं। यह बाधक ज्ञान, स्वतः प्रमाण ही होने से पूर्वज्ञान की अप्रमाणता को तुरित ही निश्चय कराता है, और किसी अन्य प्रमाण की कुछ भी अपेक्षा नहीं करता तो अनवस्था कैसे हो सकती है। इन बातों को भी वार्तिककार ने श्लोक ५६ और ५७ से कहा है।

प्रश्न—जब उक्त दो ज्ञानों में हर एक दूसरे का विरोधी है तो इस नियम में क्या कारण है कि उत्तर ही ज्ञान पूर्वज्ञान का बाधक होता है, पूर्वही ज्ञान क्यों नहीं उत्तर ज्ञान का बाधक होता?। और यदि उनमें से एक ज्ञान, अपने विषय की सत्यता का संपादक और उस अन्यज्ञान का बाधकरूपी किसी तीसरे ज्ञान को अपना सहाय बनाकर उस अन्य ज्ञान की अपेक्षा प्रबल हो सकता है तो वह अन्य ज्ञान भी किसी वैसे ज्ञान को अपना सहाय बनाकर उस प्रथम ज्ञान की अपेक्षा प्रबल क्यों नहीं होता? तथा इसी रीति से वे सहायरूपी दोनों ज्ञान भी परस्पर बाधक होने में अन्यान्य

भूयोऽपि सहायान्तरान्वेषणमित्यप्रामाण्यपरतस्त्वेऽनवस्थादौस्थ्यतादवस्थ्यमितिचेन्न । कथं हि पूर्वेण परस्य बाधः स्यात् । तस्य तदानीमनुपजातत्वात् । नचानुत्पाद एव तस्य प्रतिबन्धो वक्तुं शक्यः । तस्य कारणाभावत एव प्राप्तत्वात् । एवं परेणापि न पूर्वस्योत्पत्तिः प्रतिबध्यते, तस्य पूर्वमेवोत्पन्नत्वात् । नापि परस्य पूर्वजातीयज्ञानान्तरोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वमेव पूर्वबाधकत्वम्, द्वितीयस्य प्रमात्वे पूर्वस्य भ्रमत्वनियमेन तज्जनकदोषाभावादेव द्वितीयज्ञानानन्तरं तादृशज्ञानान्तरानुत्पत्तेः सिद्धत्वात् । नच द्वितीयज्ञानाभाव एव दोषाभाव इत्यायातमेव द्वितीयज्ञानस्य तादृशज्ञानान्तरप्रतिबन्धकत्वमिति वाच्यम् । द्वितीयज्ञानस्य दोषत्वे भ्रमत्वाभिमतात्पूर्वज्ञानात्प्राक् तादृशज्ञानरूपदोषाभावेन पूर्वज्ञानस्यैवानुत्पत्त्यापत्तेः, कारणाभावे कार्याभावस्यावश्यकत्वात् । नापि पूर्वज्ञाननाशकत्वमेव बाधकत्वम् । पूर्वज्ञानाज्ञातस्य संस्कारस्यापि तद्बाधकत्वापत्तेः । प्रमाया अपि स्वोत्तरेच्छादिबाध्यत्वापत्तेश्च । नापि पूर्वज्ञानस्याप्रामाण्यावगाहित्वमेव बाधकत्वम् । द्वितीय—

॥ भाषा ॥

ज्ञान की अपेक्षा क्यों न करें ? और इस रीति से ज्ञान की अप्रमाणता को परतः स्वीकार करने में अनवस्था क्यों न हो ?

उत्तर—पूर्व ज्ञान से पर (उत्तर) ज्ञान का बाध नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व ज्ञान के समय में पर ज्ञान, उत्पन्न हीं नहीं रहता तो बाध किस का होगा । यह नहीं कह सकते कि पूर्व ज्ञान, पर ज्ञान को उत्पन्न हीं नहीं होने देता यही पर ज्ञान का बाध है, क्योंकि परज्ञान यदि नहीं होता है तो अपने कारण के न रहने से नहीं होता न कि पूर्व ज्ञान के प्रभाव से । एवं पर ज्ञान से भी पूर्व ज्ञान का बाध यह नहीं है कि परज्ञान, पूर्व ज्ञान को उत्पन्न हीं न होने दे, क्योंकि पूर्व ज्ञान की उत्पत्तिसमय में परज्ञान स्वयं उत्पन्न हीं नहीं रहता तो कैसे उस की उत्पत्ति का बारण कर सकता है । यह भी नहीं कह सकते कि परज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध, यही है कि परज्ञान के अनन्तर पूर्वज्ञान के ऐसा कोई अन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि जब दोनों ज्ञान का विषय परस्पर विरुद्ध है और परज्ञान यथार्थ है तो पूर्व ज्ञान अवश्य हीं भ्रमरूपी होगा, और भ्रम का कारण भी इन्द्रिय आदि का कोई दोष हीं होगा तथा उस दोष के हटने हीं से परज्ञान यथार्थरूपी उत्पन्न होगा तब परज्ञान के अनन्तर दोषरूपी कारण के न रहने हीं से पूर्व ज्ञान के ऐसा भ्रमरूपी कोई अन्यज्ञान उत्पन्न नहीं होता इस से उस के उत्पन्न न होने में परज्ञान का कोई प्रभाव नहीं है । यह भी नहीं कह सकते कि परज्ञान का नाश हीं दोष का हटना है और वहीं पूर्व के ऐसे अन्य ज्ञान का बाधक है, क्योंकि पर ज्ञान अपनी उत्पत्ति से तीसरे क्षण में नष्ट होता है तो उसका नाश उसी क्षण मे माना जायगा, और वही दोष का हटना है इसी से परज्ञान के अनन्तर पूर्वज्ञान के ऐसा कोई अन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता क्योंकि इस रीति से स्पष्ट यह कहा जाता है कि परज्ञान हीं दोष है क्योंकि उसका नाश हीं दोष का हटना है । और परज्ञानरूपी दोष पूर्व ज्ञान से पूर्व समय में नहीं रहता तो बिना दोषरूपी कारण के भ्रमरूपी पूर्व ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हो सकती है ? तथा यह कहना भी उचित नहीं है कि परज्ञान से पूर्वज्ञान का जो नाश होता है वह नाश हीं बाध है और नाशक हीं को बाधक कहते हैं, क्योंकि यदि नाशक को बाधक कहा जाय तो पूर्व ज्ञान अर्थात् रजतज्ञान वा सर्पज्ञान से आत्मा में जो संस्कार उत्पन्न होता है, जिस

ज्ञानस्य पूर्वज्ञानाविषयकतया तदसंभवात्। नापि पूर्वज्ञानं भ्रमः, तदभाववति तत्प्रकारकत्वादित्यनुमानोत्थापनद्वारेण बाधकत्वमिति वाच्यम्। तथासति जाते द्वितीयस्मिन् ज्ञाने प्रकृतानुमानोत्थानात्प्रागनपोह्यमानतया पूर्वज्ञानस्य प्रवर्तकत्वापत्तेः। अत एवेदं ज्ञानं भ्रम इति धीर्न बाधः किंतु ग्राह्याभावनिश्चय एव तथेति सर्वतान्त्रिकराद्धान्तः। इत्थञ्च स्वतः प्राप्तमपि प्रथमस्य प्रामाण्यं द्वितीयेन बाध्यते। पूर्वज्ञाने प्रकारीभूतधर्मस्य धर्मिण्यभावबोधएव च पूर्वज्ञानस्य बाधः। नचैवमपि पूर्वज्ञानमप्युत्तरस्य बाधकं किन्न स्यादिति वाच्यम्। ज्ञानान्तरगृहीतविषयाभावबोधस्यैव बाधरूपत्वात्, अस्ति चोत्तरस्य तथात्वं नतु पूर्वस्य।

॥ भाषा ॥

से कि कालान्तर में रजत वा सर्प का स्मरण होता है वह संस्कार भी पूर्व ज्ञान का नाशक है इससे वह भी बाधक हो जायगा। दूसरा यह भी दोष पड़ैगा कि यथार्थज्ञान भी अपने अनन्तर उत्पन्न इच्छा आदि से बाधित हो जायगा क्योंकि वे इच्छा आदि, ज्ञान के नाशक हैं। यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि आत्मा के ज्ञानादि गुणों का उनके अनन्तर उत्पन्न इच्छादि गुणों से नाश होता है। और यह कहना भी उचित नहीं है कि परज्ञान, पूर्व ज्ञान में असत्यतारूप अप्रमाणता का निश्चय कराता है क्योंकि वह स्वयं उक्त अप्रमाणता का निश्चयरूप है यही परज्ञान से पूर्वज्ञान का बाध है, क्यों कि परज्ञान का विषय, केवल रजत न होना और शुक्ति होना, वा सर्प न होना और रस्सी होना, ये ही दो पदार्थ हैं, तो वह अपने विषय ही अर्थात् शुक्ति वा रस्सी में रजत वा सर्प न होने का केवल निश्चय करा सकता है न कि रजतज्ञान वा सर्पज्ञान में अप्रमाणता का। क्योंकि पूर्वज्ञान को परज्ञान जब अपना विषय ही नहीं बनाता तब उस में अप्रमाणता का निश्चय कैसे करा सकता है। यदि यह कहा जाय कि परज्ञान इस अनुमान को उठाता है कि "रजतज्ञान वा सर्पज्ञान भ्रम है, क्योंकि जो पदार्थ रजत वा सर्प नहीं है, किन्तु शुक्ति वा रस्सी है उस में यह रजत वा सर्प का ज्ञान हो रहा है" और इसी अनुमान के द्वारा परज्ञान, पूर्वज्ञान का बाधक है। इसी से बाध भी उक्त अनुमान को उठाना ही है, तो इस में भी यह दोष है कि अनुमान के उठाने के लिये दो एक क्षण का समय चाहिये और जब तक परज्ञान उक्त अनुमान को उठावैगा उसके प्रथम, तथा परज्ञान के अनन्तर अर्थात् मध्यमें भी रजतज्ञान वा सर्पज्ञान से उस भ्रान्तपुरुष की प्रवृत्ति वा निवृत्ति हो जायगी, क्योंकि उस समय में अनुमान के न उठने से पूर्व ज्ञान बाधित नहीं है और प्रवृत्ति वा निवृत्ति के होने पर परज्ञान सर्वथा निष्फल ही हो जायागा।

तस्मात् सब दर्शनों का यही सिद्धान्त है कि परज्ञान से पूर्व ज्ञान का बाध, यही है कि जो परज्ञान का विषय रजत वा सर्प, शुक्ति वा रज्जु में झूठा अर्थात् नहीं है। और परज्ञान उसी असत्यता (झूठाई) का निश्चय कराता है इसी से परज्ञान ही पूर्व ज्ञान का बाधक होता है॥ इस रीति से पूर्व ज्ञान में प्रमाणता (सत्यता) जो स्वभाव से सामान्यतः प्राप्त है वह परज्ञान से बाधित होती है, अर्थात् पूर्व ज्ञान की असत्यता का निश्चय परज्ञान से होता है। इसी से यह नियम है कि पर ही ज्ञान पूर्व ज्ञान का बाधक होता है और पूर्व ज्ञान के समय में परज्ञान रहता ही नहीं है तो पूर्वज्ञान, पर ज्ञान की असत्यता का निश्चय कैसे करा सकता है। इसी से पूर्वज्ञान, परज्ञान का बाधक नहीं होता।

नचायमुत्सर्गः, सर्वमेव पूर्वज्ञानं परेण विरोधिविषयिणा बाध्यत एवेति । किन्तूत्तरं ज्ञानं यदि दुष्टकारणजन्यत्वबोधेन नैतदेवमिति विषयान्यथात्वबोधेन वा बाधितं न भवति तदैव, सबाधके हि द्वितीयस्मिन्निरपवादं प्रथममेवौत्सर्गिकं प्रामाण्यं लभते । नच तृतीयमेव किमिति द्वितीयेन न बाध्यत इति वाच्यम् । अज्ञायमानदोषं हि बाधकं भवति नच द्वितीयं तथा किन्तु तृतीयमेव । यदा तु तृतीयेऽपि ज्ञाने दोषनिर्णयो बाधकज्ञानं वा जायते तदा द्वितीयेनैव पूर्वज्ञानस्य बाधः । तस्माच्चतुर्थादूर्ध्वं पञ्चमसप्तमादीनां विषमसंख्या-

॥ भाषा ॥

प्रश्न में बाध के नियम का कारण जो पूछा गया वह यहां तक भली भाँति स्पष्ट दिखला दिया गया, अब अनवस्था दोष का उद्धार किया जायगा । इस से प्रथम इन चार ज्ञानों का दिखलाना आवश्यक है जो नीचे दिखलाये जाते हैं कि

(१) "यह, चाँदी है"

(२) "यह, चाँदी नहीं है किन्तु सीपी है"

(३) "यह दूसरा ज्ञान, दुष्टकारण से उत्पन्न है" वा "यह दूसरा ज्ञान, झूठा है"

(४) "यह तीसरा ज्ञान, दुष्ट कारण से उत्पन्न है" वा "यह तीसरा ज्ञान, झूठा है"

यह ध्यान नहीं करना चाहिये कि सभी पूर्वज्ञानों का, विरोधी परज्ञानों से अवश्य ही बाध होता है किन्तु परज्ञान, यदि कारणदोष वा विषय के अन्यथा होने के ज्ञान से बाधित न हो तभी उस पर ज्ञान से पूर्वज्ञान का बाध होता है, क्योंकि जब उस द्वितीय ज्ञान का कारणदोष वा विषयमिथ्यात्व के निश्चय रूपी तृतीय ज्ञान से बाध होता है तब उस द्वितीय ज्ञान की बाधकता-शक्ति ही नष्ट हो जाती है इसी से प्रथम ही ज्ञान अबाधित होकर अपनी स्वाभाविक प्रमाणता (सत्यता) को पाता है । यह तो कहा नहीं सकते कि द्वितीय ही ज्ञान क्यों नहीं तृतीय ज्ञान का बाध करता, ? क्योंकि बाधक, वही ज्ञान होता है जिसका दोष नहीं ज्ञात रहता, और द्वितीय ज्ञान का दोष तो तृतीय ज्ञान से निश्चित हो जाता है तो द्वितीय ज्ञान कैसे तृतीयज्ञान का बाधक हो सकता है ? और तृतीय ज्ञान का दोष तो यदि हो भी तो अज्ञात ही है, इसी से तृतीय ज्ञान से द्वितीय ज्ञान का बाध होता है । जब तो तृतीय ज्ञान का भी दोषनिर्णय वा बाधकज्ञानरूपी चतुर्थज्ञान उत्पन्न होता है तब द्वितीय ही ज्ञान से प्रथम ज्ञान का बाध होता है, क्योंकि चतुर्थ ज्ञान से तृतीय ज्ञानकी बाधकता शक्ति नष्ट हो जाती है इस कारण द्वितीय ज्ञान अबाधित होकर, अपनी स्वाभाविक प्रमाणता (सत्यता) को पाता है, और उक्त रीति से प्रथम ज्ञान का बाध करता है । निदान चतुर्थ ज्ञान के ऊपर पञ्चम, सप्तम आदि विषम संख्यावाले यदि सैकड़ों ज्ञान माने जायँ तो भी वे तीसरे ज्ञान से गतार्थ हो सकते हैं ? क्योंकि वे परिणाम में द्वितीय ही ज्ञान का बाध करेंगे, जिसको कि तृतीय ज्ञान करता है । इससे प्रथम ज्ञान की प्रमाणता स्थिर हो गई । ऐसे ही चतुर्थ ज्ञान के ऊपर षष्ट अष्टम आदि समसंख्यावाले यदि सैकड़ों ज्ञान भी मानें जायँ तो वे चतुर्थ ज्ञान से गतार्थ हो सकते हैं क्योंकि वे परिणाम में प्रथम ही ज्ञान का बाध करेंगे जिसको कि चतुर्थ ज्ञान करता है । इस से द्वितीय ज्ञान की प्रमाणता स्थिर हो गई ॥

यह उक्त विषय अत्यन्त सूक्ष्म है इससे इसका पुनः विवरण किया जाता है कि यदि चतुर्थ

कज्ञानानामङ्गीकारेऽपि तेषां तृतीयज्ञानकार्यकारितया तृतीयस्थानीयत्वेन षष्ठाष्टमादीनां समसंख्याकज्ञानानाञ्च चतुर्थज्ञानकार्यकारितया चतुर्थस्थानीयत्वेन न चतुर्थज्ञानाधिका कापि मतिर्बाधकत्वेन प्रार्थ्यत इति चतुर्थज्ञानावसान एवाप्रामाण्यनिर्णय इति कथमनवस्था । रत्नतत्त्वपरीक्षान्यायस्तु न प्रकृतेऽनवस्थां वारयितुमीष्टे । तस्य समानविषयकज्ञानमात्रविषयकतया परस्परास्पृष्टविषयकेषु प्रकृतज्ञानेष्वप्रवृत्तेः । कारणदोषज्ञानंतु पूर्वज्ञाने भ्रमत्व ज्ञापनद्वारा विषयान्यथात्वबोधरूपं बाधं जनयतीत्येतावानेव विशेषः ।

॥ भाषा ॥

ज्ञान का बाधक पञ्चमज्ञान माना जाय तो उससे चतुर्थज्ञान की बाधकताशक्ति नष्ट होगी तब तृतीयज्ञान स्वाभाविक प्रमाण होकर द्वितीयज्ञान का बाध करेगा, इससे प्रथमज्ञान स्वाभाविक प्रमाण होगा ।

इसी रीति से सप्तम आदि विषमसंख्यावाले ज्ञानों के स्वीकार में प्रथम ही ज्ञान स्वाभाविक प्रमाण होगा जोकि तृतीयमात्र बाधक ज्ञान के स्वीकार से स्वाभाविक प्रमाण होता है ।

और यदि षष्ठ बाधकज्ञान माना जाय तो उससे पञ्चमज्ञान की बाधकताशक्ति नष्ट होगी तब चतुर्थज्ञान अबाधित होकर अपनी स्वाभाविक प्रमाणता को पावेगा । तथा तृतीयज्ञान की बाधकता शक्ति को नष्ट करेगा । इससे द्वितीय ही ज्ञान स्वाभाविक प्रमाण होगा, और प्रथमज्ञान उससे बाधित हो कर पूर्वोक्त रीति से अप्रमाण होगा ।

इसी रीति से अष्टम आदि समसंख्यावाले ज्ञानों के स्वीकार में द्वितीय ही ज्ञान स्वाभाविक प्रमाण होगा, जो कि चतुर्थमात्र बाधकज्ञान के स्वीकार से स्वाभाविक प्रमाण होता है ।

तस्मात् अप्रमाणता के निर्णयार्थ, चतुर्थ से अधिकज्ञान की अपेक्षा कदापि नहीं हो सकती । इससे यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान की अप्रमाणता को परतः स्वीकार करने में किसी प्रकार से अनवस्था दोष नहीं हो सकता ।

पण्डित शङ्करमिश्र ने तो रत्नतत्त्वपरीक्षा के दृष्टान्त से उक्त अनवस्थादोष का वारण किया है । उनका यह अभिप्राय है कि जैसे रत्न (हीरा आदि) के गुणपरीक्षार्थ तीन ही चार रत्नपरीक्षकों के ज्ञानों पर सन्तोष कर मनुष्य, रत्नों के गुणों का निश्चय कर, लेना देना आदि व्यवहार करते हैं, वैसे ही रजतादि विषयों की असत्यता भी तीन ही चार ज्ञानों से निश्चित होती है और उससे वे शुक्ति आदि तात्त्विक विषय निश्चित हो जाते हैं अधिक ज्ञानों की अपेक्षा नहीं होती इससे अनवस्थादोष नहीं है । यह समाधान उनका ठीक नहीं है क्योंकि रत्नपरीक्षा में प्रथम और द्वितीय ज्ञान परस्पर विरुद्ध हो सकते हैं परन्तु अधिक ज्ञान जो होंगे वे उन में से एक के समानविषयक अवश्य होंगे, इस से यह दृष्टान्त, समानविषयक ही ज्ञानों में मिल सकता है । प्रकृत में तो जो चार ज्ञान पहिले दिखलाये गये हैं उन में से तीन और चार तथा उनसे अधिक भी जो ज्ञान होंगे वे सब ऐसे हैं कि उनमें से हरएक ज्ञान अन्य ज्ञानके विषयों को छुएगा भी नहीं, तब यहां उक्त दृष्टान्त का कोई अवसर ही नहीं है । और बाधक ज्ञान की अपेक्षा कारणदोष के ज्ञान में इतना ही विशेष है कि बाधकज्ञान, पूर्वज्ञान का साक्षात् ही बाधरूपी है और कारणदोष का ज्ञान तो पूर्वज्ञान को भ्रम बनाकर उसके विषय में मिथ्यात्व-निश्चयरूपी बाध को उत्पन्न करता है । इन सब युक्तियों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर ५८ से ६१

॥ तदुक्तं वार्तिके तत्रैव ॥

दुष्टकारणबोधे तु सिद्धेऽपि विषयान्तरे । अर्थात्तुल्यार्थता प्राप्य बाधो गोदोहनादिवत् ॥५८॥
तत्र दोषान्तरज्ञानं बाधधीर्वा परा न चेत् । तदुद्भूतौ द्वितीयस्य मिथ्यात्वादाद्यमानता ॥५९॥
स्वत एवहि तत्रापि दोषाज्ञानात्प्रमाणता । दोषज्ञाने त्वनुत्पन्ने न शक्या निष्प्रमाणता ॥ ६० ॥
एवं त्रिचतुरज्ञानजन्मनो नाधिका मतिः । प्रार्थ्यते तावतैवैकं स्वतः प्रामाण्यमश्नुते ॥६१॥ इति

अप्रामाण्यस्य परतस्त्वादेव ज्ञानस्य कारणेषु दोषसंशयाज्जायमानस्तदप्रामाण्यसंशयः स्वस्वभावादेवाप्रामाण्यमिव प्रामाण्यमपि कोटितयाऽवलम्बत इति न स्वतःप्रामाण्यपक्षे तत्संशयानुपपत्तिः । एवंच चक्षुरादीनामिव शब्दानामप्यौत्सर्गिकं प्रामाण्यम् । अप्रामाण्यन्तु पौरुषेयेषु वाक्येषु वक्तृदोषाधीनम् । दोषाश्च यत्र वक्तृगुणैरपाकृतास्तत्र लौकिकेष्वपि वाक्येष्वनपोदितमेवौत्सर्गिकं प्रामाण्यमन्यत्रचाप्रामाण्य मिति लौकिकं वाक्यं किञ्चित्प्रमाणं किञ्चिच्चाप्रमाणमिति व्यवस्था मूपपादा । अपौरुषेये तु वेदे निर्मातुः पुरुषस्याभावादेव दोषाणामनाश्र-

॥ भाषा ॥

श्लोक पर्यन्त वार्तिककार ने सूचित किया है ।

प्रश्न—ज्ञान की प्रमाणता यदि स्वतः मानी जाय तो किसी ज्ञान की प्रमाणता का संशय जो होता है कि "यह ज्ञान सत्य है कि मिथ्या" यह कैसे हो सकता है ? क्योंकि यदि प्रमाण है तो प्रमाणता का निश्चय आप ही हो जायगा तब संशय कैसे होगा ?

उत्तर—यद्यपि प्रमाणता स्वतः होती है तथापि अप्रमाणता परतः ही होती है और उसका निश्चय, कारणदोष के निश्चय से होता है तो जब ज्ञान के कारण इन्द्रियादि में दोष का संशय होगा तब उसके अनुसार ज्ञान में भी अप्रमाणता का संशय अवश्य ही होगा । और वह संशय एक अप्रमाणता और दूसरी प्रमाणता को अवश्य ही विषय करेगा क्योंकि संशयज्ञान का यह स्वभाव ही है कि वह परस्परविरुद्ध अनेकधर्मों को अपना विषय बनाता है, तो अप्रमाणता के विरुद्ध प्रमाणता ही को अप्रमाणता का संशय, विषय करेगा और वही संशय, जैसे अप्रमाणता का है वैसे ही प्रमाणता का भी है । इस रीति से ज्ञान को स्वतः प्रमाण मान लेने में भी प्रमाणता का संशय भली भांति हो सकता है ।

यहांतक पूर्णरूप से यह दृढ सिद्ध हो गया कि ज्ञानों की प्रमाणता, स्वतः (आपही आप) होती है और अप्रमाणता परतः, अर्थात् कारण के दोष वा विषय के बाध से होती है । अब वेद की स्वतः प्रमाणता (जिसका कि प्रकरण है) सिद्ध की जाती है ।

सत्यज्ञान जिस कारण से उत्पन्न होता है वही, प्रमाण कहलाता है, जैसे नेत्र आदि इन्द्रिय, और शब्द भी ज्ञान को उत्पन्न करता है, तथा ज्ञान की सत्यता स्वाभाविक है तो सभी शब्द स्वाभाविक प्रमाण ही होते हैं ।

और अप्रमाणता तो पौरुषेय शब्दों की उनके वक्ताओं के दोष से होती है, तथा जिन शब्दों के वक्ताओं में गुणों के कारण, दोष नहीं रहते उनके कहे हुए वाक्य, स्वाभाविक प्रमाण ही होते हैं इससे पौरुषेय वाक्यों में यह व्यवस्था सिद्ध हो गई कि कोई वाक्य प्रमाण और कोई अप्रमाण होता है, परन्तु वेद अपौरुषेय है इससे दोषों का आश्रयरूपी वक्ता पुरुष के न होने ही से दोषों

यत्वादभाव इत्यौत्सर्गिकस्य प्रामाण्यस्यानपोदितत्वादिदः प्रमाणमेव । नच लोके शब्दस्य प्रामाण्यं वक्तृगुणाधीनमेवदृष्टम् अन्वयव्यतिरेकानुरोधात् वेदे तु दोषाणामिव गुणानामपि वक्तुरभावेन निराश्रयत्वादभावेन सुतरामप्रामाण्यमेवेति वाच्यम् । प्रमाणभूतेषु पौरुषेयेषु वाक्येषु हि न गुणानां केवलानामेवान्वयव्यतिरेकौ प्रामाण्यं प्रति दृश्येते किन्तु दोषाभावस्यापि । नच दोषाभावस्य गुणैरन्यथासिद्धिः शङ्कितुं शक्यते गुणस्य प्रामाण्यं प्रति कारणत्वे हि सा स्यात् तच्च पूर्वमेवानवस्थादिभिर्दोषैर्दृढतरमपाकृतमतः पौरुषेयवचसि दोषाभाव एव प्रामाण्यकारणम्, सच लौकिकवाक्येषु वक्तृदोषस्यापि संभवात्कियता प्रयत्नेनापि निर्णीतोभवति, वेदे तु निर्मातृपुरुषाभावादेव स्वतः सिद्ध इति प्रामाण्यमेव वेदस्य । नचैवं सति दोषाभावनिबन्धनत्वादेव वेदे प्रामाण्यस्य परतस्त्वमापतितमिति वाच्यम् । दोषाभावो ह्यपवादाभाव एवोपयुज्यते नतु प्रामाण्ये साक्षात्, यत्र हि विपर्ययज्ञानात्साक्षादेवार्थान्यथात्वमवधार्यते यत्र च दोषज्ञानेन परम्परया, तत्रोभयत्रापि दोषा एवाप्रामाण्ये कारणम् गुणास्तु तदभावप्रयोजकाः अतो दोषाभावादेवोक्ताप्रामाण्यद्वया-

॥ भाषा ॥

का संभव ही इस में नहीं हो सकता । इस लिये वेद की स्वाभाविक प्रमाणता में किसी प्रकार के विघ्न का संभव भी नहीं है । तस्मात् वेद, प्रमाण ही है । वेद की अपौरुषेयता का तो आगे बहुत शीघ्र निरूपण होगा ।

प्रश्न—लौकिक वाक्यों की प्रमाणता, वक्ताओं के गुणानुसार ही देखी जाती है और जब वेद का कोई वक्ता नहीं है तब तो दोषों के नाईं गुण भी नहीं हो सकते, क्योंकि जैसे दोष, वक्ताओं के धर्म हैं वैसे ही गुण भी उन्हीं के धर्म हैं, और वक्ता के न होने से जैसे दोष नहीं हैं वैसे गुण भी नहीं हैं । इस से विना गुणों के, वेद में प्रमाणता के बदले अप्रमाणता ही आ गई ? ॥

उत्तर—गुणों में प्रामाण्य की कारणता यदि होती तो यह प्रश्न ठीक ही था परन्तु अनवस्था आदि अनेक दूषणों से गुण की कारणता पूर्णरूप से पूर्व ही खण्डित हो चुकी है । इस से दोषाभाव ही प्रमाणता का कारण होता है । और लौकिक वाक्यों में वक्ता के दोषों का भी संभव है । इस कारण परीक्षा करने से वक्ता में दोष के अभाव का निश्चय होता है । वेद में तो पुरुष के अभाव ही से परीक्षा के विना ही दोष के अभाव का निश्चय आप से आप सिद्ध है, इस लिये वेद स्वतः प्रमाण है ।

प्रश्न—जब उक्त रीति से प्रमाणता का कारण, दोषाभाव हुआ तब प्रमाणता स्वतः कैसे हुई, क्योंकि प्रमाणता दोषाभाव से हुई न कि आप से आप ? ।

उत्तर—यह प्रश्न भी तब ठीक होता यदि प्रमाणता में दोष का अभाव साक्षात् कारण होता किन्तु ऐसा नहीं है, दोषाभाव, ज्ञानों के अबाधित होने ही में कारण है, क्योंकि ज्ञान के बाध की दो चालें हैं । एक यह कि दुष्टकारणकृत पूर्वज्ञान के विषय को, विरोधी परज्ञान साक्षात् झूठा बतलाता है । दूसरी यह कि पूर्वज्ञान के कारणभूत इन्द्रियादि में दोष का ज्ञान हुआ, अनन्तर उस ज्ञान की अप्रमाणता के निश्चय से उस ज्ञान के विषय में असत्यता का निश्चय रूपी बाध हुआ । इन दोनों चालों के बाधरूपी अप्रमाणता में दोष ही कारण हैं गुणों का तो दोषों को हटाना ही काम है तो जब दोषों के अभाव से उक्त दोनों प्रकार की अप्रमाणताएं नहीं होतीं तो ज्ञान की स्वाभाविक

संभवादौत्सर्गिकस्य प्रामाण्यस्य नापवादो वक्तुं शक्यते। असति चापवादे यदि प्रत्यक्षादीनामिव पौरुषेयवाक्यानामपि ज्ञानजनकत्वात्प्राप्तमौत्सर्गिकं प्रामाण्यं न केनाप्यपनीयते तदा कथमिव संभाव्येतापि अपौरुषेयस्य वेदस्य गुणाप्रयुक्तत्वेन स्वतःसिद्धाद्दोषाभावात्ततोऽपि दृढतरं प्रामाण्यं केनापि कदाचिदप्यपनीयेतेति।

॥ तदुक्तं वार्तिके तत्रैव ॥

शब्दे दोषोद्भवस्तावद्वक्त्रधीन इति स्थितिः। तदभावः क्वचित्तावद्गुणवद्वक्तृकत्वतः ॥ ६२ ॥
तद्गुणैरपकृष्टानां शब्दे संक्रान्त्यसंभवात्। यद्वा वक्तुरभावेन न स्युर्दोषा निराश्रयाः ॥ ६३ ॥
पौरुषेये द्वयं दृष्टं दोषाभावो गुणास्तथा। प्रामाण्यं तत्र गुणतो नैवस्यादित्युदाहृतम् ॥ ६४ ॥
तस्माद्गुणेभ्योदोषाणामभावस्तदभावतः। अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः ॥ ६५ ॥
प्रत्ययोत्पत्तिहेतुत्वात्प्रामाण्यं नापनीयते। इति।

अथ यदि पौरुषेयवाक्येषु दोषाभावे गुणप्रयुक्तत्वमभ्युपेयेत तदा गुणस्य प्रामाण्यप्रयोजकतापक्षे त्वयैवापादितपूर्वाऽनवस्था प्रत्यापत्स्यत इतिचेन्न प्रामाण्यावधारणेगुणानां ज्ञायमानतया कारणत्वाभ्युपगमे हि पूर्वमनवस्थाऽऽपादिता दोषाभावे तु स्वसत्तामात्रेण दोषापसारणद्वारा कारणतामनुभवन्तो गुणा अपवादमात्रमपसारयन्ति, प्रामाण्य न्त्वौत्सर्गिकमेवेति कथमनवस्थाप्रत्यापत्तिसंभवः। वेदे तु गुणानपेक्षो वक्त्रभावात्स्वतः सिद्ध एव

॥ भाषा ॥

प्रमाणता को कौन हटा सकता है ?। और जब वह नहीं हट सकती तब उस प्रमाणज्ञान के कारणभूत पौरुषेयवाक्यों में भी इन्द्रियादि प्रत्यक्ष प्रमाणों के नाईं स्वाभाविक प्रमाणता अटल ही होती है। अब यह समझने की बात है कि जब पौरुषेयवाक्यों की भी स्वतः प्रमाणता समयविशेष में अटल होती है तब अपौरुषेय वेदवाक्यों की स्वाभाविक प्रमाणता के टलने का त्रिकाल में भी संभवमात्र नहीं हो सकता है क्योंकि लौकिक वाक्यों में गुणों से दोष हटते हैं और वैदिक वाक्यों में तो वक्ता के न होने से दोषों का अभाव आप ही आप सिद्ध है। इस लिये पौरुषेय सत्यवाक्यों की अपेक्षा अपौरूषेय वेद की स्वाभाविक प्रमाणता कहीं दृढतर है। इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर श्लोक ६२ से ६६ तक में वार्तिककार ने सूचित किया हैं।

प्रश्न—यदि पुरुषों में दोषाभाव, गुणकृत माना जाय तो दोषाभाव ही के द्वारा गुण भी प्रमाणता के प्रयोजक हो गए जिस पर कि अनवस्थादोष पूर्व ही दिखलाया गया है तो वह अब क्यों नहीं पलट पड़ता ?।

उत्तर—ज्ञान की प्रमाणता के निश्चय में गुणों के ज्ञान को कारण माननें में पूर्व हीं अनवस्था दिखलाई गई है सो उस में वह ठीक ही है यहां तो दोषाभाव में गुण ही कारण माने गये हैं न कि उनका ज्ञान, क्योंकि गुण अपने रहने मात्र से दोषों को हटाते हुए केवल, ज्ञान के बाध को दूर करते हैं प्रमाणता तो ज्ञान की स्वाभाविक (आप से आप) है उसमें गुणों की अपेक्षा नहीं है, तो ऐसी दशा में अनवस्था के पलटने का कदापि सम्भव नहीं है। इस रीति से यह सिद्ध हो गया कि पौरुषेयवाक्यों की प्रमाणता में भी गुणों की अपेक्षा नहीं है केवल दोषाभाव में गुणों की अपेक्षा हो सकती है। और अपौरुषेय वेदवाक्यों में तो दोषाभाव भी कर्ता के अभाव

दोषाभाव इत्यपवादाभावोऽपि तदनुसारीति तत्रापवादः शशे शृङ्गायमाणः कथमिव शङ्कितुमपि शक्यते । तथा च पौरुषेयवाक्येषु स्वात्मलाभाय वक्तारमपेक्षमाणेष्वपि प्रामाण्यं दोषाभावमेवापेक्षते न गुणान् । एवं च नित्ये तस्मिन्नर्थेऽनुपदमेव प्रदर्शिताभियुक्तिभिर्दृढतरमुपपादितेऽपि वेदस्य प्रामाण्यसिद्धये नैयायिकादिभिस्तस्य श्रीभगवत्प्रणीतत्वरूपं यत् पौरुषेयत्वमुररीक्रियते तद्वृथैव, प्रत्युत शाक्याद्यागमवदप्रामाण्यशङ्कोत्थापने प्रतिवादि हृदयङ्गमे फल एव तस्य पर्यवसानमवसेयम् ।

॥ तदुक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

दोषाभावो गुणेभ्यश्चेत्तनु सैवास्थितिर्भवेत् ॥ ६६ ॥
तदा न व्याप्रियन्ते हि ज्ञायमानतया गुणाः । दोषाभावे तु विज्ञेये सत्तामात्रोपकारिणः ॥६७॥
तत्रापवादनिर्मुक्तिर्वक्त्रभावाल्लघीयसी । वेदे तेनाप्रमाणत्वं नाशङ्कामधिगच्छति ॥ ६८ ॥
अतो वक्त्रनधीनत्वात्प्रामाण्ये तदुपासनम् । न युक्तमप्रमाणत्वे कल्प्ये तत्प्रार्थना भवेत् ॥६९॥
ततश्चाप्तप्रणीतत्वं न दोषायात्र जायते । इति ।

एवं पौरुषेयवाक्यानां स्वतःप्रामाण्येऽपि तदनपवादाय तेषु प्रमाणान्तरमूलताऽवश्यमपेक्ष्यते मूलप्रमाणाभावे ह्यर्थादप्रमाणमूलतया दुष्टान्येव तानि भवन्ति दोषश्चापोद्यत एव तेषां प्रामाण्यम् । वेदे तु मूलप्रमाणाभावेऽप्यप्रमाणमूलकता वक्तृपुरुषाभावादेव नाक्षेप्तुं

॥ भाषा ॥

से स्वतः सिद्ध ही है, इससे उसमें भी गुणों की अपेक्षा नहीं है । और स्वतः सिद्ध दोषाभाव ही के अनुसार बाध का भी अभाव स्वतःसिद्ध ही है । इस लिये जैसे शश (खरगोश) के शृङ्ग की, शङ्का भी नहीं होती वैसे ही वेद के बाध की शङ्का भी नहीं हो सकती । और जब वक्ता की अपेक्षा करने वाले लौकिकवाक्यों की प्रमाणता में भी गुणों की अपेक्षा न होना, उक्त युक्तियों के अनुसार पूर्णरूप से सिद्ध है तब वेद की प्रमाणता के अर्थ, नैयायिकादि दार्शनिक, जो वेद को ईश्वरोक्त सिद्ध कर पौरुषेय मानते हैं वह उनका मानना, केवल अत्यन्त व्यर्थ ही नहीं है किन्तु इस मानने का वेद में अप्रमाणता की शङ्का उत्पन्न करना ही उलटा फल है, क्योंकि बुद्धागम पौरुषेय ही होने के कारण, इस लिये अप्रमाण है कि भ्रम. प्रमाद. आदि दोष पुरुषों के स्वभाव में अन्तर्गत होते हैं तो वेद यदि पौरुषेय माना जाय तो अवश्य ही इसकी भी वही दशा होगी जो कि बुद्धागम की होती है । और यदि यह कहा जाय कि ईश्वर में दोष नहीं हैं और बुद्ध में हैं, तो बौद्ध लोग भी इसके बिपरीत अवश्य कहेंगे तथा आग्रह होने पर नैयायिक को शपथ ही का शरण लेना पड़ेगा जोकि अकिंचित्कर है । इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर श्लोक ६६ ॥ से ७०॥ पर्यन्त वार्तिक कार ने कहा है ।

ऐसे ही पौरुषेय सत्यवाक्यों की अपेक्षा अपौरुषेय वेदवाक्यों में यह भी बिशेष है कि पौरुषेयवाक्यों की प्रमाणता में मूलप्रमाण की अपेक्षा अवश्य होती है अर्थात् वक्ता यदि अर्थ को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ठीक समझ कर उसके अनुसार वाक्य की रचना करता है तभी वह वाक्य प्रमाण होता है और यदि ऐसा न हो तो उस वाक्य की स्वाभाविक प्रमाणता भी मारी जाती है । वेद में तो मूलप्रमाण न रहने पर भी यह नहीं कह सकते कि इसका कोई झूठा मूल हो सकता है,

शक्यते नतरां दोषा नतमाश्च प्रामाण्यापवाद इति कुतस्त्यमप्रामाण्यम् प्रत्युत दोषाभाव इव मूलप्रमाणाभावोऽपि प्रामाण्यं पुष्णात्येव। मूलप्रमाणान्तरस्यसत्त्वे तद्गृहीतार्थग्राहित्वेन स्मरणस्येव वेदजबोधस्य निरपेक्षप्रामाण्यभङ्गप्रसङ्गात्।

॥ तदुक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

पौरुषेये तु वचने प्रमाणान्तरमूलता। तदभावे हि तद्दुष्येदितरत्र कदाचन॥ ७१॥
तेनेतरैः प्रमाणैर्या चोदनानामसङ्गतिः। तयैव स्यात्प्रमाणत्व मनुवादत्वमन्यथा॥७२॥ इति।

ननु यथा पूर्वं प्रामाण्यस्य गुणनिबन्धनत्वमनवस्थादिदोषैर्निराकृतं तथा कथमिदानीं संवादनिबन्धनत्वमपि तस्य निराक्रियते॥ प्रमाणान्तरसंवाद एव हि सर्वेषां प्रत्यक्षादीनां पौरुषेयवाक्यानाञ्च प्रामाण्ये दृढतरं निबन्धनम्, वेदे च नास्य गन्धोऽपीति कथमस्य प्रामाण्यमिति चेत्, अत्रोच्यते प्रमाणान्तरसंवादो न प्रामाण्ये क्वापि निबन्धनम्, यत्र ह्येकस्मिन्विषयेऽनेकेषां विज्ञानानां सन्निपातस्तत्र तेषामन्योन्यनिरपेक्षतया पृथक् पृथगेव प्रामाण्यं नतु समुच्चितानामिति नैकप्रामाण्येऽन्योपकारः। दृश्यते हि नैयायिकसहस्राबधा-

॥ भाषा ॥

क्योंकि उसका कर्ता ही कोई नहीं है तो झूठा मूल कहां से आसकता है और जब झूठे मूल का संभव नहीं है तब दोषों का भी कहां से संभव हो सकता है तथा बाध की चर्चा तो और भी संभव से दूर है जैसा कि आगे चलकर दिखलाया जायगा इसी से वेद के विषय में अप्रमाणता का नाम भी लेना बुद्धि से बहिर्भूत है, किन्तु दोषाभाव के नाईं मूलप्रमाण का अभाव भी वेद की प्रमाणता को उलटे पुष्ट ही करता है। क्योंकि यदि वेद का भी कोई अन्य प्रमाण मूल होता तो जैसे स्मरण-रूपी ज्ञान, अनुभवरूपी मूल की अपेक्षा करने से पराधीन हो कर स्वतन्त्र प्रमाण नहीं होता वैसे ही उस मूलप्रमाण की अपेक्षा करने से वेद भी स्वतन्त्र प्रमाणता से हाथ धो बैठता। इस बात को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर वार्तिककार ने श्लोक ७१ और ७२ से सूचित किया है।

प्रश्न—प्रथम तो ज्ञान की प्रमाणता में गुणों की लोकप्रसिद्ध कारणता ही का, अनवस्था आदि दोषों से जो खण्डन किया गया वही बलात्कार के ऐसा ज्ञात हुआ था परन्तु वहां तक भी युक्तिबल से कथंचित् स्वीकार योग्य था। अब तो उक्त उत्तर में जो यह कहा गया है कि वेदों में मूलप्रमाण की भी अपेक्षा नहीं है किन्तु उनकी अपेक्षा मानी जाय तो वेदों की स्वतन्त्रता ही टूट जायगी इससे तो यह अति अनुचित अनर्थ हुआ कि हर एक प्रमाणों और ज्ञानों की प्रमाणता का प्राणभूत संवाद की कारणता भी टूट गई क्योंकि एक प्रमाण वा ज्ञान के विषय का अन्यप्रमाण वा ज्ञान से निश्चय होने ही को संवाद तथा संगति कहते हैं। और प्रमाणता के निश्चय में इससे उत्तम कोई प्रमाण नहीं हो सकता। तथा जब वेद का विषय किसी अन्य प्रमाण से निश्चित नहीं हो सकता तब वेद, बन्ध्यापुत्र, कूर्मरोम और शशशृङ्ग आदि शब्दों के तुल्य हुआ और संवाद को कौन कहै? संवाद का गन्धमात्र भी वेद में नहीं हो सकता। ऐसी दशा में भी यदि वेद प्रमाण स्वीकार किया जाय तो बतलाना चाहिये कि वह वाक्य कौन है जो अप्रमाण कहा जा सकता है?।

उत्तर (१) संवाद किसी ज्ञान की प्रमाणता के निश्चय में कदापि नहीं कारण हो सकता क्योंकि एक विषय के जो अनेक ज्ञान होते हैं उनमें एक दूसरे का कारण नहीं होता है किन्तु इन्द्रियादि रूप अपने २ कारणों से वे हर एक पृथक् २ ही उत्पन्न होते हैं अर्थात् एक की उत्पत्ति में दूसरे

रितस्यापि शब्दानित्यताज्ञानप्रामाण्यस्य मीमांसकैरपवादः । एवं तत्तद्दार्शनिकसिद्धान्तप्रामाण्यमपि दार्शनिकान्तरैरपोद्यते । यत्रापि रत्नतत्त्वपरीक्षादौ समानविषयकज्ञानानामन्योन्यसंवादो दृश्यते तत्रापि नासौ प्रामाण्यप्रयोजकः । अनुपदोक्तरीत्या व्यभिचारशङ्काया दुर्निवारत्वात् । किन्त्वनवस्थायां व्यभिचारव्याघातभयादनन्यगत्यैकस्य ज्ञानस्यौत्सर्गिकं स्वतः प्रामाण्यमादायैव तत्र तत्र व्यवहारः । नचैकमेवार्थं दूराद् दृष्ट्वापि पुनः प्रमित्सयैव लोकाः प्रत्यासीदन्तीति दृश्यते । तत्र यदि पूर्वं ज्ञानं परनिरपेक्षं स्यात् तदा पुनः प्रमित्सा, तया प्रत्यासत्तिश्च लोकानामनर्थकत्वेनानुपपन्नैव स्यादिति प्रामाण्यग्रहे संवादापेक्षत्वमेवेति वाच्यम् । तत्र ह्यर्थे यो विशेषो न दूरात्प्रमातुं शक्यते तस्याप्रमितस्यैव प्रमित्सा, तयैव च प्रत्या-

॥ भाषा ॥

की अपेक्षा नहीं होती । इसी से बाएं दाहिने सींग के सदृश वे एक विषय से सम्बन्ध रखने पर भी अपने २ को स्वतन्त्र ही हैं तो कैसे एक की प्रमाणता में दूसरे से उपकार हो सकता है ।

(२) संवाद से यदि प्रमाणता का निश्चय होता तो हजारों नैयायिकों की सिद्ध की हुई शब्द की अनित्यता का मीमांसक, और हजारों मीमांसकों की सिद्ध हुई शब्द की नित्यता का नैयायिक खण्डन कैसे करते, अर्थात् एक दर्शन के सिद्धान्त की प्रमाणता का खण्डन, जो अन्यदर्शन वाले करते हैं वह कैसे हो सकता ?

प्रश्न—हीराआदि रत्न के तत्त्व की परीक्षा लोक में संवाद ही से होती देखी जाती है, अर्थात् तीन वा चार रत्नपरीक्षकों (जवाहिरी) के संवाद ही से रत्नों के गुण और दोष का निश्चय समाप्त हो जाता है । और उसी के अनुसार क्रय विक्रय आदि सभी व्यवहार चलते हैं। यदि संवाद से प्रमाणता का निश्चय न हो तो ये सब व्यवहार कैसे चल सकते है ? ।

उत्तर—संसारिक कामों का चलना दूसरी बात है और तत्त्वनिश्चय दूसरी बात है क्योंकि बिना तत्त्वनिश्चय के भी लोक का व्यवहार होता ही है, जैसे अनिवृष्टि आदि अनेक विघ्नों की संभावना के अनुसार फललाभ के संशय से भी कृषि आदि व्यवहार होते हैं वैसे ही रत्नादि के क्रय, विक्रयादि व्यवहार होते हैं । अनन्तरोक्त रीति से शतशः संवाद होनेपर भी धोखा हो ही सकता है तो यदि धोखा मिटाने के अर्थ दो चार रत्नपरीक्षकों के संवाद पर संतोष न कर अधिक संवाद की अपेक्षा अवश्य की जाय तो संवादों की परंपरा कहीं समाप्त ही न होगी । इस से एक तो अनवस्थादोष पड़ेहीगा, दूसरे यहभी महादोष पड़ेगा कि क्रय विक्रयादि का मूलोच्छेद ही हो जायगा । इसलिये अनन्यगति होकर रत्नतत्त्व के संशय रहने पर भी आंखें मीड़ उस के एक ज्ञान की पूर्वोक्त स्वाभाविक प्रमाणता ही पर भरोसा कर रत्नों के क्रय विक्रयादि व्यवहार लोक में चलाये जाते हैं न कि संवाद से प्रमाणता निश्चय के अनुसार ।

प्रश्न—दूर से किसी पदार्थ के देखने पर भी लोगों की, समीप से देखने की इच्छा होती है, और उस पदार्थ के समीप जाते भी हैं । अब ध्यान देना चाहिये कि यदि पूर्वज्ञान की प्रमाणता में परज्ञान की अपेक्षा न होती तो पूर्वज्ञान हीं से कृतार्थ हो कर द्वितीयज्ञान के अर्थ गमन का परिश्रम, लोग न स्वीकार करते, इससे यह सिद्ध होता है कि द्वितीयज्ञान के संवाद ही से प्रथम ज्ञानकी प्रमाणता का निश्चय होता है । तब क्यों नहीं संवाद, प्रमाणता के निश्चय का कारण है ? ।

सप्तिर्लोकानां नतु प्रमितस्य प्रमित्सयेति क संवादोऽपेक्षणीयः स्यात् । किञ्च यथा गुणस्य प्रामाण्यप्रयोजकत्वे पूर्वमनवस्थाऽऽपादिता तथा संवादस्य तथात्वेऽपि तस्य प्रामाण्याय संवादान्तरस्य तस्य तस्यापि च तथात्वायान्यान्यसंवादापेक्षणावश्यकत्वात्प्रसजन्ती सा केन वारयितुं शक्येत । नच विषयज्ञानस्यार्थक्रियाज्ञानाधीनं प्रामाण्यम् अर्थक्रियाज्ञानंच स्वतः प्रमाणमिति नानवस्था । यथाऽऽह धर्मकीर्तिः "प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिश्चा-विसंवाद" इति । न्यायविदोऽप्याहुः "प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणमि"तीति वाच्यम् । तथासत्यर्थक्रियाज्ञानेऽनवस्थापरिहाराय स्वतःप्रामाण्याभ्युपगमस्यावश्यकतया लाघवात्प्रथमज्ञान एव स्वतःप्रामाण्यस्याभ्युपेयत्वापत्तेः नहि द्वितीयादिज्ञानेन सह किञ्चिदस्ति मैत्रीकारणं येन तत्रैव तदभ्युपेयेत । न वा प्रथमज्ञाने द्वेषस्य कश्चिद्धेतुर्येन तत्र न तदभ्युपेयेत ।

॥ भाषा ॥

उत्तर—(१) उस दूरस्थ पदार्थ में अनेक विशेष होते हैं, कोई दूरसे भी ज्ञात हो सकते हैं और कोई समीप ही से । इसी से जो विशेष दूरसे नहीं देख पड़े उन्हीं के देखने के अर्थ लोग समीपयात्रा के परिश्रम को स्वीकार करते हैं न कि उन विशेष के दर्शनार्थ, जिसको कि दूरसे भी देख चुके हैं । और उन दोनो ज्ञानों के जब अन्यान्य विशेष विषय होते हैं तब तो यहां संवाद की कथा ही लुप्त हो गई क्योंकि संवाद तो एक ही विषय के अनेक ज्ञानों में होता है और जब संवाद नहीं है तब संवाद से प्रमाणता के निश्चय का यह उदाहरण ही कैसे हो सकता है ? ।

उ०—(२) जैसे गुण से प्रमाणता के निश्चय में पूर्व ही अनवस्थादोष दिखलाया गया वैसे ही जहां संवाद है वहां भी प्रथम संवाद की प्रमाणता के निश्चयार्थ द्वितीय संवाद की और द्वितीय की प्रमाणता के निश्चयार्थ तृतीय की, एवं चतुर्थ, पञ्चम आदि अनन्त संवादों की अपेक्षा होने के कारण, संवाद से प्रमाणतानिश्चय में भी पड़ते हुए दुर्वार अनवस्थादोष को कौन वारण कर सकता है ? ।

प्रश्न—न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन महर्षि ने भाष्य में प्रथमवाक्य से इस अनुभवानुसारी सिद्धान्त को स्थापित किया है कि विषय के काम देखने से ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है । जैसे रजत (चांदी) ज्ञान के अनन्तर उस रजत से होते हुए क्रय, विक्रयादि कार्यों के देखने से उस रजतज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है, ऐसे ही कार्य को शास्त्र में अर्थक्रिया कहते हैं । और इस सिद्धान्त को केवल न्यायभाष्यकार ही ने नहीं स्वीकार किया है किन्तु बौद्धमतानुयायी धर्मकीर्ति पण्डित ने भी इस सिद्धान्त का पूर्णरूप से अनुमोदन किया है । इस से यह सिद्ध हो गया कि अर्थ के कार्यदर्शन से उस अर्थ के ज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है और लोकानुभव से भी यही सिद्धान्त ठीक है तो संवाद में यद्यपि अनवस्थादोष है तथापि कार्यज्ञान से प्रमाणतानिश्चय में तो अनवस्था दोष कदापि नहीं हो सकता क्योंकि कार्यज्ञान से अधिक की, अपेक्षा ही नहीं है और इस सिद्धान्त से यह भी सिद्ध हो गया कि ज्ञान की प्रमाणता, स्वतः (आपही आप) निश्चित नहीं होती किन्तु परतः, अर्थात् कार्यज्ञान से होती है तो ज्ञान कैसे स्वतः प्रमाण है ? और यज्ञों के स्वर्गादिरूपी कार्य का दर्शन तो इस लोक में हो ही नहीं सकता तब वेद की प्रमाणता का निश्चय कैसे हो सकता है ? ।

॥ तदुक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

अन्यस्यापि प्रमाणत्वे सङ्गतिर्नैव कारणम्। तुल्यार्थानां विकल्प्यत्वादेकं तत्र हि बोधकम् ७३॥
यत्रापि स्यात्परिच्छेदः प्रमाणैरुत्तरैः पुनः। नूनं तत्रापि पूर्वेण सोऽर्थो नावधृतस्तथा ॥ ७४ ॥
सङ्गत्या यदि चेष्येत पूर्वपूर्वप्रमाणता । प्रमाणान्तरमिच्छन्तो न व्यवस्थां लभेमहि ॥ ७५ ॥
कस्यचित्तु यदीष्येत स्वत एव प्रमाणता। प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः ॥७६॥ इति।

अथ प्रथमज्ञानादर्थक्रियाज्ञानस्याव्यभिचार एव विशेषो येन तत्रैव स्वतःप्रामाण्यमभ्युपेयं न तु प्रथमज्ञाने। नचस्वप्नावस्थायामसत्यप्युदकाहरणे तद्रूपार्थक्रियाज्ञानदर्शनाद्व्यभिचार इति वाच्यम् भावानवबोधात्, अर्थक्रियापदेन हि सुखदुःखे एव विवक्ष्येते तत्प्रत्यक्षं च न व्यभिचारि। न हि क्वचिदप्यसति सुखादौ सुखादिप्रत्यक्षं भवति तस्य ज्ञान-

॥ भाषा ॥

उत्तर—कार्यज्ञान की प्रमाणता का निश्चय यदि नहीं है तब तो कार्यज्ञान आप ही अप्रमाण हो गया वह कैसे अन्यज्ञान की प्रमाणता का निश्चय करा सकता है। और यदि कार्यज्ञान में प्रमाणता का निश्चय दूसरे कार्यज्ञान से होता है तब तो उस ज्ञान की प्रमाणता का भी निश्चय तीसरे कार्यज्ञान से मानना पड़ेगा और इस रीति से अनवस्था पिशाची उक्त सिद्धान्त बालक को कवलित ही करलेगी। और उक्त पिशाची के भय से यदि प्रथम कार्यज्ञान में स्वतः प्रमाणता रूपी मन्त्र का पुरश्चरण किया जाय तो उसकी अपेक्षा लाघव के अनुसार, उस से भी पूर्व, प्रथम रजतादि ज्ञान ही में क्यों न स्वतःप्रमाणता मान ली जाय। जिस से कि उक्त पिशाची का मूलोच्छेद ही हो जाय। और द्वितीयादि ज्ञान से क्या प्रेम है ? कि उस में स्वतःप्रमाणता मानी जाय, तथा प्रथमज्ञान से क्या वैर है कि उस में स्वतःप्रमाणता न मानी जाय ? इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र पर श्लोक ७३ से ७६ पर्यन्त वार्तिककार ने कहा है।

प्रश्न—प्रथमज्ञान की अपेक्षा अर्थक्रिया के ज्ञान में यही विशेष है कि प्रथमज्ञान, कहीं झूठा भी होता है परन्तु क्रयविक्रयादि रूपी अर्थक्रिया का ज्ञान, सत्य ही होता है न कि मिथ्या भी। इसी से अर्थक्रियाज्ञान ही स्वतःप्रमाण है और प्रथमज्ञान की प्रमाणता तो अर्थक्रिया के ज्ञान की अपेक्षा करने से परतः है। इसी से प्रथमज्ञान स्वतः नहीं किन्तु परतः प्रमाण है इसलिये यह कहा जा सकता है कि वेद क्या ? ज्ञान का कोई कारण स्वतःप्रमाण नहीं है और अर्थक्रिया के ज्ञान का संवाद, पूर्वज्ञान की प्रमाणता के निश्चय का कारण है। यह तो कह नहीं सकते कि स्वप्नावस्था में सचमुच कोई अर्थक्रिया नहीं रहती और अर्थक्रिया का ज्ञान होता है तो वह ज्ञान मिथ्या ही है इस रीति से प्रथमज्ञान के तुल्य, अर्थक्रियाज्ञान भी सत्य और मिथ्या दोनों प्रकार का होता है। इस से पूर्वोक्त विशेष जब नहीं है तब उक्त लाघव से प्रथम ही ज्ञान को स्वतःप्रमाण मानेंगे, क्योंकि पूर्व में मोटी चाल से यह कहा गया है कि क्रयविक्रयादि कार्य को अर्थक्रिया कहते हैं; वास्तव में तो सुख और दुःख ही को अर्थक्रिया कहते हैं और सुख वा दुःख न रहने पर तो सुख वा दुःख का ज्ञान होता ही नहीं। यह शास्त्रीययुक्तियों और लोकानुभव से भी अटल है कि सुख और दुःख अपने अनुभव के साथ ही उत्पन्न और नष्ट होते हैं। इस रीति से सुखदुःखरूपी अर्थक्रिया का अनुभव कदापि मिथ्या नहीं होता, और उसी अनुभव को अर्थक्रियाज्ञान कहते हैं, तथा वही स्वतः

सत्तासमनियतसत्ताकत्वादिति चेत् स्यादप्येवं यदि सुखादिप्रत्यक्षेण पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यमध्यवसीयेत । नत्वेवम्, अप्रमाणेनापि प्रियासङ्गमविज्ञानेन स्वप्नावस्थायां सुखानुभवस्य सार्वलौकिकत्वात् तस्मादर्थक्रियाज्ञानसंवादोऽपि न प्रामाण्येऽपेक्षणीयः । किञ्च संवादस्य यदि प्रामाण्ये निबन्धनत्वं तदा श्रावणप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यं न स्यात् चाक्षुषादिप्रत्यक्षैः संवादाभावात् । यदि तु विजातीयैः प्रत्यक्षैः संवादाभावेऽपि श्रावणैरेव प्रत्यक्षान्तरैः संवादाच्छ्रावणप्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमुपपाद्यते तदा विजातीयैरनुमानादिभिः संवादाभावेऽपि तत्तदुच्चारणानन्तरं जायमानाभिर्वेदार्थबुद्धिभिः संवादस्य वेदार्थबुद्धावपि सम्भवात्कथं न वेदानां प्रामाण्यम् । तस्मात् गुणसंवादार्थक्रियादीनां प्रामाण्येऽनपेक्षितत्वाद्वेदप्रामाण्यं सुस्थितम् । अथाप्तप्रणीतस्य वाक्यस्य प्रामाण्यं न क्वचिद्दृष्टमिति कथं तद्वेदस्येति चेत् स्यादेवं यदि प्रामाण्यमनुमानसाध्यं स्यात् अनुमाने दृष्टान्तापेक्षणात् नत्वेवम् तथासति

॥ भाषा ॥

प्रमाण है और उसी के अनुसार प्रथमज्ञान की प्रमाणता का निश्चय होता है तब कैसे घटादिवस्तु का ज्ञान स्वतःप्रमाण है ? ।

उत्तर—तब यह आक्षेप अवश्य उचित होता यदि सुखादि के प्रत्यक्ष से, पूर्वज्ञान की प्रमाणता का निश्चय ठीक २ हो सकता, परन्तु जब स्वप्नावस्था में प्रियासङ्गम और व्याघ्रसङ्गम के मिथ्याज्ञान हीं से स्वप्नावस्था ही में सुख और दुःख का अनुभव, लोकानुभव से सिद्ध है और उसके अनुसार उन प्रथमज्ञानों की प्रमाणता कोई नहीं स्वीकार कर सकता तब कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि ज्ञान की प्रमाणता में अर्थक्रियाज्ञान की अपेक्षा है । इस रीति से अर्थक्रिया का ज्ञान भी अन्यज्ञान की प्रमाणता में अकिंचित्कर है । और इस पर भी ध्यान देना चाहिये कि यदि ज्ञान की प्रमाणता में संवाद, कारण माना जाय तो श्रोत्रेन्द्रिय (कान) से जो शब्द का प्रत्यक्ष होता है वह कदापि नहीं प्रमाण होगा क्योंकि नेत्रादि इन्द्रियों से तो शब्द का प्रत्यक्ष होता ही नहीं तो किस प्रत्यक्ष के संवाद से वह प्रमाण होगा ? । यदि यह कहा जाय कि यद्यपि विजातीय प्रत्यक्षों से संवाद नहीं है तथापि श्रोत्रेन्द्रिय ही से उत्पन्न सजातीय अन्य प्रत्यक्षों के संवाद से वह प्रमाण होता है, तो वैसे ही यह भी कह सकते हैं कि विजातीय प्रमाणों के साथ यद्यपि वेद का संवाद नहीं है तथापि हजारों बार वेदके उच्चारण से वेदार्थ के एकाकार हजारों ज्ञान जब अनादिकाल से उत्पन्न होते आते हैं तब क्या उनमें अन्योन्य संवाद से प्रमाणता नहीं हो सकती ? और जब हो सकती है तब निःसन्देह यह कह सकते हैं कि जब विजातीयज्ञान के संवाद की अपेक्षा नहीं है तब सजातीयज्ञान के संवाद की अपेक्षा होने पर भी श्रोत्रेन्द्रिय के दृष्टान्त से वेदार्थज्ञान और वेद, स्वतःप्रमाण हीं हैं क्योंकि किसी विजातीय ज्ञान की अपेक्षा इन में नहीं है तस्मात् गुण, संवाद, अर्थक्रिया, आदि की अपेक्षा न होने से वेद की स्वतःप्रमाणता पूर्णरूप से अटल ही है ।

प्रश्न—जिस वाक्य को सत्यवादी पुरुष उच्चारण नहीं करता वह वाक्य प्रमाण होता हुआ कहीं नहीं देखा गया, जैसे मिथ्यावादी का उच्चारित वाक्य, इसी दृष्टान्त से वेद में भी अप्रमाणता का अनुमान क्यों न हो ?

उत्तर—होता तो, यदि प्रमाणता अनुमान से सिद्ध होती होती क्योंकि दृष्टान्त की

प्रामाण्यानुमानस्यापि प्रामाण्यायानुमानान्तरप्रार्थनायामनवस्थाप्रसङ्गात् ।

॥ तदुक्तं तत्रैव वार्त्तिके ॥

श्रोत्रधीश्चाप्रमाणं स्या दितराभिरसङ्गतेः । स्याच्चेत्तज्जनितेनैव ज्ञानेनान्येन सङ्गतिः ॥ ७७ ॥
वेदेऽपि शतकृत्वः स्या द्बुद्धिरुच्चारणानुगा । साधनान्तरजन्यातु बुद्धिर्नास्ति द्वयोरपि ॥ ७८ ॥
यथा त्वेकेन्द्रियाधीन ज्ञानान्तरनिबन्धना । सङ्गतिः करणं प्राप्य तथा वेदेऽपि कल्प्यताम् ७९
तस्माद् दृढं यदुत्पन्नं नापि संवादमृच्छति । ज्ञानान्तरेण विज्ञानं तत्प्रमाणं प्रतीयताम् ॥ ८० ॥
नचानुमानतः साध्या शब्दादीनां प्रमाणता । सर्वस्यैव हि सा प्राप्तप्रमाणान्तरसाध्यता८१।इति

नन्नु भवतु प्रामाण्यमन्यानपेक्षम् परन्तु कथं तद्ग्रहणम्, ज्ञानं हि घट इत्याद्याकारकमेव भवति नत्वहं प्रमाणमित्याकारकमपि । नहि ज्ञानेन स्वात्मापि गृह्यते द्रागेव तु तद्धर्मभूतं प्रामाण्यम् नचागृहीतप्रामाण्येन ज्ञानेन कश्चिद्व्यवहारः सेद्धुमर्हतीति चेन्न आत्माग्राहित्वादज्ञायमानेन स्वतःप्रमाणेन स्वरूपसतैव ज्ञानेन स्वविषयनिश्चयात्मकेन सिद्ध्यद्भिर्व्यवहारैर्ज्ञानविषयकस्य प्रामाण्यविषयकस्य वा ज्ञानस्य स्वसिद्धावनपेक्षितत्वात्. जातेषु तु व्यवहारेषु, तज्जनकज्ञानेषु प्रामाण्यस्य जिज्ञासायां सत्यामानुमानिकैर्ज्ञानान्तरैस्तदवगाह्यत इति त्वन्यदेतत् , तत्रापि चानुमानिकैः प्रत्ययान्तरैः प्रामाण्यं ज्ञानीयत्वेन न गृह्यते किन्तु विषयस्य तथात्वमात्रम् । तदेव च प्रामाण्यम् नतु ज्ञाने प्रामाण्यान्तरमस्ति । ज्ञानं

॥ भाषा ॥

अपेक्षा अनुमान हीं में होती है । यहां तो वेद की प्रमाणता में यदि अनुमान की अपेक्षा मानी जाय तो उस अनुमान की प्रमाणता में भी द्वितीय अनुमान की. और उसकी प्रमाणता में भी तृतीय अनुमान की एवं रीत्या अनन्त अनुमानों की अपेक्षाएं अवश्य कर्तव्य होंगी, तब अनवस्थादोष से गला छूटने का संभव ही नहीं है । इसलिए यही कहने में कुशल है कि वेद की प्रमाणता आप ही आप है । इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर श्लोक ७७ से ८१ पर्यन्त वार्त्तिककार ने कहा है ।

प्रश्न—हो ज्ञान की प्रमाणता निरपेक्ष, परन्तु उसका निश्चय कैसे हो सकता है क्योंकि ज्ञानों का आकार यही होता है कि 'यह घट है' यह आकार तो नहीं होता कि 'मैं प्रमाण हूं' तो जब ज्ञान अपने स्वरूप का भी निश्चय नहीं करता तो धर्म के विषय में उसकी प्रमाणता के निश्चय की आशा तो उससे बहुत ही दूर है और जब ज्ञान में प्रमाणता का निश्चय नहीं हो सकता तब ऐसे अप्रमाण ज्ञान से कोई लौकिक व्यवहार कैसे चल सकता है ?

उत्तर—पूर्व ही कहा जा चुका है कि व्यवहारों में ज्ञानके वा ज्ञानसम्बन्धी प्रमाणता के निश्चय की कुछ भी अपेक्षा नहीं है ज्ञान तो स्वयं अपने विषय का निश्चयरूप है उसी से 'केवल' सब व्यवहारों की सिद्धि होती है, और इस विषय में कृष्यादिव्यवहारों का दृष्टान्त भी दिया जा चुका है, यह दूसरी बात है, कि व्यवहारों के होने पर उनके कारणभूत ज्ञानों में यदि कोई पुरुष, प्रमाणता की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) करे तो अनुमान द्वारा उन में प्रमाणता का निश्चय होता है, और वह अनुमान भी उन ज्ञानों में प्रमाणता का निश्चय नहीं कराता किन्तु उनके विषयभूत घटादि पदार्थों हीं में सत्यता का निश्चय कराता है उसी सत्यता को प्रमाणता कहते हैं । ज्ञानों में तो प्रमाणता रहती ही नहीं किन्तु घटादिगत उक्त प्रमाणता ही के अनुसार ज्ञान भी

प्रमाणमिति बुद्धिः शब्दश्च विषयतथात्वरूपमेव प्रामाण्यमुपजीवतः । तच्च प्रामाण्यमज्ञातेनैव ज्ञानेन गृह्यत इत्युक्तबुद्धिशब्दरूपव्यवहाराय ज्ञानस्यापि ज्ञानं नापेक्ष्यते किमुत तत्प्रामाण्यस्य । अप्रामाणं तु ज्ञानं न विषयान्यथात्वरूपं स्वीयमप्रामाण्यं कदाचिदपि विषयीकरोति तद्धि स्वाकारानुसारात्तथात्वेनैवान्यथाभूतमप्यर्थं गृह्णाति यथेदं रजतमिति विपर्ययज्ञानं रजतत्वेनैव शुक्तिं विषयीकरोति । तच्च यदि शुक्तिगतमन्यथात्वरूपं स्वीयमप्रामाण्यं स्वयमेव विषयीकुर्यात् तदा नेदं रजतमित्याकारकमेव स्यात् । एवंविधं च विषयतथात्वरूपस्य प्रामाण्यस्यौत्सर्गिकताया माहात्म्यम्, यत् अप्रमाणमपि ज्ञानं प्राग्बाधज्ञानात्प्रामाण्यमेव गृह्णत्तदाकारश्चोपनिबध्नत्तदाकारमेव प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिकमुपजनयति अतो विषयान्यथात्वरूपस्य तदप्रामाण्यस्य तेनानवगाढचरस्य ग्रहणाय तत्प्रयुक्तव्यवहारनिवारणाय च भवत्येव विषयान्यथात्वरूपतदप्रामाण्यावगाहिनो बाधज्ञानस्य गत्यन्तराभावादपेक्षा । यच्च किञ्चिदाप्तप्रणीतत्वादिहेतुकमनुमानजातं वेदस्याप्रामाण्यापादनाय परैरुत्थाप्यते तत्सर्वमकिञ्चित्करमेव । नह्यनुमानादिभिरप्रामाण्यमवधारयितुं शक्यते किन्तु तदर्थान्यथात्वस्य कारणदो-

॥ भाषा ॥

प्रमाण कहे जाते हैं और घटादिगत उक्त प्रमाणता तो अज्ञात ही ज्ञान में निश्चित होती है क्योंकि सबी ज्ञान, स्वभावतः अपने विषय की सत्यता के निश्चयरूप ही होते हैं इस रीति से जब व्यवहारों में ज्ञान के ज्ञान की भी अपेक्षा नहीं है तब ज्ञान की प्रमाणता की अपेक्षा का संभव ही क्या है ? । और रस्सी आदि में जो सर्पादि का अप्रमाणभूत ज्ञान होता है कि ' यह सांप है ' इत्यादि, उसके विषयभूत रस्सी में, सर्प न होना ही अप्रमाणता है इसी से वह भ्रमरूप सर्पज्ञान अप्रमाण कहा जाता है वास्तविक में उस ज्ञान में कोई अप्रमाणता नहीं है । अब ध्यान देना चाहिये कि जब रस्सी में सांप न होना ही अप्रमाणता है तब वह भ्रमरूपी सर्पज्ञान, उस अप्रमाणता का कैसे निश्चय करा सकता है क्योंकि वह भ्रम रूपी सर्पज्ञान, यदि रस्सी में सर्प न होने का निश्चय कराता तो इसका उलटा यह आकार होता कि ' यह सर्प नहीं है किन्तु रस्सी है' और यह आकार कदापि न होता कि ' यह सर्प है ' और इस विषय पर विशेष अवधान की आवश्यकता है कि ज्ञानों की प्रमाणता के स्वाभाविक होने का इतना बड़ा प्रभाव होता है कि जब तक बाधज्ञान अर्थात् प्रज्वलित दीपकादि के द्वारा रस्सी का यथार्थज्ञान नहीं होता तब तक वह भ्रमरूपी सर्पज्ञान भी यथार्थ सर्पज्ञान के नाई उस भ्रान्तपुरुष में भय कम्पादि कार्यों को ऐसी दृढता के साथ उत्पन्न करता है कि भ्रम छूटने पर भी वे कुछ काल तक ठहरते हैं, इससे यह सिद्ध हो गया कि कोई ज्ञान अपनी अप्रमाणता का निश्चय नहीं करा सकता किन्तु उसके उत्तरकाल में जो उसका बाधज्ञान उत्पन्न होता है वही उसकी अप्रमाणता का निश्चय कराता है । अब तो करकङ्कण के नाई यह सिद्धान्त प्रत्यक्ष हो गया कि ज्ञानों की प्रमाणता स्वाभाविक है और उसका निश्चय भी स्वतः होता है एवम् अप्रमाणता का निश्चय परतः होता है ।

अब हम सामान्यरूप से यह कह सकते हैं कि पुराने वा नये वेदबाह्य लोग जो बड़े २ परिश्रमों से मोटी २ किताबें बनाकर उन में वेद की अप्रमाणता के लिये अनेक प्रकार के अनुमान गढ़ मारे हैं वे सब अनुमान सर्वथा व्यर्थ ही हैं, क्योंकि—

षस्य वा ज्ञानेनैवेति सर्वजनस्वसंवेदनसिद्धम् । वेदे चापौरुषेयत्वादेव कारणदोषः सम्भावनामपि नाधिरोहति तस्यागृहीतार्थग्राहित्वाच्च तद्विषयेभ्योऽर्थेभ्यः स्वयमेव दूरतरमपसरन्तोऽनुमानादयः, कथं तेषामन्यथात्वमवगाहुमलं भवेयुरतो वेदस्याप्रामाण्यमनुमिमता वेदतदप्रामाण्यानुमानयोरेकतरस्य प्रामाण्यमुक्तकारणद्वयेनापोदितमतः स्वयं तस्याप्रामाण्यमवगतमतः परेभ्योऽपि तदप्रामाण्यं प्रतिपादयता तेन तदेव कारणदोषार्थान्यथात्वयोर्द्वयं प्रतिपादनीयं नत्वप्रमाणसाधर्म्यमात्रभिक्षोपजीवी कश्चिदनुमानवराकः ।

॥ इदमप्युक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

ननु प्रमाणमित्येवं प्रत्यक्षादि न गृह्यते । नचेत्थमगृहीतेन व्यवहारोऽवकल्पते ॥ ८२ ॥
प्रमाणं ग्रहणात्पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् । निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरैः ॥ ८३ ॥
तेनास्य ज्ञायमानत्वं प्रामाण्ये नोपयुज्यते । विषयानुभवो ह्यत्र पूर्वस्मादेव लभ्यते ॥ ८४ ॥
अप्रमाणं पुनः स्वार्थं ग्राहकं स्यात्स्वरूपतः । निवृत्तिस्तस्य मिथ्यात्वे नागृहीते परैर्भवेत् ८५॥
नह्यर्थस्यातथाभावः पूर्वेणाक्तस्तथात्ववत् । तत्राप्यर्थान्यथाभावे धीर्यद्वा दुष्टकारणे ॥ ८६ ॥
तावतैव च मिथ्यात्वं गृह्यते नान्यहेतुकम् । उत्पत्त्यवस्थं चैवेदं प्रमाणमिति मीयते ॥ ८७ ॥
अतो यत्रापि मिथ्यात्वं परेभ्यः प्रतिपाद्यते । तत्राप्येतद् द्वयं वाच्यं न तु साधर्म्यमात्रकम्८८इति

॥ भाषा ॥

(१)—वेद में अप्रमाणता का निश्चय, अनुमान की शक्ति से बहिर्भूत है क्योंकि अप्रमाणता किसी वाक्य की, विना दो प्रकारों के तीसरे प्रकार से नहीं होती. एक, वक्ता का दोष, दूसरा, अर्थ का बाध, और इन दोनों में से कारणदोष का वेद में संभव ही नहीं है क्योंकि वेद पौरुषेय नहीं है और पूर्वोक्त वेदलक्षण के अनुसार वेद का मुख्यतात्पर्य उन्हीं स्वर्गादिरूप अर्थों में है कि जो अनुमानादि स्वतन्त्र अन्यप्रमाणों से कदापि नहीं ज्ञात हो सकते, तो जब अनुमानादि प्रमाण वेदार्थ का भी बोध नहीं करा सकते तो वे अनुमानादि बेचारे वेदार्थ में असत्यता का बोधन कैसे कर सकते हैं ? । प्रसिद्ध ही है कि जो जिस विषय को जानता ही नहीं वह उसकी असत्यता को कैसे कह सकता है ? । निदान उक्त रीति से वेदार्थ में असत्यता ही वेद की अप्रमाणता हो सकती है और वह असत्यता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्राह्य नहीं है तो कैसे वह असत्यता झूठी नहीं है ?

(२) जो पुरुष वेद की अप्रमाणता का अनुमान करना चाहता है उसको वेद और उस अनुमान में से एक की अप्रमाणता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी, कि यदि वेद प्रमाण है तो वह अनुमान अवश्य अप्रमाण है, और यदि वह अनुमान प्रमाण है तो वेद अवश्य अप्रमाण है । ऐसी दशा में यदि वह पुरुष वेद में कारणदोष वा अर्थबाध दिखला सकता है तो उसी से वेद की अप्रमाणता सिद्ध हो सकती है इससे वह अनुमान व्यर्थ ही है, और यदि कारणदोष वा अर्थबाध को वेद में नहीं दिखला सकता जैसा कि पूर्व में कहा गया है तो उसका वह अनुमान लौकिक मिथ्यावाक्यों के वा और किसी के दृष्टान्तमात्र देने से प्रमाण नहीं हो सकता किन्तु अप्रमाण ही है क्योंकि लौकिकसत्यवाक्यों के नाईं जब अपौरुषेय वेदवाक्य में कारणदोष वा अर्थबाध नहीं है तब तो वेद प्रमाण ही है इससे वह अनुमान ही अप्रमाण है । वेद की अपौरुषेयता और वेदार्थ की वेदैकगम्यता (अन्य प्रमाणों से ज्ञात न होना) का साधन आगे चलकर पूर्णरूप से किया जायगा । इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर श्लोक ८२ से ८८ पर्यन्त वार्तिककार ने सूचित किया है ।

किञ्च नरशिरः कपालं शुचि, प्राण्यङ्गत्वात् शङ्खशुक्तिवदित्याद्यनुमानं यथा 'नारं स्पृष्ट्वास्थि सस्नेहं सवासा जलमाविशेत्' इत्याद्यागमेन बाध्यते, आममैकगम्यास्पृश्यत्व-लक्षणाशौचेऽनुमानस्य दुर्बलत्वात् तथा वेदार्थेऽन्यथात्वरूपं वेदाप्रामाण्यं प्रतिपादय-न्त्यनुमानानि तदर्थे तथात्वं प्रतिपादयन्त्या चोदनया बाध्यन्ते तादृशार्थस्य तत्तथात्वस्य च वेदतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणागम्यतया तत्रानुमानानामान्ध्येन दुर्बलत्वात् नचानुमानैरेव कथं न वेदो बाध्यतामिति वाच्यम् तैरनुमानैर्बाधाद्वेदार्थे मिथ्यात्वम् सिद्धे

॥ भाषा ॥

(३) जैसे प्रत्यक्ष से अनुमान का उस विषय में बाध नहीं होता जोकि प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं है अर्थात् जगत् रूपी कार्य में कर्ता परमेश्वर के अनुमान का प्रत्यक्ष से बाध नहीं होता क्योंकि परमेश्वर प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं है, इसीसे उनका अभावरूपी बाध, प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं हो सकता । प्रसिद्ध है कि जिस पदार्थ का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से हो सकता है उसका अभाव उसी इन्द्रिय से निश्चित होता है, इसीसे शब्द का अभाव नेत्रेन्द्रिय से नहीं निश्चित होता, वैसे ही स्वर्गादिरूपी वेदार्थ का भी अभावरूपी बाध प्रत्यक्ष अनुमान आदि किसी प्रमाण से निश्चित नहीं हो सकता क्योंकि उक्त वेदार्थ, इन प्रमाणों से ज्ञान के योग्य ही नहीं है । और धर्मशास्त्रीयवाक्यों से भी (जब) प्रत्यक्ष और अनुमानादि का बाध होता है, जैसे 'मृत मनुष्य की खोपड़ी शुद्ध है' इस प्रत्यक्ष का, वा 'शङ्ख और शुक्ति की नाईं प्राणी के अङ्ग होने से मृतमनुष्य की खोपड़ी शुद्ध है' इस अनुमान का 'मनुष्य की हड्डी छू जाने पर सचैल स्नान करे' इस धर्मशास्त्र के विधि से बाध होता है, क्योंकि मलमूत्रादिके लेपरूपी प्रत्यक्ष ही अशुद्धि का अभावरूपी शुद्धि, प्रत्यक्ष वा अनु-मान का विषय है । और उक्त धर्मशास्त्र, जिस अशुद्धि को बतलाता है वह अशुद्धि कुछ और ही अर्थात् उसके छूने से पाप की उत्पत्तिरूपी है जिसके विषय में प्रत्यक्ष और अनुमान अन्धे हैं। इसी से उसकी अभावरूपी शुद्धि को भी प्रत्यक्ष, अनुमान, नहीं निश्चित कर सकते और वैसी शास्त्रीयशुद्धि वा अशुद्धि के विषय में शास्त्र की अपेक्षा प्रत्यक्ष और अनुमान अत्यन्त ही दुर्बल हैं। इस लिये शास्त्रीय वाक्यों से उस विषय में उनका बाध ही होता है (तब) इसमें कहना ही क्या है जोकि सब शास्त्रों के शिरोमणिभूत वेदवाक्यों से स्वर्गादिरूपी विषय में अन्ध अत्यन्त दुर्बल प्रत्यक्ष और अनुमान का बाध होता है ।

प्रश्न—जब उक्त रीति से वेद की प्रमाणता सिद्ध होती है तो सभी झूठों के आश्चर्य वाक्य क्यों न प्रमाण हों ?

उत्तर—पौरुषेयवाक्यों की प्रमाणता, मूलप्रमाण ही के अधीन हुआ करती है, जैसे सत्यवादीपुरुष, प्रथम किसी विषय को प्रमाण से निश्चित कर दूसरे को समझाने के लिये उस विषय का वाक्य बोलता है और उक्त आश्चर्यवाक्य में तो परीक्षा करने पर मूलप्रमाण नहीं मिलता किन्तु उसके स्थान पर उस मिथ्याभाषी पुरुष में दोष ही मिलते हैं इससे वह अप्रमाण होता है ।

प्रश्न—जैसे वेद से अनुमान का बाध कहा गया है वैसे ही अनुमान से वेद का बाध क्यों न हो ?

च मिथ्यात्वे तान्यनुमानानीत्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । नच यथाऽनुमानेभ्योऽन्यद्बाधकं नास्तीति बाधो न भवति तथैव वेदादन्यत्साधकमपि नास्तीति कथं वेदार्थसद्भावोऽपीति वाच्यम् । नहि वयमनुमानानां सद्भावमङ्गीकृत्य बाधकान्तराभावान्मिथ्यात्वस्यासिद्धिं ब्रूमः किन्त्वनुमानान्येव नोद्यन्ति, साधकस्त्वागमो विद्यत एवेति, नचैकेन गृहीतस्यार्थस्यान्यैरगृहीतत्वमात्रेणाभावो भवति । तथासति जिह्वादिगृहीतानामपि रसादीनां नेत्राद्यगृहीतत्वेनाभावप्रसङ्गात् । इत्थं च प्रमेयोऽप्यर्थ एकेनैव प्रमाणेन सिध्यन् न स्वसिद्धये प्रमाणान्तरमपेक्षते । ननु नास्माकं चोदनायाः प्रमाण्यं सिद्धम् तत्कथं तया बाधोऽनुमानेषु दूषणमुच्यत इति चेन्न तवासिद्धत्वेऽपि मम सिद्धत्वात्, मां बोधयितुं हि तव साधनवचनम् । नचागमबाधितमर्थमनुमानेन वयं प्रतिपादयितुं शक्याः । तथा च कथमागमबाधो नानुमानेदूषणम् । नच तवापि चोदनाप्रामाण्यासिद्धिः, वेदाद्धि न सन्देहरूपा प्रतीतिर्भवति

॥ भाषा ॥

उत्तर—यदि वेद का अनुमान से बाध माना जाय तो अन्योन्याश्रय दोष पड़ता है क्योंकि जब अनुमान से वेद का बाध हो तब वेदार्थ में असत्यता सिद्ध हो और जब असत्यता सिद्ध हो तब वेद में अप्रमाणता का अनुमान हो ।

प्रश्न—जैसे अनुमान से वेद का बाध इस कारण नहीं होता कि अनुमान से अन्य, कोई वेद का बाधक नहीं है वैसे ही वेदार्थ की सिद्धि भी कैसे होगी क्योंकि उस अर्थ का वेद से अन्य कोई साधक भी नहीं है ?

उत्तर—यह प्रश्न तब ठीक होता. यदि यह कहा गया होता कि अनुमान है परन्तु केवल उससे वेदार्थ की असत्यता नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि उस अनुमान से अन्य, कोई वेद का बाधक नहीं है ' किन्तु पूर्वोक्त युक्तियों का यह अभिप्राय है कि स्वर्गादिरूपी वेदार्थ की असत्यता का अनुमान हो ही नहीं सकता और उस अर्थ का साधक तो वेद हई है । और किसी प्रमाण से निश्चित कोई विषय, इतने मात्र से असत्य नहीं हो सकता कि वह अन्यप्रमाण से निश्चय के योग्य नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा हो तो जिह्वा से निश्चित मधुरादिरस भी नेत्र से निश्चित न होने के कारण असत्य हो जायंगे । इस रीति से जब यह सिद्ध हो गया कि एक प्रमाण से सिद्ध होता हुआ अर्थ अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्यप्रमाण की अपेक्षा नहीं करता, तब यह भी निश्चित हो गया कि वेदरूपीप्रमाण से सिद्ध होते हुए स्वर्गादिरूपी अर्थ भी उक्त मधुरादिरस के नाईं अनुमानादिरूपी किसी अन्यप्रमाण की अपेक्षा नहीं करते ।

प्रश्न—जब वेदबाह्य लोग वैदिकविधिवाक्यों को प्रमाण ही नहीं मानते तो उनके कहे हुए अनुमानों में वेदवाक्य से बाध होना दूषण कैसे दिया जा सकता है ?

उत्तर—(१) वे जो अनुमान कहते हैं वह वैदिक ही पुरुषों को समझाने के लिये कहते हैं । तो वे यद्यपि वैदिकविधिवाक्य को प्रमाण नहीं मानते तथापि वैदिकपुरुष तो उसको प्रमाण मानते हैं इससे जब वैदिकपुरुषों को वेद से अनुमान के बाध का निश्चय है तब उनके अनुमान से वैदिकपुरुषों को वेद के बाध का निश्चय नहीं हो सकता पुनः ऐसे व्यर्थ अनुमान का कहना क्यों नहीं उनका दोष है ? ।

इदमनिदं वेति। नापि विपर्यस्ता, तदर्थानवगाहिनामनुमानानां तदर्थेऽन्यथात्वावगाहित्वासंभवेन बाधबुद्धित्वासंभवात्। नापि नभवत्येव, शब्दशक्तिस्वाभाव्यस्य दुर्वारत्वात् तथा च वैदिकेभ्यः शब्देभ्यो यादृशी प्रतीतिर्ममजायते तादृश्येवासौ तवापि, नह्यग्निर्मां प्रत्युष्णोऽपि त्वां प्रत्यनुष्ण इति संभवति। सा च प्रतीतिर्मामकीनेव तावकानीऽप्यर्थे तत्तथात्वं विहाय किमन्यदवगाहते। प्रामाण्यञ्चार्थतथात्वमेव, तच्चेदसाववगाहते कथं प्रामाण्यं नावगाहते। सैव च प्रतीतिः सिद्धिः प्रामाण्यस्येति कथमसिद्धं ते चोदनाप्रामाण्यमिति द्वेषादेव मृषोच्यते "चोदनाप्रामाण्यमस्माकमसिद्धमिति" नच द्वेषादसंप्रतिपत्तेर्वा कस्यचिदप्रामाण्यं भवति। नापीच्छानुज्ञाभ्यां प्रामाण्यम् तथा सति वह्निदाहादिदुःखस्य प्रत्यक्षस्यापि द्वेषेणाप्रत्यक्षतापत्तेः। मनोराज्यभूतानाञ्चाभिलाषिकज्ञानानामभिलाषादिवशेन प्रामाण्यप्रसङ्गाच्च। नच ज्ञानोत्पादकत्वमात्रेण वेदस्य चेत्प्रामाण्यं तदा तेनैव बुद्धादिवाक्यानामपि

॥ भाषा ॥

(२) इसको हम पूर्ण रीति से सिद्ध करते हैं कि वेदवाह्य लोग भी वेद की प्रमाणता अवश्य मानते हैं क्योंकि वेदवाक्य से सन्देहरूपी बोध नहीं होता है कि ' यह पदार्थ ऐसा है, वा ऐसा ' जैसे कि इस वाक्य से होता है कि " वह दूर की ऊँची वस्तु, मनुष्य है वा ठूठ "। और रस्सी में सर्पभ्रम के नाई भ्रमरूपी बोध भी वेदवाक्यों से नहीं होता। क्योंकि स्वर्गादिरूप वेदार्थ को जब प्रत्यक्ष अनुमानादि प्रमाण, विषय ही नहीं कर सकते तब उक्त रीति से उसके अभाव को भी नहीं विषय कर सकते इसी से जब बाधबुद्धि नहीं है तब वेदार्थ का बोध कैसे भ्रम कहा जा सकता है। और यह भी नहीं कह सकते कि वैदिकशब्दों से बोध ही नहीं होता, क्योंकि बोध कराना शब्दों का स्वभाव है तो ' वेद से बोध नहीं होता ' यह कहना ' अग्नि उष्ण नहीं होता ' इस कहने की अपेक्षा कुछ भी विशेष नहीं रखता। अब यह स्पष्ट हो गया कि वैदिक शब्द सुनने से एकाएकी जैसा बोध, वैदिकों को होता है वैसा ही संस्कृत पढ़े वेदवाह्यों को भी। क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि अग्नि, वैदिकों के लिये उष्ण और वेदवाह्यों के लिये शीत हो। और वह बोध जब वैदिक और वेदवाह्य को एक ही प्रकार का होता है तब इस में क्या सन्देह है कि उन दोनों के वेदार्थबोध का विषय भी एक ही है तथा बोध का यह स्वभाव ही है कि अपने विषय के स्वाभाविकरूप को अपना विषय बनाता है, और वही स्वाभाविकरूप, उसकी सत्यता और प्रमाणता है, तब जैसे वैदिकों का वेदार्थबोध, वेदार्थ की सत्यतारूपी प्रमाणता को विषय करता है वैसे ही वेदवाह्यों का वेदार्थबोध भी उसी को विषय करता है, और बोध ही का, सिद्धि और मानना नाम है। तथा वेदार्थ की प्रमाणता ही वेद की प्रमाणता है, इस प्रकार से यह अटल सिद्ध होगया कि वेदवाह्यों के हृदयों में वेद की प्रमाणता सिद्ध है और वे वेद की प्रमाणता अवश्य मानते हैं तथा उनका यह कहना कि " हम वेद की प्रमाणता नहीं मानते " केवल द्वेषवश मिथ्याभाषण ही है। और जैसे किसी की इच्छा अथवा स्वीकार से किसी की प्रमाणता नहीं होती, नहीं तो मनोराज्यादिरूपी ज्ञानों की भी प्रमाणता हो जाती, वैसे ही किसी के द्वेष वा अस्वीकार से किसी की अप्रमाणता भी नहीं होती, नहीं तो अग्नि से जले हुए पुरुष का दाहदुःख भी उस पुरुष के द्वेष वा अस्वीकार से असत्य हो जाता। तस्मात् वेदवाह्यों का द्वेष वा अस्वीकार भी वेद की स्वतःसिद्ध प्रमाणता में कुछ भी विघ्न नहीं कर सकता।

प्रामाण्यं स्यादिति शक्यते शङ्कितुम् । नह्यतीन्द्रियेऽर्थे पुरुषस्य दर्शनशक्तिः सम्भवति प्रत्यक्षाद्यसंभवात् तेन भ्रान्तिविप्रलम्भादिमूलकतया तद्वाक्यस्य दुष्टत्वादौत्सर्गिकमपि प्रामाण्यं यद्यपोद्यते तावता किमायातमपौरुषेयत्वेन नित्यनिर्दोषत्वादनपोदितस्वतःप्रामाण्यस्य वेदस्येति ।

॥ एतदप्युक्तं तत्रैव वार्तिके ॥

चोदनार्थान्यथाभावं कुर्वतश्चानुमानतः । तज्ज्ञानेनैव यो बाधः स कथं विनिवार्यते ॥ ८९ ॥
तन्मिथ्यात्वादबाधश्चेत्प्राप्तमन्योन्यसंश्रयम् । नानुमानादतोऽन्यद्धि बाधकं किञ्चिदस्ति ते ॥९०॥
नचान्यैरग्रहेऽर्थस्य स्यादभावो रसादिवत् । तेषां जिह्वादिभिर्यस्मा न्नियमो ग्रहणेऽस्ति हि ॥९१॥
तद्धियैवार्थबोधश्चेत्तादृग्धर्मे भविष्यति । ममासिद्धमिदं किन्तु वेदाज्ज्ञातेऽवबोधने ॥ ९२ ॥
वक्तुं न द्वेषमात्रेण युज्यते सत्यवादिना । द्वेषादसम्मतत्वाद्वा नच स्यादप्रमाणता ॥ ९३ ॥
नचात्मेच्छाभ्यनुज्ञाभ्यां प्रामाण्यमवकल्पते । अग्निदाहादिदुःखस्य नह्यप्रत्यक्षतेष्यते ॥९४॥
नचाभिलाषिकं ज्ञानं प्रामाण्येनावधार्यते । तस्माल्लोकवद्वेदे सर्वसाधारणे सति ॥ ९५ ॥
नैवं विप्रतिपत्तव्यं बुद्धादेर्वक्ष्यतेऽन्तरम् । पुरुषाशक्तितस्तत्र सापवादत्वसंभवः ॥ ९६ ॥
वेदस्यापौरुषेयत्वे सिद्धान्त्वेवं प्रमाणता ॥ ९७ ॥ इति

यत्तु जैनेन सिद्धसेनदिवाकरेण निर्मितस्य संमत्याख्यस्य प्रकरणस्य "सिद्धं सिद्धत्थाणं" इत्यादिमाद्येव कारिकां व्याचक्षाणेन राजगच्छीयेनाभयदेवसूरिणा बौद्धानुयायिनाऽऽर्हतेन तत्त्वबोधविधायिन्याख्यायां तद्व्याख्यायाम्—

अत्राहुर्मीमांसकाः अर्थतथात्वप्रकाशको ज्ञातृव्यापारः प्रामाण्यम्, तस्यार्थतथात्वप्रकाशकत्वं प्रामाण्यम् तच्च स्वतः उत्पत्तौ, स्वकार्ये यथाऽवस्थितार्थपरिच्छेदलक्षणे, स्वज्ञाने च विज्ञानोत्पादकसामग्रीव्यतिरिक्तगुणादिसामग्र्यन्तरप्रमाणान्तरस्वसंवेदनग्रहणानपेक्षत्वात्

॥ भाषा ॥

प्रश्न—यदि बोध को उत्पन्न करने मात्र से वेद की प्रमाणता है तो बुद्धादिवाक्यों की प्रमाणता क्यों नहीं है, क्या वे बोध ही नहीं कराते ?

उत्तर—जो अर्थ प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात होते उनके विषय में पुरुष की दर्शनशक्ति नहीं हो सकती तब बुद्धादिवाक्यों का मूल, भ्रम प्रमाद आदि को छोड़ कर दूसरा क्या हो सकता है ? और ऐसी दशा में लौकिकवाक्यों की जो स्वाभाविक सामान्यतः प्रमाणता है उसको भी बुद्धादिवाक्य, स्वतः खो बैठे हैं। इसलिये अपौरुषेय होने से नित्यनिर्दोष, अबाधित और स्वतःप्रमाण वेद के साथ वैसे वाक्यों की चर्चा ही क्या है ? इन बातों को भी श्लोक ८९ से ९७ पर्यन्त धर्मलक्षणसूत्र ही पर वार्तिककार ने सूचित किया है ।

सिद्धसेनदिवाकर जैन के निर्मित 'संमति' नामक प्रकरण की 'सिद्धं सिद्धत्थाणम्' इस प्रथम गाथा (श्लोक) के ऊपर 'तत्त्वबोधविधायिनी' नामक उसकी टीका में अभयदेवसूरि (बौद्धों के अनुयायी जैन) ने भट्टपाद श्री कुमारिलस्वामी के मत का यों वर्णन किया है कि—

" मीमांसक कहते हैं कि रजतादि विषयों की सत्यता के प्रकाश कर देने की शक्ति जो ज्ञानों में रहती है वही ज्ञान का प्रामाण्य (सत्यता) है, उसकी उत्पत्ति स्वतः होती है अर्थात् जिन

अपेक्षात्रयरहितं च प्रामाण्यं स्वत उच्यते अत्रच प्रयोगः। ये यद्भावं प्रत्यनपेक्षास्ते तत्स्वरूपनियताः। यथाऽविकला कारणसामग्र्यङ्कुरोत्पादने अनपेक्षं च प्रामाण्यमुत्पत्तौ, स्वकार्ये, ज्ञप्तौ च इति ”

अत्र परतः प्रामाण्यवादिनः प्रेरयन्ति—अनपेक्षत्वमसिद्धम्। तथाहि। उत्पत्तौ तावत् प्रामाण्यं विज्ञानोत्पादककारणव्यतिरिक्तगुणादिकारणान्तरसापेक्षम्। तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात् तथाच प्रयोगः। यच्चक्षुराद्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि तत् तत्सापेक्षम्। यथाऽप्रामाण्यम्। चक्षुराद्यतिरिक्तभावाभावानुविधायि च प्रामाण्यमिति स्वभाव हेतुः। तस्मादुत्पत्तौ परतः। तथा स्वकार्ये सापेक्षत्वात् परतः। तथाहि। ये प्रतीक्षितप्रत्ययान्तरोदया न ते स्वतो व्यवस्थितधर्मकाः। यथाऽप्रामाण्यादयः। प्रतीक्षितप्रामाण्योदयं च प्रामाण्यं तत्रेतिविरुद्धव्याप्तोपलब्धिः। तथा ज्ञप्तौ च सापेक्षत्वात् परतः। तथाहि। ये सन्देहविपर्ययाध्यासिततनवस्ते परतो निश्चितयथाऽवस्थितस्वरूपाः; यथा स्थावरादयः। तथाच सन्देहविपर्ययाध्यासितस्वभावं केषांचित्प्रत्ययानां प्रामाण्यमिति स्वभाव हेतुः। इति प्रामाण्यस्योत्पत्तिकार्यज्ञप्तिरूपविषयभेदेन त्रिविधे स्वतस्त्वे वादिप्रतिवादिनो मीमांसकबौद्धयोर्मतद्वयं संक्षेपेणोपपाद्य 'अत्र यत्तावदुक्तम्' इत्यादिना 'तस्मात् स्वतःप्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं परत इति व्यवस्थितम्' इत्यन्तेन प्रबन्धेन 'स्वतःसर्वप्रमाणानाम्' इत्यादिकामयेह पूर्वोद्धृताः श्रीभट्टपादीयाः श्लोकवार्तिककारिकाः उद्धृत्योद्धृत्य स्वाभ्यूहितेन तद्व्याख्यानेन बौद्धमतं खण्डयित्वा भूयोऽपि 'अत्र प्रति विधीयते' इत्यादिना (अतो न सर्वत्र स्वतः प्रामाण्यसिद्धिरिति स्थितम्) इत्यन्तेन ज्ञानस्वतःप्रामाण्यं खण्डितम्।

तत्सर्वं, ज्ञानस्वतःप्रामाण्यप्रतिपादकभट्टवार्तिकप्रकरणतात्पर्य्यापर्य्यालोचनस्यैव फलं स्वाभ्यूहितयुक्तीनामेव दूषकत्वादनुक्तोपालम्भमात्रं चेति मतिमतामत्युपहसनीय-

॥ भाषा ॥

इन्द्रिय आदि कारणों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उन्हीं कारणों से उत्पन्न होता है न कि अन्य से। और उक्त प्रामाण्य, अपने कार्य अर्थात् वस्तु की सत्यता के निश्चय कराने में स्वतन्त्र है। तथा उक्तप्रामाण्य का ज्ञान भी उक्तप्रामाण्य ही से होता है न कि अन्य से। निदान ज्ञान का प्रामाण्य, अपनी उत्पत्ति, कार्य और ज्ञान में स्वतः अर्थात् अन्य की अपेक्षा नहीं करता ” इति।

तदनन्तर उक्तमत के विरुद्ध बौद्धों के मत और संक्षेप से उसकी युक्तियों का उपन्यास कर पुनः श्री भट्टपाद की 'स्वतःसर्वप्रमाणानां प्रामाण्यं तावदिष्यते' इत्यादि (जो कि इस ग्रन्थ के इसी प्रकरण में पूर्व ही उद्धृत हो चुकी हैं) कारिकाओं (श्लोकों) का अपने मनमाने व्याख्यान से 'अत्र यत्तावदुक्तम्' से लेकर 'तस्मात् स्वतः प्रामाण्यम्, अप्रामाण्यं तु परत इति व्यवस्थितम्' पर्यन्त अपने ग्रन्थ में श्री भट्टपाद की ओर से बौद्धमत का खण्डन किया। तदनन्तर पुनः 'अत्र प्रतिविधीयते' से लकर 'अतो न सर्वत्र स्वतः प्रामाण्यसिद्धिरिति स्थितम्' पर्यन्त बहुत बड़े संरंभ और प्रबन्ध से अपनी वर्णित श्री भट्टपाद की युक्तियों का यथाशक्ति खण्डन किया।

सो यह सब अभयदेव का भ्रम ही है—

क्योंकि भट्टवार्तिक के 'ज्ञानस्वतःप्रामाण्य' प्रकरण का अभिप्राय (मतलब) उन्हों

मेव । नह्यर्थतथात्वप्रकाशकत्वं ज्ञाननिष्ठं प्रामाण्यमिति श्रीकुमारिलस्वामिपादा अभिप्रायन् यदनूद्य प्रामाण्यस्योत्पत्तिकार्यज्ञप्तिषु निरपेक्षत्वं स्वरूपं च निराकृतमियत्प्रयत्नेन अभयदेवेन ; किन्तु अर्थतथात्वमेव तत्, तच्चार्थनिष्ठमेव न ज्ञाननिष्ठम् । ज्ञाने तु तद्विषयकत्वेन तदारोपात् भाक्तः प्रामाण्यव्यवहारः । तच्चार्थनिष्ठमुक्तरूपं प्रामाण्यं स्वतः—स्वेन आत्मना भाति विषयीभवति जातस्य ज्ञानस्य अर्थतथात्वनिष्ठे विषयीभावे परापेक्षानास्तीति यावत् । एवमप्रामाण्यमप्यर्थनिष्ठमन्यथात्वमेव, तच्च स्वतो नावगम्यते किन्तु कारणदोषज्ञानात् परंपरया, नैतदेवमिति बाधज्ञानाच्च साक्षादवगम्यत इत्येव तेषामाशयः । नचात्र किञ्चित् चित्रमिव यत् अभयदेवहृदयमिमं नास्प्राक्षीदपि । कथंहि स्वतःप्रामाण्यवर्णकेन मयाऽप्यत्रांशत उद्धृतचरेण वार्तिकमहाप्रकरणेन सूचितं सूचितं परमगम्भीरं सर्वज्ञदेशीयानां श्रीभट्टपादकुमारस्वामिपादानामाकूतं वेदानादिविद्वेषावेशकषायकषायविशेषाशेषदूषितशेमुषी विवेकशक्तिर्जैनो नाम जानीयात्—यत् उपक्रमोपसंहारपरामर्शसूक्ष्मेक्षिकैकलक्षणीयमतिविलक्षणं तद्व्याख्यातृणामपि परस्परविवादास्पदं श्रद्धागाढगुरुपादोपदेशसहायैः स्वयमप्यतिदृढबद्धवेदश्रद्धैः पण्डितरूपैः पार्थसारथिप्रभृतिभिरेव वेदनीयम् । तथैव हि स्वतःप्रामाण्यप्रक-

॥ भाषा ॥

ने इस कारण नहीं समझा कि वह बड़ा गम्भीर है यहांतक कि उसके अभिप्राय के विषय में वार्तिक के अनेक टीकाकारों का परस्पर विवाद था, अर्थात् कोई टीकाकार कहता था कि 'इस प्रकरण का अमुक तात्पर्य है' और दूसरा टीकाकार कहता था कि 'यह तात्पर्य नहीं है किन्तु यह तात्पर्य है' इसी से न्यायरत्नमाला नामक ग्रन्थ में पार्थसारथि मिश्र (मीमांसक प्रसिद्ध महापण्डित) ने भट्टवार्तिकस्थ उक्तप्रकरण के तात्पर्य का पूर्ण निर्णय किया है जो कि आगे उद्धृत किया जायगा. तो ऐसी दशा में अभयदेव ने जो उक्तप्रकरण के अभिप्राय को नहीं समझ पाया इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि वेदविद्वेष से जिसकी बिबेकशक्ति पूर्ण दूषित हो गई वह जैन महाशय कैसे उक्तवार्तिकप्रकरण के ऐसे गम्भीर तात्पर्य को समझ सकते थे ? इसी से उक्तप्रकरण का अनट सनट जो कुछ तात्पर्य अपने खण्डन के योग्य समझा वही ले भागे और उसका खण्डन कर मारा, वास्तविक में तो उक्तवार्तिकप्रकरण का संक्षिप्त अभिप्राय यह है कि चांदी आदि अर्थों की जो सत्यता है उसी का नाम प्रामाण्य है अर्थात् प्रामाण्य अर्थों ही में रहता है न कि ज्ञान में क्योंकि ज्ञान तो असत्य भी होते हैं । और अर्थ ही की सत्यता के कारण ज्ञान भी सत्य और प्रमाण भी कहे जाते हैं तथा अर्थों की सत्यता के साथ ज्ञानों का सम्बन्ध, स्वाभाविक है,इसी से उस सम्बन्ध में अन्य की अपेक्षा नहीं है इसी का नाम स्वतःप्रामाण्य है ऐसे ही अर्थों की असत्यता ही अप्रामाण्य है अर्थात् अप्रामाण्य भी अर्थों ही में रहता है जैसे सीपी में चांदी का भ्रम जब हुआ तब चांदी की वहां असत्यता ही है परन्तु वह ज्ञान उस असत्यता को नहीं प्रकाशित करता किन्तु दूसरा ही ज्ञान (यह चांदी नहीं है किन्तु सीपी है) वहां चांदी की असत्यता को प्रकाशित करता है, इसी से अप्रामाण्य (असत्यता) परतः कही जाती है ।

इस अभिप्राय को अभयदेवसूरि ने नहीं समझा इसी से इसमें, उनके दिये हुए दोषों में से एक भी दोष नहीं पड़ सकता । इस ग्रन्थ में भी इसी प्रकरण में पूर्व ही यह अभिप्राय स्पष्टरूप से वर्णित हो चुका है। और यह भी ध्यान में नहीं लाना चाहिये कि अभयदेवसूरि के दिये

रणं न्यायरत्नाकरे श्लोकवार्तिकटीकायां पार्थसारथिमिश्रैर्व्याख्यातम्, न्यायरत्नमालायां च स्वतःप्रामाण्यनिर्णयप्रकरणेऽभिप्रायान्तराणि निराकृत्य मदुक्त एव वार्तिकाभिप्राय- स्तैर्निर्णीतः ।

तत्प्रकरणं यथा—

"विज्ञानस्य प्रमाणत्वं स्वतो निर्णीयते यथा । परतश्चाप्रमाणत्वं तथा न्यायोऽभिधीयते ॥१॥

स्वतः सर्वप्रमाणानामित्यारभ्य स्वतःप्रामाण्यं परतश्चाप्रामाण्यमाचार्यैरुपनिबद्धम् । तत्र व्याख्यातारो विवदन्ते—स्वशब्दः किमात्मवचन आत्मीयवचनो वा तथा प्रामाण्यं किं स्वतोभवति, किंवा स्वतो भातीति । तथा प्रामाण्यं नाम किम् अर्थतथात्वं किंवा तथाभूतार्थ निश्चायकत्वमिति । तत्रच

आत्मवाची स्वशब्दोऽयं स्वतो भाति प्रमाणता । अर्थस्य च तथाभावः प्रामाण्यमभिधीयते ॥२॥

तत्र केचित्तावदाहुः—प्रामाण्यं नामार्थाव्यभिचारित्वं तथाभूतार्थविषयत्वमिति यावत्

॥ भाषा ॥

हुए दोषों से बचने के लिए अब इस ग्रन्थ में उक्त भट्टवार्तिक के प्रकरण का यह नवीन अभिप्राय लगाया जा रहा है, क्योंकि पण्डितवर पार्थसारथिमिश्र ने 'न्यायरत्नाकर' नामक भट्टवार्तिकटीका में पूर्व ही से उक्तअभिप्राय को वर्णन कर दिया है जो कि इस ग्रन्थ के इस प्रकरण में भी अभी कहा जा चुका है । तथा उक्तपण्डितवर ने 'न्यायरत्नमाला' नामक ग्रन्थ में भी 'स्वतःप्रामाण्यनिर्णय' प्रकरण में अन्य अभिप्रायों का खण्डन कर उक्तअभिप्राय ही को स्थापित किया है—उस प्रकरण को भी अब मैं उद्धृत कर देता हूँ—

"(विज्ञानस्य—१) ज्ञान का स्वतः प्रमाण होना और परतः अप्रमाण होना जिन युक्तियों से निश्चित होता है—वे युक्तियां कही जाती हैं । १ ।—

धर्मलक्षणसूत्र पर " स्वतः सर्वप्रमाणानाम्— " से लेकर आचार्य श्री कुमारिलस्वामी ने स्वतः प्रमाण्य और परतः अप्रामाण्य का वर्णन किया है, परन्तु उस प्रकरण के टीकाकारों का परस्पर यह विवाद है कि—' स्वतः प्रामाण्य ' शब्द में 'स्व' शब्द का आत्मा अर्थात् ज्ञान (जिस में प्रामाण्य रहता है); अर्थ है अथवा आत्मीय अर्थात् उस ज्ञान की कारणसामग्री आदि, तथा प्रामाण्य क्या स्वतः उत्पन्न होता है ? कि ज्ञानमात्र होता है, और प्रामाण्य क्या रजतादि पदार्थों की सत्यता-स्वरूप है—अथवा उनकी सत्यता के निश्चय कराने की शक्ति है, (जो कि ज्ञान में रहती है); । और इस विषय में वास्तविक सिद्धान्त यह है कि:—

(आत्मवाची. २.) पूर्वोक्त "स्व" शब्द का अर्थ आत्मा अर्थात् ज्ञान ही कहना चाहिये नकि आत्मीय; तथा प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न नहीं होता, किन्तु स्वतः ज्ञात होता है । और पदार्थों की सत्यता ही का नाम प्रामाण्य है, नकि ज्ञान में रहनेवाली पूर्वोक्त शक्ति का; अर्थात् प्रामाण्य, पदार्थों ही में रहता है नकि ज्ञान में । २ ।

कोई टीकाकार तो पूर्वोक्त स्वतःप्रमाण्य प्रकरण के तात्पर्य को यों वर्णन करते हैं कि:—

पदार्थों की सत्यता को प्रकाश कर देना ज्ञान का स्वभाव है, उसी को प्रामाण्य कहते हैं, और यह प्रामाण्य उसी से उत्पन्न होता है जिससे कि ज्ञान उत्पन्न होता है, अर्थात् इन्द्रियादिरूपी ज्ञान के कारणसामग्री ही से ज्ञान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है, नाकि किसी गुण से । इस रीति से

तद्य ज्ञानानां स्वत एव जायते। स्वशब्दोऽयमात्मीयवचनः। स्वीयादेव कारणात्तथाभूतार्थविषयत्वं ज्ञानस्य जायते न गुणात्॥ अप्रामाण्यं त्वयथार्थविषयत्वलक्षणं न स्वीयादेव कारणाज्जायते अपि तर्हि तद्गताद् दोषादिति परत इत्युच्यते। यदि हि सत्यार्थविषयता गुणनिमित्ता स्यात् स्वकारणदोषात् त्वसत्यविषयतैव। तथा सति दोषयुक्ताद् गुणहीनात् इन्द्रियादेः पीतशङ्खादिज्ञानेषु न किञ्चित्सत्यं गम्येत; गम्यते तु तत्रापि शङ्खस्वरूपादिकं सत्यम् दोषाधीने त्वस्यायाथार्थत्वे स्वकारणाधीने सत्यविषयत्वे सत्युभाभ्यां मिलिताभ्यां जायमानं सत्यासत्यार्थविषयकं भवतीत्युपपन्नम्। तस्मात्स्वीयात्कारणाद्यथार्थत्वलक्षणं प्रामाण्यं जायते नतु भाति। नहि ज्ञानमात्मानमात्मीयं वा प्रामाण्यमवगमयति; अर्थप्रकाशमात्रोपक्षीणत्वात्। परतस्तु कारणदोषादयथार्थत्वलक्षणमप्रामाण्यमिति दोषाभावाद् वेदस्य यथार्थत्वमिति। अस्मिंस्तु पक्षे, जातेऽपि यदि विज्ञाने इत्यादिना ऽनवस्थाप्रसङ्गेन परतःप्रामाण्यदूषणं न घटते। गुणज्ञानाधीने हि प्रामाण्ये स्यादनवस्था। गुणस्वरूपायत्ते त्वनवगता एव गुणा इन्द्रियवज्ज्ञानप्रामाण्यं जनयन्तीति नानवस्थापत्तिः।

॥ भाषा ॥

पूर्वोक्त 'स्व' शब्द का आत्मीय ही अर्थ है, न कि आत्मा। और अप्रामाण्य तो असत्य विषय को प्रकाश करता है, इसी से वह ज्ञान के कारणरूपी इन्द्रियादि से नहीं होता किन्तु इन्द्रियादि के दोष से उत्पन्न होता है, और इसी कारण से वह 'परतः' कहा जाता है। क्योंकि यदि ज्ञान की प्रमाणता इन्द्रियादि के गुण से और अप्रमाणता इन्द्रियादि के दोष से उत्पन्न होती तो गुण से रहित और पित्त दोष से सहित इन्द्रियादि से उत्पन्न पीतशङ्ख आदि के ज्ञान में कोई अंश सत्य न होता, परन्तु ऐसा नहीं है, अर्थात् शङ्ख आदि अंश उन ज्ञानों में भी सत्य होते हैं। केवल पीतांशमात्र मिथ्या होता है और जब ज्ञान की अप्रमाणता दोष के अधीन तथा प्रमाणता, इन्द्रियादिकारण के अधीन मानी जाती है तब दोष और इन्द्रिय के मेलन से उत्पन्न पीतशङ्खादि के ज्ञान का, एक अंश में सत्य और इतर अंश में मिथ्या होना ठीक होता है। इसलिये यही निश्चय है कि ज्ञान में उसके कारण इन्द्रियादि से उसका यथार्थतारूप प्रामाण्य, उत्पन्न ही होता है नकि ज्ञात। क्योंकि ज्ञान का इतना ही काम है कि वह पदार्थ का प्रकाशरूपी होता है; इस कारण जब वह अपना ही प्रकाश नहीं कर सकता तो अपने में रहने वाली प्रमाणता को प्रकाश कब कर सकता है। वेद की यथार्थता के प्रकरण में जो भट्टपाद ने ज्ञान का स्वतःप्रमाणता और परतः अप्रमाणाता का विचार किया है उसका यही तात्पर्य है कि जब कारणदोष से अप्रमाणता का होना सिद्ध हो गया तब वेद में कर्ता के न होने से कारणदोष की शङ्का ही नहीं होती कि जिस से वेद में अयथार्थतारूपी अप्रमाणता की शङ्का भी होसके। और इसी से वेद की यथार्थता आप से सिद्ध हो जाती है। (इसी असत्य पक्ष को लेकर अभयदेवसूरि ने अपनी मनमानी खिचड़ी पकाई है)

यह पक्ष वार्तिक कार के संमत नहीं है क्योंकि एक तो 'जातेऽपि यदि विज्ञाने' इससे (जोकि इसी प्रकरण में पूर्व उद्धृत होचुका है) भट्टपादने परतः प्रामाण्य में अनवस्था दोष दिया है; उसका विरोध इस पक्ष में पड़ता है क्योंकि वह अनवस्था तभी पड़सकती है कि जब प्रामाण्य, इन्द्रियगुणों के ज्ञान के अधीन स्वीकार किया जाय और यदि इन्द्रियगुणों के ज्ञान की अपेक्षा कुछ नहीं है अर्थात् वे गुण ज्ञात हों अथवा अज्ञात, परन्तु वे गुण हीं इन्द्रिय के तुल्य, ज्ञान के प्रामाण्य

तथा "दोषाभावोगुणेभ्यश्चेन्ननु सैवास्थितिर्भवेत्" इति चोदयित्वा "तदा न व्याप्रियन्ते तु ज्ञायमानतया गुणः" इति परिहरन् परपक्षे गुणज्ञानादेव प्रामाण्यं न गुणस्वरूपादिति दर्शयति । तथा—

"तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता। अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपोद्यते" ॥

इतिवदन् सिद्धान्ते दोषज्ञानादेवाप्रामाण्यं न दोषस्वरूपादिति व्यक्तमेवाह । तथा "अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषावधारणात्" इत्यादयो बहवः श्लोका अस्मिन् पक्षे न संगच्छन्ते अतो न वार्तिककाराभिमतोऽयं पक्षः ।

अन्ये त्वाहुः-अनधिगततथाभूतार्थनिश्चायकत्वं प्रामाण्यम् ; तच्च ज्ञानानां स्वत एव जायते ; स्वशब्दश्चायमात्मवचनः ज्ञानस्वरूपादेव तथाभूतार्थनिश्चयो जायते न गुणज्ञानात्संवादज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाद्वा अनवस्थाप्रसङ्गात् । अर्थान्यथात्वनिश्चयस्तु परतो दोषज्ञानादर्थान्यथात्वज्ञानाद्वेति परत इत्युच्यत इति । अस्मिन्नपि पक्षे स्वतः प्रामाण्यं जायते नतु ज्ञायते । अत्रेदं वक्तव्यम् ; यदि प्रामाण्यस्य जन्मनि स्वयमेव कारणं ज्ञानं

॥ भाषा ॥

के कारण हैं ऐसे स्वीकार करने पर अनवस्था नहीं पड़ती; और उक्त व्याख्यान में गुणों की कारणता का खण्डन किया गया है, नाकि गुणज्ञान की कारणता का । दूसरे "दोषाभावो गुणेभ्यश्चेन्ननु सैवास्थितिर्भवेत्" (यदि यह माना जाय कि गुणों का यही काम है कि वे दोषों को हटा देते हैं तब भी वही अनवस्था पड़ती है) इस श्लोक से पहिले आक्षेप कर पीछे "तदा न व्याप्रियन्तेतु ज्ञायमानतया गुणाः" (दोषों के हटाने में गुणों का कुछ काम नहीं है । अर्थात् गुण ज्ञात हों अथवा अज्ञात; परन्तु वे दोषों को हटादेते हैं । इसलिये ज्ञान की अपेक्षा में जो अनवस्था पड़ती है वह यहां नहीं पड़सकती) इससे पूर्वोक्त आक्षेप का परिहार किया, तो अब स्पष्ट ही निश्चित है कि वार्तिककार ने परतः प्रामाण्यपक्ष में गुण के ज्ञान ही से प्रमाणता दिखलाई है नाकि गुण के स्वरूप से । तीसरे "तस्माद् बोधात्मकत्वेन" इत्यादि श्लोक से भट्टपाद ने स्पष्ट ही कहा है कि दोष के ज्ञान ही से ज्ञान की अप्रमाणता निश्चित होती है, नकि दोष के स्वरूप से । और पूर्वोक्त पक्ष में कारणदोष के स्वरूप ही से ज्ञान की अप्रमाणता मानी गई है इसलिए उक्त पक्ष में इस श्लोक का विरोध दुर्वार ही है । चौथे "अपरे कारणोत्पन्नगुणदोषावधारणात्" (परतःप्रामाण्यवादी प्रामाण्य को कारण के गुणनिश्चय से, और अप्रामाण्य को दोषनिश्चय से निश्चित कहते हैं) इत्यादि पूर्वोक्त पक्षमें और भी वार्तिक के बहुत से श्लोक विरुद्ध पड़ते हैं ।

और अन्य टीकाकारों ने तो उक्त स्वतःप्रामाण्य प्रकरण का यह तात्पर्य कहा है कि पूर्व का अज्ञान और सत्य पदार्थ का निश्चय करा देना ही ज्ञान में प्रामाण्य है और वह ज्ञानों का प्रामाण्य, ज्ञानों हीं से उत्पन्न होता है, तथा 'स्व' शब्द से आत्मा अर्थात् ज्ञान हीं को कहते हैं । क्योंकि उक्त प्रामाण्य के स्वरूप में सत्य अर्थ का निश्चय पड़ा हुआ है, जोकि पदार्थज्ञान के स्वरूप ही से होता है नाकि कारण गुण के ज्ञान अथवा संवाद के ज्ञान या अर्थक्रिया के ज्ञान से । क्योंकि गुण के ज्ञानादि से प्रामाण्य की उत्पत्ति स्वीकार करने में अनवस्थादोष पूर्व हीं दिखला दिया गया है । और पदार्थ के अन्यथा (विपरीत) होने का निश्चय तो परतः अर्थात् कारणदोष के ज्ञान अथवा पदार्थ के अन्यथा (विपरीत) होने के ज्ञान से होता है इसीसे अप्रामाण्य परतः कहा जाता है इति ।

तथासति अप्रामाण्यस्यापि जन्मन्येव दोषज्ञानबाधकज्ञानयोः कारणत्वं वक्तव्यम्, तत्र कस्याप्रामाण्यं कारणदोषज्ञानाद् बा जायते ; नहि शुक्तौ रजतज्ञानस्य बाधकादिजन्यमप्रामाण्यम्। उत्पत्तौ एव तस्याप्रमाणत्वात्। अतथाभूतार्थनिश्चयो ह्यप्रामाण्यम् तच्चाप्रमाणज्ञानं स्वतएव भवतीति न तद् बाधकज्ञानादिकमपेक्षते। नह्युत्पत्तौ प्रमाणं सत् पश्चाद् बाधकेनाप्रमाणी क्रियते, अपितूत्पत्तावेवंतभूमप्रामाण्यं बाधकेन ख्याप्यते नत्वर्थस्यान्यथाभावनिश्चयो बाधकेनैव जन्यते, सत्यं, नतु तदेवाप्रामाण्यं, नह्यर्थान्यथाभावनिश्चयः पूर्वज्ञानस्याप्रामाण्यं किन्तु वस्तुतोऽर्थस्यान्यथाभावः ; अन्यथाभूते बा तथाभावनिश्चायकत्वं नैतदुभयमपि बाधकजन्यम्। स्वत एवार्थस्यान्यथाभावात् स्वत एव चाप्रमाणज्ञानादन्यथाभूतेऽर्थे तथात्वनिश्चयात्। तथा चाप्रामाण्यमपि स्वत एवोत्पद्यते।

"तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेःप्रमाणता अर्थान्यथात्वहेतूत्थ दोषज्ञानैरपोद्यते" ॥

इति श्लोकोऽपि भवता इत्थं व्याख्येयः। बुद्धेः स्वतो जातं प्रामाण्यं पश्चादपोद्यत

॥ भाषा ॥

इस पक्ष में भी प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है नकि स्वतः ज्ञात। इसपर यह कहना उचित है कि यदि अपने प्रामाण्य की उत्पत्ति ही में ज्ञान कारण है तो कारणदोष का ज्ञान और बाधक ज्ञान भी अप्रामाण्य की उत्पत्ति ही में कारण हो जायेंगे और तब यह अवश्य कहना पड़ेगा कि कारणदोष के ज्ञान वा बाधक ज्ञान से किसमें अप्रामाण्य उत्पन्न होता है, और इसका उत्तर देते न बनेगा, क्योंकि शुक्ति (सीपी) में जो रजत (चांदी) का मिथ्याज्ञान उत्पन्न होता है, वह अपने उत्पत्तिकाल ही से अप्रमाण ही उत्पन्न होता है। प्रसिद्ध है कि असत्य अर्थ का निश्चय कराना ही ज्ञान का अप्रामाण्य है, और बाधकज्ञान (यह शुक्ति है रजत नहीं) आदि तो उस मिथ्याज्ञान के पश्चात् ही उत्पन्न होते हैं: इसलिये वे उस मिथ्याज्ञान के अप्रामाण्य के कारण नहीं हो सकते। क्योंकि यह नहीं कहा जा सकता कि वह ज्ञान तो वास्तविक में प्रमाण ही उत्पन्न हुआ; परन्तु बाधकज्ञानादि ने पश्चात् उसको अप्रमाण कर दिया; किन्तु यही कहा जा सकता है कि मिथ्याज्ञान पूर्व ही से अप्रमाण ही उत्पन्न हुआ था, परन्तु उसके अप्रमाण होने का निश्चय नहीं था, जो कि बाधकज्ञानादि से पश्चात् हुआ।

प्रश्न—जबकि अर्थ के विपरीत होने का निश्चय ही अप्रामाण्य है तब तो वह बाधक ही से उत्पन्न होता है, तब क्यों कहा जाता है कि अप्रामाण्य बाधक से नहीं उत्पन्न होता।

उत्तर—यह ठीक है कि अर्थ के विपरीत होने का निश्चय बाधक ही से होता है परन्तु वह अप्रामाण्य ही नहीं है। क्योंकि पूर्वज्ञान का अप्रामाण्य उसके विषय का विपरीत होना ही है अथवा विपरीत विषय की सत्यता का निश्चय करा देना अप्रामाण्य है। सो इन दोनों में से एक में भी पीछे होनेवाले बाधकादि ज्ञान से नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि विषय का विपरीत होना पहिले ही से है और पहिले ही से वह अप्रमाण ज्ञान उस विपरीत पदार्थ में सत्यता का निश्चय कराता है। इसलिये इस पक्ष में यह दोष दुर्वार ही है कि अप्रामाण्य की भी स्वतः उत्पत्ति माननी पड़ेगी। और दूसरा यह दोष है कि "तस्माद् बोधात्मकत्वेन" इस पूर्वोक्त श्लोक का भी इस पक्ष में यह अर्थ करना पड़ेगा कि "बोधकी स्वतः उत्पन्न हुई प्रमाणता को, पीछे से बाधक ज्ञान नष्ट करता है" सो यह अर्थ

इति । तच्चायुक्तम् । उत्पत्तावेवाप्रमाणत्वात् । अथ निश्चायकत्वं प्रामाण्यं तदभावोऽप्रामाण्यम्, तच्च बाधकेन निराक्रियते इति मतम् तदयुक्तम् । नहि बाधकेन निश्चयस्य विनाशः क्रियते, तस्यस्वत एव विनश्वरत्वात् । तस्मादेवं वक्तव्यम् ।

बुद्धेः स्वीयं प्रमाणत्वं स्वत एवावगम्यते । परतश्चाप्रमाणत्वं दोषबाधकबोधतः ॥ ३ ॥

नन्वत्रापि ग्रन्थविरोधो न्यायविरोधश्च स्यात् । तथाहि । नहि विज्ञानमात्मानं गृह्णाति नतरामात्मीयं प्रामाण्यम् ; अर्थग्रहणोपक्षीणत्वात् । तथा च "ननु प्रमाणमित्येवं प्रत्यक्षादि न गृह्यते । नचेत्थमगृहीतेन व्यवहारोऽवकल्पते" ॥१॥ इतिप्रामाण्याग्रहणदोषं चोदयित्वा "प्रमाणं ग्रहणात् पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् । निरपेक्षं स्वकार्येषु गृह्यते प्रत्ययान्तरैः" ॥१॥ इति प्रमाणत्वाग्रहणमङ्गीकृत्यैव दोषप्रसङ्गं समाधत्ते तद्विरुध्यते प्रमाणत्वस्यात्मना ग्रहणे । तथा निश्चयात्मकवस्तुत्वात् प्रामाण्यं जन्यते गुणैरिति निश्चयात्मकप्रामा-

॥ भाषा ॥

असंगत है क्योंकि वह मिथ्याज्ञान अपने उत्पत्तिकाल ही से अप्रमाण होता है और 'यह भी नहीं कह सकते कि विषय की सत्यता का निश्चय कराना प्रामाण्य है और उस निश्चय का नष्ट होना अप्रामाण्य है। इसरीति से उक्त निश्चय का नाश करना बाधकज्ञान आदि का काम है, इसरीति से अप्रामाण्य की उत्पत्ति बाधकज्ञान से होती है, और यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि कोई निश्चय तीन क्षण से अधिक समय तक स्थिर नहीं रह सकता। यह दूसरी बात है कि निश्चय से उत्पन्न संस्कार निश्चय के नष्ट होने पर भी रहता है, जो कि निश्चय के विषय को स्मरण कराता है। इस रीति से उक्त निश्चय का नाश आप ही होता है, नकि बाधकज्ञान से।

इस लिये "तस्माद् बोधात्मकत्वेन" इस पूर्वोक्त श्लोक के वास्तविक तात्पर्य को इस रीति से यदि कहा जाय तो पूर्वोक्त दोषों का उद्धार हो जाय कि—

(बुद्धेः स्वीयं) उस ज्ञान की अपनी प्रमाणता अर्थात् विषय की सत्यता उसी ज्ञान से ज्ञात होती है, यही ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य है, और अप्रमाणता, कारणदोष के ज्ञान अथवा बाधक ज्ञान से ज्ञात होती है यही परतः अप्रामाण्य है । यहां तक सिद्धान्त हो गया कि अनन्तरोक्त दोनों पक्षों से पूर्व जो स्वतःप्रामाण्य के विषय में सिद्धान्त कहा गया वास्तविक में भट्टपाद का तात्पर्य उसी पक्ष में है नाकि इन दो पक्षों में।

आक्षेप 'उस ज्ञान का प्रामाण्य उसी ज्ञान से प्रकाशित होता है' इस प्रथम सिद्धान्त में भी उन्हीं भट्टपाद के दो वाक्यों का और उन में कही हुई युक्तियों का भी विरोध दुर्वार है। क्योंकि "ननु प्रमाणमित्येवं" इस कारिका से उन्होंने यह आक्षेप किया कि ज्ञान जब अपना ही ग्रहण नहीं करता तब अपने प्रामाण्य का ग्रहण कैसे करेगा क्योंकि ज्ञान का यह आकार नहीं होता कि 'मैं (ज्ञान) प्रमाण हूं,' किन्तु यही आकार होता है कि 'यह घट है' और अपने में प्रामाण्य ग्रहण किए बिना उस ज्ञान के आश्रय पर कोई लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता। तदनन्तर "प्रमाणं ग्रहणात् पूर्वं" इस कारिका से, उस ज्ञान से उसके प्रामाण्य का ग्रहण न होना ही स्वीकार कर यह समाधान किया कि ज्ञान के प्रामाण्य का जब तक ग्रहण नहीं होता तब तक वह प्रामाण्य उसी ज्ञान में स्वरूप से स्थित रहता है पश्चात् विषय की सत्यता का निश्चयादि कार्यों में भी वह ज्ञान किसी की अपेक्षा नहीं करता। और प्रामाण्य का ग्रहण उसके पीछे अन्यज्ञान से होता है कि 'यह ज्ञान

ण्योत्पादनं तु वस्तुस्वरूपत्वात् संवादकारणगुणज्ञानकार्यत्वेन अध्यवसानमिति पूर्वपक्षे प्रामाण्यस्य जन्मन्येव गुणानां कारणत्वमिति वदन् सिद्धान्तेऽपि जन्मैव स्वत इतिदर्शयति तस्मात् स्वतो भातीति अयमपि पक्षोऽनुपपन्न इति ।

अत्राभिधीयते । यत्तावदुक्तं न ज्ञानमात्मानं गृह्णाति, विषयप्रकाशकत्वात् नचात्मन्यगृह्यमाणे तत्संबन्धितया प्रामाण्यं शक्यते ग्रहीतुमिति । यदि वयं ज्ञानं अहं प्रमाणमित्यवं मदीयं वा प्रामाण्यमित्येवं गृह्णातीति वदेम तदैवमुपालभ्येमहि नत्वेवमस्माभिरुच्यते यद् वस्तुतो ज्ञानस्य प्रामाण्यं यद्वशाद् ज्ञानं प्रमाणं भवति तत्प्रमाणबुद्धिशब्दयोर्भावकतया लब्धप्रामाण्यपदाभिधानीयकमात्मनैव ज्ञानेन गृह्यते इत्युच्यते । किं पुनस्तत्, अर्थतथात्वम् । इदमेवहि ज्ञानस्य प्रामाण्यं यदर्थस्य तथाभूतत्वम् अतथाभूतविषयस्य ज्ञानस्याप्रामाण्यात् । इदमेव चाप्रामाण्यं यदर्थस्यान्यथात्वम् । तेन स्वत एव ज्ञानादर्थतथात्व-

॥ भाषा ॥

प्रमाण है' इस लिये यह बात उनके संमत नहीं हो सकती कि उस ज्ञान के प्रामाण्य का ग्रहण उसी ज्ञान से होता है । तथा दूसरे वाक्य का विरोध यह है कि "निश्चयात्मकवस्तुत्वात्" से यह पूर्वपक्ष किया गया कि पदार्थों की सत्यतानिश्चयरूपी प्रामाण्य, वस्तुरूपी है इससे यह निश्चय सहज में हो सकता है कि वह प्रामाण्य, संवादज्ञान और कारण के गुणज्ञान का कार्य है । तदनन्तर उसके उत्तर मे यही कहा कि प्रामाण्य के उत्पत्ति ही में गुण कारण हैं. जिस में यह स्पष्ट ही दिखलाया कि प्रामाण्य की उत्पत्ति ही स्वतः अर्थात् अपने कारण के गुणों ही से होती है इसलिये यह बात भी ठीक नहीं है कि प्रामाण्य, ज्ञान से केवल प्रकाशित होता है न कि कारण के गुण से उत्पन्न ।

समाधान—यदि हम यह कहते कि ज्ञान का आकार यह होता है कि "मैं प्रमाण हूं" अथवा "प्रामाण्य मेरा है" इस रीति से ज्ञान अपने प्रामाण्य को ग्रहण करता है, तब यह आक्षेप हो सकता था कि ज्ञान जब अपना ही ग्रहण नहीं कर सकता तो अपने प्रामाण्य का ग्रहण कैसे करेगा ? परन्तु हम ऐसा नहीं कहते किन्तु यह कहते हैं कि ज्ञान में प्रामाण्य नहीं होता किन्तु उसके विषय घटादिपदार्थों में जो सत्यता रहती है उसी को प्रामाण्य कहते हैं और उसी के कारण, उस सत्यता का ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है, तथा पदार्थों की असत्यता अर्थात संमुखस्थित शुक्लपदार्थ (सीपी) का जो रजत न होना है वही अप्रमाणता है; और "यह घट है" इत्यादि सत्यज्ञान घट की सत्यतारूपी अपने प्रामाण्य का स्वयं निश्चय कराते हैं इसी से प्रामाण्य स्वतः निश्चित होता है, न कि गुण के वा संवाद के वा अर्थक्रिया के ज्ञान से और विषय की असत्यतारूप अप्रामाण्य तो रजत आदि के मिथ्याज्ञान से नहीं निश्चित हो सकता, क्योंकि सत्यज्ञान के तुल्य वह मिथ्याज्ञान भी रजतादि मिथ्यापदार्थों की सत्यता ही को ग्रहण करता हुआ ज्ञात होता है कि यह रजत है; इस कारण "रजत न होना" इस ज्ञान से कदापि निश्चित नहीं हो सकता और रजत न होने ही का नाम अप्रामाण्य है, इसरीति से उस ज्ञान का अप्रामाण्य उस ज्ञान से निश्चित नहीं हो सकता कि जिस से यह कह सकें कि अप्रामाण्य स्वतः है किन्तु उस मिथ्याज्ञान के पश्चात् जो "संमुखस्थित वस्तु, रजत नहीं है किन्तु सीपी है" यह दूसरा ज्ञान होता है उसी से पूर्व मिथ्याज्ञान का अप्रामाण्य अर्थात् सीपी का चांदी न होना निश्चित होता है इसी से अप्रामाण्य परतः कहा जाता है । और इस हमारे सिद्धान्त पर पूर्वोक्त आक्षेप का कोई संभव ही नहीं है तथा यही सिद्धान्त श्रीभट्टपाद को संमत भी है, जैसा कि

रूपमात्मीयं प्रामाण्यं निश्चीयते नतु गुणज्ञानात् संवादज्ञानादर्थक्रियाज्ञानाद्वा तदवगन्तव्यम् । अप्रामाण्यं त्वात्मीयमर्थान्यथात्वरूपं स्वतो नावगम्यते नतु कारणदोषज्ञानात्साक्षादेव वा नैतदेवमितिज्ञानादवगम्यते इत्येतदत्र प्रतिपाद्यते । आह च

मिथ्यैतत्सर्वविज्ञानमिति नाज्ञायि तेन हि । प्रमाणवद्धि तेनार्थस्तथैवेत्यवधारितः ।

अन्यथात्वं कुतस्तस्य सिद्ध्येद् ज्ञानान्तराद् ऋते । इति । तथा–

अप्रमाणं पुनः स्वार्थे प्रमाणमिव हि स्वतः । मिथ्यात्वं तस्य गृह्येत न प्रमाणान्तराद् ऋते ।

नह्यर्थस्यातथाभावः पूर्वेणाक्तस्तथात्ववत् । तथात्वे ह्युपलब्धत्वान्निष्फला स्यात् पुनः प्रमा ॥

अन्यथात्वे त्वसिद्धत्वात् सावकाशं प्रमान्तरम् । इति । तथा विचारोपक्रमे—

प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे ज्ञानस्य स्वत एव किम् ? । अथवैकमपि स्पष्टं स्वभावेनानिरूपितम् ॥

पराश्रयादसन्दिग्धमेकं पक्षं प्रपद्यते ।

इति वदन् प्रमाणत्वाप्रमाणत्वनिरूपणमेव हि स्वतः परतो वेति चिन्त्यत इति स्पष्टमेवाह यत्तु "ननु प्रमाणमित्येवं प्रत्यक्षादि न गृह्यते । प्रमाणं ग्रहणात्पूर्वं स्वरूपेणैव संस्थितम् ॥"

इति वार्तिकं तत्प्रमाणमस्मीत्यनेनाकारेणाग्रहणात् तथाच प्रमाणमित्येवं प्रत्यक्षादि न

॥ भाषा ॥

उन्हों ने कहा है " मिथ्यैतत सर्वविज्ञान०" "यह रजत है" इत्यादि मिथ्याज्ञान ने रजत की असत्यतारूपी अपने अप्रामाण्य को स्पर्श भी नहीं किया किन्तु उलटे प्रमाणज्ञान के तरह उसकी सत्यता का निश्चय कराया क्योंकि उस मिथ्याज्ञान का यही आकार था कि "यह रजत ही है" इस कारण उस मिथ्याज्ञान का, रजत की असत्यतारूपी अप्रामाण्य तबतक कैसे निश्चित हो सकता है जब तक कि दूसरा ज्ञान ऐसा नउत्पन्न हो कि "यह रजत नहीं है" ।

तथा "अप्रमाणं पुनः" रजतादि पदार्थों का मिथ्याज्ञान अपने विषय के अनुसार तो अप्रमाण होता है क्योंकि शुक्ति, रजत नहीं है परन्तु अपने आकार के अनुसार प्रमाण सा होता है अर्थात उसका भी आकार (यह रजत है) रजत के सत्य ज्ञान ही के ऐसा होता है और उस ज्ञान का मिथ्या होना अन्य प्रमाणज्ञान से ही निश्चित होता है, क्योंकि उस मिथ्याज्ञान ने अपने विषय का विपरीत होना नहीं ग्रहण किया है, यदि अपने विषय का मिथ्या होना वही ज्ञान कह देता तो बाधकज्ञान का कुछ फल न होता और उसने अपने विषय का मिथ्या होना स्वयं नहीं कहा इसलिये उसके कहने के लिये पश्चात् बाधकज्ञान की आवश्यकता होती है कि 'यह रजत नहीं है' तथा स्वतःप्रामाण्य प्रकरण के आरम्भ ही में "प्रमाणत्वाप्रमाणत्वे" (क्या ज्ञान की सत्यता और असत्यता आपसे आप ही निश्चित हो जाती है, अथवा इन मे से एक भी प्रथम मे निश्चित नहीं हो सकता किन्तु संदेह ही रहता है परन्तु पश्चात कारणान्तर से सत्यता वा असत्यतारूपी एक पक्ष का निश्चय होता है ?) इस कारिका से भट्टपाद ने साफ़ ही कह दिया कि प्रमाणता और अप्रमाणता के निश्चय ही में स्वतः और परतः होने का विचार किया जाता है, नकि सत्यता वा असत्यता के स्वरूप में । और आक्षेप में जो "ननु प्रमाणमित्येवं" तथा "प्रमाणंग्रहणात्पूर्वं" इन कारिकाओं से विरोध दिखलाया गया है, सो ठीक नहीं है क्योंकि उनका यही तात्पर्य है कि घटादि के ज्ञान का यह आकार नहीं होता कि 'मैं प्रमाण हूं' न कि यह तात्पर्य है कि प्रामाण्य का स्वतः निश्चय ही नहीं होगा क्योंकि प्रामाण्य अर्थ ही में रहता है, जैसा कि अभी कहा गया है और ज्ञान अपने स्वभाव ही से उसको ग्रहण करता है ।

इष्यते इत्याह । ननु यदि प्रामाण्यं ज्ञानोत्पत्तिसमयेऽवगम्यते यदुत्पत्तौ प्रमाणतया न चकास्ति तदप्रमाणमित्युत्पत्तावेव परिशेषान्निश्चेतुं शक्यं विनापि कारणदोषबाधकप्रत्ययाभ्याम्, इत्यप्रामाण्यमपि स्वत एवापद्येत ! मैवं वोचः नहि स्वशब्दोऽयं प्रामाण्यपरतया-प्रयुक्तः प्रामाण्यादेव प्रामाण्यं भातीति, नापि प्रमाणपरतया, यदि हि तथा स्यात् ततोऽप्रमाणेषु प्रामाण्यानवभासात् परिशेषासिद्धमप्रामाण्यं स्यात् । विज्ञानपरस्तु स्वशब्दः विज्ञानादेव प्रामाण्यं भातीति ततश्चाप्रमाणज्ञानानादपि प्रामाण्यमेवात्मनोऽसदपि बोध्यत इति नाप्रामाण्यस्य परिशेषासिद्धिः अप्रामाण्यंतु प्रतीतप्रामाण्यापवादरूपेण पश्चाद् बोद्ध्यत इति। यथाऽऽह-यस्मात् स्वतःप्रमाणत्वं सर्वत्रौत्सर्गिकं स्थितम्। बाधकारणदुष्टत्वबोधाभ्यां तदपोद्यते। इति। स्थितं प्राप्तं प्रतिपन्नमित्यर्थः सर्वत्रेति न केवलं प्रमाणेषु ज्ञानमात्रे इति यावत् । तथा—अप्रमाणमपिस्वार्थे प्रमाणमिव हि स्वतः । इति ।

नच प्रमाणज्ञानान्यधिकृत्य चिन्तेयं प्रमाणानां प्रामाण्यं स्वतः परतोवेति किं तर्हि यानि तावत् स्थाणुर्वा पुरुषो वेति परस्परोपमर्दकानेककोटिसंस्पर्शिज्ञानेभ्यः स्मृतिज्ञाने-

॥ भाषा ॥

प्रश्न—यदि ज्ञान का, उत्पत्ति ही के समय में प्रामाण्य ज्ञात होता है तबतो कारणदोष और बाधकज्ञान के बिना ही, ज्ञान के उत्पत्ति समय ही में ज्ञान के अप्रामाण्य का भी स्वतः निश्चय हो जायगा तब वह परतः क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—"स्वतःप्रामाण्य" शब्द में 'स्व' शब्द का अर्थ समझे बिना ही यह प्रश्न है, क्योंकि 'स्व' शब्द का यदि यहां प्रामाण्य अर्थ हो तो "प्रामाण्य ही से प्रामाण्य निश्चित होता है" यह वाक्यार्थ हो जायगा, जो कि ठीक नहीं है। और यदि 'स्व' शब्द का प्रमाण अर्थ होता तो उक्त प्रश्न हो सकता था क्योंकि तब सत्यज्ञानों में सत्यता उसी प्रमाण अर्थात् सत्यज्ञान से निश्चित होती और मिथ्याज्ञानों में प्रमाणता के निश्चय न होने से अप्रमाणता का निश्चय कर लिया जाता, जिस से कि अप्रमाणता का भी स्वतः निश्चय हो जाता, परन्तु ऐसा नहीं है। किन्तु यहाँ स्व शब्द का ज्ञानसामान्य ही अर्थ है न कि प्रमाणज्ञान मात्र। और तब तो यही सिद्धान्त है कि अप्रमाणज्ञान भी अपने विषय की झूठी सत्यतारूपी प्रामाण्य ही को सत्यज्ञान के तुल्य ग्रहण करता है और उसकी वास्तविक अप्रमाणता का निश्चय तो पीछे से बाधकज्ञान के द्वारा होता है इति ।

और भट्टपाद ने यही बात "यस्मात् स्वतः प्रमाणत्वम्" इस कारिका से स्पष्ट ही कहा है कि सब ज्ञान की स्वतः प्रमाणता सामान्य से निश्चित ही रहती है नाकि सत्यज्ञान ही की । इतना मात्र है कि असत्यज्ञान के स्थल में बाधकज्ञान और कारणदोष के ज्ञान से सत्यतानिश्चय को हटा कर असत्यतानिश्चय होता है। तथा "अप्रमाणमपि स्वार्थे०" इस कारिका से भी भट्टपाद ने यही कहा है कि सत्यता का मिथ्याज्ञान अपने अर्थ अर्थात् शुक्ति आदि में अप्रमाण ही है तथापि अपने आकार से प्रमाण सा ज्ञात होता है ।

और यह भी बहुत स्पष्ट बात है कि वार्तिकस्थ उक्त स्वतः प्रामाण्य प्रकरण में केवल प्रमाण ही ज्ञान के विषय में प्रामाण्य के स्वतः वा परतः होने का विचार, (प्रमाणज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः है वा परतः) नहीं किया गया है किन्तु संशयज्ञान और स्मरणज्ञान से अन्य "यह घट है यह पट है" इस प्रकार के जितने ज्ञान हैं उन सबके प्रामाण्य में स्वतः वा परतः होने का विचार किया गया है; जैसा कि उक्त

भ्यश्चातिरिक्तानि घटोऽयं पटोऽयमित्येवंरूपाणि ज्ञानानि तानि सर्वाण्यधिकृत्य चिन्तेयम्-सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत् परीक्ष्यताम् (३३) इत्युपक्रम्यते ।

यदि प्रमाणान्येव विषयीकृत्य चिन्त्येत ततो विषयस्योभयवादिसिद्धत्वात् यानि उभयोः प्रमाणतया प्रसिद्धानि तेषां प्रामाण्यं स्वत इत्येतावत् सिद्धान्त्येत । ततश्च वेदस्योभयवादिसिद्धप्रामाण्याभावेन विचारविषयत्वान्नास्य स्वतः प्रामाण्यं साधितं स्यात् । तत्र वेदप्रामाण्यानुपयोगिनी चिन्ता काकदन्तपरीक्षावदकर्तव्या स्यात् । ज्ञानमात्रं त्वधिकृत्य स्वतःप्रामाण्ये परतश्चाप्रामाण्ये साध्यमाने वेदस्यापि स्वतस्तावद्विषयतथात्वरूपं प्रामाण्यमवगतं स्यात् कारणदोषज्ञानादेरभावान्निरपवादं स्थितं भवतीति प्रयोजनवती चिन्ता । ननु नार्थतथात्वमात्रं प्रामाण्यं, स्मृतेरपि तथात्वप्रसङ्गात् । सत्यम्—न तावन्मात्रम् अस्मिँस्तु प्रकरणे तावन्मात्रमेव स्वतः परतोवेति चिन्त्यते । प्रमाणशब्दोहि अधिगततयाऽननुसंधीयमानतथाभूतार्थनिश्चायकत्ववाची तस्यभावः प्रामाण्यम् कश्च तस्य भावः प्रमाणान्तराधिगततयाऽननुसंधीयमानत्वं 'तथाभावश्चार्थस्य' ज्ञानस्य तन्निश्चयजनकतेति त्रितयं मिलितं प्रमाणबुद्धिशब्दयोर्बोध्यं प्रामाण्यम् । तत्र यदेतदर्थस्यावगततयाऽननुसन्धीयमानत्वं तद्योग्यानुपलब्धिगम्यत्वेन न ज्ञानस्वरूपात् गम्यते । नहि घटज्ञानं घटस्यान्यतोऽनवगततां

॥ भाषा ॥

प्रकरण के आरम्भ ही में भट्टपाद ने स्पष्ट ही कहा है कि " सर्वविज्ञानविषयमिदं तावत्परीक्ष्यताम् " (सभी ज्ञानों के विषय में यह परीक्षा होनी चाहिये कि उनका प्रामाण्य स्वतः होता है वा परतः) और थोड़े से ध्यान देने की बात है कि यदि प्रमाण (सत्य) ही ज्ञानों के विषय में उक्त विचार होता तो उन ज्ञानों का प्रामाण्य, मीमांसक और नास्तिकों को स्वीकृत ही था, इस कारण "प्रामाण्य स्वतः होता है" यह सिद्धान्त भी उन्हीं प्रमाणज्ञानों के विषय में होता और तब वेद का प्रामाण्य दोनों वादियों के स्वीकृत न होने के कारण उक्त विचार से सम्बन्ध ही नहीं रखता, इस कारण उक्त विचार से वेदका प्रामाण्य ही नहीं सिद्ध होता । इसलिये वेदप्रामाण्य के प्रकरण में उपयोग न होने के कारण केवल प्रमाणज्ञानों के प्रामाण्य के स्वतः परतः होने की परीक्षा, काकदन्तपरीक्षा सी निष्फल हो कर अकार्य हो जाती । और जब उक्त सब ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः सिद्ध किया जाता है तब वेद का भी विषयसत्यतारूपी प्रामाण्य, स्वतः निश्चित हो कर कारणदोष के ज्ञान और बाधकज्ञान के न होने से निर्विघ्न सिद्ध होता है । इसलिये उक्त परीक्षा सफल होती है ।

प्रश्न—यदि पदार्थों की सत्यतारूपी ही प्रामाण्य है तब स्मरणज्ञान को क्यों नहीं प्रमाण शब्द से कहते हैं ? ।

उत्तर—तीन विषय मिलित हो कर प्रमाणशब्द से कहे जाते हैं । एक यह कि स्मरणज्ञान का विषय जैसे पूर्व ही से ज्ञात रहता है वैसे, विषयरूपी पदार्थ का प्रथम से ज्ञात न होना और दूसरा यह कि विषयरूपी पदार्थ की सत्यता, तथा तीसरा यह कि घटादिपदार्थ के ज्ञानों में "यह घटादि सत्यही है" इस निश्चय की कारणता, इसमें से प्रथम अंश तो अभावरूपी है, इससे उसका ज्ञान, " योग्यानुपलब्धि " (यदि यह विषय पूर्व ही से ज्ञात होता तो इसकी ज्ञातता भी मुझे ज्ञात होती; परन्तु इसकी ज्ञातता मुझे ज्ञात नहीं है इसी से यह विषय पूर्व ही से मुझे

प्रतिपादयति । नापि गुणज्ञानादिभिस्तदवगतिः । तेन न तत्र स्वतः परतोवेतिचिन्ता । यदेव तु नन्वतथाभूतमित्यनेनायथार्थत्वलक्षणमप्रामाण्यमाशङ्कितं तत्परिहारायार्थतथात्वलक्षणमेव प्रामाण्यं स्वत इति साध्यते । यस्तु निश्चयात्मकप्रामाण्योत्पादनामिति ग्रन्थः सोऽप्यविरुद्धः । तथाहि यदर्थतथात्वनिश्चायकं तदेव तद्विषयस्य निश्चयस्योत्पादकं भवति यदेव हि ज्ञेयापेक्षया ज्ञापकं तदेव ज्ञानापेक्षया जनकं भवति । निश्चयोऽपि च प्रमाणशब्द प्रवृत्तिनिमित्तत्वात् प्रामाण्यमेव तेनार्थतथात्वलक्षणं प्रामाण्यं गुणज्ञानान्निश्चीयत इति प्रतिपादयतः पूर्वपक्षिणो नासङ्गतो निश्चयात्मकप्रामाण्योत्पादनं तु वस्तुस्वरूपत्वात् संवादगुणज्ञानकार्यत्वेन स्वध्यवसानापितिग्रन्थः । यदि पुनरिदमेव साक्षादुच्यते निश्चयात्मकं प्रामाण्यं स्वतो जायत इति, तथासत्यप्रमाण्यमपि परतो जायते इति वक्तव्यम् । अन्यथाऽस्य प्रतिपक्षत्वमेव न स्यात् । प्रामाण्यं स्वतोजायतेऽप्रामाण्यं परतोऽवगम्यत इति । तस्मात् स्वतः परतश्च प्रामाण्यमप्रामाण्यं चावगम्यते इत्येव प्रकरणार्थः । एवं हि न्यायोग्रन्थश्च समञ्जसो भवति । तदयमत्र पूर्वोत्तरपक्षसंक्षेपः—

॥ भाषा ॥

ज्ञात नहीं है) ही से होता है नकि ज्ञान के स्वरूप से । क्योंकि "यह घट है" इत्यादि ज्ञान, अपने स्वरूप से यह नहीं बतलाते कि घट पूर्व ही ज्ञात नहीं है, और कारणगुण के ज्ञान आदि से भी इस अंश का ज्ञान नहीं होता । इस रीति से यह अंश ज्ञान के स्वरूप से निश्चित नहीं होता इसी से इस अंश के स्वतः वा परतः होने की परीक्षा नहीं हो सकती और न उक्त प्रकरण में कीगई । द्वितीय अंश का स्वतः होना उक्त प्रकरण में इसलिये सिद्ध किया जाता है कि जिस में "नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयात् चोदना" (वैदिकविधिवाक्य, लौकिकवाक्यो के तुल्य झूठ अर्थों को भी क्यों न कहे ?) इस शावरभाष्य से वेदार्थ के अयथार्थत्वरूप अप्रामाण्य की जो शङ्का की गई उसका परिहार यों हो जाय कि पदार्थों का यथार्थता रूपी प्रामाण्य, स्वतः । उसी ज्ञान से सिद्ध होता है और तृतीय अंश के विषय में "निश्चयात्मकवस्तुत्वात्" यह पूर्वोक्त वाक्य है जिसका विरोध आक्षेप में दिखलाया गया है । परन्तु वह विरोध भी नहीं पड़ता क्योंकि जो ही ज्ञान अर्थो की सत्यता को निश्चित करावेगा वही उस अर्थ के निश्चय का कारण होगा । प्रसिद्ध है कि ज्ञेयपदार्थ का जो ज्ञापक होता है वही ज्ञान का कारक होता है, विषय का निश्चय भी प्रमाणशब्द के अर्थ के अंश होने से प्रामाण्य ही है । इसलिये निश्चयरूपी प्रामाण्य की उत्पत्ति का कथन कुछ विरुद्ध नहीं हो सकता और इसी निश्चयरूपी. प्रामाण्य के तृतीय अंश को उक्त वाक्य में संवादज्ञान आदि का कार्य कहा है । और इसमें हमें भी विवाद नहीं है । तथा भट्टपाद ने विशेषरूप से यह नहीं कहा कि "निश्चयात्मक प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है" उसमे कारण यह है कि यदि ऐसा कहते तो उसके प्रतिपक्ष में यह कहना पड़ता कि अप्रामाण्य भी परतः उत्पन्न होता है और ऐसा कहने में पक्ष और प्रतिपक्ष ठीक नहीं होता, क्योंकि तब ऐसा कहना पड़ता कि प्रामाण्य स्वतः उत्पन्न होता है और अप्रामाण्य परतः ज्ञात होता है । इसलिये उक्त स्वतःप्रामाण्य प्रकरण का यही तात्पर्यार्थ ठीक है कि (प्रामाण्य, उक्त द्वितीय अंश) स्वतः और अप्रामाण्य परतः ज्ञात होता है । क्योंकि ऐसा ही स्वीकार करने में युक्तियां और उक्त प्रकरण के सब वाक्य यथार्थ संगत होते हैं ।

इन पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार यहां पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का संक्षिप्त स्वरूप यह निकलता है कि—

घटादघटाच्च घटज्ञानदर्शनात् न तन्मात्रेण घटो निश्चेतुं शक्यते, तेनार्थक्रियादर्शनादेव तद्धेतुभूतघटनिश्चयपुरःसरं पूर्वस्य घटज्ञानस्य घटादुत्पत्तिर्निश्चेतव्या ; अर्थक्रियाज्ञानं तु अव्यभिचारात् स्वतः प्रामाण्यमर्थक्रियायां निश्चाययच्छक्नोति पूर्वज्ञानस्य प्रामाण्यं निश्चाययितुम् । तथा ज्ञानान्तरसंवादोऽपि नार्थतथात्वाभावे घटत इति ततोऽप्यर्थतथात्वनिश्चयः । तथा गुणवत्कारणजन्यं विज्ञानं यथार्थमेव भवतीति कारणगुणावधारणादपि शक्यतेऽर्थस्य तथाभावो निश्चेतुम् । तस्मात् परतएव ज्ञानस्य प्रामाण्यनिश्चयो न स्वतस्तस्यार्थतथात्वलक्षणं प्रामाण्यं निश्चेतुं शक्यम्, अनैकान्तिकत्वात्; अनिश्चितेचार्थे नास्ति प्रामाण्यमित्यप्रामाण्यमेव ज्ञानस्य स्वतः । किञ्च निश्चयप्रागभावो न दोषज्ञानेन शक्यते जनयितुम् निश्चयस्तु वस्तुत्वात् शक्यते गुणज्ञानादिना जनयितुम् । तस्मात्परत एवार्थतथात्वरूपप्रामाण्यं निश्चीयत इति पूर्वपक्षः ।

सिद्धान्तस्तु न ज्ञानमव्यभिचारमुखेनैवार्थं निश्चाययति किन्तु स्वत एव । यदि हि स्वतो निश्चेतुं न शक्नुयात् तथासति निश्चयात्यन्ताभाव एव स्यादित्यान्ध्यमेवाशेषस्य जगतो भवेत् । नहि स्वतोऽनिश्चितोऽर्थः परतो निश्चेतुं शक्यते । परस्यापि तद्वदेवासा-

॥ भाषा ॥

पूर्वपक्ष-ज्ञान सत्य और मिथ्या दोनों पदार्थ देखने से समानाकार ही उत्पन्न होते हैं कि 'यह रजत है' इसकारण अर्थक्रिया (क्रय विक्रय) को देखने ही से विषय का निश्चय हो कर यह निश्चय होता है कि पूर्वज्ञान रजत ही से उत्पन्न हुआ था न कि शुक्त्यादि अन्य पदार्थ से। क्योंकि अर्थक्रिया का ज्ञान अपने विषय में सत्य ही होता है इसलिये वह पूर्वज्ञान के प्रामाण्य को निश्चित करा सकता है; तथा रजतादिपदार्थ के अन्यान्य उत्तरवर्ती ज्ञानों (संवाद) से भी रजतादि अर्थ के सत्यतारूपी प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है; क्योंकि यदि वह असत्य होता तो पुनः पुनः उसका ज्ञान वैसा ही न होता जैसा कि पूर्व में हुआ। और गुणयुक्त इन्द्रियादि कारण से उत्पन्न ज्ञान सत्य ही होता है। इससे कारणगुण के निश्चय से भी अर्थ के सत्यतारूपी प्रामाण्य का निश्चय हो सकता है इस प्रकार से जब अर्थक्रिया, संवाद, और कारणगुण के ज्ञानों से पदार्थ की सत्यतारूपी प्रामाण्य का निश्चय होता है, तब इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि प्रामाण्य परतः ग्राह्य है, न कि स्वतोग्राह्य। क्योंकि यह कहा ही जा चुका है कि ज्ञान जब झूठे और सच्चे दोनों विषय में एकाकार ही होता है तब उससे अर्थ के सत्यतारूपी प्रामाण्य के निश्चय की आशा ही क्या है? और ज्ञान का अप्रामाण्य तो स्वतः होता है, क्योंकि जब ज्ञान में अर्थ की सत्यता उस ज्ञान से निश्चित नहीं हो सकती, तब अनिश्चित पदार्थ के विषय में ज्ञान कैसे प्रमाण हो सकता है? और निश्चय का अभाव, दोष के ज्ञान से नहीं उत्पन्न हो सकता क्योंकि अभाव कोई वस्तु नहीं है किन्तु तुच्छ है और निश्चय तो एक वस्तु है इसकारण वह गुणज्ञान आदि से उत्पन्न होता है निदान अर्थ का सत्यतारूपी प्रामाण्य परतो ग्राह्य ही है।

सिद्धान्तपक्ष—यह नहीं कहा जाता है कि ज्ञान सब सत्यही होते हैं इस कारण वे पदार्थों का निश्चय कराते हैं, कि जिसके खण्डन में पूर्वपक्षी ने यह कहा है कि ज्ञान असत्य भी होता है; किन्तु यह कहा जाता है कि ज्ञान अपने स्वभाव ही से पदार्थों का निश्चय कराता है,

मध्यात्। यथाहि घटज्ञानमसत्यपि घटे दृष्टमित्यनिश्चायकं तथाऽर्थक्रियाज्ञानमप्यसत्यामेवार्थक्रियायां स्वप्नावस्थायां दृष्टमिति न तेनापि सा निश्चेतुं शक्या नतरां तया घटनिश्चय इत्यायातमान्ध्यमशेषस्य जगतः। अथार्थक्रियाशब्देन नोदकाहरणादिकमुच्यते किन्तु ज्ञानमेव सुखात्मकं, सर्वंच सुखज्ञानं स्वात्मनि स्वत एव प्रमाणमव्यभिचारादित्युच्यते ; तथासति भवतु नामार्थक्रियानिश्चयः तथापि तु न तया पूर्वज्ञानस्य शक्यं याथार्थ्यं विज्ञातुम्। अयथार्थेनापि स्वप्ने चन्दनलेपादिना सुखोत्पत्तेः। अपि च गृहीताविनाभावयाऽर्थक्रियया पूर्वज्ञानविषयस्य निश्चयः ; अनुमानं ह्येतत् कार्यात् कारणगोचरम्, नचागृहीते संबन्धिनि संबन्धग्रहणसंभवः। तेन संबन्धग्रहणसमयेऽवश्यं घटज्ञानादेव घटनिश्चयोऽङ्गीक-

॥ भाषा ॥

यदि ऐसा न हो तो किसी पदार्थ का निश्चय ही न हो सकता और इसी से सब जगत् ही अन्धा हो जाता। क्योंकि यदि ज्ञान में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह पदार्थों का निश्चय करावे तो दूसरा कौन पदार्थों का निश्चय करा सकता है: क्योंकि ज्ञान के समान उसमें भी उक्त निश्चय कराने का सामर्थ्य नहीं हो सकता। अर्थात जैसे यह कहा जाता है कि घटज्ञान कोई भ्रमरूपी भी बिना घट के होता है, इसकारण वह घट की सत्यता का निश्चय नहीं करा सकता; वैसे ऐसा कहने में भी कोई बाधक नहीं है कि अर्थक्रिया का ज्ञान भी स्वप्नावस्था में अर्थक्रिया के बिना ही होता है इस कारण उस से भी अर्थक्रिया का निश्चय नहीं हो सकता और जब वह अपने विषयरूपी अर्थक्रिया ही का निश्चय नहीं करा सकता तब उस से घट रजत आदि विषयों के निश्चय की आशा ही क्या हो सकती है ? इसरीति से यदि ज्ञान में पदार्थों के निश्चय कराने का सामर्थ्य नहीं है तो वह सामर्थ्य किसी में है ही नहीं। तथा पदार्थनिश्चय के बिना सब जगत ही में अन्धता फैल जा सकती है। और यदि यह कहा जाय कि "अर्थक्रिया" शब्द से क्रयविक्रय जलभरना आदि का ग्रहण नहीं है किन्तु सुख और दुःख के अनुभव का ग्रहण है और सुखादि का अनुभवरूपी ज्ञान तो नियम से सत्य ही होता है, क्योंकि सुखादि के बिना सुखादि का अनुभव ही नहीं हो सकता, क्योंकि तब यह कहा जा सकता है कि सुखादि के अनुभव से सुखादि की सत्यता का निश्चय हो जावे किन्तु पूर्वज्ञान की यथार्थता का निश्चय उस से नहीं हो सकता। प्रसिद्ध है कि स्वप्न में असत्य चन्दनलेपादि से सुख का अनुभव होता है तो क्या इस से यह कह सकते हैं कि चन्दनलेपादि स्वप्न के सत्य हैं ? और यह भी है कि अर्थक्रिया से जो पूर्वज्ञान के विषय की सत्यता का निश्चय स्वीकार किया जाय तो यह, कार्य से कारण का अनुमान ही है, क्योंकि अर्थक्रिया पूर्वज्ञान का कार्य ही है और ऐसी दशा में जैसे धूम में अग्नि के संबन्धज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है वैसे ही अर्थक्रिया में पूर्वज्ञान के विषय घटादिपदार्थों के संबन्ध का ज्ञान स्वीकार करना पड़ेगा जो कि घटादिपदार्थ के निश्चय बिना नहीं हो सकता। और उक्त अनुमान से पूर्व ही उक्त संबन्ध ज्ञान के समय में यह अवश्य कहना पड़ेगा कि घटादिपदार्थों का निश्चय कैसे हुआ ? कि जिसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि "घटज्ञान से"। ऐसा ही विचार गुणज्ञान और संवादज्ञान में भी करना चाहिये; क्योंकि जब घटादि के ज्ञान से घटादिका निश्चय नहीं माना जायगा तब गुणज्ञान से गुणका निश्चय कैसे कहा जा सकता है और जब गुणज्ञान अपने गुणरूपी विषय का भी निश्चय नहीं करा सकता तब यह कैसे संभव है कि वह पूर्वज्ञान की सत्यता का निश्चय करा सकेगा ? तथा एक ही विषय के

त्व्यः। एवं गुणज्ञानसंवादज्ञानयोरपि वाच्यम्। नहि गुणज्ञानात् गुणोऽपि निश्चेतुं शक्यते किं पुनः पूर्वज्ञानप्रामाण्यम्; तथा संवादेऽपि। संवादो नाम तद्विषयं ज्ञानान्तरम्। तस्य पूर्वज्ञानात् को विशेषः येन पूर्वज्ञानानिश्चितमनेन निश्चीयते। यद्यपि वस्तुत्वात् जन्यो निश्चयः तथापि ज्ञानेन जन्यते नान्येन। तस्मात्स्वत एव प्रामाण्यं परतश्चाप्रामाण्यं दोषज्ञानाद् बाधकज्ञानाद्वा निश्चेयम्। नन्ववस्तुत्वान्न दोषजन्यमप्रामाण्यं भवति अतज्जन्यं च न ततोऽवधारयितुं शक्यम्। उच्यते नतावन्निश्चयप्रागभावरूपमप्रामाण्यं दोषैर्गम्यत इति ब्रूमः किन्त्वर्थान्यथात्वरूपम्। तद्धि शक्यं दोषज्ञानेन निश्चेतुम्। दोषनिमित्तकत्वादयथार्थत्वस्य, दुष्टेषु कारणेष्वयथार्थत्वदर्शनात्। वेदेऽपि स्वतस्तावत्प्रामाण्यं दोषाभावादनपोदितं स्थितम्। कथं पुनरवगम्यते दोषनिमित्तकमयथार्थत्वं न गुणाभावनिमित्तमिति। सर्वत्र हि गुणविधुरेषु दुष्टेषु च कारणेषु अयथार्थत्वं ज्ञायते; तत्र कुतोऽयं विवेकः दोष एव निमित्तं नगुणवैधुर्यमिति तस्माद् यद्यपि परत एवाप्रामाण्योपलक्षणं तथापि गुणाभावादेवोपलक्षणसंभवाद् वेदे चाप्तप्रणीतत्वगुणायोगात् स्वरसप्राप्तप्रामाण्यस्यापि वेदस्य परत एव

॥ भाषा ॥

आगे पीछे उत्पन्न हुए समानाकार अनेक ज्ञानों में से द्वितीय आदि ज्ञानों को संवाद कहते हैं। इस में यह समझना चाहिये कि पूर्वज्ञान की अपेक्षा उत्तरज्ञानों में कोई विशेष ऐसा नहीं है कि जिस के कारण यह कह सके कि पूर्वज्ञान से जिसका निश्चय नहीं हुआ उसका निश्चय उत्तर ज्ञान से होगा, और पूर्वपक्षी ने जो यह कहा कि निश्चय एक वस्तु है न कि तुच्छ, इसलिये वह उत्पन्न होता है। इस बात को सिद्धान्ती भी स्वीकार करता है परन्तु उसके साथ ही वह यह भी कहता है कि उक्त निश्चय ज्ञान ही से उत्पन्न होता है न कि दूसरे से। इसलिये यह निर्दोष सिद्धान्त है कि प्रामाण्य स्वतो ग्राह्य ही है और अप्रामाण्य परतो ग्राह्य: अर्थात् कारणदोष के ज्ञान वा बाधकज्ञान से अप्रामाण्य का निश्चय, अप्रमाण ज्ञान के पश्चात् ही होता है।

प्रश्न—अप्रामाण्य जब प्रामाण्य के अभावरूपी होने से कोई वस्तु नहीं है किन्तु तुच्छ है और इसी से वह दोष जन्य नहीं है तब दोष के निश्चय से उसका निश्चय कैसे हो सकता है। और ऐसी दशा में अप्रामाण्य कैसे परतोग्राह्य है?।

उत्तर—यह हम नहीं कहते कि प्रामाण्य के निश्चय का अभावरूपी अप्रामाण्य, दोष से निश्चित होता है, किन्तु यह कहते हैं कि पदार्थ का विपरीत होना ही अप्रामाण्य है जो कि कारणदोष के ज्ञान से निश्चित होता है: क्योंकि कारण के दुष्ट होने ही से पदार्थों की असत्यतारूपी अप्रामाण्य देखा जाता है, इसलिये वह दोषजन्य ही है। और वेद में भी प्रामाण्य, अन्यप्रमाणों के तुल्य स्वभाव ही से स्थित है, और कारणदोष के न होने से वह एकरस ही स्थित रहता है अर्थात् वह प्रामाण्य कदापि बाधित नहीं होता।

प्रश्न—सब असत्यज्ञानों के स्थल में गुणहीन और दोषयुक्त ही कारणों के रहने से जब असत्यतारूपी अप्रामाण्य का निश्चय होता है तब यह विवेक कैसे हो सकता है कि अप्रामाण्य में दोष ही कारण है, न कि गुण का अभाव? इसलिये यही स्वीकार करने योग्य है कि अप्रामाण्य चाहे परत: ज्ञात हो, परन्तु यह कह सकते हैं कि गुणों के अभाव से अप्रामाण्य होता है। और वेद में तो आप्तपुरुष से रचित होनारूपी गुण हई नहीं है क्योंकि वेद अपौरुषेय है इसलिये वेद

गुणाभावादप्रामाण्यमापद्यतइति। तदभिधीयते दृष्टानुसारिणी हि कल्पना भवति न दृष्टवैपरीत्येन। तेन वेदस्य स्वत एव प्राप्तं प्रामाण्यं यथा न विरुध्यते तथा चैतत् कल्पयितुं शक्यते ततोविरुद्धं न कल्पयितुं युक्तम्। तेन यद्यपि प्रसिद्धेष्वयथार्थज्ञानेषु गुणाभावो दोषाश्च दृष्टाः तथापि वेदे गुणाभावेऽपि प्रामाण्यदर्शनात् तन्मा बाधीति दोषनिमित्तमेवायथार्थत्वं शुक्तिरजतादिज्ञानानांकल्प्यते। अन्यथा हि ज्ञानत्वनिबन्धनमप्ययथार्थत्वं कल्प्येत। सर्वेष्वप्रमाणेषु ज्ञानत्वदर्शनात् तत्र यथार्थेष्वपि प्रत्यक्षादिषु ज्ञानत्वदर्शनान्न तन्निमित्तमयथार्थत्वम्, एवं गुणाभावोऽपि यथार्थे वेदे दृष्टत्वान्नायथार्थत्वस्य निबन्धनम्। असिद्धं तस्य यथार्थत्वमितिचेत् प्रत्यक्षादीनां कुतः सिद्धम्। स्वत इति चेत्, तद्वेदेऽपि समानम् अन्यत्र नास्तिक्याभिनिवेशात्। तस्मान्न तन्निबन्धनमप्रामाण्यम्। अपिच शुक्तिका-

॥ भाषा ॥

का प्रामाण्य स्वाभाविक ही क्यों न हो किन्तु उक्तगुण के अभाव से वेद के प्रामाण्य को हटाकर उसका अप्रामाण्य क्यों नहीं सिद्ध हो सकता ?।

उत्तर—जितनी कल्पनाएं होती हैं वे सब दृष्ट के अनुसार ही होती हैं न कि उस से विपरीत। और उक्त प्रश्न, वेद के स्वतःप्रामाण्य को स्वीकार कर उसके हटाने का है इसकारण वेद का स्वतःप्रामाण्य दृष्ट है, इसी से उस स्वतःप्रामाण्य के अनुसार ही कोई कल्पना हो सकती है न कि उसके विरुद्ध। और इस न्याय के अनुसार, यद्यपि रजतादि के असत्यज्ञानों के स्थल में गुणाभाव और दोष दोनों देख पड़ते हैं तथापि वेद के स्थल में गुणाभाव के रहने पर भी स्वतःप्रामाण्य देखा जाता है, तो ऐसी दशा में यदि गुणाभाव को अप्रामाण्य में कारण कल्पना किया जाय तो वेद के स्वतःप्रामाण्यरूपी दृष्ट का स्पष्ट ही बाध हो जायगा। इस रीति से उक्तकल्पना में दृष्टविरोध के स्पष्ट ही होने के कारण ऐसी कल्पना नहीं हो सकती। इसलिये यही कल्पना निर्दोष है कि शुक्तिरजतादि के ज्ञानों के अप्रामाण्य में भी केवल कारणदोष ही कारण है न कि गुणाभाव भी। और यह भी है कि यदि इतने मात्र से गुणाभाव को अप्रामाण्य में कारण माना जाय कि सब असत्यज्ञानों के स्थल में गुणाभाव रहता है, तो ज्ञानत्व भी क्यों न अप्रामाण्य में कारण माना जाय, क्योंकि वह भी तो सब असत्यज्ञानों में रहता है।

प्रश्न—हां सब असत्यज्ञानों में ज्ञानत्व रहता है परन्तु सब यथार्थज्ञानों में भी ज्ञानत्व रहता है तो वह कैसे असत्यतारूपी अप्रामाण्य का कारण हो सकता है ?।

उत्तर—यदि ऐसा है तब तो गुणाभाव भी असत्यता का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह भी तो सत्यरूपी वेद में रहता ही है।

प्रश्न—वेद की सत्यता तो सिद्ध ही नहीं है तो यह उत्तर कैसे हो सकता है ?।

उत्तर—यदि वेद की सत्यता सिद्ध नहीं है तो प्रत्यक्षादि की सत्यता कैसे सिद्ध है ? और यदि कहा जाय कि प्रत्यक्षादि की सत्यतारूपी प्रामाण्य स्वतः सिद्ध है, तो शब्दरूपी वेद की सत्यतारूपी प्रमाणता भी वैसी ही स्वतः सिद्ध है और ऐसी दशा में वेद की स्वतःप्रमाणता को नास्तिकों का निर्मूल आग्रहमात्र कैसे हटा सकता है। इसलिये यह अटल सिद्धान्त है कि अप्रामाण्य में गुणाभाव कदापि नहीं कारण है।

रजतादिज्ञाने गुणाभावेऽपि शुक्लभास्वरत्वादिरूपाणां तथाभूतानामेव दर्शनाच्च गुणायत्तं यथार्थत्वं ज्ञानस्य। यदि तु स्वकारणादेव यथार्थत्वम् दोषाच्चायथार्थत्वमिति तथा सति शुक्तिकारजतादिज्ञानानि स्वकारणवशाद् दोषाच्च तथाभूतं शुक्लत्वादि अतथाभूतं च रजतत्वादिकं गोचरयन्तीत्युपपन्नं भवति, तस्मात् स्वतःसिद्धं प्रामाण्यं सर्वज्ञानानां लब्ध वेदस्यानपोदितमिति सिद्धम्" इत्येवमादिक्। विस्तरस्तुप्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिकादिषु चित्सुखाचार्यादिनिर्मितेषु ग्रन्थेषु द्रष्टव्यः।

इति वेदस्य स्वतःप्रामाण्यम्।

अथ धर्मस्य वेदैकवेद्यत्वम्।

ननु द्रव्यक्रियागुणादीनामेव धर्मपदार्थता पूर्वमुपपादिता तेषाञ्चैन्द्रियकत्वात्कथं धर्मस्य चोदनैकगम्यत्वमिति चेत्। स्यादप्येवं यदि धर्मत्वमेषामैन्द्रियकेणैव द्रव्यत्वादिना

॥ भाषा ॥

दूसरा उत्तर—यदि ज्ञानों की सत्यता में गुण कारण होता तो यह कह सकते कि शुक्तिरजतादि के ज्ञानों की असत्यतारूपी अप्रामाण्य में गुणाभाव कारण है परन्तु ज्ञानों की सत्यतारूपी प्रामाण्य में गुण नहीं कारण है क्योंकि यदि सत्यतारूपी प्रामाण्य में गुण कारण होता तो शुक्तिरजतादिज्ञान में शुक्लरूप, चमक, आदि सत्यपदार्थों का ग्रहण कैसे होता क्योंकि वहां तो कारण के गुण हुई नहीं हैं। यदि वहां भी गुण माने जायं तो उस ज्ञान की असत्यतारूपी अप्रामाण्य कैसे होगा ?। और जब इस सिद्धान्त को स्वीकार किया जाता है कि विषय की सत्यतारूपी प्रामाण्य स्वतः और अप्रामाण्य परतः निश्चित होता है तब तो शुक्तिरजतादिज्ञान, अपने कारण के अनुसार शुक्लरूपादि सत्यपदार्थों को और दोष के अनुसार रजतादिरूपी असत्यपदार्थों को ग्रहण कर सकते हैं और इस रीति से शुक्तिरजतादि का एक ही ज्ञान शुक्लरूप अंश में सत्य और रजत अंश में असत्य हो सकता है। इसलिये अब यह सिद्धान्त हो गया कि सब ज्ञानों का प्रामाण्य स्वतःसिद्ध है और वह वेदजन्यज्ञान में भी है जो कि कदापि हटाया नहीं जा सकता, क्योंकि वेद के स्थल में कारणदोष और बाधकज्ञान का जब अभाव ही है तब अप्रामाण्य को वेद से कौन हटा सकता है। यहां तक यह, ज्ञान के स्वतःप्रामाण्य का सरल वर्णन हो चुका और यदि इस से अधिक विशेष देखना हो तो चित्सुखीय और अद्वैतसिद्धि आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये।

वेद का स्वतःप्रामाण्य प्रकरण समाप्त हुआ॥

अब इस बात का निरूपण किया जाता है कि धर्म, वेद और वेदमूलक प्रमाणों ही से ज्ञात हो सकता है न कि अन्य किसी प्रमाण से—

अर्थात् 'वेदो धर्ममूलम्' इस मनुवाक्य का इतना ही अर्थ नहीं है कि वेद धर्म में प्रमाण है किन्तु यह भी अर्थ है, कि वेद ही धर्म में प्रमाण है न कि प्रत्यक्ष आदि।

प्रश्न—पूर्व ही यह दृढरूप से सिद्ध किया गया है कि "द्रव्य, क्रिया, आदि ही धर्म हैं" और द्रव्य क्रिया आदि पदार्थ, इन्द्रियों से प्रत्यक्ष ही हैं तब कैसे यहां कहा जाता है कि धर्म वेद ही से ज्ञात होता है न कि अन्यप्रमाणों से ?

उत्तर—जैसे स्त्री एक ही पदार्थ है परन्तु मनुष्यत्व जाति के कारण, मनुष्य कहलाती है और अपने असाधारण चिन्ह के कारण स्त्री कहलाती है तथा विवाह में होम से ले कर सप्तपदी-

द्यात्। नच तथा। श्रेयस्साधनत्वेनैव धर्मत्वाङ्गीकारात्, नच तदैन्द्रियकं किन्तु चोदनागम्य-मेवेति तद्विशिष्टो धर्मपदार्थश्चोदनैकप्रमाणक इति सिद्धम्।

तदुक्तं वार्तिके।

द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते। तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता ॥१३॥
श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात्प्रतीयते। ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥१४॥ इति

नन्वेवमपि कथं धर्माधर्मयोश्चोदनैकप्रमाणकत्वम्, धर्माधर्मपदप्रयोगविवेकस्य लोके प्रसिद्धत्वात्।

तथा च भगवान् व्यासः।

इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन्पदद्वये। आचाण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥१॥ इति

इदम् प्रपातडागादिकम् पुण्यम्, इदम् अगारदहनादिकम् पापम्, इत्येवमुपकारापकारविषये धर्माधर्मपदद्वये चाण्डालमपि यावत् प्रसिद्धे सति शास्त्रस्याल्पं प्रयोजनमितितदर्थः।

॥ यदाहुः ॥

अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। धर्मः परोपकरणमधर्मः परपीडनम् ॥२॥ इति

इति चेन्न, इयं हि प्रसिद्धिर्न निर्मूला, "नह्यमूला प्रसिद्धि" रिति न्यायात्, निर्मूलत्वे

॥ भाषा ॥

पर्य्यन्त संस्कार होने से अपने पति की पत्नी होती है वैसे ही द्रव्य, क्रिया आदि के दो प्रकार के आकार हैं, एक द्रव्यत्व-क्रियात्व-आदि जाति, जिसके कारण इनको द्रव्य क्रिया आदि कहते हैं। और दूसरा, स्वर्गादि का साधनत्व, (कारण होना) जोकि धर्मत्वरूप है जिसके कारण द्रव्य क्रिया आदि को धर्म कहते हैं। और इन में से प्रथम आकार इन्द्रियों से भी ज्ञात हो सकता है परन्तु द्वितीय आकार वैदिकविधिवाक्यों ही से विदित हो सकता है न कि इन्द्रियादि प्रमाणों से। अब इस पर ध्यान देना चाहिये कि उक्त आक्षेप तब ठीक होता यदि द्रव्य क्रिया आदि, द्रव्यात्वादि लौकिक आकारों से धर्म कहलाते किन्तु वे जब स्वर्गादि साधनत्वरूपी वेदैकगम्य (अलौकिक) आकार से धर्म हैं और धर्म कहे जाते हैं तब वे अवश्य ही उस आकार के सहित, वैदिकवाक्यों ही से विदित हो सकते हैं न कि इन्द्रियादि प्रमाणों से। इस बात को भी धर्मलक्षणसूत्र पर श्लोक १३ और १४ से वार्तिककार ने कहा हैं।

प्रश्न—धर्म अधर्म शब्द के व्यवहार का विवेक जब लोक ही में अत्यन्त प्रसिद्ध है तब यह कैसे कहा जाता है कि धर्म अधर्म केवल वैदिकवाक्यों ही से ज्ञात होते है। भगवान् वेदव्यास ने भी कहा है कि "इदंपुण्य०" अर्थात् उपकार के विषय में पुण्य शब्द का प्रयोग, और अपकार के विषय में पाप शब्द का प्रयोग चाण्डालादिपर्यन्त प्रसिद्ध है जैसे प्रपा, (पनसला) तडाग, आदि बनाना पुण्य है, और किसी का घर जलाना आदि, पाप है। इसी से पुण्य और पाप के विषय में वेद और शास्त्र से थोड़ा प्रयोजन है और अन्यवाक्य भी ऐसा ही है कि अठारह पुराणों में व्यास के दो ही वचन हैं, एक यह कि परोपकार ही धर्म है और दूसरा यह कि परका अपकार ही अधर्म है ?

उत्तर—(१) लोक में जितनी प्रसिद्धियां हैं वे निर्मूल नहीं होतीं कहा भी है "नह्यमूला प्रसिद्धिः" और प्रसिद्धियों के निर्मूल मानने में यह भी दोष है कि वे अन्धपरम्परा और निर्मूल-

निष्प्रमाणकैतिह्यवदन्धपरम्परात्वापत्तेश्च । मूलं चास्या भ्रान्तिर्वा प्रत्यक्षादिर्वा चोदना वा स्यात्, नाद्यः अप्रामाण्यापत्तेः । न द्वितीयः तदसंभवस्य पूर्वमुपपादितत्वात् । अतः परिशेषात्तस्याश्चोदनैव मूलम् । किञ्च अव्यवस्थिता हीयं प्रसिद्धिरतो न धर्माधर्मविवेकमूलतामनुभवितुमर्हति संसारमोचकादेर्हि हिंसा, धर्मत्वेन प्रसिद्धा परेषां तु पापत्वेन । केचिच्च पुण्यपापव्यवस्थामेव न रोचयन्ति । आर्याणां म्लेच्छानाञ्च प्रसिद्धयः परस्परविरुद्धा एव प्राय उपलभ्यन्ते । वैदिकीनान्तु चोदनानामुक्ताभिरुपपत्तिभिरपक्षपाततया निर्णीतानां नित्यनिर्दोषाणां धर्माधर्ममूलत्वं सकलसहृदयहृदयङ्गमत्वादकामेनाप्यभ्युपेयमिति महान्विशेषः । किञ्च यद्यपि प्रसिद्धिर्धर्माधर्मयोर्विपुलतरं द्रढिमानमासादयन्ती स्थवीयस्सु विषयेषु प्रायो मूलानुसन्धानमन्तरेणापि धर्माधर्मौ निर्णयति तथाप्युपकारापकाराविषयेष्वग्निहोत्रसुरापानादिषु धर्माधर्मत्वनिर्णयावसरे प्रसिद्धिर्मूकीभवति एवं प्रसिद्धीनां परस्परविरोधेऽपि बोध्यम्, तथाचैवंविधा ये कतिपये विषया येषु प्रसिद्धिरपि धर्माधर्मौ निर्णयति । तत्रापि च प्रसिद्धिमात्रेणापरितुष्यता केनचिद्विवेचकेन मूलतया शास्त्रमन्विष्यत एव । तत्रैव चान्वेषकाणामल्पत्वाच्छास्त्रप्रयोजनस्याल्पत्वम् इदमेव चाल्पत्वमुक्तं महर्षिणा ।

॥ भाषा ॥

कहावतों की नाईं अप्रमाण हो जायंगी । इस से धर्म अधर्म की उक्तप्रसिद्धि का मूल अवश्य कहना पड़ेगा । ऐसी अवस्था में यदि भ्रान्ति (भूल) इस प्रसिद्धि का मूल मानी जाय तो यह प्रसिद्धि ही अप्रामाणिक हो जायगी । और अनन्तरोक्तरीति से जब धर्म और अधर्म का स्वरूप इन्द्रियादि से विदित नहीं होता तब इन्द्रियादि प्रमाण भी इस प्रसिद्धि के मूल नहीं हो सकते । इससे अनन्यगति हो कर यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिक अनादि विधिनिषेध ही उक्त इन पुरानी प्रसिद्धियों के मूल हैं ।

(२) उक्त प्रसिद्धियां धर्म और अधर्म में प्रमाण भी नहीं हो सकतीं क्योंकि वे स्वयं अव्यवस्थित हैं जैसे संसारमोचक (बौद्ध विशेष) के संप्रदाय में यह प्रसिद्ध है कि हिंसा धर्म है क्योंकि मृत्यु के अनन्तर जीव, दुःखों से छूट जाता है । और अन्य सब लोगों में यह प्रसिद्ध है कि हिंसा पाप है ।

(३) कोई २ पुरुष ऐसे होते हैं कि जो पुण्य पाप की व्यवस्था ही को नहीं पसन्द करते अर्थात यह कहते हैं कि पुण्य पाप कोई वस्तु ही नहीं है उनकी चर्चा शास्त्र में प्ररोचना और विभीषिका मात्र है ।

(४) आर्यों और अन्यजातियों की बहुत से विषयों में धर्म अधर्म की प्रसिद्धियां अन्योन्य में बिरुद्ध देखी जाती हैं ।

(५) यद्यपि धर्म अधर्म की प्रसिद्धि पुरानी चली आती है और उपकार, अपकार के अनुसार विना किसी अन्य मूल के भी मोटे २ बिषयों में प्रायः उससे धर्म अधर्म का निर्णय भी हो सकता है तथापि उपकार और अपकार से अन्यत्र अर्थात अग्निहोत्र सुरापान आदि बिषयों में धर्म अधर्म के निर्णयसमय में यह प्रसिद्धि अन्धी और गूंगी हो जाती है ।

(६) उपकार अपकार के विषय में भी यदि कोई परीक्षक उक्त प्रसिद्धिमात्र ही से संतोष न कर इस प्रसिद्धि के मूल का अन्वेषण करता है तो उपकार और अपकार के विषय में भी

ततश्चोपकारापकारविषयेऽपि शास्त्रस्य प्रयोजनमस्त्येव किन्तु न तावद्यावदितरत्रेति महर्षेस्तात्पर्यम्

॥ तथा चोक्तमौत्पत्तिकसूत्रे वार्तिके ॥

प्रत्यक्षादौ निषिद्धेऽपि ननु लोकप्रसिद्धितः। धर्माधर्मौ प्रमास्येते ब्राह्मणादिविवेकवत् ॥१॥
धार्मिकाधार्मिकत्वाभ्यां पीडानुग्रहकारिणौ। प्रसिद्धौ हि तथा चाह पाराशर्योऽत्रवस्तुनि॥२॥
इदं पुण्यमिदं पापमित्येतस्मिन्पदद्वये। आचाण्डालं मनुष्याणामल्पं शास्त्रप्रयोजनम् ॥३॥
निर्मूलासंभावादत्र प्रमाणैः सैव मृग्यते। कुतः पुनः प्रवृत्तेति प्रत्यक्षादि तु वारितम् ॥४॥
नचैतानि परित्यज्य पृथग् लोके प्रमाणता। संसारमोचकादेश्च हिंसा पुण्यत्वसंमता ॥५॥
न पश्चात्पुण्यमिच्छन्ति केचिदेवं विगानतः। म्लेच्छार्याणां प्रसिद्धत्वं न धर्मस्योपपद्यते ॥६॥
नचार्याणां विशेषोऽस्ति यावच्छास्त्रमनिश्चितम्। तन्मूलाऽर्थप्रसिद्धिस्तु तत्प्रामाण्ये स्थिते भवेत्॥७॥
। इति ।

ननु हिंसादिषु शक्यमनुमानेनाप्यधर्मत्वमवगन्तुम्, हिंस्यमानस्यहि दुःखदर्शनेन हिंसितुर्दुःखं भविष्यतीत्यनुमीयते। नच यः परस्मै दुःखं ददाति स दुःखी भविष्यतीति व्याप्तौ मानाभावः। किञ्च हिंसितुः सांप्रतं सुखदर्शनादायत्यामपि प्रत्युत सुखमेवानुमीयते इति वाच्यम्। हिंसा, कालान्तरे दुःखजनकतया अधर्मः, सम्प्रति दुःखजनकक्रिया-

॥ भाषा ॥

वेद और शास्त्र ही से धर्म अधर्म का निर्णय होता है, किन्तु ऐसे अन्वेषण करनेवाले परीक्षक अल्प ही होते हैं इस कारण ऐसे बिषयों में वेद और शास्त्र का काम कम पड़ता है तथापि यह नहीं है कि काम ही न पड़े। इसी से श्री वेदव्यासजी ने भी यह नहीं कहा कि "ऐसे बिषयों में वेद और शास्त्र से कुछ प्रयोजन नहीं है" किन्तु यही कहा कि 'थोड़ा काम है' उसका यही तात्पर्य है कि उपकारादि के विषयों में भी वेद और शास्त्र का प्रयोजन अवश्य ही है किन्तु न उतना जितना कि उपकारादि के अविषय अग्निहोत्र, सुरापान आदि के सम्बन्धी धर्माधर्म के निर्णय में। तस्मात् यही सिद्धान्त स्वीकार के योग्य है कि वैदिक, विधिवाक्य और निषेधवाक्य, जो कि पूर्वोक्त दृढतरयुक्तियों से नित्यनिर्दोष और सब के लिये समदृष्टि सिद्ध किये जा चुके हैं वे ही धर्म और अधर्म के मूलप्रमाण हैं। इन बातों का भी श्लोक १ से ७ पर्यन्त पूर्वोक्त "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इस सूत्र पर वार्तिककार ने सूचित किया है।

प्रश्न—हिंसा आदि का, अधर्म होना अनुमान से भी अवश्य सिद्ध हो सकता है अर्थात् बध किये जाते हुए प्राणी के दुःख देखने से यह अनुमान हो सकता है कि उत्तरकाल में बधकर्ता को इसके बदले में अवश्य दुःख होगा।

(क) इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि जो दूसरे को दुःख देता है वह परिणाम में आप भी दुःख पाता है तब उक्त अनुमान कैसे हो सकता है ?।

(ख) बधकाल में बधकर्ता के सुख देखने से उलटे यही अनुमान क्यों नहीं होता कि परिणाम में भी उसको सुख ही होगा ?।

ये दोनों प्रश्न तो उचित नहीं हैं क्योंकि प्रश्नकर्ता ने उक्त अनुमान का अभिप्राय नहीं समझा जो यह है कि जो क्रिया वर्तमानसमय पर अपने विषयरूपी पदार्थ में जैसा फल उत्पन्न करती है वह क्रिया, कालान्तर पा कर अपने कर्ता में भी वैसा ही फल उत्पन्न करती है, जैसे दान-

विशेषत्वात् । या हि क्रिया स्वविषये सम्प्रति यादृशं फलं प्रसूते सा कालान्तरे स्वकर्तरि तत्सजातीयमेव फलं प्रसूते, यथा दानं सम्प्रदाने संप्रति सुखं कालान्तरे च दातर्यपि सुखम्, एवं हिंसापि संप्रति हिंस्यमाने दुःखं कालान्तरे हिंसितर्यपि दुःखम् । एवञ्च धर्माधर्मयोरनुमानगम्यत्वात्कथं चोदनैकप्रमाणकत्वमिति चेन्न, गुरुदारगमनादेः सम्प्रति स्वविषये सुखजनकत्वेऽपि कालान्तरे कर्तरि दुःखजनकत्वेन व्यभिचात् । एवं सुरापानादिषु व्यभिचारस्य दुर्वारत्वात् । किञ्च एवं सति दानादिना कर्तुः कालान्तरे दुःखानात्मकं फलं स्यात्, सांप्रतिकस्य संप्रदानगतस्य फलस्य सुखात्मकताया इव दुःखानात्मकताया अपि दर्शनात् । एवञ्च दुःखविपरीतसुखसाधनत्वनियमासिद्ध्या विरोधः । किञ्च कालान्तरे सुखस्य दुःखस्य वा विध्येकगम्यत्वात्कथं विधिमनुपजीव्यानुमानोत्थानमपि, किञ्च संप्रदानस्य स्वल्पमेव सुखं कर्तुस्तु ' समाद्विगुणसहस्रानन्तानि फलानि ' इति स्मरणान्महदिति साध्यविकलो दृष्टान्तः । किञ्च सपक्षे यस्य हेतौ व्याप्तिर्गृहीता तदेव पक्षे

॥ भाषा ॥

क्रिया वर्तमानसमय पर अपने विषय अर्थात् लेने वाले में सुख उत्पन्न करती है और कालान्तर पा कर दाता में भी सुख ही उत्पन्न करती है वैसे ही हिंसा भी अपने समय पर बध्यप्राणी में दुःख उत्पन्न करती है तो कालान्तर पा कर वधकर्ता में भी दुःख उत्पन्न करेगी । इस अनुमान से धर्म और अधर्म का निश्चय पूर्णरूप से होता है क्योंकि कालान्तर में, सुखजनकक्रिया ही को धर्म और दुःखजनकक्रिया को अधर्म कहते हैं । इस रीति से जब अनुमान भी धर्म अधर्म में प्रमाण होता है तब यह क्यों बार २ कहा जाता है कि वेद ही धर्म और अधर्म में प्रमाण है ? ।

उत्तर (१) मातृगमन आदि क्रियाएँ मनुष्यमात्र की दृष्टि मे अधर्म हैं परन्तु वर्तमानसमय में माता और गुरुपत्नी आदि को उससे सुख ही होता है और यदि कोई विरल अतिकुत्सित कामान्ध पुरुष उनके करने वाले हों तो उनको कालान्तर में उन क्रियाओं से दुःख ही होगा । इससे उक्त अनुमान व्यभिचारी अर्थात् दुष्ट है । ऐसे ही अधर्मों को धर्मशास्त्र में अतिपातक और महापातक कहते हैं ।

(२)—सुरापान आदि क्रियाएँ सुरा आदि जड विषयों में दुःख नहीं पैदा करतीं तथापि अन्तिम परिणाम के समय, अपने कर्ताओं में दुःख उत्पन्न करती हैं, इससे भी उक्त अनुमान दुष्ट ही है ।

(३)—दानक्रिया से कालान्तर में, उक्त अनुमान के अनुसार ऐसा भी फल हो जायगा जो कि न सुखरूपी न दुःखरूपी किन्तु उदासीन होगा क्योंकि लेने वाले में दान से जो फल होता है उसके दो स्वभाव हैं, एक सुखरूपी होना दूसरा दुःखरूपी न होना । तब जैसे प्रथमस्वभाव के अनुसार परिणाम में दाता को सुखरूपी फल होता है वैसे ही द्वितीयस्वभाव के अनुसार वह फल जो कि दुःखरूपी नहीं है अर्थात् उदासीन है वह क्यों न होगा ? और जब वह भी होगा तब यह नियम कहां रह गया कि वर्तमानसमय में सुखजनकक्रिया से परिणाम में सुख ही होता है ।

(४)—कालान्तर में उन क्रियाओं से सुख ही होता है यह निश्चय, केवल वैदिकवाक्यों ही से होता है । इसी से बिना वैदिकवाक्यों के उक्त अनुमान का उत्थान (उठना) ही दुर्लभ है ।

(५)—दानक्रिया से लेने वाले को जितना सुख होता है, परिणाम में दाता को उसकी अपेक्षा द्विगुण वा सहस्रगुण वा अनन्त सुख होना धर्मशास्त्रों में कहा हुआ है यह विशेष, अनुमान से सिद्ध नहीं हो सकता ।

साधयितव्यम्, प्रकृते तु सपक्षे संप्रदानतुल्यफलकत्वम्, पक्षे च कर्मकारकतुल्यफलकत्वमिति वैषम्यम् विपर्येति–शब्दमात्रानुगमस्त्वकिञ्चित्करः नच संप्रदानतुल्यफलकत्वमेव सपक्षवत् पक्षे साध्यमिति वाच्यम् तथासति संप्रदानवत्प्रकृतेऽपि प्रीतिसाधने विरोधप्रसङ्गात्, दृष्टान्ते च दानकर्मणो हिरण्यादेः स्वरूपतः फलाजनकत्वाच्च तदनुसारेण पक्षे फलकल्पनसम्भवः। किञ्च अग्नीषोमीयहिंसा, सुखकरी 'चोदितत्वात्' जपादिवत्, इति प्रकृतो हेतुर्विरुद्धाव्यभिचारी। अपिचैवं सुरापानादिः कालान्तरे न दुःखजनकः, संप्रति दुःखजनकत्वाभावात्, जपादिश्च न कालान्तरे सुखजनकः, संप्रति सुखजनकत्वाभावादित्यप्यनुमीयेत। एवञ्च जपसुरापानादौ धर्माधर्मभावयोर्निर्णयाय विधिनिषेधयोर वश्याश्रयणीयतया सर्वत्र ताभ्यामेव तौ निर्णयनीयाविति काचित्कोऽसावनुमानाभासाडम्बरोऽनादरणीय एव। अपि च कर्मणां विषयफलानुरूपफलदायितां मन्यमानेन परस्यानुग्रहपीडानिबन्धनं धर्माधर्मत्वमाश्रीयते। ततश्च जपे सुरापाने च परोपकारापकारयोरभावाद्धर्मत्वमधर्मत्वं वा किमपि न स्यात्। अपि च हृदयेन क्रोशतामपि गुरुदारादिगामिनामात्मनोऽपकारस्य स्वल्पत्वादुपकारस्य च भूयस्त्वाद्गुरुदाराभिगमो भूयान् धर्मः स्यात्। अनुमानप्रधानस्य च हृदयक्रोशनमपि न घटतेऽदृष्टपीडाविरहात्। यदि तु हृदयक्रोशात्मपीडावशदेवाधर्मत्वामधर्मत्वाच्च

॥ भाषा ॥

(६) वेदवाक्यों से यह निश्चित होता है कि पशुहिंसावाले यज्ञ से कालान्तर में यज्ञकर्ता को सुख होता है। इस बात को उक्त अनुमान नहीं सिद्ध कर सकता।

(७) सुरापान आदि, परिणाम में दुःख नहीं उत्पन्न करते क्योंकि वर्तमानसमय में उन से दुःख नहीं होता है 'अथवा कालान्तर में सुरापान आदि से सुख ही होता है क्योंकि वर्तमान समय में उनसे सुख होता है' यद्वा मन्त्रजप और अग्निहोत्र आदि से कालान्तर में सुख नहीं होता वा दुःख ही होता है, क्योंकि वर्तमान समय में उनसे सुख नहीं होता किन्तु परिश्रमरूपी दुःख ही होता है इत्यादि बहुत से अनुमान पूर्वोक्त अनुमान के विरुद्ध हो सकते हैं, और इन अनुमानों के झगड़े से मन्त्रजप सुरापान आदि विषयों में जब अनन्यगति हो कर वैदिक, विधिनिषेधवाक्यों ही का शरण ले कर धर्म अधर्म का निर्णय करना है तब उन्हीं से सब विषयों में धर्म अधर्म का निर्णय करना उचित है और ऐसी दशा में थोड़े से विषयों के लिये उक्त दुष्ट अनुमान का शरण लेना कब उचित हो सकता है ?।

(८)—उक्त अनुमानवादी का यह अभिप्राय प्रकट है कि अन्य के पीडाकारी कर्म, अधर्म और सुखकारी कर्म, धर्म हैं, परन्तु यदि ऐसा है तो सुरापान, धर्म वा अधर्म कुछ भी नहीं होगा क्योंकि उससे अन्य का उपकार आदि कुछ भी नहीं होता।

(९)—हृदय से घृणा करके भी कामान्ध हो कर गुरुदारादिगमन करने वालों को घृणारूपी अपने अपकार की अपेक्षा अपने और गुरुदारों के प्रति, रतिसुखरूपी अधिक उपकार करने से गुरुदारादिगमन, बड़ा ही भारी धर्म हो जायगा क्योंकि अपना उपकार भी तो उपकार ही है। जैसे आत्मघात, अपना अपकाररूपी होने से अधर्म है। और जिस को अनुमान ही से धर्म अधर्म का निश्चय करना है उसको गुरुदारगमन में घृणा ही क्यों होगी ? क्योंकि उससे किसी को पीडा तो होती हुई नहीं अनुमान में आती। यदि यह कहा जाय कि उक्त घृणारूपी पीडा होने से गुरुदारगमन

हृदयक्रोशोपपत्तिरित्युच्यते तदाऽन्योन्याश्रयं को वारयिष्यतीत्यप्युच्यताम्। अपिचैवं सति शास्त्रज्ञानशून्यानां शास्त्रविद्वेषिणां म्लेच्छादीनां च हृदयक्रोशसंभावनाया अप्यभावात्तत्र गुरुदाराभिगमस्य धर्मतायामापाद्यमानायां न कश्चित्कुचोद्यावकाशोऽपि। तस्मात् अनुग्रहं पीडां तदभावञ्चानभ्याशमित्यत्वेनावधृत्य धर्माधर्मावववदिधारयिषुभिर्विधिनिषेधावेव शरणीकरणीयौ तावेव च चोदनेति तस्याःसिद्धं धर्माधर्मयोरसाधारणं प्रामाण्यम्।

॥ तदुक्तं चोदनासूत्रे वार्तिके ॥

हिंस्यमानस्य दुःखित्वं दृश्यते यत्र तावता ॥ २३४ ॥
कर्तुर्दुःखानुमानं स्या त्तदानीं तद्विपर्ययः। विषयोऽस्याःफलंयादृक् प्रेत्य कर्तुस्तथाविधम् ॥२३५॥
हिंसा क्रियाविशेषत्वा त्सूते शास्त्रोक्तदानवत्। य एवमाह तस्यापि गुरुस्त्रीगमनादिभिः॥२३६॥
सुरापानादिभिश्चापि विपक्षैर्व्यभिचारिता। विरुद्धता च यादृग्घि दानैस्तादृक् फलं भवेत्॥२३७॥
विधिगम्यफलावाप्ति रदुःखात्मकता तथा। न च या संप्रदानस्य प्रीतिस्तादृक् फलं श्रुतम्॥२३८॥
दातुस्तेन हि दृष्टान्तः साध्यहीनः प्रतीयते। संप्रदानं च दाने ते विषयः कर्म हिंसने ॥२३९॥
वैषम्यं संप्रदानेन तुल्यत्वे तद्विरुद्धता। प्रीयते संप्रदानं हि देवतेति मतं तव ॥ २४० ॥
दृष्टान्ते कर्म दानं च तस्य कीदृक् फलं भवेत्। जपहोमादिदृष्टान्ता त्परपीडादिवर्जनात्॥२४१॥
चोदितत्वस्य हेतुत्वा द्विरुद्धाव्यभिचारिता। विहितप्रतिषिद्धत्वे मुक्त्काऽन्यश्च च कारणम्॥२४२॥
धर्माधर्मावबोधस्य तेनायुक्ताऽनुमानगीः। अनुग्रहाच्च धर्मत्वं पीडातश्चाप्यधर्मताम् ॥ २४३ ॥
वदतो जपसीध्वादि पानादौ नोभयं भवेत्। क्रोशनां हृदयेनापि गुरुदाराभिगामिनाम्॥२४४॥
भूयान् धर्मः प्रसज्येत भूयसी ह्युपकारिता। अनुमानप्रधानस्य प्रतिषेधानपेक्षिणः ॥ २४५ ॥
हृदयक्रोशनं कस्माद् दृष्टां पीडामपश्यतः। पीडातश्चाप्यधर्मत्वं तथा पाडामधर्मतः ॥ २४६ ॥
अन्योन्याश्रयमाप्नोति बिना शास्त्रेण साधयन्। एवमादावशास्त्रज्ञो म्लेच्छोनोद्विजतेकचित्॥२४७॥
तस्य नाधर्मयोगःस्या त्पूर्वोक्ता यदि कल्पना। तस्मादनुग्रहं पीडां तदभावमपास्य च ॥२४८॥
धर्माधर्मार्थिभिर्नित्यं मृग्यौ विधिनिषेधकौ ॥ २४९ ॥

इति धर्मस्य वेदैकवेद्यत्वम्।

॥ भाषा ॥

अधर्म है और अधर्म होने से घृणा होती है तो यह भी कहना पड़ैगा कि इस अन्योन्याश्रय दोष के बारण का कौन उपाय है ?

(१०) जो मनुष्य वेदशास्त्रज्ञ नहीं हैं बा वेदशास्त्र के बिरोधी हैं अर्थात् जिनके यहां बेद और शास्त्र की छाया ले कर किसी भाषा में भी उपदेशग्रन्थ कोई नहीं है, ऐसे जंगली मनुष्यों में गुरुदारगमन से घृणा की संभावना भी नहीं है, तो उक्त अनुमान के अनुसार उन पुरुषों का गुरुदारगमन भी सब की दृष्टि में धर्म हो जायगा।

तस्मात् धर्म अधर्म के निर्णयार्थ ऐसे २ अनुमानों बा उपकार अपकार को दूर ही से त्याग कर वैदिक, विधिनिषधों ही का शरण गहना चाहिये इससे यह सिद्ध हो गया कि धर्म और अधर्म वेद ही से निश्चित होते हैं न कि अन्यप्रमाणों से इन बातों को भी धर्मलक्षणसूत्र ही पर श्लोक २३४ से २४९, तक बार्त्तिककार ने साफ २ कहा है।

यहां तक धर्म का वेदैकवेद्यत्व समाप्त हुआ।

अथ वेदस्यापौरुषेयत्वम् ।

अथसर्वमिदं वेदस्यापौरुषेयत्वे स्यात्, अपौरुषेयत्वं च वेदस्य प्रतिज्ञातमौत्पत्तिक-सूत्रे तच्च तदैव घटते यदि वर्णात्मकस्य शब्दस्य नित्यत्वं स्यात्, तच्च न संभवति तदनि-त्यत्ववादिभिस्तार्किकैर्निरस्तत्वात् ।

किञ्च शब्दसामान्याद्वेदस्य जन्यतया पौरुषेयत्वेन भ्रमप्रमादादिपुरुषदूषणाक्रान्त-स्य सुतरामप्रामाण्यापत्तिरतस्तार्किकपक्षं पूर्वपक्षीकृत्याष्टादशसूत्रात्मकेनाधिकरणेन शब्दानां

॥ भाषा ॥

अब वेद के अपौरुषेयत्व (रचित न होना) का वर्णन किया जाता है ।

प्रश्न—वेद की उक्त स्वतः प्रमाणता तभी सिद्ध हो सकती है जब वेद में अपौरुषेयत्व सिद्ध हो जाय। और अपौरुषेयत्व की प्रतिज्ञामात्र, पूर्वोक्त औत्पत्तिक सूत्र से मीमांसाचार्य जैमिनिमहर्षि जीने किया है, सोभी तभी घटित हो सकता है यदि अक्षररूपी शब्द नित्य हो और उसके नित्य होने की आशा ही नहीं है—क्योंकि अक्षरों के अनित्यत्ववादी नैयायिकों ने वर्णरूपी शब्द के नित्यत्व का खंडन किया है, तो यदि शब्द नित्य नहीं है अर्थात् जन्य है तो शब्दरूपी वेद भी पौरुषेय हो गया और पुरुषों के भ्रम प्रमाद आदि दोष, सामान्य से होते ही हैं । इससे वेद की अप्रमाणता ही सिद्ध होती है । तस्मात् स्वतःप्रमाण होना वेद का कैसे कहा जाता है ?

उत्तर—इस प्रश्न का समाधान, पूर्वमीमांसादर्शन अध्याय १ पाद १ में सूत्र ६ से २३ पर्यन्त अर्थात १८ सूत्ररूपी अधिकरण से जैमिनिमहर्षि ने स्वयं कहा है । "अधिकरण" उस प्रकरण का नाम है कि जिस के, १ विषय, २ संदेह, ३ पूर्वपक्ष, ४ सिद्धान्त, ५ प्रयोजन, रूपी पांच अङ्ग होते हैं । जैसे इसी अधिकरण में वर्णरूपी शब्द, विचार का विषय है १ । उस में नित्यत्व और अनित्यत्व का संदेह है कि 'वर्णरूपी शब्द अनित्य है वा नित्य' २ । शब्द का अनित्यत्व, नैयायिकों का पूर्वपक्ष है जिसको कि नैयायिक, प्रमाणों से सिद्ध करते हैं, ३ । शब्द का नित्यत्व, सिद्धान्त है जिस को कि नैयायिकोक्त प्रमाणों के खण्डनपूर्वक, जैमिनिमहर्षिने प्रमाणों से सिद्ध किया है, ४ । इस विचार का प्रयोजन यही है कि वर्णरूपी वेद नित्य है पौरुषेय नहीं है ५ । पूर्वमीमांसादर्शन में ऐसे ही ९१३ अधिकरण हैं जिन से ९१३ विषय सिद्ध होते हैं ये सब विषय वैदिक ही हैं और प्रायः ऐसे अधिकरण हैं कि एक २ अधिकरण में अनेक अधिकरण हैं उन छोटे २ अधिकरणों को वर्णक कहते हैं अर्थात अनेकवर्णकरूपी अधिकरण प्रायः इस दर्शन में हैं और प्रत्येक वर्णक का विषय भी पृथक् २ रहता है परन्तु एक अधिकरण के वर्णकों में परस्पर सम्बन्ध होने से अनेकवर्णक-रूपी एक अधिकरण कहा जाता है । अब ध्यान देना चाहिये कि इस दर्शन में कितने वैदिक संदिग्धविषयों का निर्णय है । और इन्ही निर्णयों के अनुसार सहस्रों अन्यान्य विषयों का निर्णय अन्या-न्यदर्शनानुसारी ग्रन्थों में भी हुआ है । तथा जैसे वेद अनादि है वैसे ही यह दर्शन भी अनादि है, जैमिनिमहर्षिने जो इस दर्शन का सूत्रग्रन्थ बनाया है वह, पूर्व सूत्रग्रन्थ के अनुसार ही बनाया है ऐसे ही वह, पूर्व सूत्रग्रन्थ भी अपने पूर्व सूत्रग्रन्थ के अनुसार ही बना होगा । और यह, सूत्र-ग्रन्थों की परंपरा, वेद के नाई अनादि है, यह अन्य वार्ता है कि बहुत अधिक समय व्यतीत होने और जैमिनीयसूत्र के प्रचार अधिक होने से अब पूर्वसूत्रों का पता नहीं चलता, तब भी उन सूत्रों के निर्माता आचार्यों की चर्चा इस जैमिनिसूत्र में है कि जिन सूत्रों के अनुसार यह बना

नित्यत्वं स्वयमेव सिद्धान्तितं भगवता जैमिनिना पूर्वमीमांसादर्शने । तच्चसरामेश्वरभट्टकृत-वृत्तिकं यथा—अध्याये १ पादे १

कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥ ६ ॥

(१) पूर्वाधिकरणे शब्दार्थयोः सम्बन्धो नित्य इत्युक्तम् तच्च शब्दनित्यत्वाधीन-मिति तत्सिषाधयिषुः प्रथमं शब्दानित्यत्ववादिमतं पूर्वपक्षमुपपादयति । कर्मेति । कर्म अनित्यं शब्दं वदन्ति तत्र शब्दविषयकप्रयत्नदर्शनात् यद्विषयः प्रयत्नः सोऽनित्य इति व्याप्तेरित्यर्थः॥६॥

अस्थानात् ॥ ७ ॥

(२) किंच अस्थानात् अस्थिरत्वात् क्षणादूर्ध्वमनुपलब्धेरिति भावः ॥ ७ ॥

करोतिशब्दात् ॥ ८ ॥

(३) किञ्च करोतिशब्दात् यथा घटं करोति तथा शब्दं करोतीति अनित्यत्वव्य-वहारात् ॥ ८ ॥

॥ भाषा ॥

है । तथा इस विशेष को अत्यन्त सावधानी से देखना, सुनना, और विचारना, चाहिये कि आज कल सहस्रों पण्डितों की अनुमति ले कर बहुत से पण्डित मिल कर बड़े विचार और श्रम से जिन ग्रन्थों (कवानीन या ऐक्टों) को वर्षों में बना कर प्रचलित करते हैं और उनके अनुसार बहुतों को लाभ और हानि प्राप्त हो जाती है पुनः थोड़े ही वर्षों के अनन्तर वे ही लोग उन ग्रन्थों में उन दोषों (जिनको वे पहिले नहीं देख सकते थे) को अब देख कर उन ग्रन्थों वा उन के बहुत से अंशों को अदल बदल कर अन्य ग्रन्थों वा अंशों को बनाते और प्रचलित करते हैं । यों ही अदल बदल लगा रहता है तब भी कोई ग्रन्थ ऐसा निश्चित नहीं हो जाता, जिसमें कि कोई अदल बदल उत्तरकालमें नहीं होगा, परन्तु त्रिकालदर्शी महर्षियों के विचार से निश्चित इस अनादि मीमांसा-दर्शन के किसी अधिकरण वा किसी अंश के परिवर्तन की आवश्यकता न हुई, न है, न होगी, ऐसा माहात्म्य इस दर्शन का है और इसी दर्शनके अधिकरणों में यह ६ ठां, शब्द के नित्यत्व के विषय में अधिकरण है जो सूत्रक्रमके अनुसार अतिसंक्षेप से दिखलाया जाता है ।

संदेह कि—

शब्द अनित्य है वा नित्य ।

पूर्वपक्ष (नैयायिकों का) कि—

शब्द अनित्य है,

क्योंकि—

(१) उच्चारणरूपी व्यापार के अनन्तर शब्द का श्रवण होता है, न कि उसके पूर्व, जैसे कुम्हार के व्यापार होने पर घट का दर्शन होता है और घट अनित्य है वैसे शब्द भी अनित्य है ।

(२) श्रवणक्षण के अनन्तर शब्द नहीं ठहरता ।

(३) जैसे यह व्यवहार होता है कि कुम्हार घट का कर्ता है वैसे ही यह भी व्यवहार होता है कि देवदत्त, शब्द का कर्ता है ।

सत्त्वान्तरे यौगपद्यात् ॥ ९ ॥

(४) इतो ऽप्यनित्य इत्याह। सत्त्वान्तर इति देशान्तर इत्यपि पूरणीयम्। तथाच देशान्तरे अन्यदेशस्थे। सत्त्वान्तरे। प्राण्यन्तरप्रत्यक्षे। यौगपद्यमेककालिकत्वं दृष्टम्। अयं भावः। यथा लाघवान्नित्यत्वं तथा तेनैव हेतुना शब्दे एकत्वमपि सेत्स्यति इत्थञ्च एकस्य वस्तुनः अपकृष्टपरिमाणस्य सन्निकृष्टविप्रकृष्टपुरुषप्रत्यक्षं युगपत् भवति इदमेकत्वे नित्यत्वेऽनुपपन्नमतोऽनित्यः शब्दो नानाचेति ॥ ॥ ९ ॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥ १० ॥

(५) इतोऽपि तथेत्याह। प्रकृतीति। दध्यत्रेति दधि अत्रेति प्रकृतिस्थितौ प्रकृतिभूतेकारस्थाने यकाररूपो विकारो भवति यस्य वर्णस्य प्रकृतेः विकारः सोऽनित्य इति व्याप्तिरितिभावः ॥ १० ॥

वृद्धिश्च कर्तृभूम्नाऽस्य ॥ ११ ॥

(६) कर्तृभूम्ना कर्तृबाहुल्येनास्य शब्दस्य वृद्धिः महत्त्वं दृश्यते अतोऽप्यनित्यः पुरुषप्रयत्नस्य शब्दव्यञ्जकत्वपक्षे व्यञ्जकसहस्रेणापि व्यङ्ग्यस्य वृद्धिर्न दृश्यते यथा दीपसहस्रेणापि घटस्येति व्यञ्जकत्वपक्षोऽयुक्त इति भावः ॥ ११ ॥

समन्तु तत्र दर्शनम् ॥ १२ ॥

(१) एवं व्यञ्जकत्वे बहूनि दूषणान्युक्तानि क्रमेण परिहर्तुं प्रक्रमते। सममिति।

॥ भाषा ॥

(४) यदि शब्द के अनित्य होने में उसकी अनेक, उत्पत्ति और विनाश के अनुसार उसमें अनेकता के कारण गौरव के भय से, लाघव के अनुसार शब्द नित्य और एक माना जाय तो शब्दोच्चारण के स्थान से समीप और दूरवर्ती पुरुषों को एक ही काल में शब्द का प्रत्यक्ष जो होता है वह न होगा, जैसे एक स्थान से एकवार फेंके हुये दंड के द्वारा समीप और दूरवर्ती पुरुषों को एक क्षण में आघात नहीं होता, तस्मात् शब्द अनित्य और अनेक भी है।

(५) दधि, अत्र, इस शब्द में व्याकरण के अनुसार इकार का विकार यकाररूप होता है अर्थात् दध्यत्र। और विकारी पदार्थ सब अनित्य ही होते हैं।

(६) कर्त्ता के बहुत्व से जिसका बहुत्व होता है वह अनित्य ही होता है जैसे कुम्हारों के बहुत्व से घटका बहुत्व होता है और घट अनित्य है, ऐसे ही वक्ताओं के बहुत्व से शब्द का बहुत्व होता है तस्मात् शब्द अनित्य है। शब्द यदि नित्य है तो सदा उसके श्रवण के वारणार्थ उच्चारण, उसका व्यञ्जक (प्रकट करने वाला) माना जाता है तब इस पक्ष में शब्द का उक्त बहुत्व नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्धकारस्थित एक घट का यदि सहस्रों दीपकरूप व्यञ्जकों से प्रकाश किया जाय तो भी वह एक ही रहेगा उसमें बहुत्व कदापि न आवेगा, तस्मात् शब्द नित्य नहीं है। शब्द के अनित्यत्व में ये उक्त हेतु ठीक नहीं हैं, अर्थात् उक्त हेतुओं से शब्द अनित्य नहीं सिद्ध हो सकता। क्योंकि—

(१) यदि शब्द किसी अन्य प्रमाणसे नित्य सिद्ध है तो उच्चारण उसका कारक नहीं है किंतु व्यञ्जक है और व्यञ्जक के पूर्व, व्यङ्ग्य का प्रकाश नहीं होता किंतु अनन्तर ही होता है। तो उच्चारण के अनन्तर शब्द के प्रकाश होनेमात्र से शब्द अनित्य नहीं सिद्ध हो सकता, क्योंकि-

पतद्वय इति क्षणमिति च पदद्वयं पूरणीयम्। मतद्वये क्षणं क्षणमात्रं दर्शनं शब्दप्रत्यक्षं समम् अविवादम् ॥ १२ ॥

सतः परमदर्शनं विषयानागमात् ॥ १३ ॥

(२) समत्वेऽपि कतमः पक्षो वरिष्ठ इति प्रश्ने व्यङ्ग्यत्वपक्षो युक्त इत्याह। सत इति। सतः सर्वदा विद्यमानस्य परं पूर्वोत्तरकाले अदर्शनं प्रत्यक्षाभावः संस्कर्तुः व्यञ्जकस्य विषयं शब्दं प्रत्यनागमात्। अयं भावः। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानात् लाघवाच्च शब्दो नित्यः मुखोद्भूतवायुसंयोगाविभागाः शब्दप्रत्यक्षप्रतिबन्धकीभूतं स्तिमितवायुं दूरीकुर्वन्तीति ततः प्रत्यक्षमिति अस्थानादित्यस्योत्तरम् ॥ १३ ॥

प्रयोगस्य परम् ॥ १४ ॥

(३) करोतिशब्दादित्यस्योत्तरमाह। प्रेति। शब्दं करोतीत्यत्र करोतिपदं प्रयोगस्य उच्चारणस्य परं तत्तात्पर्य्यकम् ॥ १४ ॥

आदित्यवद्यौगपद्यम् ॥ १५ ॥

(४) सत्त्वान्तरे यौगपद्यादित्यस्योत्तरमाह। आदित्यवदिति। यथा एकः सूर्य्यः नानादेशस्थैः युगपद्वीक्ष्यते तथा आदित्यवत् महान् शब्दो न सूक्ष्म इति भावः ॥ १५ ॥

शब्दान्तरमविकारः ॥ १६ ॥

(५) प्रकृतिविकृत्योश्चेत्यस्योत्तरमाह। शब्दान्तरमिति। इकारस्थाने यकारःशब्दान्तर-

॥ भाषा ॥

जब यह निश्चय इस हेतु से नहीं हो सकता, कि उच्चारण, शब्द का कारक है, वा व्यञ्जक, तब उच्चारण के अनन्तर शब्द का प्रकाश होना मात्र नित्य और अनित्य दोनों पक्ष में समान है।

(२) ककारादि वर्णों के श्रवणानन्तर जो श्रोताओं को यह प्रत्यभिज्ञा अर्थात् दोबारा अभिज्ञान (पहचान) होती है कि "यह वही ककार है" उससे यह सिद्ध होता है कि उच्चारणों के भेद होने पर भी ककारादिवर्ण एक ही हैं और ककारादिवर्णों के एक, नित्य और व्यापक होने में लाघव भी द्वितीयप्रमाण है क्योंकि अनित्य माननें में एकवर्ण की अनन्तव्यक्ति और प्रत्येक उनकी उत्पत्ति विनाश की कल्पना में महागौरव होता है। और नित्यवर्ण के भी कदाचित्-श्रवण की व्यवस्था इस रीति से सुघट है, कि शब्दश्रवण के प्रतिबंधक स्तिमित [स्थिर] वायु को उच्चारण से प्रेरित मुखवायु के संयोग और विभाग, जितने समय और जहां तक हटाते हैं उतने समय और वहाँ तक शब्द का श्रवण होता है और जब तक वे संयोग और विभाग नहीं रहते वा जब नष्ट हो जाते हैं तब शब्द का श्रवण नहीं होता। निदान जैसे अन्धकार में वर्तमान ही घट का दीप अभिव्यञ्जक है वैसे ही सदा सर्वत्र वर्तमान हीं अक्षरों का, उच्चारण अभिव्यञ्जक है।

(३)—उच्चारण ही के कर्ता को शब्द का कर्त्ता कहते हैं, अर्थात् उच्चारण, पूर्वोक्त संयोग और विभाग ही है, उसी के कर्त्ता होने से शब्द का कर्त्ता कहलाता है।

(४)—जैसे सूर्य, महान् होने से एक ही समय में अनेक और भिन्नदेशस्थ पुरुषों के दृष्टिगोचर होते हैं वैसे ही शब्द भी महान् (व्यापक) है न कि सूक्ष्म, इसी से एक ही समय में भिन्नप्रदेशीयपुरुषों के श्रवणगोचर होता है।

(५) जैसे दही, दूध का विकार है, वैसे एक अक्षर दूसरे का विकार नहीं है, किंतु

न्यः शब्दः न इकारस्य विकारः तृणानां कट इव, तथा सति कटकर्त्ता नियमेन तृणसम्पादनवत् यकारं प्रयुञ्जानो नियमेन इकारमाददीतेति भावः ॥ १६ ॥

नादवृद्धिपरा ॥ १७ ॥

(६) वृद्धिश्चेत्यस्योत्तरमाह । नादेति । परा अतिशयिता शब्दवृद्धिरिति भ्रमविषयो नादवृद्धिःबहुभिः भेरीमाघ्नद्भिः वर्णात्मकशब्दमुच्चारयद्भिर्वा महान् शब्द इत्युपलभ्यते तत्र परमते प्रतिपुरुषं शब्दावयवा उत्पन्नाः सन्तः ते महत्त्ववच्छब्दे महत्त्वं सम्पादयन्तीति वक्तुमशक्यम् परमते शब्दस्य गुणत्वेन निरवयवत्वादतः अगत्या कर्णशष्कुलीमण्डलस्य सर्वां सरणिं व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैः नैरन्तर्य्येण असकृत् ग्रहणात् महानिवावयववानिव प्रतीयते संयोगविभागा नादपदवाच्याः तेषामेव वृद्धिरिति भावः ॥ १७ ॥

नित्यस्तु स्याद्दर्शनस्यपरार्थत्वात् ॥ १८ ॥

(१) एवं परप्रतिपादितदूषणान्युद्धृत्य स्वमते साधकं वक्तुं प्रक्रमते । नित्यइति । शब्दः नित्यः स्यात् दृश्यते व्यज्यतेऽनेनेति दर्शनमुच्चारणं तस्य परार्थत्वात् अन्यस्यार्थस्य प्रतिपत्त्यर्थत्वात् अनित्यत्वे श्रोतुरर्थप्रतिपत्तिपर्य्यन्तं न तिष्ठतीति प्रतिपत्तिर्न स्यात् कारणाभावादिति भावः ॥ १८ ॥

सर्वत्र यौगपद्यात् ॥ १९ ॥

(२) किञ्च सर्वत्र गोशब्दमात्रे यौगपद्यात् अबाधितप्रत्यभिज्ञाया युगपदुपपत्तेः

॥ भाषा ॥

स्वतन्त्र अन्य अक्षर ही है अर्थात् यकार, इकार का बिकार नहीं है, यदि बिकार होता तो जैसे दूध के विना दही नहीं होता वैसे ही बिना इकार के यकार को बोल ही नहीं सकते, अर्थात् जहां पहिले इकार रहता वहीं यकार बोलते तब 'यथा' आदि शब्दों में कैसे यकार का उच्चारण होता ।

(६) जनसमूह के कोलाहल (हौरा) में जो वृद्धि ज्ञात होती है वह आरोपमात्र है। नैयायिकों के मत में भी शब्द की वृद्धि नहीं हो सकती क्योंकि वृद्धि उस पदार्थ की होती है कि जिसमें अनेक अवयव होते हैं शब्द तो उनके मत में गुणपदार्थ है जिसमें अवयव होता ही नहीं, तस्मात् उनको भी यह अवश्य मानना होगा कि किसी दूसरे पदार्थ की वृद्धि का, कोलाहल में आरोपमात्र है इस रीति से यही सिद्ध होता है कि पूर्वोक्त, संयोग और विभाग ही की वह वृद्धि है, कि जो कोलाहल में आरोपित होती है और इन्हीं संयोगों और विभागों को नाद कहते हैं ।

इस क्रम से पूर्वोक्त हेतुओं के खण्डन से यह सिद्धान्त है कि शब्द नित्य है क्योंकि—

(१) दूसरे पुरुष के बोध कराने के लिये शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उच्चारण करने पर यदि शब्दरूपी कारण, अर्थबोधरूपी कार्य्य के समय तक न ठहरता अर्थात् क्षणमात्र ही में नष्ट हो जाता तो कारण के न रहने से अर्थ का बोध नहीं होता और अर्थबोध तो होता है, इससे यह सिद्ध हो गया कि उसके समय तक शब्द ठहरता है और जब वहां तक ठहरता है तब उसके अनन्तर उसका नाश करने वाला कोई नहीं है इससे शब्द नित्य है ।

(२) भिन्न २ प्रदेशों और समयों में उच्चारित "गो" शब्द में गकार एक ही है क्योंकि यह प्रत्यभिज्ञा (पहचान दोबारा) सबकी उन गकारों में परस्पर अर्थात् एक की दूसरे में होती है कि-

स एवायं गकारइति युगपदनेकेषां भवति नह्यनेके युगपद् भ्रान्ता अभवन्निति भावः ॥१९॥

संख्याऽभावात् ॥ २० ॥

(३) दशकृत्वः गोशब्दोच्चारे दशवारमुच्चारितो गोशब्दइत्येव वदति नच दश गोशब्दा उच्चारिताइति अतोऽपि शब्दोनित्य इत्याह । संख्येति । शब्दसंख्याऽभावात् स्पष्टम् ॥२०॥

अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

(४) अतोऽपि नित्य इत्याह । अनपेक्षत्वादिति । अनपेक्षत्वात् शब्दनाशकारणस्य पामरादिसाधारण्येन ज्ञानाभावात् यथा घटपटादिदर्शनमात्रे असमवायिकारणादिनाशान्नाश इति निश्चिनोति तथा पामराणां शब्दे नाशकारणनिश्चयाभावान्नित्य इति भावः ॥२१॥

प्रख्याभावाच्चयोग्यस्य ॥ २२ ॥

(५) ननुशब्दो वायुपरमाणुप्रकृतिकः तदीयसंयोगैरुत्पन्नत्वात् तथाच शिक्षा "वायुरापद्यतेशब्दतामिति" वायुपरमाणुप्रकृतिकत्वादनित्य इत्याशङ्कायामाह । प्रख्येति । योग्यस्य श्रोत्रेन्द्रियजन्यप्रत्यक्षविषयस्य शब्दस्य प्रख्याऽऽभावात् । वायुविकारस्य श्रोत्रेन्द्रियाग्राह्यत्वादितिभावः ॥ २२ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३ ॥

(६) लिङ्गेति । वाचा विरूप नित्ययेति मन्त्रे नित्यया वाचेति लिङ्गम् ॥२३॥ इति ।

ननुवर्णानां नित्यत्वान्मैवेमे पौरुषेयाभूवन् आनुपूर्वीच वार्णी मा पौरुषेयतां स्प्राक्षीत्

॥ भाषा ॥

"यह वही गकार है" और जब यह प्रत्यभिज्ञा सब को होती है तो अवश्यही यथार्थ है न कि भ्रमरूप।

(३) "गो" शब्द का दशवार उच्चारण होने पर लोक में यही व्यवहार होता है कि "गो" शब्द के उच्चारण दश हुये–अर्थात् दश संख्या का व्यवहार उच्चारण ही में होता है न कि "गो" शब्द में इससे स्पष्ट यह विदित होता है कि उच्चारणों ही के उलट फेर हुआ करते हैं परन्तु शब्द सदा अपने स्वरूप से एक ही रहता है।

(४) नष्टहोनेवाले घटादिपदार्थों के नाशक मुद्गरताड़नादि, पामरपर्य्यन्त, सब को विदित होते हैं परन्तु शब्दों का नाशक कोई पदार्थ सर्वसाधारण में प्रसिद्ध नहीं है इससे यह निश्चय होता है कि शब्द का नाश नहीं होता।

(५) यदि "वायुरापद्यते शब्दताम" इस शिक्षावाक्य के अनुसार वायु के परमाणुओं से शब्द उत्पन्न होता, जैसे पृथिवी के परमाणुओं से घटादिकार्य्य उत्पन्न होते हैं, तो घटादि के तुल्य शब्द भी अनित्य होता, परन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् शब्द, वायु का विकार नहीं है क्योंकि यदि शब्द, वायु का विकार होता, तो वायु के अन्य विकारों के नाईं शब्द का भी श्रोत्रेन्द्रिय से प्रत्यक्ष न होता।

(६) " वाचाविरूप; नित्यया " इस मन्त्र में तो स्पष्ट ही कहा है कि वाक् नित्य है । इस उक्त अधिकरण से वर्णात्मक शब्दों ' की ' नित्यता सिद्ध हो चुकी।

प्रश्न—नित्य होने से ये वैदिकवर्ण पौरुषेय न हों और वर्णों की आनुपूर्व्वी (नियम से आगे पीछे होना) चाहे पौरुषेयता को न छूये, वर्णों की कौन कहै, कुम्भकार आदि शब्दों में कुम्भ

कुम्भकारादिपदे पदानामपि चानुपूर्वी मा पौरुषेयता मनुभूत् एवमप्यन्वयबोधौपयिकः पदानां समभिव्याहारस्तु पुरुषतन्त्रतां मैव त्याक्षीत् अतएव च मा लौकिकानि वाक्यानि पौरुषेयतां त्याक्षुः नहि लौकिकेषु वाक्येषु शाब्दबोधोपयोगिनी वर्णानां पदानां वाऽऽआ-नुपूर्वी पुरुषेण स्वतन्त्रेण कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं वा शक्यते तथासति शाब्दस्यैवानुदय-प्रसङ्गात् नहि टघेत्युक्ते घटस्य कारकुम्भेत्युक्ते कुम्भकर्तुर्वा शाब्दं संभवति। वर्णास्तूक्त-रीत्या नित्या एव समभिव्याहारस्तु पदानां शाब्दोपयोगी पुरुषतन्त्रः राज्ञः पुरुष इति वाक्यादिव पुरुषोराज्ञइति वाक्यादाभिमतशाब्ददर्शनात् यदि त्वसौ समभिव्यारोऽपि पौरुषेयतां जह्यात् तदा लौकिकेष्वपि वाक्येषु का नाम पौरुषेयता वर्णनपथमवतरेत्। सचायं लौकिकेष्विव वैदिकेष्वापि वाक्येषु जागर्त्येव शाब्दोदयस्योभयत्रसमानत्वात् तस्य च पौरुषेयत्वाव्यभिचारेण वेदस्यापि पौरुषेयत्वं दुष्परिहरमेव अयमेव हि वाक्यत्वव्यव-हारस्यासाधारणं निदानम्। श्रूयते च 'प्रजापतिर्वेदानसृजत' 'तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दा ꣳसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत' (यजुः अ० ३१ मं० ७) 'यज्ञोवै विष्णुः' (श. कां. १ अ. १ ब्रा. १ कं. १३) 'तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा-

॥ भाषा ॥

और कार आदि पदों की भी आनुपूर्वी पुरुष के अधीन न हो तथापि अन्वयबोध (वाक्य से उत्पन्न बोध) का कारण जो पदों का समभिव्याहार (नियम के विना ही आगे पीछे होना) है वह तो अवश्य ही पुरुषाधीन है, क्योंकि उसी के पुरुषाधीन होने से लौकिकवाक्य पौरुषेय कहलाते हैं।

इन उक्तविषयों का विशदविवरण यह है कि लौकिकवाक्यों में रहनेवाली वर्णों की और पदों की आनुपूर्वी श्रोता के बोध का कारण है, और ये दोनों प्रकार की आनुपूर्वियों को कोई पुरुष न कर सकता न मिटा सकता और न विपरीत कर सकता क्योंकि यदि ऐसा करे तो श्रोता के बोध न होने से वह वाक्य ही निष्फल हो जाय. प्रसिद्ध है कि घटशब्द से जिस अर्थ का बोध होता है "टघ" शब्द से उस अर्थ का बोध नहीं होता तथा कुम्भकारशब्द से कुम्हार का बोध होता है और कार-कुम्भ से नहीं। अब ध्यान देना चाहिये कि लौकिकवाक्य तो सर्वा सब के मत से पौरुषेय अर्थात् पुरुषाधीन हैं, अब इतना बिचार करना अवशिष्ट रहा कि इन लौकिकवाक्यों में कौन सी वस्तु पौरुषेय है? वर्णों को तो पौरुषेय कह नहीं सकते क्योंकि पूर्वोक्तयुक्तियों से वे नित्य ही हैं और आनुपूर्वी भी वर्णों की वा पदों की उक्त दृष्टान्तों से पौरुषेय नहीं हो सकती। अब रहा पदों का समभिव्याहार, सो यह अवश्य पौरुषेय है क्योंकि "राज्ञः पुरुषः" (राजा का भृत्य) और पुरुषो-राज्ञः (भृत्य, राजा का) इन दोनों वाक्यों में पुरुष चाहै जिस का उच्चारण करै अर्थ के बोध में कुछ विशेष नहीं होता। यदि यह समभिव्याहार भी पौरुषेय न हो तो लौकिकवाक्यों में इससे अन्य कोई वस्तु ऐसी नहीं है कि जिसके पौरुषेय होने से वे वाक्य पौरुषेय कहे जा सकते हैं। और समभिव्याहार तो लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में तुल्य ही है क्योंकि दोनों प्रकार के वाक्यों से श्रोता को तुल्य ही बोध होता है—तो ऐसी दशा में जैसे समभिव्याहार के पौरुषेय होने से लौकिक-वाक्य पौरुषेय होते हैं वैसे ही वैदिकवाक्य भी पौरुषेय क्यों नहीं हैं ?। क्योंकि समभिव्याहार से संयुक्त, पदों ही को वाक्य कहते हैं। और स्वयं वेदवाक्यों से भी वेद की पौरुषेयता सिद्ध होती है क्योंकि वेद (जोकि ऊपर लिखा है) में यह कहा है कि "प्रजापति ने वेदों की सृष्टि की"

अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्य्यात्सामवेदः' (श. कां ११ अ. ५) इति । बहुशः स्मर्य्यते च पुराणादिषु ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वम् तथाच पौरुषेया एव वेदा इति चेत्—

अत्रास्मत्पितामह श्री प्रयागदत्त, शर्मणां श्लोकाः

प्रथमोच्चारणात्कर्तो च्चारणंतत्रकारणम् । समभिव्याहृतौ नास्य प्राथम्यमुपयुज्यते ॥ १ ॥
उच्चारणान्तरापेक्षे सत्यप्युच्चारणे परम् । पूर्वत्वमुपयुज्येत न प्राथम्यमितिस्थितिः ॥ २ ॥
कर्तृस्मृत्यैव बाध्येय मुच्चारणपरम्परा । भारतादौ न वेदे तु स्मृतेः कर्तुरभावतः ॥ ३ ॥
कर्ता चेत्स्या त्सदा तस्य कालमारभ्यतत्स्मृतेः । परम्पराऽस्य यावन्न च्छिद्येतान्यत्र सा यथा ॥४॥

अयमर्थः । उक्ते हि शाब्दोपयोगिनि समभिव्याहारे केवलमुच्चारणमपेक्ष्यते नतु तस्य मुख्यं प्राथम्यम् प्राथम्यघटितञ्च वाक्यानां कर्तृत्वं भारतादिषु प्रसिद्धम् । प्रथमोच्चारणकर्तर्य्येव कर्तृत्वव्यवहारात् एव ञ्चोक्तः समभिव्याहारः स्वकारणतयोच्चारण-

॥ भाषा ॥

" विष्णु से ऋक् साम अथर्व यजुर्वेद जन्मे " " ऋग्वेद अग्नि से—यजुर्वेद वायु से—सामवेद सूर्य्य से जन्मा " तथा इतिहासपुराणादि के अनेकवाक्यों से भी ब्रह्मदेव की वेदकर्तृता निश्चित होती है तब वेद कैसे अपौरुषेय है ?

इसका उत्तर, मेरे पितामह श्री प्रयागदत्त जी ने ९ श्लोकों से यह दिया है कि—

(उ० १) प्रश्नकर्ता को प्रथम इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि किसी वाक्य वा ग्रन्थ का कर्ता वही कहा जाता है जो कि उसको प्रथम २ उच्चारण करता है । जैसे भारतादि ग्रन्थों के कर्ता भगवान् कृष्णद्वैपायन आदि हैं और यह भी समझना चाहिये कि उक्त समभिव्याहार में केवल उच्चारण ही की अपेक्षा वा अधीनता है न कि उसके मुख्य प्रथमता की भी, क्योंकि यदि उसकी भी अपेक्षा होती तो तीसरे वा चौथे बार उच्चारण करने से उक्त समभिव्याहाररूपी वाक्य नहीं प्रकट होता क्योंकि द्वितीयादि उच्चारण में मुख्य प्रथमता नहीं होती है । इस रीति से केवल उच्चारण ही, समभिव्याहाररूपी वाक्य का कारण निश्चित होता है । और कार्य्य से अनुमान भी कारण ही का हो सकता है तो समभिव्याहार से उसके कारण अर्थात् उच्चारण ही का (जिस के अधीन वह समभिव्याहार है) अनुमान हो सकता है न कि उच्चारण के प्रथमहोने का । और यह भी नहीं कह सकते कि प्रथम २ उच्चारण के बिना द्वितीय आदि उच्चारण नहीं होते, जैसे गुरू आदि के उच्चारण बिना, शिष्य आदि के उच्चारण, तो गुरू के उच्चारण की प्रथमता के अधीन द्वितीय उच्चारण शिष्य आदि का हुआ और उस उच्चारण के अधीन समभिव्यहार होता है तो इस परम्परा से प्रथमता भी समभिव्याहार का कारण होती है इसलिये समभिव्याहार से प्रथमता के अनुमान का असंभव है, क्योंकि यदि किसी उच्चारण की प्रथमता अन्य उच्चारण में कारण होती तो गुरू के उच्चारणानुसार शिष्य का भी उच्चारण नहीं होता क्योंकि गुरू का उच्चारण भी गुरू के गुरू के उच्चारण की अपेक्षा द्वितीय ही है न कि प्रथम, हां यह कह सकते हैं कि जो उच्चारण जिस उच्चारण का कारण होता है वह उसकी अपेक्षा पूर्व ही होता है—और इतने मात्र से इतना ही निकल सकता है कि समभिव्याहार से उसके कारण उच्चारण का, और उस उच्चारण से भी उसके पूर्व उच्चारण का, एवं प्रत्येक उच्चारणों से उनके पूर्व २ उच्चारणों का अनुमान होने से उच्चारणों की धारा अनादि है और इस रीति से यही सिद्ध हुआ कि समभिव्या-

मेवाक्षेप्तुं क्षमते नतु तस्य प्राथम्यमपि अप्रयोजकत्वात् । येनापि शिष्याद्युच्चारणेन गुर्वाद्युच्चारणमपेक्ष्यते तेनापि तस्य पूर्वत्वमात्रमपेक्ष्यते नतु मुख्यं प्राथम्यमपि येनोच्चारणमप्रयोजकतयाऽपि तादृशसमभिव्याहारे तादृशं प्राथम्यमुपयुज्येत तथाच तादृश समभिव्याहारस्यानुपयोगिना मुख्यप्राथम्येन घटितं कर्तृत्वं कथं तत्रोपयुज्येत। उच्चारणकारणोच्चारणानुसरणपरम्परातु भारतादौ कर्तृस्मरणेनैव निवर्त्यते । वेदेत्वनादित्वादेव नासावविच्छिन्नाऽपि दोषमावहति । वेदानां हि यदि कश्चित्कर्ता स्यात्तदाऽवश्यमसौ वेदान् रचयन् तादात्विकैः पुरुषैः प्रत्यक्षेणानुभूयेत तैश्चान्येभ्यः कथ्येत तैश्चान्येभ्य इत्येवंपरम्परया नियतरूपमेव स्मृतिकर्तृमन्वादीनामिव तस्य कर्तुरध्येतृभ्यः स्मरणपारम्पर्य्यमद्य यावज्जगति जागर्य्यादेव नतु तदस्ति तस्मान्न कश्चिद्वेदस्य कर्तेति ।

किञ्च-उच्चारणेसृजिः श्रौतो न निर्माणे कदाचन । वेदांश्च प्रहिणोतीतिमन्त्रश्रुत्यैकमत्यतः ॥५॥
सृजन्सृजन्नेवमादौ लोके क्षेपार्थकोयथा । क्वचित्प्रजापतिर्विष्णुः क्वचित्सूर्य्यादयः क्वचित् ॥६॥

॥ भाषा ॥

हाररूपी वाक्य के कारणरूप उच्चारण के करनेवाले गुरू शिष्य आदि पुरुषों की परम्परा भी अनादि चली आती है इस से तो उलटा यही सिद्ध होता है कि समभिव्याहाररूपी वेदों के पढ़ने पढ़ाने वालों की परम्परा अनादि ही है अर्थात इनका कर्ता (प्रथम उच्चारण करनेवाला) कोई नहीं है। और भारतादिक में भी ऐसे ही उच्चारणों की परम्परा अनादि रूप से प्राप्त थी परन्तु व्यासादिरूप कर्ताओं की प्रसिद्धि से यह परम्परा निवृत्त (व्यासादि ही तक समाप्त) हो जाती है। वेदों में तो उच्चारणपरम्परा की निवृत्ति का कारण ही कोई नहीं है इस से वेद और उनकी उच्चारणपरम्परा अनादि ही है। जैसे मनु आदि ने जिस समय धर्मशास्त्रों की रचना किया उस समय के पुरुषों ने उनको रचना करते देखा और अन्यपुरुषों से कहा भी तथा उन पुरुषों ने भी क्रम से उत्तरोत्तरकाल में अन्यान्य पुरुषों से कहा इस रीति से तात्कालिक पाठकों के द्वारा मन्वादिरूप कर्ताओं की स्मरणपरम्परा आज तक अविच्छिन्नरूप से जागती है वैसे ही यदि वेद का भी कोई कर्ता होता तो उसी क्रम से उसके स्मरण की परम्परा भी अवश्य ही आज तक जागती रहती क्योंकि जब भारतादिरूपी एकदेशी ग्रन्थों के कर्ताओं की भी कीर्ति आज तक विश्वव्यापिनी है तो ऐसे महागम्भीर सागराकार अपार और विश्वव्यापी वेद के कर्ता की प्रसिद्धि का लोप अत्यन्त ही असंभव है। विचार का विषय है कि छोटे मोटे ग्रन्थ के बनानेवाले भी अपने को ग्रन्थ का कर्ता करके अपना नाम लिख देते हैं बरुक अपने नाम ही चलाने के अर्थ बहुत लोग ग्रन्थ बनाते हैं ऐसी दशा में वेद ऐसे ग्रन्थ का यदि कोई कर्ता होता तो कदापि यह संभव नहीं है कि वह अपना नाम वेद में कर्ता करके न लिखता। तथा यह बात भी ध्यान से उतारने के योग्य नहीं है कि कोई अन्य ग्रन्थ ऐसा नहीं है कि जिसके विषय में कर्ता के न होने और होने का विवाद हो— केवल वेद ही के विषय में ऐसा विवाद होता है इस से यह सिद्ध होता है कि वेद का कर्ता कोई नहीं है और वेद के विषय में कर्ता का आरोप चाहै किसी वादी का हो सभी अटकलपच्चू ही है तस्मात् वेद का कोई कर्ता नहीं है।

(२) 'प्रजापति ने वेदों की सृष्टि की' यह अनुवाद "प्रजापतिर्वेदानसृजत" इस श्रुति का है और इस श्रुति में जो सृज् शब्द (धातु) है उसका उच्चारणमात्र अर्थ है न कि रचना-

श्रुताः स्रष्टार इत्येतद्विरोधाभावसिद्धये। जनिसृज्यादयः श्रौता नाद्योच्चारणवाचिनः ॥७॥
गर्भेषूत्पन्नचैत्रादेः प्रादुर्भावे यथाजनिः। तन्मूलानां स्मृतीनाञ्च गतिरेषैव गम्यताम् ॥ ८ ॥
मन्त्रे वाचा विरूपेति संप्रोक्तं नित्ययेति यत्। लिङ्गं तदपि संदेहसमूहान् संव्यपोहति ॥९॥ इति

अयमर्थः। प्रजापतिर्वेदानसृजतेत्युक्तश्रुतौ न सृजती रचनार्थः किन्तूच्चारणमात्रार्थः। अन्यथा हि श्वेताश्वतराणां मन्त्रोपनिषदि ६ अध्याये—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशम् मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥ १८ ॥

इतिश्रुत्या सह दुष्परिहरो विरोध आपतेत् अत्र हि "उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने" "स विन्दुरिन्दुः प्रहितः" इत्यादाविव प्रोपसृष्टस्य हिनोतेः प्रापणमर्थः। तच्चसिद्धस्यैवा-जादेर्ग्रामादौ भवति ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वे तु तदविरोधः स्पष्ट एव। किञ्च ब्रह्माणं विदधाती त्युक्त्वा वेदानित्यत्र विदधातिमप्रयुञ्जानाऽसौश्रुतिर्ब्रह्मणः पौरुषेयत्वेऽपि वेदानां तद्वारयति यदा च ब्रह्मणोऽपि विधायको न वेदानां विधायकः किन्तु प्रहिणोत्येव तान तदा कुतो वक्तव्यम् ब्रह्मा तद्विधानेति इति तात्पर्य्यात् एतच्च पाराशरमाधवीयोपन्यासेनाप्युपरिष्टात् "द्विर्बद्धमिति" न्यायेनोपपादयिष्यते। सृजेस्तु नोत्पादनार्थत्व नियमः "महेन्द्रचाप प्रतिमेनधन्वना भृशायतेनाधिरथिः शरान् सृजन्" इत्यादिषु भारतादिप्रयोगेषु "सृजन्त माजाविपुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितङ्गुरुं कः" इत्यादिषु च क्षेपार्थकताया दृष्टत्वात्।

॥ भाषा ॥

करना—क्योंकि यदि रचना उसका अर्थ माना जाय तो "श्वेताश्वतर उपनिषद् अध्याय ६ मन्त्र १९ से उक्त श्रुति में विरोध अटल पड़ जायगा, क्योंकि उस मन्त्र का अक्षरार्थ यह है कि "जो परमेश्वर पहिले, ब्रह्मा को बनाता है और ब्रह्मा के हृदय में वेदों को पहुंचाता है—मोक्ष के अर्थ मैं उसके शरण जाता हूं"। और पहुंचाना सिद्ध ही पदार्थ का होता है जैसे गऊ आदि को पहुंचाना ग्राम में, तो इस से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ब्रह्मा वेद के कर्ता नहीं हैं यदि कर्ता होते तो उनके पास वेद क्यों पहुंचाये जाते। अब यदि उक्त श्रुति में सृज् शब्द का रचना अर्थ करके ब्रह्मा (प्रजापति) को वेद का कर्ता ठहराया जाय तो इस मन्त्र के साथ विरोध स्पष्ट ही है जिसके हटाने का कोई उपाय नहीं हो सकता। और जब दक्ष आदि सब प्रजापतियों के पिता ब्रह्मा भी वेद के कर्ता नहीं हो सकते तब अन्य प्रजापतियों में वेद के कर्ता होने की चर्चा भी कैसे हो सकती है॥

तथा—यह विषय, विशेष ध्यान देने के योग्य है कि यह मन्त्र ब्रह्मा को बनाना कह कर वेद का बनाना न कह, पहुंचाना कहने से अपने इस तात्पर्य को स्पष्ट रूप से प्रकाश करता है कि जब ब्रह्मा को बनानेवाला परमेश्वर भी वेद का बनाने वाला नहीं है किन्तु केवल पहुँचानेवाला ही है तब परमेश्वर के बनाये हुये ब्रह्मा में वेदकर्तृता की संभावना ही कैसे हो सकती है। और यद्यपि परमेश्वर का भी वेदकर्ता न होना यह मन्त्र ही सिद्ध करता है तथापि "द्विर्बद्धंसुबद्धं" इस न्याय के अनुसार ऊपर चल कर माधवपाराशरोक्त अन्यान्य प्रमाणों से भी यह विषय सिद्ध किया जायगा। और सृज् शब्द का "शरान् सृजन्" (बाणों को फेंकते) "सृजन्तमाजाविपुसंहतीः" इत्यादि अनेकस्थलों में क्षेप (फेंकना) अर्थ देखा जाता है तथा उच्चारण भी शब्द का क्षेप ही है। इसी से "यश्च किरति क्रूरध्वानि निष्ठुरः" इत्यादि अनेक स्थलों में शब्द का उच्चारण क्षेप कहा गया है वैसे ही उक्त श्रुति में-

किञ्च उदाहृतासु तज्जातीयास्वन्यासु च श्रुतिषु वेदविषया ये सृज्यादयो दृश्यन्ते तेषां निर्माणार्थकत्वे तत्र २ विष्णुप्रजापतिसूर्य्यादीनां निर्मातृताकथनात् प्रसज्यमानः श्रुतीनामन्योन्यविरोधो न शक्यो वारयितुम्। उच्चारणमात्रार्थकत्वे तु नासौ प्रसज्यते, दृश्यते च मातुरुदर एवोत्पन्नस्य चैत्रादेस्ततो निस्सरणमात्रेऽपि "अद्यचैत्रोजातः" इत्यादिलोके जन्यादेः प्रयोगस्तथैवोक्तश्रुतिष्वप्यस्तु ब्रह्मणो वेदसृष्टेर्बोधिकानां 'अनन्तरं तु वक्त्रेभ्योवेदास्तस्यविनिःसृता' इत्यादिस्मृतीनां तु प्रकृतश्रुतिमूलकत्वादेवोच्चारणमात्रे तात्पर्य्यं नन्वाद्योच्चारणे, "प्रतिमन्वन्तरञ्चैषा श्रुतिरन्याविधीयते" इति स्मृतौ तु एषा अन्या विधीयत इति विप्रतिषेधनिरासायान्यत्वविधानमुच्चारणभेदमात्रनिबन्धनमारोपितमेवेति न क्षतिः।

एवं "वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" मित्यत्रापि वेदानामन्तस्याप्रचारस्य 'कृत्' छेत्ता, सम्प्रदायप्रवर्तनादितिवेदान्तकृदित्येवार्थः वेदानामन्तस्यसंम्प्रदायह्रासरूपलोपस्य 'कृत्' कर्ता संहारकत्वादिति वा अथवा वेदसंप्रदायस्यलोपकत्वंप्रवर्तकत्वंचोभयमप्यर्थः। नतु वेदान्तानाम् कृत् कर्तेति। तथासति विध्यादिवेदभागानामपौरुषेयतयाऽर्द्धजरतीयत्वापत्तेः। तथाच भारतादाविव वेदे न काचिदप्यनन्यथासिद्धा कर्तृस्मृति रुदाहर्तुं शक्यते।

॥ भाषा ॥

भी उक्त मन्त्र के विरोधपरिहारार्थ सृज् शब्द का उच्चारण ही अर्थ करना उचित है न कि रचना।

(४) प्रश्नकर्ता ने जो २ श्रुतियां प्रमाण दी हैं या उस प्रकार की अन्यान्य जो श्रुतियां भी वेद के विषय में मिल सकती हैं उन में पढ़े हुये 'सृज्' 'जन' आदि जो शब्द हैं उन में से किसी का भी उच्चारण छोड़ रचना अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि यदि रचना अर्थ किया जाय, तो किसी श्रुति से विष्णु और किसी से प्रजापति और किसी से सूर्य्य आदि का वेदकर्ता होना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा तब उन श्रुतियों के अन्योन्यविरोधरूपी राजयक्ष्मा की चिकित्सा अत्यन्त दुर्घट हो जायगी। और यदि उक्त 'सृज्' आदि शब्दों का उच्चारणमात्र अर्थ किया जाय तो उक्त श्रुतियों में उक्त दोष नहीं पड़ता, क्योंकि जैसे एक ग्रन्थ को अनेक छात्र पढ़ते हैं वैसे ही वेदों को भी विष्णु आदि अनेक देवता महाशय भी यदि उच्चारण करें तो इसमें क्या विरोध है?। और माता के पेट ही में उत्पन्न लड़के के उदर से बाहर निकलनेमात्र में जैसे लोक में जन, सृज्, आदि शब्दों का (आज लड़के का जन्म हुआ) इत्यादि प्रसिद्ध व्यवहार होता है वैसे ही उक्त श्रुतियों में भी अनादि ही वेद के उच्चारणमात्र में 'जन' आदि शब्दों का व्यवहार क्या कुछ भी अनुचित होगा? यही गति श्रुतिमूलकस्मृतियों की भी है।

'वेदान्तकृद्वेदविदेवचाहम्' इस गीतावाक्य का भी यह अर्थ है कि मैं, (कृष्णभगवान) वेद के 'अन्त' (महाप्रलय में हुआ संप्रदाय का लोप) का 'कृत' (काटनेवाला) अर्थात् आदि सृष्टि में संप्रदाय का चलाने वाला हूं। अथवा यह अर्थ है कि मैं, वेद के 'अन्त' (महाप्रलय से लगे पूर्व समय में संप्रदाय का लोप) का 'कृत्' करनेवाला हूं। अथवा ये दोनों अर्थ हैं अर्थात् मैं, जगत् की सृष्टि और संहार के समय में क्रम से वेद का प्रचार और लोप करता हूं। परन्तु यह अर्थ तो नहीं हो सकता कि मैं वेद के वेदान्तभाग (उपनिषदों) का करने वाला हूं, क्योंकि इस अर्थ से यह बात निकलैगी कि वेद के, विधिभाग आदि अपौरुषेय हैं और वेदान्तभाग पौरुषेय है,

अन्यच्च। 'वाचा विरूप, नित्यये' त्युक्तमन्त्रगतेन नित्ययेतिलिङ्गेन सकल एव वेदे पौरुषेयत्वसन्देहसमूहोऽपोह्यत इति। भट्टपादैस्तु पूर्वोक्तः श्रुतिस्मृतिमूलक आक्षेपोऽन्यथैव परिहृतः। तथाहि। भारतेऽपि वेदवदपौरुषयत्वं स्यात् यदि तत्र कर्तृस्मृतिर्न स्यात् अस्ति चासाविति पौरुषेयतां स्थापयन्त्या तया भारतस्यापौरुषेयता बाध्यते या तु वेदस्य कर्तृस्मृतिः पुरणादावुपलभ्यते नासावनुभवमूला किन्तु 'प्रजापतिर्वेदानसृजत' त्यर्थवादमूलैव। यदि हि वेदानां कर्ता तात्कालिकैः पुरुषैः प्रत्यक्षेणानुभूयेत तदा तैरन्येभ्यस्तैश्चान्येभ्यउच्येतेतिपरम्परयाऽऽधुनिकाध्येतृभिरपि तस्य स्मरणं स्यात् नतु तदस्तीत्यर्थवादादेव सामान्यतो दृष्ट्वा स्मृतिरियमाह। अर्थवादश्च 'स्तुतिपरा अर्थवादा न स्वार्थपरा' इत्यर्थवादाधिकरणवक्ष्यमाणसिद्धान्तानुसारान्न वेदस्य कर्तारं प्रमापयितुमीष्टे किमुत तन्मूलास्मृतिरतो भ्रान्तिमूलैव सा। अथ स्मृतेर्मूलान्तरमेव कल्पयित्वा तस्याः सम्यक्त्वमेव कुतो न स्वीक्रियत इति चेन्न परम्परया हि स्मरणाभावेन नानुभवमूलता शक्या कल्पयितुम् सम्भवति चार्थवादस्य मूलत्वमतो न तस्मिन्सति मूलान्तरं कल्प्यम्। एवं तर्ह्यन्यपरत्वेनार्थवादस्यापि मूलत्वासंभवादमूलकत्वमेव तस्या इति चेत् 'सत्यम्' तथापि अन्यपरेभ्योऽपि वाक्येभ्यो-

॥ भाषा ॥

जैसा कि किसी के संमत नहीं है।

(५) "वाचाविरूप; नित्यया" इस पूर्वोक्त मन्त्र से तो स्पष्ट ही वेद की नित्यता सिद्ध है जिस से पौरुषेयता का संभवमात्र भी नहीं हो सकता। ये सब उत्तर मेरे पितामह पं०—श्री प्रयागदत्त द्विवेदी जी के कहे हैं। और श्री वार्तिककार (भट्टपाद) ने तो कुछ भिन्न ही रीति से, उक्त श्रुतिस्मृतिमूलक प्रश्न का उत्तर दिया है जो यह है कि—

उ. (१) वेद के तुल्य भारत भी पौरुषेय न होता यदि भगवान कृष्णद्वैपायन में उसके कर्ता होने की प्रसिद्धि न होती इस से यही प्रसिद्धि, भारत का पौरुषेयहोना सिद्ध करती हुई अपौरुषेयता को महाभारत से निकाल देती है, और पुराणादि में जो वेद के कर्ता की स्मृति मिलती है उस को पुराणकर्ता ने अपने अनुभव से नहीं बनाई किन्तु "प्रजापतिर्वेदानसृजत" इस अर्थवाद ही को देख कर बनाई क्योंकि यदि वेद का कर्ता कोई होता तो उक्त रीति से उसके स्मरण की परम्परा वेद के पढ़ने पढ़ाने वालों में आज तक अवश्य प्रचलित रहती वह तो है नहीं। और अर्थवादाधिकरण का सिद्धान्त जो आगे चल कर कहा जायगा उसका मन्तव्य यह है कि 'अर्थवादों का, स्तुति ही में मुख्य तात्पर्य होता है न कि अपने शब्दार्थ में' इसके अनुसार जब उक्त अर्थवाद, स्वयं वेद के कर्ता को सिद्ध नहीं कर सकता तब तन्मूलक पुराणादिस्मृति बेचारी क्या उसे सिद्ध करैगी किंतु अर्थवाद के शब्दार्थ ही को ले कर वह स्मृति, भ्रममूलक ही है। यह तो कह नहीं सकते कि उस स्मृति का उक्त अर्थवाद से अन्य कोई मूल मान कर उस स्मृति को प्रमाण कहेंगे। क्योंकि उक्त रीति से कर्ता के स्मरण की परंपरा जब नहीं है तब अनुभव उस पुराणस्मृति का मूल नहीं हो सकता और ऐसी दशा में केवल उक्त अर्थवाद ही उस स्मृति का मूल हो सकता है इसी से अन्यमूल की कल्पना नहीं हो सकती। यद्यपि यह कह सकते हैं कि जब अर्थवाद का अपने शब्दार्थ में मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तब उक्त अर्थवाद भी कैसे उक्तस्मृति का मूल हो सकता है तथापि जैसे गूढ़ अर्थ न समझनेवालों को पहेलियों के मोटे शब्दार्थ (स्पष्ट शब्दार्थ) ही में सत्य होने का भ्रम

ऽथत्वे भ्रान्तिदर्शनेन सन्मूलकत्वाभावदशायाममूलकत्वकल्पनामपेक्ष्य भ्रान्तिमूलकत्वकल्पनमेव न्याय्यमिति।

तथाच वाक्याधिकरणे श्लोकवार्तिके भट्टपादाः।

भारतेऽपि भवेदेवं कर्तृस्मृत्या तु बाध्यते। वेदेऽपि तत्स्मृतिर्या तु साऽर्थवादनिबन्धना ॥ ३६७॥
पारम्पर्य्येण कर्त्तारं नाध्येतारः स्मरन्ति हि। तेषामनेवमात्मत्वात् भ्रान्तिःसेतिच वक्ष्यते॥३६८॥
तेषु च ध्रियमाणेषु न मूलान्तरकल्पना। तथाद्यतनस्यापि ते कुर्वन्तीदृशीं मतिम् ॥३६९॥ इति

ननु माभूद्वेद एकपुरुषकर्तृकः अनेककर्तृकस्तु स्यात् अनेककर्तृकत्वं च द्वेधा। आद्यम् सर्गादौ कठादिनामकैरामकृष्णादिभिरिव परमेश्वरावतारविशेषैः स्वस्वनामांकितशाखानां प्रणीतत्वम्। द्वितीयं तु जीवविशेषैरेव कठादिभिर्ऋषिभिः स्वस्वनामांकितशाखानां प्रणीतत्वमिति। तत्रादिमं कल्पं नैयायिका अवलम्बन्ते द्वितीयं तु बाह्याः उभयथा च वेदस्यापौरुषेयता निराक्रियते। उपपत्तिश्चोभयत्र प्रायो निर्विशेषैवेत्यनुपदमेव स्फुटीभविष्यति। फलोपपत्त्योरैक्यानुरोधादेव च तार्किकान् बाह्यांश्चैककोटीकृत्यैकेनैव सूत्रेण कल्पद्वयं सञ्जग्राह भगवान्—

जैमिनिः १ अध्याये १ पादे

वेदाँश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः ॥ २७ ॥ इति।

सन्निकर्षमिति परीप्सायांणमुल्। द्वितीयायांचेत्यत्रपरीप्सायामित्यनुवृत्तेः। परीप्सा च त्वरा आहुरितिशेषः एवंच एके नैयायिकादयः। वेदान् संनिकर्षम् आहुः त्वरया-आपातमात्रेण। सन्निकृष्य-सामीप्येन आधुनिकत्वेन स्वीकृत्य। आहुः पौरुषेयानाहुरिति यावत्। पौरुषेयतायामप्रामाण्यापत्तेर्दुर्वारतया तदनाकलनमापातः। वेदान् सन्निकर्षम्-सादीन् आहुः इत्यर्थे तु संनिकर्षमित्येकवचनानुपपत्तिरतः सौत्रत्वेन परिहारे गौर-

॥ भाषा ॥

होता है वैसे ही यह कल्पना उचित है कि उक्तस्मृति के कर्ता को उक्त अर्थवाद के शब्दार्थ ही में सत्यता का भ्रम हो गया और उसी के अनुसार उसने उक्तस्मृति बनाई। क्योंकि उक्तस्मृति को निर्मूलक कहने की अपेक्षा भ्रममूलक कहना उचित है। इस उत्तर को पूर्वोक्त औत्पत्तिकसूत्र पर श्लोक ३६७ से ३६९ तक वार्तिककार ने कहा है ॥

॥ पूर्वपक्ष ॥

प्रश्न—एक कोई पुरुष वेदका कर्ता न हो परन्तु अनेक पुरुष अवश्य वेद के कर्ता हो सकते हैं और न्यायदर्शन का सिद्धान्त भी यही है कि आदि सृष्टि के समय में रामकृष्णादि के सदृश कठादिनामक अनेक अवतार परमेश्वर के हुए और उनने अपने २ नामों से अंकित काठक आदि अनेक शाखाओं की रचना की और उन्हीं शाखाओं के समुदाय को वेद कहते हैं। तथा वेदबाह्यों का यह मत है कि पूर्वोक्त कठ आदि, जीव ही अर्थात् ऋषि थे न कि परमेश्वर के अवतार जिनने अपने २ नाम से शाखाओं की रचना की। इन दोनों मतों की साधनयुक्तियां और फल भी थोड़े विचार से तुल्य ज्ञात हो सकते हैं इसी कारण से जैमिनिमहर्षि ने तार्किकों और वेदबाह्यों को तुल्य समझ कर दोनों मतों को अध्याय १ पाद १ में "वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः" २७ इस एक ही सूत्र से संग्रह किया जिसका अक्षरार्थ यह है कि कुछ लोग वेदों को रचित मानते हैं

वम् । पौरूषेयत्वे हेतुमाह पुरुषाख्याः चोदिताः यतः पुरुषाख्याः काठकं कौथुममिति पुरुषघटिताः आख्याः नामानीत्यर्थः । अत्रायमाशयः। समाख्यैव शाखानां पौरुषेयत्वे प्रमाणम् । नच सामान्यप्राप्तौ सत्यामेव विशेषविषये समाख्या व्याप्रियते यथा परिक्रयणेनोपात्तानामृत्विजां कर्मस्वनियमेन कर्तृत्वप्राप्तावाध्वर्यवादिसमाख्यया नियमः क्रियते नचेह वेदानां कर्तृसामान्यं कुतश्चित्प्राप्तं यतः काठकादिसमाख्यया कठादयो नियम्येरन् किंच प्रवचनेनापि शक्योपपादनायाः समाख्याया न कठादीनां कर्तृत्वं प्रत्यसाधारणं गमनिकाबलमिति वाच्यम् लौकिकवाक्यसाधर्म्यादेव वेदेऽपि कर्तृसामान्यस्य प्राप्त्या काठकादिसमाख्यानां नियामकत्वे बाधकाभावात् । अस्मरणेनानुपदमेवकर्ता निराकृत इति चेत्, नह्यप्राप्तौ निराकरणम् वैयर्थ्यात् । शशशृंगादेरपि निराकरणापत्तेश्च । अस्मरणरूपश्च बाधकोऽप्यसिद्ध एव, काठकादिसमाख्यानामेवाद्य यावदपि कर्तृस्मरणपरम्पराप्रवर्तने सामर्थ्यात् एवंच वचनान्तरसाधर्म्यात्कर्तृसामान्यप्राप्तिः, समाख्याभिश्च कर्तृविशेषस्मृतिप्रसोत्रीभिराध्वर्य्यवादिवद्विशेषनियम इति कुत्र कस्य बाधकस्यावसरः । किंच प्रवचनेनापि

॥ भाषा ॥

क्योंकि इनके शाखाओं के नाम काठक, कौथुम आदि, कठ आदि पुरुषों के नामों से बने हुए पाये जाते हैं । और इस सूत्र का आन्तारिकतात्पर्य, प्रश्नोत्तर रूप से यह है कि–

प्रश्न–काठक कौथुम आदि जो शाखाओं के नाम हैं वे ही वेद के पौरुषेय होने में प्रमाण हैं, तो वेद क्यों नहीं पौरुषेय है ?

उत्तर—समाख्या (नाम) प्रमाण हो कर उस विषय का नियम करती है जिसकी प्राप्ति सामान्यरूप से होती है जैसे दक्षिणा से जब ऋत्विग् लोग परिक्रीत हो चुके तब यज्ञ के हर एक काम का कर्ता होना उनमें से हर एक में दक्षिणा के अनुसार बिना नियम के प्राप्त होता है ऐसी अवस्था में जिन कामों का आध्वर्यव नाम है उनका कर्ता होना उसी नाम के अनुसार उसी ऋत्विक् में नियत समझा जाता है जो कि यजुर्वेदी है । एवं हौत्र (ऋग्वेदकर्म) आदि के विषय में भी हौत्र आदि नामों से ऋग्वेदी आदि ऋत्विजों के नियम होते हैं परन्तु वेदों के विषय में सामान्यरूप से कर्ता प्राप्त नहीं होता तो कैसे कठ आदि विशेषकर्ताओं का, काठक आदि शाखाविशेषों के विषय में, काठक आदि समाख्याओं से नियम किया जा सकता है ।

प्रश्न—लौकिकवाक्यों के कर्ता अवश्य ही होते हैं और वेद भी वाक्य ही हैं इसी से लौकिकवाक्यों के नाईं वेदों में भी, वाक्य होने ही से कर्ता की सामान्यरूप से प्राप्ति अवश्य है और इसी से काठक आदि समाख्याएं उस २ शाखा के विषय में कठ आदि कर्ताओं का नियम क्यों नहीं कर सकती हैं ?

उत्तर—वेद के कर्ता की प्रसिद्धि न होने से जब कर्ता का निराकरण हो चुका तब कर्ता की प्राप्ति नहीं हो सकती ।

प्रश्न—प्रथम तो बिना प्राप्ति के, निराकरण हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि प्राप्ति न होती तो निराकरण ही व्यर्थ हो जाता और बिना प्राप्ति के यदि निराकरण होता तो शशशृङ्गादि अप्रसिद्धपदार्थों का निराकरण क्यों नहीं होता और दूसरे, वेद में भी जब काठक आदि समाख्याओं के अनुसार कठादिरूप कर्ताओं की स्मरणपरम्परा आज तक चली आ रही है तब कर्ता

न समाख्यानामन्यथासिद्धिः शंक्यशङ्का, शैष्योपाध्यायिकाघटकानां प्रवक्तॄणामानन्त्येनै-कस्यामपि शाखायां विनिगमनाविरहादहमहमिकया समाख्यासहस्रापर्यवसानवैशस-प्रसङ्गात् नच येन या शाखा प्रकर्षेणाधीता सा तत्समाख्येति वाच्यम् आद्यत्वादन्यस्य वचनगतस्य प्रकर्षस्य दुर्वचत्वात् । नह्युपाध्यायान्वयपठितानुपूर्वीभिन्नानुपूर्वीरूपः प्रकर्षः प्रकृते वक्तुं शक्यः । तथासत्युपाध्यायेभ्योऽपि प्रकर्षे प्रत्युतान्यथाकरणदोषप्रसङ्गात् तत्पाठ-मात्रानुकरणे च प्रकर्षस्यैवासम्भवात् यदिचोच्चारणे श्रवणमनोहरत्वं प्रकर्षः, तदाऽपीदृङ्-महीयसि संसारे काले च कति तादृशाः प्रवक्तार इति पूर्वोक्तं सामाख्यावैशसमेवावर्तते । अथ ब्राह्मणत्वावान्तरजातिभेदा एव कठत्वादयः तद्वदध्येया तद्वदनुष्ठेयार्था च शाखा तत्समाख्यया व्यपदिश्यत इति किमनुपपन्नमितिचेन्न ब्राह्मणत्वव्याप्यायाः कठत्वादि-

॥ भाषा ॥

की अप्रसिद्धि कैसे कही जा सकती है ?

उत्तर—कठ ने जिस शाखा का प्रवचन (पढ़ने पढ़ाने का अधिक अभ्यास) किया उसका नाम काठक है इस रीति से जब प्रवचन के अनुसार समाख्या बन सकती है तब समाख्या में कर्ता सिद्ध करने की असाधारणशक्ति नहीं हो सकती ।

प्रश्न—गुरुशिष्यपरम्परा जब बहुत समय से चली आती है तब सहस्रों ने एक शाखा का प्रवचन किया होगा तो ऐसी दशा में यदि कठ के प्रवचनमात्र से काठकसमाख्या की उपपत्ति की जाय तो प्रवचनकरनेवाले उन सहस्रों पुरुषों के नामानुसार उस एक ही शाखा की सहस्रों समाख्याएं होना उचित हैं और कोई विशेष नहीं है कि दूसरी समाख्याएं आजतक प्रसिद्ध न हों । तस्मात् यही सिद्ध होता है कि वह शाखा कठकी रचित है इसी से काठक कहलाती है न कि कठ के प्रवचन से, और इस रीति से काठकसमाख्यारूप प्रमाण के अनुसार जब यह शाखा कठ की रचित है तब वह पौरुषेय क्यों नहीं है ?

उत्तर—जिसने जिस शाखा का प्रवचन अर्थात् बढ़ियाँ अध्ययन किया उस शाखा की समाख्या उसके नाम से प्रसिद्ध हुई न कि रचना से ।

प्रश्न—उच्चारणरूप अध्ययन अर्थात् वचन में प्रकर्ष (बढ़ियाँपन) क्या है जिस से उस वचन को प्रवचन कहते हैं ?

उत्तर—उपाध्याय के पठितपदों की आनुपूर्वी (क्रम) से अन्य आनुपूर्वी ही प्रकर्ष है ।

प्रश्न—जब उपाध्याय की पाठानुपूर्वी के बदलने को भी प्रकर्ष कहा जायगा तो व्युत्क्रम-दोष कौन कहलावैगा और यदि वही आनुपूर्वी रही तो प्रकर्ष ही क्या हुआ ?

उत्तर—उच्चारणरूप वचन में श्रोता के श्रोत्र और मन को सुख देना ही प्रकर्ष है।

प्रश्न—ऐसे अनादि और बड़े सृष्टिसमय में ऐसे प्रवचन के करने वाले असंख्यपुरुष हुए होंगे इसमें कुछ संदेह नहीं है तब क्यों एक के नाम से समाख्या बनी दूसरे के नाम से नहीं ?

उत्तर—ब्राह्मणत्वजाति की विशेषजातियां कठत्व आदि हैं किसी एक पुरुष का कठ नाम नहीं है । और कठजाति के ब्राह्मण, अपनी वंशपरम्परा के अनुसार जिस एक शाखा को पढ़ते और उसके अर्थानुसार क्रियाओं का अनुष्ठान करते आते हैं उस शाखा की समाख्या काठक है । यही दशा और समाख्याओं की भी समझनी चाहिये ।

जातेः क्षत्रियादावभावेऽपि क्षत्रियादेस्तत्तच्छाखाध्ययनादावधिकारदर्शनात् । नहि क्षत्रियादेरन्योवेदोऽस्ति । भवतु वा क्षत्रियादिभिरधीयमानाऽपि शाखा तेषामध्यापयितृत्वाभावात्काठकादिपदवाच्या, कठादेरध्यापयितृत्वात् तथापि कठाःकाठकमेवाधीयते तदर्थमेवचानुतिष्ठन्तीति नियमोऽनुपपन्नएव, तेषु शाखान्तरसञ्चारस्यापिदर्शनात् नच प्रागेवायंनियम आसीत् इदानीं तु कठत्वादिजातीनां काठकादिसमाख्यानां च विप्लव इति वाच्यम् अद्यत्व इव तदात्वेऽपि तादृशजातिविप्लवप्रयुक्तसमाख्याविप्लवाभ्युपगमे बाधकाभावेन गतिविरहापत्तेरिति। तस्मात् आद्यप्रवक्तृप्रवचननिमित्त एवायं समाख्याविशेषसम्बन्ध इति पौरुषेयीणां शाखानां पुरुषस्वभावभ्रान्त्यादिदोषैराक्रमणादप्रामाण्यमेवेति चेत्, न—

१ अध्याये १ पादे—

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् २९

आख्या प्रवचनात् ३०

इति सूत्राभ्यां, शब्दे पूर्वत्वम् नित्यत्वम् उक्तम् साधितं प्राक्, शब्दस्य च नित्यत्वे-

॥ भाषा ॥

प्रश्न—जब उसी शाखा का अध्ययन क्षत्रियादि भी करते आते हैं जो कि कठ नहीं हैं तब यह नियम कैसे हो सकता है कि कठ ही उसका अध्ययन करते आते हैं क्योंकि क्षत्रियादि के लिये भी ये ही वेद हैं न कि अन्य। तो ऐसी दशा में आज तक किसी क्षत्रिय के नाम से इस शाखा की समाख्या क्यों न बनी ?

उत्तर—यह सत्य है कि क्षत्रियादि भी इस शाखा का अध्ययन करते आये परन्तु इसके अध्यापक, कठजातीय ब्राह्मण ही होते आये, क्योंकि अध्यापन में क्षत्रियादि का अधिकार नहीं है। और काठकसमाख्या अध्यापकजाति के नाम से बनी है।

प्रश्न—यह सब ठीक है तथापि यह नियम ही नहीं है कि कठ लोग काठक ही शाखा को पढ़ैं। क्योंकि वर्तमान समय में कठों में दूसरी शाखा का प्रचार भी देखने में आता है ?

उत्तर—वर्तमानसमय में यद्यपि इस नियम में गड़बड़ पड़ गया है तथापि प्राचीनसमय में यह नियम अवश्य था। जिसके अनुसार काठकसमाख्या बनी।

प्रश्न—इस समय में जब नियम नहीं है तो इसी दृष्टान्त से यह अनुमान क्यों न किया जाय कि प्राचीनसमय में भी यह नियम न था। और प्राचीनसमय में इस नियम के रहने का प्रमाण ही क्या है ?

तस्मात् प्रथमवक्ता (कर्ता) के प्रवचनानुसार से ही वेदशाखाओं की काठकादिकसमाख्याएं बनी हैं और इन समाख्याओं के अनुसार सब शाखाएं पौरुषेय हैं। तथा भ्रम, प्रमादादिक दोष, सबपुरुषों में स्वभावसिद्ध हैं। निचोड़ यह है कि ये सब शाखाएं कदापि प्रमाण नहीं हैं ?

सिद्धान्त।

अध्याय १ पाद १ उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २९ ॥ आख्या प्रवचनात् ॥ ३० ॥ इन सूत्रों से स्वयं जैमिनिमहर्षि ने इस आक्षेप का समाधान किया है। इन सूत्रों का अक्षरार्थ, यह है कि पूर्व ही शब्द की नित्यता, युक्तियों से तथा "वाचा विरूप; नित्यया" इस श्रुति से भी सिद्ध की गई-

सिद्धे वेदस्यापि नित्यत्वम् 'वाचा विरूप ; नित्यया' इत्यप्युक्तम् २९ आख्या काठकादिसमाख्या प्रवचनात् अध्ययनात् कठेनाधीतं काठकमित्युपपन्ना ३० इत्यर्थकाभ्यां मुनिना जैमिनिनैव दत्तोत्तरत्वात् । अयं हि तदभिप्रायः । कर्तृस्मृत्यभावस्तावत् वर्णितपूर्वएव । वाक्ये च कर्त्रा न किमपि प्रयोजनमस्ति, असत्येव हि स्वतन्त्रे कर्त्तरि साम्प्रतमिव सर्वदाऽपि परतन्त्रैरेवाध्येतृभिराञ्जस्येन वाक्योक्तिः सुतरां संभविनी अन्यथोपपन्ना चासौ कथङ्कारं कर्तृसामान्यं प्रापयितुं प्रभवेत् अप्राप्तौ च सामान्यस्य क्वासौ समाख्याऽधिष्ठायिनी विशेषनियामकता वराकी । नचसमाख्यैवानन्यथासिद्धा श्रुतेः पुंयोगे गर्भश्रुतिरिव कुमार्य्याः स्वयमेव मानं किं नस्यादिति वाच्यम् काठकशब्दे "चरणाद्धर्माम्नाययोरितिवक्तव्यमि"तितस्येदमितिसम्बन्धिमात्रार्थे वुञ्विधायिकायाः कात्यायनीयस्मृतेरिव कौथुमादिशब्देषु, (कृते-ग्रन्थे) इतिवत् "तेनप्रोक्तम्" "तदधीतेतद्वेद" इत्यादीनामपिपारमर्षस्मरणानां जागरूकतया समाख्याया अन्यथासिद्ध्यैव ग्रस्तत्वात् । किंच समाख्यया कल्पितेन पौरुषेयतामिषेण वेदस्याप्रामाण्यमापादयतां मते न्यायत्रयबाधो दुर्वारः । दुर्वला हि समाख्या श्रुत्याद्यपेक्षया, अप्र-

॥ भाषा ॥

है । और वेद भी शब्द ही है इसलिये नित्य है २९ । काठक आदि समाख्या, अध्यापन से बनी हैं न कि रचना से ३०॥ तात्पर्य यह है कि यह पूर्व हीं वर्णित हो चुका है कि वेद का यदि कोई कर्ता होता तो उसकी स्मरणपरम्परा आज तक अवश्य रहती, और यह भी कहा जा चुका है कि वाक्य में स्वतन्त्र कर्ता का कुछ काम नहीं है । क्योंकि जैसे वर्त्तमानसमय में गुरुशिष्यपरम्परा के अनुसार परतन्त्र ही लोग वेद को पढ़ते हैं वैसे ही पूर्वकाल में भी सिद्ध हो सकता है कि परतंत्र ही लोग वेद का उच्चारण करते थे । और जब वेदवाक्य का उच्चारण उक्तरीति से, बिना कर्ता के, पूर्व काल में भी सिद्ध हो चुका, तब यह नहीं कहा जा सकता कि वेद भी लौकिकशब्दों के नाई जब वाक्य ही है तब इसका कर्ता अवश्य कोई रहा होगा । तथा जब उक्तरीति से कर्ता की सामान्यतः प्राप्ति ही नहीं है तब कठआदिक विशेषकर्त्ताओं के नियम करनेवाली काठकादिसमाख्याओं के पादन्यास का भी इस विषय में अवकाश नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वपक्षवादी ने भी इस बात को प्रथम ही स्वीकार कर लिया है कि सामान्यप्राप्ति के विना समाख्याएं विशेषनियम नहीं कर सकतीं ॥

प्रश्न—जैसे कुमारीकन्या का गर्भ, उसके पुरुषसंयोग का स्वतन्त्र प्रमाण होता है वैसे ही समाख्यारूप काठक आदि शब्द ही शाखाओं के पुरुषसंयोग (पौरुषेय होना) में क्यों न स्वतन्त्र ही प्रमाण हों और वह अन्य प्रमाण से कर्ता की सामान्यतःप्राप्ति को क्यों अपने लिये आवश्यक बनावें ?

उत्तर (१)—जब पाणिनीय व्याकरण के अनुसार काठक शब्द का, कठ का संबधी और कौथुमादि शब्दों का उन २ ऋषियों का रचित, वा अध्यापन से प्रकाशित, ये दोनों अर्थ हो सकते हैं तो काठक आदि शब्दों से यह निश्चय नहीं हो सकता कि वे वेद के भाग, कठ आदि के रचित वा अध्यापन से प्रकाशित, हैं तो ऐसी दशा में उक्त समाख्याओं का, कर्ता के निश्चय कराने में सामर्थ्य ही नहीं हो सकता जिस से कि शाखाओं के कठ आदि कर्ता सिद्ध हो सकें ।

(२) पूर्वपक्षी ने जो उक्त समाख्याओं से वेद की पौरुषेयता दिखलाई उसका मुख्यतात्पर्य वेद की अप्रमाणता में है इस बात को पूर्वपक्ष के उपसंहार में स्वयं कह दिया है जिस से स्पष्ट ही यह निकल आया कि उक्त समाख्याओं के बल से वह वेद को अप्रमाण ठहराता है, तो इस

धानंच वेदाख्यम्, तदभिधानार्थत्वात् अल्पीयसी च भूयसः शब्दराशेरपेक्षया। ततश्च नैतामा-श्रित्य श्रुत्यात्मकस्य प्रधानस्य भूयसः शब्दराशेरप्रामाण्यमापादयितुं युक्तम् नच समा-ख्यया पौरुषेयत्वमेव मया साध्यते नत्वप्रामाण्यमप्यापाद्यत इति वाच्यम् पौरुषेयतायां सत्यां प्रामाण्योपपादनस्य दुष्करतायाः पूर्वमेव निपुणतरमुपपादितत्वेन त्वद्वचनस्य "शिर एव मया छिद्यते नतु जीवोऽपि व्यापाद्यते" इत्येतद्वचनसमानयोगक्षेमत्वात् अथैवं समाख्यायाः का गतिरिति चेत्, श्रूयताम्। अश्वकर्णादिवत् रूढिरेवेयं निर्निमित्ता भवतु, स्वीकरिष्यते खल्वनुपदमेवोदाहरिष्यमाणेन "परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इति सूत्रेण वर्बरादिशब्देषु रूढिः तद्वदिहाप्यस्तु। यद्वा। अध्ययनस्याध्येतृसहस्रसाधारण्येपि कठेनैव विशेषितं तत् समाख्यानि-मित्तं वैरूपसामवत्। दशमे हि बाधलक्षणे ६ पादे "उक्थ्योवैरूपसामा एकविंशः षोडशी वैरा-जसामा" इति श्रुतिं विषयीकृत्य सर्वेषां प्राकृतसाम्नां निवृत्तिमाशङ्क्य 'वैरूपसामा क्रतु-संयोगान्निवृद्धदेकसामास्यात्' १५ इति सूत्रेण, पृष्ठ्यस्तुतावेव रथन्तरादिमात्रंनिवर्त्यते न सर्वाणि सामानि, सत्तामात्रेणैव वैरूपादेः क्रतुविशेषणत्वोपपत्तेरिति सिद्धान्तितं जैमिनिना, तथैव प्रकृतेऽपि कठादेरितरव्यावर्तकत्वासंभवेपि सत्तामात्रेणाध्ययनविशेषणता निराबाधैव।

॥ भाषा ॥

में तीन प्रकार के न्यायों का विरोध पड़ता है, एक यह कि समाख्या प्रमाण, अन्य प्रमाणों की अपेक्षा दुर्बल होता है क्योंकि चलती चीज की गाड़ी, बने दूध की खोया, समाख्या होती है। एवं और भी समाख्याएं विरुद्ध मिलती हैं तो ऐसे समाख्याप्रमाण से ऐसे स्पष्टवादी वेद को अप्रमाण बतलाना अनुचित है। दूसरे यह कि वेद के लिये समाख्या है न कि समाख्या के लिये वेद, तो ऐसे अप्रधान प्रमाण से प्रधानभूत वेद को अप्रमाण ठहराना अन्याय ही है। तीसरे यह कि दो चार अक्षरों से बनी हुई समाख्या के बल से वेदरूप इतनी बड़ी शब्दराशि को अप्रमाण कहना सर्वथा विरुद्ध ही है क्योंकि ग्रामीण भी कहते हैं कि 'चना कितना भी बली हो तो भूज के भाड़ को नहीं फोड़ता'।

प्रश्न—पूर्वपक्षी यदि यह कहै कि मैंने तो समाख्या से वेदों की पौरुषेयतामात्र सिद्ध की है न कि अप्रमाणता, तो तीन प्रकार के उक्त अन्याय मेरे ऊपर क्यों दिखलाये जाते हैं? तब क्या उत्तर है?

उत्तर—यह कहना पूर्वपक्षी का वैसा ही होगा कि जैसे कोई यह कहै कि "मैं जीतों का शिर ही काटता हूं न कि प्राण भी निकालता हूं," क्योंकि यह बात पूर्व में प्रबलयुक्तियों से सिद्ध हो चुकी है और पूर्वपक्षी ने भी अपने उपसंहार में विशदरूप से यह बात कह दिया है कि पौरुषेय होने पर वेद का प्रमाण होना अत्यन्त दुर्घट है।

प्रश्न—यदि उक्त समाख्याओं से कर्ता नहीं प्रकाशित होता तो उन समाख्याओं का क्या अर्थ किया जायगा और उनका प्रयोजन क्या होगा?

उत्तर—(१) जैसे वृक्षों के अश्वकर्ण आदि नाम अक्षरार्थ के बिना ही होते हैं वैसे ही उक्त समाख्याएं उन २ शाखाओं की रूढ (अवयवार्थ से रहित) संज्ञा हैं और व्यवहार ही उनका प्रयोजन है।

अथवा प्रवक्तृत्वं यथाग्नीषोमोभयपर्य्याप्तदेवतात्ववद्बहुषु पुरुषेषु व्यासज्यवृत्ति स्यात् तदा सापेक्षत्वेन सामर्थ्याभावादग्नीषोमीयंहविराग्नेयशब्देनेव कठतदन्यप्रवक्तृका शाखा काठकशब्देन न व्यपदिश्येतापि तत्तु न तथा किन्तु प्रत्येकपर्य्याप्तमेव पुत्रत्ववत् अतो यथा डित्थडवित्थयोरपि माता डित्थमातेत्युच्यते तथा बहुभिरपि प्रोच्यमाना शाखा शक्यत एव काठकशब्देन व्यपदेष्टुम्। नच को ब्रूते काठकशब्देनासौ मा व्यपदेशीति अपितु प्रवक्तृत्वस्याविशेषात्कठवदेव पुरुषान्तरेणापि किं न व्यपदिश्यत इत्येवेति वाच्यम् समाख्यया व्यपदेशो हि यदि सम्मार्जनादिवत्प्रवक्तृसंस्कारार्थः स्यात् तदा प्रतिसंस्कार्य्यमावर्तेत नचासौ तथा किंतु शाखाविशेषणार्थ एव, तद्विशेषणं च प्रवक्तृणामेकेनापि सुसम्पादमिति किमर्थं पुरुषान्तरमादरणीयम् यथैकेनैव यजमानेन सत्रे यूपसंमानं तद्वत्। नचैकेनापि व्यपदेशे किमिति सा शाखा नियमतः कठेनैव व्यपदिश्यते न कदाचिदपि पुरुषान्तरेणेति वाच्यम् यदि हि सा समाख्याऽस्मदायत्ता स्यात् तदा वयमवश्यमेव पर्य्यनुयोज्या भवेम। अस्माकं तु विद्यमानाया एव तस्या निमित्तनिरूपणमात्रे ऽधिकार इति नास्मासु पर्य्यनुयोगावसरः।

॥ भाषा ॥

(२) जैसे डित्थ और डवित्थ दोनों की माता, डित्थमाता कहलाती है क्योंकि उसका पुत्रत्व डित्थ और डवित्थ में पृथक् २ स्वतन्त्र है वैसे ही अनेक पुरुषों से भी अध्यापित एक शाखा काठकशब्द से कही जा सकती है क्योंकि उसका अध्यापक होना उन हर एक पुरुषों में पृथक् २ स्वतन्त्ररूप से है।

प्रश्न—यह कौन कहता है कि वह शाखा काठकशब्द से न कही जाय किन्तु यह कहा जाता है कि जब और भी उसके अध्यापक हैं तो जैसे कठ के नाम से उस शाखा को कहते हैं वैसे ही अन्य अध्यापकों के नाम से भी उसे क्यों नहीं कहते ?

उत्तर—यदि समाख्या के द्वारा अध्यापक का कोई उपकार होता तो अवश्य यह कह सकते थे कि जैसे कठ अध्यापक था वैसे ही और भी अध्यापक थे तो उन की समाख्या से उन का उपकार क्यों नहीं किया गया। यहाँ तो एक छोटे से शब्द से, शाखा के व्यवहार करने ही से प्रयोजन था सो तो एक अध्यापक की समाख्या से भी हो सकता था इसी से दूसरे अध्यापक के नाम से समाख्या नहीं प्रसिद्ध हुई।

प्रश्न—जब एक ही के नाम से समाख्या का प्रयोजन था तब क्यों कठ ही के नाम से हुई किसी दूसरे ही अध्यापक के नाम से क्यों न हुई ?

उत्तर—(१) यह प्रश्न तब उचित था कि जब समाख्या के बनानेवाले हमी होते किंतु जब अनादि वर्तमान समाख्या के प्रयोजन का निरूपणमात्र हमारे अधीन है तब इस प्रश्न का कोई अवसर ही नहीं है और यह तो बहुत प्रसिद्ध बात है कि साधारणवस्तु का भी एक के नाम से व्यवहार होता है जैसे अनेक ऋषियों से सेवित तीर्थ में भी मार्कण्डेयतीर्थ, अगस्त्यतीर्थ, आदि व्यवहार होते हैं तो इस में क्या दोष है ?

(२)—ऐसे प्रश्नों का उत्तर न देने में भी कुछ हानि नहीं है कि जिन का उत्तर न देना ही उचित है जैसे कि उक्त प्रश्न है क्योंकि यदि अन्य किसी अध्यापक (देवदत्त) के नाम से समाख्या होती तब भी यह प्रश्न होता कि यज्ञदत्त के नाम से क्यों नहीं हुई क्या वह अध्यापक न

दृश्यन्ते च साधारणस्याप्येकेन व्यपदेशाः यथाऽनेकर्षिसेवितेषु तीर्थेषु मार्कंडेयतीर्थमगस्त्यतीर्थमित्यादयः। प्रवचनमप्यध्ययनमात्रमिति न पूर्वपक्षोक्तप्रकर्षनिर्वचनकुचोद्यावकाशः। किंचासौ समाख्याऽपि नित्या, पौरुषेयी वा? नित्या चेत्, नैव पुरुषनिमित्ता भवितुमर्हति, पौरुषेयी तु तत्प्रणेतुराप्तत्वे प्रमाणाभावात्स्वयमेवासत्या सती कथं त्वदभिमतां पौरुषेयतां साधयितुमलंभवेत्, यद्वा नेयमादिमत्पुरुषनिमित्ता कठादिसमाख्या किंतु नित्यैव, ब्राह्मणत्वावान्तरजातिः कठत्वं नाम। तज्जातीयैरधीयमानेयं शाखा च यद्यप्यन्यैरपि ब्राह्मणक्षत्रियादिभिरधीयते तथापि डित्थमाता कुमारतीर्थम् इत्यादिवत्कठत्वनिमित्तया शाखान्तरेभ्यो व्यावृत्तया नित्ययैव समाख्ययाऽभिधीयते। तस्मात् न समाख्यया शाखासु पौरुषेयत्वस्य तन्मूलकस्याप्रामाण्यस्य चापादनं कथमपि शक्यमिति।

तथाचात्रैव ३० सूत्रे वार्तिकम्।

स्मृतिप्रयोजनाभावात् कर्तृमात्रेऽनपेक्षिते। सामान्यसिद्ध्यपेक्षत्वा न्नसमाख्या नियामिका॥३॥
अन्यथाऽप्युपपन्नत्वा दियं प्रवचनादिना। न शक्ता कर्तृमूलाय प्रोक्ते च स्मरणं स्थितम्॥४॥
श्रुत्यादेर्दुर्बला चासौ न शक्ता तानि बाधितुम्। अङ्गं भूयांसमेकेयं शब्दराशिं न बाधते॥ ५॥
कामं वा निर्निमित्तेयं शाखामेकां वदिष्यति। श्रुतिसामान्यमात्रं हि नात्र दण्डेन वार्यते॥ ६॥
सति साधारणत्वे वा संभवेन विशेषणम्। यथा वैरूपसामेति सत्तयैव प्रतीयते॥ ७॥
अव्यासङ्गि च सर्वेषु प्रवक्तृत्वं कठादिषु। तेनैकव्यपदेश्यत्वं लक्ष्यते डित्थमातृवत्॥ ८॥
अन्यैस्तुल्येऽपि सम्बन्धे यत्तेन व्यपदिश्यते। नह्येष कर्तृसंस्कारः पारार्थ्यं चैक इष्यते॥ ९॥
विद्यमाननिमित्तं च कथ्यते नामतः क्रिया। साधारणं च तीर्थादि केनचिद्व्यपदिश्यते॥१०॥
यदि चापौरुषेय्येषा नानित्यप्रतिपादिनी। पौरुषेय्यास्तु सत्यत्वं कथमध्यवसीयते॥ ११॥
नित्यमेव निमित्तं वा कठत्वं जातिरस्ति नः। काठकादिप्रवृत्त्यर्थं व्यावृत्तं चरणान्तरात्॥१२॥ इति

तार्किकास्तु जगत्कर्तृत्वेन भगवंतं ससाध्य वेदेऽपि तमेव निमित्तत्वेन प्रक्षिपन्ति शब्दं चानित्यंप्रतिजानते। ते कर्त्रस्मरणं बाधकं न पश्यन्ति। किंच यथा नित्यानाङ्गगनादीना-

॥ भाषा ॥

था? और जब उसके नाम से होती तब यह प्रश्न होता कि कठ के नाम से क्यों नहीं हुई क्या वह अध्यापक न था?

(३) पूर्वपक्षी उक्त समाख्याओं को न नित्य कह सकता और न पौरुषेय, क्योंकि यदि नित्य है तो किसी पुरुष के अनुसार समाख्या नहीं है और ऐसी दशा में समाख्या से कर्ता की सिद्धि की आशा, वंध्या से पुत्र की आशा के तुल्य है। यदि समाख्या पौरुषेय अर्थात् किसी पुरुष की बनाई है तो उस बनानेवाले पुरुष के सत्यवादी होने में कोई प्रमाण नहीं है इसी से वह समाख्या स्वयं झूठी है तो कैसे उससे वेद का कर्ता सिद्ध हो सकता है। तस्मात् उक्त समाख्याओं से शाखाओं में पौरुषेयत्व कदापि नहीं सिद्ध हो सकता और ऐसी दशा में वेद को अप्रमाण कहना पूर्वपक्षी का केवल साहसमात्र है। इन सिद्धान्तयुक्तियों को उक्त ३०वें सूत्र पर ३ से १२ श्लोक तक वार्तिककार ने कहा है।

तार्किकलोग जगत् रूप कार्य से परमेश्वररूप कर्ता को अनुमान कर उन्हीं कर्ता को वेद के विषय मे भी कर्ता बनाकर जोड़ देते हैं और शब्द को भी अनित्य कहते हैं। उनको यह मोटा

मकर्तृत्वेन तेषां मते न भगवतो जगत्कर्तृत्वमुपहन्यते तथैवास्माकमपि वेदाकर्तृत्वेन, नित्यत्वं च शब्दस्याधस्तादुपपादितमेवेति न तेषां मतं रोचयामहे ।

नन्वौत्पत्तिकसूत्रे व्यक्तिरूपपदार्थस्यानित्यत्वेन प्राप्तं वेदस्यानित्यत्वं जातेः पदार्थतामुपपाद्य परिहृतम् तदनर्थकम् (बर्बरःप्रावाहणिरकामयत) (कुस्तुविन्दऔद्दालकिरकामयत) इत्यादिवेदवाक्यानां प्रावाहण्याद्युत्पतेःप्रागसत्त्वनिश्चयेन सादितया पौरुषयत्वापत्तितादवस्थ्यात् । नहि येषां चरितं येषु ग्रन्थेषूपनिबध्यते तेषां जन्मनः प्रागपि ते ग्रन्था आसन्निति संभावयितुमपि शक्यते ।

तथाच भगवान् जैमिनिः १ अध्याये १ पादे—

अनित्यदर्शनाच्च २८ इति

अनित्यानाम् जननमरणवतां पुरुषाणाम् प्रावाहण्यादीनाम् दर्शनाच्च प्रतिपादनदर्शनात् अपि एके वेदान् सन्निकर्षमाहुरित्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

और प्रबल बाधक नहीं सूझता कि ऐसे अपार वेदरूप ग्रन्थसागर का यदि कोई कर्ता होता तो आज तक उसकी स्मरणपरम्परा क्यों न होती । और यह भी नहीं समझते कि उन्हीं के मत में जैसे आकाश आदि नित्य पदार्थों के कर्ता न होने पर भी परमेश्वर जगत् के कर्ता होते हैं वैसे ही वैदिक-दर्शनों के मत में भी नित्यवेद के कर्ता न होने पर भी क्या परमेश्वर जगत् के कर्ता नहीं हो सकते ? क्या कोई कर्ता, नित्य पदार्थ का भी होता है ? और शब्द का नित्य होना भी पूर्व में भलीभाँति सिद्ध ही किया गया है । इन कारणों से इस विषय में हम तार्किकमत को उचित नहीं समझते ।

प्रश्न (१)—पूर्व में "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इस सूत्र पर कहे हुए १६ सिद्धान्तों में से जो ११ वाँ सिद्धान्त यह कहा गया कि गौआदि व्यक्तियाँ यदि शब्द का अर्थ मानी जायँ, तो वे अनित्य हैं इससे वेद अनित्य हो जायगा क्योंकि तब यह मानना पड़ैगा कि आदिसृष्टि के समय जब गौ आदि पदार्थ प्रथम उत्पन्न हुए उस समय किसी पुरुष ने उन अर्थों में गौ आदि शब्दों का सम्बन्ध लगा दिया । तो वेद पौरुषेय हो गया क्योंकि वे ही शब्द वेद में भी हैं । इस दोष के वारण के लिये यह सिद्ध किया गया है कि गोत्व आदि जाति ही गौ आदि शब्द के अर्थ हैं जोकि नित्य हैं, सो यह सिद्धान्त करना व्यर्थ ही है क्योंकि अनित्य अर्थ वेद ही में कई स्थानों पर कहा हुआ है जैसे "बर्बरः प्रावाहणिरकामयत" "कुस्तुविन्द औद्दालकिरकामयत" इत्यादि । प्रथम का यह अर्थ है कि प्रवाहण के लड़के बर्बर ने चाहा । और दूसरे का यह अर्थ है कि उद्दालक के लड़के कुस्तुविन्द ने चाहा, इत्यादि । अब इन वेदवाक्यों के देखने से स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि बर्बर आदि की उत्पत्ति से प्रथम ये वाक्य नहीं थे क्योंकि जिस पुरुष का चरित्र जिस ग्रन्थ में कहा जाता है उस पुरुष की उत्पत्ति से प्रथम वह ग्रन्थ नहीं रहता और बर्बर आदि तो नित्य नहीं हो सकते क्योंकि वे प्रवाहण आदि के लड़के हैं इस रीति से जब वेद पौरुषेय है तब पुरुष के भ्रमादिरूपी साधारणदोषों से दुष्ट हो गया इसलिये कैसे प्रमाण हो सकता है ?

इस प्रश्न को अध्याय १ पाद १ अनित्यदर्शनाच्च सूत्र २८ से जैमिनिमहर्षि ने स्वयम् किया है । और उसी सूत्र पर द्वितीयश्लोक से वार्त्तिककार ने भी वर्णन किया है ।

वार्तिकंच

अनपेक्षत्वसूत्रे या रूपात्कृतकतोदिता। वेदे सा दृश्यते स्पष्टा कृतकार्थाभिधायिनि ॥१॥ इति।

किञ्च वेदेषु "वनस्पतयःसत्रमासत" "गावो वा सत्रमासत" इत्यादिदर्शनादुन्मत्तवाक्यत्वमेव तेषाम्। प्रागेव तु निरपेक्षं प्रामाण्यमितिचेत्। न। तत्रैव—

परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ३१

इतिसूत्रेणैव प्रथमाक्षेपस्य समाधानात्। अस्यार्थस्तु, यद्यपि बर्बरः प्रावाहणिरित्यस्ति परंतु श्रुतिः प्रावाहण्यादिपदम् सामान्यमात्रम् कालजातिविशेषाद्यविशेषितस्य उपदेशसौकर्याय देवदत्तयज्ञदत्तादिवत्कल्पितपुरुषसामान्यस्यैवाभिधायकम् नतु कालविशेषजातिविशेषाद्यवच्छिन्नस्याभिधायकमिति।

युक्तं चैतत्। यदि हि प्रावाहण्यादिशब्दैः पुरुषविशेषा उच्येरन् तदा तेषामुत्पत्त्यादिकमपि क्वचिद्विशिष्यवर्ण्येत नतु तथा वर्णितं क्वचिदपिवेदे। आख्यायिकासु च कल्पितैरेव नामभिर्व्यपदेशो बहुशो दृश्यते लोके तथैव वेदेऽपि, किंच एतावता महता प्रबन्धेन वेदस्य नित्यत्वे करतलामलकवत् प्रतिपादिते लौकिकीष्वप्याख्यायिकासु यानि नामानि नानित्यान् पुरुषविशेषान्विशिष्य नियमेनोपस्थापयन्ति वेदे तानि तानुपस्थापयेयुरिति संभावयितुमपि न शक्यमितरत्रामूयादिभ्यः।

॥ भाषा ॥

(२) वेद के स्वतन्त्र प्रमाण होने की आशा तो बहुत ही दूर है क्योंकि थोड़े ही विचार से यह निश्चय होता है कि वेद, किसी उन्मत्त के वाक्य हैं क्योंकि उन में कहा है कि 'वृक्षों ने यज्ञ किया' 'गौओं ने यज्ञ किया, इत्यादि, तो ऐसी दशा में वेद को स्वतन्त्र प्रमाण कहना कैसा है?

प्रथम प्रश्न के उत्तरों को, पूर्वोक्त सूत्र के अनन्तर अर्थात् 'परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्' ३१ इस सूत्र से जैमिनिमहर्षि ने दिया है जो ये हैं कि—

उत्तर—(१) यदि बर्बर आदि शब्दों का किसी पुरुषविशेष में तात्पर्य होता तो अवश्य यह प्रश्न उचित होता, सो तो है नहीं क्योंकि बर्बर आदि की उत्पत्ति आदि का वृतान्त कहीं वेद में नहीं वर्णित है प्रसिद्ध है कि जिस पुरुष का जीवनचरित्र जिस ग्रन्थ में वर्णन किया जाता है उस में उसकी उत्पत्ति से ले कर बहुत से चरित्रविशेष, रूप और गुण, उचित क्रम से कहे जाते हैं। हां आख्यायिकाओं और उपन्यासों में देवदत्त यज्ञदत्त आदि कल्पितनामों से व्यवहार लोक में देखा जाता है वैसे ही वैदिकआख्यायिकाओं में भी उपदेश की सुगमता के लिये बर्बर आदि कल्पित नामों का ग्रहण है तो इतने मात्र से वेद पौरुषेय नहीं हो सकता।

(२) थोड़े ही विचार से इस प्रश्न की क्षुद्रता, पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होती है कि जब लोक की तुच्छ २ आख्यायिकाओं में भी निवेशित देवदत्तादिरूप कल्पितनामों में यह योग्यता नहीं है कि वे किसी अनित्य पुरुषविशेष का श्रृङ्गग्राहिका (सींग पकड़ कर प्रत्यक्ष समझाना कि यही गौ है) न्याय से नियमपूर्वक बोध करा सकें तब ऐसी दशा में जिस वेद की सत्यता इतने २ दुर्भेद्य प्रमाणों, और तर्कों से करकङ्कण के नाईं यहां तक प्रत्यक्ष कर दी गई है उस वेद की आख्यायिकाओं में निवेशित बर्बरादिरूपी कल्पित नामों से अनित्य पुरुषविशेष के बोध की आशा (जो कि

तथाच अत्र सूत्रे वार्तिकम् ।

अनित्यार्थाभिधायित्वं स्वयमेवैष मुञ्चति । नित्यानित्यविकल्पेन वेदस्तादर्थ्यवर्जनात् ॥१३॥
नित्यस्य नित्यएवार्थः कृतकस्याप्रमाणता ॥ इति ।

एवं वैदिकलुङादीनां कालसामान्यार्थत्वमपि वक्ष्यते ।

एवं द्वितीयोऽप्याक्षेपो जैमिनिनैव परिहृतः ।

तथाचसूत्रम् तत्रैव—

कृते वा नियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ३२ इति ।

कर्मणः कर्मप्रतिपादकवाक्यस्य सम्बन्धात् परस्परसाकाङ्क्षपदघटितत्वात् वनस्पतयइत्यादीनामपि कृते प्रकृते कर्मणि स्तुतिद्वारा विनियोग इत्यर्थः । अयंभावः । नहि वनस्पतयइत्यादिवाक्यानि कथंचिदप्यनन्वितार्थकानि । क्रियाकारकसम्बन्धस्य तेषु स्पष्टत्वात् नापि वाधितार्थकत्वेन दुष्टानि । एतादृशेषु लौकिकेष्वपि वाक्येषु तादृशबाधस्यादूषणत्वात् प्रत्युत भूषणत्वाच्च । लोके हीदृशे विषये उपपादकस्य वाक्यार्थस्य बाधेनैवोन्नीतेन स्तुतौ निंदायां वा तात्पर्य्येण प्रकृतो वाक्यार्थः स्तुत्या निन्दया वा दृढतरनिश्चयविषयत्वेनोपपाद्यते । ईदृश्येव च विषये कैमुत्यन्यायमुदाहरन्ति लौकिकाः यथा 'मद्गुरूणां, पादाङ्गुष्ठोऽपीदृशीः शङ्का-

॥ भाषा ॥

काष्ठ, से पुत्र की आशा के तुल्य है) कैसे बिना किसी द्वेष, असूया आदि प्रबल अन्तःकरणदोष के किसी को हो सकती है । इन बातों को इसी ३१ वें सूत्र पर वार्तिककार ने डेढ़ श्लोकों में कहा है।

उत्तर—दूसरे प्रश्न का यह है कि "वृक्षों ने यज्ञ किया" "गौओं ने यज्ञ किया" इन वाक्यों में यदि प्रश्न किया जाय कि कौन सा दोष है जिस से कि ये उन्मत्तवाक्य कहे जा सकते हैं ? तो पूर्वपक्षी को कौन कहे कोई भी इन में दोष नहीं दिखला सकता । क्योंकि यह तो कह नहीं सकते कि पदों का अन्योन्यसम्बन्ध इन वाक्यों में ठीक नहीं है । क्योंकि वृक्षरूप कर्ता, यज्ञरूप कर्म और क्रिया का परस्परसम्बन्ध इन वाक्यों में वैसा ही है जैसा कि अन्यवाक्यों में हुआ करता है ।

प्रश्न—जब वृक्षरूपी कर्ता अचेतन है और यज्ञ करना चेतन का काम है तब वृक्ष में यज्ञ करने का असंभव है इस रीति से जब वाक्यार्थ ही का बाध है तब "मेरी माता बन्ध्या है" ऐसे वाक्यों की अपेक्षा इन वाक्यों में क्या विशेष है इस रीति से इन वाक्यों में अर्थबाधरूप दोष क्या नहीं है ?

उत्तर—अर्थबाध तो अवश्य है किन्तु वह दोष नहीं है उलटे गुण है क्योंकि जो वाक्य जिस अर्थ के बोध के लिये कहा जाता है उस अर्थ का बाध उस वाक्य में दोष होता है जैसे "मेरी माता बन्ध्या है" यह वाक्य इस वाक्य के वाच्यार्थ (अपने माता के बन्ध्या होने) के बोधार्थ कहा जाता है और वह अर्थ बाधित है क्योंकि जब माता है तब बन्ध्या कैसे ? इसी से इस वाक्य में अर्थबाध दोष है । और जो वाक्य अपने वाच्यार्थ के बोधार्थ नहीं उच्चारित होते किन्तु उस का तात्पर्य किसी अन्यवाक्यार्थ की स्तुति वा निन्दा में होता है उन वाक्यों में अर्थबाध गुण ही है जैसे "मेरे गुरुओं का चरणाङ्गुष्ठ भी ऐसी २ शङ्काओं का समाधान अनेकवार कर चुका है गुरुओं की तो चर्चा ही क्या है" इत्यादि । क्योंकि अचेतन चरणाङ्गुष्ठ में समाधान

असकृत्समाधित किमुत गुरवः" "ईदृशीमाशङ्कां सुरगुरुरपि न प्रतिविधातुमीष्टे किमुत त्वम्' "मम माता बन्ध्या योऽहं न जातु भगवन्त मसेविषि" इत्यादौ। अत्रहि पूर्ववाक्यस्य वाच्यार्थ-बाधोऽपि मुख्यतात्पर्य्यार्थाबाधाददोषः। एवमेव वेदेऽपि वनस्पतयइत्यादि वाक्यं न स्वाक्षरार्थे पर्य्यवसिततात्पर्य्यं येन तद्बाधो दूषणमावोढुं शक्नुयात् किंतु वनस्पत्यादयो जडा अपि सत्रमनुतष्ठुः किमुत विद्वांसः सत्रमनुतिष्ठेयुरित्यत्र संशय इति रीत्या प्रकृतस्य सत्रस्य स्तुतावेव तस्य तात्पर्य्यम्। अस्मिँश्च तात्पर्य्यार्थे स्तुतिरूपे किं नाम बाधसाध्वसम्। एवमेव निन्दावाक्येषु "अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः" इत्यादिष्वपि बोध्यमिति। अतएव वेदविषये माधवपाराशरे आचारकाण्डे—

यदर्थं सृष्टिसंहारौ संक्षिप्योक्तौ तत् प्रवाहनित्यत्वमिदानीमाह पराशरः

न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः। तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे ॥२१॥ इति

स्मृतिनिर्णेतॄणां मन्वादीनां स्मृतिकर्तृत्वदर्शनात् तथैव श्रुतिनिर्णेतॄणामपि वेदकर्तृत्व-माशङ्क्य निराचष्टे। न कश्चित् इति। न तावत् व्यासो वेदकर्ता, तस्य विभागमात्रकारित्वात् नापि चतुर्मुखः, ईश्वरेण चतुर्मुखाय वेदप्रदानात् नापि जगदीश्वरः, तस्यासिद्धवेदाभिव्यञ्जकत्वात्

॥ भाषा ॥

के बाध ही होने से इस वाक्य का तात्पर्य, इस वाक्य के वाच्यार्थ को छोड़ कर गुरु की स्तुति में ही निश्चय किया जाता है अर्थात् यदि बाध न होता तो इस वाक्य का भी इस के वाच्यार्थ ही में अन्यवाक्यों के नाईं तात्पर्य लगाया जाता और उस दशा में इस वाक्य से गुरुओं की स्तुति कदापि न निकलती। अथवा 'मेरी माता वन्ध्या है' यह वाक्य, यदि इस तात्पर्य से कहा जाय कि जब मैंने परमेश्वर की सेवा कभी नहीं किया है तब मेरा जन्म व्यर्थ ही है, तो इस में अर्थबाध दोष नहीं है। अब प्रकृत विषय पर ध्यान देना चाहिये कि उक्त वेदवाक्य, यज्ञविधियों के समीप पढ़ा है और इसका तात्पर्य अपने वाच्यार्थ में नहीं है किन्तु यज्ञ की स्तुति में है कि यज्ञ ऐसा उत्तम काम है कि जिसको वृक्षादि जड़ों ने भी किया तो ऐसी दशा में यदि विद्वान् लोग यज्ञकरैं तो इस में आश्चर्य ही क्या है। निदान जब ऐसे वाक्यों के वाच्यार्थों का बाध गुण ही है न कि दोष, और स्तुतिरूपी तात्पर्यार्थ में तो बाधभय का संभव ही नहीं है तो ऐसी दशा में उन्मत्तों से अन्य कोई पुरुष ऐसे अत्युत्तम वाक्यों को उन्मत्तवाक्य नहीं कह सकता। यही न्याय, वेदोक्त निन्दावाक्यों में भी समझना चाहिये। जैसे "अपशवो वा अन्ये गो अश्वेभ्यः" (गौ और अश्व से अन्य महिषादिक पशु ही नहीं हैं) इत्यादि। इस उत्तर को जैमिनिमहर्षि ने पूर्वोक्त सूत्र के अनन्तर "कृते वा नियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्" इस ३२ वें सूत्र से कहा है।

माधवपाराशर धर्मग्रन्थ के आचारकाण्ड में भी पराशरस्मृति के श्लोक २१ पर वेद की अपौरुषेयता सिद्ध की गई है जिसका विवरण यह है कि व्यास, वेदकर्ता नहीं हैं क्योंकि वे वेद का विभागमात्र करते हैं और ब्रह्मा भी वेदकर्ता नहीं हैं क्योंकि परमेश्वर ने उन को वेद दिया, एवं जगदीश्वर भी वेदकर्ता नहीं हैं क्योंकि वे भी अनादि सिद्ध ही वेद का प्रकाश मात्र करते हैं। इस विषय में मत्स्यपुराण के वाक्य प्रमाण हैं जिनका यह अर्थ है कि ए ब्राह्मणों!

। तदुक्तं मत्स्यपुराणे ।

अस्य वेदस्य सर्वज्ञः कल्पादौ परमेश्वरः । व्यञ्जकःकेवलं विप्रा नैव कर्ता न संशयः ॥
ब्रह्माणं मुनयः पूर्वं सृष्ट्वा तस्मै महेश्वरः। दत्तवानखिलान् वेदान् विप्रा आत्मनि संचितान् ॥
ब्रह्मणा चोदितो विष्णु र्व्यासरूपी द्विजोत्तमाः। हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः॥

इति, कठादीनां तु तत्कर्तृत्वं दूरापास्तम् उपपत्तयस्तु वेदापौरुषेयत्वाधिकरणे द्रष्टव्याः। ननु शास्त्रयोनित्वाधिकरणे ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वदार्ढ्याय वेदकर्तृत्वं व्यासेन सूत्रितम् तेनैव देवताधिकरणे वेदनित्यत्वमपि (अतएव च नित्यत्वम्) (शारी० १ अ० ३ पाद २९ सू०) इति सूत्रेण प्रदर्शितम् एवं तर्हि विरोधः परिहर्तव्यः। उच्यते वर्णानां पदार्थतत्सम्बन्धानां वाक्यानां चानित्यत्वं वैशेषिकनैयायिकादयो वर्णयन्ति तान् प्रति मीमांसकाः प्रथमपादे कालाकाशादीनामिव वर्णानां नित्यत्वं वर्णयामासुः "व्यवहारेभट्टनयः" इत्यभ्युपगमं सूचयितुं देवताऽधिकरणे तदेव व्यावहारिकं नित्यत्वं सूत्रितम्। अतः कालिदासादिग्रन्थेष्विव वेदेष्वर्थावबोधपूर्विकायाः पदविशेषावापोद्धापाभ्यां प्रवृत्ताया वाक्यरचनाया अभावादपौरुषेयत्वं युक्तम्। ब्रह्मविवर्तत्वं वियदादेरिव वेदस्याप्यस्तीति मत्वा शास्त्रयोनि-

॥ भाषा ॥

महाकल्प (ब्रह्मदेव का पूर्ण जीवनकाल) के आदि समय में सर्वज्ञ परमेश्वर इस वेद का केवल प्रकाश मात्र करता है इसमें कुछ भी संदेह नहीं है कि वह वेदकर्ता नहीं है। ए मुनियों ब्राह्मणों! परमेश्वर प्रथम २ ब्रह्मा को उत्पन्न कर अपने में अनादि काल से स्थित पूर्ण वेद को ब्रह्मा के हृदय में प्रवेश करा देता है। ए द्विजोत्तमो! सब प्राणियों के कल्याणार्थ, ब्रह्मा से प्रेरित व्यासरूपी विष्णु वेद का ऋग्वेदादिरूपी विभाग करते हैं इति। कठ आदियों के वेद के कर्ता होने का संभव तो दूर ही से परास्त हो गया। क्योंकि उसके खण्डन की युक्तियां, वेदापौरुषेयत्व के अधिकरण (जो अभी पूर्व में लिख आये हैं) में पूर्णरूप से दिखलाई गई हैं।

प्रश्न—वेदान्तदर्शन के तीसरे अधिकरण (अ. १ पा. १ सूत्र ३ 'शास्त्रयोनित्वात्' में श्री वेदव्यास जी ने परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्ति की दृढ़ता के लिये उनको वेदकर्ता, और देवताधिकरण (अ. १ पा. ३ सूत्र २९ अतएवच नित्यत्वम्) में वेद को नित्य कहा है इन दो सूत्रों में अन्योन्य विरोध के वारण का कौन सा उपाय है।

उत्तर—नैयायिक आदि, वर्णों, पदों, उनके अर्थों, पद और अर्थ के अन्योन्य सम्बन्ध, और वाक्यों को अनित्य कहते हैं। तथा मीमांसादर्शन अध्याय १ पा. १ अधिकरण ६ (जो इस ग्रन्थ में पूर्वही आ चुका है) से मीमांसकगण ने उनके मत के खण्डनपूर्वक, आकाशादि के नाईं वर्णों की नित्यता सिद्ध की है। और वेदान्तदर्शन के ग्रन्थों में यह कहा है कि "व्यवहारे भट्टनयः" जिस का यह तात्पर्य है कि परमार्थदशा में पूर्व और उत्तरमीमांसा के मत से यद्यपि यह भेद है कि पूर्वमीमांसा विश्व को वस्तुतः सत्य सिद्ध करती है, और उत्तरमीमांसा (वेदान्तदर्शन) विश्व को मिथ्या सिद्ध कर ब्रह्म ही को नित्य बतलाती है तथापि व्यवहारदशा में, पूर्वमीमांसा के वार्तिक में श्री कुमारिल भट्टपाद ने जो २ सिद्धान्त किया है वे ही सब सिद्धान्त व्यवहारदशा में वेदान्तदर्शन को भी अनुमत हैं। तस्मात् उक्त ६ठें अधिकरण में भट्टपाद ने जो वर्णों की नित्यता सिद्ध की है वही व्यावहारिकनित्यता व्यासदेव ने "अतएव च नित्यत्वम्" इस सूत्र से दिखलाई है।

त्वाधिकरणे वेदकर्तृत्वं ब्रह्मणो दर्शितम् अतएव भट्टपादाः सत्यपि पुरुषसम्बन्धे स्वातन्त्र्यं निवारयामासुः—

" यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता " इति ।

तस्मात् " स्वतन्त्रःकर्ता " (पा. १ अ. ४ पाद. ५४ सूत्र.) इत्यनेन लक्षणेन लक्षितः कर्ता न कोऽपि वेदस्यास्ति। चकारः तुशब्दार्थे वर्तमानो वैलक्षण्यमाह। सन्ति हि बहवश्चतुर्मुखमनुप्रभृतयः स्मृतिकर्त्तारः वेदकर्ता न कोऽपीति वैलक्षण्यम् (वेदं स्मृत्वा) इत्यत्र वाक्ये अनुषङ्गन्यायेन द्वितीयार्द्धगतं पदत्रयमन्वेतव्यम् अनुषङ्गन्यायश्च द्वितीयाध्यायप्रथमपादे वर्णितः तथाहि ज्योतिष्टोमप्रक्रियायाम् उपसदाख्युपहोमेषु त्रयो मन्त्राः श्रूयन्ते " यातेऽग्नेरयाशया रजाशया हराशया तनूर्वर्षिष्ठागह्वरेष्ठा उग्रंवचोअपावधीत् त्वेषंवचोअपावधीत् स्वाहा " इति तत्र रयाशया, रजाशया, हराशया, इति पदभेदान्मन्त्रभेदः तत्र प्रथममन्त्रस्य तनूरित्यादिवाक्यशेषापेक्षास्ति चरममन्त्रः यातेऽग्नेइत्यदो वाक्यमपेक्षते मध्यमन्त्रस्त्वाद्यन्तावपेक्षते। तत्रैवं संशयः किमपेक्षितार्थपरिपूरणाय लौकिकः कियानपि पदसंदर्भोऽध्याहरणीयः किं वा श्रूयमाणं पदजातमनुषञ्जनीयम् इति । वाक्यादेः प्रथममन्त्रेणैव सम्बन्धात् वाक्यशेषस्य चरममन्त्रेणैव सम्बन्धात् लौकिकाध्याहारः इति पूर्वपक्षः। वैदिकाकाङ्क्षायाः सतिसंभवे वैदिकशब्दैरेव पूर्णीयत्वात् अन्यमन्त्रसंबद्धानामपि पदानां बुद्धिस्थत्वेनाध्याहार्येभ्यः पदेभ्यः प्रत्यासन्नत्वाच्चानुषङ्ग एव कर्तव्यो नाध्याहारः इति सिद्धान्तः । एवं च सति प्रकृतेपि 'कल्पान्तरे धर्मान स्मरति' इति पदत्रयं पूर्वार्द्धेऽनुषञ्जनीयम् चतुर्मुखस्तस्मिँस्तस्मिन्महाकल्पे परमेश्वरेण दत्तं वेदं स्मृत्वा तत्र प्रकीर्णान वर्णाश्रमधर्मान सङ्कलय्य स्मृतिग्रन्थस्वरूपेण उपनिबध्नाति तथाच पितामहवचनानि तत्र तत्र निबन्धनकारैरुदाहि-

॥ भाषा ॥

निदान वेदों का उच्चारण यद्यपि पुरुष के अधीन है तथापि जैसे भारतादि ग्रन्थों की रचना व्यासादि के अधीन थी वैसे वेद वाक्यों में रचना ही नहीं है जोकि पुरुष के अधीन हो इसी से वेद अपौरुषेय है। और "शास्त्रयोनित्वात" इस व्याससूत्र का तो यह तात्पर्य है कि जैसे व्यावहारिकनित्य भी आकाशादि पदार्थ, ब्रह्म के विवर्त (मायाकल्पित) हैं वैसे ही वेद भी, इसी से ब्रह्म, वेद का कर्ता है , इति । अब दोनों सूत्रों में विरोध कहां रह गया । और भट्टपाद ने भी स्पष्टरूप से यह कहा है कि हम यह नहीं कहते कि वेद के उच्चारण का कोई कर्ता नहीं है किन्तु यही कहते हैं कि उच्चारणपरंपरा तो गुरुशिष्यपरंपरा के अनुसार वेद की अनादिकाल से चली ही आती है परन्तु अन्य ग्रन्थों के नाई वेद का स्वतन्त्र कर्ता अर्थात बनानेवाला कोई नहीं है।

पराशरस्मृति के उक्त २१ श्लोक का वाक्यार्थ तो यह है कि वेद का कर्ता कोई नहीं है किन्तु प्रत्येक महाकल्प (ब्रह्मा का जीवनसमय) के आदि में परमेश्वर के दिये हुए अनादिसिद्ध वेद को स्मरण कर, उस वेद में अनेक भिन्न २ स्थानों पर कहे हुए वर्णधर्मों और आश्रमधर्मों को विचारपूर्वक एकत्रित कर, ब्रह्मदेव एक स्मृतिस्वरूप ग्रन्थ बनाते हैं और हर एक अवान्तरकल्प (ब्रह्मदिन) के अपने मन्वन्तर में उसी ग्रन्थ के अनुसार स्वायम्भुव मनु आदि, वेदोक्त धर्मों का स्मृतिग्रन्थ बनाते हैं, जिनको मनुस्मृति आदि कहते हैं इति। और ठीक भी यही है क्योंकि अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों में जो श्लोक, 'पितामहवाक्य' कह कर स्थान २ पर उद्धृत हैं वे उसी ब्रह्मस्मृति के हैं। यद्यपि वह-

यन्ते । चतुर्मुखस्य स्मृतिशास्त्रकर्तृत्वं मनुनाऽप्युक्तम्—

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः । विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादीनहं मुनीन् ॥

इति । यथा चतुर्मुखः तथैव च स्वायम्भुवो मनुः तस्मिन्नवान्तरकल्पे वेदोक्तधर्मान् ग्रथ्नाति । मनुग्रहणेन अत्रियाज्ञवल्क्यविष्ण्वादय उपलक्ष्यन्ते तदेवं प्रतिमहाकल्पं तेन तेन चतुर्मुखेन प्रत्यवान्तरकल्पं च तैस्तैर्मन्वादिभिः स्मृतिप्रणयनात् धर्मादेः प्रवाहनित्यत्वं सिद्धम् एतदेवाभिप्रेत्याश्वमेधिके पर्वणि पठ्यते—

युगेष्वावर्तमानेषु धर्मोऽप्यावर्त्तते पुनः । धर्मेष्वावर्त्तमानेषु लोकोऽप्यावर्तते पुनः ॥ इति ।

एवम् वेदस्य नित्यत्वमुत्तरमीमांसायां भगवता बादरायणेनापि प्रतिपादितम् तच्च देवतापूजनरूपद्वात्रिंशत्तमसामान्यधर्मनिरूपणे देवताविग्रहसाधनावसरे प्रसङ्गतःसमुपन्यसिष्यते । नचेहोपन्यस्यते ऽतिविस्तरभयात् ।

यत्तु संमतितर्कटीकायां तत्त्वबोधविधायिन्याम् अभयदेवसूरिणाजैनेन—

शब्दसमुत्थस्य तु अभिधेयविषयज्ञानस्य यदि प्रामाण्यमभ्युपगम्यते, तदाऽपौरुषेयत्वस्यासंभवाद् गुणवत्पुरुषप्रणीतस्तदुत्पादकः शब्दोऽभ्युपगन्तव्यः । अथ तत्प्रणीतत्वं नाभ्युपगम्यते, तदा तत्समुत्थज्ञानस्य प्रामाण्यमपि न स्यादित्यभिप्रायवानाचार्यः प्राह—

"जिनानाम्" रागद्वेषमोहलक्षणान् शत्रून् जितवन्त इति जिनास्तेषाम् ।

"शासनम्" तदभ्युपगन्तव्यमिति प्रसङ्गसाधनम् । इत्युपक्रम्योक्तम्—

"अथापिस्यात्" यदि प्रामाण्यापवादकदोषाभावो गुणनिमित्तएव भवेत्, तदास्यादेतत्प्रसङ्गसाधनम्, यावताऽपौरुषेयत्वेनापि तस्य संभवात् कथं प्रसङ्गसाधनस्यावकाशः ।

॥ भाषा ॥

ब्रह्मस्मृति बहुत समय से लुप्त हो गई तथापि उसके होने में कोई संदेह नहीं है क्योंकि प्रसिद्ध मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में स्वायम्भुव मनु ही ने मुक्तकण्ठ होकर स्वयं कहा है कि "इस शास्त्र को तो बना कर ब्रह्मदेव (मेरे पिता) ने प्रथम २ उचित रीति से मुझी को स्वयं पढ़ाया । अनन्तर अपने पुत्र मरीचि आदि मुनियों को मैंने इस ग्रन्थ को पढ़ाया" यहां यह जो कहा गया कि मनु, धर्मशास्त्र बनाते हैं सो उदाहरणमात्र है अर्थात् अत्रि याज्ञवल्क्य आदि अनेक ऋषि कल्प २ में धर्मशास्त्र बनाते हैं इति ।

इस से यह सिद्ध हो गया कि जैसे सृष्टिसंहार का प्रवाह अनादि और अनन्त है वैसे ही वेद भी । यहां तक माधवपाराशर के विवरण से भी यह सिद्ध हो गया कि वेद अपौरुषेय है । ऐसे ही उत्तरमीमांसादर्शन में भगवान व्यास ने भी वेद की नित्यता प्रतिपादन किया है परन्तु इस प्रकरण के अतिविस्तरभय से वह यहां नहीं कहा जाता किन्तु देवतापूजनरूपी ३२ वें सामान्यधर्म के निरूपण में देवताओं के शरीर सिद्ध करने के अवसर पर प्रसङ्ग से कहा जायगा । तथा 'परिखापरिष्कार' में भी बुद्धादिवाक्यों के वेदत्वखण्डन में इस विषय पर कहा जायगा ।

स्वतःप्रामाण्य के प्रकरण में जो तत्त्वबोधविधायनी का भाग पूर्व ही दूषित हो चुका है उसके पश्चात् **अभयदेवसूरि** ने अपने उसी **तत्त्वबोधविधायनी** नामक ग्रन्थ में वेद के अपौरुषेयत्व का जो खण्डन किया है उसका तात्पर्य यह है कि "वेदका अपौरुषेय होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता क्योंकि "**अपौरुषेय**" इस शब्द का पुरुष से वेद की रचना का न होना अर्थ

असदेतत् । अपौरुषेयत्वस्यासिद्धत्वात् । तथाहि किमपौरुषेयत्वं शासनस्य, प्रसज्यप्रतिषेधरूपमभ्युपगम्यते, उत पर्युदासरूपम् । तत्र यदि प्रसज्यरूपम्, तदा किं सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम्, उत अभावप्रमाणवेद्यम् । यदि सदुपलम्भकप्रमाणग्राह्यम् । तदयुक्तम् सदुपलम्भकप्रमाणविषयस्याभावत्वानुपपत्तेः । अभावत्वे वा न तद्विषयत्वम् । तस्य तद्विषयत्वविरोधात् । अनभ्युपगमाच्च अभावप्रमाणग्राह्यत्वाभ्युपगमे च वक्तव्यम् । किमभावप्रमाणं ज्ञानविनिर्मुक्तात्मलक्षणम्, उत अन्यज्ञानस्वरूपम् ? प्रथमपक्षेपि किं सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मस्वरूपम् आहोस्वित् निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मलक्षणम् इति । प्रथमपक्षे नाभावपरिच्छेदकत्वम् । परिच्छेद्यस्य ज्ञानधर्मत्वात्, सर्वथा ज्ञानविनिर्मुक्तात्मनि च तदभावात् । निषेध्यविषयप्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तात्मनोपि नाभावव्यवस्थापकत्वम् । आगमान्तरेऽपि तस्यसद्भावेन व्यभिचारात् । तदन्यज्ञानमपि यदि तदन्यसत्ताविषयं स्यात् नाभावप्रमाणं स्यात् । तस्य सद्विषयत्वविरोधात्, पौरुषेयत्वादन्य स्तदभावः तद्विषयज्ञानं तदन्यज्ञानम् अभावप्रमाणमिति चेत् । अत्रापि वक्तव्यम् किमस्योत्थापकम् प्रमाणपञ्चकाभावश्चेत् नन्वत्रापि वक्तव्यम् । किमात्मसंवन्धी, सर्वसंबन्धी वा प्रमाणपञ्चकाभावस्तदुत्थापकः ? न सर्वसंबन्धी, तस्यासिद्धत्वात् नात्मसंवन्धी तस्य आगमान्तरेऽपि सद्भावेन व्यभिचारात् । आगमान्तरे परेण पुरुषसद्भावाभ्युपगमात् प्रमाणपञ्चकाभावो नाभावप्रमाणसमुत्थापक इतिचेत् । न पराभ्युपगमेभवतोऽप्रमाणत्वात् । प्रमाणत्वे वा वेदेऽपि नाभावप्रमाणप्रवृत्तिः परेण तत्रापि कर्तृपुरुषसद्भावाभ्युपगमात् प्रवृत्तौ चागमान्तरेऽपि स्यात् अविशेषात् नच वेदे पुरुषाभ्युपगमःपरस्य मिथ्या । अन्यत्रापितन्मिथ्यात्वप्रसक्तेः किंच प्रमाणपञ्चकाभावः किं ज्ञातोऽभावप्रमाणजनकः, उताज्ञातः । यदि ज्ञातः, तदा न तस्यापरप्रमाणपञ्चकाभावाद् ज्ञप्तिः अनवस्थाप्रसङ्गात् नापिप्रमेयाभावात् इतरेतराश्रयदोषात् । अथाज्ञातस्तज्जनकः न समयानभिज्ञस्यापि तज्जनकत्वप्रसङ्गात् नचाज्ञातःप्रमाणपञ्चकाभावोऽभावज्ञानजनकः कृतयत्नस्यैव प्रमाणपञ्चकाभावोऽभावज्ञापक इत्यभिधानात् नच इन्द्रियादेरिव अज्ञातस्यापि प्रमाणपञ्चकाभावस्याभावज्ञानजनकत्वम् । अभावस्य सर्वशक्तिरहितस्य जनकत्वविरोधात् अविरोधे

॥ भाषा ॥

है ? अथवा यह अर्थ है कि वेद, पुरुष की रचित सब वस्तुओं से अन्य है ? ” यदि प्रथम पक्ष को मीमांसक स्वीकार करें तो 'अपौरुषेय' शब्द का उक्त अभावरूपी अर्थ में प्रत्यक्ष आदि (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति) पांच प्रमाण नहीं मिल सकते क्योंकि वे प्रमाण, मीमांसक के मत में घटादिरूपी भाव पदार्थ ही का बोध कराते हैं न कि अभाव का अर्थात् रचना होना ही इस प्रमाण से सिद्ध हो सकता है न कि 'न होना' और यदि कहा जाय कि अभाव नामक छठें प्रमाण से, रचना का न होना सिद्ध होता है अर्थात् वेद की रचना में उक्त पांच प्रमाणों के न मिलने ही से रचना का अभाव सिद्ध है. तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि यह निश्चय हो ही नहीं सकता कि सब पुरुषों की किसी काल में वेद की रचना में पांच में से कोई प्रमाण नहीं मिला वा नहीं मिलता अथवा नहीं मिलेगा, प्रसिद्ध है कि एक जीव को अन्य सब जीवों के हृदयस्थ समाचार का निश्चय नहीं हो सकता । और यदि मीमांसकों को वेद की रचना

च भावेऽपि अभाव इति नाम कृतं स्यात्। न तुच्छात्तद्भावात्तद्भावज्ञानम् किन्तु प्रमाणपञ्चकरहितात्मन इति चेत् न आगमान्तरेऽपि तथाभूतस्यात्मनः संभवात् अभावज्ञानोत्पत्तिः स्यात्। प्रमेयाभावोऽपि तद्धेतुः; तदभावान्नागमान्तरेऽभावज्ञानमिति चेत् न। अभावाभावःप्रमेयसद्भावः, तस्य प्रमाणान्तरेणानिश्चये कथमभावाभावप्रतिपत्तिः अभाव ज्ञानाभावात्तत्प्रतिपत्तिः न सदुपलम्भकप्रमाणसद्भावात् इति चेत् न। अभावज्ञानस्य प्रमेयाभावकार्यत्वात् तदभावान्नाभावाभावावगतिः। कार्याभावस्य कारणाभावव्यभिचारात् अप्रतिबद्धसामर्थ्यस्याभावप्रतीतावपि नेष्टसिद्धिः कचित्प्रदेशेघटाभावप्रतिपत्तिस्तु न घटाभावज्ञानात् किन्त्वेकज्ञानसंसर्गिपदार्थान्तरोपलम्भात्। नचपुरुषाभावाभावप्रतिपत्तावयं न्यायः, तदेकज्ञानसंसर्गिणः कस्यचिदप्यभावात् न, पुरुष एव तदेकज्ञानसंसर्गी पुरुषभावाभावयोर्विरोधेनैकज्ञानसंसर्गित्वासंभवात् संभवेऽपि न पुरुषोपलम्भभावात् तदभावाभावप्रतिपत्तिः तदुपलम्भस्यैव तत्प्रतिपत्तिरूपत्वात् अतएव विरुद्धविधिरप्यत्रन प्रवर्तते इति। किंच कस्याभावज्ञानाभावात् प्रमेयाभावाभावः। वादिनः, प्रतिवादिनः, सर्वस्य वा। यदि वादिनोऽभावज्ञानाभावान्नागमान्तरे प्रमेयाभावः। वेदेऽपिमाभूत्। तत्रापि प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावस्याविशेषात्। अथागमान्तरे वादिप्रतिवादिनोरुभयोरपि अभावज्ञानाभावान्न प्रमेयाभावः। वेदेतु प्रतिवादिनोऽभावज्ञानाभावेऽपि, वादिनोऽभावज्ञानसद्भावात् न। वादिनोयदभावाज्ञानं तत्सांकेतिकं नाभावबलोत्पन्नम्, आगमान्तरे प्रतिवादिनोऽप्रामाण्याभावज्ञानवत्। नच सांकेतिकाद्भावज्ञानाद्भावसिद्धिः। अन्यथाऽऽगमान्तरेऽपि ततोऽप्रामाण्याभावसिद्धिप्रसङ्गः। तन्नागमान्तरे वादिनोऽभावज्ञानात् गतिः। नापि प्रतिवादिनोऽभाव ज्ञानाभावात्तत्रतदगतिः वेदेऽपि तत्प्रसङ्गात्। अतएव न सर्वस्याभावज्ञानाभावात्। असिद्धश्च सर्वस्याभावज्ञानाभावः। तन्नात्मा प्रमाणपञ्चकविनिर्मुक्तोऽभावज्ञानजनकः। अथ वेदानादिसत्त्वमभावज्ञानोत्थापकम् अत्रापिवक्तव्यम्। ज्ञातमज्ञातं वा तत्तदुत्थापकम्। न ज्ञातम्। तज्ज्ञानासंभवात् प्रत्यक्षादेस्तज्ज्ञापकत्वेनाप्रवृत्तेः। प्रवृत्तौ वा तत एव पुरुषाभावसिद्धेरभावप्रमाणवैयर्थ्यम्। अनादिसत्त्वसिद्धेः पुरुषाभावज्ञाननान्तरीयकत्वात्। नाप्यज्ञाततत्तदुत्थापकम्। अगृहीतसमयस्यापि तत्र तदुत्पत्तिप्रसङ्गात्। केनचित्प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावात्। तन्नानादिसत्त्वमपि तदुत्थापकमिति नाभावप्रमाणात् पुरुषाभावसिद्धिः। नचाभावप्रमाणस्य प्रामाण्यम्-

॥ भाषा ॥

में प्रमाण न मिलने से वेद के विषय में रचना का न होना सिद्ध किया जाय तो अन्य आगम अर्थात् बुद्धादिशास्त्रों के विषय में भी बौद्धादिकों को प्रमाण न मिलने से अन्य आगम भी क्यों न अपौरुषेय हो जायं। ठीक है किन्तु बौद्धादिक तो अपने २ आगमों को पुरुषरचित मानते ही हैं तो वे कैसे अपौरुषेय हो जायंगे ? इसका उत्तर यह है कि बौद्धादिकों के स्वीकार (मानने) को मीमांसक कैसे प्रमाण मान सकता है ? क्योंकि उसे तब तो वेद को भी पौरुषेयही मानना पड़ेगा क्योंकि वेद को भी बौद्धादिक पौरुषेय ही मानते हैं।

ऐसे ही वेद का अनादि होना भी वेद को अपौरुषेय नहीं सिद्ध कर सकता है क्योंकि अनादिता अभाव रूप ही है इस कारण उसकी सिद्धि में भी ये ही अनन्तरोक्त दोष पड़ेंगे। यदि

प्राक्प्रतिषिद्धत्वात्, प्रतिषेधस्यसमानत्वाच्च। अथ पर्युदासरूपमपौरुषेयत्वम्। किं तत्। न पौरुषेयत्वादन्यत्सत्त्वम्। तस्यास्माभिरपि अभ्युपगमात्। न, अनादिसत्त्वम् तद्ग्राहकप्रमाणाभावात्। तथाहि। न तावत्तद्ग्राहकंप्रत्यक्षम्। अक्षानुसारितया तथाव्यपदेशात्। अक्षाणां चानादिकालसङ्गत्यभावेन तत्संबद्धतत्सत्त्वेनाप्यसंबन्धात्। न तत्पूर्वकप्रत्यक्षस्य तथा प्रवृत्तिः। प्रवृत्तौ वा तद्वदनागतकालसंबद्धधर्मस्वरूपग्राहकत्वेनापि प्रवृत्तेः, न सर्वज्ञनिषेधः। तथा "सत्संप्रयोगे पुरुषस्य इन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्" इतिसूत्रम्;

"भविष्यति न दृष्टं च, प्रत्यक्षस्यमनागपि। सामर्थ्यम्"

इति च वार्तिकं व्याहतं स्यादिति न प्रत्यक्षात् तत्सिद्धिः। नाप्यनुमानात्। तस्याभावात् अथ—
"अतीतानागतौ कालौ वेदकारविवर्जितौ। कालत्वात्; तद्यथा कालो वर्तमानःसमीक्ष्यते"॥१॥

इत्यतोऽनुमानात्तत्सिद्धिः। न। अस्यहेतोरागमान्तरेऽपि समानत्वात्। किंच। किं यथाभूतोवेदकरणासमर्थपुरुषयुक्त इदानीं तत्कर्तृपुरुषरहितः काल उपलब्धः, अतीतोऽनागतो वा तथाभूतः कालत्वात् साध्यते उत अन्यथाभूतः, तथाभूतश्चेत् तदा सिद्धसाध्यता। अथान्यथाभूतः; तदा संनिवेशादिवदप्रयोजकोहेतुः। तथाहि। यथाभूतानामभिनवकूपप्रासादादीनां संनिवेशादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वेन व्याप्तमुपलब्धं; तथाभूतानामेव जीर्णकूपप्रासादादीनां तद्बुद्धिमत्कारणकत्वप्रयोजकं,नान्यथाभूतानाम्। यदि पुनरन्यथाभूतस्याप्यतीतानागतस्य कालस्य तद्रहितत्वंसाधयेत्कालत्वं; तदा अन्यथाभूतानामपि भूधरादीनां संनिवेशादि बुद्धिमत्कारणपूर्वकत्वं साधयेत्; न तस्य सर्वजगज्ज्ञातुः कर्तुश्चेश्वरस्य सिद्धेश्चान्यथाभूतकालभावसिद्धिरिति अपौरुषेयत्वसाधनं च वेदानामनवसरम्। अथ तथाभूतस्यैवातीतानागतस्य वा कालस्य तद्रहितत्वं साध्यते। नच सिद्धसाध्यता। अन्यथाभूतस्यकालस्याभावात्। न। अन्यथाभूतःकालो नास्तीति कुतः प्रमाणादवगतम्। यद्यन्यतः, तत एवापौरुषेयत्वसिद्धेः किमनेन? अतोऽनुमानाच्चेत् न अन्यथाभूतकालाभावात्; अतोऽनुमानात्तद्रहितत्वसिद्धि-

॥ भाषा ॥

द्वितीय पक्ष है अर्थात् यह कहा जाय कि वेद, पुरुषरचित सब वस्तुओं से अन्य है, तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि पौरुषेय सब वस्तुओं का जब हम को ज्ञान नहीं हो सकता तब उनसे अन्य होने का भी ज्ञान कैसे हो सकता है? और यदि द्वितीय पक्ष का यह आशय है कि पौरुषेय होना अन्य वस्तु है और वेद की सत्ता (होना) अन्य वस्तु है, तो वह हम को भी स्वीकार है परन्तु इसमें मीमांसक को कुछ लाभ नहीं है। तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि अनादि काल से रहना ही अपौरुषेयत्व है, क्योंकि अनादि काल के साथ वेद के सम्बन्ध होने में कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात् उक्त विषय में प्रत्यक्ष नहीं प्रमाण हो सकता क्योंकि अनादि काल का ज्ञान जब किसी इन्द्रिय से नहीं होता तब उसके साथ वेद के सम्बन्ध का ज्ञान कैसे इन्द्रिय से हो सकता है? ऐसे ही उक्त विषय में अनुमान भी नहीं प्रमाण हो सकता और यदि हो सकता है तो उसी अनुमान से बुद्ध आदि के आगमों का अपौरुषेय होना क्यों नहीं सिद्ध होता? शब्द प्रमाण से भी उक्त विषय की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि शब्द से वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करने में अन्योन्याश्रय दोष पड़ जायगा अर्थात् जिस शब्दप्रमाण से वेद की अपौरुषेयता सिद्ध की जायगी उस शब्द

स्तत्सिद्धेस्तत्सिद्धिरितीतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तदेवमन्यथाभूतकालस्याभावासिद्धेस्तथाभूतस्य तद्रहितत्वसाधनेसिद्धसाधनमिति । नापि शब्दात् तत्सिद्धिः । इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् । तदेवमन्यथा कथं वेदवचनमस्ति । नापि विधिवाक्यादपरस्य भवद्भिःप्रामाण्यमभ्युपगम्यते अभ्युपगमे वा पौरुषेयत्वमेव स्यात् । तथाहि । तत्प्रतिपादकानि वेदवचांसिश्रूयन्ते । "हिरण्यगर्भःसमवर्ततताग्रे" "तस्यैव चैतानि निःश्वसितानि" "याज्ञवल्क्यइतिहोवाच" इत्यादीनि । तन्नशब्दादपि तत्सिद्धिः । नाप्युपमानात्सिद्धिः । यदि हि चोदनासदृशंवाक्यमपौरुषेयत्वेन किञ्चित्सिद्धं स्यात्, तदा तस्मात्सदृशयोपमानेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुपमानात् सिद्धं स्यात् । नचतत्सिद्धमिति उपमानादपि न तत्सिद्धिः । नाप्यर्थापत्तेः । अपौरुषेयत्वव्यतिरेकेणानुपपद्यमानस्य सिद्धवेदे कस्यचिद्धर्मस्याभावात् । नाप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानोवेदस्यापौरुषेयत्वं कल्पयति । आगमान्तरेऽपि तस्य धर्मस्य भावादपौरुषेयत्वं स्यात् । नचासौ तत्र मिथ्या । वेदेऽपि तन्मिथ्यात्वप्रसङ्गात् । अथागमान्तरे पुरुषस्य कर्तुरभ्युपगमात्, पुरुषाणां च सर्वेषामपि आगमादिषु रक्तत्वात्, तद्दोषजनितस्याप्रामाण्यस्य तत्र संभवात्, नाप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मस्तत्रसत्यः वेदेत्वप्रामाण्यजनकदोषास्पदस्य पुरुषस्य कर्तुरभावादप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मःसत्यः । कुतः पुनस्तत्रपुरुषाभावो निश्चितः । अन्यतः प्रमाणादिति चेत् । तदेवोच्यताम्, किमर्थापत्त्या । अर्थापत्तितश्चेत् न इतरेतराश्रयदोषप्रसङ्गात् तथाहि अर्थापत्तितः पुरुषाभावसिद्धावप्रामाण्याभावसिद्धिस्तत्सिद्धौ चार्थापत्तितः पुरुषाभावासिद्धिरितीतरेतराश्रयत्वम् । चक्रकचोद्यं चापि । तथाहि । यदप्रामाण्याभावलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदेऽपौरुषेयत्वं कल्पयति, आगमान्तरेऽप्यसौधर्मस्तत्किं न कल्पयति । तत्र पुरुषदोषसंभवादसौधर्मोमिथ्या तेन तन्न कल्पयति । वेदेकुतः पुरुषाभावः । अर्थापत्तेश्चेत्तदागमान्तरे समानमित्यादि तदेवावर्तते इति चक्रकानुपरमः । नाप्यतीन्द्रियार्थप्रतिपादनलक्षणो धर्मोऽनुपपद्यमानो वेदे पुरुषाभावं कल्पयति । आगमान्तरेऽपि समानत्वात् । नचाप्रामाण्याभावे पुरुषाभावः सिद्ध्यति । कार्याभावस्यकारणाभावं प्रति व्यभिचारित्वेनान्यथानुपपन्नत्वासंभवात् । अप्रतिबद्धासमर्थपुरुषाभावसिद्धावपि न सर्वथा पुरुषाभावसिद्धिः । पुरुषमात्रस्यानिरा-

॥ भाषा ॥

की अपौरुषेयता सिद्ध होने के बिना, वेद की अपौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती क्योंकि वेद की अपौरुषेयता अब तक सिद्ध ही नहीं हो चुकी । निदान उस प्रमाण की अपौरुषेयता सिद्ध होने में वेद की अपौरुषेयता आकाङ्क्षित है और वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होने में उस शब्दप्रमाण की अपौरुषेयता आकाङ्क्षित है । इस से दो में किसी की अपौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती । तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि वेद ही के वाक्यों से वेद की अपौरुषेयता सिद्ध होती है क्योंकि वेद में तो उलटे वेद की पौरुषेयता सिद्ध करनेवाले वाक्य सुने जाते हैं जैसे "हिरन्यगर्भः समवर्तताग्रे" (हिरण्यगर्भ प्रथम हुए) "तस्यैव चैतानिनिःश्वसितानि" (ये वेद उसी परमेश्वर के श्वास रूप हैं) "याज्ञवल्क्य इति हो वाच" (याज्ञवल्क्य ने यह अर्थात पूर्वोक्त बातें कहा) इत्यादि । तथा यह भी नहीं कह सकते कि वेद, ऐसे २ विषयों का बोध कराता है कि जिनका बोध, पुरुष को किसी अन्य स्वतन्त्र प्रमाण से नहीं हो सकता; इसलिये वेद अपौरुषेय है; क्योंकि-

करणादिष्टासिद्धिश्च। अप्रमाणकरणस्यतत्कर्तृत्वेनास्माकमप्यनिष्टत्वात्। नापि प्रामाण्यधर्मोऽन्यथाऽनुपपद्यमानो वेदेपुरुषाभावंसाधयति। आगमान्तरेऽपितुल्यत्वात्। इति।

अत्रोच्यते। सर्वमेवैतत् पराभिप्रायापरिज्ञानकौशलम्। तथाहि। अपौरुषेयत्वं हि स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षोच्चारणसामान्यकत्वम्। उच्चारणानामन्योन्यसाजात्यं च एकानुपूर्वीकवर्णसमुदायव्यञ्जकत्वेन।

एवंविधमपौरुषेयत्वं च वेदे प्रत्यक्षगम्यमेव। अस्यह्यध्ययनाध्यापनपरंपराया अनादेर्घटकानि सकलान्येवोच्चारणानि तदा तदा तदातनैः स्वस्वसजातीयपूर्वपूर्वोच्चारणसापेक्षाण्येवानुभूयन्ते साम्प्रतिकमिवसाम्प्रतिकैः; नच कस्याश्चिदपि वेदोच्चारणव्यक्तौ प्रधानं प्राथम्यं केनचिदनन्यथासिद्धेन प्रमाणेन प्रतिपादयितुं शक्यते। तत्प्रतिपादकप्रमाणत्वेन परोपन्यस्तानां वाक्यत्वादिहेतूनां वेदवाक्यानां चान्यथासिद्धेरस्मिन्नेव प्रकरणे स्पष्टतरमुपपादितचरत्वात्। उक्तप्रधानप्राथम्यासिद्धौ च न वेदस्य क्वचिदपि तादृशोच्चारणे स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षत्वं शक्यते बाधितुम्। प्रथम एव हि भारतादीनां व्यासादिकर्तृकोच्चारणे स्वसजातीयोच्चारणसापेक्षत्वं नास्ति; अत एव च न तेषु कोप्यपौरुषेयत्वमभ्युपगच्छति। अनन्यथासिद्धानि हि कर्तृस्मृतिवाक्यानि तत्र जाग्रति यानि करोतिनिर्मातिरचयतिप्रभृतिभी-

॥ भाषा ॥

यदि ऐसा है तो बुद्धादि के आगमों में भी उक्त प्रकार के अनेक विषयों के कथन से वे भी अपौरुषेय हो जायंगे इति ॥

अभयदेवसूरि ने वेद की अपौरुषेयता का खण्डन, अपनी तत्त्वबोधविधायिनी टीका में (जो कि ऊपर संस्कृत भाग में उद्धृत है) किया है उसकी सारभूत युक्तियां ये ही हैं जिनका अनुवाद हो चुका। अब उक्त खण्डन का समाधान किया जाता है कि—

समाधान।

(१) जब कि अभयदेवसूरि को यही नहीं ज्ञात था कि वैदिकदर्शनों के आचार्य-महर्षियों, तथा उनके अनुयायी कुमारिलभट्टपाद आदि महापण्डितों के मत में वेद के अपौरुषेयत्व का कैसा स्वरूप है, तब ऐसी दशा में उक्त खण्डन वैसा ही है जैसा कि लक्ष्य से अन्य ही वस्तु को लक्ष्य समझ, उस पर बाण का फेकना; अर्थात् उक्त सूरि ने पुरुष से रचना न होने को अपौरुषेयत्व अर्थात् अभावरूप अपौरुषेयत्व समझा था इसी से "न पौरुषेयः अपौरुषेयः" इत्यादि विग्रहों के अनुसार शुष्कवैयाकरणों के ऐसा 'अपौरुषेय' शब्द का अर्थ समझ कर उसका खण्डन कर मारा। परन्तु वास्तविक में अपौरुषेयत्व वह नहीं है किन्तु वैदिकदर्शनों के आन्तरिक अभिप्राय के अनुसार वेद के विषय में अपौरुषेय शब्द का अर्थ साङ्केतिक यह है कि जिस वाक्य वा महावाक्य के सभी उच्चारण, अपने सजातीय (अति सदृश) अन्य उच्चारण के अनुसारी हों वह अपौरुषेय है। इसका आशय यह है कि अन्यान्य ग्रन्थ के जितने उच्चारण होते हैं वे तीन प्रकार के होते हैं; एक ग्रन्थकर्ता का उच्चारण, दूसरा मौखिक पाठ का अनुसारी और तीसरा पुस्तक लेख का अनुसारी।

और इन में से प्रथम उच्चारण स्वतन्त्र अर्थात् अपने अतिसजातीय पूर्व उच्चारण का अनुसरण नहीं करता क्योंकि ग्रन्थकार, अपने वाक्यों की योजना (जिसको कि रचना कहते हैं) अपनी इच्छा ही के अनुसार करता है न कि अन्य ग्रन्थ की जैसे का तैसा अनुकरण, और यदि

रचनाबाचिभिर्घटितानि, कर्तृस्मरणपरम्पराश्च पूर्वोक्तास्तादृश्योऽध्यापकाध्येतृपरम्परासु। इदं चापौरुषेयत्वं वेदानामीश्वरकर्तृकत्वेऽपि नानुपपन्नम्। तत्तन्महाकल्पादिसृष्टौ तत्तत्पूर्वमहाकल्पादिसृष्टिकालिकस्वकीयवेदोच्चारणानुसारेणैव भगवता वेदस्योच्चारितत्वात्। परकीयसजातीयोच्चारणसापेक्षत्ववच्चि स्वकीयपूर्वपूर्वसजातीयोच्चारणसापेक्षत्वमपि तादृशोच्चारणसापेक्षत्वमेव। उक्तापौरुषेयत्वशरीरे परकीयत्वस्याप्रवेशादेव च भगवत्कर्तृकत्वेऽपि न वेदस्यापौरुषेयत्वव्याघातः। भगवतश्चैवंभूते वेदकर्तृत्वेऽपि न भारतादिरचनासु व्यासादीनामिव तस्य वेदोच्चारणे स्वातन्त्र्यम्। स्वकीयसजातीयतदीयपूर्वोच्चारणपारतन्त्र्यात्। इदमेव च-

॥ भाषा ॥

किसी स्थल में अन्य ग्रन्थ के किसी अंश का अनुकरण (वाक्य उद्धृत) भी करता है तो वह अंश (वाक्य) उसका रचित नहीं कहा जाता है। और यदि कोइ ग्रन्थकर्ता, ग्रन्थरचना के समय बोल कर दूसरे से नहीं लिखाता किन्तु अपने हाथ से लिखता है तो वह भी सूक्ष्म उच्चारण के विना नहीं लिखता और वह सूक्ष्मउच्चारण भी स्पष्टउच्चारण के ऐसा स्वतन्त्र ही होता है। और द्वितीय उच्चारण में तो गुरू के उच्चारण के अनुसारी होना स्पष्ट ही है। ऐसे ही तीसराउच्चारण भी अपने सजातीय उच्चारण का अनुसारी है क्योंकि सूक्ष्म वा स्पष्ट सजातीय उच्चारण के बिना लेख ही नहीं हो सकता और लेख के बिना उच्चारण नहीं हो सकता। तथा यह भी है कि वास्तविक में द्वितीय और तृतीय उच्चारण सब ही साक्षात् वा परम्परा से अपने सजातीय प्रथम उच्चारण के अनुसारी ही होते हैं परन्तु प्रथम उच्चारण से पूर्व, कोई उच्चारण ऐसा नहीं होता जो कि ग्रन्थ के उच्चारण के सजातयि हो इसलिए प्रथम उच्चारण में ग्रन्थकार की स्वतन्त्रता होती है अर्थात् वह जैसा चाहता है वैसा प्रथम उच्चारण (रचना) करता है-यह समाचार अन्यान्य ग्रन्थों का है। और वेद का तो एक भी उच्चारण ऐसा नहीं होता कि जो अपने सजातीय पूर्व उच्चारण का अनुसारी न हो क्योंकि कोई नहीं यह प्रमाणित कर सकता कि वेद का अमुक उच्चारण ऐसा था कि जिस से पूर्व उसका सजातीय उच्चारण नहीं था। क्योंकि 'अन्य वाक्य सभी रचित होते हैं और वेद भी वाक्य ही है इसलिए वद भी रचित है,' इत्यादि अनुमान इसी प्रकरण में पूर्व ही खण्डित तथा "प्रजापतिर्वेदानसृजत" आदि शब्दप्रमाण भी अन्यथासिद्ध हो चुके हैं। अब ध्यान देना चाहिये कि पूर्वमीमांसादर्शन के मत में वेद अनादि है अर्थात् ईश्वर का रचित नहीं है और वेदान्तदर्शन के मत में आकाश आदि के ऐसा वेद भी आदिसृष्टि के समय ईश्वर से रचित हो कर महाप्रलय तक स्थायी है। इन दोनों मतों में वेद की उक्त अपौरुषेयता अटल है क्योंकि प्रथम मत में ईश्वर, आदि सृष्टि के समय वेद के केवल प्रचारक हैं न कि कारक (वेदकार)। और द्वितीय मत में आदि सृष्टि के समय वेद के उच्चारण में ईश्वर स्वतन्त्र नहीं हैं कि जैसा चाहें वैसा उच्चारण करें किन्तु वैसा ही उच्चारण करते हैं जैसा कि उस सृष्टि के पूर्व अन्य, आदि सृष्टि में वेद का उच्चारण कर चुके रहते हैं अर्थात् जैसे पूर्व, आदि सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, आदि के तुल्य ही उत्तर आदि सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, आदि की सृष्टि ईश्वर करते हैं न कि उससे विपरीत, जैसा कि "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्" (ईश्वर, पूर्व सृष्टि के सूर्य, चन्द्रमा के तुल्य उत्तर सृष्टि में सूर्य, चन्द्रमा की सृष्टि करते हैं) इस श्रुति में कहा है। वैसे ही उत्तर, आदि सृष्टि में ईश्वर वैसा ही वेद का उच्चारण करते हैं जैसा कि पूर्व आदि-सृष्टि में वेद का उच्चारण कर चुके रहते हैं न कि उसके विपरीत; और जगत् की सृष्टि तथा प्रलय का प्रवाह अनादि और अनन्त है इस लिए ईश्वर के भी सब ही वेदोच्चारण, उन्हीं के पूर्व २ वेदोच्चारण

वेदापौरुषेयत्वं भट्टपादश्रीकुमारिलस्वामिनां संमतम् । "सर्वतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता" इति स्पष्टमेव तेनोक्तत्वात् । प्रपञ्चितं चैतत् अत्रैव प्रकरणे पूर्वोद्धृतेन माधवाचार्यविहितेन पराशरस्मृतिव्याख्यानेन । एवंच न भगवत्कर्तृकस्यापि कस्यचिद्वेदोच्चारणस्य मुख्यं प्राथम्यं येनोक्तमपौरुषेयत्वं वेदादपेयात् । अस्यचापौरुषेयत्वस्य भावरूपत्वान्नात्र जैनोक्तानां प्रसज्यप्रतिषेधपर्युदासविकल्पादिकुचोद्यानां कथञ्चिदप्यवकाशलेशः । जैनेन हि श्रीभट्टपादानामुक्तं भावमाकलयितुमशक्नुवता शुष्कशाब्दिकेनेवापौरुषेयत्वपदस्यावयवार्थमात्रमाश्रित्यापौरुषेयत्वस्याभावरूपतां प्रतिसंदधता वृथैव तादृशकुचोद्यप्रपञ्च उदञ्चितः । तस्मात् प्रकाशे घूकस्य तमोभ्रम इव तस्य भावएवायमभावभ्रमः । किंच । अपौरुषेयत्वस्य भ्रमादत्यन्ताभावरूपत्वमाश्रित्यापि "किमस्योत्थापकम्" इत्यादि "अन्यत्रापि तन्मिथ्यात्वप्रसक्तेः" इत्यन्तं यदुक्तम् तदपि स्वाभ्यूहितमात्रस्य दूषणत्वादुपेक्ष्यमेव । नहि वेदतदन्यागमयोर्वादिप्रतिवादिगतौ पुरुषसद्भावानभ्युपगमाभ्युपगमौ विनिगमकतया कश्चिदुपन्यस्यति यत्प्रति तथाप्रत्यवस्थीयेत । अपितूच्चारणपरम्पराया आगमान्तरे द्रढीयस्या कर्तृ-

॥ भाषा ॥

के अनुसारी ही हुआ करते हैं, केवल इतना ही विशेष है कि जीव का वेदोच्चारण अन्य के वेदोच्चारणका अनुसारी होता है, और ईश्वर का वेदोच्चारण, ईश्वर ही के पूर्ववेदोच्चारण का अनुसारी होता है । परन्तु वेदोच्चारण के विषय में ईश्वर और जीव की परतन्त्रता में कुछ भी विशेष नहीं है । इस रीति से उक्त दोनों वैदिकदर्शनों की एकवाक्यता से वेद में यही अपौरुषेयता है कि वेद के उच्चारण में कोई स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् वेद के सब ही उच्चारण, अपने २ सजातीय पूर्व २ उच्चारण के अनुसारी ही हुआ करते हैं न कि उसके विपरीत । इसी से श्रीभट्टपादकुमारिल ने कहा है कि "सर्वतः प्रतिषेध्या नः पुषाणां स्वतन्त्रता" (हमारा यह आग्रह नहीं है कि वेद ईश्वर का नहीं रचित है किन्तु हम यही कहते हैं कि वेद के उच्चारण में क्या ईश्वर क्या जीव सब ही परतन्त्र हैं अर्थात् कोई नहीं स्वतन्त्र है) इति । और इस प्रकरण में पूर्व ही उद्धृत माधवाचार्य के व्याख्यान से भी यह विषय स्पष्ट हो चुका है ।

इस रीति से जब वेदकी दार्शनिक अपौरुषेयता भावरूपी है तब उस से अन्य अभावरूपी अपौरुषेयता को दार्शनिक समझ कर उस पर दूषण देने से यह स्पष्ट ही निश्चित है कि जैसे घुग्घू को सूर्यप्रकाशरूपी भाव में अन्धकाररूपी अभाव (वैशेषिक मत में) का भ्रम होता है वैसे ही अभयदवसूरि को भी वेद की भावरूपी उक्त अपौरुषेयता में अभाव का भ्रम हो गया । और यह वेद की उक्तरूपी अपौरुषेयता गुरुशिष्य की परम्परा के द्वारा सदा से प्रसिद्ध है क्योंकि गुरुमुखपाठ के अनुसार ही शिष्यगण वेदपाठ करते हैं तथा किञ्चित् भी विपरीत होने पर दण्ड पाया करते हैं । और अन्य ग्रन्थों में तो गुरुपाठ में 'घट' के स्थान में यदि 'कलश' शिष्य पढ़ दे तो दण्डभागी नहीं होता परन्तु वेद में 'घट' के स्थान में 'घट' ही पढ़ना पड़ता है ।

(२) मीमांसक यह नहीं कहते कि "वेदको हम पुरुषरचित नहीं मानते इसलिये वेद अपौरुषेय है, और बुद्धादि के उपदेशग्रन्थों को बौद्धादि, पुरुषरचित मानते हैं इसलिये वे पौरुषेय हैं" किन्तु यह कहते हैं कि अन्यान्य ग्रन्थों (महाभारतादि) में उनके कर्ताओं के स्मरण (अमुक ग्रन्थ अमुक का रचित है) की धारा, गुरुपरम्परा तथा अन्यान्य मनुष्यों में भी जो आज-

स्मृत्या बाधात् पौरुषेयत्वम् वेदे तु अनन्यथासिद्धाया उक्तपारतन्त्र्यशून्यस्य कर्तुः स्मृतेरभावात् अबाधिता सोच्चारणपरम्परैवानादिः पौरुषेयत्वं वेदस्य व्यासेधन्ती तदभावं गमयति । वेदविषये कर्तृस्मरणसमर्पकत्वेन परोपन्यस्तानि वाक्यानि त्वत्रैवप्रकरणे पूर्वोक्तया रीत्याऽन्यथोपपादितत्वान्न क्षमन्ते तामुच्चारणपरम्परां कामपि कक्ष्यामाश्रित्याक्षेप्तुमित्येव वैदिकैरुच्यते; तत्र कथंतरामुक्तानभ्युपगमाभ्युपगममूलकोक्तदूषणावतारसंभवः । अन्यथा जिनशासनानामपि पराभ्युपगतं पौरुषेयत्वं भज्येत, प्रमाणाभावात् नह्यतिप्राक्तनतत्तज्जिनजनकर्तृका तत्तच्छासनवाक्यस्य रचना तदतिपाश्चात्यैरभयदेवादिभिः साक्षादन्वभावि, नवा वाक्यत्वादिहेतुनाऽनुमातुं शक्यते, रचनापदार्थघटकमुच्चारणगतं मुख्यप्राथम्यं प्रति वाक्यत्वादेरप्रयोजकतायाः पूर्वमुपपादितत्वात् , किन्तु जिनशासनतत्तद्ग्रन्थघटकमन्यग्रन्थस्थं वा तत्तज्जिनकर्तृकतत्तच्छासनकर्मकरचनाया अनन्यथासिद्धं स्मारकं तत्तद्ग्रन्थगतवाक्यान्तराविरुद्धं च वाक्यमेव पौरुषेयत्वगमकम् । एवं च पूर्वोक्तरीत्या वेदे तादृशवाक्याभावात्पौरुषेयत्वाभावसिद्धिः केन वारयितुं शक्येत । एतेन "किंच प्रमाणपञ्चकाभावः किं ज्ञात इत्यादिकं सिद्धसाधनमिती" त्यन्तमपास्तम् । वैदिकानभिप्रेतयुक्तिदूषणत्वात् । यदपि वेदस्य पौरुषेयत्वे "हिरण्यगर्भ" इत्यादिवेदवाक्यत्रयं स्वतन्त्रकर्तृस्मरणसमर्पकतयोपन्यस्तम् , तदपि हेयमेव । "हिरण्यगर्भ" इत्यादेर्वाक्यस्य क्षुद्रोपद्रवविद्रावणे वक्ष्यमाणेनार्थेन प्रकृतेऽनुपयोगात् निःश्वसितवाक्यस्य प्रत्युतापौरुषेयत्वसाधकतायाः पूर्वमेवोक्तत्वात् । याज्ञवल्क्यइतीत्येवमादिवाक्यानां तात्पर्यस्यात्रैवपूर्वमुक्तत्वात् ।

॥ भाषा ॥

तक दृढ़ चली आती है वही, कर्ता के उच्चारण से पूर्व, उन ग्रन्थों के उच्चारणधारा का मूलच्छेद कर देती है, इसी से उन ग्रन्थों का पौरुषेय होना सिद्ध होता है । और वेद के विषय में तो वैसी दृढरूपी कर्ता की स्मरणधारा नहीं है तो वेद के विषय में गुरुशिष्य के उच्चारणों की परम्परा, मूलच्छेद न होने से अनादि है, इसी से वेद अपौरुषेय है । और कर्ताओं के उक्त स्मरण की धारा ही से यह भी सिद्ध होता है कि अमुक गणधर जिन जैनाचार्य का अमुक उपदेशग्रन्थ है नहीं तो सहस्रों वर्ष पूर्व के उपदेश को आज कैसे कोई कह सकता है कि अमुक उपदेश अमुक का है; और ग्रन्थपुस्तकों में जो ग्रन्थकार का नाम आदि लिखा रहता है उसका मूल भी कर्ताओं के स्मरण की परम्परा ही है ।

(३) जो कि "हिरण्यगर्भःसमवर्त्तताग्रे" यह मन्त्र, वेद की पौरुषेयता में प्रमाण दिया गया सो भी ठीक नहीं है क्योंकि अगाड़ी क्षुद्रोपद्रवविद्रावणप्रकरण में "मैक्समूलर" साहेब के मतखण्डन के अवसर पर कहेजानेवाले प्रमाणों के अनुसार यही सिद्ध होता है कि उक्त मन्त्र से वेद की पौरुषेयता नहीं सिद्ध हो सकती ।

(४) "अस्य महतोभूतस्य निःश्वसितं यदृग्वेदः" इस वेदवाक्य से तो वेद का अपौरुषेयत्व ही सिद्ध होता है जैसा कि इसी प्रकरण में पूर्व ही कहा गया है ।

(५) "याज्ञवल्क्य इति हो वाच" ऐसे २ वेदवाक्यों का तात्पर्य्य तो इस प्रकरण में पूर्व ही कहा जा चुका है और आगे चल कर क्षुद्रोपद्रवविद्रावण में "वेबर" साहेब के मतखण्डन में भी अनेक बार कहा जायगा, उसके अनुसार ऐसे २ वाक्य, वेद की पौरुषेयता में प्रमाण नहीं हो सकते ।

अग्रेऽप्याम्रेडयिष्यमाणत्वाच्च। यदपि नापि विधिवाक्यादपरस्य भवद्भिः प्रामाण्यमभ्युपगम्यत इति। तदप्यज्ञानात् तथाचार्थवादप्रामाण्यप्रकरणे वक्ष्यते किंच "वाचा विरूप, नित्यये" ति पूर्वोदाहृते मन्त्रवर्णे कथं न दृष्टिरदायि। अत्र हि वेदवाचोनित्यत्वमपौरुषेयत्वपर्य्यवसन्नं साक्षादेवोच्यते। नचागमान्तरेष्वपि तदपौरुषेयतानिर्देशकं किञ्चिद् वाक्यमुपलभ्यते। एवं च स्पष्टमेव नित्यत्वप्रतिपादकस्यास्यानुसारात् सर्वेषामेव पौरुषेयतासूचकत्वेन परोपन्यस्तानां वेदवाक्यानां पूर्वोक्तरीत्या मत्प्रतिपादितार्थएवरमणीयइति नागमान्तरेषु वेदसाम्यम् "नाप्युपमानादि" त्यादि "चक्रकानुपरम" इत्यन्तं त्वारोप्यदूषणत्वादुपेक्ष्यम्। यत्तु "नाप्यतीन्द्रियार्थेत्यादि" "न सर्वथा पुरुषाभावसिद्धिः" इत्यन्तम्। तदपि न विचारसहम्। तथाहि। किं तदागमान्तरं यत्रातीन्द्रियार्थप्रतिपादनस्य सामान्यमभिधीयते: मनुचरकादिसंहितादिकं वा बुद्धजिनाद्यागमो वा। नाद्यः। तस्यातीन्द्रियार्थांशे वेदमूलकतयैव प्रामाण्याभ्युपगमेन तत्रातीन्द्रियार्थप्रतिपादनस्य वेदातीन्द्रियार्थप्रतिपादनान्तर्गततया वैदिकत्वात्। न द्वितीयः बुद्धजिनादीनामतीन्द्रियार्थदर्शित्वे मानाभावेन तत्रत्यस्य तत्प्रतिपादनस्याप्रामाणिकताया धर्मलक्षणसूत्रे प्रत्यक्षसूत्रे च वार्तिक एव प्रपञ्चितत्वात् अप्रामाण्यनि-

॥ भाषा ॥

(६) यह कदापि संभव नहीं है कि पूर्वमीमांसादर्शन के शावरभाष्य की टीका (भट्टवार्तिक) के खण्डन पर कटिबद्ध हो कर भी अभयदेवसूरि ने शावरभाष्य को भी न देखा हो, और "लिङ्गदर्शनाच्च" (पू. मी. द. अध्या. १ पा. १ सू. २३) इस सूत्र के शावरभाष्य में "वाचा विरूप, नित्यया" यह मन्त्र उदाहरण में दिया हुआ है, जिस में कि वेद का, नित्य (अपौरुषेय) होना स्पष्ट ही कहा है। इसका कदापि संभव नहीं है कि इस मन्त्र को अभयदेवसूरि ने न देखा हो। परन्तु अपने मत के पक्षपात, और वैदिकमत से द्वेष के कारण इस मन्त्र के ओर से जान बूझ कर आँखें (नेत्र) बन्द कर लिया, और अन्यथासिद्ध दो तीन अन्य वेदवाक्यों को अन्वेषण कर, वेद की पौरुषेयता में प्रमाण लिख मारा। अवध्यान देने के योग्य है कि अभयदेव ने अपनी रचित उक्त टीका का नाम तो 'तत्त्वबोधविधायिनी' रक्खा, परन्तु उस में ऐसी २ छलक्रियाएँभर दीं। वाह वाह ! ! ! रे तत्त्वबोधविधायिनी ! तूने तो तत्त्व (सत्य) का बोध बहुत ही अच्छा कराया। और बुद्ध आदि के उपदेशग्रन्थों में तो एक वाक्य भी ऐसा नहीं है कि जिससे उन ग्रन्थों की अपौरुषेयता सिद्ध हो सके, इसी से उनकी पौरुषेयता में कोई बाधक नहीं है॥

(७) यह जो कहा गया कि "अन्य उपदेशग्रन्थों में भी ऐसे २ विषय कहे हुए हैं जो कि शब्द से अन्य किसी स्वतन्त्रप्रमाण से नहीं ज्ञात हो सकते, न कि केवल वेदही में तो यदि ऐसे विषयों के कहने से वेद अपौरुषेय है तो अन्य उपदेशग्रन्थ भी क्यों न अपौरुषेय हों ?।

सो भी ठीक नहीं है क्योंकि अन्य उपदेशग्रन्थ कहने का मनुसंहिता आदि से तात्पर्य है ? कि बुद्ध, जिन आदि के आगम से ?।

इन में प्रथम पक्ष अयुक्त है, क्योंकि स्मृतिग्रन्थों में जो अपूर्वविषयों का कथन है वह सब स्वतन्त्र नहीं है किन्तु वेदमूलक हो हो कर प्रमाण होता है; इस से वह वैदिक ही है—

और द्वितीय पक्ष भी निर्युक्तिक ही है, क्योंकि बुद्ध, जिन, आदि के अतीन्द्रियदर्शी होने में कोई प्रमाण नहीं है, इसी से उनका, अपूर्व और अतीन्द्रियवस्तु का कथन, कदापि प्रामा-

श्चयानास्कन्दितं हि तादृशार्थप्रतिपादनमपौरुषेयत्वसाधकतयाऽभिप्रेयते तच्च न बुद्धाद्यागमे-ष्वसमानम् । वैदिकस्य तादृशार्थप्रतिपादनस्याबाधश्चोपरिष्टादुपपादयिष्यते विस्तरस्तु श्री-चित्सुखाचार्यकृतायां तत्त्वप्रदीपिकायामाद्यपरिच्छेदस्यान्तेद्रष्टव्यः इत्यलमतिविस्तरेण ॥

यदपि चार्वाकाः–

त्रयो वेदस्य कर्तारो धूर्तभण्डनिशाचराः । जर्भरी तुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचःस्मृतम् ॥ अश्वस्यात्र हि शिश्नं तु पत्नीग्राह्यं प्रकीर्तितम् । भण्डैस्तद्वत्परं चैव ग्राह्यजातं प्रकीर्तितम् । मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम् ॥ इति वदन्ति ।

तदपि बाललीलाकल्पम् ।

प्रत्यक्षैकप्रमाणाभ्युपगन्तृणां तेषां मते सार्द्धस्यास्यपद्यद्वयस्याप्रमाणत्वात् अस्य प्रामाण्याभ्युपगमे तत्सिद्धान्तस्यैव भङ्गप्रसङ्गात् एकस्य विजिगीषोर्वाक्ये तत्प्रातिकूलस्यान्यस्य विजिगीषोरप्रत्ययेन तं प्रति तस्य शब्दविधया प्रमाणयितुमशक्यत्वाच्च । किंच उक्तविधेषु वेदभागेषु धूर्तादिरचितत्वस्य चार्वाकेण प्रत्यक्षसिद्धत्वमवश्यवाच्यम् अन्यथा तस्याप्रामाणिकत्व-

॥ भाषा ॥

णिक नहीं है, और यह बात पूर्वमीमांसादर्शन १ अध्याय १ पाद के धर्मलक्षणसूत्र और प्रत्यक्ष-सूत्र के भट्टवार्तिक में अनेक प्रकारों से उपपादित है–इस विषय में और विशेष यदि देखना हो तो श्रीचित्सुखाचार्य की रचित तत्त्वप्रदीपिका के प्रथमपरिच्छेद के अन्त में देखना चाहिये ।

चार्वाक (स्थूलदर्शी नास्तिक) लोग जो यह कहते हैं कि वेद, धूर्तों, भाणों और नास्तिकों की गढ़न्त है अर्थात् वेद के जिन भागों में 'जर्भरी' 'तुर्फरी' आदि निरर्थक शब्द मिलते हैं वे वेदभाग पण्डितों (धूर्तों) के रचित हैं । और जिन वेदभागों में अश्वमेध आदि ऐसे २ यज्ञों के विधान हैं जिन में कि बहुत से अश्लील (लज्जाकर) काम किये जाते हैं जैसे अश्व के शिश्न का ग्रहण, यजमान की पत्नी का कर्तव्य इत्यादि, वे वेद भाग भाणों के निर्मित हैं । तथा जिन भागों में पशु-हिंसा और मांसभक्षण आदि के विधि हैं वे वेदभाग राक्षसों के बनाये हुए हैं क्योंकि जो जिस प्रकृति का होता है वह वैसा ही ग्रन्थ बनाता है इति ।

सो यह उनका कथन बालकों की लीला के तुल्य है क्योंकि–

(१) उनका उक्त कथन उन्हीं के मत से इस कारण सत्य नहीं है कि उनके मत में केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण माना गया अर्थात् अनुमान वा शब्द उनके मत से प्रमाण ही नहीं हैं और उनका उक्त बचन, शब्दरूपी है इसी से वह प्रमाण नहीं है निदान वे स्वयम् भी अपने उक्त वचन को प्रमाण नहीं कह सकते क्योंकि तब तो प्रत्यक्ष से अन्य उनके उक्त वाक्यरूपी शब्दप्रमाण सिद्ध हो जाने से उनका सिद्धान्त (केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण है) ही नष्ट हो जायगा ।

(२) वादी के वाक्य पर प्रतिवादी को विश्वास नहीं होता इसी से वह वाक्य, प्रति-वादी के लिये प्रमाण नहीं होता तो ऐसी दशा में चार्वाकों का उक्त वाक्यमात्र, आस्तिक के सामने नहीं प्रमाण हो सकता ।

(३) चार्वाकों को यह अवश्य कहना पड़ेगा कि वेद का धूर्तादिकों से रचित होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है क्योंकि उनके मत से एक प्रत्यक्ष ही प्रमाण है । और प्रत्यक्ष से सिद्ध कहने पर ये प्रश्न अवश्य होंगे कि किस २ वेद भाग को किस २ तिथि, पक्ष, मास और वर्ष में किस २

प्रसङ्गात् तच्च नैव संभवति तथासति कस्कोवेदभागः किं किंनामभि धूर्तभण्डनिशाचरैः कस्मिन्कस्मिन् वर्षमासेपक्षेतिथौ च कुत्रकुत्रदेशेरच्यमानः किंकिंनामभिर्लोकैः साक्षात्कृतः ? त्वयाचाधुनिकेन चिरतरातिक्रान्तानां स स वेदरचनासाक्षात्कारःकथंकारंनिर्णीतः ? इत्याद्यनुयोगे चार्वाकस्यमूकत्वापत्तेः। वेदस्य तत्तद्भागेषु धूर्तादितत्तद्रचितत्वस्य सम्भावनामात्रं तु प्रमाणविरहादत्यन्तमकिञ्चित्करमेव। अपिच जर्भर्यादिशब्दानामर्था मन्त्रभागप्रामाण्यनिरूपणावसरे निपुणतरमुपवर्णयिष्यन्तइति क धूर्ततावार्तापि। प्रत्युत तदर्थाज्ञानं चार्वाकस्यैवदूषणमतिजागरूकम्। किंच नह्यश्वमेधादिकमीदृशं कर्म यदकरणेप्रत्यवायःस्यात् अग्निहोत्रादिवत् अपितु काम्यमेव तत्रैव चाश्वाद्युपयोगउक्तोवेदे नतु नित्येऽपि यज्ञे। काम्ये च कर्मणि न कंचनवेदः साग्रहं प्रवर्तयति। किंतु यस्तत्फलं कामयेत यस्मै च तत्फलकामुकाय तत्कर्म रोचेत स तत्रप्रवर्त्ततेत्येवाभिप्रैति तथाच तत्र चार्वाका मा प्रवर्तिषतेत्येतावता न वेदस्य किंचिदपचीयते

॥ भाषा ॥

नाम के धूर्त, भाण वा राक्षस ने किस २ स्थान में बैठ कर रचना किया ?। और रचना करते समय किन २ अन्यान्य मनुष्यों को वह रचना प्रत्यक्ष हुई ? तथा आज के वर्तमान चार्वाकों को उक्त रचना के उस पुराने प्रत्यक्ष का ज्ञान, अपने प्रत्यक्ष के बिना कैसे हुआ ? इत्यादि। और इन प्रश्नों का ठीक उत्तर कोई चार्वाक कदापि नहीं दे सकता। इससे यह निश्चित है कि वेद को धूर्तादिरचित कहना, चार्वाकों की केवल कपोलकल्पना (अटकल पच्चू गढंत) मात्र है।

(४) 'जर्भरी' आदि शब्दों के अर्थों को यास्कमहर्षि आदि पूर्वमहाशयों ने निरुक्त आदि में भली भांति वर्णन किया है। तथा वैदिकमन्त्रभाग के प्रमाण्य को निरूपण करते समय इस ग्रन्थ में भी इन शब्दों के अर्थ कहे जायंगे इससे यह सिद्ध है कि इन शब्दों के अर्थों को न जानना चार्वाकों हीं का दोष है जिस को वे वेद और उसके व्याख्याकारों पर उलटे लगाने का साहस करते हैं।

(५) जिन अश्वमेध आदि कतिपययज्ञों में अश्लीलतुल्य कामों वा हिंसा आदि का सम्बन्ध है वे कोई यज्ञ नित्य (जिस के न करने से पाप होता है जैसे सन्ध्योपासन, अग्निहोत्र आदि) नहीं हैं अर्थात् उन अश्वमेध आदि के लिये वेद का यह आग्रह नहीं है कि उनको अवश्य ही करो किन्तु अश्वमेध आदि के विधान का यही तात्पर्य है कि जिस अधिकारी मनुष्य को उनके फलों की कामना और उन यज्ञों में श्रद्धा तथा रुचि (प्रसन्नता) हो वह उनको करे। इसी से वे यज्ञ 'नित्य' नहीं कहे जाते किंतु काम्य (जिस का करना वा न करना, अधिकारी मनुष्य की इच्छा के अधीन है) कहे जाते हैं। तो ऐसी दशा में चार्वाक अथवा आस्तिक ही कोई यदि उन अश्वमेध आदि यज्ञों में श्रद्धा वा रुचि नहीं रखता तो उसके लिये वेद, उन यज्ञों के करने का विधान (आज्ञा) भी नहीं करता है और ऐसे २ मनुष्यों के न करने से कोई हानि भी वेद की नहीं हो सकती क्योंकि उन यज्ञों के करने और उनमें श्रद्धा तथा रुचि रखने वाले सहस्रों मनुष्य, आदिसृष्टि से अब तक हो चुके और हैं भी।

(६) वेद के कर्मकाण्डभाग में जिन २ फलों के लिये अश्वमेध आदि काम्यकर्मों के

अतिक्रान्तेऽनादौ समये तत्कर्तृसहस्रसद्भावात् अपिच यानि फलान्युद्दिश्य वेदे यज्ञा विधीयन्ते तान्युद्दिश्योपासनाअपि तत्र विधीयन्ते यथा 'उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः' इत्यादि। उपासनासु तु नास्त्येवाश्लीलत्वाद्यारोपसम्भवोऽपि। सर्वेषां च चित्तं ग्रहीतव्यमित्यभिप्रेत्यैव चैकस्मै फलायानेकविधोपायोपदेशइति कुतो दोषशङ्कावकाशः चार्वाकमते च पूर्वैरास्तिकैःपण्डितप्रवरैरनेकानि दुरुद्धराणि दूषणान्युपवर्ण्य तत्तद्ग्रन्थेषु तिलशःशकलितमेवतन्मतम्। वेदविषयाणि तद्वाक्यानि कतिपयानि त्विह दिक्प्रदर्शनन्यायेन खण्डितानीत्यलमेतावतेतिध्येयम्।

इति वेदस्यापौरुषेयत्वम्।

अथ वेदार्थबाधशङ्कासमाधिः।

नन्वप्रामाण्ये कारणद्वयमेव पूर्वमुपपत्तिभिर्निर्णीतम् कारणदोषोऽर्थबाधश्च। प्रमाणसामान्याच्च शब्देऽपि तदेवाप्रामाण्यनिर्णायकम्। शब्दसामान्याच्च वेदेऽपि तदेव प्रसज्यमानमपि पूर्वं निराकृतम्। तत्र वेदस्य नित्यत्वोपपादनेन निराश्रयत्वात्कारणदोषो निरस्तः।

॥ भाषा ॥

विधान हैं उन हीं फलों के लिये वेद के उपासनाकाण्डभाग में अनेक प्रकार की उपासनाओं के भी विधान हैं जिन में कि अश्लीलक्रिया वा हिंसा के गन्धमात्र का भी संभव नहीं हो सकता। तथा उपासनाओं के विधान करने का आशय भी यही है कि जिस मनुष्य को किसी यज्ञ में किसी कारण से श्रद्धा वा रुचि न हो वह भी उस यज्ञ के फल से वञ्चित न रहै किंतु उपासना के द्वारा उस फल का भागी हो जाय, तो जब ऐसा है कि एक २ फल के लिये मनुष्यों की श्रद्धा और रुचि के अनुकूल, यज्ञ और उपासना रूपी अनेकप्रकार के अनेकउपायों के उपदेशों से वेद सर्वोपकारी है तब वेद पर चार्वाक के उक्त आक्षेप का स्पर्शमात्र भी नहीं हो सकता। प्राचीन ग्रन्थों मे आस्तिक बड़े २ पण्डितों ने चार्वाकमत के प्रत्येक अंशों का अतिप्रबल दूषणों से खण्डन किया है और इस ग्रन्थ के दर्शनकाण्ड में भी उक्त मत का विशेष से खण्डन किया जायगा। इसी से इस अवसर पर वेद के विषय में उक्त मत का, उदाहरणरूप से थोड़ा ही खण्डन कर विस्तार नहीं किया जाता है। वेद का अपौरुषेयत्व पूर्ण हो गया।

। अब वेद के अर्थ में असत्यता की शङ्का का वारण किया जाता है।

आक्षेप—(१) किसी प्रमाण के अप्रमाण होने का कारण, पूर्व में बड़े समारोह से दो ही दिखलाये गये एक कारणदोष, और दूसरा अर्थबाध, और शब्द भी एक प्रमाण ही है इसी से शब्द के अप्रमाण होने में भी वे ही दोनों कारण होते हैं तथा वेद भी शब्द ही है इसी से उन्ही दोनों कारणों से वेद के भी अप्रमाण होने का आरोप करके पूर्व ही वेद के विषय में उन दोनों कारणों की जड़ उखाड़ी गई परन्तु वेद के नित्य होने से कारणदोष (यद्यपि) उखड़ गया क्योंकि नित्य का कोई कारण ही नहीं होता और जब कारण नहीं है तब कारणदोष कहां से आ सकता है। एवं "स्वर्गकामोयजेत" इत्यादि वेदवाक्यों में अर्थबाध भी पूर्व हीं उखड़ चुका है क्योंकि उन में कहे हुए स्वर्गादिफल जब किसी अन्य प्रमाण से ज्ञात नहीं हो सकते तो उन फलों का अभाव भी किसी अन्यप्रमाण का विषय नहीं हो सकता, यह बात बड़े विस्तर से पूर्व में कही जा चुकी है (तथापि) जलवृष्टि, पशुप्राप्ति, और शत्रुवध आदि फल, जिन वेदवाक्यों में कारीरी, चित्रा और श्येन आदि यज्ञों के कहे हुए हैं वे वेदवाक्य तो अवश्य ही अप्रमाण हैं जैसे "कारीर्या यजेत वृष्टिकामः" "चित्रया यजेत पशुकामः"-

अर्थवाधस्त्ववशिष्यत एव निराकर्तुम् स च वेदनिरपेक्षप्रमाणान्तरानवलीढविषयेषु स्वर्गकामादिवाक्येषु विरुद्धप्रमाणान्तरानवतारान्नैव संभूत् सांदृष्टिकफलेषु तु 'कारीर्य्या यजेत वृष्टिकामः' 'चित्रया यजेत पशुकामः' 'श्येनेनाभिचरन् यजेत' इत्यादिषु दृष्टफलाभिलाषकेषु प्रत्यक्षबलादेव प्रसजन्नर्थबाधो नोपायशतैरपि शक्यते प्रतिषेद्धुम् । कृतेऽपि कारीर्य्यादौ बहुशः फलालाभोपलम्भात् ।

एवम् मानान्तरमनपेक्ष्यैव जायमानः परस्परार्थव्याघातात्मा मिथःसंघर्षजन्यवेणुवनदहनायमान आवश्यकान्यतरार्थवाधो व्यासेधतितमां वेदस्य प्रामाण्यम् । स यथा "उदिते जुहोति । अनुदिते जुहोति । समयाध्युषिते जुहोति । श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति । शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति यो ऽनुदिते जुहोति । श्यावशवलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" इति । अत्र ह्युदितादिवाक्यानां क्रमेण निंदानुमितानिष्टसाधनतावोधकैः श्यावादिवाक्यैः सह विरोधो दुर्वार एव ।

एवम् प्रयोजनवाधप्रयुक्तार्थवाधपर्य्यवसायिनी वैयर्थ्यापरपर्य्याया पुनरुक्तिरपि-

॥ भाषा ॥

"श्येनेनाभिचरन् यजेत" इत्यादि ; क्योंकि जैसे वृष्टि आदि फल प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञात होते हैं वैसे ही उनका अभाव भी, और अनेक अवसरों में यह देखा जाता है कि कारीरी आदि यज्ञ करने पर भी वृष्टि आदि फल नहीं होते तो ऐसी दशा में इन वाक्यों के विषय से, अर्थबाधरूप दोष कदापि नहीं उखड़ सकता ।

(२) अन्यप्रमाण के बल से दृष्टार्थक वेदवाक्यों में जैसे अर्थबाध दिखलाया गया वैसे ही बहुत से अदृष्टार्थ वेदवाक्यों में भी एक से दूसरे वाक्य का अर्थबाध होता है जिसको विरोध और व्याघात कहते हैं जैसे ' उदिते जुहोति । अनुदिते जुहोति । समयाध्युषिते जुहोति " "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति । शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति । श्यावशवलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति" प्रथम तीनों वाक्यों का क्रम से यह अर्थ है कि उदित (सूर्यमण्डल की रेखा मात्र उगने का काल) में अग्निहोत्र करे । अनुदित (रात्रि के अन्तिम सोलहें भाग में जब तक कुछ तारे देख पड़ें) में अग्निहोत्र करे । समयाध्युषित (तारों के लुप्त होने के पश्चात् सूर्योदय से प्रथम) अग्निहोत्र करे । और अनन्तरोक्त तीन वाक्यों का यह अर्थ है कि जो पुरुष उदित में अग्निहोत्र करता है उसकी आहुति को श्याव, और जो अनुदित में अग्निहोत्र करता है उसकी आहुति को शवल, और जो समयाध्युषित में अग्निहोत्र करता है उसकी आहुति को श्याव और शवल (यमराज के कुत्ते) दोनों खा जाते हैं ।

अब ध्यान देना चाहिये कि पूर्ववाक्यों का यह अर्थ है कि अग्निहोत्र अवश्य करना चाहिये और उत्तरवाक्य, अग्निहोत्र की स्पष्ट ही निन्दा करते हैं जिस से यह अर्थ स्पष्ट निकलता है कि अग्निहोत्र कदापि नहीं करना चाहिये, ऐसी दशा में एक वाक्य से दूसरे वाक्य का अर्थबाध प्रकट ही है । तस्मात् जैसे वायुवेगकृत अन्योन्यसंघर्ष (रगड़) से उत्पन्न अग्नि, बांसों के बन को भस्म कर देता है वैसे ही उक्त अन्योन्यविरोध, वेद को अप्रमाण कर देता है ।

(३) एवं व्यर्थतानामक पुनरुक्तदोष से भी वेद अप्रमाण है । जैसे " त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् " इसका अर्थ यह है कि पहिली ऋचा और अन्तिम ऋचा को तीन २ वार पढ़ै। यहाँ-

वेदस्य प्रामाण्यमास्कन्दति। सा यथा 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' इति। अत्र त्रिःकथनेनोत्तमत्वस्यैव प्रथमत्वे पर्यवसानात्पुनरुक्तिः स्पष्टैव एवंचोक्तनिदर्शनत्रयानुसारेणादृष्टार्थकानां स्वर्गकामादिवाक्यानामप्यप्रामाण्यमध्यवसातुं सुकरमेव। तथाच-
भगवान् गौतमः न्यायदर्शने २ अध्याये १ आह्निके

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ५६ इति।

अदृष्टार्थकोवेदश्चेह तच्छब्दार्थ इति चेत् न

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५७ ॥
अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् ॥ ५८ ॥
अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ५९ ॥

इति तदुत्तरसूत्रैः क्रमेण त्रयाणामप्याक्षेपाणां समाधानस्य भगवताऽक्षपादेनैवोक्तत्वात्। तथाहि। न वेदाप्रामाण्यम् प्रामाण्येऽपि कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्फलानुत्पत्तेरुपपत्तेः। कर्मणो वैगुण्यम् अयथाविधित्वादि। कर्तुर्वैगुण्यम् मूर्खत्वादि। साधनस्य हविरादेः वैगुण्यम् अप्रो-

॥ भाषा ॥

एक ऋचा को तीन बार पढ़ने से उस ऋचा का अर्थ तो बदलैगा नहीं तब एक ही बात को अनेक बार कहने से पुनरुक्तदोष स्पष्ट है इससे भी वेद, उन्मत्तवाक्य के ऐसा अप्रमाण ही सिद्ध होता है।

(४) इन तीनों आक्षेपों में दिये हुए उदाहरणरूपी तीन प्रकार के वेदवाक्यों को दृष्टान्त बना कर "स्वर्गकामो यजेत" आदि अदृष्टार्थक अन्य वेदवाक्यों की अप्रमाणता भी यदि अनुमान से सिद्ध की जाय तो उस में कुछ भी अब परिश्रम नहीं पड़ सकता। और पूर्वोक्त इन्हीं तीनों आक्षेपों को न्यायदर्शन अध्याय २ आन्हिक १ सूत्र ५६ से भगवान् गौतममहर्षि ने भी कहा है।

समाधान (१) आक्षेप का–कारीरी आदि यज्ञ करने पर भी जो कहीं २ वृष्टि आदि फल नहीं होता है उसमें कर्म, कर्ता और द्रव्य में से एक वा दो वा तीनों का दोष ही कारण है। कर्मदोष जैसे–कर्मों के क्रम का बिगड़ना। कर्ता का दोष–मूर्खता आदि कारणों से अधिकारी न होना। द्रव्य का दोष–हवि आदि पदार्थों में अशुद्धता। तात्पर्य यह है कि जैसे २ कर्म, कर्ता, द्रव्य आदि से संयुक्त क्रियासमूहरूपी यज्ञों का कारीरी आदि नाम से वेद में विधान है वैसे-यज्ञों के करने पर यह संभव ही नहीं है कि फल न हो। और जिन यज्ञों में पूर्वोक्त दोष पड़ गये उनका तो न कारीरी आदि नाम है और न वेद में विधान है तो उनके करने पर फल का न होना उचित ही है ऐसी दशा में उनका दृष्टान्त ले कर कारीरी आदि पर आक्षेप करना बेसमझी का परिणाम है क्योंकि मूर्छित वा सोये हुए कुम्हार के घट न बनाने का दृष्टान्त ले कर कैसे कोई बुद्धिमान पुरुष कुम्हार के घटकर्ता होने पर आक्षेप कर सकता है इस समाधान को पूर्वोक्तसूत्र के अनन्तर ५७ सूत्र से गौतम महर्षि ही ने कहा है।

समा० (२) आक्षेप का–पूर्वोक्त अग्निहोत्र के निंदावाक्यों का तात्पर्य यह है कि प्रथम-२ अग्नि के आधान के समय में यदि कर्ता यह संकल्पवाक्य पढ़ चुका है कि "मैं उदित ही में अग्निहोत्र के लिये अग्नि का आधान करूंगा" तब यदि वह कर्ता किसी दिन अपनी उक्तप्रतिज्ञा

क्षितत्वादि । एवं च यादृशयादृशविशेषणविशिष्टकर्तृकर्मेतिकर्तव्यतादिघटितानां येषां क्रियाकलापानां कारीर्य्यादिपदप्रतिपाद्यानां वेदेन विधानं न तेषां कदाचिदपि फलान्वयव्यभिचारः शक्य उदाहर्तुम् कर्त्रादिवैगुण्यप्रयुक्ततत्तद्विशेषणाभाववशाद्येषांक्रियाकलापानां नोक्तं विधानं तेषां तु फलान्वयव्यभिचारदर्शनेन तादृशफलसाधनताभङ्गेऽपि वैदिकस्य क्रियाकलापस्य न किञ्चिदपचीयते नहि मूर्छितस्य सुप्तस्य वा कुलालस्य घटकारणत्वाभावमात्रेण चक्रचीवरकुलालादिघटितायाः सामग्र्या घटकारणत्वं शक्यं भङ्क्तुमिति प्रथमसूत्राभिप्रायः । किंच अग्न्याधानकाले "उदितेहवनायाधानंकरिष्ये" इति सङ्कल्पेनाभ्युपेत्य यः कदाचिदनुदिते जुहोति तस्याहुतिं शवलोऽभ्यवहरति । स्वप्रतिज्ञातस्य कालनियमस्य परित्यागेन पुरुषापराधात् एवमनुदितादिहोमसङ्कल्पेऽपि वोध्यम् तथाचाधानकाले यः कालः सङ्कल्पेनाभ्युपेतः तस्य भेदे–कथंचिदपि परित्यागे श्यावेन शवलेन उभाभ्यां चाहुतेरभ्यवहृतिरूपस्य दोषस्य वेदेन वचनात्–कथनात् स्वस्वप्रतिज्ञाततत्तत्कालानतिक्रमेण कृतेषूदितादिहोमेषु न कथंचिदपि निषेधस्पर्श इति नात्रव्याघात इति द्वितीयसूत्राशयः ।

तथाच मनुः २ अध्याये

उदितेऽनुदिते चैव समयाध्युषिते तथा। सर्वथा वर्त्तते यज्ञ इतीयं वैदिकी श्रुतिः ॥ १५ ॥इति ।

अपिच निष्प्रयोजनत्वं हि पुनरुक्तेर्दूषकताबीजम् उक्तस्थले तु अनुवादस्य उपपत्तेः सप्रयोजनकत्वसंभवात् न पुनरुक्तिर्दूषणं किंतुभूषणमेव "इममहं भ्रातृव्यंपञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण च बाधे योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः" इति श्रूयमाणं सामिधेनीनां पञ्चदशत्वं पाठप्राप्तेनैकादशत्वेन विरोधादुपपादयितुमशक्यं प्रथमोत्तमयोः सामिधेन्योस्त्रिस्त्रिरावर्तनेनोपपाद्यत इत्यनुवादप्रयोजनमिहस्पष्टमिति न पुनरुक्तिर्दोषायेति तृतीयसूत्राकूतम् । एवं तावत्

॥ भाषा ॥

का उल्लंघन कर सूर्योदय के प्रथम अग्निहोत्र करता है तो उसकी आहुति को शवल खा लेता है ऐसा ही अवशिष्ट दोनों वाक्यों का तात्पर्य समझना चाहिये । निदान वह निंदा, अपनी प्रतिज्ञा के उल्लंघन करने की है न कि अग्निहोत्र की । इस समाधान को भी उक्तमहर्षि ही ने उक्तस्थानपर ५८ वें सूत्र में कहा है । और इसी समाधान के अभिप्राय से अध्याय २ श्लोक १५ में मनु जी ने भी कहा है कि "यह वेदकी श्रुति है कि अपने २ संकल्पवाक्य के अनुसार उदित अनुदित और समयाध्युषित रूपी प्रत्येक कालों में यज्ञ करे" ।

समा० (३) आक्षेप का–पुनरुक्तिदोष वहां होता है जहां पुनः कहने का कोई फल न हो और जहां पुनः कहने का फल है वहां तो पुनरुक्ति भूषण ही है न कि दूषण । जैसे कि अनुवाद में "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इस वाक्य से जो, ऋचाओं को तीन वार कहना विहित है उसका भी यह फल है कि उसी स्थान पर यह भी वेद में कहा है कि "मैं अपने शत्रु को सामिधेनीनामक १५ ऋचारूपी वज्र से मारता हूं" और सामिधेनीनामक ऋचाएं ११ ही हैं तो यह विरोध पड़ता है कि इस वाक्य में सामिधेनी १५ कैसे कही गई ? इसी विरोध के परिहारार्थ आदि अंत की ऋचाएं तीन २ वार पढ़ी जाती हैं जिसका कि विधान है और तीन २ वार पढ़ने से दो पहिली और दो पिछली में अर्थात् चार अधिक हो जाने से १५ संख्या पूरी होती है यह पुनः कहने का

पूर्वोक्तमानववाक्यस्य (वेदोमूलम्) इति चतुरक्षरोंऽशो व्याख्यातः। उपपादितं च सामान्यतः कृत्स्नस्यैव वेदस्य धर्मे स्वतःप्रामाण्यम्।

इति वेदार्थबाधशङ्कासमाधिः।

अथावयवशो वेदप्रामाण्यम्।

अथ विध्यर्थवादादीनां वेदावयवानां धर्मे स्वतःप्रामाण्यमुपयोगविशेषांश्च विशेषतो वर्णयितुं तस्यैव मानववाक्यस्य (अखिलः) इति त्र्यक्षरोंऽशो व्याख्यायते। तस्य च सङ्क्षेपतश्चत्वारि तात्पर्याणि यथा—

(१) वेदः पूर्वोक्तलक्षणलक्षितो 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यापस्तम्बाद्युक्तो मन्त्रब्राह्मणसमुदाय एव न केवलं धर्ममूलम् किंतु (अखिलः) श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याऽनुमितोऽतिदेशकल्पोऽपीति मित्रमिश्रेणोक्तमाद्यम्।

(२) "सः त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इत्यापस्तम्बादिवचनात्त्रय्या एव धर्ममूलत्वम् नाथर्वणस्येतिशङ्काव्यावृत्त्यर्थं वा ऽखिलग्रहणम्। आथर्वणस्य प्राधान्येन वैतानिकाग्निहोत्रादिधर्माप्रतिपादकत्वेऽपि तुलापुरुषशान्त्यादिसर्ववर्णसाधारणधर्मप्रतिपादकत्वाद्युक्तं धर्ममूलत्वमिति तदुक्तमेव द्वितीयम्।

॥ भाषा ॥

फल है तस्मात् पुनरुक्तिदोष नहीं है। इस समाधान को उक्त महर्षि ही ने उक्तस्थान पर ५९ वें सूत्र से कहा है।

(४) चौथे आक्षेप का समाधान भी इन्हीं समाधानों से हो गया।

यहां तक "वेदोऽखिलोधर्ममूलम्" इस मनुवाक्य के "वेदोमूलम्" इन चार अक्षरों का व्याख्यान समाप्त हो गया। और सामान्यरूप से समस्तवेद की धर्म में स्वतःप्रमाणता भी सिद्ध हो गई। तथा वेद के अर्थ में बाध की शङ्का का समाधान हो चुका।

वेदके प्रत्येक प्रसिद्ध भागों का पृथक् २ प्रामाण्य।

अब वेद के अवयव, विधि, अर्थवाद, आदि की धर्म में स्वतःप्रमाणता और विशेष उपयोग को विशेषरूप से वर्णन करने के अर्थ उसी मनुवाक्य के (अखिलः) इन तीन अक्षरों का व्याख्यान किया जायगा। इन तीन अक्षरों के तात्पर्य संक्षेप से चार प्रकार के हैं।

(१) तात्पर्य—यह नहीं है कि "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस, आपस्तम्ब आदि महर्षियों के वाक्य से वर्णित और उक्तलक्षण से भूषित जो, मन्त्र ब्राह्मण का समुदायरूपी वेद है वही धर्म का मूल (प्रमाण) है, किन्तु सब, अर्थात् उस वेद की आज्ञा वा तात्पर्य के बल से जो वाक्य कल्पित होते हैं वे भी धर्म के मूल हैं। जैसे 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (वेदपढ़े) इस श्रुति के अनुसार, 'वेद के वाक्यों को कण्ठस्थ करें' 'उनके अर्थों को समझैं' 'मीमांसा के अनुसार उनको विचारैं' इत्यादि वाक्य, कल्पित होते हैं वे भी धर्म में प्रमाण हैं। अथवा जैसे 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा यएता रात्रीरुपयन्ति' (रात्रिसत्र जो करते हैं वे प्रतिष्ठित होते हैं) इस अर्थवाद से कल्पित 'प्रतिष्ठाकामाःसत्रमासीरन्' (प्रतिष्ठा चाहने वाले सत्र करैं) यह वाक्य धर्म में प्रमाण है।

(२) तात्पर्य—यह नहीं समझना चाहिये कि "स त्रिभिर्वेदैर्विधीयते" इस आपस्तम्बादिवाक्यों से तीन हीं वेद धर्म के मूल हैं क्योंकि अग्निहोत्र आदि वैतानिक (मण्डप बनाकर जो किये जाते हैं) यज्ञरूपी धर्म का प्रतिपादन उन्हीं में है। किंतु सब, अर्थात् अथर्ववेद भी धर्म-

(३) कर्मोपासनाज्ञानप्रतिपादकानां त्रयाणामपि वेदकाण्डानामविशिष्टं धर्ममूलत्वम् नतु कर्मकाण्डमात्रस्य, उपासनाकाण्डस्य हि "वायुर्वाव गौतम अग्निः" "योषा वाव गौतम अग्निः" 'आदित्यो वै देवमधु' इत्यादेराहार्योपासनाविधायकतया तत्प्रतिपाद्यानां तादृशोपासनानां स्वरूपतो न बाधः। विषयस्य च बाधेऽपि-

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याऽभिधावतोः। मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियाम्प्रति" १।

इत्यभियुक्तोक्तसंवादिभ्रमोपपादनन्यायेन फलजनकत्वं तादृशोपासनानां नासंभव-

॥ भाषा ॥

का मूल है क्योंकि उसमें तुलापुरुष, शांति, आदिरूपी सब वर्णों के साधारण धर्म का प्रतिपादन है। इन दो तात्पर्यों को, पूर्वोद्धृत, वीरमित्रोदय के भाग में पण्डित मित्रमिश्र ने कहा है।

(३) तात्पर्य—कर्म, उपासना, और ज्ञान के प्रतिपादक तीनों काण्ड वेद के, तुल्यरूप से धर्म के मूल हैं न कि केवल कर्मकाण्ड। क्योंकि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वाक्य से स्वाध्याय (वेद) के अध्ययन का विधान है। और जैसे कर्मकाण्ड, वेद है वैसे ही उपासनाकाण्ड भी तथा जैसे कर्मकाण्ड के ब्राह्मणभागों में यज्ञों के विधान और फल का वर्णन है वैसे ही उपासनाकाण्ड में भी उपासनाओं का विधान और उनके फलों का।

प्रश्न—"वायु, अग्नि है" "स्त्री, अग्नि है" "सूर्य, मधु का छाता है" इस प्रकार की उपासनाओं का विधान उपासनाकाण्ड में है। और एक विषय पर एकाकार ध्यानों की अविच्छिन्नधारा को उपासना कहते हैं। तो जब वायु आदि में अग्नि आदि का भेद बहुत ही प्रसिद्ध है तब कैसे उनमें उनकी "वायु ही अग्नि है" इत्यादि रूप से उपासना हो सकती है?

उत्तर—भेद का ज्ञान रहते भी अभेद मान कर ऐसी उपासनाओं का होना असंभव नहीं है जैसे प्रतिमाओं में देवताओं की उपासनाओं का।

प्रश्न—हां ऐसी उपासनाएं हो तो सकती हैं परन्तु उनसे जो फल होना उपासनाकाण्ड में कहा है उसका तो असंभव ही है क्योंकि भेद के निश्चय रहते जो अभेद का ध्यान होगा वह भ्रम ही है और भ्रम से कदापि फल का लाभ नहीं होता किंतु यथार्थज्ञान ही से "हाथ कंगन को आरसी क्या" भला कोई पुरुष ठिकरी को रुपया समझ कर क्या उस से रुपये के फल का लाभ कर सकता है?

उत्तर—भ्रम भी दो प्रकार का होता है एक संवादी (जिस से फल होता है) दूसरा विसंवादी (जिस से फल नहीं होता) इसके उदाहरण ये हैं कि एक अंधेरी कोठरी में एक स्थान पर ज्वलितदीपक और दूसरे स्थान पर तेजस्वीमणि को एक २ सच्छिद्र औंधे घट से ढांप कर रख दिया जाय और बाहर से दो मनुष्यों को यह कह कर नियोग किया जाय कि मणि लाओ और दोनों मनुष्य कोठरी में घुसें और उनमें से एक, घट के छिद्र से निकलती हुई दीप की प्रभा को मणि समझ कर उधर जा पहुँचे और दूसरा, घटके छिद्र से निकलती हुई मणि की प्रभा को मणि समझ कर उधर पहुंचे तो ऐसी दशा में यद्यपि मणि का ज्ञान दोनों पुरुषों का भ्रम ही है क्योंकि कोई प्रभा मणि नहीं है तथापि पहिला पुरुष खाली हाथ पलटैगा क्योंकि जब प्रभा पर हाथ लगावैगा और मणि न पावैगा तब प्रभा का मूल ढूंढ़ता हुआ, उस घड़े को उठावैगा तब भी दीपक ही पावैगा न कि मणि। और दूसरा मनुष्य प्रभा पर हाथ लगाने के अनन्तर उसके मूल को-

दुक्तिकम्। एवंचोपासनाकाण्डस्यापि स्वाध्यायाध्ययनविधिपरिगृहीतत्वात्तत्तदुपासनाप्रकरणोपदिष्टश्रेयस्करोपासनाप्रतिपादकत्वाच्च धर्ममूलत्वमतीवप्रामाणिकम्। एवम् तत्त्वमसीत्यादौ सिद्धार्थे ज्ञानकाण्डे "तरतिशोकमात्मवित्" "न स पुनरावर्त्तते" इत्यादिभिः श्रुतिभिरनन्तश्रेयस्करत्वेनप्रतिपादितस्य धर्मशिरोमणेर्निवृत्तधर्मस्य प्रतिपादकतया स्पष्टं धर्ममूलत्वम्।

तदुक्तम् श्रीभगवद्गीतासु ४ अध्याये

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥३८॥ इति।

अन्यत्रापि

स्नातं तेन समस्ततीर्थसलिले दत्ताऽपि सर्वाऽवनी
यज्ञानां च कृतं सहस्रमखिला देवाश्च संतोषिताः।
संसाराच्च समुद्धृताः स्वपितरस्त्रैलोक्यपूज्योऽप्यसौ
यस्य ब्रह्मविचारणेक्षणमपिस्थैर्य्यंमनः प्राप्नुयात्॥ १॥ इति।

मनुरपि

'प्रवृत्तं च निवृत्तं च द्विविधंकर्म वैदिकम्। इह वाऽमुत्र वा काम्यं प्रवृत्तमभिधीयते॥
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमिति कीर्त्यते'॥ इति

तथाच श्रीमद्भगवद्गीतानुसृते काण्डविभागे न कश्चिदपि वेदभागोऽनर्थक इति बोधनार्थम् (अखिलः) इतीत्यस्मत्पितामहोपाध्याय,दर्शनवृत्तिषड्भेदधिकारधिक्कृत्याद्यनेकनिबन्धनिर्मातृ, कूर्माचलाभिजन, सारस्वतपुरुषावतार, पन्तोपाह्वपूज्यपादश्रीधरणीधरशर्मोक्तं तृतीयम्।

॥ भाषा ॥

ढूंढ़ता हुआ उस घट को उठा कर माणि को पा जायगा ऐसे ही वैदिक उपासनाएं संवादीभ्रम होने से फल का लाभ कराती हैं इसी से उपासनाकाण्ड के धर्ममूल होने में कोई संदेह नहीं है। एवं सदासिद्ध ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादक "तत्त्वमसि" आदि ज्ञानकाण्ड भी स्पष्ट ही धर्ममूल है क्योंकि मोक्षरूपी अक्षयफलका देने वाला ज्ञानरूपी धर्मशिरोमणि (निवृत्तनामक धर्म) का प्रतिपादन उस में है इसी से श्री भगवद्गीता अध्याय ४ श्लोक ३८ में स्पष्ट ही कहा है कि "ज्ञान के तुल्य पवित्र कुछ भी नहीं है" और अन्यस्मृति में भी कहा है कि "वह पुरुष, सब तीर्थजलों में स्नान, समस्तपृथिवी का दान, सहस्रों यज्ञों का अनुष्ठान, सब देवताओं को संतोषप्रदान, और अपने पितरों का संसारदुःख से उद्धारविधान. कर चुका और वही पुरुष, तीनों लोकों का पूज्य भी है जिसका मन, ब्रह्मतत्त्व के विचार में क्षणमात्र भी स्थिरता को प्राप्त हो जाय" तथा मनु ने भी कहा है कि "वैदिक धर्म दो प्रकार का होता है एक प्रवृत्त, दूसरा निवृत्त। प्रवृत्त उसको कहते हैं जो लौकिक वा पारलौकिक फल की कामना से किया जाय. और निवृत्त उसको कहते हैं जो निष्काम हो कर ज्ञानपूर्वक किया जाय"। तस्मात् उक्त रीति से 'अखिल' अर्थात् सभी वेदभाग धर्ममूल ही हैं न कि कोई अनर्थक भी। यह तात्पर्य, षड्दर्शन के वृत्तिकार, भेदधिकारधिक्कृति आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, कुमाऊँ के उत्पन्न, सरस्वती के पुरुषावतार, और मेरे पितामह के उपाध्याय, पूज्यपाद पण्डित श्रीधरणीधर पन्त जी का कहा हुआ है।

एवम् लौकिकानामिव ब्राह्मणभागान्तर्गतानां वैदिकानां 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' 'न कलञ्जं भक्षयेत्' इत्यादीनां विधिनिषेधभागानां प्रवृत्तिनिवृत्तिफलकत्वादौत्पत्तिकसूत्रीय-तुर्याशयवर्णनावसरे पूर्वमुक्तया 'विधावनाश्रितसाध्यः' इत्यादिवार्तिकोक्तरीत्या पदार्थस-मन्वयोपपादनाच्च सार्वलौकिकं सूपपन्नं च धर्ममूलत्वं दुरपह्नवत्वादास्तां नाम । भवतु च 'तत्तु समन्वयात्' वे० द० अ० १ पा० १ सू० ४ इत्यत्र दृढतरया श्रीमद्भगवत्पादोक्त-रीत्या सूपपादितत्वात्सिद्धार्थस्योपनिषद्भागस्यापि तत् । मन्त्रार्थवादनामधेयानां तु धर्ममू-लत्वं न प्रमाणगोचरतामनुभवितुं प्रभवति । प्रवृत्तिनिवृत्त्योः साक्षादनुपयोगित्वात् । विधि-निषेधोपसर्जनताया अपि सम्बन्धरूपद्वारविरहेणात्यन्तासंभवदुक्तिकत्वाच्चेत्याशङ्कानिवार-णाय (अखिल) इति । अनेन च विध्यादिभागानामिव मन्त्रादिभागानामप्यनादिमीमांसा-परिशोधितैरतिदूरनिरस्तसमस्ताशङ्कैः प्रमाणतर्ककलापैर्विध्याद्युपसर्जनतानिदानस्य सम्ब-न्धात्मकद्वारस्य विघटिताज्ञानकपाटत्वाद्विध्याद्युपसर्जनतया धर्ममूलत्वमतिप्रामाणिकमिति षोढाविभागपक्षेऽपि न कश्चिद्भागोऽनर्थकः । यदा चानर्थकानामपि स्तोभानां सामात्मकगी-तिकालपरिच्छेदकतया स्पष्टेतिकर्तव्यताकुक्षिनिःक्षेपत्वादुपपन्नं धर्ममूलत्वं न केन चिदप-नेतुं शक्यते तदा सार्थकानां मन्त्रादिभागानां धर्ममूलत्वे वक्तव्यमेव किमस्तीति बोध्यत-

॥ भाषा ॥

(४) तात्पर्य—वेद के ६ भाग हैं १ विधि अर्थात् विधान जैसे "अग्निहोत्रं जुहुयात्" (अग्निहोत्र करे) इत्यादि । २ निषेध, अर्थात् वारण जैसे "न कलञ्जं भक्षयेत्" (कलञ्ज अर्थात् विषदिग्ध आयुध से हत हरिणादि के मांस को न खाय) इत्यादि ३ उपनिषद्, ४ नामधेय, जैसे "अग्निहोत्र" आदि, यज्ञ का नाम । ५ अर्थवाद, जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु बहुत शीघ्रकारी देवता है) इत्यादि । ६ मन्त्र, जैसे "अग्निमीले पुरोहितम्" इत्यादि–इन में पूर्व से पांचो भेद प्रायः ब्राह्मणभाग ही में हैं मन्त्र मात्र पृथक् है । विधि और निषेध भाग में धर्ममूलत्व, लोक के विधिनिषेधवाक्यों के नाईं प्रसिद्ध ही है और पूर्वोक्त औत्पत्तिकसूत्र के चौथे तात्पर्य के अनुसार उसकी उपपत्ति भी हो चुकी है । और "तत्त्वमसि" आदि उपनिषदों में भी धर्म की मूलता, "तत्तु समन्वयात्" इस, वेदान्तदर्शन अध्याय १ पाद १ सूत्र ४ पर भगवत्पाद श्री-शङ्कराचार्य जी की कथितयुक्तियों से सिद्ध है परन्तु नाम, अर्थवाद और मन्त्र, की धर्ममूलता में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि किसी कार्य के करने वा न करने में इन का विशेष रूप (साक्षात्) से किसी प्रकार का उपयोग नहीं ज्ञात होता और विधिनिषेधवाक्यों के साथ इन का कोई सम्बन्ध भी नहीं कहा जा सकता, जिस से विधि और निषेध में परंपरा से भी इनके कोई उपयोग की कल्पना हो सकती है तस्मात् इन तीन भागों का, धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । इस आक्षेप का समाधान, मनु जी ने "अखिलः" से दिया है कि वेद के सभी भाग धर्म के मूल हैं अर्थात् जैसे प्रथम तीन भाग धर्म के मूल हैं वैसे ही अन्तिम तीन भाग भी । क्योंकि अनादि निर्दोष मीमांसा-दर्शन में वर्णित, अशेष शङ्काओं के पूर्णनाशक, अतिप्रबल प्रमाणों और तर्कों से, विधि और निषेधवाक्यों के साथ, नाम, अर्थवाद और मन्त्र का सम्बन्ध विशदरूप से सिद्ध है । इसी से वेद का कोई ऐसा भाग नहीं है जो धर्ममूल न हो । और जबकि स्तोभ "हो हाइ" आदि अनर्थकशब्द भी सामगान के नियतसमय का पूरण करने से यज्ञक्रिया में अन्तर्गत हो कर

इत्यस्मत्पितृव्यश्रीतुलसीरामशर्मचरणोक्तं चतुर्थम्।

एतेषां च चतुर्णामपि तात्पर्याणां समुच्चय एव न तु विकल्पः। सर्वज्ञकल्पस्य धर्मानुशासनाभियुक्तस्य (मनुर्वैयदवदत्तद्भेषजम्) इतिवेदविदितमहामहिमशालिनः—
वेदार्थोपनिबन्धृत्वात्प्राधान्यं हि मनोःस्मृतम्। मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते १॥
तावच्छास्त्राणि शोभन्ते तर्कव्याकरणानि च। धर्मार्थमोक्षोपदेष्टा मनुर्यावन्न दृश्यते॥२॥ इति।
पुराणं मानवो धर्मः साङ्गोवेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि न हन्तव्यानि हेतुभिः १॥

इति च वार्हस्पत्यभारतीयस्मृतिगीतगौरवस्य च मनोरनेकतात्पर्य्यसंभवदशायामेकदेशिनइवैकतात्पर्य्यकल्पनाया अत्यन्तान्याय्यत्वात्।

इदं त्वत्रावधेयम्।

पुण्यवान्सुखीत्यादावुद्देश्यतानियामकधर्मव्यापकताया विधेये तत्संसर्गे वा भानस्यौत्सर्गिकस्य द्रव्यंरूपवदित्यादौ बाधेनाभानाद्वेदोधर्ममूलमित्येतावदुक्तौ मन्त्रार्थवादादीनामापाततो भावनांशत्रयत्रहिर्भावानुभवाद्धर्ममूलत्वस्य बाधेन वेदत्वव्यापकत्वं न बुध्येतेति तादृशबाधाभावबोधनायैवाखिलइत्युक्तम्।

अखिलशब्दस्य हि सर्वपर्य्यायत्वात्प्रकृते वेदत्वव्यापकधर्ममूलत्वव्याप्यपर्य्याप्तिकयावत्त्वविशिष्टः शब्दमर्यादाऽधीनो वाच्यार्थः। विभागोऽपि च वेदस्य वेदत्वव्याप्यपरस्परासमानाधिकरणनानाधर्मप्रकारकबोधानुकूलो व्यापारः स च 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति कात्यायनापस्तम्बादिभिः कल्पसूत्रकारैर्महर्षिभिः कृतोऽतिप्रामाणिकः। एवं सत्स्वपि ऋग्वेदत्वादिकमारभ्य वैदिकतत्तत्पदत्वपर्य्यन्तेष्वसङ्ख्यधर्मेषु स्वेच्छया यावतो धर्मान् समवलम्ब्य स्वतन्त्रो भगवान् व्यासो वेदं व्यास्थत् तावतो धर्मानवलम्ब्य-

॥ भाषा ॥

धर्ममूल होते हैं तब अर्थबोधक वेदवाक्यों के धर्ममूल होने में कहना ही क्या है। यह तात्पर्य मेरे पितृव्य श्रीतुलसीरामजी का कहा है।

यहां—यह नहीं समझना चाहिये कि उक्त तात्पर्यों में से एक कोई तात्पर्य मनु जी का है किंतु यही समझना चाहिये कि चारो तात्पर्य मनु जी के हैं क्योंकि ऐसे सर्वज्ञानमय धर्माभियुक्त और "मनुर्वै यद्वदत्तद्भेषजं भेषजतायाः" (मनु जो कहता है वह परमहित है) इस वेदवाक्य तथा अनेक स्मृतिवाक्यों से वर्णित महिमा वाले मनु जी के जब अनेक तात्पर्य हो सकते हैं तब किसी अल्पज्ञ पुरुष के नाई उन के एक ही तात्पर्य की कल्पना बहुत ही अनुचित होगी। अब यहां इस विषय पर ध्यान देना चाहिये कि 'अखिल' शब्द का वही अर्थ है जो 'सर्व' शब्द का होता है और विभाग भी वेद का वही कहलाता है कि उस के अवयवों के विशेष स्वभावों को दिखला देना। वह प्रथम विभाग, कात्यायन आपस्तम्ब आदि कल्पसूत्रकार महर्षियों का किया हुआ है अर्थात् मंत्र और ब्राह्मण, क्योंकि उनका सूत्र "मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्" (मन्त्र और ब्राह्मण, इन दोनों का वेद नाम है) है यह विभाग बहुत ही प्रामाणिक और अब तक प्रसिद्ध है। तथा ऋग्वेद यजुर्वेदादि रूप चारो वेदों और उन के अनेक शाखाओं का विभाग जो व्यासों का किया हुआ है वह दूसरा है। वह भी आज तक प्रसिद्ध ही है क्योंकि चैत्र मैत्र आदि नामों के नाई 'व्यास' शब्द, किसी पुरुषविशेष का नाम नहीं है किंतु प्राड्विवाक (जज) आदि शब्दों के नाई

सोऽपिविभागः सम्प्रति यावत् व्यवातिष्ठतेतराम्। व्यासशब्दो हि वेदव्यसनाधिकारप्रवृत्ति-निमित्ता प्राड्विवाकादिवदनादिरौपाधिकी सञ्ज्ञा कदा कदाचिच्च कस्कश्चिदेव सर्वज्ञो महाशयशिरोमणिर्व्यासाधिकारसमलङ्कृतो भवति यथेदानीं भगवान् कृष्णद्वैपायनः। तेभ्य एव च धर्मेभ्यः कर्मकाण्डत्वादींस्त्रीन्धर्मान्निष्कृष्य तत्रभवन्तः श्रीभगवन्तो गीतानिर्माणपरिपाटीद्वारेण वेदं त्रेधा विभेजुः। एवम् मण्डलानुवाकसूक्तत्र्यृचप्रपाठकाध्यायब्राह्मणादि-भेदेनापरेऽपि तेभ्यएव कतिपयान्कतिपयान्धर्मानादायादाय वेदं यथायथा यथेच्छं विभे-जिरे तथा विभागोपि यावदद्य व्यवह्रियतएव।

भगवानक्षपादस्तु विध्यर्थवादानुवादभेदेन वैदिकं ब्राह्मणभागं त्रेधा विभज्य स्तुति, निन्दा, परकृति, पुराकल्पभेदेनार्थवादं चतुर्धा, विध्यनुवादविहितानुवादभेदेन चानुवादमपि द्वेधा विबभाज। तथाच—

न्यायदर्शने २ अध्याये १ आन्हिके सूत्राणि
विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ६१
विधिर्विधायकः ६२
स्तुतिर्निन्दापरकृतिः पुराकल्पइत्यर्थवादः ६३
विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ६४ इति

अत्र क्रमेण वृत्तिग्रन्थः

वेदे वाक्यविभागं दर्शयति—मन्त्रब्राह्मणभेदाद्द्विधा वेदः तत्र ब्राह्मणस्यायं विभागः विधिवचनत्वेनार्थवादवचनत्वेनानुवादवचनत्वेन च वेदस्य विनियोगात् विभजनात् अथवा विनियोगात् भेदात् तथाचविध्यादिभेदाद् ब्राह्मणभागस्त्रिधेति शेषः॥ ६१॥

तत्र विधिलक्षणमाह। इष्टसाधनताबोधकप्रत्ययसमभिव्याहृतवाक्यं विधिः 'अग्निहोत्रं

॥ भाषा ॥

अधिकार (वहदा) की उपाधिभूत संज्ञा है अर्थात वेद के विभागकर्ता को व्यास कहते हैं और अपने २ समय पर कोई २ महाशयशिरोमणि और सर्वज्ञसदृश, पुरुष व्यासाधिकार पाता है जैसे वर्तमान समय में भगवान कृष्णद्वैपायन। एवं भगवद्गीता में छ २ अध्यायों से कर्म उपासना और ज्ञान के वर्णनद्वारा श्री १००८ परमेश्वर ने वेद के तीनों काण्डों का तात्पर्य कहा है जिस से वेद के तीन भाग पाये जाते हैं कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, और ज्ञानकाण्ड, यह तीसरा विभाग है यह भी अद्यावधि प्रसिद्ध ही है। तथा मण्डल, वर्ग, अनुवाक, सूक्त, त्र्यृच, प्रपाठक, अध्याय, ब्राह्मण, वल्ली, काण्डिका आदि अनेक भेदों के अनुसार प्रत्येक वेद के अनेक शाखाओं का विभाग और अवान्तरविभाग, जो महर्षियों ने अपनी २ इच्छा से समय २ पर अनेक प्रकार से किया है वह चौथा विभाग है जिस का व्यवहार आज तक होता है। एवं भगवान अक्षपाद (गौतम) ने न्याय-दर्शन अध्याय २ सूत्र ६१ से ६४ तक चार सूत्रों से वेदों के ब्राह्मणभागों का तीन विभाग किया १ विधि २ अर्थवाद ३ अनुवाद और अर्थवाद का चार विभाग किया १ स्तुति २ निन्दा ३ परकृति ४ पुराकल्प, और अनुवाद का दो विभाग किया १ विध्यनुवाद २ विहितानुवाद, और इन सब विभागों का उन्हीं चारों सूत्रों से क्रमपूर्वक लक्षण भी कहा जो यह है कि विधि उसको कहते हैं कि जिस वाक्य से यह बोध कराया जाय कि यह क्रिया, इस इष्टफल का साधन है जैसे-

जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादि अर्थवादः अर्थस्य प्रयोजनस्य वदनम् विध्यर्थप्रशंसापरं वचनमित्यर्थः अर्थवादो हि स्तुत्यादिद्वारा विध्यर्थं शीघ्रं, प्रवृत्तये प्रशंसति ॥ ६२ ॥

तत्र स्तुत्यादिभेदादर्थवादं विभजते स्तुतिः साक्षाद्विध्यर्थस्यप्रशंसार्थकंवाक्यं यथा 'सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्य आप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वञ्जयती' त्यादि। अनिष्टबोधनद्वारा विध्यर्थप्रवर्तकं निन्दा 'एष वाव प्रथमो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वा अन्येन यजते स गर्ते पतत्ययमेवैतज्जीर्य्यते प्र वा मीयत' इत्यादि ।

पुरुषविशेषनिष्ठमिथोविरुद्धकथनं परकृतिः यथा "हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यम् तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्त्यग्नेः प्राणाः पृषदाज्यमित्याभिदधती"त्यादि। ऐतिह्यसमाचरिततया कीर्तनं पुराकल्पः यथा 'तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा वहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन् यज्ञम्प्रतनवामहे' इत्येवमादिः ॥ ६३ ॥

अनुवादलक्षणमाह। प्राप्तस्य अनु पश्चात् कथनम् सप्रयोजनम् अनुवादः इति सामान्यलक्षणम् तद्विशेषः विधिर्विहितस्येति। विध्यनुवादो विहितानुवादश्चेत्यर्थःअयंचार्थवादानुवादविभागो विधिसमभिव्याहृतवाक्यानाम् तेन भूतार्थवादरूपाणां वेदान्तवाक्यानामपरिग्रहान्न न्यूनता ॥ ६४ ॥

विध्यनुवादवचनं च अनुवादो विहितानुवादवचनं च पूर्वः शब्दानुवादः अपरोऽर्थानुवादः इति च तद्भाष्ये भगवान् वात्स्यायनः ॥ ६४ ॥

॥ भाषा ॥

"अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" (स्वर्ग के लिये अग्निहोत्र करे) इत्यादि। अर्थवाद उसको कहते हैं जो वाक्य, स्तुति निन्दा आदि के द्वारा किसी विहितक्रिया में पुरुष की शीघ्र प्रवृत्ति कराता है। स्तुति, जैसे "सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन्" (देवता, सर्वजित् नामक यज्ञ करने से सब को जीतते हैं) इत्यादि। निन्दा, जैसे "एष वाव प्रथमो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वा अन्येन यजते स गर्ते पतति" (ज्योतिष्टोम ही सब यज्ञों में प्रथम है इस के बिना किये अन्ययज्ञ जो करता है वह गड्ढे में गिरता है) इत्यादि। परकृति उसको कहते हैं जिस वाक्य से किसी पुरुष में अन्योन्यविरुद्ध दो काम कहे जायं जैसे "हुत्वा वपा मेवाग्रेऽभिघारयन्त्यथ पृषदाज्यम् तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्त्यग्नेः प्राणाः पृषदाज्यमित्यभिदधति" (होम के अनन्तर पहिले पशु की चर्बी ही को बघारते हैं अनन्तर दहीमधुमिले घी को। चरक नामक यजुर्वेद के ऋत्विज प्रथम दहीमधुमिले घी ही को बघारते हैं और कहते हैं कि यह घी अग्नि का प्राण तुल्य प्रिय है) इत्यादि। तात्पर्य यह है कि वपा (चर्बी) वा पृषदाज्य (दहीमधुमिला घी) में कौन प्रथम बघारैं इस प्रकार के संदेह से विलम्ब नहीं करना किंतु दो में से किसी एक के बघारने में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। पुराकल्प उस कहावत को कहते हैं कि जिस में यह कहा जाय कि अमुक लोग इस काम को प्रथम करते हैं जैसे "तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन् यज्ञं प्रतनवामहे" (यज्ञ के विस्तार की इच्छा से पूर्व समय में ब्राह्मण, बहिष्पवमाननामक सामस्तोम अर्थात् गान करके स्तुति करने वाले सामवेद के मन्त्रों की प्रशंसा करते हैं) और भाष्यकार वात्स्यायनमहर्षि ने इस ६४ वें सूत्र पर यह कहा है कि शब्द का अनुवाद विध्यनुवाद, और अर्थ का अनुवाद विहितानुवाद है। ये चार बिभाग उसी अर्थवाद के हैं जो कि विधिवाक्य

भट्टपादास्तु अनुवादमर्थवादेऽन्तर्भाव्य तं त्रेधा विभेजिरे । तथाच वार्तिके—

विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते । भूतार्थवादस्तद्धाना दर्थवादस्त्रिधा मतः ॥१॥ इति।

एवम् विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयोपनिषदात्मकैर्भेदैरतिक्रान्तविद्वद्वृन्दाभिनन्दितः षोढाविभागव्यवहारोऽपि विच्छेदरहितो दृश्यते । तथाच—

(श्रुतिः स्मृतिः) इत्युदाहृतयाज्ञवल्क्यस्मृतेर्व्याख्यानावसरे परिभाषाप्रकरणे वीरमित्रोदये मित्रमिश्रः—

अत्र श्रुतिः षड्भागा । विधिनिषेधार्थवादमन्त्रनामधेयोपनिषद्भेदात् । तत्र विधेस्तावत्तद्विषयप्रवर्तनाबोधकत्वेन धर्मे प्रामाण्यम्, यथा 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम' इत्यादेर्द्रव्यदेवतासंयोगानुमितवायुदेवत्ययागप्रवर्तनाबोधकत्वेन । निषेधस्य तु निवर्तनाबोधकत्वेन, यथा 'न कलञ्जं भक्षयेदि' त्यादेः । अर्थवादो द्विविधः प्रशंसार्थवादो निन्दार्थवादश्च तत्राद्यो विध्यपेक्षितप्राशस्त्यसमर्पणेन, यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठे' त्यादिर्वायव्ययागादिप्रशंसार्थतया । द्वितीयस्तु निषेधापेक्षितनिन्दासमर्पणेन यथा 'यदश्रु अशीर्यत तद्रजतम-

॥ भाषा ॥

का संबन्धी होता है न कि वेदान्तवाक्यरूप भूतार्थवाद का । और भूतार्थवाद का लक्षण आगे अभी कहते हैं । यह पांचवां विभाग है और प्रसिद्ध भी है । तथा भट्टपाद श्रीकुमारिलस्वामी ने मीमांसावार्तिक में अर्थवाद का तीन हीं विभाग किया है और अर्थवाद ही में अनुवाद का अन्तर्भाव माना है । उनका यह मत है कि अर्थवाद तीन प्रकार का होता है गुणवाद १ अनुवाद २ भूतार्थवाद ३ । गुणवाद अर्थात् गौण व्यवहार, यह विरोध में होता है जैसे "आदित्यो वै यूपः" (यज्ञस्तम्भ सूर्य ही है) इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यज्ञस्तम्भ का सूर्य होना लोकदृष्टि से विरुद्ध है इसलिये इसका यह अर्थ है कि यज्ञस्तम्भ, सूर्य के समान पवित्र और प्रकाशमान (चमकीला) है। लोक से निर्णीत विषय में अनुवाद होता है जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु शीघ्रकारी देवता है) इत्यादि । गुणवाद और अनुवाद से अन्य जितने आख्यायिका आदि अर्थवाद हैं सभी भूतार्थवाद कहे जाते हैं यह विभाग ६ ठां और मीमांसाशास्त्र में प्रसिद्ध भी है । एवं विधि १ निषेध २ अर्थवाद ३ मंत्र ४ नामधेय ५ उपनिषद् ६ यह विभाग भी पूर्व विद्वद्वरों का किया हुआ आज तक व्यवहार में आता है यह ७ वां विभाग है । और इस विभाग को वीरमित्रोदय नामक ग्रन्थ के परिभाषा प्रकरण में "श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः" इस पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यस्मृति के व्याख्यानसमय में पण्डित, मित्रमिश्र ने इस प्रकार से कहा है कि श्रुति (वेद) के ६ भाग हैं जो पूर्व में कहे गये । इन छ भेदों में, विधि, उन २ यज्ञों में पुरुष की प्रवृत्ति कराने से धर्म में प्रमाण होता है जैसे "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (ऐश्वर्य को चाहनेवाला पुरुष वायुदेवतावाले श्वेत छाग का यज्ञ करै) इत्यादि । और निषेध, किसी पापकर्म से पुरुष की निवृत्ति कराने से धर्म में प्रमाण है जैसे "न कलञ्जं भक्षयेत्" (विष में बुझे हुए बाण से मारेगये हरिणादि के मांस को न भोजन करै) इत्यादि । और अर्थवाद दो प्रकार का होता है एक, प्रशंसा का अर्थवाद, दूसरा निन्दा का । प्रशंसार्थवाद, विधि में अपेक्षित पदार्थ की प्रशंसा करने से विधि के द्वारा धर्म में प्रमाण है जैसे "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु बड़ा शीघ्रकारी देवता है) इत्यादि । निन्दार्थवाद भी निषेध करने में अपेक्षित, वस्तु की निन्दा करने से निषेध

भवादि' त्यादिः 'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देय' मित्यादिर्निषिद्धरजतदाननिन्दार्थतया ।

कश्चिदर्थवादः प्रशंसार्थोपि सन्दिग्धार्थनिर्णायकत्वेनप्रमाणम् यथा 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' 'तेजो वै घृतमि' त्यादिः । 'देवस्यत्वे' त्यादिमन्त्राणान्तु अनुष्ठेयार्थस्मारकत्वेन । ज्योतिष्टोमादिनामधेयानान्तु भावनाकरणीभूतधात्वर्थपरिच्छेदकत्वेन । अनर्थकस्तोभानां तु गीतिकालपरिच्छेदकत्वेन उपनिषदान्तु अनर्थनिवर्हणसिद्धरूपब्रह्मज्ञानार्थत्वेनेत्येवमादि-सर्वमाकरे स्फुटमिति ।

अतएवाहुः 'विभाजकस्य स्वतन्त्रेच्छतया न तत्र पर्य्यनुयोगावसरः' इति एवमपरानपि विभागानुच्छिङ्खलेच्छाः कदा कदा कांस्कान् के के नाम कर्त्तारइति नास्मादृशा अभविष्यदनुभाविनोऽनुभवितुमपि प्रभवन्ति ।

एवम् मनुशब्दोऽपि धर्मशास्त्ररचनाद्यनेकव्यापारनिदानवैदिकाधिकारनिवन्धना व्यासादिवदेवोपाधिकी सञ्ज्ञा न तु चैत्रादिशब्दवत्कस्यचिन्नामधेयम् यथा अस्मिन्नेवा-न्तरे तादृशाधिकारविराजितोभगवान्वैवस्वतोमनुःश्राद्धदेवोनाम । भगवता हैरण्यगर्भेणम-

॥ भाषा ॥

के द्वारा धर्म में प्रमाण होता है जैसे "बर्हिषि रजतं न देयम्" (कुश पर रजत दक्षिणा न दे) इस निषेध में अपेक्षित रजतदान की निन्दा करने से "यदश्रु अशीर्यत तद्रजतमभवत्" (रुद्र का जो अश्रु प्रथम गिरता है सोई रजत होता है) यह अर्थवाद, सुवर्णदानरूप अर्थ में प्रमाण होता है इत्यादि । कोई अर्थवाद ऐसे भी होते हैं जो प्रशंसा भी करते हैं और संदिग्धवस्तु का निर्णय भी करते हैं। जैसे "अक्ताः शर्करा उपदधाति" (चोपरी हुई शर्करा का उपधान करै) इस विधि में यह संदेह है कि किस वस्तु से चोपरी हुई, और इस संदेह की निवृत्ति "तेजो वै घृतम्" (घी तेज ही अर्थात् तेज का कारण है) इस अर्थवाद से होती है इत्यादि । मन्त्र भी विधिविहित कर्म के स्मरण कराने से धर्म में प्रमाण हैं । एवं ज्योतिष्टोम, अश्वमेध और वाजपेय आदि नाम भी क्रियासमुदायरूपी उन २ यज्ञों के बोध कराने से धर्म में प्रमाण होते हैं यहां तक कि स्तोभ (हो हाइ इत्यादि अनर्थक शब्द) भी साममन्त्रों के गाने का समय पूर्ण करते हैं इस से वे भी धर्म में प्रमाण हैं। तात्पर्य यह है कि वेद का कोई एक वर्ण भी ऐसा नहीं है जो धर्म में प्रमाण न हो। एवं सांसारिक सब दुःखों की निवृत्ति-रूप मोक्ष के लिये ब्रह्मज्ञानरूपी महाधर्म में उपनिषद्भाग प्रमाण है । इतना कह कर मित्रमिश्र ने यह कहा है कि मेरी कही हुई ये सब बातें बड़ी दृढ़ २ युक्तियों के द्वारा मीमांसा और वेदान्तदर्शन के भाष्य और वार्तिक आदि बड़े २ ग्रन्थों में सिद्ध की हुई हैं इति । यह संदेह नहीं करना चाहिये कि एक ही वेद का सात २ प्रकार से कैसे विभाग हुआ और इन में कौन विभाग ठीक है ? क्योंकि परीक्षक विद्वानों ने यह कहा है कि विभाग कोई व्यवस्थित वस्तु नहीं है किंतु विभाग करने वाले की इच्छा के अधीन है अर्थात् अपनी २ इच्छा के अनुसार एक ही पदार्थ का विभाग अनेक प्रकार से पुरुष कर सकता है । ऐसी दशा में उक्त विभागों से अधिक किस २ प्रकार के कितने २ विभाग किस २ पुरुष के द्वारा कब २ होने वाले हैं इसका निश्चय हमारे ऐसे चर्मचक्षु मनुष्य कदापि नहीं कर सकते । और 'मनु' शब्द भी व्यास शब्द के नाई औपाधिकी संज्ञा है अर्थात् मनु शब्द से धर्मशास्त्र की रचना और प्रजापालन आदि अनेक व्यापारों में अपना वैदिकअधिकार रखने वाला पुरुष कहा जाता है निदान देवदत्तादि शब्द के नाई 'मनु' किसी पुरुषविशेष का नाम नहीं है । जैसे

नुना च स्वस्मिन्नन्तरे निर्मितं धर्मशास्त्रं महर्षीन्भगवान्भृगुरनुभावयाम्बभूव यदिदमिदानी-मपि प्रचरतितराम् । उक्तेष्वर्थेषु प्रमाणानि च वेदस्य ग्रन्थतोमहत्त्ववर्णनावसरे प्रदर्शयिष्यन्ते तदीय एव चायम् 'आखिल' शब्दो य इदानीमस्माभिर्व्याख्यायते । श्रीमान् हैरण्यगर्भश्च भगवाँस्त्रिकालदर्शी स्वाऽन्तरे शास्त्रमिदं निर्माय युगान्तराणीव बहुतिथानि कलियुगान्यप्य-सकृत्साक्षात्कृत्य तेषु चेदानीमिव वेदविषये विपर्य्यस्यतां मीमांसामर्मशर्ममूकमनसामनेके-षामाचार्य्यंमन्यानामाकालिकीरज्ञानोपजनिताः शङ्काकुसृष्टीर्बहुशोनिरूप्यापि न तन्निराक-रणाय स्वकीयं धर्मशास्त्रं क्वचिदप्यंशे कियदपि व्यत्ययस्याति स्म । अतो निर्णीयते सकृन्निर्मि-समाम्रस्य तावत एव स्वशास्त्रस्य तात्पर्यपर्यालोचनया सार्वकालिकताद्दशसकलकुसृष्टिनि-वारणं सुकरं सोऽमंस्तेति । यदि तु कियदपि व्यत्यासिष्यत् तर्हि तं व्यत्यासमपि सोऽन्यो वा कश्चिदवश्यमस्मारिष्यत्, न्यभन्त्स्यच्च क्वचित्स्वीयग्रन्थे, अन्वधत्स्यंश्च स्मृत्यन्तरवदद्ययावत्तदपि, तमेव च व्यत्यासं तस्माद्ग्रन्थादुपादायानल्पकुकल्पनाजालपुरःसरं नास्तिकवर्गीणाः सान-न्दोपहासमनेकधोपादर्शयिष्यंश्च । एवम् यथेदानीमनेकप्रकारा अज्ञानप्रलापा आधुनिकानां

॥ भाषा ॥

इस मन्वन्तर में उक्त अधिकार से भूषित भगवान् वैवस्वत (सूर्य के पुत्र) श्राद्धदेवनामक मनु हैं ऐसे ही भगवान् स्वायंभुव (ब्रह्मा के पुत्र) मनु का अपने मन्वन्तर में निर्मित धर्मशास्त्र को भृगुमहर्षि ने महर्षियों को सुनाया जिसका प्रचार अब तक निर्विघ्न है । और उक्त विषयों में प्रमाण, वेद के महत्त्व-वर्णन में दिखलाये जायंगे उसी मनु के धर्मशास्त्र का यह "अखिलः" शब्द है जिसका इस समय में व्याख्यान कर रहा हूं ।

अब उक्त विषयों पर ध्यान देकर इस बात पर दृष्टि देनी चाहिये कि त्रिकालदर्शी भगवान् मनु ने अपने अन्तर (७१ चतुर्युग) के आरम्भ में इस धर्मशास्त्र (मनुस्मृति) को बनाया और उसके अनन्तर जैसे सत्ययुग आदि तीनों युग उनके समय में अनेक बार परिवर्तित हुए वैसे ही बहुत से कलियुग भी । और जैसे इस समय में मीमांसादर्शन के मार्मिकअभिप्रायों के स्वप्न मे भी वञ्चित, अपने मन-माना आचार्य बन बैठे और बिच्छू का भी मंत्र न जान कर सांप के बिल में हाथ डालनेवाले महामहा महाशयों की चार दिन ठहरनेवाली अज्ञान की शङ्काकुसृष्टियां वेद के विषय में स्थान २ पर फैल रही हैं ऐसे ही उन प्रत्येक कलियुगों में भी श्री कल्किभगवान के अवतार से पूर्व २ में फैली ही थीं परंतु उन शङ्काकुसृष्टियों के निवारणार्थ इस अपने धर्मशास्त्र में मनुभगवान ने अधिक मिलाने को कौन कहे ? एक वर्ण भी अदल बदल नहीं किया इस से यह निश्चित होता है कि उसी अपने शास्त्र के व्याख्यानों से उन्हों ने सब काल की शङ्काकुसृष्टियों का निवारण सुकर समझा और यदि कुछ भी किसी अंश में बदलते तो वह स्वयम् अथवा दूसरे महर्षि अवश्य उस बदल को स्मरण कर अपने शास्त्र में लिख देते और उसकी प्रसिद्धि अवश्य अद्यावधि रहती जैसे पराशरमहर्षि ने कलिकाल के लिये जो धर्मों का अदल बदल किया है उसकी पराशरस्मृति आज तक प्रसिद्ध है जिसका उत्तम-व्याख्यान माधवपाराशर नामक प्रसिद्ध ही है । तथा उसी अदल बदल को उस स्मृति से ले २ कर अनेक कुत्सितकल्पनाओं के साथ नास्तिकलोग बड़े आनन्द और उपहासपूर्व्वक अनेक प्रकार से अवश्य छपवा भी देते । और (जैसे) इस समय किसी २ आधुनिक महाशयों के अज्ञानमूलक प्रलाप वेद के विषय में फैल रहे हैं और जब कलि और द्वापरयुग की संधि ही में यह दशा हो

केषाञ्चेषाश्चित् वेदविषये प्रचरन्ति। यदा च कलिद्वापरसन्धावपीदृशी दशा तदा पौराणिकान् भविष्यद्वादान् सत्यापयन्ननुदिनमेधमानो घोरः कलिकालोद्गारो यानुदर्कान् निर्वितर्कमनुमापयति तेऽप्यज्ञानप्रलापा धर्मान्तराणामिव वेदस्यापि विषये प्रचरिष्यन्त्येव, तथैव प्रतिकलियुगं प्रचेरुरित्यत्रापि न कश्चन संशयः। कलियुगत्वसाधनकानां तत्तदनुमानानां दुर्वारत्वात्। यथा चातिक्रान्तेष्वसङ्ख्येषु कलियुगेषु तात्कालिकैराकालिकैरीदृशैरज्ञानप्रलापैरनाद्यनन्तस्य वेदस्य तदनुयायिनः स्मृत्यादेर्वा न किञ्चिदप्यपाचायि, सत्यादिभिर्युगैः कृतानां कलियुगोपमर्दानामनादिपरम्पराप्राप्ततया वेदादेरद्ययावदुपलम्भात्। तथाऽऽधुनिकैर्भविष्यद्भिश्च तादृशैरज्ञानालापैर्वेदस्य स्मृत्यादेर्वोच्छेदो न शक्यते शक्ष्यते वा कर्तुम्। प्रचारतारतम्यमात्रन्तु कलियुगान्तरेष्विवास्मिन्नपि श्वेतवाराहकल्पे वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमे कलावधुना भवति भाविष्यति चाग्रे कियच्चिदित्यन्यदेतत्। तथाच कालत्रयेऽपि यो यो विभागोऽवान्तरविभागो वा तत्तत्कालिकतत्तत्पुरुषाभिलाषोन्मेषानुसारी वेदस्याभूत् भवति भविष्यति वा तत्तदनुपातिनीषु तत्तद्वैदिकपदवर्णस्तोभपर्य्यन्तानुधाविनीषु वेदावयवतदवयवपरम्परासु ये ये वेदावयवा गुरवो लघवो वा तेषु या या धर्ममूलत्वशङ्का, कस्य कस्यापि पण्डितम्मन्यस्य कथंकथञ्चिदभूत् भवति भविष्यति वा तासां सर्वासामेव शङ्कापिशाचीनां विध्वंसनव्यसनी दृढतमप्रमाणतर्कसम्पर्कसङ्कुलानादिमीमांसागुम्फितासङ्ख्यतात्प-

॥ भाषा ॥

रही है तब पुराणगण की सत्यभविष्यद्वाणियों के अनुसार, प्रतिदिन बढ़ता हुआ यह कलिकाल का घोर उद्गार, जिन भावी परिणामों का अनुमान कराता है वे अज्ञानमूलक प्रलाप, सनातनधर्म और वेद के विषय में आगे चल कर अवश्यमेव फैलेंगे भी। ऐसे ही उक्त मनु के समयवाले प्रत्येक कलियुगों में ये प्रलाप फैले थे इसमें कुछ भी संदेह नहीं है क्योंकि प्रत्येक कलियुगों के स्वभाव एक से ही होते हैं। यह तो दूसरी बात है कि उन अतीत असंख्य कलियुगों में वैसे २ चार दिन के अज्ञानप्रलापों से अनादि अनन्त वेद वा उसके अनुयायी धर्मशास्त्रादि ग्रन्थों का कुछ नहीं बिगड़ा क्योंकि प्रत्येक कलियुगों का सत्ययुगों से नाश ही होता गया जिसका यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि आज भी वेद और शास्त्रों का प्रचार अधिक नहीं तो कुछ देखने ही में आता है (वैसे) ही वर्तमान और अगामी वैसे २ अज्ञानप्रलापों से वेद और शास्त्र आदि का उच्छेद नहीं हो सकैगा और प्रचार में कुछ २ न्यूनतामात्र तो जैसे अतीतकलियुगों में होता रहा वैसे ही श्वेतवाराहकल्प के वैवस्वत मन्वन्तर के २८ वें अर्थात् इस कलियुग में भी इस समय है और आगामी में होगा भी। अब इस पूर्वोक्त वृत्तान्त के वर्णन से बुद्धिमानों के ध्यान में यह बात आ गई होगी कि मनु जीके "अखिलः" इस शब्द के जितने तात्पर्य हो सकते हैं उनकी गणना कोई नहीं कर सकता क्योंकि तीनों काल में उस २ काल के असंख्य पुरुषों की असंख्य इच्छाओं के अनुसार वेद के जितने २ प्रकार के विभाग वा अवान्तर (विभागों में) विभाग हुए वा हो रहे हैं, वा होंगे अर्थात् एक २ पद, वा वर्ण, वा स्तोभ[1] तक, उन विभागों के अनुसार वेद के जो २ भाग, वा भागों के भाग हुए, वा हो रहे हैं, वा होंगे उनमें से जिस २ भाग के धर्ममूलत्व में जिस २ पुरुष को जिस २ प्रकार की शङ्काएं हुई, वा हो रही हैं, वा होंगी, उन सब शङ्कापिशाचियों के विध्वंस करने में परमसमर्थ, और अत्यन्तदृढ प्रमाणों, तर्कों, से भरी हुई अनादि मीमांसा के अनुसार

१ हो होइ आदि अनर्थक शब्द स्तोभ कहलाते हैं जिनका गान साममन्त्रों में होता है

र्यसहायोऽसौ मानवस्त्र्यक्षरोऽपि सर्वतोमुखो महामन्त्रः 'अखिल' इति । पृथक् पृथक् तत्तच्छङ्कानिराकरणेऽपर्य्यवसानवाक्यमहागौरवप्रसङ्गाभ्यां बिभ्यता तु भगवता मनुना सङ्क्षेपोऽयमादृत इति ।

तस्मात् विधिनिषेधमन्त्रार्थवादादितत्तद्वेदभागानुबन्धिनः स्वस्वकालिकानुक्तविधानज्ञानप्रलापानुत्तिष्ठमानानवधार्य्य तात्कालिकैर्वैदिकैर्विद्वद्वृन्दारकैर्न किञ्चिदपि चित्रीयितव्यम् नापि तेषाङ्कालिकालिकत्वमाकलय्याचिकित्स्यताऽध्यवसायेन कथमप्युदासितव्यम् । किंत्वनादिमीमांसानुसारिभिः पटुजातीयैः प्रमाणैस्तर्कैश्च क्षुद्ररोगोपद्रवा इव सिद्धौषधैराशु ते चिकित्सनीयाः । नापि मनोरियदेवतात्पर्य्यमिति सन्तुष्यद्भिः कथं तदतिक्रम्यैतानज्ञानप्रलापान्निराकरवामेति मनागपि भेतव्यम् । किंतु तत्तत्समयानुसारेण स्वस्वाभ्यूहितानि वेदशास्त्रसम्प्रदायाविरोधीनि प्रमाणतर्कशतानि सकलान्येव मानवतात्पर्य्यपर्य्याणद्धानीति पूर्वोक्तरीत्या निर्भरमभ्युह्य तादृशा अज्ञानप्रलापास्तत्प्रमाणादिभिर्लिखितैरुक्तमात्रैर्वा क्षिप्रमेव प्रतिक्षेपणीयाः इत्यसावखिलपदमूला द्रढीयसी मानवी शिक्षा निरीक्षणीया परीक्षादक्षैः ।

अतएव १२ अध्याये मनुः— प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम् ।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता ॥ १०५ ॥

॥ भाषा ॥

सहस्रों तात्पर्यों से पूर्ण यह मनुजीका सर्वतोमुख तीन अक्षर का महामन्त्र है कि "अखिलः" और यदि उक्त असंख्यशङ्काओं का प्रथक् २ निराकरण किया जाता तो चुकता नहीं और ग्रन्थ भी महाविस्तृत हो जाता इसी कारण से मनुभगवान ने इन तीन ही अक्षरों में पूर्वोक्त सब तात्पर्यों का संक्षेप कर दिया है तस्मात् इस 'अखिल' शब्द से मनुभगवान, हम लोगों को यह दृढशिक्षा देते हैं कि तुम लोगों के समय में वेद के छोटे वा बड़े किसी भाग पर कलिकाल के दूतभूतपुरुषों के ओर से जब किसी प्रकार के अज्ञानप्रलाप उठने लगें तब तुम (कलिकाल के वैदिक विद्वानों) को उन पर कुछ भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये क्योंकि ऐसे अज्ञानप्रलाप तो गतकलियुगों में असंख्यबार हो २ कर नष्ट हो चुके हैं और कलिकाल का यह स्वभाव ही है । और यह भी नहीं होना चाहिये कि उन अज्ञानप्रलापों को कलिकाल के स्वभाव होने के कारण, दुर्वार समझ कर कदापि तुम चुप बैठो किंतु जैसे वैद्यगण क्षुद्ररोग के उपद्रवों का सिद्धौषधों से नाश करते हैं वैसे ही तुम भी अनादिमीमांसा के अनुसारी, दुर्भेद्य प्रमाणों और तर्कों से उन अज्ञानप्रलापों का तुरित ही चिकित्सा किया करो । और मनु के वाक्यों पर 'इन के इतने ही तात्पर्य हैं' यह संतोष कर कदापि यह भय न करना कि मनु के तात्पर्य से अधिक युक्तियों के द्वारा कैसे इन अज्ञानप्रलापों का निराकरण करैं । किंतु उस २ समय के अनुरोध से अपने २ ऊहापोह के द्वारा, वेद और शास्त्रों के अविरोधी सैकड़ों प्रमाणों और तर्कों को पूर्वोक्तरीति से यह समझ कर कि ये सब मनु के तात्पर्यों में अन्तर्गत ही हैं, उन प्रमाणों और तर्कों को यथाशक्ति ग्रन्थरूप में लिख कर, यदि न बनै तो केवल कह कर उनके बल से उन २ अज्ञानप्रलापों का प्रतीकार तुरित ही अवश्य किया करो । इसी अपने शिक्षारूपी तात्पर्य को मनु जी ने स्वयं अध्याय १२ श्लोक १०५ और १०६ से स्पष्ट ही कहा है कि धर्मतत्त्व के निश्चयार्थ, प्रत्यक्ष, अनुमान और सब-

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना ।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ १०६ ॥ इति

स्मृत्यन्तरमपि— केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो विनिर्णयः ।
युक्तिहीने विचारे तु धर्महानिः प्रजायते ॥ इति

भट्टपादश्च— धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना ।
इतिकर्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥ इति

अतएवच २ अध्याये— योऽनधीत्य द्विजो वेद मन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्व माशु गच्छति सान्वयः ॥ १६८ ॥

इति मानववाक्येन

"न वेद मनधीत्यान्यांविद्यामधीयीतान्यत्र वेदाङ्गस्मृतिभ्यः"

इतिशङ्खलिखितवाक्येन च वेदाध्ययनस्यात्यावश्यकत्ववत् पराशरमाधवे आचार-काण्डे अध्ययनाध्यापनप्रकरणे — कौर्मे

योऽधीत्य विधिवद्वेदं वेदार्थं न विचारयेत् । स सान्वयः शूद्रसमः पात्रतां न प्रपद्यते ॥

॥ भाषा ॥

विद्याओं से सहित वेद को भली भांति जानना चाहिये तथा वेद और वेदमूलक स्मृत्यादिग्रन्थों के तात्पर्यों को जो पुरुष वेद और शास्त्रों के अविरोधी तर्क से अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को जानता है न कि दूसरा, और अन्यस्मृति का भी यह वाक्य है कि 'शास्त्रों के पदार्थ और वाक्यार्थ मात्र को समझ कर किसी विषय का निर्णय नहीं करना चाहिये किंतु प्रमाणों और तर्कों के अनुसार उनके वास्तविक तात्पर्यों के निश्चय से निर्णय करना चाहिये क्योंकि प्रमाण और तर्क से हीन विचार, धर्म का हानिकारक होता है'। और मीमांसावार्तिक में कुमारिलस्वामी ने भी कहा है कि 'जैसे छेदन का साधन शस्त्र है परंतु पुरुषप्रयत्न के बिना उस से छेदनरूप फल की सिद्धि नहीं होती अर्थात् जितने साधन हैं सभी अपने फल के सिद्ध करने में क्रिया की आकांक्षा करते हैं और ऐसी ही क्रियाएं शास्त्र में इतिकर्तव्यता कही जाती हैं। वैसे ही धर्म के यथार्थज्ञान-रूपी कार्य के सिद्ध करने में जो वेदरूपी साधन का इतिकर्तव्यता भाग है उसको मीमांसाशास्त्र पूरा करेगा, अर्थात् मीमांसाशास्त्रोक्त प्रमाण और तर्कों की सहायता को बिना लिये कदापि वेद से धर्मनिर्णय नहीं हो सकता' तथा जैसे अध्याय २ श्लोक १६८ में मनु जी ने कहा है कि 'जो द्विज वेद पढ़े बिना अन्यग्रन्थ पढ़ता है वह सपरिवार, शूद्रवत् है तथा शङ्ख और लिखित महर्षि ने भी कहा है कि 'वेद बिना पढ़े वेदाङ्ग और स्मृति से अन्यविद्या न पढ़े' वैसे ही माधव-पाराशर के आचारकाण्ड के, पढ़ने पढ़ाने के प्रकरण में उद्धृत कूर्मपुराण के वाक्य में यह कहा है कि 'जो वेद को विधिवत् पढ़ कर वेदार्थविचार अर्थात् मीमांसा नहीं पढ़ता वह सपरिवार, शूद्र-वत् वैदिक कर्म के योग्य नहीं होता'। और वर्तमानसमय में आश्चर्य यह है कि मीमांसाशास्त्र का प्रचार संस्कृतविद्या के पण्डितों में भी विरलों हीं में है और मीमांसाशास्त्र के तात्पर्य को कौन कहे ? उसके वाक्यार्थ का भी अनुवाद किसी दूसरी भाषा में अब तक नहीं है तथापि कलिकाल-महाराज की अविद्यामहारानी के पेट से उत्पन्न हुए, वेद से धर्म के निर्णय करनेवाले, इतने विद्वान्-

इति वेदार्थविचाररूपाया मीमांसाया अत्यावश्यकत्वमुक्तमित्यलं बहुना ॥

अत्र ग्रन्थे प्रतिपादितेषु श्रौतेषु षट्सु भागेषु विधिभागस्य धर्ममूलत्वमौत्पत्तिकसूत्रोपन्यासपुरःसरं "विधावनाश्रितेसाध्य" इत्यादिभट्टपादोक्तरीत्या पूर्वमेव सङ्क्षेपतो निर्णीतम् तावता च प्रवर्त्तनाबोधकत्वेन विधिभागस्येव निवर्त्तनाबोधकत्वेन निषेधभागस्यापि धर्ममूलत्वमुपपादितप्रायमेव किंच अर्थवादमन्त्रभागयोरनुपदमेव विचारयिष्यमाणे धर्ममूलत्वे नान्तरीयकतया विधिनिषेधयोर्धर्ममूलत्वं भूयोऽपि विचारयिष्यत एव अपिच लौकिकयोरिव वैदिकयोरपि विधिनिषेधवाक्ययोः प्रवृत्तिनिवृत्तिफलकत्वेन प्रामाण्यं सार्वलौकिकमनतिविप्रतिपत्तिगहनञ्च अतो विधिनिषेधभागयोर्धर्ममूलत्वं नेह पृथगुपपाद्यते। एवं नामधेयानामपि धर्ममूलत्वमाकरे विस्तरेण निर्णीतमपि तेषां विधिवाक्यघटकतया विधेर्धर्ममूलत्वोपपादनेनैवोपपादितामिति नेह भूयः पृथग्विचारमर्हतीति तद्विषये संप्रति जोषमास्यते उपनिषद्भागस्य धर्ममूलत्वं तु "अखिलः" इतिमानववाक्यावयवस्य तृतीयं तात्पर्यमुपवर्णयाद्भिरस्माभिः स्तोकमुपवर्णितम् वर्णयिष्यते च विस्तरेण दर्शनकाण्डे।

॥ भाषा ॥

हैं और हो गये कि जितने वर्षाऋतु में केंचुये भी नहीं होते। इससे अधिक अब, इस विषय में कहना आवश्यक नहीं है इस कारण यह व्याख्यान समाप्त किया जाता है।

संगति

अनन्तरोक्त, विधिनिषेधआदि ६ प्रकार के वेदभागों में से विधिभाग की धर्ममूलता पूर्व ही औत्पत्तिकसूत्र के चतुर्थतात्पर्य के वर्णन में संक्षेप से दिखला दी गई है। और उतने ही से वेद के निषेधभाग की धर्ममूलता भी प्रायः प्रतिपादित ही हो गई क्योंकि विधि से, प्रवृत्ति और निषेध से, निवृत्ति, का बोध होता है इतना ही विशेष, विधि और निषेध के अन्योन्य में है और सब बातें (भावना और लिङ्आदि प्रत्यय) दोनों में तुल्य ही होती हैं। तथा अर्थवादभाग और मन्त्रभाग की धर्ममूलता का विचार जो अनन्तर ही किया जायगा उसमें भी विधि और निषेध की धर्ममूलता का विचार, अत्यन्त आवश्यक होने से पुनः भी करना ही पड़ेगा।

तथा "यह कर" "यह न कर" इत्यादि लौकिक विधिनिषेधवाक्यों की प्रमाणता पुरुषों की प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप फल के अनुसार जैसे लोक में प्रसिद्ध है वैसे ही वैदिक विधिनिषेधवाक्यों की प्रमाणता भी। और इन की प्रमाणता में वादियों के झगड़े भी बहुत थोड़े हैं। इन सब कारणों से वैदिक, विधिभाग और निषेधभाग, (जोकि प्रायः ब्राह्मणभाग ही में होते हैं और जिन का एकलौता "उपदेश" यह नाम है) की धर्ममूलता का निरूपण प्रसिद्ध समझ कर यहां पृथक् नहीं किया जाता है।

तथा अग्निहोत्र आदि यज्ञनामों की धर्ममूलता का प्रतिपादन यद्यपि भाष्यादिक महानिबन्धों में बड़े विस्तर से किया है तथापि वे नाम विधिवाक्यों ही के भाग हैं इसी से विधिवाक्यों की धर्ममूलता के प्रतिपादन ही से उन नामों की भी धर्ममूलता प्रतिपादित हो गई यह समझ कर नामों की धर्ममूलता के विषय में यहां कुछ नहीं कहा जाता है। और उपनिषद् वाक्य की धर्ममूलता तो मनुवाक्य में "अखिलः" इस शब्द के तृतीयतात्पर्य के वर्णन से कुछ वर्णित हो चुकी है और इस ग्रन्थ के तीसरे भाग अर्थात् दर्शनकाण्ड में बड़े विशदरूप से उसका वर्णन किया भी जायगा।

तस्मात् अर्थवादमन्त्रभागयोरेव विशेषतो धर्ममूलत्वमुपयोगश्चोपपादयितुं परिशिष्यते अत्यावश्यकं च विशेषतस्तदुपपादनम् वेदबाह्यानांविद्वद्देशीयानां च तत्रानेकधा विप्रतिपन्नत्वात् अतस्ते एव निरूप्येते ।

अथार्थवादप्रामाण्यम्

तत्रार्थवादमन्त्रयोर्विशेषतो धर्ममूलत्वे धर्मोपयोगे चार्थवादानाम्, पूर्वपक्षस्य, पूर्वमीमांसादर्शने प्रमाणलक्षणे २ पादे १ सूत्रम्

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते इति ।

अस्यार्थः । आम्नायस्य वेदस्य क्रियार्थत्वात् प्रवृत्त्याद्यर्थत्वात् धर्मे प्रामाण्यं पूर्वमुक्तम्

॥ भाषा ॥

इस रीति से वेद के चार अर्थात् विधि, निषेध, नामधेय, और उपनिषद् भागों (जो कि ब्राह्मणभागों के अवान्तर भाग हैं) की धर्ममूलता, विशेषरूप से भी वैसे ही सिद्ध है जैसे पूर्व में वेदमात्र की धर्ममूलता सामान्यरूप से सिद्ध हो चुकी है ।

अब बच रहे वेद के दो भाग, एक अर्थवाद, जो कि ब्राह्मणभाग के उक्त अवान्तर चार भागों से अतिरिक्त अर्थात् पञ्चम भाग है । और दूसरा मन्त्र भाग । इन भागों की धर्ममूलता, और इन भागों से धर्म में उपकार का विशेषरूप से विचार रह गया है । और विशेषरूप से इस विचार का करना अत्यन्त आवश्यक भी है क्योंकि अर्थवादों और मन्त्रों की धर्ममूलता और धर्म में उपयोग के विषय में वेदबाह्यों और अधपढ़ वैदिकों के भी अनेक प्रकार के झगड़े हैं । इसलिये अर्थवादभाग और मन्त्रभाग के विषय में इन्हीं दोनों बातों का विचार अब किया जायगा ।

इसमें भी मीमांसादर्शन अध्याय १ पाद २ में उक्त, अर्थवादाधिकरण प्रथम लिखा जाता है और उसमें स्थान २ पर विशदव्याख्यान भी आधुनिकमनुष्यों के स्पष्टबोध के लिये किये जायंगे । क्योंकि इस अधिकरण के संबन्ध में जिन २ ग्रन्थों के भाग उद्धृत किये जायंगे उन ग्रन्थों का प्रचार अब बहुत ही न्यून अर्थात् नहीं के तुल्य है और उन ग्रन्थों की संस्कृतवाणी भी इस समय की संस्कृतवाणी की बोल चाल से बहुत भेद रखनेवाली और अत्यन्त संक्षिप्त भी है । तथा इस संक्षेप का कारण भी यही है कि पूर्वकालिक दार्शनिक विद्वान् अतिबुद्धिमान् होते थे जिन के बोध कराने के लिये वह संक्षेप ही विस्तर समझा जाता था । तथा दर्शनों का प्रचार भी इतना था कि चुम्बकता (१) चोट्टी, उसके भय से किसी २ नास्तिकपत्थलों की हृदयकन्दरा के अन्धकारों में लुक कर अपने जीवन को व्यतीत करती थी जो अब कलियुग और द्वापर की संध्या में उक्तदर्शनरूपी सूर्य के मंदप्रकाश होने से बहुत से हृदयों में स्वच्छन्दविहार कर रही है । और उद्धृत इस अर्थवादाधिकरण से दो बातें सिद्ध होंगी (१) यह कि वेद के अर्थवादभाग और मन्त्रभाग किस प्रकार से विशेषतः धर्म के मूल होते हैं (२) दूसरी यह कि अर्थवादों से धर्मों में क्या उपयोग होता है । इस अधिकरण में पूर्वपक्ष का प्रथम सूत्र १ यह है कि—

" आम्नायस्यक्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां तस्मादनित्यमुच्यते १ "

इस का वाक्यार्थ यह है कि वेद, पुरुषों की धर्म में प्रवृत्ति और अधर्म से निवृत्ति के लिये है और अर्थवादभाग वा मन्त्रभाग से न प्रवृत्ति होती है और न निवृत्ति, इस कारण यह

(१) अनेक ग्रन्थों की थोड़ी २ सी बातें सुन कर पण्डित बन बैठने को चुम्बकता कहते हैं ।

अतदर्थानाम् प्रवर्तकविध्याद्यघटितानामर्थवादादीनाम् आनर्थक्यम् प्रवृत्त्याद्यजनकत्वम् यस्मात् तस्मात् तेषु अनित्यम् धर्मप्रमित्यजनकत्वम् उच्यतइति ।

अत्र भाट्टं तन्त्रवार्तिकम्

'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' इत्युपक्रमात् 'तस्यज्ञानमुपदेशः' इतिपरामर्शात् 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः' इत्युपसंहारात् विधिप्रतिषेधयोरेवप्रामाण्यं प्रतिपादितम् नच तद्व्यतिरिक्तशब्दगम्यत्वं धर्म्माधर्मयोः, नाप्यनधिगतार्थबोधनं मुक्त्वाऽन्यः शब्दस्य व्यापारोऽस्तीत्युक्तमेव । अतश्च यावन्त्येव साध्यसाधनेतिकर्तव्यतावाचित्वेन विधिप्रतिषेधान्तर्गतानि तेषां भवतु प्रामाण्यम् यानित्वतिरिक्तार्थान्यर्थवादमन्त्रनामधेयानुपातीनि सोरोदीदिषेत्वोर्जेत्वोद्भिदेत्येवमादीनि तानिसत्यप्यपौरुषेयत्वे ऽर्थाभिधानसामर्थ्ये च धर्माधर्मयोरप्रमाणम् अतदर्थत्वात् यथाश्रुतगृहीतानां तावत्प्रतीत्यनुपलब्धेःप्रसिद्धमेवातदर्थत्वम् अथ कयाचिच्छब्दवृत्त्या तादर्थ्यं कल्प्येत, एवमपि व्यवस्थाहेत्वभावान्न धर्माधर्मयोरवधारणं स्यात् यदेव हि वाक्यं गृहीतं तदेवाध्याहारविपरिणामादिभिर्यथेष्टं कल्पयितुं शक्यते । तद्यथा सोऽरोदीदित्येवमेव तावद्वाक्यं विशिष्टपुरुषाचरितोपन्यासद्वारा रोदनकर्त्तव्यतापरम् अथवा महतामप्येवंविधाः प्रमादाः संभवन्ति तस्मात्प्रयत्नेनवर्जयितव्यमिति । अतो विधिप्रतिषेधयोरस्फुट-

॥ भाषा ॥

कहा जाता है कि ये दोनों भाग धर्म वा अधर्म में प्रमाण नहीं हैं इति । और तन्त्रवार्तिक में इस सूत्र का तात्पर्य जो कहा है उसका संक्षिप्तरूप यह है कि पूर्वचरण में विधि और निषेध वाक्यों की प्रमाणता भली भांति सिद्ध हो चुकी तथा विधिवाक्य और निषेधवाक्य से अतिरिक्त किसी शब्द से धर्म और अधर्म का ज्ञान नहीं हो सकता यह बात पूर्व ही सिद्ध कर दी गई है तथा यह भी कहा जा चुका है कि अन्यप्रमाणों से जो अर्थ ज्ञात नहीं हो सकते उनके ज्ञान करा देने से अतिरिक्त, कोई काम वेद का नहीं है । इन उक्त सिद्धान्तों के अनुसार वे ही वेदभाग धर्म वा अधर्म में प्रमाण हो सकते हैं कि जो किसी रीति से विधि वा निषेध में अन्तर्गत हो सकते हैं अर्थात् वे भाग जो साध्य (स्वर्गादि फल) वा साधन (यज्ञादि क्रिया) वा उसकी इतिकर्तव्यता (करने की रीति और अङ्गभूत क्रियाएं) को वतलाते हैं ।

परंतु "सोऽरोदीत्" (वह रोता है) इत्यादि अर्थवाद, और "इषेत्वा" (ए पलाश की शाखा अपने इष्टफल के लिये तुझे काटता हूं) इत्यादि मन्त्र, यद्यपि अपौरुषेय हैं और अपने अर्थ को कह सकते हैं तथापि ये धर्म वा अधर्म में कदापि प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि इनके यथाश्रुत अर्थ (अक्षर का अर्थ) के ज्ञान से किसी पुरुष की प्रवृत्ति वा निवृत्ति का न होना अतिस्पष्ट है । और यदि खींच खांच कर किसी रीति से प्रवृत्ति वा निवृत्ति में इनका तात्पर्य लगाया जाय तब भी इनसे धर्म वा अधर्म के निश्चय की आशा नहीं हो सकती क्योंकि निश्चय का कारण कोई इनमें नहीं है प्रसिद्ध है कि खींच खांच के द्वारा प्रत्येक वाक्यों से अपने मनमाने भले बुरे अनेक प्रकार के अर्थों की कल्पना कुछ दुर्घट नहीं होती । जैसे "सोऽरोदीत्" इस उक्त वाक्य से रोने की विधि और निषेध दोनों ऐसे निकल सकते हैं कि यदि इस वाक्य का यह तात्पर्य है कि जब बड़े लोग रोते हैं तब मुझे भी रोना चाहिये तो रोने की विधि अर्थात् प्रवृत्ति इससे निकलती है । और यदि यह तात्पर्य है कि रोना, है तो निन्दित वस्तु परंतु बड़े २ लोगों को भी किसी समय में

स्याद्धर्माधर्मत्वेन निर्णये शक्त्यभावः । शास्त्रदृष्टविरोधादयश्च स्थिता एव यत्तु भूतान्वाख्यानमात्रं यथावस्थितेः प्रतिपाद्यते तत्र यद्यपि सत्यत्वमस्त्येव तथापि न तेन प्रयोजनमित्यानर्थक्यम् अपिच 'धूमएवाग्नेर्दिवे' त्यादीनां स्वार्थेऽप्यप्रामाण्यं वक्ष्यते विध्येकवाक्यत्ववशेनैव तेषां रूपभङ्गः क्रियते नच तस्यापि किञ्चित्प्रमाणमस्ति भिन्नैरपि हि तैः किञ्चित्प्रतिपादयितुं शक्यमेव नच तत्प्रतिपादयतां निष्प्रयोजनतेत्यविज्ञायमानप्रयोजनवदर्थान्तरकल्पना शक्या नहि लोष्टं पश्यतस्तद्दर्शनं निष्प्रयोजनमिति सुवर्णदर्शनता कल्प्यते सर्वाण्येव च प्रमाणान्युपयुज्यमानमनुपयुज्यमानं वा ऽर्थमात्मगोचरतापन्नं गमयन्ति तेनैव चैषां हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलत्वेन वर्ण्यन्ते अन्यथा ह्युपादानमेवैकं फलं स्यात् अपिच प्रमाणोत्पत्त्युत्तरकालं प्रयोजनवत्त्वमप्रयोजनवत्त्वं वा विज्ञायते नतु तद्वशेन प्रमाणोद्भूतिः। तस्याद्यो यद्रूपोऽर्थः प्रतीयते स तथैव प्रयोजनवत्त्वमप्रयोजनवत्त्वं वा प्रतिपद्यते नहि प्रयोजनवदेव प्रमातव्यमिति कश्चिन्नियमहेतुरस्ति । यत्रापि तावत्स्वाधीनः प्रमाणविनियोगस्तत्राप्येतद्दुर्लभं-

॥ भाषा ॥

दबा लेता है इसलिये बड़े प्रयत्न से इसको त्यागना चाहिये, तब इसी वाक्य से निषेध अर्थात् निवृत्ति निकलती है । इस रीति से जब ऐसे वाक्यों में विधि वा निषेध का स्पष्टनिश्चय नहीं हो सकता तब कैसे इन वाक्यों से धर्म वा अधर्म के निश्चय की आशा की जा सकती है । और जिन वृत्तान्तों का प्रतिपादन अर्थवाद करते हैं वे वृत्तान्त चाहे सत्य ही क्यों न हों, परंतु जब उनसे किसी मनुष्य की प्रवृत्ति वा निवृत्ति रूप कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता तो वे अर्थवाद सर्वथा व्यर्थ ही हैं । और "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" (दिन को अग्नि का धूम ही देख पड़ता है न कि अग्नि) इत्यादि अर्थवादों के विषय में तो अगाड़ी चल कर यह भी कहा जायगा कि इनका अर्थ ही झूठा है । और यदि किसी विधि के साथ इन अर्थवादों का सम्बन्ध लगाने के लिये इनके अर्थ को बदलना चाहें तो उस बदलने में भी कुछ प्रमाण नहीं है क्योंकि यदि ये अर्थवाद, विधि के साथ न सम्बन्ध होने पर किसी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते होते तब तो सम्बन्ध लगाने के लिये इन का कुछ मनमाना अर्थ करना किसी प्रकार से उचित भी होता परंतु जब विधि के विना भी ये स्वतन्त्र हो कर अपने सत्य वा मिथ्या किसी अर्थ का प्रतिपादन कर रहे हैं तब क्या कारण है कि जिस से इनका अर्थ बदला जाय। यदि यह कहा जाय कि इनके अक्षरार्थ से कोई प्रयोजन नहीं है इस कारण इनका ऐसा अर्थ (स्तुति वा निन्दा) कल्पना करना चाहिये कि जिससे कोई प्रयोजन (प्रवृत्ति वा निवृत्ति) निकले, तो इसका यह उत्तर है कि जिस शब्द का जो अर्थ होता है उसका वही अर्थ होता है चाहे उससे कोई प्रयोजन सिद्ध हो वा नहीं, क्योंकि यदि प्रयोजन के अनुसार अर्थ बदला जाय तो जब मृत्तिका के पिंड (ढेला) से हमको कोई प्रयोजन नहीं है तो वह सुवर्ण क्यों नहीं हो जाता, निदान शब्द को कौन कहे सभी प्रमाणों का यह स्वभाव है कि वे सब अर्थ का बोध कराते हैं चाहे उससे कोई प्रयोजन हो वा न हो, क्योंकि यदि यह नियम होता कि इष्ट ही वस्तु का प्रमाण से ज्ञान हो, तो आंख से सर्पादि को देख कर त्याग कैसे किया जाता ? और प्रमाण से पदार्थज्ञान के उत्तरकाल ही में यह निश्चय हो सकता है कि इसका कोई प्रयोजन है वा नहीं, न कि प्रमाण से अर्थ ज्ञान होने में किसी रीति से प्रयोजन की अपेक्षा होती है । तस्मात् यह कोई नियम नहीं है कि प्रमाण से सप्रयोजन ही अर्थ का ज्ञान हो निष्प्रयोजन का नहीं किंतु

किमुताबुद्धिपूर्वनित्यावस्थितवेदोत्थापितज्ञानग्राणे। नहि वेदस्य प्रयोजनवदर्थाभिधानशक्तिः प्रथममवधृता। अयमेव हि परीक्षाकालो वर्तते कीदृशं पुनर्ब्रवीतीति तच्च विदित्वा यथानुरूपमनुष्ठातुं क्षमा वयं ननु वेदं पर्य्यनुयोक्तुं किमयं निष्प्रयोजनमभिदधाति तद्वा अभिदधत्किमर्थं प्रयत्नेन धार्य्यतइति। सर्वपुरुषाणां केवलं प्रतिपत्तृत्वेन पारतन्त्र्याद्वेदग्रहणोत्तरकालं च परीक्षाऽवसरात् नह्यनधीतवेद एव आदौ परीक्षितुं क्षमः। पश्चात्परीक्षमाणस्य तु नाबुद्धिपूर्वमित्रृत्तमध्ययनं प्रकरणगतन्यायेन निश्चयहेतुर्भवति तस्माद्यथैवाग्निहोत्रादिवाक्यानां गम्यमानप्रयोजनवत्त्वादानर्थक्यं निष्प्रमाणकमिति नाश्रीयते नर्थवपां प्रयोजनवत्त्वं नाश्रयितव्यम्। नहि यथागताभ्युपगमादन्यत् किंचित्साधीयः परीक्षकाणाम्। योऽपि क्लेशेन

॥ भाषा ॥

इतना ही नियम है कि जिस अर्थ का जो ही स्वरूप है उसी का ज्ञान, प्रमाण से होता है तो ऐसी दशा में जो अर्थ, अर्थवादों से सहज में निकल सकता है उसी का बोध वे करा सकते हैं चाहो उससे कोई प्रयोजन हो वा न हो अर्थात् प्रयोजन के लिये खींच खांच से उनका दूसरा कोई अर्थ नहीं लगाया जा सकता। और यदि ऐसा किया जाय तो जैसे अर्थवादों के स्वाभाविकअर्थ बदले जायंगे वैसे ही उन बदलेहुए अर्थों के अनुसार उनके शब्दों को भी अनन्यगति हो कर अवश्य ही बदलना पड़ेगा क्योंकि ये अर्थ उनके वास्तविकशब्दों से नहीं निकलते। इस रीति से अर्थवादों के स्वरूप ही का सत्यानाश हो जायगा। और यह बात भी ध्यान देने के योग्य है कि जिस वाक्य की रचना किसी वक्ता के अधीन होती है उस वाक्य का भी खींच खांच दूसरा अर्थ लगाना कठिन होता है और अर्थवाद तो अपौरुषेय (नित्य) वेदवाक्य हैं इससे इनका वही अर्थ हो सकता है जो कि सूधे २ इनके शब्दों से निकलता है क्योंकि वाक्यार्थ में वाक्यकर्ता की बुद्धि और तात्पर्य के अनुसार ही से खींच खांच करने का अवसर मिलता है सो तो अर्थवादवाक्यों में हो ही नहीं सकता क्योंकि इनका कोई कर्ता नहीं है। और यह भी है कि अब तक इस विचार का अवसर नहीं आया था कि वेद सफल अर्थ को कहता है वा निष्फल को, किंतु 'वेद कैसे अर्थ को कहता है' इस की परीक्षा का यही समय है और परीक्षा करने के अनन्तर भी परीक्षा से सफल वा निष्फल जैसा अर्थ वेद का निश्चित होगा आंख मूंद कर उसके अनुष्ठान ही करने के हम अधिकारी हैं अर्थात् यह पूंछ भी नहीं सकते कि क्यों निष्प्रयोजन अर्थ को वेद कहता है? वा जब निष्प्रयोजन अर्थ को कहता है तब क्यों इसे आदर से लोग पढ़ते हैं, क्योंकि सभी पुरुष वेदार्थज्ञान में वेद ही के परतन्त्र हैं और पढ़ने के उत्तरकाल ही मे वेदार्थ की परीक्षा का अवसर मिलता है क्योंकि वेद पढ़ने से प्रथम, बिना जाने कैसे कोई वेदार्थ की सफलता की परीक्षा कर सकता है? और पढ़ने के अनन्तर भी यदि कोई पुरुष वेदार्थ की परीक्षा करने लगे तो उस समय में उसके पूर्व अध्ययन करने मात्र से यह निश्चय नहीं हो सकता कि वेदार्थ सप्रयोजन ही होता है क्योंकि यह निश्चय इसी मीमांसारूपी विचार के अधीन है जो इस समय हो रहा है। इसलिये जैसे विधिवाक्यों का सप्रयोजन होना उनके अर्थ ही से निश्चित है इससे उनका निष्प्रयोजन होना नहीं स्वीकार कर सकते, वैसे ही अर्थवादों के सप्रयोजन होने का कोई प्रमाण नहीं है इसी से इनका निष्प्रयोजन होना भी अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा क्योंकि परीक्षा करनेवाले का मुख्य काम यह होता है कि जो ही बात प्रमाणसिद्ध हो (अपने को इष्ट वा अनिष्ट) उसी को सत्य

स्तुतिनिंदात्मकोऽर्थः कल्प्येत स भावनयांऽशत्रयानन्तःपातित्वान्न गृह्यते तयाचागृहीतं न विधिप्रतिषेधावाश्रयतः तदनाश्रितं च दूरे पुरुषार्थाद्भवतीति अपिच एवंविधेषु स्तुतिनिन्दाकल्पनायामितरेतराश्रयप्रसङ्गः स्तुतिनिन्दात्मकत्वेन ह्येकवाक्यता तया चानुन्मीलितस्तुतिनिन्दात्मेक्षाऽश्रयणम् नचान्यतरमूलप्रसिद्धिरस्ति यतोऽवतिष्ठेत तस्मात् पृथगवस्थितानां दृष्टत्वादानर्थक्यमेवोपपन्नतरमिति ।

अथेदंसूत्रं वृत्त्यादौ एतत्सूत्रस्थं शावरं च तद्व्याख्यानान्तरेषु केवलार्थवादविषयकत्वेन व्याख्यातं सत् कथं मन्त्रविषयकत्वेन योज्यतइति चेन्न अक्रियार्थत्वरूपस्य साधनस्य

॥ भाषा ॥

स्वीकार करे । और यह भी है कि यदि स्तुति वा निन्दारूपी अर्थ, अर्थवादों का खींच खांच से लगाया भी जाय तो विधि वा निषेध वाक्य से उसका कोई संबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि पूर्वोक्त साध्य, साधन और इतिकर्तव्यता रूपी, विधि निषेध के तीनों अंशों से, स्तुति और निन्दा बहिर्भूत हैं । और जब विधि तथा निषेध से कोई सम्बन्ध नहीं है तब स्तुति निन्दा व्यर्थ ही है क्योंकि तब वह (स्तुति वा निन्दा) न विहित कर्म में प्रवृत्ति करा सकती और न निषिद्ध कर्म से निवृत्ति ।

और यह भी है कि अर्थवादों से स्तुति वा निन्दा की कल्पना यदि की जाय तो अन्योन्याश्रयदोष से छुटकारा नहीं हो सकता क्योंकि जब अर्थवाद के शब्दों का स्तुति वा निन्दा वाच्यार्थ नहीं है तब उसके कल्पना में क्या प्रमाण है । यदि यह कहा जाय कि अर्थवादों का विधि और निषेध के साथ जो सम्बन्ध है वही स्तुति और निन्दा की कल्पना में प्रमाण है क्योंकि जब अर्थवाद का अक्षरार्थ, विधि और निषेध के सम्बन्धयोग्य नहीं है तब स्तुति और निन्दा रूप अर्थ की कल्पना के बिना, अर्थवादों का विधि और निषेध के साथ सम्बन्ध ही कैसे हो सकता है ? । तब इसपर यह भी प्रश्न होगा कि अर्थवादों का विधि और निषेध के साथ सम्बन्ध ही में क्या प्रमाण है ? कि जो उसके अनुसार स्तुति और निन्दा की कल्पना की जाय । यदि इस का भी यह उत्तर दिया जाय कि स्तुति, निन्दा, की कल्पना ही उस सम्बन्ध में प्रमाण है । तब तो अन्योन्याश्रयदोष (जिसके स्वरूप और फल का विवरण पूर्व में हो चुका है) स्वरूपधारी हो कर यों प्रत्यक्ष हो जायगा कि उस सम्बन्ध की कल्पना से स्तुति निन्दा की कल्पना और स्तुति निन्दा की कल्पना से सम्बन्ध की कल्पना की जा रही है अर्थात दोनों कल्पनाओं का मूल, वेही दो कल्पनाएं परस्पर हो सकती हैं और तीसरा कोई मूल नहीं है तो कैसे एक भी ऐसी कल्पना हो सकती है ? । इन पूर्वोक्त युक्तियों से यह भली भांति सिद्ध हो गया कि विधि और निषेध से अन्य, कर्मकाण्ड में पठित वेदभाग, (अर्थवादभाग और मन्त्रभाग) सर्वथा निष्फल ही हैं इसी से वे धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते इति ।

प्रश्न—वृत्ति आदि ग्रन्थों में केवल अर्थवाद ही के विषय में उक्त पूर्वपक्षसूत्र लगाया गया है तो क्यों उन ग्रन्थों के विरुद्ध, मन्त्र के विषय में भी यह सूत्र लगाया जाता है । और इतना ही नहीं किन्तु इस सूत्र के शावरभाष्य को भी भाष्य के व्याख्यानकारों ने केवल अर्थवाद ही के विषय में लगाया है तो यदि मन्त्र के विषय में भी यह सूत्र लगाया जाता है तो उन व्याख्यानों से विरोध के वारण का क्या उपाय है ?

उत्तर--(१) उक्त सूत्र में मन्त्र वा अर्थवाद का नाम नहीं लिया गया है किन्तु

मन्त्रेऽपि जागरूकत्वात् वार्तिकाक्षरस्वारस्याच्च अतएवात्रैवसूत्रे "तस्मात्" इतिउक्तंवार्तिकपङ्क्तिमुपादाय न्यायसुधायाम्—

भट्टसोमेश्वरः

इह च 'यानि त्वतिरिक्तार्थान्यर्थवादमन्त्रनामधेयानुपातीनी' ति सर्वेषां पूर्वमिर्दिष्टानां 'विध्येकवाक्यत्ववशेन चैतेषा' मित्यादिभिर्निर्दिष्टप्रतिनिर्दिष्टकैः सर्वनामभिः परामर्शाद् 'धूमएवाग्नेर्दिवेत्यादीनामपी' त्यत्राप्यादिशब्दस्योपक्रमवशेन सर्वविषयत्वात्सदृशविषयत्वे चार्थवादानामपि सर्वेषामपरामर्शोपपत्तेस्तुल्यहेतुत्वेन चैतावता ग्रन्थेन सर्वानुपयोगप्रतिपादनपरत्वयैतद्भाष्यं व्याख्यातमिति गम्यते मन्त्रेष्वपिच प्रयोगविध्येकवाक्यत्ववशेनापूर्वसाधनरूपलक्षणा सिद्धान्ततोऽभिप्रेतैवेति न तद्वशेनाप्यर्थवादमात्रपरत्वनिश्चयः व्याख्यातृणां त्वर्थवादमात्रपरत्वेनेमं ग्रन्थं व्याचक्षाणानामभिप्रायं न विद्म, इति।

एवम् 'तदर्थशास्त्रात्' ३१ इति एतत्चरणस्थं सूत्रमुपादाय मन्त्राधिकरणे शास्त्रदीपिकायाम् पार्थसारथिमिश्रोऽपि—

गतोऽर्थवादप्रसङ्गः मन्त्रेष्विदानीं चिन्ता तेषामप्याद्याधिकरणे आनर्थक्यमाशङ्क्य स्वाध्यायविधिवशेनार्थवत्तया भवितव्यमित्येतावदपर्य्यवसितं कथितम् तत्पर्य्यवसानायेदानीमर्थविशेषश्चिन्त्यते इति।

॥ भाषा ॥

"अतदर्थानाम्" इतना ही कहा गया है जिसका यह अर्थ है कि 'विधि और निषेध से बहिर्भूत वाक्य' तो जैसे अर्थवाद, विधि निषेध से बहिर्भूत हैं वैसे ही मन्त्र भी, इस से यह सूत्र मन्त्र में भी लगाया जाता है।

(२) उक्त सूत्र में धर्ममूल न होने का कारण "अक्रियार्थत्वात्" (पुरुष की प्रवृत्ति वा निवृत्ति को न कराना) कहा है यह कारण भी अर्थवादों के सदृश मन्त्रों में भी वर्तमान है इस से भी मन्त्रों में इस सूत्र का लगाना उचित ही है।

(३) अनन्तरोक्त तन्त्रवार्तिक के अक्षरों से भी बिना पीडन के यही स्वरस निकलता है कि मन्त्रों के विषय में भी यह सूत्र है।

(४) पूर्वोक्त तन्त्रवार्तिक की 'न्यायसुधा' नामक टीका में पं० सोमेश्वरभट्ट ने कण्ठरव से यह कहा है कि "इस सूत्र के शावरभाष्य को वार्तिककार ने अर्थवाद, मन्त्र और नामधेय, इन तीनों के विषय में तुल्यरूप से लगाया है कि इस बात को वार्तिक के अक्षर ही कह रहे हैं मैं नहीं समझता कि भाष्य के अन्य व्याख्याकारों ने किस अभिप्राय से इस शावरभाष्य को अर्थवाद ही के विषय में लगाया है"।

(५) इस अर्थवादाधिकरण से अग्रिम, इसी पाद के मन्त्राधिकरण में "तदर्थशास्त्रात्" इस सूत्र पर 'शास्त्रदीपिका' नामक ग्रन्थ में मीमांसकवर पं० पार्थसारथिमिश्र ने भी कहा है कि 'अर्थवाद का विचार समाप्त हो गया अब मन्त्रों का विचार है क्योंकि अर्थवादाधिकरण में अर्थवादों के नाई मन्त्रों पर भी अनर्थक होने की शङ्का की गई है तदनन्तर अर्थवादों के विषय में तो समाधान विशेषरूप से कर दिया गया किंतु मन्त्रों के विषय में सामान्यरूप ही से समाधान

अथार्थवादानामेवानर्थक्यस्य साधनसूत्राणि तत्रैव—

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च २

अस्यार्थः पञ्चम्यर्थस्यानर्थक्यमितिपूर्वेणसम्बन्धः एवमुत्तरसूत्रेष्वपिबोध्यम् । शास्त्रेण विरोधो यथा "स्तेनंमनोऽनृतवादिनीवागि" ति सिद्धार्थस्य केवलस्य श्रूयमाणस्य निष्फलतया मनः स्तेनं वाचमनृतां कुर्य्यादिति विधिःकल्प्यः तथाच 'नानृतंवदेदि' ति शास्त्रविरोधः। तथा दृष्टम् प्रत्यक्षप्रमाणम् तद्विरुद्धम् "तस्मात् धूमएवाग्नेर्दिवा ददृशे" इतिवाक्यस्यैवकारेण वन्हिदर्शनं नेति प्रतिपादनं प्रत्यक्षविरुद्धम् । एवम् "नचैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणावा" इति अत्र ब्राह्मणत्वजातेः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्तदज्ञानोपन्यसनं प्रत्यक्षविरुद्धमिति ।

अत्र वार्तिकम् ।

वाङ्मनसयोर्विद्यमानमविद्यमानं वा स्तेयानृतवदनमुच्यमानं धर्मे स्वार्थेऽपि वा न प्रामाण्यं प्रतिपद्यते। अथ त्वध्याहारादिभिरेवं कल्प्येत वाङ्मनसयोः सर्वशरीरेषु चेष्टाः प्रति प्राधान्यादितरभूतेन्द्रियैरपि तच्चरितमनुवर्तितव्यमिति, ततः शास्त्रविरोधः। तत्रैतत्स्यात् विहितप्रतिषिद्धत्वात्षोडश्यादिवद्विकल्प इति । इतरस्तु कल्पनीयक्लृप्तत्वेन वैषम्यमाह। ननु चात्यन्तदुर्बलोऽपि विधिस्तदधीनात्मलाभेन प्रतिषेधेन तुल्यबलो भवतीति "प्रतिषेधःप्रदेशेऽनारभ्यविधानेचे" त्यत्रवक्ष्यते सत्यम् यस्य शास्त्रमन्तरेणाप्राप्तिरस्ति तत्रैवदेवम् यत्पुनरर्थप्राप्तं निषिध्यते तत्र विध्यभ्यनुज्ञयैव लब्धात्मानः प्रतिषेधा बलीयांसो भवन्तीति तत्रैव वक्ष्यते "अर्थप्राप्तवदितिचेदि" ति । स्तेयानृतवादयोश्च विनैव शास्त्रेण प्रवृत्तयोर्विधिनिरपेक्षोऽवस्थितः प्रतिषेध इति कल्प्यं विधिं बाधते तस्मादानर्थक्यमिति । नचैतद्विद्मइत्यादिर्यवरणशेषोऽभिमतः सचायं क्रियातत्सम्बन्ध्यनभिधानात्तद्विषयत्वेनाप्रमाणम् नहि ब्राह्मणत्वाज्ञानसन्देहविपर्ययाः केनचिदंशेन कर्मण्युपयुज्यन्ते नच प्रत्यक्षविरुद्धा स्तुतिः संभवति नच-

॥ भाषा ॥

किया गया उसी का विशेषरूप से वर्णन करने के लिये अब मन्त्राधिकरण का आरम्भ किया जाता है' इति ।

अब केवल अर्थवादों की व्यर्थता और असत्यता को सिद्ध करनेवाले सूत्र, क्रम से लिखे जायेंगे ।

शास्त्रदृष्टविरोधाच्च २

इसका यह अर्थ है कि शास्त्र और प्रत्यक्ष प्रमाण के विरोध होने से भी अर्थवादों के अर्थ झूठे हैं जैसे "स्तेनं मनोऽनृतवादिनीवाक्" (मन चोर और वाणी झूठी) यह अर्थवाद पुरुष की प्रवृत्ति वा निवृत्ति न कराने से जब निष्फल होने लगता है तब अपने सफलता के अर्थ "मनः-स्तेनं वाचमनृतां कुर्यात्" (मन को चोर बनावे वाणी झूठी बोले) इस विधि की कल्पना कराता है किंतु यह विधि "नानृतं वदेत्" (झूठा न बोले) इस निषेधशास्त्र से विरुद्ध है । और प्रत्यक्ष से विरोध के दो उदाहरण हैं उनमें से प्रथम यह है कि "धूमएवाग्नेर्दिवा ददृशे" (अग्नि का धूम ही दिन को दीखता है न कि अग्नि) इस अर्थवाद का अर्थ प्रत्यक्ष से विरुद्ध है क्योंकि अग्नि भी दिनको देख पड़ती है । और द्वितीय उदाहरण यह है "नचैतद्विद्मोब्राह्मणाः स्मोऽब्राह्मणावा" (हम नही जानते कि हम ब्राह्मण हैं वा ब्राह्मण से भिन्न) इस अर्थवाद का अर्थ भी प्रत्यक्ष से

स्वतन्त्रब्राह्मणत्वाज्ञानप्रतिपादनेन प्रामाण्यम्। कथं पुनरयं दृष्टविरोधो यदा समानाकारेषु पिण्डेषु ब्राह्मणत्वादिविभागः शास्त्रेणैव निश्चीयते। नायं शास्त्रविषयो लोकप्रसिद्धत्वाद्वृक्षत्वादिवत्। कथं पुनरिदं लोकस्य प्रसिद्धम् प्रत्यक्षेणेति ब्रूमः कस्मात्पुनर्मातापितृसम्ब-

॥ भाषा ॥

विरुद्ध है क्योंकि ब्राह्मणत्वजाति प्रत्यक्ष से सिद्ध है तब यह कहना कि "अपना ब्राह्मणत्व हम नहीं जानते" प्रत्यक्ष के विरुद्ध है।

इस अन्तिम उदाहरण के विषय में जो उत्तम विचार, इस सूत्र के वार्तिक में भट्टपाद श्री कुमारिलस्वामी का है उस का अब वर्णन किया जाता है।

प्रश्न—इस उदाहरण में प्रत्यक्ष से विरोध कैसे पड़ता है क्योंकि मनुष्यों के शरीर समानाकार होते हैं उनमें मनुष्यत्वजाति तो गौ आदि में पशुत्वजाति की नाईं प्रत्यक्ष से सिद्ध है तथापि गोत्व महिषत्व आदि जाति जैसे प्रत्यक्षसिद्ध हैं वैसे ब्राह्मणत्व क्षत्रियत्व आदि जाति प्रत्यक्षसिद्ध नहीं हैं किंतु इनका विभाग शास्त्र ही से निश्चित होता है ?

उत्तर—ब्राह्मणत्व आदि जाति, शास्त्रकवेद्य (शास्त्र ही से ज्ञात) नहीं हैं किंतु वृक्षत्वादि जाति की नाईं लोक में प्रसिद्ध हैं।

प्रश्न—कैसे ये, लोक में प्रसिद्ध हैं ?

उत्तर—प्रत्यक्ष से।

प्रश्न—जब केवल प्रत्यक्षमात्र से ब्राह्मणादि शरीरों में ब्राह्मणत्वादिजाति नहीं निश्चित होती तब कैसे वे लोकप्रसिद्ध हो सकती हैं। यदि यह कहा जाय कि केवल प्रत्यक्ष से ब्राह्मणत्वादिजातियों का निश्चय नहीं होता किंतु उनके निश्चय में उनके आश्रय (पिण्ड) के उत्पादक (माता और पिता) की जातियों के ज्ञान की भी अपेक्षा है अर्थात् शरीर के प्रत्यक्षमात्र से उसकी ब्राह्मणत्वादिजाति का निश्चय नहीं होता जब तक कि उसके माता पिता की जाति का निश्चय नहीं होता, तो ऐसा कहने में आत्माश्रयदोष पड़ेगा क्योंकि यदि पिता में ब्राह्मणत्वजाति अन्य होती और पुत्र में अन्य, तो पिता की जाति के निश्चय से पुत्र की जाति का निश्चय हो जाता क्योंकि एक वस्तु का निश्चय दूसरे वस्तु के निश्चय में कारण होता है यहां तो पिता और पुत्र में ब्राह्मणत्वजाति एक ही है तो उसी का निश्चय यदि उसके निश्चय में कारण हो तो बिना उसके निश्चय, उसका निश्चय न होगा और इसका परिणाम यही होगा कि ब्राह्मणत्वादि जाति का कदापि निश्चय ही न होगा। और उत्पादकजाति के ज्ञान से पूर्व यदि किसी सत्यवादी पुरुष ने कहा कि "यह ब्राह्मण है" इस वाक्य से जो ब्राह्मणत्व का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है क्योंकि वह शब्द से हुआ न कि चक्षुरादि इन्द्रियों से, और बिना कहे कि "यह ब्राह्मण है" जो मनुष्य माता पिता का सम्बन्ध जिस व्यक्ति में नहीं जानते उनको उस व्यक्ति में ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान भी नहीं होता। तब कैसे ब्राह्मणत्वादिजाति, प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध कही जाती है ? यद्वा जैसे दूतत्व (संदेश पहुंचाना) आदि 'त्व' शब्द से कहे जाते हैं तब भी वे जाति नहीं हैं किंतु उपाधि हैं वैसे ही ब्राह्मणत्व आदि भी जाति नहीं हैं किंतु उपाधि ही हैं। क्योंकि समानपिंडों में अनुगत और विजातीयों में न रहनेवाला आकार जाति होता है जैसे गोत्वादि, और ब्राह्मण माता पिता के सम्बन्धज्ञान से भी, ब्राह्मणों में अनुगत और क्षत्रियादिकों में न रहनेवाला कोई आकारविशेष, प्रत्यक्ष से ज्ञात नहीं होता इस से यही सिद्ध होता है कि जो माता पिता ब्राह्मणादि शब्द से कहे जाते हैं उनकी वंशपरंपरा-

न्धानभिज्ञाश्चक्षुःसन्निकृष्टेषु मनुष्येषु अनाख्यातं न प्रतिपद्यन्ते । शक्तत्यभावात् यथा वृक्षत्वं प्रागभिधानव्युत्पत्तेः । नैतत्तुल्यम् । वृक्षत्वं प्रागभिधायकव्यापाराज्जात्यन्तरव्यवच्छिन्नं

॥ भाषा ॥

में उत्पन्न होना ही उपाधिरूपी ब्राह्मणत्वादि है तथा ब्राह्मणादिशब्द भी जातिवाची नहीं हैं । और वंशपरंपरा तो भिन्न २कालवर्ती भिन्न २ पुरुषों से बनी हुई होती है तो वह कैसे एक समय के प्रत्यक्ष होने से जानी जा सकती है । तस्मात् ब्राह्मणत्वादि कैसे प्रत्यक्ष से प्रसिद्ध कहे जाते हैं ?

उत्तर—यह एक प्रसिद्ध बात है कि माता पिता के सम्बन्धजाननेवाले को उनके लड़कों के देखने पर निःसन्देह, निर्बाध और अनुभवसिद्ध ऐसे ज्ञान उत्पन्न होते हैं कि यह ब्राह्मण है, यह क्षत्रिय है, इत्यादि । और ज्ञान कोई निर्विषयक नहीं होते इससे इन ज्ञानों का भी कोई अवश्य विषय होना चाहिये । अब यदि यह विचार किया जाय कि कौन विषय है तो प्रथम यही उपस्थित होता है कि ब्राह्मणमातापिता की वंशपरंपरा में उत्पन्न होना ही इसका विषय है, किंतु थोड़े ही विचार करने से यह नहीं ठहर सकता, क्योंकि ब्राह्मणादिशब्दों का प्रयोग, बिना किसी विषयविशेष के नहीं हो सकता और क्षत्रियादिवंशपरंपरा में न रहनेवाला तथा ब्राह्मणवंशपरंपरा में अनुस्यूत (सीयाहुआ) कोई विशेष, जाति से भिन्न नहीं हो सकता तथा वंशपरंपरा, जिसको कि संतान कहते हैं दो चार पीढ़ियों में समाप्त नहीं होती कि उसका पूर्णरूप से ज्ञान होने पर उसका सम्बन्ध लगा कर ब्राह्मणादिशब्द का प्रयोग कर सकें । दूसरे यह भी है कि संतान कोई वस्तु नहीं है जैसे एक मण्डल में स्थित बहुत से वृक्ष ही बन कहलाते हैं उनसे अतिरिक्त कोई बन पदार्थ नहीं होता वैसे ही बहुत काल से क्रमपूर्वक उत्पन्न हुए उत्पाद्य और उत्पादक शरीर ही संतान कहलाते हैं उनसे अतिरिक्त कोई संतान पदार्थ नहीं है । और जो यह कहा जाता है कि ब्राह्मणों में कोई आकारविशेष नहीं ज्ञात होता, इस में यदि आकारशब्द का संस्थान अर्थात् अवयवविन्यास (गढ़त) अर्थ है तो ऐसे आकारविशेष को हम जाति नहीं कहते तब उसके ज्ञान न होने से हमारी क्षति ही क्या है और संस्थान को जाति न कहने का कारण भी यह है कि साधारणसंस्थान जिसको कि आकृति भी कहते हैं वह सामान्यरूप से सजातीय बिजातीय सबी व्यक्तियों में रहने से जाति नहीं हो सकती और संस्थानविशेष तो प्रत्येक व्यक्तियों का अपना २ निराला ही होता है तो वह कैसे जाति हो सकता है तथा ज्ञान इच्छा आदि निरवयवपदार्थों में संस्थान का संभव ही नहीं है परंतु उनमें भी ज्ञानत्वादिजाति स्वीकार किये बिना काम नहीं चलता । तस्मात् समानाकारक पिण्डों में भी 'यह ब्राह्मण है' 'यह क्षत्रिय है' इत्यादि विलक्षणाकारक ज्ञानों का विषय ब्राह्मणत्वादिजाति कदापि नहीं मेटी जा सकती । और यह ब्राह्मणत्वादिजाति, कदापि शास्त्र से नहीं ज्ञात हो सकती क्योंकि जब तक अन्य प्रमाण से ब्राह्मणत्वादिजाति का ज्ञान न हो जाय तब तक ब्राह्मण ब्राह्मणी इत्यादि पदों का अर्थ ही नहीं समझ में आ सकता और जब पदों ही का अर्थ नहीं ज्ञात है तब "ब्राह्मण से ब्राह्मणी में जो उत्पन्न हो उसको ब्राह्मण कहते हैं" इस वाक्यरूपी शास्त्र के अर्थ का ज्ञान ही नहीं हो सकता इसलिये ब्राह्मणत्वादिजाति का ज्ञान प्रथम २ शास्त्र क्या, किसी शब्द से नहीं हो सकता और जब तक ब्राह्मणत्व अप्रसिद्ध है तब तक उसका अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि अप्रसिद्धसाध्य

स्वव्यक्तिष्वनुगतं शाखादिमद्रूपेण दृश्यते ननु ब्राह्मणत्वम्। अपिच व्युत्पन्नशब्दोऽपि निमित्तान्तरादृते नैव प्रतिपद्यते। नचोपवीताध्ययनादि निमित्तम् वर्णत्रयसाधारणत्वात्। अध्या-

॥ भाषा ॥

का अनुमान ही नहीं होता। इससे अब अनन्यशरण हो कर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ब्राह्मणत्वादिजाति की प्रसिद्धि प्रत्यक्ष ही के अधीन है। हां! इतना है कि माता पिता की जातिज्ञान के बिना, प्रत्यक्ष से भी ब्राह्मणत्वादिजाति का निश्चय नहीं होता इस कारण ब्राह्मणत्वादिजाति के निश्चय करने में माता पिता की जाति का ज्ञान भी प्रत्यक्ष का सहकारी माना जाता है और इसके सहकारी मानने में जो आत्माश्रयदोष दिया गया वह भी नहीं पड़ सकता क्योंकि यद्यपि माता पिता और उसके लड़के में ब्राह्मणत्वादिजाति एक ही है तथापि माता पिता के सम्बन्ध के साथ उस जाति के निश्चय से लड़के में उस जाति का निश्चय होता है इसमें सम्बन्धी के भेद से जाति के निश्चय, दोनों अन्योन्य में भिन्न हो गये तब उन दोनों में अन्योन्य कार्यकारणभाव निर्बाध है। हां! यदि एक ही निश्चय को कार्य और कारण मानते तो आत्माश्रयदोष पड़ता और माता पिता की जातिज्ञान के सहकारी होने पर भी ब्राह्मणत्वादिजाति प्रत्यक्ष ही है। इन उक्तविषयों में वृक्षत्वादिजातिरूपी दृष्टान्त प्रसिद्ध ही है क्योंकि वृक्ष के शाखापत्रादिरूपी संस्थान का जाति न होना पूर्वोक्तयुक्तियों से सिद्ध ही है और वृक्ष से अन्य को देख कर "यह वृक्ष है" यह बुद्धि नहीं होती तथा अनेक वृक्षव्यक्तियों में "यह वृक्ष है" "यह वृक्ष है" ऐसी समानाकारकबुद्धियां होती हैं और इन बुद्धियों का विषय एक धर्म ऐसा अवश्य माना जाता है जो वृक्ष से अन्य में नहीं रहता तथा सब वृक्षों में रहता है उसी का नाम वृक्षत्वजाति है तथा उसका ज्ञान प्रत्यक्षरूपी जो "यह वृक्ष है" इत्याकारक प्रथम २ बालकों को होता है वह भी केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण से नहीं होता किंतु "यह वृक्ष है" और "ऐसाही वृक्ष होता है" इस वृद्धवाक्य से उत्पन्न जो ज्ञान है वह प्रत्यक्षप्रमाण का सहकारी माना जाता है तब भी वृक्षत्वादिजाति के प्रत्यक्षसिद्ध होने में किसी को विवाद नहीं होता ऐसे ही ब्राह्मणत्वादिजाति भी प्रत्यक्षसिद्ध ही हैं केवल सहकारी अंशमात्र में भेद है अर्थात् यद्यपि प्रत्यक्ष ही प्रमाण से ब्राह्मणत्वादि और वृक्षत्वादि, इन दोनों का निश्चय होता है तथापि ब्राह्मणत्वादि के निश्चय कराने में माता पिता की जाति का ज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण का सहकारी है और वृक्षत्वादि के निश्चय कराने में "ऐसा ही वृक्ष होता है" इस वाक्य से उत्पन्न ज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण का सहकारी है परंतु ब्राह्मणत्वादि और वृक्षत्वादि जाति का, प्रत्यक्षप्रमाण से निश्चय होने में अणुमात्र भी विशेष नहीं है तस्मात् वृक्षत्वादिजाति की नाई ब्राह्मणत्वादिजाति भी प्रत्यक्षप्रमाण ही से सिद्ध है।

प्रश्न—"यह वृक्ष है" जाति का ऐसा ज्ञान यदि केवल प्रत्यक्षरूपी लिया जाय तो उस में शब्दरूप सहकारी की कोई अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह इन्द्रिय से हो सकता है। किंतु उसमें शाखापत्रादिरूप व्यञ्जक की अपेक्षा है ब्राह्मणत्व के प्रत्यक्ष में तो संस्थानरूप व्यञ्जक है ही नहीं जिसकी अपेक्षा हो। और यदि शब्दोल्लेखी प्रत्यक्ष विवक्षित है तब भी उसमें केवल शब्दरूप सहकारी की अपेक्षा नहीं होती किंतु वृक्षत्व से अतिरिक्त शाखापत्रादिसंस्थानरूपी व्यञ्जक की भी अपेक्षा होती है और ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक तो ब्राह्मण में कुछ नहीं है क्योंकि ब्राह्मणत्व अपना व्यञ्जक अपने नहीं हो सकता, प्रसिद्ध है कि व्यङ्ग्य से व्यञ्जक भिन्न होता है और यज्ञोपवीत-

पनाद्यपि, भिन्नाचारक्षत्रियवैश्यप्रतियोगित्वात्संदिग्धम् सर्वे च दुष्टशूद्रेषु संभाव्यमानत्वादनिश्चितम्। यस्त्वविचारितसिद्धमेव प्रतिपद्येत स शुक्तिकामपिरजतं मन्यमानः क्रीणीयात्। नैष दोषः। कचिद्धि काचिज्जातिग्रहणे इतिकर्त्तव्यता भवतीति वर्णितमेतत् तेन यथैवालोकेन्द्रियानेकपिण्डानुस्यूतिशब्दस्मरणव्यक्तिमहत्त्वसन्निकर्षाकारविशेषादयोऽन्यजातिग्रहणे कारणम् तथैवात्रोत्पादकजातिस्मरणम्। अयंचोत्पाद्योत्पादकसम्बन्धो मातुरेव प्रत्यक्षः अन्येषांत्वनुमानाप्तोपदेशाद्यवगतः कारणं भवति। नचावश्यं प्रत्यक्षावगतमेव प्रत्यक्षनिमित्तं भवति चक्षुरादेरनवगतस्यापि निमित्तत्वदर्शनात् आन्तरालिकस्मृतिव्यवहितमपिचेन्द्रियसंबन्धानु-

॥ भाषा ॥

आदि तो क्षत्रियादि में भी रहने से ब्राह्मणत्व के व्यभिचारी हैं इससे वे ब्राह्मणत्व के व्यञ्जक नहीं हो सकते एवम् अध्यापनादि भी दुराचारी क्षत्रियादि में भी होते हैं इससे वे भी ब्राह्मणत्व के व्यभिचारी ही हुए। निदान ब्राह्मणव्यक्तियों में कोई ब्राह्मणत्व का व्यञ्जक नहीं है तस्मात् वृक्षत्वरूपी दृष्टान्त की तुल्यता जब ब्राह्मणत्व में नहीं हैं तब कैसे ब्राह्मणत्वादिजाति, प्रत्यक्षसिद्ध कही जाती हैं।

उत्तर—यह पूर्व हीं कहा जा चुका है कि ब्राह्मणत्व का प्रथम २ ज्ञान, प्रत्यक्षप्रमाण ही से होता है और माता पिता की जाति का ज्ञान प्रत्यक्षप्रमाण का सहकारी है तब ऐसी दशा में 'वृक्षत्वरूप दृष्टान्त की तुल्यता नहीं है और अध्यापन आदि व्यञ्जक नहीं हो सकने' इतने मात्र से कोई दोष नहीं पड़ सकता क्योंकि यदि यह नियम होता कि ब्राह्मणत्वादि से अन्य सब जातियों के प्रत्यक्ष में एक ही प्रकार का सहकारी अर्थात् व्यञ्जक होता है तो ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में नये प्रकार का सहकारी मानने से दृष्टान्तवैषम्य आदि दोष पड़ते परंतु जब वृक्षत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में संस्थान, सुवर्णत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में रूप, एवम् अन्य २ जातियों के प्रत्यक्ष में अन्य २ प्रकार के सहकारी होते हैं तब ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में माता पिता की जाति का ज्ञान यदि सहकारी होता है तो इसमें कोई बाधक नहीं है। और माता पिता की जाति का ज्ञान भी यथासंभव चाहो प्रत्यक्षप्रमाण से चाहो अनुमानादिप्रमाण से हो सभी ब्राह्मणत्वादिजाति के ज्ञान में सहकारी होता है क्योंकि पिता पुत्र का सम्बन्ध माता ही को प्रत्यक्ष होता है और दूसरों को तो अनुमान वा शब्दप्रमाण से उस का ज्ञान होता है।

प्रश्न—जो प्रत्यक्षप्रमाण से ज्ञात होता है वही किसी पदार्थ के प्रत्यक्ष में कारण होता है जैसे उद्भूतरूप, घट के प्रत्यक्ष में। तब ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में अनुमान वा शब्द से ज्ञात पिता पुत्र का सम्बन्ध कैसे उपयोगी हो सकता है?

उत्तर—यह नियम ही नहीं है कि प्रत्यक्ष ही से ज्ञात वस्तु अन्य के प्रत्यक्ष में कारण होता है क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण से अज्ञात ही चक्षुरादि इन्द्रिय, घटादि के प्रत्यक्ष में कारण होते हैं।

प्रश्न—जब ब्राह्मणादिव्यक्तियों से इन्द्रियसम्बन्ध होने पर भी माता पिता के सम्बन्ध के स्मरण ही से ब्राह्मणत्वादिजाति का ज्ञान होता है तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष कैसे है?

उत्तर—जब कि स्मरण का विषय अन्य ही अर्थात् माता पिता का सम्बन्ध है और प्रत्यक्ष का विषय ब्राह्मणत्वादिजाति है तब स्मरण के सहकारी मात्र होने से उस ज्ञान की प्रत्यक्षरूपता नहीं नष्ट हो सकती।

सारि प्रत्यक्षमित्येतत्साधितम् नच यत्सहसा सर्वस्य प्रत्यक्षं न भवति तन्निपुणतोऽपि पश्यतां न प्रत्यक्षमित्येतदप्युक्तमेव "स्त्र्यपराधात्तु दुर्ज्ञानोऽयंसम्बन्ध" इति स्वयमेव वक्ष्यति नच ताव-

॥ भाषा ॥

प्रश्न—ब्राह्मणत्वादिजाति भी अन्य ब्राह्मणव्यक्तियों में दृष्ट है उसका स्मरण ही इस ब्राह्मणव्यक्ति में क्यों न मान लिया जाय, प्रत्यक्ष क्यों माना जाय ?

उ०—(१) अन्य ब्राह्मणव्यक्तियों में जो ब्राह्मणत्व का ज्ञान प्रथम हुआ वह स्मरणरूप है वा प्रत्यक्षरूप ? यदि वह भी स्मरणरूप है तो स्मरण से स्मरण समानविषयक नहीं हो सकता । क्योंकि स्मरण, अनुभव ही से होता है इसी से प्रथमस्मरण का कारण भी ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्ष ही मानना पड़ेगा न कि स्मरण, तब तो ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्षज्ञान जैसे अन्यव्यक्तियों में सिद्ध हुआ वैसे इस व्यक्ति में भी । और यदि प्रत्यक्षरूप है तब भी वैसे ही इस व्यक्ति में भी ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान प्रत्यक्षरूप है ।

उ०—(२) स्मरण का विषय कोई ऐसा नहीं होता जो कि उसी स्मरण के कारणभूत पूर्वानुभव के विषयों की अपेक्षा नवीन हो जैसे गौ के प्रत्यक्ष के जो विषय थे अर्थात् गोत्व, वह गोव्यक्ति और उनका परस्परसम्बन्ध, वे ही गोस्मरण के भी विषय होते हैं । इस नियम के अनुसार इस व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का ज्ञान, स्मरणरूपी नहीं हो सकता क्योंकि अन्यव्यक्तियों में ब्राह्मणत्वज्ञान की अपेक्षा, इस व्यक्ति में ब्राह्मणत्वज्ञान का विषय, अर्थात् इस व्यक्ति में ब्राह्मणत्व का सम्बन्ध, नवीन ही है क्योंकि पूर्वज्ञान ने इस व्यक्ति में ब्राह्मणत्व के सम्बन्ध को विषय नहीं किया था ।

उ०—(३) ऐसा कोई वैदिकवाक्य वा राजाज्ञा नहीं है कि "स्मरण के पूर्व ही जो ज्ञान होता है वही प्रत्यक्ष है और स्मरण के उत्तरकाल में जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है" तथा स्मरण में कोई शक्ति ऐसी नहीं है कि वह इन्द्रियों के व्यापार को होने न दे वा हुए व्यापारों को बिगाड़ दे कि जिस से प्रत्यक्ष होने न पावे तस्मात् ब्राह्मणत्वआदि जाति के प्रत्यक्ष होने में कोई बाधक नहीं है ।

प्रश्न—यह बात बुद्धि में नहीं आती कि ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्षज्ञान होता है क्योंकि यदि प्रत्यक्ष होता तो गोत्वादिप्रत्यक्ष के नाईं माता पिता के सम्बन्धज्ञान के बिना भी ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान होता और यह विपरीतप्रसिद्धि ब्राह्मणत्वादि के विषय में है कि माता पिता के संबन्ध न जाननेवालों को इनका प्रत्यक्ष नहीं होता ?

उ०—जैसे लौकिक वा वैदिक गान में षड्जादि स्वरों के भेद उन्हीं लोगों को प्रत्यक्ष होते हैं जिनकी बुद्धि गान्धर्ववेद में व्युत्पन्न होती है और सामान्यलोगों को गानमात्र ही का ज्ञान होता है तथापि सामान्यलोगों के अज्ञात होने मात्र से यह नहीं कह सकते कि नादविद्या के पण्डितों को भी षड्जादिभेदों का प्रत्यक्ष ही नहीं होता वैसे ही माता पिता के सबन्ध न जाननेवालों को ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष न होने मात्र से यह कहना कदापि उचित नहीं है कि उस संबन्ध के जाननेवालों को भी ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

प्र०—स्त्रियों में व्यभिचारिणी[१] होने की शङ्का से माता पिता के संबन्ध का जब निश्चयही नहीं हो सकता तब लड़कों में ठीक २ ब्राह्मणत्व का निश्चय कैसे होगा ?

उ०—यह दूसरी बात है कि माता पिता के संबन्ध का निश्चय शीघ्र नहीं होता किंतु

१ अपने पति से अन्यपुरुष के अनुचितसंबन्ध को व्यभिचार कहते हैं ।

न्मात्रेण प्रत्यक्षता हीयते नहि यद्गिरिशृङ्गमारुह्य गृह्यते तदप्रत्यक्षम् नच स्त्रीणां कचिद्व्यभिचारदर्शनात्सर्वत्रैव कल्पना युक्ता । लोकविरुद्धानुमानासंभवात् विशिष्टेन हि प्रयत्नेन महाकुलीनाः

॥ भाषा ॥

यह नहीं है कि होता ही नहीं क्योंकि भारतवर्ष के आर्यपुत्रलोग अपनी स्त्रियों को बड़े प्रयत्न से सुरक्षित रखते हैं और इन की स्त्रियाँ अनादिकाल से वेद और शास्त्र के उपदेशानुसार प्रायः उचितरीति से परतन्त्र ही होती हैं इससे व्यभिचार होने की शङ्का इन स्त्रियों में प्रायः नहीं हो सकती इस लिये माता पिता के संबन्ध का निश्चय प्रायः सुलभ होता है जिस से कि ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्षज्ञान होता है । और ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष में मातापितृसम्बन्ध के निश्चय न होने तक जो विलम्ब होता है उस से ब्राह्मणत्वादिजाति की दुर्ज्ञानतामात्र प्रकट करने ही के अर्थ, पूर्वोक्त अर्थवाद में गौणी रीति से ब्राह्मणत्व में सन्देह दिखलाया गया है और वह भी, काचित्क स्त्री के अपराध को सूचित करता है । और उस अर्थवाद का यही तात्पर्य लगा कर, सिद्धान्त करने के समय, भाष्यकार श्री शबरस्वामी पूर्वपक्षोक्त इस दृष्टविरोधरूपी दोष का परिहार करेंगे ।

प्रश्न—जब ब्राह्मणत्वादिजाति दुर्ज्ञान हैं तब तो अप्रत्यक्ष ही हुई ऐसी दशा में उन को प्रत्यक्ष कैसे कहा जाता है ।

उ०—जो दूरस्थपदार्थ भूमिस्थितपुरुष को नहीं प्रत्यक्ष होता वही पदार्थ परिश्रम से गिरिशृङ्ग पर चढ़ने के अनन्तर उस पुरुष को जैसे प्रत्यक्ष होता है वैसे ही मातापिता के संबन्धनिश्चय से पहिले नहीं प्रत्यक्ष हुई भी ब्राह्मणत्वआदि जाति यदि उक्तसम्बन्ध के निश्चय से प्रत्यक्ष होती हैं तो उन का प्रत्यक्ष भी प्रत्यक्ष ही है ।

प्र०—जिन स्त्रियों का व्यभिचार प्रत्यक्षसिद्ध है उन को दृष्टान्त बना कर स्त्रीत्वरूपी हेतु से अन्यस्त्रियों में भी व्यभिचार का अनुमान हो सकता है क्योंकि चंचलत्वरूपी स्वभाव स्त्रियों का प्रत्यक्षसिद्ध ही है जो कि श्रुतियों और स्मृतियों में भी लोक के अनुवादरूप से कहा है जैसे 'न वै स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति' (स्त्रियों के हृदय में मित्रता नहीं होती) 'सालावृकाणां हृदयान्येताः स्त्रियः अशास्यंमनः' (स्त्रियों के हृदय वृकों के हृदय के नाईं क्रूर होते और धर्मशिक्षा के पूर्ण अधिकारी भी नहीं होते हैं) इत्यादि श्रुतियों में, तथा 'सरूपं वा विरूपं वा पुमानित्येव भुञ्जते' (स्त्रियों को पुरुष के सौन्दर्य पर आग्रह नहीं होता किन्तु वे अपने भोगार्थ पुरुषमात्र चाहती हैं) इत्यादि स्मृतियों में । जब इन उक्त प्रमाणों से यह निश्चित होता है कि व्यभिचार तीनों (मानस, वाचिक और कायिक) स्त्रियों का स्वभाव है, तब जैसे पलाश (ढाख) त्व से वृक्षत्व का अनुमान होता है वैसे ही स्त्रीत्व से सब स्त्रियों में स्वाभाविक व्यभिचार का अनुमान करने में कोई बाधक नहीं दीखता क्योंकि व्यभिचार का कारण स्त्रीत्व ही है जो कि सब स्त्रियों में समान है और ऐसी दशा में पिता के संबन्ध का पुत्र में ठीक निश्चय होना जब दुर्घट है तब पूर्वोक्त संबन्धनिश्चयरूपी सहकारी कारण के बिना ब्राह्मणत्वादिजातियों का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है ?

उ० (१) उक्त अनुमान, लोकविरुद्ध होने से प्रत्यक्षबाधित है क्योंकि महाकुलीनलोग अनादिकाल से प्रमाद छोड़ कर बड़े प्रयत्न से स्त्रियों की रक्षा करते चले आते हैं और

परिरक्षन्त्यात्मानमनेनैव हेतुना। राजभिर्ब्राह्मणैश्च स्वपितृपितामहादिपारम्पर्य्याविस्मरणार्थं समूहलेख्यानि प्रवर्तितानि तथा च प्रतिकुलं गुणदोषस्मरणात्तदनुरूपाः प्रवृत्तिनिवृत्तयो

॥ भाषा ॥

"जायायां रक्ष्यमाणायामात्मा भवति रक्षितः" (जाया की रक्षा से अपनी रक्षा होती है) इत्यादि स्मृतियों में भी स्त्रीरक्षा को आवश्यक कहा है। तथा उत्तमकुल के राजा और ब्राह्मणलोग, पितापितामहादि के स्मरणार्थ अपने २ कुल का समूहलेख्य (वंशपत्रिका) को प्रयत्न से लिखकर सुरक्षित रखते हैं। यदि स्त्रियों में व्यभिचार के अभाव का निश्चय न हो सकता तो उक्त सब बातें व्यर्थ ही हो जातीं। तथा कुलों के गुण और दोष की परीक्षा के अनुसार लोक में विवाहादि अनेक व्यवहारों की प्रवृत्ति और निवृत्ति जो सहस्रशः होती हैं ये भी न होतीं, यदि स्त्रियों में व्यभिचार के अभाव का निश्चय न होता। इस से यह निश्चित होता है कि किसी २ प्रमादी दुष्कुल की कोई २ स्त्रियाँ यद्यपि व्यभिचारिणी हो जाती हैं तथापि उन के व्यभिचारिणी होने में स्त्रीत्व नहीं कारण है किंतु उन दुष्कुलों के प्रमाद से उन स्त्रियों की रक्षा का न होना ही कारण है अर्थात् (जैसे) कतिपयपुरुषों के व्यभिचारी होने से यह नहीं कह सकते कि व्यभिचार में पुरुषत्व कारण है क्योंकि यदि ऐसा हो तो सबी पुरुषों का व्यभिचारी होना सिद्ध हो जायगा जो कि प्रत्यक्ष से विरुद्ध है और यह भी ध्यान करना चाहिये कि पुरुष, प्रायः स्वतन्त्र होते हैं तब भी कुसङ्गआदि दोषों के अनुसार कतिपय ही पुरुष व्यभिचारी होते हैं न कि सब (वैसे ही) स्त्रीत्व भी व्यभिचार का कारण नहीं है और जैसे कतिपयपुरुषों के व्यभिचारी होने से सब पुरुष व्यभिचारी नहीं सिद्ध होते वैसे ही दुष्कुलों की उक्त कतिपयस्त्रियों के व्यभिचारिणी होने से उन दुष्कुलों की भी सब स्त्रियां व्यभिचारिणी नहीं सिद्ध हो सकतीं और महाकुलों की स्त्रियों के व्यभिचारिणी होने की तो सम्भावना भी नहीं हो सकती। तथा यह भी है कि जब स्वतन्त्रपुरुषों में भी कतिपय ही, कारणविशेष के वश व्यभिचारी होते हैं तब भारतवर्ष की अत्यन्त-परतन्त्रस्त्रियों पर व्यभिचार की शङ्का बहुत ही कम हो सकती है। तात्पर्य यह है कि मानसव्यभिचार, अन्य पुरुषों के इन्द्रियगम्य नहीं होता और न उस से ब्राह्मणत्वादिजाति में कोई बाधा ही पड़ सकती। तथा वाचिकव्यभिचार यद्यपि अन्य के श्रवणेन्द्रिय (कान) से गम्य है तथापि वह ब्राह्मणत्वादिजातियों का बाधक नहीं है। अब अवशिष्ट रहा कायिकव्यभिचार, जो कि अनेक इन्द्रियों से गम्य होता है। और यह भी नियम है कि जो पदार्थ जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है उस पदार्थ का अभाव भी उसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। अब ध्यान देना चाहिये कि दुष्कुल और प्रमादी गृहस्थों की भी विरल ही स्त्रियाँ ऐसी होंगी कि जिन का कायिकव्यभिचार, उस व्यभिचारी से अन्य को प्रत्यक्ष हुआ होगा परंतु व्यभिचार के अभाव का प्रत्यक्ष तो प्रायः सब स्त्रियों में सबी को होता है सो यह व्यभिचार के अभाव का प्रत्यक्षज्ञान, उक्त अनुमान का ऐसा प्रबल बाधक है कि उस अनुमान को ठहरने ही नहीं देता।

उ० (२) और जो श्रुति तथा स्मृति दिखलाई गई हैं वे भी आज्ञारूपी नहीं हैं किंतु कतिपयस्त्रियों के लोकसिद्ध व्यभिचार का अनुवाद ही करती हैं और अनुवाद का प्रयोजन भी यही है कि जिसमें लोग डर कर स्त्रियों की रक्षा में आलस्य छोड़ पूर्ण उद्योग किया करें। और धर्मशास्त्रों में जो स्त्रीरक्षा का विधान है उसका मूल भी, यही वेदोक्त अनुवाद है। इस कारण इस

दृश्यन्ते नच भर्तृव्यतिरेककृतेन वर्णसंकरोऽपराधेन जायते। दृश्यते ह्यपराधिनीनामपि स्वभर्तृनिमित्तः प्रसवः तदपराधनिमित्तस्तु तासामशुभफलोपभोगो भवेत् नत्वपत्यानां वर्णसङ्करः नच नियोगतो वर्णान्तरैरेव सह प्रमादाः। सवर्णेनचोत्पादितस्य नैव वर्णान्तरत्वापत्तिः

॥ भाषा ॥

अनुवाद से उक्त अटकलपच्चू और दुर्वल अनुमान को कदापि कुछ भी सहायता नहीं मिल सकती। इसमें दृष्टान्त यह है कि जैसे सायंकाल में आये हुए पथिकों को चकित और जाग्रत् करने के लिये यह कहा जाता है कि "इस ग्राम के लोगों का चोरी करना स्वभाव है यहाँ बच के ठहरना" और ऐसी बात वहीं कही जाती है जहाँ कतिपय ही चोर होते हैं क्योंकि चोरी भी स्त्रीमात्र वा पुरुषमात्र वा मनुष्यमात्र का स्वभाव नहीं है वैसे ही उक्त श्रुति और स्मृति स्त्रीरक्षा में पुरुषों को केवल उत्तेजित करने के लिये हैं न कि उनका, स्त्रीजातिमात्र के व्यभिचारस्वभाव होने में तात्पर्य है।

उ० (३) यदि थोड़े समय के लिये मान भी लिया जाय कि व्यभिचार का उक्त अनुमान हो सकता है तब भी यह नियम नहीं हो सकता कि व्यभिचारिणी का अपत्य (लड़की वा लड़का) ब्राह्मणादि वर्ण न हो किंतु वर्णसङ्कर ही हो, क्योंकि व्यभिचारिणी का भी अपने पति से अपत्य उत्पन्न हो सकता है और वह वर्णसङ्कर नहीं कहा जा सकता यह दूसरी बात है कि उसकी माता को व्यभिचार का फल दुःख भोगना पड़ेगा तथा व्यभिचार से उत्पन्न अपत्य भी तब तक वर्णसङ्कर नहीं कहा जा सकता जब तक यह निश्चय न हो जाय कि उसकी माता का व्यभिचार किसी अन्य वर्ण के साथ हुआ तस्मात् ब्राह्मणादिवर्णों का निश्चय होना बहुत सुगम है वर्णसङ्कर ही का निश्चय होना अतिकठिन है क्योंकि यह नियम नहीं है कि जब स्त्री का प्रमाद हो तब अन्य वर्ण ही के साथ हो।

प्रश्न—जब धर्मशास्त्र में यह कहा हुआ है कि "विन्नास्वेष विधिः स्मृतः" (अपनी विवाहिता स्त्री से जो पुरुष का अपत्य होता है उसके विषय में यह ब्राह्मणादि वर्ण का विधान है) तब तो अपने पति से अतिरिक्त, स्त्री के तुल्यवर्ण से उत्पन्न अपत्य भी कैसे उस पति के वर्ण को पा सकता है ?

उ०—गौ महिष आदि पशुओं में भी यह देखा जाता है कि उत्पादक के सजातीय ही अपत्य होता है उसी दृष्टान्त से यह भी सिद्ध होता है कि उत्पादक का तुल्यवर्ण ही अपत्य उत्पन्न होता है चाहे वह परस्त्री ही से क्यों न हो। और उक्तवाक्य का यही अर्थ है कि वैसा अपत्य वर्णधर्म का अधिकारी मात्र नहीं होता।

प्रश्न—धर्मशास्त्र में जब यह कहा है कि व्यभिचार से उत्पन्न, सधवा (अहिवाती) स्त्री का अपत्य 'कुण्ड' और विधवा का ऐसा अपत्य 'गोलक' कहलाता है तब कैसे उसको ब्राह्मणआदि शब्दों से कह सकते हैं ?

उत्तर—कुण्ड और गोलक, एक संज्ञाविशेष मात्र है जिसका इतना ही प्रयोजन है कि इन संज्ञावाले, देवपितृकार्य के लिये निन्दित हैं न कि इन संज्ञाओं से ब्राह्मणत्वादिजाति मिट जाती है। जब कि अन्यान्यवर्ण मातापिता से उत्पन्न अपत्य भी धर्मशास्त्रों में उन दो में से एक के तुल्यवर्ण कहे गये हैं जैसे "ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न अपत्य क्षत्रिय ही होता है" इत्यादि, तब माता पिता के तुल्यवर्ण होने पर अपत्य के अन्य वर्ण होने का सम्भव ही क्या है।

संकरजातानामपि च पुनरुत्कर्षापकर्षाभ्यां सप्तमे पञ्चमे वा अन्यतरवर्णापत्तिः स्मर्य्यते। तत्र त्वेतावन्मात्रमागमिकं प्रत्येतव्यम् नह्ययं पुरुषेयत्तानियमो लौकिकप्रमाणगम्यः। तस्मात्सत्यपि सारूप्ये यथा केनचिन्निमित्तेन स्त्रीपुंसकोकिलादिविभागज्ञानं तथैव दर्शनस्मरण-

॥ भाषा ॥

और जो अपत्य वर्णसङ्कर हैं उनका भी उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार ७ वीं वा ५ वीं पीढ़ी में चल कर पिता वा माता अर्थात् एक का वर्ण हो जाता है केवल इतना मात्र शास्त्रीय है क्योंकि इस विषय में याज्ञवल्क्यमहर्षि का यह वाक्य है कि "जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः सप्तमे पञ्चमेऽपि वा। व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम्" इसका, प्रकृत में उपयोगी यह अर्थांश है कि क्षत्रिया में ब्राह्मण से उत्पन्न कन्या "मूर्धावसिक्ता" कहलाती है वह यदि ब्राह्मण से ब्याही जाय तो मूर्धावसिक्तजाति से उत्कृष्टकन्या को उत्पन्न करेगी और वह कन्या भी यदि ब्राह्मण से ब्याही जायगी तो अपनी जाति से उत्कृष्टकन्या को उत्पन्न करेगी इस क्रम से पांचवीं पीढ़ी में जो कन्या उत्पन्न होगी वह ब्राह्मणी होगी। ऐसे ही ब्राह्मण से वैश्या में उत्पन्न कन्या यदि ब्राह्मण से ब्याही जाय तो उसकी छठीं पीढ़ी में पूर्वोक्त क्रम से उत्पन्न कन्या, ब्राह्मणी हो जायगी। और ऐसे ही ब्राह्मण से शूद्रा में उत्पन्नकन्या की कन्यापरंपरा सातवीं पीढ़ी में ब्राह्मणी हो जायगी। इस रीति से जाति का उत्कर्ष होता है और यदि उक्त कन्यापरंपरा के स्थान में पुत्रों की परंपरा चली तो मूर्धावसिक्त से क्षत्रिया में उत्पन्न पुत्र की पुत्रपरंपरा पांचवीं पीढ़ी से क्षत्रिय हो जायगी और वैश्या में उत्पन्न पुत्र की पुत्रपरंपरा छठीं पीढ़ी से वैश्य हो जायगी एवं शूद्रा में उत्पन्न पुत्र की पुत्रपरंपरा सातवीं पीढ़ी से शूद्र हो जायगी इस रीति से अपकर्ष होता है।

प्र०—उक्तस्मृति के अनुसार उन २ पीढ़ियों में ब्राह्मणत्वजाति का जो संबन्ध है वह प्रत्यक्ष से नहीं ज्ञात हो सकता और ब्राह्मणत्वादिजाति जब प्रत्यक्ष ही से सिद्ध हैं न कि शास्त्र से, तब ऐसी दशा में यह स्मृतिवाक्य कैसे प्रमाण हो सकता है?

उ०—अन्य ब्राह्मणादिव्यक्तियों में ब्राह्मणत्वआदि जाति प्रत्यक्षसिद्ध ही हैं तथा वे ही ब्राह्मणआदि शब्द के अर्थ हैं और उक्त स्मृतिवाक्य में भी 'जाति' शब्द से उन्हीं ब्राह्मणत्वादिजातियों का ग्रहण होता है विशेष इतना ही है कि अन्यव्यक्तियों में ब्राह्मणत्वादिजाति प्रत्यक्ष ही से ज्ञात होती है इसी से उनके ज्ञान में शास्त्र का कोई प्रयोजन नहीं है और उक्त स्मृतिवाक्य के विषय अर्थात् उन २ पीढ़ियों में ब्राह्मणत्वादि का ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष स्वतन्त्ररीति से यह नहीं बतला सकता कि के पीढ़ियों के अनन्तर ब्राह्मणत्वादिजातियों का संबन्ध होता है इसलिये केवल इतने अंश में शास्त्र का उपयोग अवश्य है।

प्रश्न—जब मनुष्याकार, सब मनुष्यों में एकसा ही है तो ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्ष से विवेक कदापि नहीं हो सकता इसलिये ऐसी दशा में ब्राह्मणत्वादिजातियों को शास्त्र ही से गम्य क्यों न मान लिया जाय?

उ०—जैसे स्त्रीकोकिल, पुंस्कोकिल आदि का कोकिलादिआकार यद्यपि एकसा ही होता है तथापि स्वरविशेषादि के अनुसार स्त्री और पुरुष का विशेष, प्रत्यक्षसिद्ध ही होता है वैसे ही माता और पिता की जाति के दर्शन और स्मरण की सहायता से ब्राह्मणत्वादिजाति भी प्रत्यक्ष से सिद्ध है तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि उक्त अर्थवादवाक्य में जो यह कहा गया है कि 'हम अपना ब्राह्मण होना नहीं जानते' वह प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही है।

पारम्पर्यानुगृहीतप्रत्यक्षगम्यानि ब्राह्मणत्वादीनि इति भवत्यज्ञानवचनस्य प्रत्यक्षविरोधः। येषामप्याचारनिमित्ता ब्राह्मणत्वादयस्तेषामपि दृष्टविरोधस्तावदस्त्येव नत्वाचारनिमित्तवर्णविभागे प्रमाणं किंचित्। सिद्धानां हि ब्राह्मणादीनामाचारा विधीयन्ते तत्रेतरेतराश्रयता भवेत् ब्राह्मणादीनामाचारस्तद्दर्शन ब्राह्मणादय इति। स एव शुभाचारकाले ब्राह्मणः पुनरशुभाचारकाले शूद्र इत्यनवस्थितत्वम् तथैकेनैव प्रयत्नेन परपीडानुग्रहादि कुर्वतां युगपद्ब्राह्मणत्वाब्राह्मणत्वविरोधः एताभिरुपपत्तिभिस्त्वयं प्रतिपाद्यते न तपआदीनां समुदायो ब्राह्मण्यम् न तज्जनितः सँस्कारः न तदभिव्यङ्ग्या जातिः किं तर्हि मातापितृजातिज्ञाना-

॥ भाषा ॥

प्र०—"हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं वा नहीं" इस अर्थवाद में प्रत्यक्ष का विरोध तो सहज रीति से यों पड़ता है कि "शमोदमस्तपः शौचं सत्यमार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्राह्मं कर्म प्रचक्षते" इत्यादि स्मृतिवाक्यों के अनुसार तप आदि कर्म ही ब्राह्मणत्व जाति है वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है ऐसी दशा में उसका अज्ञान कहना प्रत्यक्ष से विरुद्ध ही हुआ। तो इस सुगम मार्ग को छोड़कर क्यों इतने क्लेश से ब्राह्मणत्वादि नित्य जाति सिद्ध की जाती है ?

उ०—ब्राह्मणत्वादिजाति आचारनिमित्तक यदि मान ली जायं तो भी प्रत्यक्षविरोध की उपपत्ति हो सकती है परंतु ब्राह्मणादि वर्णों का आचारमूलक होना ही स्वीकार के योग्य नहीं हैं क्योंकि उसमें चार दोष ऐसे पड़ते हैं जिनका समाधान ही नहीं हो सकता।

१. यह कि आचार से वर्णविभाग में कोई प्रमाण ही नहीं है और जो स्मृति दिखलाई गई है उसका भी स्पष्ट ही यह अर्थ है कि तप आदिक ब्राह्मण के काम हैं और यह अर्थ नहीं है कि तप आदि कामों से ब्राह्मण होता है।

२. ब्राह्मण आदि के आचारों का जो धर्मशास्त्र में विधान है वह आचारों से पहिले जो ब्राह्मण आदि वर्ण जन्म ही से सिद्ध हैं उन्हीं के लिये आचार का विधान है यदि ऐसा न माना जाय तो उन शास्त्रों में स्पष्टरूप से अन्योन्याश्रय पड़ता है क्योंकि जब वे ब्राह्मण हो लें तब उन आचारों को कर सकते हैं और जब उन आचारों को कर लें तब ब्राह्मण हो सकते हैं अर्थात् बिना उन आचारों के ब्राह्मण नहीं हो सकता और बिना ब्राह्मण होने के वे आचार नहीं हो सकते। इसका परिणाम यह होगा कि न कोई ब्राह्मण ही होगा और न वे आचार ही किये जायंगे तथा इसी कारण से उन आचारों का विधान करनेवाले धर्मशास्त्र भी व्यर्थ ही हो जायंगे।

३. एक ही पुरुष अच्छे आचार के समय में ब्राह्मण है और निकृष्ट आचार के समय में शूद्र है ऐसा भी मानना पड़ेगा तो ब्राह्मणत्वादि जाति क्या है मानों बालकों की क्रीड़ा है जो क्षण २ में बदलती रहती है और ब्राह्मणत्वादि जाति का व्यवहार तो जिस पुरुष में होता है वह उसके मरण पर्यन्त रहता है इसलिये कर्ममूलक जाति का मत लोकव्यवहार के विरुद्ध है।

४. जिस समय अपने एक ही व्यापार के द्वारा पुरुष एक को सुख और अन्य को दुःख पहुंचाता है उस समय उस पुरुष में ब्राह्मणत्व और अब्राह्मणत्व दोनों विरुद्ध धर्म आ जायंगे जिनका एक में रहना स्पष्ट ही अनुभव के विरुद्ध है।

प्रश्न—यदि तप आदि आचार नहीं ब्राह्मणत्व हैं तो उन आचारों के कर्ताओं को क्यों ब्राह्मण कहते हैं ?

मिव्यङ्ग्या प्रत्यक्षसमधिगम्या। तस्मात्पूर्वेणैव न्यायेन वर्णविभागे व्यवस्थिते 'मासेन शूद्रो भवती'–त्येवमादीनि कर्मनिन्दावचनानि अथवा वर्णत्रयकर्महानिप्रतिपादनार्थानीति वक्तव्यम्। पूर्ववच्चात्रापि क्लृप्तत्वात्प्रत्यक्षस्य कल्प्येनाज्ञानविधिना सह विकल्पो न संभवति। अपिच तत्रानुष्ठानात्मकत्वाद्भवेदपि नत्वत्र, वस्तुरूपाणामैकात्म्येनाविकल्प्यत्वात् इति।

विज्ञानेश्वरस्तु मिताक्षरायाम् आचाराध्याये —

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः॥९०॥

इति याज्ञवल्क्यस्मृतिव्याख्यानावसरे, सवर्णेभ्यः ब्राह्मणादिभ्यः सवर्णासु ब्राह्मण्यादिषु सजातयः मातापितृसमानजातीयाः पुत्रा भवन्ति। 'विन्नास्वेषविधिः स्मृत' इति सर्वशेषत्वेनोपसंहरणात् विन्नासु सवर्णास्विति सम्बध्यते विन्नाशब्दस्य सम्बन्धिशब्दत्वाद्वेत्तृभ्यः सवर्णेभ्य इति लभ्यते। एकः सवर्णशब्दः स्पष्टार्थः अतश्चायमर्थः संवृत्तः

॥ भाषा ॥

उ०—उक्त दोषों के भय से जब यह नहीं मान सकते कि तप आदि आचारों का समुदाय ही ब्राह्मणत्व है तब यह अवश्य ही सिद्ध होगा कि ब्राह्मणत्वादि जाति नित्य हैं और उन्हीं के अनुसार ब्राह्मणादि शब्दों का प्रयोग होता है और उन २ जाति वाले पुरुषों के वे २ आचार प्रायः स्वाभाविक होते हैं इसी से धर्मशास्त्रों में उनके वे २ कर्म कहे हैं।

प्रश्न—यदि कर्म से जाति नहीं होती तो "मासेनशूद्रोभवति ब्राह्मणःक्षीरविक्रयात्" (ब्राह्मण मास पर्यन्त दूध बेचने से शूद्र हो जाता है) इत्यादि स्मृति वाक्यों का क्या अर्थ है?

उ०—ऐसे वाक्यों का कर्मनिन्दा मात्र में तात्पर्य है। अथवा उनका यह तात्पर्य है कि मास भर दूध बेचने से ब्राह्मण का, त्रैवर्णिक के कर्म में अधिकार नष्ट हो जाता है अर्थात् शूद्र के तुल्य हो जाता है तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि ब्राह्मणत्वादि जाति प्रत्यक्ष ही से सिद्ध हैं और माता पिता की जाति का ज्ञान, केवल सहकारी मात्र है जिसका यह परिणाम है कि पशुत्व, मनुष्यत्वादि की नाईं ब्राह्मणत्वादि जाति का सम्बन्ध भी जन्म ही से होता है।

पण्डित विज्ञानेश्वर जी ने तो, याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय "सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः। अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राःसन्तानवर्धनाः ॥ ९० ॥" इस श्लोक की मिताक्षरा में यह कहा है कि समान वर्ण अर्थात् ब्राह्मण आदि से समानवर्ण स्त्री अर्थात् ब्राह्मणी आदि में अपने मातापिता के सजातीय पुत्र उत्पन्न होते हैं। यद्यपि यहां केवल सवर्णा कही हुई है तथापि सवर्णा विवाहिता ही लेना चाहिये क्योंकि इस प्रकरण के अंत में यह कहा है कि "विन्नास्वेषविधिःस्मृतः" (विवाहिताओं में यह पुत्रों का विधि कहा गया) और जब विवाहिता सवर्णा ली जायंगी तब तो पति अवश्य ही सवर्ण रहेगा इससे इस स्मृति में एक सवर्णशब्द स्पष्टार्थ है अर्थात् इसका कोई प्रयोजन नहीं है। इस रीति से इस वाक्य का यह अर्थ होता है कि शास्त्रीय विवाहविधि से व्याही हुई सवर्णा स्त्री में उसके सवर्णपति से जो पुत्र उत्पन्न होता है वह उनका सजातीय होता है। और इस वाक्य से यह उक्त हो गया कि कुण्ड (विधवा में पुरुषसम्बन्ध से उत्पन्न) गोलक (सधवा में अन्य पुरुष से, पति की उचित आज्ञा के बिना उत्पन्न) आदि, (जो कि एक ही वर्ण वाले स्त्री पुरुष के व्यवहार से उत्पन्न होते हैं) अपने माता पिता वा उपपिता के

उक्तेन विधिना ऊढायां सवर्णायां वोढुः सवर्णादुत्पन्नः समानजातीयो भवति अतश्च कुण्डगोलककानीनसहोढादीनामसवर्णत्वमुक्तं भवति ते च वर्णेभ्यो ऽनुलोमप्रतिलोमेभ्यश्च भिद्यमानाः साधारणधर्मैरहिंसादिभिरधिक्रियन्ते 'शूद्राणां तु सधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृता' इति स्मरणात् अपध्वंसजाः व्यभिचारजाः शूद्रधर्मैरपि द्विजशुश्रूषादिभिरधिक्रियन्ते। ननु कुण्डगोलकयोरब्राह्मणत्वे श्राद्धे प्रतिषेधो ऽनुपपन्नः न्यायविरोधश्च यो यज्जातीयात् यज्जातीयायामुत्पन्नः स तज्जातीय एव यथा गोर्गवि गौः अश्वाद्वडवायामश्वः तस्माद्ब्राह्मणाद्ब्राह्मण्यामुत्पन्नो न ब्राह्मण इति विरुद्धम्। तथा कानीनपौनर्भवादीननुक्रम्य 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधि'-रिति वचनविरोधश्च। नैतत्सारम्। ब्राह्मणेन ब्राह्मण्यामुत्पन्नो ब्राह्मण इति भ्रमनिवृत्त्यर्थः श्राद्धे प्रतिषेधः यथा ऽत्य-

॥ भाषा ॥

सवर्ण नहीं होते किंतु वे वर्णों और वर्णसङ्करों से भी अन्य ही हैं और त्रैवर्णिक के धर्मों में उनका अधिकार नहीं है किंतु अहिंसा आदि समान्य धर्मों ही में, क्योंकि "शूद्राणान्तुसधर्माणः सर्वेऽपध्वंसजाः स्मृताः" (व्यभिचार से उत्पन्न जितने हैं वे सब शूद्रों के सधर्मा होते हैं अर्थात् त्रैवर्णिकों की सेवा आदि धर्म में उनका अधिकार है) ऐसी स्मृति है।

प्र०—इस स्मृति का ऐसा अर्थ करने में तीन दोष पड़ते हैं।

(१) यदि कुण्ड और गोलक ब्राह्मण नहीं हैं तो श्राद्ध में उनको भोजन कराने का निषेधवाक्य, व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि श्राद्ध में भोजन का अधिकार शास्त्र से ब्राह्मण ही को है इस से कुण्ड आदि को श्राद्ध में भोजन कराना प्राप्त ही नहीं है।

(२) लोकन्याय का विरोध भी इस अर्थ में है। क्योंकि जिस जाति से जिस जाति में जो उत्पन्न होता है वह उन्हीं की जाति होता है जैसे अश्व से अश्वा में उत्पन्न अश्व इत्यादि। तस्मात् ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न होने पर भी कुण्ड आदि का ब्राह्मण न होना उक्त न्याय से विरुद्ध ही है।

(३) उक्त अर्थ, धर्मशास्त्र से भी विरुद्ध है क्योंकि कानीन आदि पुत्रों के प्रकरण में "सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधिः" (यहाँ तक जो मैं (याज्ञवल्क्य) ने कहा, वह माता पिता के सजातीय पुत्रों के विषय में है) यह वाक्य है जिस से स्पष्ट यह कहा गया है कि व्यभिचार से उत्पन्न, कानीन आदि पुत्र अपने माता पिता के सजातीय होते हैं।

उ०—तीनों दोषों के वारण के लिए तीन उपाय क्रम से ये हैं।

उपाय (१) श्राद्ध में कुण्ड, गोलक, आदि को भोजन कराने का निषेध, शास्त्र में इस लिये है कि किसी को यह भ्रम न हो जाय कि "ब्राह्मण से ब्राह्मणी में (चाहो किसी रीति से) जो उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण ही है" अर्थात् उस निषेध का यह तात्पर्य है कि कुण्ड गोलक आदि में ब्राह्मणत्व का संभव ही नहीं है क्योंकि वे व्यभिचार से उत्पन्न हैं इसी से उनको श्राद्ध में नहीं खिलाना चाहिये।

प्र०—यदि वे ब्राह्मण हीं नहीं हैं तब तो श्राद्ध में उनको भोजन कराने की प्राप्ति ही नहीं हो सकती और विना प्राप्ति के कैसे निषेध हो सकता है?

उ०—जो भ्रम प्रथम कहा गया है उसके अनुसार कुण्ड और गोलक में जब ब्राह्मणत्व

न्तमप्राप्तस्य पतितस्य श्राद्धे प्रतिषेधः नच न्यायविरोधः यत्र प्रत्यक्षगम्या जातिर्भवति तत्र तथा, ब्राह्मणत्वादिजातिस्तु स्मृतिलक्षणा यथास्मरणं भवति यथा समानेऽपि ब्राह्मण्ये कुण्डिनो वसिष्ठो गौतम इति स्मरणलक्षणं गोत्रं तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मण्यादिजातिः स्मरणलक्षणा। मातापित्रोश्चैतदेव जातिलक्षणम् नचानवस्था अनादित्वात्संसारस्य, शब्दार्थव्यवहारवत् 'सजातीयेष्वयं प्रोक्तस्तनयेषु मया विधि'—रिति तूक्तानुवादत्वाद्यथासंभवं व्याख्यास्यते क्षेत्रजस्तु मातृसमानजातीयो नियोगस्मरणात् शिष्टसमाचाराच्च यथा धृतराष्ट्रपाण्डुविदुराः क्षेत्रजाः सन्तो मातृसमानजातीयाः इत्यूचे

अत्रेदमवधेयम् विन्नासु सवर्णास्विति सम्बन्धेऽपि स्ववेत्तृभ्यः सवर्णेभ्य इत्यर्थो न शक्यते लब्धुम्, तथा सत्येकस्य स्मार्तस्य सवर्णशब्दस्य वैयर्थ्यापत्तेः अत एव "एकः सवर्णशब्दः स्पष्टार्थ" इति वैयर्थ्यापरपर्य्यायं स्पष्टार्थत्वं स्वयमेव कण्ठत उक्तम् विन्नाशब्दस्य कन्या-

॥ भाषा ॥

का भ्रम है तब श्राद्ध में उनको भोजन कराने की प्राप्ति हो सकती है और उक्त भ्रम के निवृत्ति द्वारा भोजन का निषेध भी हो सकता है। और अत्यन्त अप्राप्त का भी निषेध धर्मशास्त्रों में कहा गया है जैसे श्राद्ध में पतितों को भोजन कराने का निषेध है।

उपा. (२) लोकन्याय का विरोध भी नहीं है क्योंकि अश्वत्व आदि, जो जाति, प्रत्यक्ष से सिद्ध हैं उन्हीं के विषय में "अश्व से अश्वा में उत्पन्न, अश्व ही होता है" इत्यादि नियम हैं और ब्राह्मणत्वादिजाति तो केवल शास्त्रगम्य है इसी से उसकी व्यवस्था लोकन्याय के अनुसार नहीं होती। जैसे सब ब्राह्मणों में ब्राह्मणत्वजाति साधारण ही है तब भी कुण्डिन, वसिष्ठ, गौतम आदि अनेक गोत्र ब्राह्मणों के, शास्त्र के अनुसार होते हैं वैसे ही ब्राह्मण क्षत्रिय आदि में मनुष्यत्व के साधारण होने पर भी शास्त्र के अनुसार ब्राह्मणत्वादि अनेक जातियाँ भिन्न २ होती हैं तथा माता पिता की जाति का भी शास्त्र ही प्रमाण है और संसार अनादि है इसी से पिता पितामह आदि में जाति की परंपरा अनादिही है।

उपा० (३) "सजातीयेष्वयं प्रोक्तः" इत्यादि वाक्य से विरोध भी नहीं पड़ता क्योंकि वह वाक्य कुछ अपूर्व शास्त्र नहीं है किन्तु पूर्वोक्त लोकन्याय का अनुवादक ही है अर्थात् उसका यह तात्पर्य है कि जैसे अश्व से अश्वा में अश्व ही उत्पन्न होता है वैसे ही कानीन आदि पुत्र, पिता के सजातीय होते हैं। और शास्त्र उसको कहते हैं कि जिस का अर्थ लोक की अपेक्षा नवीन हो। इसी से यह कहा है कि "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" (जो अर्थ पूर्णरूप से लोकसिद्ध नहीं होता उसी का बोध कराना शास्त्र का काम है) तस्मात् "सजातीयेष्वयं प्रोक्तः" यह वाक्य शास्त्र नहीं है इसी से इस के साथ विरोध होना कोई दोष नहीं है। और क्षेत्रज पुत्र जो माता का सजातीय होता है जैसे धृतराष्ट्र पाण्डु और विदुर, उस में दो कारण हैं एक यह कि द्वापरादि युग में नियोग, धर्मशास्त्र से सिद्ध है और दूसरे, शिष्टमहाशयों का, क्षेत्रजपुत्र में माता के समानजातीय होने का व्यवहार है इति॥

इस मिताक्षरा पर यह विचारणीय है कि—

(१) उक्त, याज्ञवल्क्यस्मृति के वाक्य में यदि सवर्णा विवाहिता ही ली जाय तो भी यह अर्थ, उस वाक्य का नहीं हो सकता कि "उसके पतिही सवर्णा से जो उस में पुत्र हो, वही माता पिता का सजातीय होता है" क्योंकि ऐसा अर्थ करने में उस स्मृति का एक सवर्ण शब्द,

व्यावृत्तितात्पर्य्यकतयोपक्षयेण वेत्रूपसम्बन्धयाक्षेपकतायामक्षमत्वात् एतदभिप्रायेणैवोक्त-वार्त्तिके "सवर्णेन चोत्पादितस्य नैव वर्णान्तरापत्ति" रिति स्पष्टमेवोक्तम् भट्टसोमेश्वरेण च "ननु विन्नास्वेष विधिः स्मृत इत्यादिवचनाद्भर्तृव्यतिरिक्तसवर्णोत्पन्नस्यापि वर्णान्तरापत्तिः स्यादित्याशङ्क्याह" त्युक्तवार्तिकमवतार्य्य गवादावुत्पादकसजातीयापत्योत्पादकत्वदर्शनेनेहापि तथा ऽनुमानान्न वर्णान्तरापत्तिः संभवतीति व्याख्यातम् किंच विन्नास्विति-वचनस्य कुण्डगोलकयोर्ब्राह्मणत्वेऽपि ब्राह्मणादिविहितकर्म्मानधिकारप्रतिपादनरूपं कन्या-व्यावृत्त्यतिरिक्तमपि प्रयोजनं तदनन्तरमेव तेनोक्तम् । तदनन्तरमपिच "अमृते जारजः कुण्डो मृते भर्तरि गोलक" इतिवचनमनुसन्धाय "कुण्डगोलकवचनमपि सत्येव ब्राह्मण्ये ऽवान्तरसञ्ज्ञाप्रतिपादनपरमिती" त्यपि तेनोक्तम् । एतेन अतश्चकुण्डगोलकेत्यादि अधिक्रि-यन्त इत्यन्तं निरस्तं वेदितव्यम् अपिच मिताक्षरायां नन्वित्यादिना विरोधश्चेत्यन्तेन श्राद्धप्रतिषेधानुपपत्तिः,न्यायविरोधः, सजातीयष्वयंप्रोक्तइत्यादिवचनविरोधश्चेति यानि त्रीणि दूषणानि कुण्डगोलकयोरब्राह्मणत्वपक्षे शङ्कितानि तानि तत्र दुरुद्धराण्येव । यत्तु नैतत्सा-रमित्युपक्रम्य ब्राह्मणेनेत्यादिना पूर्वदूषणमुद्धृतम् । तदसत् । ब्राह्मणेनब्राह्मण्यामुत्पन्नोब्राह्मण इति प्रत्ययस्य भ्रमत्वे मानाभावात् किंच ब्राह्मणत्वप्रयुक्तायामेव प्राप्तौ श्राद्धे तयोःप्रतिषे-

॥ भाषा ॥

व्यर्थ ही हो जायगा, क्योंकि इस अर्थ में एक ही 'सवर्ण' शब्द से काम चल गया और उस वाक्य में दो 'सवर्ण' शब्द हैं।

(२) उक्त व्यर्थता को जो अन्यन्यगति हो कर विज्ञानेश्वर जी ने स्वीकार कर लिया है वह भी अनुचित है क्योंकि यदि सवर्णशब्द न रहेगा तो अन्यवर्णवाले पिता का वारण कैसे होगा। और जो "विन्ना (विवाहिता) शब्द के सम्बन्ध से विवाहिता सवर्णा का सवर्ण ही पति लिया जायगा" यह कहा गया है वह भी ठीक नहीं है क्योंकि विन्नाशब्द से यही निकल सकता है कि "कन्या में नहीं किंतु विवाहिता में"।

(३) "विन्नास्वेष विधिःस्मृतः" इस वाक्य का अलग भी यह अर्थ हो सकता है कि "कुण्ड आदि को, वर्णधर्म में अधिकार नहीं है" तस्मात इस वाक्य से यह नहीं निकल सकता कि कुण्ड आदि, वर्ण में अन्तर्गत ही नहीं हैं। इसी से भट्टसोमेश्वर ने, न्यायसुधा (मीमांसा वार्तिक की टीका) में यह कहा है कि "कुण्ड आदि, ब्राह्मण तो अवश्य ही हैं और धर्मशास्त्र में उनका संज्ञाभेदमात्र कहा है"।

(४) जिन तीन दूषणों की शङ्का कर उनके समाधान किये गये हैं वे दूषण भी दुर्वार ही हैं समाधान ठीक नहीं हैं।

(क) इस समय तो यह विचार ही हो रहा है कि "ब्राह्मण से ब्राह्मणी में जो, व्यभिचार द्वारा उत्पन्न होता है वह ब्राह्मण है वा नहीं" अर्थात् इन दोनों में कोई एक पक्ष निश्चित नहीं हो चुका है तब ऐसी अवस्था में "उक्त व्यभिचारज पुत्र, ब्राह्मण है" इस ज्ञान को भ्रम कहने में कोई प्रमाण नहीं है और जो, बिना प्राप्ति के निषेध में दृष्टान्त दिखलाया गया है वह भी विरुद्ध है क्योंकि ब्राह्मण होने से पतित को भी श्राद्ध में भोजन कराना प्राप्त ही है, पतित होने से जिसका निषेध शास्त्रों में कहा है। इसी से प्रथम दूषण का समाधान ठीक नहीं है।

धस्य सार्थकता सूपपादैव । अपिच यथेतिदृष्टान्तोऽपि विषमः तत्र ब्राह्मणत्वप्रयुक्तायां प्राप्तौ सत्यामेव पातित्यमूलकप्रतिषेधस्य सार्थकताया अभ्युपगमात् यदपि नचेत्यादिना व्यवहारवदित्यन्तेन मध्यमं दूषणं निराकृतम् । तदत्यन्तमयुक्तम् । ब्राह्मणत्वादेः शास्त्रैकसमधिगम्यत्वे मानाभावात् प्रत्युतपूर्वमुपन्यस्ताभिर्वार्तिकन्यायसुधोक्तयुक्तिभिस्तत्प्रत्यक्षताया निर्विचिकित्सत्वाच्च । किंच प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनां चार्वाकाणां, जातिमुद्दिश्य पूर्वपक्षे समाधिदुर्भिक्षप्रसङ्गः । एवं श्रुतिस्मृतिप्रामाण्यानभ्युपगन्तॄणां बौद्धादीनां तादृशि पूर्वपक्षेऽपि । सजातीयेष्वित्यादिवचनविरोधपरिहारस्त्वतिफल्गुत्वादेवोपेक्षणीयः अपिच प्रत्यक्षसिद्धेऽपि कुण्डगोलकयोर्ब्राह्मणादित्वे योगीश्वरवचने सवर्णपदद्वयग्रहणमपि मानम् मिताक्षरोक्तरीत्या योजने तदन्यतरवैयर्थ्यापत्तेः पूर्वमापादिताया दुष्परिहरत्वात् इति ।

ननु मूलब्राह्मणक्षत्रियादिषु प्रकृतवार्तिकोक्तस्य मातापितृजातिस्मरणादेरभिव्यञ्ज-

॥ भाषा ॥

(ख) और द्वितीय दूषण के समाधान में भी तीन दोष हैं । एक यह, कि ब्राह्मणत्वादि जाति के शास्त्रैकगम्य होने में कोई प्रमाण नहीं है बल्कि वार्तिक और न्यायसुधा की पूर्वोक्त युक्तियों से ब्राह्मणत्वादि का प्रत्यक्षगम्य ही होना दृढ़रूप से सिद्ध हो चुका । दूसरा दोष यह है कि जो, प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाणों को मानता ही नहीं वह यदि ब्राह्मणत्वादिजाति का खण्डन कर बैठे तो विज्ञानेश्वर जी कोई उसका उत्तर नहीं दे सकते क्योंकि वह तो शास्त्र मानेगा ही नहीं । तीसरा यह दोष है कि बौद्ध आदि नास्तिक जो श्रुति स्मृति को प्रमाण नहीं मानते वे यदि अपने शास्त्र के अनुसार ब्राह्मणत्वादि जाति का निराकरण करें तो उनका उत्तर देना भी कठिन ही होगा । और ब्राह्मणत्वादि जाति के प्रत्यक्ष सिद्ध मानने में ये तीन दोष नहीं पड़ते ।

(ग) जैसे "सजातीयेष्वयंप्रोक्तः" यह स्मृतिवाक्य लोकसिद्ध अर्थ का अनुवादक है वैसे ही "सवर्णेभ्यःसवर्णासु जायन्ते हि सजातयः" यह वाक्य भी लोकानुवादक ही है जिस का व्याख्यान विज्ञानेश्वर जी ने किया है और जो अर्थ उन्हों ने किया है उस से सवर्ण पद की व्यर्थता नहीं हटती इस से तीसरे दोष का समाधान भी अनुचित ही है ।

(घ) कुण्ड गोलक आदि में ब्राह्मणत्वादि जाति, प्रत्यक्ष से तो सिद्ध ही हैं किंतु "सवर्णेभ्यःसवर्णासु" इस याज्ञवल्क्यस्मृति में सवर्ण पद को दोबारा कहना भी इस विषय में प्रमाण है क्योंकि दो बार सवर्णशब्द कहने से इस वाक्य का यही अर्थ स्पष्ट होता है कि "जो सवर्ण से सवर्णा में उत्पन्न होता है" अर्थात वह चाहे उचित वा अनुचित किसी रीति से उत्पन्न हो परन्तु माता पिता का सजातीय है यह दूसरी बात है कि उचित रीति ही से उत्पन्न पुत्र, पिता के पिण्डदान आदि का अधिकारी होता है परन्तु कुण्ड, गोलक, को अपने पिता के सजातीय होने में कुछ बाधक नहीं है तो ऐसी दशा में व्यभिचार के द्वारा उत्पन्न होनेमात्र से यह सम्भव नहीं है कि वह माता पिता के वर्ण से अन्य वर्ण हो जाय किंतु गौ अश्व के नाईं माता पिता का सजातीय ही होता है । उक्त वाक्य का विज्ञानेश्वर जी ने जो अर्थ किया है उस में तो यह दोष दुर्वार ही है जिसको कि उन्हों ने भी स्वयं स्वीकार किया है कि "एक सवर्ण पद व्यर्थ ही है" इति ।

प्र०—सृष्टि के आदि में जो मूलभूत ब्राह्मण आदि उत्पन्न हुए उन में ब्राह्मणत्वादि-

कस्याभावाद्ब्राह्मणत्वादेर्दुर्ग्रहतया तत्पुत्रादावपि तज्जातिस्मरणासंभवेन तस्य दुर्ग्रहत्वमेवेत्यद्य यावदपि ब्राह्मणत्वादेः कस्यांचिदपि व्यक्तौ ग्रहणं न स्यात् । मूलब्राह्मणादौ मातापितृजातिस्मरणं बिना व्यञ्जकान्तरेण ब्राह्मणत्वादिग्रहाङ्गीकारे तु तेनैव सर्वासु व्यक्तिषु ब्राह्मणत्वादेर्ग्रहसंभवादलं मातापितृजातिस्मरणस्य व्यञ्जकत्वाभ्युपगमेनेति चेन्न आदिगवादावपितुल्यत्वात् । कथं तावदादिगवे गोत्वग्रहस्तद्व्यवहारोवा । अथ सर्गान्तरीयगोत्वग्रहशालिनो हिरण्यगर्भादेरुपदेशात्तद्ग्रहः गोत्वस्य तत्सम्बन्धस्य च नित्यतया गवान्तरवदादिगवेऽपि हि तत्सत्त्वं निराबाधमेव अथवा गोपदशक्तिग्रह एव तत्र हिरण्यगर्भादेरुपदेशाद्भवति गोत्वप्रत्यक्षं तु प्रकृतसामग्रीवशादेव नचैतन्मूलब्राह्मणादौ संभवति । प्रकृतसामग्री-

॥ भाषा ॥

जाति का प्रत्यक्ष ज्ञान, वार्तिककार के मत में नहीं हो सकता क्योंकि माता पिता का जातिस्मरणरूप व्यञ्जक उस समय में नहीं था और जब उनमें ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्ष ही नहीं हुआ तब उनके पुत्रपौत्रादिरूप शाखाओं में भी मूलब्राह्मणादिरूप माता पिता की जाति का स्मरण नहीं हो सकता क्योंकि बिना अनुभव के स्मरण कैसे होगा और स्मरण न होने से जितनी ब्राह्मणादि शाखाएं आजतक हुई उनमें से किसी व्यक्ति में भी ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है। और यदि मूलब्राह्मणादि में ब्राह्मणत्वादिजाति का कोई और ही पदार्थ व्यञ्जक मानकर उसके प्रत्यक्ष का निर्वाह किया जाय, तो उसी व्यञ्जक से अद्यावधि सब ब्राह्मणादि व्यक्तियों में ब्राह्मणत्वादिजाति के प्रत्यक्ष का निर्वाह हो जायगा, तो ऐसी अवस्था में मातापिता के जातिस्मरण को क्यों व्यञ्जक माना जाता है ?

उ०—यह प्रश्न, आदिसृष्टिसमय में उत्पन्न मूलभूत गौ अश्व आदि के विषय में भी हो सकता है कि "उन में गोत्व का प्रत्यक्ष वा व्यवहार कैसे हुआ क्योंकि वे भी गौ आदि से उत्पन्न नहीं हुए" तात्पर्य यह है कि इस प्रश्न का जो समाधान होगा, ब्राह्मणत्वादि के विषय में भी पूर्वोक्त प्रश्न का वही समाधान है ।

प्र०—प्रथम गौ आदि में हिरण्यगर्भ आदि के उपदेश से गोत्व का निश्चय होता है क्योंकि अन्यान्य पूर्व सृष्टियों में उन (हिरण्यगर्भादि) को अन्यान्य गवादि व्यक्तियों में गोत्वादि का निश्चय हुआ रहता है और गवादि व्यक्ति यद्यपि अनित्य होती हैं तथापि गोत्वादि जाति और व्यक्तियों में उनका सम्बन्ध तो नित्य ही है वह जैसे अन्यान्य सृष्टियों में था वैसे इस सृष्टि के प्रथम गौ आदि में भी है । अथवा आदि गौ में हिरण्यगर्भादि के उपदेश से इतना ही निश्चय होता है कि ऐसी व्यक्तियां गौ कहलाती हैं और उनमें गोत्व का प्रत्यक्ष तो उन व्यक्तियों के अवयव संस्थान (गढ़ंत) ही देखने से होता है न कि माता पिता के जातिस्मरण से । प्रथम गौ आदि पर उक्त प्रश्न के ये दो समाधान हैं । और मूलब्राह्मणादि में मनुष्यत्व के प्रश्न में भी ऐसे ही दो समाधान हो सकते हैं क्योंकि मनुष्यत्व का प्रत्यक्ष भी अवयवसंस्थान के देखने से होता है । परन्तु मूलब्राह्मण आदि में जो ब्राह्मणत्वादि जाति का प्रश्न किया गया उसका समाधान इन में से एक भी नहीं हो सकता क्योंकि ब्राह्मणत्वादि के प्रत्यक्ष में अवयवसंस्थान, व्यञ्जक नहीं हो सकता और ब्राह्मणत्वादि के प्रत्यक्ष में जो माता पिता की जाति का स्मरण सहकारी माना गया है, मूल ब्राह्मण आदि में उसका संभव ही नहीं है क्योंकि वे माता पिता के सम्बन्ध से नहीं होते ।

घटकस्य मातापितृजातिस्मरणस्य तत्र दुर्वचत्वादिति चेन्न यथा हि मातापितृजातिस्मरणं गोत्वादिप्रत्यक्षकारणातिरिक्तमधुनातनीषु ब्राह्मणादिव्यक्तिषु ब्राह्मणत्वादिप्रत्यक्षं प्रति कारणतया फलबलात्कल्प्यते तथा हिरण्यगर्भादीनां, मूलब्राह्मणादिकाले ध्रियमाणानामन्येषां च मूलब्राह्मणादिषु ब्राह्मणत्वाद्प्रत्यक्षं प्रति मुखादिजन्यत्वज्ञानमेव कारणतयाऽभ्युपगम्यते फलबलात् तथाच—

हारीतस्मृतौ १ अध्याये

पुरा देवो जगत्स्रष्टा परमात्मा जलोपरि । सुष्वाप भोगिपर्यङ्के शयने तु श्रिया सह ॥ ९ ॥
तस्य सुप्तस्य नाभौ तु महत्पद्ममभूत्किल । पद्ममध्येऽभवद्ब्रह्मा वेदवेदाङ्गभूषणः ॥ १० ॥
स चोक्तो देवदेवेन जगत्सृज पुनः पुनः । सोऽपि सृष्ट्वा जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥११॥
यज्ञसिद्ध्यर्थमनघान्ब्राह्मणान्मुखतोऽसृजत् । असृजत्क्षत्रियान्बाह्वोः वैश्यानप्यूरुदेशतः ॥१२॥
शूद्राँश्च पादयोः सृष्ट्वा तेषां चैवानुपूर्वशः । यथा प्रोवाच भगवान् ब्रह्मयोनिः पितामहः ॥१३॥
तद्वचः सम्प्रवक्ष्यामि शृणुत द्विजसत्तमाः । धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं मोक्षफलप्रदम् ॥१४॥
ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव मुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः । तस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि तद्योग्यं देशमेव च ॥१५॥
कृष्णसारो मृगो यत्र स्वभावेन प्रवर्त्तते । तस्मिन्देशे वसद्धर्मः सिध्यन्ति द्विजसत्तमाः ॥१६॥ इति ।

अत्र हि हारीतेनानूदिते "ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणःस्मृत" इति भगवत्पितामहवाक्ये "एवम्" इतिशब्दोपादानात् यथा मूलब्राह्मणेषु मन्मुखजन्यत्वज्ञानं ब्राह्मणत्वव्यञ्जकम् तथा ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनोत्पन्नेषु शाखाब्राह्मणेषु मातापितृजातिस्मरणं ब्राह्मणत्वव्यञ्जकमित्यस्मदुक्तं मूलशाखयोर्ब्राह्मणत्वादिव्यञ्जकद्वयं करतलामलकवत्स्पष्टतरमेव प्रतीयते ।

उदयनाचार्यैस्तु न्यायकुसुमाञ्जलौ २ स्तवके २ श्लोकस्य ३ पादम् "उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णा" इति व्याचक्षाणैः—

॥ भाषा ॥

तस्मात् यह कथन कैसे उचित है कि वहाँ समाधान इसमें भी है ?

उ०—(१) जैसे इस समय के ब्राह्मणादि व्यक्तियों में ब्राह्मणत्वादिजाति का प्रत्यक्षनिश्चय देखकर व्यवहार के बल से माता पिता का जातिस्मरणरूपी एक नवीन कारण, ब्राह्मणत्वादि के प्रत्यक्ष का सिद्ध होता है जो कि गोत्वादि के प्रत्यक्ष का कारण नहीं है वैसेही मूल ब्राह्मण आदि में, जो आदि सृष्टि में वर्तमान हिरण्यगर्भादि को ब्राह्मणत्वादि जाति का प्रत्यक्ष होता है उसके व्यवहारबल से मुख आदि से उत्पन्न होने का ज्ञान रूपी कारण, उस प्रत्यक्ष का सिद्ध होता है जो मूल गवादि में गोत्वादि जाति के प्रत्यक्ष का कारण नहीं है । इसी से हारीत स्मृति अ० १ श्लो०९ से १६ तक जो कि ऊपर संस्कृत में लिखे हैं उनमें "ब्राह्मण्यांब्राह्मणेनैवमुत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः" इस, हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के वाक्य को हारीत महर्षि ने उद्धृत किया है जिसका यह अर्थ है कि "ऐसे" ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न ब्राह्मण होता है । तात्पर्य यह है कि जैसे मेरे मुख से उत्पन्न होने के कारण इन मूलब्राह्मणों में ब्राह्मणत्वादि जाति का सम्बन्ध है वैसे ही ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न होने के कारण शाखाब्राह्मणों में ब्राह्मणत्वजाति का सम्बन्ध है । यही व्यवस्था मूल क्षत्रिय आदि में भी है ।

वृश्चिकतण्डुलीयकादिवद्वर्णादिव्यवस्थाऽप्युपपद्यते यथा हि वृश्चिकपूर्वकत्वेऽपि वृश्चिकस्य, गोमयादाद्यः तण्डुलीयकपूर्वकत्वेऽपि तण्डुलीयकस्य, तण्डुलकणादाद्यो, वन्हिपूर्वकत्वेऽपि वन्हे ररणेराद्यः एवं क्षीरदधिघृततैलकदलीकाण्डादयः तथा मानुषपशुगोब्राह्मणपूर्वकत्वेऽपि तेषां प्राथमिकास्तत्तत्कर्मोपनिवद्धभूतभेदहेतुका एव स एव हेतुः सर्वत्रानुगत इति सर्वेषां तत्सान्तानिकानां समानजातीयत्वमिति किमसङ्गतम् । गतं तर्हि गोपूर्वकोऽयं गोत्वादित्यादिना । न गतम्, योनिजेष्वेव व्यवस्थापनात्, मानसास्त्वन्यथाऽपीति । गोमयवृश्चिकादिवदिदानीमपि किं न स्यादिति चेत् न कालविशेषनियतत्वात्कार्य्यविशेषाणाम् नहि वर्षासु गोमयात् शालूक इति हेमन्ते किं न स्यात् इत्युक्तम् ।

व्याख्यातं च वर्धमानोपाध्यायेन तत्रैव प्रकाशे—

तण्डुलीयकमुद्भिद् दृष्टान्तः। एवमिति क्षीरादक्षीराच्च परमाणोः क्षीरम् एवं दध्याद्यपीत्यर्थः नन्विदानीं ब्राह्मणत्वादिव्यवस्थापकं विशुद्धमातापितृजत्वादिकं, सर्गादौ तु कर्मेत्यननुगमइत्यत आह । स एवेति इदानीमप्यदृष्टविशेषोपगृहीतभूतजनितत्वेनैवतव्य-

॥ भाषा ॥

(२) न्यायकुसुमाञ्जलि-स्तवक २ श्लोक २ चरण ३ "उद्भिद्वृश्चिकवद्वर्णाः" के व्याख्यान में उदयनाचार्य जी ने जो कहा है और उसकी टीका, प्रकाश में वर्द्धमानोपाध्याय ने जो उसका विवरण किया है उन दोनों से भी इस प्रश्न का उत्तर होता है इसलिये उन ग्रन्थों का मिलित अनुवाद किया जाता है कि "बिच्छू और चौराई साग आदि के नाईं आदिसृष्टिसमय में वर्ण की व्यवस्था होती है अर्थात् (जैसे) बिच्छू, बिच्छू से यद्यपि हुआ करता है तथापि प्रथम बिच्छू, गोबर से, और चौराई के बीज से चौराई होता है परन्तु प्रथम चौराई, चावल के कन से, और अग्नि से अग्नि होता है किन्तु प्रथम अग्नि अरणि से, तथा अवयवदूध से अवयवीदूध होता है परन्तु प्रथम दूध निरवयवपरमाणुओं से होता है एवं प्रथम दधि घृत तैल आदि, परमाणुओं से ही होते हैं और परमाणु, दधि घृत तैल आदि से भिन्न ही हैं क्योंकि दूध दधि आदि नाम सावयव कार्यों ही के हैं न कि निरवयव परमाणुओं के (ऐसे) ही मनुष्य पशु ब्राह्मण गौ आदि, मनुष्यादिकों से होते हैं परंतु प्राथमिक मनुष्यादि, अपने २ पूर्वजन्मकृतकर्मों के अनुसार पृथिवीआदि पञ्चभूतों के उन २ अंशों ही से होते हैं । और इससे यह नहीं ध्यान करना चाहिये कि इस समय में ब्राह्मणत्वादिजाति की व्यवस्था, विशुद्ध ब्राह्मण मातापिता से उत्पत्ति के अनुसार हुई और आदि सृष्टि में तो पूर्वजन्मकृत कर्मों से हुई इससे उक्त व्यवस्था का कारण एक कोई अनुगत नहीं हुआ, क्योंकि आदि ब्राह्मण और उनके सन्तान इस समय के ब्राह्मण, दोनों में पूर्वजन्म के किये हुए धर्माधर्मविशेष से ग्रथित पञ्चभूतविशेषरूपी एक ही अनुगत कारण है न कि दो। और यही व्यवस्था क्षत्रियादि और गौ आदि में भी एकाकार ही है तो बतलाइये कि क्या असंगत है । यदि यह कहिये कि अब गौ आदि से उत्पन्न होने का, गोत्व आदि से अनुमान तो हाथ से गया, क्योंकि प्रथम गौ आदि में व्यभिचार[१] हो जायगा, तो इसका यह उत्तर है कि हाथ से नहीं गया क्योंकि योनि से उत्पन्न हुए ही गौ आदि में यह अनुमान की व्यवस्था है न कि आदि सृष्टिकाल की मानसी प्रजारूपी गौ आदि में । यह तो नहीं कह सकते कि गोबर आदि से उत्पन्न बिच्छू आदि के नाईं अब भी मानसी प्रजा क्यों नहीं होती ? क्योंकि कालविशेष भी कार्य विशेष का अवश्य-

[१] प्रथम गौ में गोत्व है तोभी वह, गौ से नहीं उत्पन्न होता ।

वस्येत्यर्थः गतमिति सर्गाद्यगोव्यक्तौ व्यभिचारादित्यर्थः योनिजेष्विति योनिजमात्रवृत्ति-गोत्वादिजातेस्तत्रहेतुत्वादित्यर्थः तन्निश्चयश्च कालविशेषवृत्त्येतिभावइति ।

अत्रायमाशयः अदृष्टविशेषोपगृहीतभूतजनितत्वमेव मूलशाखाब्राह्मणाद्यनुगतमितरव्यावृत्तं च ब्राह्मणत्वादिजातिव्यञ्जकम् व्यञ्जकत्वमात्रे तु तस्य द्विविधम् मूलब्राह्मणादिषु तात्कालिकानां सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टदर्शिनामतीन्द्रियापूर्वविशेषघटिततादृशधर्मविषयकं यदलौकिकं प्रत्यक्षं तद्द्वारकमेकम् शाखाब्राह्मणादिषु तु मातापितृजातिस्मरणद्वारकं द्वितीयमिति । परममूलब्राह्मणस्तु भगवान् ब्रह्मैव ।

तथाच श्रुतिः

सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म (बृ. उ. अध्या. ३ ब्रा. ४ वा ११) इति ।

ध्वनितश्चायमर्थो मनुना

क्षत्रस्यातिप्रवृद्धस्य ब्राह्मणान् प्रति सर्वशः । ब्रह्मैव संनियन्तृ स्यात् क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥३२०॥ इति (मनु अ. ९)

स्पष्टीकृतं च हिरण्यगर्भस्य ब्राह्मणत्वमत्रैव मन्वर्थमुक्तावल्यां कुल्लूकेन "क्षत्रियो ब्राह्मणात्प्रसूतः, ब्राह्मणबाहुप्रसूतत्वात्" इति ।

॥ भाषा ॥

कारण होता है। प्रसिद्ध ही है कि जो कार्य, जिन कारणों से जिस ऋतु में होते हैं वे उन कारणों से भी अन्य ऋतुओं में नहीं होते जैसे वर्षा में गोवर से शालूक (सरुकी) होता है न कि अन्य ऋतु में" इति ।

इस ग्रन्थ का गूढ़ तात्पर्य यह है कि पूर्वजन्म के किये हुए धर्माधर्मविशेषों से ग्रथित पञ्चभूतों से उत्पन्न होना ही एक अनुगत वस्तु है कि जो मूलब्राह्मणादि और शाखाब्राह्मणादि दोनों में अनुगत हो कर ब्राह्मणत्वादि जाति का व्यञ्जक (प्रत्यक्ष होने में सहकारी कारण) है विशेष इतना ही है कि उसमें व्यञ्जकता दो चाल की होती है एक यह कि मूलब्राह्मणादि में उस काल के त्रिकालदर्शी हिरण्यगर्भ आदि को, पूर्वजन्मकृत धर्माधर्मविशेष के अलौकिक प्रत्यक्ष से इस व्यञ्जक का ज्ञान होता है, और दूसरी यह कि शाखाब्राह्मण आदि में माता पिता की जाति के स्मरणद्वारा हम साधारण मनुष्यों को इस व्यञ्जक का ज्ञान होता है जिस से कि ब्राह्मणत्वादि जाति का लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है । क्योंकि व्यञ्जक वही कहलाता है कि जो अपने ज्ञान से दूसरे का ज्ञान करा दे जैसे दीप का प्रकाश, अपने प्रत्यक्ष से अन्धकारस्थित घटादिकों का प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है इस से घटादिकों का व्यञ्जक कहलाता है ऐसे ही उक्त व्यञ्जक के उक्त दोनों प्रत्यक्ष ज्ञान, भी ब्राह्मणत्वादि जाति का प्रत्यक्षज्ञान कराते हैं इति ।

परम मूल ब्राह्मण तो ब्रह्मदेव ही हैं जैसा कि "सैषाक्षत्रस्ययोनिर्यद्ब्रह्म" (बृ. उ. अ. ३ ब्रा ४. बा ११.) यह वेदवाक्य है जिसका यह अर्थ है कि यह ब्राह्मण जो है वह क्षत्रिय का कारण है अर्थात् जिसके बाहु से प्रथम क्षत्रिय उत्पन्न होता है वह ब्रह्मा, ब्राह्मण हैं इति । तथा मनु ने भी "क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम्" (अ. ९ श्लोक. ३२०) इस वाक्य से ब्रह्मदेव का ब्राह्मण होना सूचित किया है जिसका अक्षरार्थ यह है कि क्षत्रिय वर्ण, ब्राह्मण से उत्पन्न होता है इति । तथा मनु के टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने इस मनुवाक्य के बिवरण में यह कहा है कि "क्षत्रिय, ब्राह्मण से उत्पन्न है क्योंकि जिनके बाहु से प्रथम क्षत्रिय उत्पन्न हुआ वे ब्रह्मदेव ब्राह्मण ही हैं"।

कार्तवीर्यार्जुनं प्रति देवदूतो वायुरपि

अथवा ब्राह्मणश्रेष्ठमनुभूतानुपालकम्। कर्तारं जीवलोकस्य कस्माज्जानन् विमुह्यसे ॥ १४ ॥
तथा प्रजापतिर्ब्रह्मा अव्यक्तः प्रभुरव्ययः। येनेदं निखिलं विश्वं जनितं स्थावरं चरम्॥१५॥ इति।
(म. भा. अनु. प. अ. १५३)

तथाच हिरण्यगर्भे गत्यन्तरविरहादवश्याङ्गीकरणीयमदृष्टविशेषोपगृहीतत्वमेव ब्राह्मणत्वस्यव्यञ्जकमिति मुखजेषु तज्जेष्वपि च तदेव तद्व्यञ्जकमस्त्विति ध्येयम्।

यद्यप्युक्तवार्तिके ब्राह्मणत्वादिजातीनां प्रत्यक्षतामुपपाद्य तासामाचारनिमित्तकत्वं दुरुद्धराणि दूषणानि प्रदर्श्य खण्डितम् तथापि तद्विषये नास्माकमिदानींतनधूलिक्षेपमार्जनाय विचारावसरः। सम्प्रति धर्ममर्मच्छिदामभक्ष्यभक्षणादिलम्पटानां करालकलिकालबलशालिनां वर्णनास्तिकानां तत्प्रमाणतर्काभामानां चातिबाहुल्येनात्रैव तन्मतखण्डने प्रकरणविच्छेदप्रसङ्गात् अतोविशेषकाण्डे ब्राह्मणादिवर्णनिरूपणावसरे तेषां निराकरणस्यावश्योपेज्जिघांसनीयतया तत्रैव तान्प्रमाणतर्काभासान्बालविभीषिकाकल्पानपि समूलमुन्मूलयिष्याम इत्यलमिहातिपल्लवितेन।

(सू० तथा फलाभावात् ३)

अस्यार्थः तथेतिदूषणान्तरद्योतकम् फलाभावात् गर्गत्रिरात्रब्राह्मणे "शोभतेऽस्यमु-

॥ भाषा ॥

तथा महाभा० अनु० पर्व अ० १५३ में देवताओं का दूत हो कर वायुदेव ने राजा कार्तवीर्य अर्जुन (सहस्रबाहु) से कहा है कि—

'अथवा'० अ. हे अर्जुन ! अथवा वास्तविक में तू स्वयम् इस बात को जानता ही है कि सब प्राणियों के पालन करनेवाले और जीवलोक के कर्ता धर्ता, ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं तो जानबूझ कर तू क्यों मूढ हो रहा है १४।

अर्थात् "तथाप्रजा०" प्रजाओं के स्वामी जिन ने स्थावर और जङ्गम रूपी इस जगत् की सृष्टि किया वे ब्रह्मदेव 'तथा' (ब्राह्मण) हैं ॥ १५ ॥

तो जब ब्रह्मदेव (मूलब्राह्मण) के ब्राह्मणत्व के व्यञ्जक, धर्म और अधर्म के बल से मिलाये हुए पृथिवी आदि पांचभूत ही हैं तब यही स्वीकार करना उचित है कि शाखाब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व के भी वे ही व्यञ्जक हैं।

यद्यपि पूर्वोक्त वार्तिक में अटल दूषणों से ब्राह्मणत्वादि जाति के कर्मनिमित्तक होने का भी पूर्णरूप से खण्डन हुआ है तथापि उसके विषय में अधिक विचार करने का यह अवसर नहीं है क्योंकि वर्तमान समय में धर्म के मर्मच्छेदी, अभक्ष्यभक्षण आदि दुराचारों के व्यसनी, कराल कलिकाल के बल से बलवान और वर्णों के नास्तिक (ब्राह्मणादि वर्ण कोई वास्तविक नहीं हैं यह कहने वाले) मनुष्यों और उनकी कुयुक्तियों की भी संख्या बढ़ती जाती है इस से यहां उनके खण्डन के विस्तार से प्रकरण का विच्छेद हो जायगा और विशेषकाण्ड में ब्राह्मणादिवर्णनिरूपण के अवसर में, उन कुयुक्तियों के खण्डन बिना, वर्णाश्रमधर्मनिरूपण न होने के कारण उनका खण्डन अवश्य ही कर्तव्य होगा इसलिये उन कुयुक्तिरूपी बालविभीषिकाओं (लड़कों के लिये भयावनी, कोको, घोघोसाई, आदि वाणी) का उसी विशेषकाण्ड में समूल उन्मूलन किया जायगा।

(सू० ३ तथा फलाभावात्) गर्गत्रिरात्र नामक ब्राह्मण में "शोभतेऽस्य मुखं य एवं-

खंयएवंवेदे" ति श्रुतम् कुमुखस्यैतज्ज्ञाने मुखं न शोभते अतःफलाभावोदृष्टइति ३ ।

(सू० आनर्थक्यात् ४)

अस्यार्थः "पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति सर्वमेवाप्नोती" ति श्रवणात्पूर्णाहुत्यैवसर्वफललाभे तदतिरिक्तानां यावतां कर्मणां वैयर्थ्यमित्यभिप्रायेणाह आनेति आनर्थक्यात् वैयर्थ्यात् इति ४

(सू० अभागिप्रतिषेधात् ५)

अस्यार्थः लोके केनचित्प्राप्तस्य निषेधोदृश्यते अर्थवादे अत्यन्तमप्राप्तार्थनिषेधो "नान्तरिक्षे चिन्वीते" ति अतःस्वार्थे अप्रमाणं सद्धर्मे कथंप्रमाणंभवेदित्याहअभागीति अभागिनः अत्यन्तमप्राप्तस्येति ५ ।

(सू० अनित्यसंयोगात् ६)

अस्यार्थः पूर्वं " बबरः प्रावाहणि " रितिजन्मवत्पुरुषसंयोगाद्वेदा अनित्याइतियोऽयमाक्षेपः तमेवाक्षेपं प्रकृतपूर्वपक्षोपोद्बलकत्वेन अनुवदति अनित्येति पूर्वं व्याख्यातम् ।

अत्र वार्तिकम् ।

सर्वोपाख्यानेष्वन्यपरत्वासंभवात्स्वरूपप्रतिपादनादनित्यसंयोगः सच समस्तवेदप्रा-

॥ भाषा ॥

वेद" (जो पूर्वोक्त विषय को जानता है उसका मुख सुन्दर होता है) यह अर्थवाद है इस में जो ज्ञान का फल कहा हुआ है वह झूठा है क्योंकि कुत्सितमुखवाले का मुख, उक्त ज्ञान से सुन्दर नहीं होता है इस से अर्थवाद अप्रमाण है ।

(सू० ४ आनर्थक्यात्) "पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति" (यज्ञान्त में पूर्णाहुति होम करे) यह विधि है और "सर्वमेवाप्नोति" (सर्वा फल पाता है) यह अर्थवाद है । यदि यह सत्य माना जाय तो पूर्णाहुतिमात्र से जब सब फल मिल सकता है तब उस से अन्य कौन सा फल है जिस के लिये उससे पूर्व की क्रियाएं की जायं । इस से यज्ञ का विधान ही व्यर्थ हो जायगा तस्मात् यह अर्थवाद मिथ्या है ।

(सू० ५ अभागिप्रतिषेधात्) यह बात लोक में प्रसिद्ध है कि निषेध उसी का किया जाता है जिसकी प्राप्ति किसी कारण से हो सकती है जैसे पिपासा से जलसामान्य की प्राप्ति होने पर यह निषेध होता है कि तड़ाग का जल न पीओ इत्यादि । परंतु अर्थवादों में ऐसे काम का भी निषेध किया जाता है जिसका सम्भव ही नहीं हो सकता जैसे "नान्तरिक्षेचिन्वीत" (आकाश में अग्नि का स्थापन न करे) तो जब ऐसे वाक्य, अपने अर्थ में भी प्रमाण न होने से लौकिक वाक्यों के भी तुल्य नहीं हैं तो धर्म में इनका प्रमाण होना बहुत ही दूर है ।

(सू० ६ अनित्यसंयोगात्) "बबरः प्रावाहणिरकामयत" (प्रावाहणि के पुत्र बबर ने चाहा) इस अर्थवाद के देखने से यह सिद्ध है कि अनित्य पुरुषों की कथा वेद में है और इस से वेद अनित्य है । यह आक्षेप और इसका समाधान भी पूर्व में वेद के अपौरुषेयत्वसाधन के अवसर पर कह जा चुके हैं उसी आक्षेप का यह सूत्र अर्थवाद अंश में अनुवादक है क्योंकि अर्थवाद, वेद का भाग है । और वार्तिक में इस सूत्र का भाव जो कहा है वह यह है कि—

सिद्धान्तयुक्ति—अर्थवादों का अर्थ सत्य न हो परन्तु स्तुति तो असत्य गुणों से भी होती है इस से "अर्थवाद स्तुति के लिये है" सिद्धान्ती के इस मत का कैसे निराकरण हो-

माण्ये सति कथंचिदन्यथा नीयेत यदातु यथैव प्रमाणानां मध्ये शब्दस्तत्रापि च वेदः प्रमाणं तथैव वेदेऽपि विधिमात्रं युक्त्या कल्प्यते तदेतरैकदेशवदनित्यार्थैकदेशाप्रामाण्यं यथाश्रुतार्थग्रहणादापन्नं किं निवार्य्यते । तस्मादेवमादीनामनपेक्ष्यार्थमध्ययनमात्रादेव फलं कल्प्यम् । अथवा यथैतान्युपेक्षाफलानि तथा तद्विषयं प्रत्यक्षमपि प्रतिपत्तव्यम् अथ कस्मान्मन्त्रवद्यथाप्रकरणं प्रयोगकाले न युज्यते प्रयोगरूपसामर्थ्याभावात् नहि मन्त्राणां पाठमात्रेण विनियोगः किंतर्हि तत्सामर्थ्यात् नचात्र तदस्ति अथवा यथा तेषां पूर्वपक्षे कार्य्यान्तराभावाद्रूपमात्रं ग्रहीष्यते तथाऽत्राप्यस्तु यत्तु सूत्रकारेणानित्यत्वमुक्तं तत्सामान्यापेक्षया नाप्रयोज्यतया इति ॥

इत्यर्थवादमात्रस्य धर्मे मूलत्वोपयोगयोः खण्डनयुक्तिसूत्राणि ॥

॥ भाषा ॥

सकता है क्योंकि अर्थवादों का अपने वाच्यार्थ में नहीं मुख्य तात्पर्य है तो वाच्यार्थ के झूठे होने से हानि ही क्या है ? कुछ नहीं ।

खण्डन—यदि वाच्यार्थ में अर्थवादों का नहीं तात्पर्य है तो दूसरे में तात्पर्य हो ही नहीं सकता क्योंकि वे कुछ विधान कर ही नहीं सकते और उनमें कोई शब्द, ऐसा नहीं है कि जिसका अर्थ स्तुति हो सके, तो ऐसी दशा में जो उनको प्रमाण मानता है उसको अनन्यगति हो कर यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अर्थवादों का उनके वाच्यार्थ ही में तात्पर्य है तब तो "वर्वरःप्रावाहणिः" इस अर्थवाद के प्रमाण होने से वेद अनित्य हो जायगा ।

सि०—वेद के अपौरुषेयत्व प्रकरण में "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस सूत्र से वर्वरादि शब्दों का वायुआदि अर्थ किया गया है जो कि नित्य है तब कैसे वेद अनित्य हो सकता है इसलिये अर्थवाद प्रमाण ही हैं ।

ख०—अर्थवाद के सब उपाख्यानों में उक्त रीति से शब्दों के अर्थ बदले नहीं जा सकेंगे इसलिये उन उपाख्यानों को अवश्य ही अप्रमाण मानना पड़ेगा, तो एक उपाख्यान में इतने क्लेश से अर्थ बदलने में प्रयोजन ही क्या है, यह भी अप्रमाण ही क्यों नहीं मान लिया जाता ? हां यदि सब वेद प्रमाण होता और "वर्वरः प्रावाहणिः" यही वाक्य केवल अप्रमाण होने लगता तो यह उचित था कि क्लेश से भी इसका अर्थ बदला जाता परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि जैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में से शब्द एक प्रमाण है और शब्दों में वेद, वैसे ही युक्ति से यही ज्ञात होता है कि वेदों में भी विधिवाक्य और निषेधवाक्य ही प्रमाण हैं और अवशिष्ट भाग अप्रमाण ही हैं । तब ऐसी दशा में वाच्यार्थ के अनुसार "वर्वरः प्रावाहणिः" आदि अर्थवादों को क्यों नहीं अप्रमाण होने देते क्यों इतने क्लेश से इनकी प्रमाणता सिद्ध की जाती है ?

सि०—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (वेद अवश्य पढ़े) इस विधिवाक्य के बल से यह निश्चित होता है कि वेद का सब अंश पुरुषार्थ (सुख वा दुःखाभाव) का साधक है तब कैसे कोई अर्थवाद अनर्थक हो सकता है ।

ख०—अर्थवादों में पुरुषार्थ की साधकता तो इतने मात्र से हो सकती है कि उनके पाठ से कोई पारलौकिक पुरुषार्थ सिद्ध होता है और इतने ही से उक्त अध्ययनविधि भी चरितार्थ हो जाता है तो अध्ययनविधि के बल से यह कदापि नहीं सिद्ध हो सकता कि अर्थवादों का अपने-

मन्त्राणां तु धर्मे मूलत्वमुपयोगश्चार्थवादसाधारणेनाक्रियार्थत्वेन "आम्नायस्ये" त्यादिप्रथमसूत्र एवाक्षिप्ते। अथ मन्त्राणामर्थवादानां च विशेषतो धर्ममूलत्वेऽर्थवादानां धर्मोपयोगे च सिद्धान्तसूत्रम्—

☞ विधिना त्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः ॥ ७ ॥ इति । ☜

अस्यार्थः। विधिना स्तुतिसाकङ्क्षेण प्रयोजनसाकाङ्क्षाणामर्थवादानाम् एकवाक्यत्वात् विधीनाम् विधेयानाम् स्तुत्यर्थेन स्तुतिप्रयोजनकेन, स्तुतिरूपेण प्रयोजनसाकङ्क्षेण लक्ष्येण वा ऽर्थेन आनर्थक्याभावात् अर्थवादा धर्मे प्रमाणं स्युरिति। अत्रशावरे "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकाम" इति विधिः "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिङ्गमयति" इत्यर्थवाद उदाहृतः

॥ भाषा ॥

अर्थ में तात्पर्य भी है। यहां तक ५ सूत्रों से अर्थवादों के धर्ममूलत्व और धर्मोपयोग का खण्डन हो चुका तथा मन्त्रों के धर्ममूलत्व और धर्मोपयोग का खण्डन भी अर्थवादों के धर्ममूलत्व और धर्मोपयोग के खण्डन ही से "अम्नायस्य" इत्यादि प्रथम सूत्र में हो चुका और यह पूर्वपक्ष भी समाप्त हो गया।

अब विशेषरूप से मन्त्र और अर्थवाद का धर्ममूलत्व और अर्थवाद का धर्मोपयोग भी सिद्ध करने के लिये, सिद्धान्त का प्रथम सूत्र यह है कि—

☞ "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः" अ० १ पा० २ सू० ७ ॥ ☜

अर्थ इसका यह है कि विधिवाक्य, अपने विधेय यज्ञादिक्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये विधेयस्तुति की, तथा अर्थवाद वाक्य भी अपने प्रयोजन की, आकाङ्क्षा करते हैं इस से स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा अर्थवादवाक्य, विधिवाक्यों से मिलकर विधिवाक्यों ही में अन्तर्गत हो दोनों एक महावाक्यरूपी हो जाते हैं। और विधिवाक्य तो पुरुष की प्रवृत्ति कराने से धर्म में प्रमाण होते ही हैं इसी से उनके अन्तर्गत अर्थवाद भी धर्म में प्रमाण होते हैं। तात्पर्य यह है कि विधिवाक्य, अर्थवादों को लेकर ही पूर्ण वाक्य कहलाते हैं और विधि से पृथक् वे कोई वस्तु नहीं हैं किन्तु उसी के अङ्ग हैं। यद्यपि विधिवाक्य यज्ञादि कर्मों में पुरुषों को प्रवृत्त करते हैं तथापि यज्ञों में परिश्रम और धनव्यय अधिक होने के कारण, जब पुरुषों का मन यज्ञों से हटने लगता है तब अर्थवादवाक्य ही यज्ञों की प्रशंसा के द्वारा पुरुषों को यज्ञों से हटने नहीं देते। इसी सहायता देने के कारण, अर्थवादवाक्य, विधिवाक्यों के अङ्ग हो कर धर्म में प्रमाण होते हैं इति।

और यह कोई अपूर्व कल्पना नहीं है किन्तु लोकप्रसिद्ध ही विषय है अर्थात् जैसे लोक में यह विधिवाक्य होता है कि "इस गौ को कीनो"(खरीदो) और अर्थवाद यह है कि "यह गौ, बिकाऊ और बहुत दूध देने वाली है तथा इसके बच्चे जीया करते हैं अर्थात् यह मृतवत्सा नहीं है और बछिया ही बियाती है तथा प्रति वर्ष में बियाती है" इत्यादि, उक्त विधिवाक्य पुरुष को उसके क्रय में प्रवृत्त करता है परन्तु यदि मूल्य अधिक होने से पुरुष उसके क्रय से हटने लगता है तब उक्त अर्थवाद, गौ के उक्त गुणों को दिखलाकर उक्त पुरुष में, गौ के गुणों के अनुसार अधिक मूल्य की भी न्यूनतानिश्चय, उत्पन्न करता हुआ लाभ दिखाने के द्वारा पुरुष को उस गौ के क्रय से हटने नहीं देता। भाष्यकार शबरस्वामी ने इस सूत्र का उदाहरण यह दिया है कि विधि—

विचारपरिपाटीयं वाटी दुर्गान्तरोद्भवा । दर्श्यते सरलीकृत्य तरलीकरणी द्विषाम् ॥ १ ॥

ननु वायुर्वै क्षेपिष्ठेति शावरोक्तमुदाहरणमसङ्गतम् । अस्योदाहरणस्य पूर्वपक्षेऽनुपन्यासेन पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्मिथोभिन्नविषयकत्वमसङ्गात् । नच पूर्वपक्षोदाहृतवाक्यानामिवास्याप्यर्थवादतया तत्समानयोगक्षेमत्वादिदमपि तत्रोदाहृतप्रायमेवेत्यभिप्रायेणैतदुदाहरणोपन्यासः शावर इति वाच्यम् । एवमपि पूर्वपक्षोदाहरणानां परित्यागे बीजाभावेन भाष्यकृतामनैपुण्यापत्तेर्दुर्वारत्वादिति चेन्न । पूर्वोदाहृतेषु वाक्येषु हि न केवलं धर्ममूलत्वाभाव एवाशङ्क्यते किंतु स्वार्थबाधोऽपि एवंच तेषु धर्ममूलत्वाभावः स्वार्थबाधश्चेति द्वयमिहापाकरणीयम् वायुवाक्ये तु पूर्वपक्षिणा स्वार्थबाधस्यापादयितुमशक्यत्वाद्धर्ममूलत्वाभावमात्रं-

॥ भाषा ॥

"वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (ऐश्वर्य चाहनेवाला पुरुष, वायु देवता का यज्ञ करै जिस में श्वेत छाग का आलम्भ अर्थात् विधिवत् बलिप्रदान होता है) इस विधि का अर्थवाद यह है कि "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेनभागधेयेनोपधावति स एवैनं भूतिं गमयति" (वायु अति शीघ्रकारी देवता है जो उसका यज्ञ करता है उसको वही वायु ऐश्वर्य देता है) इति ।

॥ बृहद्व्याख्यान ॥

वेद दुर्ग के भीतर लगी हुई, प्रतिपक्षियों को हिला देनेवाली, मनोहर बाटिकारूपी यह विचार की परिपाटी, (रीति) अब सहज कर दिखलाई जाती है ॥ १ ॥

प्र०—शावरभाष्य में इस सिद्धान्तसूत्र का जो "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" यह अर्थवाद उदाहरण दिया गया सो क्यों असङ्गत नहीं है ? क्योंकि यह उदाहरण पूर्वपक्ष में दिखलाया नहीं गया है तो इस पर जब पूर्वपक्ष ही नहीं हुआ तब सिद्धान्तसूत्र का यह कैसे उदाहरण हो सकता है प्रसिद्ध है कि पूर्वपक्षरूपी प्रश्न का सिद्धान्तरूपी उत्तर होता है और जो विषय प्रश्न का हो वही विषय जब उत्तर का भी हो तभी वे प्रश्न और उत्तर उचित समझे जाते हैं क्या ? वरुक उन्ही का नाम प्रश्न और उत्तर है ? ।

उ०—यद्यपि यह उदाहरण पूर्वपक्ष में नहीं दिखलाया गया तथापि यह उन्हीं अर्थवादवाक्यों के तुल्य अवश्य है जो कि पूर्वपक्ष में उदाहरणरूप से दिखलाये गये तो ऐसी दशा में यह समझना चाहिये कि इस अर्थवादवाक्य पर भी पूर्वपक्ष हो चुका है इसी अभिप्राय से शावरभाष्य में इस सिद्धान्तसूत्र का यह उदाहरण दिया गया ।

प्र०—यह मान लिया गया कि इस सूत्र का यह भी उदाहरण हो सकता है परन्तु जब पूर्वपक्ष में कहे हुए उदाहरण भी ऐसे ही हैं तब बिना किसी कारण के उनका परित्याग करने से भाष्यकार की कुशलता में त्रुटि पड़ती है तस्मात् यह अवश्य बतलाना पड़ेगा कि किस कारण से भाष्यकार ने उनका परित्याग किया क्योंकि ये भाष्यकार मीमांसकों के शिरोमणि गिने जाते हैं ?

उ०—(१) पूर्वपक्ष में कहे हुए उदाहरणों के त्याग का यह कारण है कि उनपर पूर्वपक्ष में दो प्रकार का आक्षेप किया गया है एक तो यह कि "वे धर्म के मूल नहीं हो सकते" दूसरा यह कि "उनके अर्थ, बाधित अर्थात् झूठे हैं" इस दशा में उनमें से यदि कोई उदाहरण इस सूत्र का दिया जाता तो उक्त दोनों आक्षेपों के पृथक् २ समाधान करने से प्रक्रियागौरव अवश्य होता और "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इस उदाहरण पर, इसके अर्थ में बाध का आक्षेप नहीं हो सकता इससे केवल,

निराकरणीयमिति वायुवाक्यस्योक्तरीत्योक्तप्रायत्वेऽपि पूर्वोक्तवाक्यानामिहोदाहरणतयोपन्यासे समाधानगौरवमेव तेषां त्यागे वीजमिति लाघवादिह वायुवाक्योपन्यासः शावरे॑। किंच 'विधिनात्वि' त्युक्तसूत्रेण 'तुल्यंचे' त्यादितदव्यवहितोत्तरसूत्रेण चार्थवादानां धर्ममूलत्वमुपपाद्य पूर्वपक्षोक्तं धर्ममूलत्वाभावमात्रं निराक्रियते स्वार्थवाधस्तु पूर्वपक्षोपन्यासक्रमेण भृङ्गग्राहिकया ततोऽप्युतरैः सूत्रैर्निराक्रियते एवंच पूर्वपक्षोदाहृतानि वाक्यानि नास्यसूत्रस्यासाधारणान्युदाहरणानि किंतु स्वार्थवाधं निराकरिष्णूनामुक्तोत्तरसूत्राणामन्यतमस्यापि। वायुवाक्ये तु धर्ममूलत्वाभावमात्रस्य निराकरणीयत्वात्तन्निराकरिष्णुनोरनयोः सूत्रयोरुदाहरणता न सूत्रान्तरसाधारणीत्यसाधारण्याद्वायुवाक्यमिहोदाहृतं भाष्यकृद्भिरिति। अथ कथमियं सूत्रोक्ता विध्यर्थवादैकवाक्यता। नच यथा लोके इमां गां क्रीणीथा इत्यादिविधीनामियं गौः क्रय्या वहुक्षीरा जीवद्वत्सा स्त्र्यपत्या समांसमीनेत्यादिभिर्लौकिकैरर्थवादैः तथा वेदेऽपि तयोरेकवाक्यता सूपपादा अतएव "कथमेकवाक्य-

॥ भाषा ॥

धर्ममूल न होने के आक्षेप ही का उत्तर देना है इसमें प्रक्रियालाघव है इसी से यही उदाहरण दिया गया। यह उत्तर वार्तिककारों का है।

उ०—(२) यह सूत्र और इससे अव्यवहित उत्तर सूत्र ये दोनों केवल प्रथम ही आक्षेप अर्थात् धर्ममूल न होने के उत्तर हैं और इनसे भी उत्तर सूत्र सब, पूर्वपक्ष के क्रमानुसार केवल दूसरे ही आक्षेप अर्थात् अर्थों के मिथ्या होने के उत्तर हैं तो ऐसी दशा में पूर्वपक्षोक्त उदाहरण सब, इन दो सूत्रों के उदाहरण तो हैं क्योंकि उनपर भी धर्ममूल न होने के आक्षेप का समाधान इन दोनों सूत्रों से किया जाता है किन्तु वे इन दो सूत्रों के असाधारण उदाहरण नहीं हैं क्योंकि उनपर अर्थबाध के आक्षेप का समाधान इन दो सूत्रों से अग्रिम सूत्रों के द्वारा होता है इससे उन सूत्रों के भी वे उदाहरण हैं। और "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" इस वाक्यपर एक ही आक्षेप हो सकता है कि "यह धर्ममूल नहीं है" जिसका उत्तर इन्हीं दो सूत्रों से हो सकता है न कि अग्रिम सूत्रों से क्योंकि वे सूत्र अर्थबाध ही के आक्षेप का उत्तर देते हैं जो आक्षेप इस वाक्य पर हो ही नहीं सकता इसलिये यही अर्थवादवाक्य इन दोनों सूत्रों का असाधारण उदाहरण है इसी अभिप्राय से भाष्यकार ने पूर्वपक्षोक्त उदाहरणों का परित्याग कर इस नवीन "वायुर्वै क्षेपिष्ठा" वाक्य का इस सूत्र के उदाहरणरूप से उपन्यास किया।

प्र०—इस सूत्र में अर्थवादवाक्यों की विधिवाक्यों के साथ जो एकवाक्यता (अन्योन्य में मिलकर एक वाक्य हो जाना) कही हुई है वह कैसे हो सकती है?

समाधान—उक्त एकवाक्यता कोई अपूर्व कल्पना नहीं है किन्तु लोक में प्रसिद्ध है जैसे लोक में "इस गौ को कीनो" (खरीदो) इस विधिवाक्य की "यह गौ विकाऊ और बहुत दूध देने वाली है इसके बच्चे जीया करते हैं अर्थात् मृतवत्सा नहीं है और वछिया ही बियाती है, बरसाइन भी है" इस अर्थवादवाक्य के साथ एकवाक्यता होती है अर्थात् अर्थवाद का यही तात्पर्य होता है कि इस गौ का लेना अच्छा है और दोनों के मिलने से यह एक वाक्य सिद्ध होता है कि "इस गौ को कीनो क्योंकि यह बहुत अच्छी है" इत्यादि। ऐसे ही उक्त "वायुर्वै" इत्यादि अर्थवाद की "वायव्यं श्वेतम्" इत्यादि विधि के साथ एकवाक्यता हो कर यह एक वाक्य सिद्ध होता है कि "ऐश्वर्यकामी पुरुष, वायुदेव का यज्ञ करै जिस में श्वेत छाग का बलिप्रदान होता है क्योंकि-

भवः" इतिप्रश्ने "पदानांसाकाङ्क्षत्वाद्विधेःस्तुतेश्चैकवाक्यत्व" मिति शावरेऽभिहितम् तेन चार्थवादानां धर्ममूलतया विध्येकवाक्यता, तस्यां च स्तुत्यर्थत्वं कारणमिति सूत्रार्थो लभ्यतएवेति वक्तुं युक्तम्। विध्येकवाक्यतायां सत्यां तदनुरोधिनी लक्ष्यस्तुत्यर्थता तस्यां च सत्यां तत्साध्या विध्येकवाक्यतेति परस्पराश्रयप्रसङ्गात् लोके तु विनैवलक्षणामर्थवादघटकपदानां विधिघटकपदैः साकाङ्क्षतया शक्यार्थान्वयादेकवाक्यता भवतीति नान्योन्याश्रय इति विशेषात्। नचैकवाक्यत्वानुरोधेन स्तुत्यर्थे लक्षणा तद्द्वारैव चैकवाक्यताया अर्थवादीयायामुपयोगरूपधर्ममूलतायां कारणत्वं भाष्याभिमेतं न तु साक्षात् विधिस्तुतिपदसाकाङ्क्षत्वकथनं तु भाष्ये समभिव्याहारावगतैकवाक्यतानिर्वाहायैव एवंचैकवाक्यतायां समभिव्याहारैकसाध्यायां लक्षणया स्तुत्यर्थत्वमर्थवादानां नापेक्ष्यते। स्तुत्यर्थलक्षणा तूक्तामेकवाक्यतामपेक्षतएवेति कान्योन्याश्रय इति वाच्यम्। अर्थवादानामर्थस्य साध्यत्वसाध्य-

॥ भाषा ॥

यह यज्ञ इस कारण से बहुत अच्छा है कि वायु बहुत शीघ्रकारी देवता है शीघ्र ही ऐश्वर्य देता है" क्योंकि पुरुष की प्रवृत्ति के लिये विधि के पद, स्तुति की और अपने को धर्ममूल बनाने के लिये अर्थवाद के पद, विधि की आकाङ्क्षा करते हैं तथा यज्ञ से फल की आशा होने पर भी श्रम और व्यय के भय से, पुरुष की प्रवृत्ति, बिना स्तुति के नहीं होती। तथा अर्थवाद का अर्थ, सिद्ध ही होता है इस से अर्थवाद, बिना विधि के किसी पुरुष की प्रवृत्ति, किसी क्रिया में नहीं करा सकता इसलिये क्रियारूप धर्म का मूल नहीं हो सकता। और सिद्धान्तसूत्र का भी यही अर्थ है इसी से विधियों के साथ उनकी एकवाक्यता होती है और स्तुति, अर्थवादों का मुख्यार्थ इस कारण से मानी जाती है कि बिना स्तुति के वे धर्म में मूल नहीं हो सकते।

खण्डन—इस विषय में लोक के दृष्टान्त से काम नहीं चल सकता क्योंकि लौकिक अर्थवाद के जितने पद हैं उनके वाच्यार्थों का विधि के अर्थ से सम्बन्ध रहता है इस से एकवाक्यता हो सकती है, और वैदिक अर्थवादों के तो किसी पद का यह वाच्यार्थ नहीं होता कि "यह यज्ञ अच्छा है" तो यह अर्थ, जब अर्थवाद का वाच्य ही नहीं है तब कैसे इस अर्थ को लेकर एकवाक्यता हो सकती है?

समाधान—पदों का अर्थ चाहो जो हो परन्तु पूर्ण अर्थवादवाक्य का स्तुति (यह यज्ञ अच्छा है) ही अर्थ है अर्थात् इसी अर्थ में अर्थवादों का तात्पर्य है और यह अर्थ उनका वाच्यार्थ नहीं है किंतु लक्ष्यार्थ है। सिद्धान्त है कि अर्थों के साथ शब्दों के दो सम्बन्ध होते हैं एक सन्निहित, साक्षात् जिसको शक्ति कहते हैं, दूसरा व्यवहित, (परंपरा) जिसको लक्षणा कहते हैं। और शक्तिसम्बन्धवाले अर्थको शक्य, तथा लक्षणासम्बन्धवाले अर्थ को लक्ष्य, कहते हैं। जैसे दण्ड शब्द का सोंटा में साक्षात् सम्बन्ध अर्थात् शक्ति है इस से सोंटा दण्ड शब्द का शक्यार्थ है और जहां दण्डवाले को कहने की इच्छा से यह वाक्य कहा गया कि "दण्ड को भोजन कराओ" वहां दण्ड शब्द का सोंटा अर्थ नहीं है क्योंकि उसके भोजन का सम्भव ही नहीं है इस से दण्ड शब्द का शक्यार्थ जो दण्ड है उसका संयोग सम्बन्ध जो पुरुष में है वही परंपरासम्बन्ध, पुरुष में दण्ड शब्द का है उसी को लक्षणा कहते हैं और इसी लक्षणा से दण्डधारी पुरष का दण्डशब्द बोध कराता है इस कारण उक्त वाक्य में दण्डधारी पुरुष दण्डशब्द का लक्ष्यार्थ कहलाता है।

सम्बन्धित्वयोरभावाभ्यां सामान्यतः पुरुषार्थानुबन्धित्वाभावनिश्चये पुरुषार्थानुबन्धित्वज्ञानाधीनलक्षणैकसमर्प्पणीयस्य स्तुत्याद्यर्थरूपस्य द्वारविशेषस्यैव दुर्निरूपतया स्तुत्यादिद्वारेणैकवाक्यतायाः प्रामाण्योपयोगस्य स्वप्नसाम्राज्यायमानत्वात् । गङ्गायां घोष इत्यादौ हि-

॥ भाषा ॥

ऐसे ही अर्थवाद भी लक्षणा से इस अर्थ को कहते हैं कि "यह यज्ञ अच्छा है" इसी अर्थ को स्तुति कहते हैं इस रीति से लौकिक अर्थवादों के नाईं वैदिक अर्थवादों की भी विधियों के साथ एकवाक्यता होती है ।

ख०—लौकिक अर्थवादों की एकवाक्यता तो होती है किंतु वैदिक अर्थवादों की एक वाक्यता कैसे हो सकती है ? क्योंकि लौकिक अर्थवादों की किसी अन्य अर्थ में लक्षणा नहीं होती किंतु उनके पदों का जो शक्यार्थ है उसी का विधि के अर्थ से सम्बन्ध हो जाता है और वैदिक अर्थवादों के तो स्तुतिरूपी लक्ष्यार्थ का विधि के अर्थ से सम्बन्ध होने के कारण एकवाक्यता कही जाती है परंतु अर्थवादवाक्य की स्तुति में लक्षणा होती है, प्रथम इसी विषय में कोई प्रमाण नहीं है । यदि यह कहा जाय कि स्तुति में अर्थवादों की लक्षणा के बिना, विधियों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता ही नहीं हो सकती इसलिये वह एकवाक्यता ही लक्षणा में प्रमाण है, तो इस पर यह प्रश्न होगा कि एकवाक्यता ही क्यों होती है ? क्योंकि अर्थवाद में स्थित पदों के शक्यार्थ का तो विधि के अर्थ में कोई सम्बन्ध ही नहीं हो सकता । यदि यह कहा जाय कि स्तुति में अर्थवादों की लक्षणा होती है और स्तुतिरूपी लक्ष्यार्थ का विधि के अर्थ में सम्बन्ध है इस रीति से लक्षणा ही एकवाक्यता में प्रमाण है, तब तो स्पष्ट ही अन्योन्याश्रय दोष पड़ गया क्योंकि बिना एकवाक्यता के लक्षणा प्रामाणिक ही नहीं है और एकवाक्यता भी बिना लक्षणा के प्रमाणिक नहीं है इसलिये दोनों अप्रमाणिक हो गई ?

स०—स्तुतिरूप अर्थ में अर्थवादों की लक्षणा इससे होती है कि वे धर्म के मूल हैं और जब वे केवल अपने पदार्थ ही को कहेंगे तब धर्ममूल नहीं हो सकते क्योंकि उनके पदों के अर्थ सिद्धरूप होते हैं तो उनके ज्ञान से धर्मरूप क्रिया में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती जैसे "यह घट है" इस वाक्य से किसी क्रिया में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती इसी से स्तुतिरूप अर्थ में अर्थवादों की लक्षणा मानी जाती है और स्तुतिरूप लक्ष्यार्थ का विधि के अर्थ में सम्बन्ध के द्वारा अर्थवादों की विधि से एकवाक्यता होती है तथा विधि से क्रियारूपी धर्म में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है इस चाल से विधि के द्वारा अर्थवाद, धर्म में प्रमाण होते हैं इस रीति से अन्योन्याश्रय दोष की शङ्का ही नहीं हो सकती ।

ख०—जब यज्ञरूपी क्रिया वा उसका कारण, अर्थवादों का अर्थ ही नहीं है तब अर्थवादों के अर्थ से कोई पुरुषार्थ (सुख वा दुःखाभाव) सिद्ध ही नहीं हो सकता और जब यह निश्चय हो गया कि अर्थवाद, पुरुषार्थ का मूल नहीं है तब यह भी निश्चय हो चुका कि वह धर्म का भी मूल नहीं है और लक्षणा के द्वारा स्तुतिरूप अर्थ तो दूर ही रहा । और 'दण्डों को भोजन कराओ' इस वाक्य में तो दण्ड और भोजन शब्द की एकवाक्यता आप से आप ही झलकती है तब उसके अनुरोध से दण्डपद की लक्षणा, दण्डधारीपुरुष में होती है तब कैसे लोकदृष्टान्त से वैदिक अर्थवादों की एकवाक्यता कही जाती है ?

स्वरसतःप्रतीयमानैकवाक्यताऽन्यथानुपपत्त्या श्रौतार्थत्यागः स्वीक्रियते नचार्थवादेष्वेकवाक्यता स्वरसतः प्रतीयते। नाप्यर्थवादानां पुरुषार्थानुबन्धित्वान्यथानुपपत्त्याऽवधार्यमाणस्य लाक्षणिकस्तुत्यर्थत्वस्य बलादेवात्र स्वरसतोऽप्रतीयमानाऽप्येकवाक्यता शक्या कल्पयितुम्। अर्थवादेषु पुरुषार्थानुबन्धित्वस्याप्यप्रामाणिकत्वात् नच लौकिकबहुक्षीरादिवाक्येषु लक्षणयाऽपि पुरुषार्थपर्यवसायित्वस्य दर्शनाद्वैदिकार्थवादेऽपि वाक्यत्वेनैव हेतुना तदनुमातुं शक्यतएवेति वाच्यम्। लोके वाक्यार्थस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वनियमेन लौकिकप्रमाणानुसाराच्छ्रौतार्थत्यागात्मकरूपभङ्गपूर्वकलक्षणाङ्गीकारेऽपि वेदार्थस्यात्यन्तातीन्द्रियत्वाद्वेदे श्रौतार्थस्य मनागपिव्यत्यासाभ्युपगमे पौरुषेयत्वापत्तेर्दुर्वारत्वात् तथाच लक्षणया पुरुषार्थपर्यवसायित्वे साध्ये वाक्यत्वहेतौ प्रमाणान्तरगम्यत्वमुपाधिः। किंच लोकेऽपि यानि-

॥ भाषा ॥

स०—यदि विधि के साथ एकवाक्यता न हो तो अर्थवाद कैसे पुरुषार्थ के कारण हो सकते हैं ? क्योंकि वे किसी क्रियारूपी धर्म में तो प्रवृत्ति करा ही नहीं सकते और वे पुरुषार्थ के कारण अवश्य हैं इसी से यद्यपि उनकी एकवाक्यता, विधि के साथ आप से आप नहीं प्रकाशित होती तथापि स्तुति में उनकी लक्षणा कर उसके द्वारा उनकी एकवाक्यता विधि के साथ की जाती है।

ख०—इस उत्तर का तो मूल ही अशुद्ध है क्योंकि अर्थवाद, पुरुषार्थ के कारण हैं इस अंश में कोई प्रमाण ही नहीं है तो कैसे स्तुति में लक्षणा हो सकती है क्योंकि लक्षणा का तो मूल ही कट गया ?

स०—जैसे पूर्वोक्त लौकिक अर्थवादवाक्य की स्तुति (यह गौ अच्छी है) में लक्षणा हो कर विधि के साथ एकवाक्यता होती है और उस एकवाक्यता के द्वारा वह अर्थवादवाक्य, दुग्ध के भोजन से उत्पन्न सुखरूपी पुरुषार्थ का कारण होता है वैसे ही वैदिक अर्थवाद की भी स्तुति में लक्षणा हो कर विधि के साथ एकवाक्यता होती है और इसी रीति से यज्ञ के द्वारा उत्पन्न पुरुषार्थ का, अर्थवाद कारण होता है क्योंकि अर्थवादवाक्य का यही स्वभाव है चाहै वह लौकिक हो वा वैदिक।

ख०(१)—लौकिक अर्थवादवाक्यों की रचना करनेवाला पुरुष, अन्य प्रमाणों से अर्थों को समझ कर उसके अनुसार अर्थवादवाक्यों की रचना करता है इससे लौकिक अर्थवादों की प्रमाणता अन्य प्रमाण के अधीन है इसी कारण वक्ता का तात्पर्य, स्तुति में समझ कर लौकिक अर्थवादों का वाच्यार्थ छोड़, स्तुति में उनकी लक्षणा श्रोता, समझ लेता है इसी से उन वाक्यों के वाच्यार्थ का रूपभङ्ग हो जाता है पौरुषेय वाक्यों में यही रीति है। परन्तु वैदिक अर्थवाद तो अपौरुषेय वाक्य हैं और उनका अर्थ भी अन्य प्रमाणों के द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता, जैसे वायु का, देवता होना, इस से वक्ता के तात्पर्य और प्रत्यक्षादि प्रमाण के अनुसार से भी उनके वाच्यार्थ का भङ्ग नहीं हो सकता और न लक्षणा हो सकती है क्योंकि यदि ऐसा हो तो वे भी लौकिक अर्थवादों के नाईं पौरुषेय हो जायंगे। तस्मात् उनका जो अक्षरों से अर्थ निकलै वही अर्थ हो सकता है अन्य अर्थ में उनकी लक्षणा हो ही नहीं सकती।

ख०(२)—लोक में भी चिकित्साशास्त्र आदि के ऐसे वाक्यों में लक्षणा नहीं होती कि-

वैद्यकादिवाक्यानि प्रमाणान्तरानवगम्यार्थकत्वेऽपि वक्त्राप्तत्वप्रत्ययमात्रेण श्रोतॄणां स्वार्थ-प्रमामुपजनयन्ति तेष्वपि न श्रौतार्थत्यागेन लक्षणाऽभ्युपगम्यते इति वाक्यत्वहेतौ व्यभि-चारः। यदा च लौकिकाप्तवाक्येष्वपीदृशी दशा तदा निर्दोषापौरुषेयवेदवाक्येषु श्रौतार्थपरि-त्यागकल्पनायाश्चर्चाऽपि कथं नाम चातुरीं प्राश्नुवीत्। तस्मादर्थवादानां पुरुषार्थानुबन्धितायां दृढतरंप्रमाणमवश्योपन्यसनीयम् यतस्तस्या एवान्यथाऽनुपपत्त्या स्तुत्यर्थलक्षणा भवति यद्वशेन विध्येकवाक्यता लभ्यते। एकवाक्यताया लौकिकवाक्येष्विव प्रकृते स्वरसतःप्रतीय-मानत्वाभावेनान्यतो दुर्लभत्वात् तादृशं च प्रमाणं नास्तीति मूल एव कुठारः। यत्तु "तुल्यं-चसाम्प्रदायिक" मित्यनन्तरसूत्रेण समस्तस्य वेदस्य पुरुषार्थानुबन्धित्वमुपपाद्यते किं पुनरर्थवादमात्रस्य तस्यह्यनादिगुरुपरम्परासंप्रदायप्राप्तमनध्यायपाठाभावादिरूपपालनादिकं यतोविध्यर्थवादयोस्तुल्यमतोऽर्थवादानामपि धर्मप्रामाण्यं न निराकर्त्तुं शक्यमित्यर्थः धर्मे प्रामाण्यमेव च पुरुषार्थानुबन्धित्वपर्यवसन्नम् अस्य सूत्रस्य तात्पर्य्यं तु नह्यात्मानुपकारिणं सन्तमेनमर्थवादं प्रेक्षावन्तः पुरुषा आयासपूर्वकमाद्रियेरन्निति प्रेक्षावत्कर्तृकायासबहुलाद-रान्यथानुपपत्तिरेवार्थवादानां पुरुषार्थत्वे मानमिति। नच तादृश स्यादरस्य, व्यामोहेनान्य-थोपपत्तिरिति वाच्यम् यदि हि कंचिदेव तथाऽऽद्रियेरंस्तदा भवेदपि तेषां व्यामोहेनान्य-थोपपत्तिः नचेह तथा। सर्वेषां चातिक्रान्तानां प्रेक्षावत्प्रवराणां प्रमादस्य चक्षुषी निमील्य-

॥ भाषा ॥

जिनका अर्थ अन्य प्रमाणों से नहीं ज्ञात हो सकता किंतु उन्हीं से ज्ञात होता है और शास्त्रकारों की सत्यवादिता पर विश्वास ही के अनुसार श्रोता लोग उन वाक्यों के अर्थ को सत्य समझते हैं उनका भी जो अक्षरानुसारी अर्थ है वही माना जाता है अर्थात् ऐसा कदापि नहीं होता कि उनको अन्य अर्थ में लक्षणा कर अपना मनमाना कोई अर्थ निकाल लिया जाय तो जब लौकिक आप्त-वाक्यों में भी ऐसी दशा है तब निर्दोष और अपौरुषेय वैदिक अर्थवादों में वाच्यार्थ के त्याग की, कल्पना करने को कौन कहे, चर्चा भी करने के योग्य नहीं है तस्मात् अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी कारण हैं इस अंश में कोई दृढ़तर प्रमाण अवश्य होना चाहिये जिसके अनुरोध से स्तुतिरूप अर्थ में अर्थवादों की लक्षणा के द्वारा विधियों के साथ एकवाक्यता हो क्योंकि वैदिक अर्थवादों में लौकिक वाक्यों के नाईं आप से आप एकवाक्यता नहीं झलकती। परन्तु 'अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी कारण हैं' इस अंश में कोई प्रमाण नहीं है इस से एकवाक्यता के मूल ही पर कुठार है।

स०—"तुल्यं च साम्प्रदायिकम्" (अनादि सम्प्रदाय से सिद्ध, अनध्याय में न पढ़ना इत्यादि नियमों का पालन जैसे विधिभाग में किया जाता है वैसे ही अर्थवाद भागों में भी। इस से अर्थवाद भी धर्म में प्रमाण हैं) इस, प्रकृतसूत्र के अव्यवहित अग्रिम सूत्र से अर्थवाद का कौन कहे ? वेद के सब भागों का धर्म के प्रति प्रमाणहोना सिद्ध होता है और धर्म के प्रति प्रमाणहोना ही पुरुषार्थ का सहकारी कारण होता है इस रीति से यही सूत्र इस अंश में युक्तिरूप से प्रमाण है कि अर्थवाद, पुरुषार्थ के सहकारी कारण हैं। और इस सूत्र का तात्पर्य तो यह है कि अर्थवाद यदि उपकारी न होता तो विचारशील पुरुष इतने बड़े आदर और परिश्रम से इसका अध्ययन न करते। इस रीति से उन पुरुषों का किया हुआ आदर और परिश्रम ही इस अंश में-

कल्पना तु न केनापि प्रमाणेन निर्वोढुं शक्यते। कथं हि वेदस्येव निर्दोषस्यानादिपरम्पराप्राप्तस्य सकलप्रेक्षावदपेक्षितस्यायासबहुलस्योक्तादरस्य प्रमादमूलकत्वं कल्पयितुं शक्येत लोकोत्तरप्रज्ञेन। तथाचार्थवादानामुक्तरीत्या सिद्धायाः पुरुषार्थानुबन्धिताया अन्यथानुपपत्त्यैव स्वार्थत्यागात्मकरूपभङ्गाभ्युपगमपूर्वकं स्तुत्यर्थे लक्षणां स्वीकृत्य तदुपपादितया विध्येकवाक्यतया सुव्याख्याना अर्थवादा इति। तन्न युक्तम् तथासत्यर्थवादप्रामाण्यस्य पुरुषाधीनत्वप्रसङ्गेन निरपेक्षप्रामाण्यव्याघातापत्तेः। नच लौकिकाप्तवाक्यवदर्थवादमात्रस्य पुरुषाधीनप्रामाण्याङ्गीकारेऽपि को दोष इतिवाच्यम्। विकल्पासहत्वात् तथाहि अर्थवादेषु पुरुषार्थानुबन्धित्वं किं स्वादरान्यथानुपपत्त्या कल्प्यते पुरुषान्तरादरान्यथानुपपत्त्या वा नाद्यः स्वादरात्पुरुषार्थानुबन्धित्वावगमः पुरुषार्थानुबन्धित्वावगमाच्च स्वादर इत्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् नद्वितीयः तथासति मूलप्रमाणविरहेणान्धपरम्परान्यायावतारापत्तेः सर्वत्र हि पुरुषेऽमावेवंवेदेत्येव प्रत्ययो भवति नत्वर्थोऽप्येवमेवेति। एवंच तेषु तेष्वध्येतृषु "नूनमयं पुरुषो वेदे पुरुषार्थानुबन्धितां मन्यते" इत्येव तच्चेष्टादिनाऽनुमातुं शक्यते। नचतावन्मात्रेण-

॥ भाषा ॥

प्रमाण है कि अर्थवाद पुरुषार्थ के कारण हैं। यह तो कह नहीं सकते कि अज्ञान के कारण वे पुरुष, इतना आदर और परिश्रम करते हैं क्योंकि आंखें मूंद कर यह मान लेना कि अनादि काल से असंख्य, व्यतीत सभी महाशय, अर्थवादों में आदर और परिश्रम प्रमाद ही से करते आये, प्रमाण से बहिर्भूत है तस्मात् अर्थवादों के वाच्यार्थों को छोड़ स्तुतिरूप अर्थ में उनकी लक्षणा मानकर विधियों के साथ उनकी एकवाक्यता सिद्ध करना दुर्लभ नहीं है।

ख०—यदि ऐसा माना जाय तो अर्थवादों का प्रामाण्य, पुरुष की कल्पनाओं के अधीन हो गया तब वेद के स्वतःप्रामाण्य ही पर व्याघात पहुंच जायगा।

स०—पूर्वोक्त वैद्यकवाक्यों के नाईं अर्थवादों का प्रामाण्य यदि पुरुषाधीन ही मान लिया जाय तो क्या दोष है?

ख०—कोई पुरुष यदि आदर और परिश्रम के अनुरोध से अर्थवादों का, पुरुषार्थ के प्रति कारण होना सिद्ध करने लगे तो उस से पूछना चाहिये कि वह अपने आदर और परिश्रम से सिद्ध करता है अथवा अन्य पुरुषों के? यदि पहला पक्ष है तो अन्योन्याश्रय दोष पड़ेगा क्योंकि अपने आदर से उस पुरुष को यह ज्ञान होगा कि अर्थवाद पुरुषार्थ के सहकारी कारण हैं और इस ज्ञान से ही वह पुरुष आदर करेगा। और यदि दूसरा पक्ष है तो एक के आदर से दूसरे ने, और उसके आदर से तीसरे ने आदर किया इस रीति से कोई मूलप्रमाण न होने के कारण अन्धपरंपरान्याय हो जायगा अर्थात् एक अन्धे ने कहा कि दुग्ध काला होता है इस को सुनकर ऐसा ही दूसरे अन्धे ने और उसकी बात को सुनकर तीसरे अन्धे ने, इस रीति से अन्यान्य अन्धों ने भी वैसा ही कहा तो यह वाक्य किसी अन्धे का, इतने मात्र से प्रमाण नहीं हो सकता कि बहुत से अन्धे ऐसा ही कहते आते हैं क्योंकि श्यामरूप का मूलप्रमाण चक्षु, किसी अन्धे को नहीं है ऐसे ही दूसरे को अर्थवादों का आदर करते देख कर पुरुष इतना ही समझ सकता है कि यह पुरुष अर्थवादों को पुरुषार्थ का मूल समझता है और इतने से यह नहीं सिद्ध हो सकता कि वास्तविक में अर्थवाद पुरुषार्थ के मूल हैं क्योंकि जब इस अंश में कोई मूलप्रमाण-

वेदसामान्यस्यापि पुरुषार्थानुबन्धिता मेद्धुं शक्नोति द्रागेव त्वर्थवादभागमात्रस्य, मूलप्रमाणासंभवनाध्येतृसमवेतस्यादरस्यानन्यगत्या भ्रमैकमूलकताया एव स्वीकार्य्यत्वापातात् तथाच नानुमानेनार्थवादस्य पुरुषार्थानुबन्धिता साध्या उक्तयुक्तिभ्यः नापिप्रत्यक्षादिभिः असंभवात् नच वेदवाक्यमपि किंचित् तत्र प्रमाणतयोपन्यसितुं शक्यते नच शक्यमानमपि तत् स्वस्यापि पुरुषार्थानुबन्धित्वं प्रमापयितुमलं भविष्यति। प्रमाणानां स्वस्मिन्व्यापारासंभवात्। कथं च स्वयमप्रमाणं परस्य पुरुषार्थानुबन्धितां प्रमापयिष्यतीति वेद एव सकले स्वात्मनि पुरुषार्थानुबन्धितां यावन्न प्रमापयत्तावदयमप्रमाणमेवेति महदेवार्थवादानां मन्त्राणां च दौर्भाग्यम् यदा च पुरुषार्थानुबन्धितायाा एवेदृशी गतिस्तदा तस्याः पुत्री लक्षणा दौहित्री च विध्येकवाक्यता सुदूरतरनिरस्तैव विद्वद्भिर्वेदितव्या। अनेनैव च न्यायेन मन्त्राणामपि पुरुषार्थानुबन्धिता, अपूर्वसाधनत्वविशिष्टार्थलक्षणा, प्रयोगविध्येकवाक्यता च प्रत्याख्याता इति चेत्

अत्रोच्यते। स्वाध्यायोऽध्येतव्यः (शतपथ ब्रा० ११। ५। ६। ७।) इति वैदिकं विधिवाक्यमेव तावत् स्वसहितस्य समस्तस्य वेदस्य पुरुषार्थानुबन्धित्वे दृढतरं प्रमाणम् नहीदं वाक्यम् वेदघटकस्य कस्य चिदेकस्याप्यक्षरस्य पुरुषार्थाननुबन्धितारूपां नि-

॥ भाषा ॥

नहीं है तो अनन्यगति हो कर यहां यही स्वीकार करना पड़ेगा कि उस पुरुष का यह समझना भ्रममात्र है न कि यथार्थ। इन उक्त युक्तियों से यह निश्चित हो चुका कि अर्थवादों का स्वर्गादिरूप पुरुषार्थों के प्रति मूल होना, अनुमान से नहीं सिद्ध हो सकता। ऐसे ही प्रत्यक्ष प्रमाण से भी यह सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि जब स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ ही नहीं प्रत्यक्ष हैं तब उनके प्रतिकारण होना कब प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसे ही कोई वेदवाक्य भी इस विषय में प्रमाण नहीं कहा जा सकता। और यदि कहा भी जा सकै तो वह यह नहीं कह सकता कि "मैं भी पुरुषार्थ का मूल हूँ" किंतु इतना हीं कहेगा कि "अर्थवाद, पुरुषार्थ के मूल हैं" और जब तक वह स्वयं प्रमाण नहीं होगा तब तक अर्थवादों का पुरुषार्थ के प्रति मूलहोना उस से ठीक निश्चित नहीं हो सकता। तस्मात् जब तक कोई वेदवाक्य ही ऐसा न मिलेगा कि जो अपने में भी पुरुषार्थ का मूल होना सिद्ध करै और उसी रीति से अर्थवादों और मन्त्रों में भी, तब तक वह वेदवाक्य अप्रमाण ही है उस से कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता यह बड़ी ही मन्दभाग्यता अर्थवादों और मन्त्रों की है। तथा जब अर्थवाद और मन्त्र के, पुरुषार्थमूल ही होने में यह दशा है तब उसी के बल से होने वाली, स्तुतिरूप अर्थ में लक्षणा और उसके बल से भी होनेवाली विधि की एकवाक्यता बेचारी की दुर्दशा को कोई कहां तक वर्णन कर सकता है।

स०—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"(शत०ब्रा. ११।५।६।७)(वेद अवश्य पढ़ा जाय अर्थात् वेद का अध्ययन,अवश्यही करै) यही वैदिक विधिवाक्य अपने से सहित समस्त वेद के, पुरुषार्थमूल होने में प्रमाण है क्योंकि यह वाक्य वेद के एक अक्षर में भी पुरुषार्थमूल न होने को जब नहीं क्षमा कर सकता तब अर्थवाद और मन्त्ररूपी इतने २ बड़े वेदभागों में पुरुषार्थमूल न होने को कब क्षमा कर सकता है क्योंकि यह विधिवाक्य पुरुषों की वेदाध्ययन में प्रवृत्ति कराता है और जिस से कोई पुरुषार्थ न हो ऐसे एक वर्ण के अध्ययन में भी विवेकी पुरुष की प्रवृत्ति जब कोई नहीं करा सकता तब इतने बड़े वेद के अध्ययन में-

ष्प्रयोजनतां कथंचिदपि सोढुमर्हति किंपुनरियतोर्महतोरर्थवादमन्त्रभागयोः। पुरुषप्रवृत्तये-हि विधिर्भवति अयं च विधिः स्वाध्यायाध्ययने पुरुषं प्रवर्तयति। पुरुषार्थाननुबन्धिनि च वर्णमात्रस्याध्ययनेऽपि न प्रेक्षापूर्वकारिणः पुरुषाः प्रवर्त्तयितुं शक्यन्ते किमुतैयतोवेदराशे-रिति वर्णमात्रस्यापि पुरुषार्थाननुबन्धित्वे प्रवर्त्तकत्वाभावलक्षणमस्यविधेरप्रामाण्यं दुर्वारं स्यात् नचार्थवादादीनां पाठमात्रेण पुरुषार्थानुबन्धितामादायैवैतद्विध्युपपत्तौ तेषु स्तुत्याद्य-र्थलक्षणाविध्येकवाक्यताभ्यां जलाञ्जलिरेव दीयतामिति वाच्यम् अर्थज्ञानरूपदृष्टार्थद्वारैव विधीनामिवार्थवादादीनामप्यदृष्टपुरुषार्थानुबन्धितायाः एतद्विधिबलेनैव सौलभ्यात् अयं विधिर्हि यथा विधिवाक्यरूपे वेदभागे विषये नियमविधिः गुरुपूर्वकाध्ययनपरिगृहीतेभ्य वेदे रर्थान्गृहीत्वा तेषामनुष्ठाने स्वर्गादिपुरुषार्थसिद्धिः नतु निरुक्तव्याकरणादिव्युत्पन्नेन स्वयमेव वेदेभ्योऽर्थान्गृहीत्वा तेषामनुष्ठाने इति। व्याकरणनिरुक्तादिभिर्व्युत्पन्नानामेनं विधिं विनाऽपि स्वयमेव शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्विध्यर्थग्रहणानुष्ठानयोः सिद्धतया वैयर्थ्याप-

॥ भाषा ॥

प्रवृत्ति को कौन कहे ? ऐसी दशा में यदि वेद का एक वर्ण भी पुरुषार्थ का मूल न होता तो यह विधिवाक्य उसके अध्ययन में किसी की प्रवृत्ति न करा सकता । तस्मात् यह विधिवाक्य ही इस अंश में अटल प्रमाण है कि इस वाक्य से गर्भित समस्त वेद में एक वर्ण भी ऐसा नहीं है कि जो पुरुषार्थ का मूल न हो ।

स्व०—अब यह सिद्ध हो गया कि वेद का सब अंश पुरुषार्थ का साधन है क्योंकि उक्त अध्ययनविधि का यही तात्पर्य है परन्तु यह अध्ययनविधि, यह नहीं बतलाता कि वेद का कौन अंश, किस रीति से पुरुषार्थ का साधक होता है ? तो इस दशा में यह भली भांति कह सकते हैं कि अर्थवाद आदि भाग, (जिनके विषय में इस समय विचार हो रहा है) केवल अपने अक्षरपाठमात्र के द्वारा पुरुषार्थ के साधक होते हैं इस से उनके अर्थज्ञान का कोई काम नहीं है तो अब स्तुति आदि अर्थों में लक्षणा और विधियों के साथ एकवाक्यता ये दोनों बातें अर्थवाद आदि वेदभागों की, मूल ही से उन्मूलित हो गई क्योंकि उनमें अब कोई प्रमाण नहीं रहा तो क्यों उन दोनों बातों को जैमिनिमहर्षि ने उक्त सिद्धान्तसूत्र में कहा ?

स०—इसी अध्ययनविधि से विधिवाक्यों के विषय में जैसे यह बात निकलती है कि वे अपने अर्थ का ज्ञान उत्पन्न कर उसी के द्वारा पुरुष से यज्ञादि क्रियाओं को करवा कर अलौकिक स्वर्गादिरूप पुरुषार्थों के साधक होते हैं अर्थात् उनके, पुरुषार्थसाधक होने में अर्थज्ञान-रूप लौकिक ही पदार्थ द्वार होते हैं वैसे ही अर्थवाद आदि वेदभागों के विषय में भी उसी अध्ययनविधि से यह बात सुलभ है कि वे भी अर्थज्ञानरूप दृष्ट पदार्थ ही के द्वारा अदृष्ट स्वर्गादि-रूप पदार्थों के साधक होते हैं न कि अपने अक्षरपाठमात्र के द्वारा । क्योंकि उक्त अध्ययनविधि, विधिवाक्यरूप वेदभाग के विषय में नियमविधि हो कर यों लगता है कि 'गुरुपूर्वक अध्ययन ही से वेदों को पढ़, उनके अर्थों को समझ, कर किये हुए यज्ञों से स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की सिद्धि होती है न कि निरुक्त और व्याकरण आदि के बोध से आप ही आप वेद के अर्थों को समझ कर यज्ञों के करने से' इति, क्योंकि व्याकरण और निरुक्त आदि में व्युत्पन्न पुरुषों को इस अध्ययनविधि के बिना भी आप से आप शब्दों के शक्ति से विधिवाक्यों के अर्थों का बोध, और यज्ञों का-

स्यैवास्य विधेरप्राप्तविधित्वासिद्धेः। तथा अर्थवादादिरूपे वेदस्य भागान्तरेऽपि नियम-विधित्वमेवास्ययुक्तम् तस्यापि वेदत्वाविशेषात् नियमविधित्वं चार्थवादादेः पाठमात्रेण पुरुषार्थानुबन्धित्वे तदंशेविधेरस्य नैवोपपद्यते। तथासति तस्यात्यन्तमप्राप्ततया तदंशेऽस्य विधेरप्राप्तविधित्वस्यैवापत्तेः। नचास्य विधेर्विधिवाक्यांशे नियमविधित्वमर्थवादाद्यंशे त्वप्राप्तविधित्वमास्ताम् उभयविधयोर्विधित्वयोर्विरोधस्तु न शङ्क्यः विध्यर्थवादादिरूप-योर्विषयांशयोर्भेदेन तदुभयसमावेशसभवादिति वाच्यम् समावेशसंभवेऽपि विधिवैरूप्या-पत्तेर्दुरुद्धरत्वप्रसङ्गात् नचेष्टापत्तिः नह्येकेनैववाक्येन प्राप्तांशव्यवच्छेदोऽप्राप्तांशश्चेत्युभयं शक्यते विधातुम्, लोकानुभवसिद्धशब्दमर्य्यादानुसारिणा सकृदुच्चरितन्यायेन बाधात्। नच-

॥ भाषा ॥

अनुष्ठान जब सिद्ध हो सकता है तब यह अध्ययनविधि आप से आप सिद्ध उक्त विषय के विधान करने से व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि विधि, वहीं नहीं व्यर्थ होता, जोकि किसी अप्राप्त विषय का विधान करता है जैसे "स्वर्गकामो यजेत" (स्वर्ग का चाहने वाला पुरुष, याग से स्वर्गलाभ करे) इत्यादि। इसी से यह अध्ययनविधि, विधिवाक्यरूपी वेदभाग के विषय में अप्राप्तविधि नहीं है किंतु नियमविधि है, तो ऐसी अवस्था में अर्थवाद और मन्त्र रूप वेदभागों के विषय में भी इस अध्ययनविधि को नियमविधि ही होना चाहिये क्योंकि जैसे विधिवाक्य वेद हैं वैसे ही अर्थवाद और मन्त्र भी। और अर्थवाद तथा मन्त्र, यदि अक्षरपाठमात्र से पुरुषार्थ के साधक माने जायं तो उनके विषय में इस अध्ययनविधि का नियमविधि होना नहीं उपपन्न हो सकता क्योंकि जैसे विधिवाक्यों से निरुक्त और व्याकरण आदि के द्वारा अर्थज्ञान होना तथा अर्थज्ञान के द्वारा यज्ञों का करना, अध्ययन विधि के बिना भी लोकानुभव ही से सिद्ध है वैसे अर्थवाद और मन्त्र के अक्षरपाठमात्र से स्वर्गादिरूप पुरुषार्थ का लाभ होना लोकानुभव से प्राप्त नहीं है किंतु अध्ययन-विधि ही से प्राप्त हो सकता है इसी से उनके विषय में यह अध्ययनविधि अप्राप्तविधि ही हो जायगा।

ख०—यदि यह एक ही अध्ययनविधि, नियमविधि और अप्राप्तविधि दोनों हो, तो क्या हानि है? और यह भी नहीं है कि एक ही विषय में नियमविधि और अप्राप्तविधि मानना पड़ता है जिस से विरोध की शङ्का हो क्योंकि विधिवाक्यों के विषय में अध्ययनविधि, नियमविधि होगा और मन्त्र अर्थवाद के विषय में अप्राप्तविधि।

स०—एक ही अध्ययनविधि की दो प्रकार की विषम घटना नहीं हो सकती।

ख०—हो जाय तो हानि ही क्या है?

स०—हानि हो चाहो न हो परन्तु ऐसी विषम घटना हो ही नहीं सकती क्योंकि एक ही अध्ययनविधिवाक्य से दो बातों का विधान करना पड़ेगा एक तो यह कि बिना गुरू के व्याकरणादि की व्युत्पत्ति से वेदार्थ समझ कर यज्ञ करना जो लोक से प्राप्त है उसका निषेध कि 'ऐसे न करो'। दूसरा यह कि स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिये मन्त्र और अर्थवादों का पाठ, जो कि लोक से नहीं प्राप्त है उसका विधान कि 'उसको करो'। सो यह कदापि नहीं हो सकता क्योंकि शब्दों की यह मर्य्यादा, लोकानुभव से सिद्ध है कि एक वाक्य एक ही काम का विधि वा निषेध कर सकता है। जैसे 'ऐसा करो' अथवा 'ऐसा न करो' तस्मात् एक ही अध्ययनविधि से निषेध और विधि दोनों का बोध, कदापि नहीं हो सकता।

विधीनामपि पाठमात्रेणदृष्टार्थानुवन्धित्वमादाय तदंशेऽप्यस्याप्राप्तविधित्वमेवास्तु कृतपर्यग्र-हणे पुरुषार्थानुवन्धित्वपर्य्यन्तमेतद्व्यापारकल्पनया तथाचोभयांशेऽपि विधेरस्याप्राप्तविधित्वमे-वेति कथैरूप्यापत्तेरवकाश इति वाच्यम् । संभवति दृष्टफलकत्वे तद्द्वारैवादृष्टपुरुषार्थानुव-न्धित्वकल्पनाया युक्ततया पाठमात्रेण केवलादृष्टपुरुषार्थानुवन्धित्वकल्पनाया अत्यन्तान्या-य्यत्वात् अतएव वेदार्थविचाराय मीमांसादर्शनारम्भःसार्थकः । वेदस्य पाठमात्रेण पुरुषार्था-नुवन्धिताया एतद्विधिविषयत्वे तु तत्र विचारस्यानवसरनिरस्तत्वात्स व्यर्थ एव स्यादिति धर्मजिज्ञासाऽधिकरण एव स्पष्टम् पुरुषार्थानुवन्धिवेदार्थाववोधपर्य्यन्तस्य प्रकृतविधिवाक्य-घटकाधीङर्थत्वे दृष्टानुग्रहरूपपूर्वोक्तयुक्त्या स्वीक्रियमाणे तु वेदार्थवोधस्याप्रामाण्यज्ञानाना-स्कन्दितानिश्चयरूपस्यैव संभवत्पुरुषार्थानुवन्धिताकतया तादृशनिश्चयस्य मीमांसादर्शने विना दुःसाधत्वात्प्रकृतविधिश्रुतिरेवोक्तदर्शनारम्भे गर्भश्रुतिरिव कुमारीपुंयोगे मानमिति वेदवदेत-द्विधिवोधितप्रामाण्यत्वान्मीमांसादर्शनमप्यतीव प्रामाणिकम् तथाचैतदध्ययनविधिवलात्स-मस्तस्यैव वेदस्य पुरुषार्थानुवन्ध्यर्थपर्य्यवसायित्वंसिध्यति किमुतार्थवादादिभागमात्रस्येत्यत्र-

॥ भाषा ॥

ख०---जब विधिवाक्यों और अर्थवादादि वाक्यों में अध्ययनविधि की घटना एकरूप ही करना उचित है तो इस आग्रह में क्या कारण है कि नियमविधि ही बना कर उसकी घटना की जाय ? उक्त दोनों विषयों में अप्राप्तविधि ही बना कर घटना क्यों न की जाय अर्थात् जैसे अर्थवादादि वाक्यों के अक्षरपाठमात्र का, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिये अध्ययनविधि, विधान करै वैसे ही उन्हीं पुरुषार्थों के लिये विधिवाक्यों के भी पाठमात्र ही का विधान करै न कि अर्थज्ञान का, तब इस रीति से अर्थवादादि के अर्थज्ञानरूप फल के लिये यत्न करते हुए सिद्धान्ती का, विधियों का भी अर्थज्ञानरूप फल हाथ से नष्ट हो गया जिसमें सिद्धान्ती की वही दशा हुई जो कि व्याज के लोभ से ऋण देनेवाले धनिक की मूलनाश होने पर होती है और ऐसी दशा में अर्थवादों की, स्तुतिरूप अर्थ में लक्षणा की सम्भावना भी कहां से हो सकती है ?

स०---अध्ययन का अर्थज्ञानरूप फल लोक में प्रसिद्ध है और अक्षरपाठ का कोई फल लोकप्रसिद्ध नहीं है ऐसी दशा में लोकप्रसिद्ध अर्थज्ञानरूपी फल को छोड़ कर आंखें मीड़ अप्रसिद्ध फल की कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है तस्मात् अध्ययनविधि का उक्त दोनों विषयों में नियम-विधि होना ही उचित है इसी से वेदार्थविचार के लिये मीमांसादर्शन का आरम्भ भी सफल होता है क्योंकि यदि उक्त अध्ययनविधि से इतना ही निकले कि " वेद के अक्षरपाठमात्र से पुरुपार्थ होता है " तो जब अध्ययनविधि से अर्थज्ञान ही नहीं निकला तब वेदार्थ का विचार तो अध्ययन-विधि से बहुत ही दूर हो गया इससे मीमांसादर्शन का प्रयोजन ही क्या रहा ? और यदि उक्त अध्ययनविधि से लोकानुभव के अनुसार वेदों का अर्थज्ञान निकलता है तब तो यह कह सकते हैं कि वेदार्थ के सामान्य ज्ञान से पुरुपार्थ कैसे हो सकता है क्योंकि उस में संदेहादिरूपी अनेक विघ्न पड़ सकते हैं इस से वेदार्थ का निश्चय करना चाहिये और निश्चय तो बिना विचार के हो ही नहीं सकता इसी से वेदार्थविचार के लिये मीमांसादर्शन अत्यावश्यक है और जैसे अध्ययनविधि, वेद के अध्ययन का विधान करता हुआ वेद में प्रामाण्य सिद्ध करता है वैसे ही उक्त रीति से वेदार्थ के विचार का विधान करता हुआ यही अध्ययनविधि, मीमांसादर्शन में भी प्रामाण्य सिद्ध-

न कश्चन सन्देहावसरः। नचास्याध्ययनविधेरेव कुतः पुरुषार्थानुबन्ध्यर्थपर्य्यवसायित्वम्, समानपदोपात्तत्वादध्ययनस्यैवात्र तव्यार्थभावनाभाव्यत्वावगमेन पुरुषार्थपर्य्यवसाने मानाभावात्। अध्ययनं च न पुरुषार्थः, आयासबहुलत्वेन दुःखैकतानत्वात् एवंच विध्यंशेऽपि नास्यविधेःपुरुषार्थपर्य्यवसायित्वमिति कथं तदेकरूप्यायार्थवादाद्यंशेऽपि तदङ्गीकर्तुं शक्यत इति वाच्यम्। अत्र हि 'किं भावयेदिति' भाव्याकाङ्क्षायामध्ययनं समानपदोपात्तमपि न भाव्यतया निविश्य, तां पूरयितुमर्हम्। तथासति भावनाया अपुरुषार्थभूताध्ययनभाव्यकतयाऽनेन विधिनाऽध्ययने पुरुषाणां प्रवर्तयितुमशक्यत्वात् नह्युपदेशसहस्रेणापि कश्चिदपिप्रेक्षावान्स्वनिर्णीतापुरुषार्थताके जलताडनादौ शक्यते प्रवर्तयितुम् किं तु समानपदोपात्तत्वात्प्रवर्तकत्वविरोधरूपानन्तरोक्तबाधकाभावाच्च करणांशे निविश्य 'केन भावयेदि' तिकरणाकाङ्क्षैवाध्ययनेन पूर्य्यते। करणे हि स्वयमपुरुषार्थभूतेऽपि पुरुषार्थानुबन्धिनि लौकिकेऽङ्गनालिङ्गनादावाकीटपतङ्गं प्रवृत्तिः सर्वेषामनुभवसिद्धेति स्वयमपुरुषार्थस्याप्यध्ययनस्य-

॥ भ षा ॥

करता है इसी से मीमांसादर्शन अत्यन्त प्रामाणिक है तस्मात् जब उक्त अध्ययनविधि के बल से समस्त वेद ही स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का साधक है तब उसके भाग मन्त्र अर्थवाद आदि के पुरुषार्थसाधक होने में संदेह भी कैसे हो सकता है।

स०—उक्त अध्ययनविधि से यह अर्थ कदापि नहीं निकल सकता कि "वेद पुरुषार्थ का साधक है" क्योंकि "अध्येतव्यः" इस 'तव्य' शब्द से इतना ही निकल सकता है कि 'अध्ययन अवश्य किया जाय' और पुरुषार्थ (सुख और दुःखाभाव) का तो गन्ध भी इस वाक्य में नहीं है। तथा यह भी नहीं कह सकते कि अध्ययन ही पुरुषार्थ है क्योंकि अध्ययन तो परिश्रमरूपी दुःख से भरा हुआ है उस में सुख वा दुःखाभाव की चर्चा भी नहीं हो सकती और यह गति दोनों अध्ययनों की है चाहो वह अध्ययन विधिवाक्यों का हो वा अर्थवाद आदि वाक्यों का।

स०—उक्त 'तव्य' शब्द का भावना (करे) अर्थ है उस में भाव्य (काम) की आकाङ्क्षा होती है कि "किस काम को" और उसी "अध्येतव्यः" इस शब्द से 'तव्य' से अवशिष्ट, 'अधि' 'इ' भाग का अर्थ जो अध्ययन है वही उक्त आकाङ्क्षा को पूर्ण करता है जिस से कि 'अध्येतव्यः' का यह अर्थ होता है कि "अध्ययन करे" इतने मात्र से यह विधि (उपदेश) सफल नहीं हो सकता किंतु व्यर्थ ही हो जायगा क्योंकि उक्त भावना का अध्ययन ही भाव्य हुआ जोकि पुरुषार्थ नहीं है वरुक उलटा दुःखमय है और जिस भावना का भाव्य पुरुषार्थ नहीं होता उस में सहस्रों उपदेशों से भी किसी विवेकी पुरुष की कदापि प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसी से ऐसे उपदेश व्यर्थ ही हुआ करते हैं जैसे कि 'जलताड़न करो' इत्यादि, क्योंकि उपदेशों का फल पुरुषों की प्रवृत्ति है तो जब प्रवृत्ति न हुई तब कैसे उपदेश सफल हो सकता है ? तस्मात् अध्ययन, उक्त भावना का भाव्य नहीं हो सकता किन्तु करण (सिद्ध करने का उपाय) है और करण हो कर करण की आकाङ्क्षा को पूर्ण करेगा जैसे उक्त भावना में यह आकाङ्क्षा होती है कि "किस से करे" और इस आकाङ्क्षा की पूर्णता 'अधि' 'इ' से होती है।कि "अध्ययन से" तब यह अर्थ होता है कि "अध्ययन से सिद्ध करे" इस-

करणांशे निवेशे कथमपि न प्रवृत्तिविरोधशङ्कावकाशः नामार्थस्तु पदान्तरोपात्ततया संनिहितत्वाभावादेव न करणांशे निवेशमर्हतीति न तन्निवेशेन सह वैशसावसरः। नचात्र श्रुतस्य कस्यचिद्भाव्यस्याभावादश्रुतमप्यदृष्टमेव भाव्यतया कल्पनीयमिति नाभिमतस्य वाक्यार्थबोधपर्यवसायित्वस्य सिद्धिः संभवतीति वाच्यम्। तथासत्यदृष्टस्य स्वरूपं, तस्याध्ययनेन जन्यजनकभावश्च कल्पनीयं स्यात् तदपेक्षया च दृष्टे वाक्यार्थबोधेऽध्ययनस्य जन्यत्वमात्रकल्पनायामेव लाघवात् नचैवमप्यध्ययनानन्तरं दृष्टेनैवाक्षरग्रहणमात्रेणोक्ताकाङ्क्षाप्रशमनसंभवात्पुनरप्यभिमतार्थासिद्धिरेवेति वाच्यम्। एवमप्यक्षरग्रहणस्यापि स्वतोऽपुरुषार्थत्वा 'त्तेनापिकि' मित्याकाङ्क्षायाः पदावधारणेन पूरणेऽपि तस्याप्यपुरुषार्थत्वा 'त्तेनापिकि' मित्याकाङ्क्षायाः पदार्थज्ञानेन 'तेनापिकि' मित्यकाङ्क्षाया वाक्यार्थज्ञानेन 'तेनापिकि' मित्याकाङ्क्षाया अनुष्ठानेन पुनः पुनः पूरणेऽपि तस्याप्यपुरुषार्थत्वात्पुनर-

॥ भाषा ॥

रीति से करण की आकाङ्क्षा तो पूर्ण हुई परन्तु भाव्य की आकाङ्क्षा (किसको) पुनः भी अपूर्ण ही रही। उसकी पूर्ति यदि अध्ययन से साध्य अक्षरग्रहण से कर यह अर्थ किया जाय कि "अध्ययन से वेदाक्षरों का ग्रहण करे" तब भी पूर्वोक्त रीति से यह उपदेश व्यर्थ ही होता है क्योंकि अक्षरग्रहण भी पुरुपार्थ नहीं है किंतु दुःखमय ही है इसी से पुनः भी दूसरे भाव्य की आकाङ्क्षा होगी कि "अक्षरग्रहण से भी क्या करे" और इसकी पूर्ति, यदि पदज्ञान से की जाय तो वह भी नहीं पुरुपार्थ है इस से पुनः भी आकाङ्क्षा होगी कि "उससे क्या करे" उसकी पूर्ति पदार्थज्ञान से, और पुनः भी आकाङ्क्षा, कि 'उससे क्या करे' और उसकी पूर्ति, वाक्यार्थ के ज्ञान से की जाय, तो भी आकाङ्क्षा होगी कि "उससे भी क्या करे" उसकी पूर्ति यज्ञानुष्ठान से की जाय, तो वह भी पुरुपार्थ नहीं है किंतु दुःखमय है इससे पुनः भी आकाङ्क्षा होगी कि "उससे भी क्या करे" यह अन्तिम आकाङ्क्षा है अब इस आकाङ्क्षा की पूर्ति किसी लोकप्रसिद्ध पदार्थ से नहीं हो सकती और पूर्व आकाङ्क्षाओं की पूर्ति जो लोकप्रसिद्ध पदार्थों से की गई उसका कारण यह है कि अप्रसिद्धपदार्थ से यदि आकाङ्क्षा पूर्ति की जाय तो दो कल्पना करनी पड़ती हैं जैसे "अक्षरग्रहण से क्या करे" इस आकाङ्क्षा की पूर्ति यदि स्वर्गादिरूपी अप्रसिद्ध पदार्थों से की जाय तो अध्ययनविधि का यह आकार बनेगा कि "अध्ययन से अक्षरग्रहण के द्वारा स्वर्गसुख का लाभ करे" तब एक तो स्वर्गरूपी अप्रसिद्ध पदार्थ की कल्पना, दूसरी अक्षरग्रहण में स्वर्ग के साधक होने की कल्पना करनी पड़ेगी। और यदि पदज्ञान से उस आकाङ्क्षा की पूर्ति की जाय तो अध्ययनविधि का यह आकार होगा कि "अध्ययन से अक्षर ग्रहण के द्वारा पदज्ञान करे" तब पदज्ञानरूप फल की कल्पना न करनी पड़ेगी क्योंकि वह लोकानुभव ही से सिद्ध है केवल एक ही कल्पना करनी पड़ेगी कि "अक्षरग्रहण, पदज्ञान का कारण है" सो भी लोक में प्रसिद्ध ही है न कि नवीन, इसी लाघव से प्रसिद्ध ही पदार्थों से अब तक आकाङ्क्षाओं की पूर्त्ति की गई किन्तु उन में से कोई पुरुषार्थरूपी नहीं है इस से उन में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती जिस से कि अध्ययनविधि व्यर्थ न हो और आकाङ्क्षा भी उन अक्षरग्रहणादि पदार्थों के मिलने से शान्त न हुई किन्तु घृत डालने से अग्नि की नाईं अधिक ही भड़कती गई और अक्षरग्रहणादिरूपी जिन २ लोकप्रसिद्ध पदार्थों को आकाङ्क्षा ने पकड़ा, पुरुषार्थरूपी न होने के कारण उन सब

ष्मुत्पन्नाया 'स्तेनापिकि' मित्याकाङ्क्षायाः स्वतःपुरुषार्थेन स्वर्गादिना फलेनैव निवर्त्तनीय-तया स्वर्गादेरेव, तस्यापि च वाक्यार्थावबोधद्वारैवोक्ताध्ययनभावनाभाव्यताया अभ्युपग-न्तुमौचित्यात्। नचेयं रीतिरध्ययनविधावेव किंतु सर्वेषामेव विधीनां प्राक् पुरुषार्थलाभाद्भा-व्याकाङ्क्षाया अपर्य्यवसानमनयैवदिशाऽवसेयम्। नचाधानादिविधीनामपुरुषार्थरूपाहवनी-यादिमात्रेण नैराकाङ्क्ष्यदर्शनादिहाप्यक्षरग्रहणादिना भाव्याकाङ्क्षानिवृत्तिः किं न स्वीक्रि-यत इति वाच्यम् आधानादिविधीनामङ्गविधित्वेन पुरुषार्थांशस्य प्रधानविधिव्यापारल्लभ्यत-या तदंशे व्यापाराभावेन तेषु तथाऽङ्गीकारेऽपि प्रकृते विधावन्येषु च विधिषु तथाऽङ्गीकारे मा-नाभावात् नचैवं तर्हि अध्ययनविधौ स्वर्गादिः पुरुषार्थ एव भावनायाः साक्षात्फलत्वेन कथं न स्वीक्रियते लाघवात् कृतमन्तर्गड्डुभिर्वाक्यार्थबोधादिभिरिति वाच्यम्। दृष्टमर्थबोधादिकार्य्य-कारणभावमनुसरन्त्या परम्परयोपपादितेन पुरुषार्थानुबन्धित्वेनैवाध्ययनविधेरुपपत्तौ संभ-वसरणिमधिरोहन्त्यां नियोगबलात्साक्षादेवादृष्टपुरुषार्थफलकत्वकल्पने प्रामाणाभावात् नचा-त्रदृष्टफलकत्वनिश्चयोऽपि कस्य प्रामाणस्य बलाद्भविष्यतीति वाच्यम्। योग्यतया हि यस्मिन्न-

॥ भाषा ॥

को भावना के कारण कोटि ही में डालती चली गई इसी से भाव्य (पुरुषार्थरूपी फल) कोटि, भावना की अब तक शून्य ही पड़ी है। इसी से पूर्वोक्त अन्तिम आकाङ्क्षा अब तक शान्त नहीं हुई और अध्य-यनविधि अब तक व्यर्थ ही रह गया इस से अनन्यगति हो कर अप्रसिद्ध ही पदार्थ अर्थात् स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ, और उस में भाव्यत्व (भाव्य होना) की कल्पना कर उसी से अन्तिम आकाङ्क्षा की पूर्ति की जाती है और वह स्वयं पुरुषार्थरूपी है इसी से पुनः भाव्य की आकाङ्क्षा नहीं होती कि "उस से भी क्या करे"। यह लोक में अत्यन्त प्रसिद्ध विषय है कि सुख के उपायों में यह आकाङ्क्षा होती है कि "उस से क्या करे" परन्तु सुख में यह आकाङ्क्षा कदापि नहीं होती कि 'इस से भी क्या करे"। अब अध्ययनविधि का यह आकार प्रकट हुआ कि "अध्ययन से, यथाक्रम, अक्षरग्रहण, पदज्ञान, वाक्यार्थज्ञान और यज्ञानुष्ठान के द्वारा स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का लाभ करे" अब यज्ञ में भी पुरुषों की प्रवृत्ति होगी क्योंकि वह अङ्गनाऽऽलिङ्गन (युवती से लपटना) आदि के नाईं सुख का साधन है। इस रीति से वाक्यार्थज्ञान में भी प्रवृत्ति होगी क्योंकि वह यज्ञ का कारण है, और पदज्ञान में भी प्रवृत्ति होगी क्योंकि वह वाक्यार्थज्ञान का कारण है, तथा अक्षरग्रहण में भी प्रवृति होगी क्योंकि वह पदज्ञान का कारण है और अध्ययन में भी प्रवृत्ति होगी क्योंकि वह अक्षर ग्रहण का कारण है। तात्पर्य यह है कि साक्षात् वा परम्परा से जो, पुरुषार्थ का कारण होता है उस में पुरुष की प्रवृत्ति लोक में प्रसिद्ध है और उसी रीति से पुरुषार्थरूपी एक ही भाव्य ने अपने साक्षात्कारण, अर्थात् यज्ञानुष्ठान और परम्परा से कारण, अर्थात् वाक्यार्थज्ञान पर्यन्त में पुरुषों की प्रवृत्ति को सिद्ध कर दिया जिस से कि उक्त अध्ययनविधि चारितार्थ (सफल) होता है और यही रीति सब विधिवाक्यों में समझना चाहिये क्योंकि पुरुषार्थ के लाभ बिना, किसी विधिवाक्य की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण नहीं हो सकती और न कोई विधिवाक्य, किसी पुरुष की किसी क्रिया में प्रवृत्ति करा कर चारितार्थ हो सकता। और जब उक्त अध्ययनविधि से यह सिद्ध हो चुका कि समस्त वेद, अपने अर्थज्ञान ही के द्वारा पुरुषार्थ का साधक होता है तब अर्थवाद आदि वाक्यों-

न्तरभाविनि यस्य व्यापारो दृश्यते तदेव तस्य फलमित्यवधार्य्यते ततश्च दृष्टानुसारिभ्याम-न्वयव्यतिरेकाभ्यामेव सिध्यन्ती पुरुषार्थानुबन्धिता लघीयसीति लाघवमेव दृष्टफलकत्वे मानम् नचैवं सति होमादावप्याहवनीयप्राप्त्यादिरूपदृष्टफलकत्वसंभवात्तत्राप्यदृष्टकल्पना, प्रमाणबलोल्लङ्घिनी कथमवकल्पेत विशेषाभावादिति वाच्यम् आहवनीयप्राप्त्यादेः स्वत इव परम्परयाऽपि पुरुषार्थानुबन्धितायाः संभवाभावेन तत्र फलत्वस्य शङ्कितुमप्यशक्यत्वात् यत्रहि भाव्याकाङ्क्षया तत्तदर्थानुसरणे कियतीश्चित्कक्ष्या अतिक्रम्यापि पुरुषार्थो लभ्यते तत्र पारम्परिकप्रयोजनेनापि श्रुतस्य विधेरुपपत्त्या न साक्षाददृष्टप्रयोजनकल्पना भवति अन्यथानुपपत्तिविरहात् यथैहैवाध्ययनविधौ यत्र तु दृष्टमनन्तरभावि कार्य्यं न स्वयं-

॥ भाषा ॥

का भी ऐसे अर्थ का ज्ञान अत्यावश्यक है कि जिसके ज्ञानद्वारा परम्परा से पुरुषार्थ का लाभ हो सकता हो किंतु ऐसा अर्थ उनका वाच्यार्थ नहीं है किन्तु स्तुतिरूपी लक्ष्यार्थ ही है इसी से अर्थवादों की स्तुति में लक्षणा और स्तुति ही के द्वारा विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता भी होती है ।

ख०—जैसे "वसन्तेब्राह्मणोऽग्निमादधीत" (वसन्त ऋतु में ब्राह्मण अग्नि का स्थापन करै) इस विधि की भाव्याकाङ्क्षा आहवनीय (होमयोग्य अग्निविशेष) अग्नि ही से पूर्ण होती है जो कि पुरुषार्थ नहीं है वैसे ही उक्त अध्ययनविधि की भाव्याकाङ्क्षा भी अपुरुषार्थरूपी अक्षर-ग्रहणादि ही से क्यों नहीं पूर्ण होती ?

स०—आधानविधि का उक्त दृष्टान्त सर्वथा अयुक्त है क्योंकि वह अङ्गविधि है और उसका प्रधानविधि वही है जो अग्निहोत्रादि का विधि है और उस विधि में स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ कहे हुए हैं जैसे "अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः" इत्यादि और प्रधानविधि का जो फल होता है वही अङ्ग विधि का भी फल होता है । ऐसी दशा में अङ्गविधि पुरुषार्थ का बोधन, इस कारण नहीं करता कि उसका लाभ प्रधानविधि ही से हो जाता है इसी से आहवनीयरूपी फल से भी अङ्गविधियों की भाव्याकाङ्क्षा, निवृत्त हो जाती है और उक्त अध्ययनविधि तो किसी का अङ्ग-विधि नहीं है किन्तु प्रधानविधि है इसी से इसकी भाव्याकाङ्क्षा पुरुषार्थ ही से पूर्ण होती है न कि अक्षरग्रहणादि से ।

ख०—यदि पुरुषार्थ ही से विधियों की आकाङ्क्षा पूर्ण होती है तब तो इसी में बड़ा लाघव है कि अध्ययनविधि में स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ ही, भावना का साक्षात् फल, मान लिया जाय वाक्यार्थज्ञान आदि की कल्पना क्यों की जाती है ?

स०—जब लोकसिद्ध अक्षरग्रहण आदि यज्ञानुष्ठान पर्य्यन्त उक्त पदार्थों के द्वारा अध्ययनविधि, पुरुषार्थपर्यन्त पहुंच सकता है तब ऐसी दशा में लोकानुभव ही के अनुसार कार्य और कारण होने की कल्पना उचित है क्योंकि कोई कारण नहीं है कि जिस से लोकानुभव का उल्लङ्घन कर पुरुषार्थ, साक्षात् ही अध्ययनभावना का फल मान लिया जाय क्योंकि दृष्टकल्पना की अपेक्षा अदृष्टकल्पना में गौरव पूर्व ही दिखला दिया गया है ।

ख०—किस प्रमाण के बल से यह निश्चय होता है कि अर्थज्ञान आदि दृष्टपदार्थ, अध्ययन के फल हैं ?

पुरुषार्थो नापि परम्परया पुरुषार्थे पर्य्यवसातुमर्हम् यथा होमस्यानन्तरभाविनी हृष्टाऽऽह्वनीयप्राप्तिस्तथाविधो भस्मभावो वा तत्रैव तयोस्त्यागेन कर्मणः साक्षादेवादृष्टं फलं कल्प्यते। अन्यथोपपत्त्यभावेन गत्यन्तरविरहात् नचैवमपि परम्परया पुरुषार्थानुबन्धित्वादनन्तरदृष्टत्वाच्चाध्ययनस्य फलत्वमक्षरग्रहणे भवतु नाम भवतु वा साक्षात्पुरुषार्थरूपे स्वर्गादौ तस्य तत्, वाक्यार्थज्ञानस्य त्वनन्तरदृष्टत्वाभावात्स्वयमपुरुषार्थत्वाच्च कथमिव फलत्वसंभव इति वाच्यम्। अयं हि सर्वविधिसाधारणो न्यायविवेकः। तथाहि। व्रीहीनवहन्तीत्यादिना विहितेऽवघातादावपुरुषार्थभूतवैतुष्यादिदृष्टकार्य्यपरम्परायामनुस्रियमाणायां तस्य-

॥ भाषा ॥

स०—योग्यता ही प्रमाण है जिसके बल से उक्त निश्चय होता है अर्थात् जिस के व्यापार के अनन्तर, जिसकी उत्पत्ति होती है उसका वही फल होता है जैसे बाण के प्रवेश का फल, बध है इत्यादि, इसी लोकानुभव के अनुसार से अर्थज्ञान, अध्ययन का फल है और दृष्टानुसारिणी कल्पना में पूर्वोक्तरीति से जो लाघव है वही लाघव उक्त निश्चय में प्रमाण है।

ख०—यदि ऐसा है तो होमविधि में भी स्वर्गादिरूपी अदृष्ट की कल्पना न होगी और लाघव के बल से होम का, आहवनीय अग्नि में द्रव्य की प्राप्ति ही फल माना जायगा ?।

स०—आहवनीय में द्रव्य की प्राप्ति, न स्वयं पुरुषार्थ है और न परम्परा से भी किसी पुरुषार्थ का साधक है तो वह कैसे फल कहला सकता है क्योंकि जिस विधिवाक्य में भाव्य की आकाङ्क्षा को पूर्ण करने के लिये अनेक क्रमिक पदार्थों की कल्पना करने से पुरुषार्थ का लाभ हो सकता है वहां उसी पुरुषार्थ से मध्यवर्ती पदार्थों के द्वारा विधि, चरितार्थ (सफल) हो जाता है इसी से विधि का, वह अदृष्ट पुरुषार्थ साक्षात् प्रयोजन नहीं होता क्योंकि विधि का काम, मध्यवर्ती दृष्ट पदार्थ के द्वारा अदृष्ट पुरुषार्थरूपी फल से चल जाता है जैसा कि अध्ययनविधि में पूर्व ही कह चुके हैं। होमविधि में तो उस से विपरीत ही है क्योंकि होम से अनन्तर भावी, आहवनीय में द्रव्य का गिरना, वा भस्मीभाव, है जोकि न आप पुरुषार्थ है और न उस में पुरुषार्थ का परम्परासम्बन्ध ही हो सकता है इसी से ऐसी दशा में अनन्यगति होकर यह माना जाता है कि अदृष्ट पुरुषार्थ, उस होम का साक्षात् ही फल है क्योंकि ऐसा माने विना उस विधि से किसी की होम में प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसी से होमविधि का वाक्य ही व्यर्थ हो जायगा।

ख०—अध्ययनविधि में अक्षरग्रहण तो अध्ययन का फल हो सकता है क्योंकि वह अध्ययन के अनन्तर समीपवर्ती है और पूर्वोक्त रीति से पुरुषार्थ के साथ उसका परम्परा संबन्ध भी है। तथा यह भी हो सकता है कि होमादि के नाईं अध्ययन का भी अदृष्ट पुरुषार्थरूपी अर्थात् स्वर्गादि, साक्षात् फल है। परन्तु वाक्यार्थ का ज्ञान, कैसे अध्ययन का फल हो सकता है क्योंकि न वह अध्ययन का अनन्तरभावी है और न स्वयं पुरुषार्थ ही है ?

स०—सब विधिवाक्यों के विषय में मीमांसा के अधिकरणों का यह विवेक है कि "व्रहीनवहन्ति" (धान कूटे) इत्यादि वाक्यों में अवघात (कूटने) का विधान है जिसका फल वैतुष्य (भूसी छूटना) इत्यादि क्रमिक कार्य लोकदृष्ट ही हैं जो कि स्वयं पुरुषार्थ नहीं हैं इसलिये उन में पुरुष की प्रवृत्ति के अर्थ, पुरुषार्थरूप भाव्य की आकाङ्क्षा जब तक शान्त नहीं होती तब तक मध्य ही में, भाग के लिये पुरोडाश (हवि) का, और स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के लिये यज्ञों का, अन्य-

पुरुषार्थपर्य्यवसानात्प्रागन्तराल एव यत्पुरोडाशादिकं क्रतवे यागादिकं वा पुरुषार्थाय विधीयते तदेव पुरोडाशादिकं तस्य क्रतोः साधनम् तदेव च यागादिकं पुरुषार्थस्य साधनम् नत्ववघातादिः अवघातादिविधेस्तु तादृशपुरोडाशादियागादिरूपसाधनोपकारार्थत्वमात्रम् नतु पुरुषार्थपर्य्यवसायिता। अवघाततादृशपुरोडाशादिसाधनयोर्मध्ये विधीयमानानि पेषणादीनि तु तादृशसाधने निष्पादयितव्येऽवघातस्य व्यापारतया द्वारमात्रत्वेनोपयुज्यन्ते नतु पुरुषार्थे पर्य्यवस्यन्ति एषां द्वारत्वं च नान्तरीयकत्वात् नहि पेषणादिकं विनाऽवघातादिभिः पुरोडाशादिकं शक्यते निष्पादयितुम्। अवघातादेः पेषणार्थत्वं पेषणादेश्च पुरोडाशाद्यर्थत्वमिति तु नाङ्गीकर्तुमर्हम्, यदि ह्यवघातादिविधेः प्राक् पेषणादेः पुरोडाशसाधनत्वमवगतं स्यात् तदा तस्य प्रयोजनवत्त्वेन योग्यत्वादवघातफलत्वं कल्पयितुं युज्येत इहत्ववघातस्यैव पुरोडाशप्रकृतिभूतव्रीह्युद्देशेनविधानात्पुरोडाशसाधनता प्रथमतरमवगम्यत इत्यवघातफलत्वमेव पुरोडाशादेरिति तदुपपादकतया द्वारत्वमेव पेषणादीनामुचितम् नच दाहादरेण दृष्टेनानुमीयमानस्य विधेर्वेलाद्भस्मसाद्भावस्याप्यदृष्टफलसाधनत्वावगमेन फलतया दृष्टेन तेनैवाश्रुतफलस्य होमस्य साफल्योपपत्तेर्होमेऽपि नादृष्टफलकल्पना स्यादिति-

॥ भाषा ॥

विधिवाक्यों से विधान होता है इसी से उक्त पुराडाशादिक ही यज्ञ का, और यागादिक ही पुरुषार्थ का, साधक होता है और अवघातादिक तो इन दोनों में से किसी का साधक नहीं है इसी से उसका पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता किन्तु अवघातादिक से, पुरोडाश और यागादि रूपी साधकों का उपकारमात्र होता है। तथा अवघात से लेकर पुरोडाश के साधन तक अर्थात् मध्यकाल में जिन कार्यों का अन्य वाक्यों से विधान होता है जैसे "तण्डुलान्पिनष्टि" इत्यादि से पेषण आदि का, वे कार्य तो पुरोडाशादि की सिद्धि के लिये अवघातादि के द्वार अर्थात् व्यापारमात्र हैं क्योंकि बिना पेषणादि के अवघातादि से पुरोडाश की सिद्धि नहीं हो सकती इसी कारण से पेषणादिकों का भी पुरुषार्थ में पर्यवसान नहीं होता। और यह तो कह नहीं सकते कि 'पेषणादिक ही अवघातादि के फल हैं और पेषणादि का फल पुरोडाश है' क्योंकि यह तब कह सकते कि जब अवघातादि के विधान से प्रथम ही यह ज्ञात होता कि पेषणादि के फल पुरोडाशादि हैं, और यहां तो अवघातादिक ही का विधान प्रथम है और पुरोडाश जिसका होता है उन व्रीहियों ही में अवघातादि का विधान भी है इसी से प्रथम यही ज्ञान होता है कि अवघातादिक, पुरोडाशादिक के साधक हैं तब यह जिज्ञासा होती है कि किस व्यापार के द्वारा? और इसी जिज्ञासा को पेषणविधि, पूर्ण करता है इससे यह सिद्ध हो गया कि पुरोडाशादिक पेषणादिक का फल नहीं है किन्तु अवघातादिक ही का। और यह भी नहीं कह सकते कि यदि अवघातादिरूपी अङ्गविधियों में पुरुषार्थपर्यवसान नहीं है तो होमविधियों में भी अदृष्ट पुरुषार्थ का कल्पना नहीं होनी चाहिये प्रसिद्ध है कि हवन किये हुए द्रव्य के भस्मीभाव में लोग श्रद्धा करते हैं तो उस श्रद्धा के अनुसार इस विधि की कल्पना हो सकती है कि "हुतं द्रव्यं भस्मीकुर्यात्" (होम किये हुए द्रव्य को भस्म कर दे) तो ऐसी दशा में जब होमविधि के समीप में कोई अदृष्ट पुरुषार्थरूपी फल नहीं कहा है तब इस भस्मीभावरूपी दृष्ट फल ही से होम की भाव्याकाङ्क्षा पूर्ण हो सकती है और अदृष्ट पुरुषार्थ की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है, क्योंकि हवि के दाह में श्रद्धा इसलिये होती है कि यदि हवि वैसा ही बना-

वाच्यम् । क्रत्वर्थस्य दाहादरस्याभावे दग्धावशिष्टस्य हविषः कदाचिदुपघाते सति प्रसजन्त्याः क्रतुवैगुण्यापत्तेः परिजिहीर्षया दाहादरस्यान्यथोपपत्त्या तेन विधेरनुमानासंभवात् । कथंचिदनुमानेऽपि दाहादरस्य द्वारमात्रत्वेनाप्यनुमितस्य विधेरुपपत्त्या भस्मसाद्भावे तत्फलत्वकल्पनाया अप्रमाणिकत्वात् एवं च यानि प्रधानविधिवाक्यानि श्रुतफलत्वात्क्लृप्तपुरुषार्थानि यानि चाश्रुतफलत्वात्कल्पयिष्यमाणपुरुषार्थानि तानि सर्वाणि पुरुषार्थप्रतिपादनपर्य्यन्तमेव स्वाध्यायाध्ययनविधिना नीयन्ते लौकिकस्यार्थिकसामर्थ्यस्यानुरोधादिति । तथाच—
'फलवद्व्यवहाराङ्गभूतार्थप्रत्ययाङ्गता । निष्फलत्वेन शब्दस्य योग्यत्वादवधार्य्यते' ॥

इतिन्यायेन स्वाध्यायमुद्दिश्य वाक्यार्थज्ञानार्थं विहितस्याध्ययनस्य, व्रीहीनुद्दिश्य पुरोडाशार्थं विहितस्यावघातस्य पुरोडाशार्थत्ववद्वाक्यार्थज्ञानार्थत्वमध्ययनस्य वाक्यार्थमर्य्यादालभ्यमेवेति वाक्यार्थज्ञानस्याध्ययनभावनाभाव्यस्याध्ययनफलता निष्प्रत्यूहा । अध्ययनवाक्यार्थज्ञानयोरन्तरालवर्तिनामक्षरग्रहणादीनां त्ववघातपुरोडाशमध्याध्यासीनपेषणादिन्यायेनावान्तरव्यापारत्वमात्रं युक्तम् ।

॥ भाषा ॥

रहै तो अस्पृश्यस्पर्श आदि अनेक दोषों से उसके दुष्ट होने से यज्ञ ही के बिगड़ने की संभावना है तो ऐसी दशा में जब उक्त विधि के बिना भी श्रद्धा की उपपत्ति होती है तब उक्त श्रद्धा से उक्त विधिवाक्य का अनुमान ही नहीं हो सकता । और यदि थोड़े काल के लिये उक्त अनुमान मान भी लिया जाय तो भी यह नहीं कह सकते कि भस्महोना, होम का फल है क्योंकि यदि होम से अदृष्टरूपी पुरुषार्थ की उत्पत्ति में, दाह की श्रद्धा, होम का द्वार अर्थात् व्यापार ही मान लिया जाय तब भी पूर्वोक्त अनुमित विधिवाक्य चरितार्थ हो सकता है । तात्पर्य यह है कि जो "स्वर्गकामोयजेत" इत्यादि प्रधान विधिवाक्य ऐसे हैं कि उनमें पुरुषार्थ कहा हुआ है अथवा ऐसे हैं कि उनमें पुरुषार्थ नहीं कहा है जैसे "विश्वजितायजेत" इत्यादि, उन दोनों प्रकार के बिधिवाक्यों को उक्त अध्ययनबिधि, उनके अर्थों के ज्ञान और अनुष्ठान के द्वारा पुरुषार्थ पर्यन्त पहुंचाता है इति ।

इस उक्त न्याय के अनुसार जैसे पुरोडाशसिद्धि के अर्थ, विधानकिये हुए धानों के कूटने का फल पुरोडाश होता है वैसे ही वाक्यार्थज्ञान के लिये विधानकिये हुए वेदाध्ययन का भी वाक्यार्थज्ञान ही फल होता है और जैसे पुरोडाश यद्यपि पुरुषार्थरूपी नहीं है तथापि वह कूटने का फल होता है क्योंकि पुरोडाश, यज्ञद्वारा पुरुषार्थ का साधक है, वैसे ही वाक्यार्थज्ञान भी वेदाध्ययन का फल है क्योंकि यह भी यज्ञद्वारा पुरुषार्थ का साधक है । और जैसे "व्रहीनवहन्ति" इस विधिवाक्य के अर्थ ही से यह भी सिद्ध है कि पुरोडाश, कूटने का फल है वैसे ही उक्त अध्ययनविधिवाक्य के अर्थ ही से यह भी सिद्ध है कि वाक्यार्थज्ञान, वेदाध्ययन का फल तथा अध्ययनभावना का भाव्य (फल) भी है । और जैसे कूटने और पुरोडाश के मध्यवर्ती पेषण आदि कूटने के फल नहीं हैं किन्तु उनके व्यापारमात्र हैं वैसे ही अध्ययन और वाक्यार्थज्ञान के मध्यवर्ती अक्षरग्रहण आदि भी अध्ययन के फल नहीं हैं किन्तु उसके व्यापार ही हैं और यह कल्पना भी नवीन नहीं है किन्तु लोकानुसारिणी है क्योंकि यह बात लोकानुभव से सिद्ध है कि पुरुषार्थरूपी (सुखादि) फल भोजनादि क्रियाओं ही से होता है जिनको व्यवहार कहते हैं और वे क्रियायें अर्थज्ञान ही से होतीं हैं तथा अर्थज्ञान, शब्द से होता है और शब्द का फल भी है, ऐसे ही

नच पुरोडाशस्य विध्यन्तरेण क्रत्वर्थत्वनिर्णयादवघातफलत्वं निर्णीयतेऽत्यस्तु तदङ्गीकारः वाक्यार्थज्ञानस्य तु क्रत्वर्थतायां प्रमाणाभावात्कथमध्ययनफलत्वाङ्गीकार इति वाच्यम् ।

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति ।

इति श्रुत्यैव विद्यारूपस्य वाक्यार्थज्ञानस्य कर्मविशेषरूपक्रत्वर्थताया निपुणतरं निर्णेतुं शक्यत्वात् । नचैवं वाक्यार्थज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वनिर्णयेऽपि पुरुषार्थानुबन्धितायां न प्रमाणमस्ति, अध्ययनविधेर्वाक्यमर्य्यादया वाक्यार्थज्ञानपर्य्यन्तमेव व्यापारस्य न्याय्यत्वात्त दुत्तरं तदुपरमे वाक्यार्थज्ञानस्य क्रत्वर्थताया "यदेवविद्यये"तिश्रुत्यन्तरेण सिद्धावपि ततोऽप्युत्तरं तस्या अपि व्यापारोपरमेण तदानीं सिषाधयिषितायां वाक्यार्थज्ञानस्य पुरुषार्थानुबन्धितायामुक्तस्याविधेरुक्तायाः श्रुतेश्चोपरततया तयोः प्रामाण्यस्य दुर्वचत्वादिति वाच्यम् यथा हि 'वाक्यार्थज्ञानं भावये' दित्यध्ययनविधेर्व्यापारः पूर्वं भवति तेन च वाक्यार्थज्ञानस्याध्ययनभावनाभाव्यस्याध्ययनफलत्वं सिध्यति यथा च यदेवेत्युक्तश्रुतेर्यच्छब्दघटितत्वादनुवादकत्वेऽपि तत्कल्पितस्य विधेर्व्यापारेण 'ज्ञानेन कर्मभावये' दित्या-

॥ भाषा ॥

स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ, यज्ञादिरूप व्यवहारों से, और वे व्यवहार, वैदिकविधिवाक्यों के अर्थज्ञान से, और वह अर्थज्ञान, उन विधिवाक्यों के अध्ययन से तथा अध्ययन का विधान इस अध्ययनविधिवाक्य से, होता है केवल इतना नियममात्र लौकिक नहीं है कि 'ब्रह्मचर्यादिनियमपूर्वक, गुरुमुख से अध्ययन के द्वारा उत्पन्न ही वेदार्थज्ञान, यज्ञानुष्ठान के द्वारा पुरुषार्थोपयोगी होता है न कि निरुक्त व्याकरण आदि के द्वारा स्वयं वेदपुस्तकों के देखने से उत्पन्न वेदार्थज्ञान भी'।

ख०—पुरोडाश जो अवघात का फल माना गया है सो उचित है क्योंकि पुरोडाश से यज्ञ का उपकार, अन्यविधिवाक्य से सिद्ध है परन्तु वाक्यार्थज्ञान से यज्ञ का उपकार जब किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है तब यह कैसे स्वीकार के योग्य है कि वह अध्यन का फल है ?

स०—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (जो ही धर्मकार्य, विद्या, श्रद्धा और नियम से किया जाता है वही वीर्यवत्तर अर्थात् अधिक फलदायक होता है) यही श्रुति इस अंश में प्रमाण है कि वेदवाक्यों का अर्थज्ञान, (जोकि इस श्रुति में विद्याशब्द का अर्थ है) यज्ञ का साधक है।

ख०—पूर्वोक्त रीति के अनुसार अर्थज्ञानपर्यन्त का लाभ अध्ययनविधि से होता है उसके अनन्तर अध्ययनविधि निर्व्यापार (चुप) हो जाता है तब "यदेव विद्यया करोति" इत्यादि श्रुति अपने व्यापार से इतना ही बतलाती है कि "वाक्यार्थज्ञान यज्ञ का साधक है" और इसके अनन्तर यह श्रुति भी निर्व्यापार हो जाती है तो अब बतलाइये कि किस प्रमाण के व्यापार से यह अंश सिद्ध होगा कि "वाक्यार्थ का ज्ञान यज्ञ के द्वारा स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का साधक है" ?

स०—जैसे * अध्ययनविधि का यह व्यापार हुआ कि "अध्ययनेन वाक्यार्थज्ञानं भावयेत्" (अध्ययन से वेदवाक्यों का अर्थज्ञान करै)। यद्यपि "यदेवविद्यया" इस श्रुति में 'यद्' (जो) और 'तद्' (वह) शब्द के रहने से यह श्रुति विधान नहीं कर सकती किन्तु अनुवाद ही करती है जैसे कि "जो भोजन घृतयुक्त होता है वह उत्तम होता है" इत्यादि लौकिकवाक्य, तथापि

कारेणोक्तव्यापारानन्तरभाविना वाक्यार्थज्ञानस्य क्रत्वर्थत्वं सिध्यति तथैव ततोऽप्युत्तरभाविभिः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिविधिवाक्यानां 'यागेनस्वर्गंभावये' दित्याद्याकारैर्व्यापारैर्यागभावनाभाव्यतया स्वर्गादीनां यागादिफलत्वसिद्धौ यागानां साक्षात्पुरुषार्थानुबन्धित्व यागार्थस्यार्थज्ञानस्य तदर्थस्याध्ययनस्य च सिषाधयिषिता पुरुषार्थानुबन्धिताऽर्थसमाजग्रस्ता परम्परीणा लक्ष्मीरिव प्रत्यक्षलक्षणीयकल्पैवाविकल्पमवकल्पते। ननु प्रधानविधिवाक्यानां स्वार्थप्रतिपादनमात्रे पर्य्यवसानात्तेषु 'एतेषामध्ययनेनार्थज्ञानंभावये' दितिरीत्याऽध्ययनविधिसमन्वयो भवतु। अङ्गविधिवाक्येषु तु नासौ रीतिःसंभवति। नहि तेषां स्वार्थप्रतिपादनमात्रे पर्य्यवसानम् यथा हि प्रधानैरर्थद्वारेण शब्दस्वरूपस्यापिग्रहणान्मन्त्राणां कर्मकाले पाठोऽपि भवतीति ते स्वार्थप्रतिपादनमात्रे न पर्य्यवस्यन्ति किंतु स्वाक्षरपाठे तथा अङ्गविधीनामप्यर्थद्वारेण प्रधानैः स्वरूपं ग्रहीतुं शक्यत एव। एवंच यथा मन्त्रेषु 'अध्ययनेनार्थं ज्ञात्वा पाठं भावये' दितिरीत्याऽध्ययनविधिसमन्वयस्तथैवाङ्गविधिष्वप्यसौ युक्त इति-

॥ भाषा ॥

जैसे इस लौकिक वाक्य से, "जो उत्तम भोजन की इच्छा करे वह भोजन में घृत लगादे" इस लौकिक विधिवाक्य की कल्पना, पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये होती है वैसे ही उक्त अनुवादक श्रुति से भी "यज्ञे वीर्यवत्तरत्वकामो वाक्यार्थं विद्यात" (जो यह चाहे कि मेरा यज्ञ अधिक फलदायक हो, वह वाक्यार्थ को जाने) इस विधिवाक्य की कल्पना होती है और यह विधिवाक्य भी मीमांसा-दर्शन के अनुसार वेद ही है और जैसे इसका व्यापार यह है कि "विद्यया कर्म भावयेत" (वाक्यार्थ-ज्ञान से यज्ञ करे) वैसे ही इस वाक्यार्थ के निवृत्त होने के अनन्तर "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि अनेक विधिवाक्य हो, "यागेन स्वर्गं भावयेत" (याग से स्वर्ग की प्राप्ति करे) इत्यादिरूपी अपने २ व्यापार से यह सिद्ध करते हैं कि "दर्शपूर्णमासादि यज्ञ, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक हैं" और इसी से जैसे पूर्वपुरुषों की समृद्धि उत्तराधिकारियों को मिलती है ठीक उसी के विपरीतक्रम से, वाक्यार्थज्ञान, पदार्थज्ञान, पदज्ञान और अक्षरग्रहणरूपी पूर्वोक्त प्रथम २ वस्तुओं को पुरुषार्थ की साधकता परंपरा से मिलती है।

ख०—जो कि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि प्रधान विधिवाक्य हैं उनके विषय में अध्ययन विधि की उक्त घटना हो सकती है क्योंकि उनका तात्पर्य अपने अर्थ के ज्ञान कराने ही में है। परन्तु "व्रीहीनवहन्ति" (धान कूटे) इत्यादि अङ्गविधियों के विषय में अध्ययनविधि की उक्त घटना कैसे हो सकती है? क्योंकि उनका तात्पर्य अपने अर्थ के ज्ञान कराने ही में नहीं समाप्त हो सकता किन्तु मन्त्रों के नाईं उनका अपने अक्षरपाठ में भी तात्पर्य हो सकता है अर्थात जैसे प्रधानविधियों के बल से मन्त्रों के अर्थ और शब्द इन दोनों के ग्रहण होने के कारण, कर्म के समय में मन्त्रों का अक्षरपाठ होता है वैसे ही प्रधान विधिवाक्यों के बल से गृहीत अर्थ के द्वारा उक्त अङ्गविधियों का भी कर्म के समय में पाठ हो सकता है और अध्ययनविधि की घटना भी मन्त्र और अङ्गविधियों में "अध्ययनेनार्थं ज्ञात्वा पाठं भावयेत" (अध्ययन से अर्थ समझकर पाठ करे) इस रीति से तुल्य ही है तो ऐसी दशा में यह कैसे कहा जाता है कि अध्ययनविधि का व्यापार अर्थज्ञान के अनन्तर ही निवृत्त हो जाता है क्योंकि अब तो कर्मकाल में अङ्गविधियों के अक्षरपाठ पर्य्यन्त अध्ययनविधि का व्यापार हो गया?

तेषु स्वाध्यायाध्ययनविधेरर्थज्ञानपर्यन्तो व्यापारः संभवतीति वाच्यम् । मन्त्राणां हि-नाङ्गभूतार्थप्रतिपादनमात्रेण प्रधानविधिभिः स्वरूपं गृह्यते किंतु "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयती" त्यादिविधिवाक्यबलेनैव । अङ्गविधीनां विषये तु न कश्चित्तादृशो विधिरस्ति येन प्रधानविधिवाक्यैस्तेषामपि स्वरूपमुपगृह्येत । आरभ्याधीतेष्वपि प्रयाजादिवाक्येषु प्रकरणपाठेन स्वरूपोपग्रहः संभावयितुमेव शक्यते नतु साधयितुम्, अर्थे प्रधानाङ्गत्वबोधनेनैव प्रकरणपाठस्योपक्षीणतया स्वरूपोपग्रहसाधने सामर्थ्याभावात् । प्रधानविधिबोधितस्य क्रतोरपि न तत्र सामर्थ्यम्, तस्यादृष्टार्थत्वाददृष्टोपकारापेक्षत्वेऽपि दृष्टस्याङ्गवाक्यरूपस्यार्थस्य ग्राहकत्वे मानाभावात् । साक्षात्क्रतुसंबन्धायापि क्रतुकालेऽङ्गविधिवाक्यपाठकल्पना न संभवति । अर्थद्वारकपरम्परामात्रेणापि पुरुषार्थानुबन्धित्वलाभस्य संभवेन तस्या गौरवपराहतत्वात् एवमारभ्याधीतानामङ्गविधीनामर्थभूतान्यारादुपकारकाणि यान्यवघातादीन्यङ्गकर्माणि तानि प्रधानविधिवाक्यानीवैकान्तरितपुरुषार्थानुबन्धित्वात्प्रधानाद्व्यवहितानि । तद्बोधकान्यङ्गविधिवाक्यानि तु व्यन्तरितपुरुषार्थानुबन्धित्वात्स्वार्थकर्मापेक्षया प्रधानाद्व्यवहितानीति कथमिव तत्स्वरूपाणि प्रधानोपग्राह्यतया संभावनापथारोहणार्हाण्यपि भवेयुः संनिपत्योपकारकाङ्गविधिवाक्यानां तूपनयनादिवत्प्रधानेन सह व्यवधानविरहमेव स्वरूपोपग्रहशङ्कामुच्छिनत्तितमाम् । इत्येवञ्चानारभ्याधीतेष्वपि 'येनकर्मणेर्त्सेत् तत्र जयानजुहुया' दित्याद्यङ्गविधिवाक्येषु प्रधानसंनिधानव्यवधानव्यवस्था सुधीभिरनुसन्धेया । नच व्यवस्थासाम्ये कथमनारभ्याधीतानां प्रकरणाधीतेभ्यो दौर्बल्यमिति वाच्यम् असंबद्धवाक्यान्तर-

॥ भाषा ॥

स०—मन्त्रों का कर्म के समय में अक्षरपाठ, प्रधानविधियों के बल से नहीं होता किन्तु "उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" ('उरु प्रथस्व' इस मंत्र से पुरोडाश की प्रथा करे) इत्यादि अन्यान्य विधिवाक्यों ही के बल से होता है और अङ्गविधियों के विषय में तो ऐसा कोई विधिवाक्य नहीं है कि जिसके बल से कर्मकाल में अङ्गविधियों का अक्षरपाठ हो तस्मात् अङ्गविधियों के विषय में भी अध्ययनविधि का व्यापार अर्थज्ञानपर्यन्त ही है ।

ख०—विधिवाक्यों के अनन्तर यज्ञों के प्रकरण ही में जो अङ्गविधिवाक्य पढ़े हैं जैसे "समिधोयजति" (समिधनामक याग करे) इत्यादि उनका अक्षरपाठ, कर्मकाल में क्यों नहीं होता क्योंकि प्रकरण ही, ऐसे पाठ में प्रमाण हो सकता है ?

स०—प्रकरण इतना ही मात्र में प्रमाण हो सकता है कि "समिध आदि याग, प्रधान यागों के अङ्ग हैं" क्योंकि प्रकरण की उपपत्ति इतने ही से हो जाती है ।

ख०—प्रधानविधिवाक्य ही क्यों नहीं अङ्गविधियों के उक्त अक्षरपाठ में प्रमाण होता ?

स०—इस कारण नहीं प्रमाण होता कि उससे विहित यज्ञ, स्वर्गादिरूपी अदृष्ट पुरुषार्थ के साधक हैं इसी से उसको अदृष्ट ही उपकार की आकाङ्क्षा है जिसकी पूर्ति समिधआदि अङ्गयागों से अदृष्ट (अपूर्व–अथवा धर्म) के द्वारा होती है और अङ्गविधियों का अक्षरपाठ तो लोकदृष्ट है इससे इसमें प्रधानविधि कैसे प्रमाण हो सकता है ?

ख०—कर्मकाल में अक्षरपाठ होने से अङ्गविधियों का यज्ञ के साथ साक्षात् संबन्ध होता है इसलिये उस समय उनका अक्षरपाठ क्यों न उचित माना जाय ?

व्यवधानेन प्राकरणिकाङ्गवाक्यवत्तेषां प्रधानवाक्यैकवाक्यत्वस्यासंभवात् अनङ्गाधानादिवाक्यानां तु फलवत्क्रत्वङ्गाहवनीयादिसंस्कारप्रतिपादनपर्य्यवसायिनामतिदूरव्यवधानात्ताद्दशपरम्परयैवान्ततःपुरुषार्थानुबन्धित्वम् । नच पूर्वोक्तेन द्वारेण केवलं विधिवाक्येष्वेव सर्वेषु पुरुषार्थानुबन्धिनः कर्मानुष्ठानस्योपयोगि वाक्यार्थज्ञानमध्ययनविधिभावनाभाव्यं संभवति नत्वेतत् समस्तवेदव्यापकम् अध्ययनविधिश्च समस्तवेदव्यापक इति तदानुरूप्याभावात्कथं वाक्यार्थज्ञानं तस्य विधेः प्रयोजनं स्यात् नह्युपनिषद्वाक्येष्वध्ययनविधिसमन्वयोऽद्य यावदपि प्रतिपादित इति वाच्यम् । क्रत्वर्थकर्तृस्वरूपात्मकवाक्यार्थज्ञानरूपद्वारस्य तास्वप्यनपावृततयाऽऽधानादिवाक्योक्तन्यायेन दूरस्थेन क्रतुफलेनैव तासां नैराकाङ्क्ष्यसंभवात् । क्रतुविधिभिर्हि कर्तृस्वरूपज्ञानमतितरामपेक्ष्यते पारलौकिकफलशालिषु कर्मसु कर्तृभोक्तृनित्यात्मज्ञानं विना कस्याचिदपि प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । नहि लौकिकेनाहंप्रत्ययमात्रेण तादृशेषु कर्मसु प्रवृत्तिरुपपादयितुं शक्यते । स्वरसवाहिनस्तस्य देहविषयकताया अपि संभवात् । नचैहलौकिकदेहस्य तादृशफलभोगयोग्यता, इहैव तद्विनाशदर्शनात् । नाप्युक्ताहंप्रत्ययस्य नित्यकर्तृभोक्त्रात्मविषयकत्वेऽपि देहादिविविक्तस्य तादृशस्यात्मनस्तत्र स्फुटतरमवभासः, अहंप्रत्ययस्य गोमयपायसीयन्यायेन देहतादृशात्मोभयसाधारण्यात् । नच नित्ये भोक्तरि विनाशि-

॥ भाषा ॥

स०—जब अङ्गविधियों का उनके अर्थों के अनुष्ठान द्वारा यज्ञ में सम्बन्ध हो सकता है तब किसी वैदिकवाक्यरूपी प्रमाण के बिना, कर्मकाल में उनके पाठ की कल्पना कदापि नहीं हो सकती क्योंकि यदि बिना प्रमाण भी हो सकती तो मन्त्रों के अक्षरपाठ के लिये "उरुप्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि विधिवाक्य व्यर्थ ही हो जाते ।

ख०—उक्त रीति से सब विधिवाक्यों में अध्ययनविधि की घटना यद्यपि हो सकती है तथापि अध्ययनविधि, केवल विधिवाक्यों ही के लिये नहीं है किन्तु समस्त वेद के लिये है और उपनिषद् वाक्यों के विषय में इस अध्ययनवाक्य की घटना अब तक नहीं कही गई है तो कैसे अध्ययनविधि, समस्त वेद के विषय में हो सकता है ?

स०—जैसे अग्नि के आधान का विधिवाक्य, दूर से यज्ञोपकारी होता है वैसे ही देह इन्द्रिय आदि से भिन्न और नित्य जीवात्मा के स्वरूप का ज्ञान कराने के द्वारा उपनिषद वाक्य भी यज्ञोपकारी हैं क्योंकि पारलौकिकफलवाले यज्ञों में कर्त्ता, भोक्ता और नित्य जीवात्मा के ज्ञान बिना, किसी की प्रवृत्ति नहीं हो सकती और ऐसे आत्मा का ज्ञान उपनिषदवाक्यों ही से होता है । लौकिक 'अहं' बुद्धिमात्र से तो ऐसे कर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि शरीर भी उस बुद्धि का विषय हो सकता है जोकि इसी लोक में नष्ट हो जाता है तो पारलौकिक फल किसको होगा ? जिसके लिये प्रवृत्ति हो । और यदि उक्त बुद्धि नित्य आत्मा और अनित्य शरीर इन दोनों को विषय करती है तब भी उसका विषय ऐसा ही हुआ कि जैसे 'गोबर से सनी हुई खीर' अर्थात् उस बुद्धि में आत्मा के वास्तविकरूप का शरीर से मिल जुलकर प्रकाश होता है न कि अलग और ऐसी दशा में पारलौकिकफलवाले यज्ञों में प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसी से आत्मा के वास्तविक रूप के ज्ञानपर्यन्त, अध्ययनविधि का व्यापार, उपनिषदों में भी है ।

ख०—आत्मा का ज्ञान, यज्ञादि के नाईं क्रियारूप नहीं है तो कैसे उसका विधान-,

देहेन्द्रियादिसंघाताभिन्नत्वनिश्चयं विना कस्यचिदपि प्रेक्षावत आत्मनः पारलौकिकफललाभनिर्णयो भवितुमर्हति, नच तं विनाऽत्यन्तादृष्टफलेषु क्रतुषु प्रवृत्तिः, नचोपनिषद्भागा ब्राह्मणविनियुक्ता मन्त्राः, येन तेषां स्वरूपपाठ एव क्रतुषूपयुज्येत। एवंचानारभ्याधीताभिस्ताभिरुपनिषद्भिर्विहितस्य नित्यकर्तृभोक्त्रात्मज्ञानस्यार्थिकसामर्थ्यादेव प्रसिध्यन्ती क्रत्वङ्गता, पूर्वोदाहृतेन ज्ञानस्य फलातिशयलक्षणवीर्य्यवत्तरत्वहेतुतां प्रतिपादयता 'यदेवविद्यये'-त्यादिना वेदवाक्येन द्विवद्धमितिन्यायाद्दृढिमानं नीयते। ज्ञानस्य चाव्यापाररूपतया स्वरूपतोऽविधेयताविरहेऽप्युपासनाऽपरपर्य्यायं ध्यानमेव "आत्मा ज्ञातव्य" इत्यादिभिर्विधीयते। अप्रतिपन्नस्य च स्वरूपस्य ध्यातुमशक्यत्वादेव 'अविनाशी वा अरे अयमात्मे' त्यादिभिर्वाक्यैः क्रियमाणमात्मयथार्थस्वरूपप्रतिपादनं विधिभिरत्यन्तमपेक्ष्यते अतएवार्थवादेष्विव नैतादृशेषु वाक्येषु श्रौतार्थरूपस्वरूपभङ्गमाश्रित्य लक्षणा शक्याऽऽश्रयितुम् तथाच संसारिणो नित्यकर्तृभोक्तृरूपस्यात्मनः स्वरूपं प्रतिपादयन्तीनामुपनिषदां वाक्यार्थज्ञानद्वारेण पुरुषार्थानुबन्धिता निर्व्यूढैव। एवमसंसारिरूपसगुणनिर्गुणात्मज्ञानस्याप्यभ्युदयनिःश्रेयससाधनत्वात्सिद्धार्थप्रतिपादनपराणामप्युपनिषदां यथामतं परोक्षेण "दशमस्त्वमसी" त्यादाविवापरोक्षेण वा वाक्यार्थज्ञानेन पुरुषार्थानुबन्धिताया उपपत्तिर्बुद्धिमद्भिरवधेया।
उपासनाविधिशेषता सोमेश्वरभट्टोक्ता त्वासामयुक्तैव—

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥ इत्यादिश्रुतिविरोधात्।
सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते। पराङ्गं चात्मविज्ञाना-दन्यत्रेत्यवधार्यताम्॥ १॥

इतिव्याकरणाधिकरणस्थभट्टपादीयवाक्यविरोधाच्चेतिध्येयम्। मन्त्रनामधेययोरध्ययनविधिसमन्वयप्रकारस्तु विशेषतो मन्त्रादिप्रामाण्यविचारावसरे दर्शयिष्यते। नच भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपभावनांऽशत्रितयान्यतमानभिधायित्वेनाक्रियार्थत्वादा 'म्नायस्ये' त्यादिसूत्रेणार्थवादादीनामानर्थक्यमाशङ्कितम्, नच तत्क्रियार्थतामनुपपाद्य निराकर्तुं शक्यते, तत्कथं तामनुपपाद्यैव तेषामर्थवत्ता प्रतिपाद्यत इति वाच्यम्। अनन्तरमेव हि भावनांऽशभूतार्थप्रतिपादनेनैव तेषामर्थवत्ता प्रतिपादयिष्यते तन्मैव त्वरिष्ठाः। इदानीं ह्यर्थवादोपयोगस्य द्वारविशेषानभिधानेऽप्यध्ययनविधिबलात्सामान्यतो मन्त्रब्राह्मणात्मकस्य समस्तस्यैव वेदस्य वाक्यार्थज्ञानद्वारा पुरुषार्थोपयोगः सम्यगुपपादितः एतच्च सामान्यतः सर्वोपयोगप्रतिपादनं 'विधिनात्वेकवाक्यत्वा' दितिसूत्रारूढमेव द्रष्टव्यम् 'सूत्रेष्वेवाहितत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्चवार्तिक' इतिन्यायात् अत्र हि तु शब्देनानर्थक्यनिराकरणार्थेन सामान्यतः समस्तस्य वेदस्यार्थवत्त्वं-

॥ भाषा ॥

अध्ययनविधि से हो सकता है ?

स०—"आत्मा ज्ञातव्यः" (आत्मा को अवश्य जाने) इत्यादि वाक्यों से उपासनारूपी ध्यान हीं का विधान है और वह ध्यान, विना स्वरूपज्ञान के नहीं हो सकता इसी से स्वरूपज्ञान के लिये "अविनाशी वा अरे अयमात्मा" (अरे! यह आत्मा कदापि विनाशी नहीं है) इत्यादि उपनिषद वाक्य हैं जिनकी अपेक्षा, कर्मकाण्ड के विधिवाक्यों में भी है इस से सिद्ध हो गया कि जीवात्मा के स्वरूपसमर्पक उपनिषदवाक्यों के विषय में भी अध्ययनविधि का-

प्रतिज्ञायतएव । इतश्च सूत्राच्छ्रुतिवृत्त्या क्रियार्थताया अनवगमेऽपि क्रियाविध्येकवाक्यताया अत्रस्फुटतरमुक्तत्वेन तद्वशादेवार्थवादादिभिर्विध्यपेक्षितप्रशंसादिरूपलाक्षणिकार्थप्रतिपादनस्यावश्याश्रयणीयत्त्वात्तेषां क्रियार्थता प्रतिपादितैव अन्यथा पूर्वपक्षसूत्रस्थस्याक्रियार्थत्वहेतोरेकवाक्यतामात्रेणतदभावानात्मकेन निराकर्तुमशक्यत्वात्सौत्रीयमेकवाक्यतोक्तिर्निष्फलैव स्यादिति ध्येयम् । अथैवं समस्तवेदस्यार्थज्ञानद्वारापुरुषार्थानुबन्धितोपपादनेऽप्यर्थवादानां कस्यार्थस्य ज्ञानं द्वारीकृत्य विध्येकवाक्यताक्रियार्थते स्याताम् । नह्येषां सिद्धार्थोपनिषद्वाक्यानामिव साक्षान्निःश्रेयससाधनज्ञानविषयार्थप्रतिपादकता, येन विनाऽपि क्रियार्थतामिमे प्रामाण्यमासादयितुमीशते सोऽर्थश्चेदानीं यावदपि न प्रतिपादितः। कथं वा, "क्रिया हि भावना तत्प्रतिपादकत्वं च क्रियाऽर्थत्वम्, तच्चार्थवादानां न संभवति नह्यर्थवादैराख्यातैरिव क्रिया स्वरूपतः प्रतिपाद्यते नवा स्वर्गादिपदैरिव भावनायाः कश्चिद्भाव्यांशः नाप्यङ्गविधिभिरिव कश्चिदितिकर्त्तव्यतांऽशः एवंचार्थवादानामर्थस्य भावनांऽशत्रयबहिर्भूतत्वान्न भावनारूपक्रियाऽर्थत्वं तेषां संभवति नच तदन्तरेण तेषां भावनया ग्रहणं संभवती-"

॥ भाषा ॥

अर्थज्ञानपर्यन्त ही व्यापार है । ऐसे ही असंसारी सगुण वा निर्गुण परमात्मा का ज्ञान भी अभ्युदय वा मोक्ष का साधक है और परमात्मा के स्वरूपप्रतिपादक उपनिषद्वाक्यों के विषय में भी अध्ययनविधि का अर्थज्ञानपर्यन्त ही व्यापार है । और मन्त्रों के विषय में अध्ययनाविधि की घटना का प्रकार तो मन्त्रप्रामाण्य के विचारसमयपर कहा जायगा ।

ख०—इतने बड़े प्रकरण से इतना तो निर्णीत हो गया कि समस्त वेद, अपने अर्थज्ञान ही के द्वारा पुरुषार्थ का साधक है परन्तु प्रकृत विषय अभी कुछ भी नहीं सिद्ध हुआ कि " किस अर्थ के ज्ञानद्वारा विधि बाक्यों के साथ अर्थवादवाक्यों की एकवाक्यता होती है " यह तो नहीं कह सकते कि स्वतःसिद्ध आत्मारूप अर्थ के प्रतिपादक उपनिषद् बाक्यों के नाई एकवाक्यता अर्थबादों की हो सकती है, क्योंकि उनकी तो विधिवाक्यों से एकबाक्यता ही नहीं होती, इस में कारण यह है कि उनके अर्थज्ञान ही का मोक्षरूपी फल "तरति शोकमात्मवित्" (आत्मज्ञानी, संसाररूपी दुःख को तर जाता है) इत्यादि श्रुति ही में कहा है । और " वायुर्वै क्षेपिष्ठा" आदि अर्थबादों की एकबाक्यता तो यदि होती है तो कर्मकाण्ड के बिधिबाक्यों ही से होगी और जब अर्थबाद, क्रियार्थ हों तब ही यह एकबाक्यता भी हो सकती है और अर्थबादों का क्रियार्थ होना तो किसी प्रकार संभव में नहीं आता क्योंकि क्रिया नाम, भावना (अनुष्ठान वा करना) का है जिसका स्वरूप प्रथम में बिशेष रूप से कह आये हैं, तथा भावना, एक साध्य (सम्पादन करने योग्य) पदार्थ है तथा अर्थवादवाक्य, वायु आदि सिद्ध ही पदार्थ को कहते हैं इस से क्रिया (भावना) अर्थबादों का अर्थ नहीं हो सकती । और जैसे बिधिबाक्य के स्वर्गादि शब्द, भावना के भाव्यांश को कहते हैं वैसे किसी भाव्यांश को भी अर्थबाद नहीं कहते और न "व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि अङ्गविधियों के नाई किसी इतिकर्त्तव्यतांऽश (प्रक्रिया) को कहते और न अश्वमेधादि के नाई किसी करणांश को कहते । तस्मात् जब भावना और उसके भाव्य, करण, इति कर्त्तव्यता, रूप तीनों अंशों से भी बहिर्भूत (सम्बन्ध नहीं रखते) हैं तब अर्थबाद कैसे क्रियार्थ हो सकते हैं ?

त्यादयः पूर्वपक्षयुक्तयो निराक्रियन्ताम् । नच विधिवाक्यविहितस्य कर्मणः प्राशस्त्यज्ञापकतयैवार्थवादानां विधिवदनुष्ठापकत्वाभावेऽपि क्रियाऽर्थत्वम् प्रशंसायां तेषां लक्षणा तु स्वाध्यायाध्ययनविधिसंबन्धलभ्यपुरुषार्थानुबन्धितोपपादकक्रियाऽर्थतोपपादकैकवाक्यताऽन्यथानुपपत्तिरूपप्रमाणबलादेव सेत्स्यति । तदुक्तम् अधिकरणमालायाम् माधवेन 'स्वाध्यायविधिना वेदः पुरुषार्थाय नीयते । तेनैकवाक्यता तस्माद्वादानां धर्ममानता' इतीति वाच्यम्।

अध्ययनविधिबलेन हि नार्थवादानां श्रौतार्थज्ञानस्याध्ययनफलत्वसिद्धिः ज्ञानमर्यादया तस्य साक्षात्परम्परया वा पुरुषार्थानुबन्धिताया असंभवात् । प्राशस्त्यज्ञानस्य तु नाध्ययनफलत्वं संभवति । तस्य कर्तव्यतायाएवाप्रामाणिकत्वात् नहि रागतो विधितोवा-

॥ भाषा ॥

स०—विधिवाक्यों से विहित यज्ञादिकर्मों की प्रशंसा ही अर्थवाद वाक्यों का अर्थ है कि "ये यज्ञादि कर्म प्रशस्त हैं" इसी से यद्यपि विधिवाक्यों के नाईं ये अर्थवादवाक्य, कर्मों के अनुष्ठान का साक्षात् उपदेश नहीं करते तथापि प्रशंसा के द्वारा परम्परा से भावना के उपकारी हो कर क्रियाऽर्थ अवश्य हैं । और यद्यपि प्रशंसा, जैसे 'प्रशंसा' शब्द का वाच्य है वैसे अर्थवादों का वाच्यार्थ नहीं है तथापि लक्ष्यार्थ अवश्य है क्योंकि अर्थवादवाक्यों की प्रशंसा में लक्षणा होती है और लक्षणा का स्वरूप पूर्व ही कहा जा चुका है तथा लक्षणा में प्रमाण भी पूर्वोक्त अध्ययनविधि, अर्थात् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यही है क्योंकि पूर्वोक्त रीति से इस विधिवाक्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि "अर्थज्ञान के द्वारा समस्त वेद, पुरुषार्थ का साधक है" तो जब अर्थवादवाक्य भी वेद ही में अन्तर्गत हैं तब वे भी अर्थज्ञान के द्वारा पुरुषार्थ के साधक हुई हैं किन्तु अर्थवादों का वाच्यार्थ, सिद्धरूप है इस से वह, यज्ञादि क्रिया में वा किसी अन्य क्रिया में भी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं करा सकता जिस से कि क्रिया के द्वारा पुरुषार्थ का साधक हो, इस कारण अर्थवादों की एकवाक्यता, प्रवृत्तिकरानेवाले विधिवाक्यों के साथ होती है जिस से कि अर्थवाद भी क्रियार्थ हो कर पुरुषार्थ के साधक होते हैं और यह एकवाक्यता, तब हो सकती है कि जब विधिवाक्य के अर्थ में अर्थवाद के अर्थ का सम्बन्ध हो किंतु यह सम्बन्ध अर्थवाद के वाच्यार्थों का नहीं हो सकता क्योंकि विधि का अर्थ अनुष्ठानरूपी असिद्ध अर्थात् साध्य है और अर्थवादों का वाच्यार्थ, सिद्धरूप है इस से इन दोनों के एक होने का संभव नहीं है इसी से प्रशंसा में अर्थवादों की लक्षणा सिद्ध होती है और तब प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ का अनुष्ठानरूपी विध्यर्थ में सम्बन्ध ठीक हो कर विधि और अर्थवाद की एकवाक्यता सिद्ध होती है इसी से विधि और अर्थवाद को मिला कर यह एक वाक्य सिद्ध होता है कि "प्रशस्तेनानेन यज्ञेन स्वर्गं भावयेत्" (इस प्रशस्त यज्ञ से स्वर्ग की भावना करे) इत्यादि ।

ख०—अध्ययनविधि के बल से जैसे यह नहीं सिद्ध हो सकता कि "अर्थवादों के वाच्यार्थ का ज्ञान, उनके अध्ययन का फल है" क्योंकि वे वाच्यार्थ सिद्धरूपी होने से पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार पुरुषार्थ के साधक नहीं हो सकते वैसे ही प्रशंसारूप लक्ष्यार्थ का ज्ञान भी अर्थवादों के अध्ययन का फल, तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उस ज्ञान की कर्तव्यता में कोई दृढ़ प्रमाण न मिलै क्योंकि यह लोकानुभव है कि जिस काम में अपने अनुराग वा विधिवाक्य के अनुसार कर्त्तव्यता नहीं ज्ञात होती वह किसी क्रिया का फल नहीं हो सकता और कर्त्तव्यता ही को-

यस्य भाव्यता ना वगम्यते तदपि कस्यचित्फलत्वेनाङ्गीकर्तुं शक्यते अनुभवविरोधात्। करणवृत्तिर्गौणी भाव्यतेव च कर्त्तव्यता एवंच प्राशस्त्यज्ञानस्य विध्यर्थभावनांऽशे निवेशं विना कर्त्तव्यताऽवगमाभावादध्ययनफलत्वं संभावयितुमपि न शक्यं किमुत साधयितुम्। प्राशस्त्यस्य भावनाऽन्तर्भावस्तूक्तयुक्त्या न संभवत्येवेति चेन्न। प्राशस्त्यज्ञानस्यार्थ्याम्भावनायामन्तर्भावासंभवेऽपि शाब्द्यां तस्यामन्तर्भावस्य सुवचत्वात्। लिङादियुक्तेषु हि वाक्येषु द्वे भावने गम्येते, एका आर्थी द्वितीया शाब्दी। तत्राद्या सर्वाख्यातसाधारणी लकारान्तरेष्विव लिङादिष्वपि गम्यते सा च प्रवृत्तिरूपा। अर्थयतइत्यर्थः फलकामः पुरुषः तस्येयमार्थी इति व्युत्पत्तेः रथोगच्छतीत्यादौ तु लक्षणेति भावार्थाधिकरणे भट्टसोमेश्वरः। तथाच अधिकरणमालायाम् २ अध्याये १ पादे माधवोऽपि—

'सर्वधात्वर्थसंबद्धः करोत्यर्थो हि भावना'॥ इति।

॥ भाषा ॥

गौणी (छोटी) भाव्यता कहते हैं इसी से कर्त्तव्य, भाव्य, फल, इन तीनों शब्दों का एक ही अर्थ है और यह स्मरण रखना चाहिये कि यह पूर्व ही कहा जा चुका है कि 'अर्थवादों का अर्थ, विध्यर्थभावना के तीन अंशों में से किसी अंश में नहीं आ सकता' तो ऐसी दशा में अर्थवादों का प्रशंसारूपी *लक्ष्यार्थ भी अध्ययनविधि के भावनारूपी अर्थ का छोटा भाव्य अर्थात् फल नहीं हो सकता और जब* प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ का ज्ञान, अध्ययनभावना का भाव्य ही नहीं हुआ तब उस की कर्त्तव्यता, अध्ययन विधि से भी नहीं सिद्ध हो सकती। तस्मात् प्रशंसारूप, अर्थवादों के लक्ष्यार्थ को अध्ययनभावना के भाव्यांश में ले आने की प्रबल युक्ति दिखलाना चाहिए और यदि यह न बन पड़े तो अर्थवादों के प्रामाण्य की चर्चा को भी अपनी जिव्हा पर नहीं लाना चाहिए।

स०—सत्य है कि प्रशंसारूपी, अर्थवादों का लक्ष्यार्थ, अध्ययन विधि की आर्थी भावना के किसी अंश अर्थात् भाव्य, करण, इतिकर्त्तव्यता, में कदापि नहीं आ सकता परन्तु अध्ययनविधि की शाब्दी भावना में उसका ले आना बहुत ही सुगम है क्योंकि विधिवाक्यों में, विधान करने वाले 'लिङ्', आदि प्रत्यय अवश्य रहते हैं जिनका व्याकरण के अनुसार 'एत्' 'यात्' आदि अनेक रूप होते हैं जैसे 'यजेत' 'मिनुयात्' इत्यादि, और विधिवाक्यों में दो भावनाओं का बोध होता है उन में एक आर्थी और दूसरी शाब्दी है। मीमांसावार्तिक की टीका न्यायसुधा के निर्माता भट्ट सोमेश्वर के मत से आर्थी भावना का स्वरूप यह है कि अर्थ (अर्थना अर्थात् फल की कामना करने वाला पुरुष) की जो भावना है उसे आर्थी कहते हैं। अर्थात् पुरुष के आन्तरिक प्रयत्न को आर्थीभावना कहते हैं और यह आर्थी भावना केवल लिङ् लोट् ही का नहीं किंतु सब आख्यात (क्रिया शब्द अर्थात् "पचति" पकाता है "खादति" खाता है इत्यादि में 'ति' आदि) का अर्थ है और "रथोगच्छति" रथ जाता है इत्यादि वाक्यों में 'ति' आदि आख्यातों का आर्थी भावना अर्थ नहीं कह सकते क्योंकि रथ अचेतन पदार्थ है और आर्थी भावना पुरुष अर्थात् सचेतनही में रहती है इसलिये ऐसे आख्यातों की क्रियामात्र में लक्षणा होती है अर्थात् ऐसे आख्यातों का क्रियासामान्य लक्ष्यार्थ है जो कि सचेतन और अचेतन अर्थात् सब में रह सकता है। मीमांसा की अधिकरणमाला अ० २ पाद १ में माधवाचार्य ने भी कहा है कि "पचति" 'खादति' आदि शब्दों में 'पच्' 'खाद्' आदि धातु के अर्थ (क्रिया) से सम्बद्ध 'कृ'-

अयमर्थस्तार्किकाणामपि संमतः। अतएव न्यायकुसुमाञ्जलौ ५ स्तवके न्यायाचार्य्योऽपि-भावनैव हि यत्नात्मा सर्वाख्यातस्य गोचरः। तया विवरणध्रौव्यादाक्षेपानुपपत्तितः॥ इति।

प्रवृत्तेश्च, भोजनाय काष्ठादिना पाको भवतु, स्वर्गाय हविरादिना यागो भवत्वित्या दीच्छासमानाकारायास्त्रिविधा विषयता भवति, फलता विधेयतोपादानता च, तत्र भोजन-स्वर्गादिनिष्ठा फलताऽऽख्या विषयतोद्देश्यताऽपरपर्य्याया, यां भाव्यतामाचक्षते यदाश्रयश्चो-देश्यो भाव्यः फलं चोच्यते, स च सुखरूपो दुःखाभावरूपश्च मुख्यो यथा स्वर्गादिः, तत्सा-धनं तु गौणः यथा भोजनादिः। द्वितीया पाकयागादिनिष्ठा साध्यताऽपरपर्य्याया यदाश्रयो विधेयः साध्यः करणं चोच्यते, तृतीया तु पाकयागादिकरणीभूतकाष्ठहविरादिनिष्ठा यदा-श्रयं सिद्धमाहुः।

तदुक्तम् भट्टपादैः

'सिद्धं साध्यं फलं चेति प्रवृत्तेर्विषयस्त्रिधा। तत्रसिद्धमुपादानं क्रिया साध्यं फलं सुखम्॥१॥इति।

अत्र सुखपदमजहत्स्वार्थलक्षणया सुखदुःखाभावतत्साधनपरम् तथा न्यायपरिभा-षायाम् अस्मत्पितामहचरणैरपि "इच्छायत्नादिनिरूपिता फलविषयतोद्देश्यताऽपि प्रकारता-भेदो विशेष्यताभेदश्च व्यवस्थयाऽवसेयः। स्वर्गाय यागो भवत्वित्याद्याकारकेच्छादिनिरूपिता स्वर्गादौ प्रकारतारूपा, यागात्स्वर्गो भवत्वित्याद्याकारकेच्छादिनिरूपिता विशेष्यतारूपा। विधेयताऽपि यागादौ, प्रथमोपदर्शितेच्छादिनिरूपिता विशेष्यतारूपा, उपदर्शितद्वितीयेच्छा-दिनिरूपिता प्रकारतारूपा। विधेयतैवचप्रवृत्तिनिरूपिता साध्यतेति गीयते, उपादानताऽपि,

॥ भाषा ॥

धातु का अर्थ (करना) ही भावना है जो कि 'ति' आदि आख्यातों का अर्थ है इति। और यह बि-षय नयायिकों के भी संमत है क्योंकि न्यायकुसुमाञ्जलि स्तवक ५ में उदयनाचार्य ने भी यह कहा है कि पुरुषों का आन्तरिक प्रयत्न अर्थात् प्रवृत्तिरूपी भावना ही सब आख्यातों का अर्थ है इति। और इस प्रवृत्तिरूपी भावना का यह आकार होता है कि "भोजन के लिये, काष्ठ आदि से पाक, हो" तथा "स्वर्ग के लिये, हवि आदि से याग, हो" इत्यादि। तथा इस प्रवृत्ति का, भोजन स्वर्ग आदि में जो सम्बन्ध है उसका नाम 'फलता' 'उद्देश्यता' और 'भाव्यता' भी है इस से भोजन और स्वर्ग आदि को, 'फल' 'उद्देश्य' और 'भाव्य' भी कहते हैं। तथा मुख्य फल, सुख और दुःख भाव है जैसे स्वर्ग आदि, और मुख्य फल के साधक होने से भोजन आदि भी फल कहलाते हैं इसी से वे गौण फल हैं। और पाक याग आदि में जो उक्त प्रवृत्ति का सम्बन्ध है उसका नाम 'साध्यता' और 'विधेयता' भी है इसी से पाक याग आदि को 'साध्य' 'विधेय' और 'करण' भी कहते हैं। और पाक याग आदि क्रिया के साधक, काष्ठ हवि आदि सिद्ध पदार्थों में जो उक्त प्रवृत्ति का सम्बन्ध है उसे 'उपादानता' कहते हैं इसी से काष्ठ हवि आदि 'सिद्ध' और 'उपादान' कहलाते हैं। इस बात को श्री कुमारिलभट्ट जी ने एक छोटे से श्लोक से कहा है जो कि संस्कृत भाग में लिखा है। और मैंने जो बिशदरूप से उस का विवरणकिया है वह भी मेरे पितामह पूज्यपाद प्रयागदत्त द्विवेदी के रचित न्यायपरिभाषा नामक ग्रन्थ में कहा हुआ है जो कि संस्कृत भाग में लिखा हुआ है। और शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र जी ने तो भावार्थाधिकरण-

यागकरणीभूतहविरादिनिष्ठा प्रवृत्तिनिरूपिता प्रकारताविशेषएवे' त्युक्तम् । पार्थसारथि-मिश्रास्तु, प्रायेण पुरुषधर्मः प्रयोजकव्यापाररूपैव त्वसौ, रथोगच्छतीत्यादावपि गत्यनुकूल-चक्रभ्रम्यादिरूपाऽस्त्येवेति न लक्षणेति भावार्थाधिकरणे वर्णयामासुः । साच "किं करोति, पचति पाकंकरोति" इति च करोतिसामानाधिकरण्यात्सर्वाख्यातवाच्या, करोतिश्च किञ्चिदुत्पाद्यवस्त्वन्तरविषयं प्रयोजकव्यापारमेवाभिधत्ते तस्याश्च पूर्वापरीभूतं सर्वकार-कान्वययोग्यं क्रियारूपमाख्यातेनैवोच्यत इत्यनन्याख्येयो भावार्थ इति तु सर्वमीमांसक-सिद्धान्तः । तदुक्तम् भट्टपादैः

यादृशी भावनाऽऽख्याते धात्वर्थश्चैव यादृशः । नासौ तेनैव रूपेण कथ्यतेऽन्यैः पदैःक्वचित् ॥ इति

इयं च भावना, चेतनप्रवर्तनाऽत्मकविध्यवरुद्धा पुरुषार्थरूपं भाव्यं विना विध्यनुप-पत्त्या पुरुषार्थरूपं भाव्यमवलम्बमाना भाव्यस्यानिर्ज्ञातकरणकत्वादनिर्ज्ञातेतिकर्तव्यता-कत्वाच्चाप्रशान्ताकाङ्क्षा स्वयं शास्त्रीया सती शास्त्रीये एव करणेतिकर्तव्यते गृह्णाति । लौकि-की तु लौकिक्यावेव ते । इयमेव हि भावना मीमांसकमते सर्वतत्तत्कारकविशिष्टत्वरूपेण सर्वत्र वाक्यार्थो नतु नैयायिकानामिव संसर्गो वाक्यार्थः ।

तदुक्तम् तद्भूताधिकरणे भट्टपादैः ।

भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया । अनेकगुणजात्यादि कारकार्थानुरञ्जिता ॥१॥ इति ।
" अर्थैकत्वादेकम् " इत्यादिसूत्रेऽपि -' भावनैव च वाक्यार्थः स्वकारकविशेषिता ' ॥ इति ।

भावना च सर्वैः पदैः कारकविशिष्टत्वेन लक्ष्यते तत्रापि तत्तत्कारकपदैस्तत्तदेकैक-कारकविशिष्टत्वेन । क्रियापदेन तु सर्वकारकविशिष्टत्वेनेतिविशेषः तदुक्तम् २ अध्याये १ पादे १ अधिकरणे शाबरे 'यदि हि धर्मस्वरूपमभिधीयेत ततः "किं पदेन पदेनोच्यते" इति विचारो युज्येत लाक्षणिके त्वयुक्त' इति । तत्रैव वार्तिकेपि 'वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्व-त्रैवेति नः स्थितिः' इति । लक्षणा च पदार्थधर्मो नतु पदधर्मः, अभिहितान्वयवादस्यैव भट्टपाद-सम्मतत्वात् । तस्यचायं निष्कर्षः । पदैः स्वशक्तिवशात् पदार्था अभिधीयन्ते नतु स्मार्यन्ते स्मार्यस्मारकभावातिरिक्तस्य तन्मूलसम्बन्धस्य कल्पनाप्रसङ्गात् एकसम्बन्धिज्ञानं ह्यपरैस-म्बन्धिस्मारकम् नतु स्मारकत्वमेव सम्बन्धः, हस्तिपकादिषु तथा दर्शनात् उक्तं हि भट्टपादैः 'पदमभ्यधिकाभावात्स्मारकान्नविशिष्यते' इति । अस्यच, अज्ञातज्ञापकत्वाभावात्पदं नानु-भावकम् सम्बन्धान्तराभावाच्च न स्मारकम् किन्तु शक्त्या ज्ञानज्ञापकम् स्मारकसदृश-मित्यर्थः किञ्च स्मृतिनियतस्य तत्तोल्लेखस्य पदार्थज्ञानेष्वभावादपि पदं न स्मारकम् । तत्ता-प्रमोषस्य सर्वत्र शब्दस्मृतौ कल्पना तु गुरुतरा प्रमाणनिर्मुक्ता च, स्मृत्यनुभवातिरिक्तं च-

॥ भाषा ॥

में यह कहा है कि भावना, व्यापारविशेषरूप है जिस से कि दूसरी क्रियाएं उत्पन्न होती हैं जैसे कि पुरुष के आन्तरिक व्यापार से पाकक्रिया होती है और व्यापाररूपी भावना प्रायः सचेतन ही में रहती है परन्तु यह नियम नहीं है, क्योंकि "रथो गच्छति" (रथ जाता है) इत्यादि वाक्यों में चक्रभ्रमण आदि व्यापार रूपी भावना हुई है जिस से कि अभिमदेश की प्राप्ति के लिए रथ में गमनरूपी क्रिया होती है । तस्मात् "रथो गच्छति" आदि में भी 'ति' आदि आख्यात का भावनारूपी मुख्यार्थ ही हो सकता है लक्षणा का कोई प्रयोजन नहीं है इति ।

ज्ञानं प्रमाणबलादायातमङ्गीकार्यमेव एवञ्च पदजन्येन स्मृत्यनुभवविलक्षणेन ज्ञानेन विषयीकृताः पदार्था अभिहिता इत्युच्यन्ते। उक्तज्ञानविषयाश्च ते पदार्था एव तादृशपदार्थविषयकमुक्तज्ञानमेववाऽऽकांक्षाद्यनुसारेण स्वान्वयानुभवं स्वविषयार्थान्वयानुभवंवोपजनयन्तीत्येतावता सर्वत्र वाक्यार्थो लक्ष्यत इत्युच्यते। पदेन यद् बोध्यते तच्छक्यं पदार्थेन यद् बोध्यते तल्लक्ष्यमिति नियमात्। यद्यपि गङ्गायांघोषइत्यादौ पदाभिहितपदार्थेन स्मार्यत्वमेव तीरादौ लक्ष्यत्वम् वाक्यार्थे तु तथाभूतैःपदार्थैरनुभाव्यत्वं तादिति विशेषः तथापि पदार्थजन्यबोधविषयत्वमादायैव वाक्यार्थे लक्ष्यत्वव्यपदेशः। अस्मिंश्च मते जातिरूपस्य पदार्थस्य नित्यत्वेन, कथमतीतानामनागतानां चार्थानां साम्प्रतिकेऽन्वयबोधे हेतुत्वमिति शङ्काया नावकाशः। उक्तज्ञानस्यान्वयबोधहेतुत्वे तु सुतराम्। अतएव पदार्थेन पदार्थस्य लक्षणायां पूर्वं सम्बन्धज्ञानमपेक्ष्यते नतु वाक्यार्थे लक्षणायाम्, तस्यानुभाव्यत्वेन पूर्वसम्बन्धज्ञानानपेक्षत्वात् तथाच पदार्थलक्षणायां पूर्वसम्बन्धज्ञानमेव नियामकम् वाक्यार्थलक्षणायां त्वाकाङ्क्षादिकमेवेति परस्परनिरपेक्षमुभयं नियामकम्। एतेनापूर्वे वाक्यार्थे शक्यसम्बन्धितया ज्ञातुमशक्ये कथंलक्षणाप्रसर इति निरस्तम्। पदार्थलक्षणाया एव शक्यसम्बन्धरूपत्वात् अतश्च पदशक्तेः पदार्थोपस्थितावेवोपक्षयात् पदार्थानां चोपस्थितानामन्वयानुभावकत्वान्न सर्वपदलाक्षणिकत्वेऽपि वेदवाक्यानामन्वयानुभावकत्वस्यानुपपत्तिलेशोऽपि। तदुक्तम्भट्टपादैः 'तेन तल्लक्षितव्यक्तेःक्रियासम्बन्धचोदना' इति अत्र तच्छब्देनाकृतिः परामृश्यत इति दिक् अस्यां चार्थभावनायां यद्यपि नार्थवादानां लक्ष्यार्थस्य प्राशस्त्यस्य ज्ञानं कस्मिन्नप्यंशे शक्यमन्तर्भावयितुम्, पूर्वपक्षोक्तानां तत्खण्डनयुक्तीनां दुष्प्रत्यादेशत्वात् नवा तत्र तदन्तर्भावः कैश्चिदिष्यतेऽपि तथापि यस्या इतिकर्तव्यतांऽशे प्रोक्तप्राशस्त्यज्ञानस्यान्तर्भावो भवति सैव द्वितीया लिङादीनामसाधारणोऽर्थः शब्दभावना नाम, यामभिधाभावनामाचक्षते

॥ भाषा ॥

यह तो सब मीमांसकों का सिद्धान्त है कि 'सब आख्यातों का, आर्थीभावना अर्थ है' अब इस भावना के तीनों विषय अर्थात् अंश प्रकट हो गए जैसे लोक में 'पचति' (पाक करता है) इस वाक्य में करनारूपी आर्थी भावना का, पाक भाव्य है, और काष्ठ आदि करण हैं और फूँकना आदि इतिकर्तव्यता है। ऐसे ही वैदिक विधिवाक्यों में भी आर्थीभावना होती है भेद इतना ही है कि उसके तीनों अंश अलौकिक अर्थात् वेदैकगम्य होते हैं क्योंकि वह भावना स्वयं वेदैकगम्य है। यद्यपि इस अर्थभावनाके उक्त तीन अंशोंमें से किसी अंश में अर्थवादों की प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ का आ जाना किसी आचार्य के सम्मत नहीं है और न उसका संभव ही है क्योंकि उसका असंभव, प्रश्नोक्तयुक्तियों से स्पष्ट ही हो चुका है तथापि जिसके इतिकर्तव्यतारूपी अंशमें अर्थवादों का प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ, अन्तर्गत होता है वही लिङ् आदि, विधिरूपी आख्यातों का असाधारण अर्थ, अर्थात् दूसरी भावना है जिसको कि 'शब्दभावना' और 'अभिधाभावना' भी कहते हैं, और उसके भाव्य, करण, इतिकर्तव्यता, रूपी तीनों अंशों को प्राचीन पण्डितों ने इस रीति से कहा है कि वैदिक लिङ् आदि आख्यातों में जो अभिधानामक शब्दभावना है उसका भाव्य, यज्ञों में पुरुषों की प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावनाही है और शाब्दी भावना के साथ लिङादि आख्यातों के-

तस्याश्चभाव्यकरणेतिकर्तव्यतारूपानंशान्विविच्य-

प्राचीनाः प्रोचुः

लिङोऽभिधासैव च शब्दभावना भाव्या च तस्यां पुरुषप्रवृत्तिः ॥
संबन्धबोधः करणं तदीयम् प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥ १ ॥ इति

इमे एव चोभे भावने दर्शिते भावार्थाधिकरणे प्राच्यैः-

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः। अथार्थभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥ इति ।

अभिधीयतेऽनेनेत्यभिधा लिङादिशब्दः तस्य धर्मोऽभिधाभावना शब्दभावनेति यावत्।

॥ अत्रायमाक्षेपः ॥

न तावल्लिङादिष्वर्थभावनाभिन्ना शब्दभावना नाम काचिद्विचारसहा। शब्दभावना-शब्देनहि प्रवृत्त्युत्पादकतामधिकृत्य शब्दश्रवणानन्तरभाविन्याः प्रवृत्तेर्हेतुरभिप्रेयते नचासौ कश्चित्संभवति विकल्पासहत्वात् तथाहि सहि—

(१) लिङादिर्वा ।

॥ भाषा ॥

सम्बन्ध का ज्ञान ही उस का करण है तथा प्रशंसा ही उसका इतिकर्तव्यता है इति। और इन दोनों भावनाओं को भावार्थाधिकरण में भी वार्तिककार श्रीकुमारिलभट्टजी ने यों कहा है कि अभिधा अर्थात् लिङादि आख्यात की भावना एक अलग ही है जो कि लिङादि विधिरूपी आख्यातों ही का अर्थ है और आर्थीभावना तो सब आख्यातों का साधारण अर्थ है और लिङादि विधि भी आख्यात ही हैं इस से आर्थी भावना भी उनका अर्थ है इति। इस से यह स्पष्ट हो गया कि "स्वर्ग कामो यजेत" इत्यादि वैदिक विधिवाक्यों और 'भूखा मनुष्य, भोजन करै' 'रोगी, औषध का सेवन करै' इत्यादि लौकिक विधिवाक्यों में शाब्दी और आर्थी इन दोनों भावनाओं का बोध होता है क्योंकि 'यजेत' आदि में (एत) इत्यादिक शब्द, और 'करै' इत्यादिकों में (ऐ) इत्यादिक शब्द उक्त दोनों भावनाओं के वाचक हैं तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि अर्थवादों का प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ, जिसको कि प्ररोचना भी कहते हैं वह शब्दभावनारूपी विध्यर्थ में अन्तर्गत है इसी से विधिवाक्यों के साथ अर्थवादवाक्यों की एकवाक्यता होती है और उसी के द्वारा अर्थवादवाक्य, धर्म के मूल (प्रमाण) और स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थों के साधक हैं।

॥ आक्षेप ॥

लिङादिविधिरूपी आख्यातों में अर्थभावना से अन्य कोई भावना, विचार करने पर सिद्ध नहीं हो सकती कि जिस का 'शब्दभावना' यह नामकरण हो सकै क्योंकि लिङादिशब्दों के श्रवणानन्तर जो यज्ञ, पाक, खाना, पीना, इत्यादिक क्रियाओं में श्रोतापुरुषों की प्रवृत्ति-(आन्तरिकप्रयत्न-वा-आर्थीभावना) देखी जाती है उसके कारणभूत किसी पदार्थ का 'शब्दभावना' यह नाम रक्खा जाता है और वह पदार्थ, विचार करने पर नहीं ठहर सकता जैसा कि कहा जाता है कि-

(१) क्या वह पदार्थ, लिङादिरूपी आख्यातही है जिस से कि पुरुषों की प्रवृत्ति होती है ?

(२) विलक्षणा काचित्तत्क्रिया वा ।
(३) अभिधा वा ।
(४) आज्ञादिर्वा ।
(५) नियोगो वा ।
(६) इच्छा वा ।
(७) फलनिष्ठं प्रीतिरूपत्वं वा ।
(८) केवला साधनता वा ।
(९) फलधर्मः साध्यता वा ।
(१०) कृतिसाध्यता वा ।
(११) इष्टसाधनता वा ।
(१२) एतयोर्द्वयं वा ।
(१३) इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व, बलवदनिष्टासाधनत्वानि वा ।
(१४) प्रवर्त्तनात्वेन लिङादिवाच्येष्टसाधनत्वैव वा ।
(१५) आप्ताभिप्रायो वा, स्यात् ।
(१) नाद्यः लिङादिशब्दानां प्रवर्तकता हि वायुवत्स्वरूपेण साक्षादेव स्यात्-

॥ भाषा ॥

(२) अथवा लिङादि शब्दों की कोई विलक्षण क्रिया है ?
(३) अथवा अभिधा (लिङादि आख्यातों की शक्ति) है ?
(४) यद्वा आज्ञा आदि है ?
(५) किंवा नियोग (कोई अलौकिक व्यापार) है ?
(६) अथवा इच्छा है ?
(७) यद्वा स्वर्गादिरूपी फल में रहनेवाली प्रीतिरूपता है ?
(८) किंवा केवल, साधक होना है ?
(९) अथवा फलों में रहनेवाली साध्यता है ?
(१०) यद्वा क्रियाओं में रहनेवाली, प्रवृत्ति (कृति) की साध्यता है ?
(११) किंवा स्वर्गादिरूपी इष्ट की साधकता है ?
(१२) अथवा कृति की साध्यता और इष्ट की साधकता ये दोनों है ?
(१३) किंवा ये दो और इष्ट की अपेक्षा अधिक अनिष्ट का साधक न होना, ये तीनों है ?
(१४) यद्वा प्रवर्तना (प्रवृत्ति करना) रूप इष्टसाधकता है ?
(१५) अथवा आप्त (सत्यवादी) पुरुष की इच्छा है ?

(१) प्रथम कल्प (पक्ष) ठीक नहीं है क्योंकि यदि यह स्वीकार किया जाय कि "जैसे वायु अपने ही से साक्षात् तृणआदि में व्यापार उत्पन्न करता है वैसे ही लिङादिक शब्द भी साक्षात् अपने स्वरूप हीसे पुरुषों में प्रवृत्ति को उत्पन्न करते हैं" तो इसमें पांच दोष पड़ते हैं 'पहला' यह कि शब्द अपने अर्थ के बोध कराने ही से प्रमाण कहलाते हैं और लिङादि-

आहोस्वित् कस्मिंश्चित्कर्मणि प्रवृत्तिप्रतिहेतुताया आपादनस्य स्वव्यापारस्य बोधनद्वारा ? नाद्यः तथासति लिङादीनां वायुवदेव प्रमाकरणत्वरूपप्रामाण्यव्याघातापत्तेर्दुर्वारत्वात् किंचैवं सति लिङादीनां वृत्तिज्ञानानपेक्षत्वप्रसङ्गः किंचैवं स्वातन्त्र्यात्स्वप्रकृतिनिराकाङ्क्षत्वापत्तिः अपिच फलकल्पकताऽपि लिङादीनामेवंसति भज्येत, वायुवत्प्रवर्त्तकत्वे फलानुसन्धानोपयोगासंभवात् तथाच विश्वजिन्न्यायविरोधोऽप्यक्रममेवाकामेत् विधिबलेनैव तत्र स्वर्गफलकल्पनस्य प्रतिपादनात् । नापि द्वितीयः प्रवृत्तिसामर्थ्यापादनात्मिकायाः क्रियाया दृष्टफलेषु कारीर्यादिषु स्वरूपसत्या एव प्रवर्त्तकताया दृष्टतया लिङादिभिस्तदभिधानस्य-

॥ भाषा ॥

शब्द जब अपने अर्थ के बोध कराये विना प्रवृत्ति करावेंगे तब वायु के नाईं अप्रमाण हो जायंगे 'दूसरा' यह कि घटादि शब्दों का घड़ा आदि अर्थों में संबन्ध का ज्ञान जिसको प्रथम हो चुका है उसी को घट आदि शब्दों से घड़ा आदि अर्थों का बोध होता है इसी से सब शब्दों का यह स्वभाव है कि श्रोताओं को अपने अर्थ के बोध कराने में वे अपने सम्बन्ध के ज्ञान की अपेक्षा करते हैं और लिङादि भी शब्द ही हैं इस से वे भी अपने सम्बन्ध के ज्ञान की अवश्य अपेक्षा करते हैं इसमें किसी उपपत्ति की अवश्यकता नहीं है क्योंकि ये विषय अनुभवसिद्ध हैं "ऐसी दशा में लिङादि शब्द, यदि वायु के सदृश होते तो उनको अपने सम्बन्धज्ञान की अपेक्षा न होती" इस तर्क (युक्ति) के साथ विरोध पड़ जायगा 'तीसरा' यह कि 'यजेत' आदि में (एत) आदि शब्द, विना यज् आदि शब्द के बोध नहीं कराते हैं तो 'एत' आदि शब्द यदि वायु के सदृश हो जायंगे तो यज् आदि के बिना भी बोध कराने लगेंगे। 'चौथा' यदि लिङादि शब्द, वायुवत् प्रवृत्ति कराते तो फलानुसन्धान के बिना ही तृणादिवत् पुरुषों की प्रवृत्ति हो जाती। 'पांचवां' यह कि जिस विधिवाक्य में कोई फल नहीं कहा है उस में भी लिङादिशब्द के बल से फल की कल्पना होती है जैसे "विश्वजिता यजेत" (विश्वजित् नामक याग से फल का लाभ करै इस वैदिकविधिवाक्य से फल की कल्पना होती है और यह भी निर्णय किया गया है कि फल स्वर्ग ही है) तो यदि लिङादि शब्द वायुवत् प्रवृत्ति कराते तब फलानुसन्धान के बिना ही उनसे प्रवृति हो जाती इस कारण स्वर्गादि फल की कल्पना ऐसे वाक्यों में नहीं हो सकती इति। और यदि यह कहा जाय कि "लिङादिक शब्द ऐसे व्यापार का बोध कराते हैं जिस से कि यज्ञादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है अर्थात् यज्ञादिकर्मों में एक ऐसी शक्ति है कि जिस से उनमें पुरुषों की प्रवृत्ति होती है और वही शक्ति लिङादिशब्दों का अर्थ है इसी से उस शक्ति का बोध लिङादि शब्द कराते हैं" तो इसमें यह दोष पड़ेगा कि "कारीर्या वृष्टिकामो यजेत" (कारीरी नामक यज्ञ से वृष्टि की भावना करे) इत्यादि वैदिकविधियों में 'एत' आदि (लिङादि) शब्द व्यर्थ हो जायंगे क्योंकि जलवृष्टि आदि फल प्रत्यक्षपदार्थ हैं और उनके सिद्ध करने की शक्ति भी कारीरी आदि यज्ञों में लोकसिद्ध है जैसे कि तृप्ति की सिद्धिशक्ति भोजन में। इसरीति से जब वह शक्ति लोकसिद्ध ही है तो 'एत' आदि शब्दों से उसका बोध कराना व्यर्थ ही है। तात्पर्य यह है कि कार्य और कारण जब लोकप्रसिद्ध हैं तब शब्द से कारण की शक्ति का बोध कराना व्यर्थ ही है इसी से उस शक्ति से प्रवृत्ति तो होती है परन्तु वह शक्ति वैदिक लिङादिशब्द का अर्थ ही नहीं हो सकता क्योंकि वैदिकलिङादि से उसी अर्थ का बोध होता है जो अन्य प्रमाण से प्राप्त नहीं है

वैयर्थ्यप्रसङ्गात् अनभिधाने चानन्तरोक्तदूषणगणाक्रमणस्य दुर्वारत्वात् ।

(२) न द्वितीयः अलौकिक्यां प्रेरणात्मिकायां क्रियायामलौकिकत्वादेव लिङादीनां वृत्तिग्रहासंभवेन तैर्दुरभिधानायास्तस्याः प्रवर्तकताया दूरपलायितत्वात् किंच कथंचित्तदभिधानेऽपि न तस्याः प्रवर्त्तकत्वसंभवः । लोके प्रेरयितूराजादेरिव लिङादिशब्दानां स्वतः फलदातृत्वस्यासंभवेन प्रवर्त्तनीयपुरुषैरवधारयितुमशक्यत्वात् किंच प्रवृत्तिजनने लिङादिशब्दः प्रधानं, प्रेरणा वा, नाद्यः लिङादेः साक्षात्पुरुषार्थोपयोगितायां मानाभावेन तस्य फलकल्पकताया अपि दुष्कल्पतापातात् । न द्वितीयः प्रेरणात्मिकायाः क्रियाया लिङादिशब्दव्यापारत्वज्ञानं विना प्रवृत्त्यनुपपत्त्या तत्र शब्दव्यापारत्वज्ञानस्य प्रवृत्त्युपपत्तये ऽत्यन्तमावश्यकतया लिङादिशब्दव्यापारत्वेन प्रेरणात्मकक्रियाया लिङाद्यभिधेयत्वकल्पनाऽऽपत्तौ तेषां स्वात्मकशब्दस्वरूपाभिधायिताया: सकलमीमांसकानिष्टायाः कल्पनापत्तेः।

(३) नतृतीयः अर्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्या सहजत एव क्लृप्तस्याभिधानरूपव्यापारस्य-

॥ भाषा ॥

और इसी से वैदिक वाक्य सप्रयोजन भी हैं नहीं तो "तृप्ति के लिये भोजन करे" इत्यादि लौकिक वाक्यों के नाईं वे व्यर्थ ही हो जाते इति ।

(२) दूसरा कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि दूसरे कल्प में तीन दोष पड़ते हैं (एक) यह कि 'प्रेरणारूप अलौकिक व्यापार में लिङादिशब्दों का सम्बन्ध ज्ञात ही नहीं हो सकता क्योंकि वह लोकसिद्ध ही नहीं है तथा सम्बन्धज्ञान, शब्दों का घटादिरूपी लोकप्रसिद्ध ही पदार्थ में हुआ करता है और ऐसी दशा में उस अलौकिक प्रेरणा से, जिसको कि लोग नहीं जानते पुरुषों की प्रवृति होने की आशा दूर ही भागती है । (दूसरा) यह कि यदि किसी रीति से उक्त संबन्धज्ञान भी हो जाय तो भी उक्त प्रेरणा से प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि लोक में राजा आदि की प्रेरणा से उन्हीं पुरुषों की कर्मों में प्रवृत्ति होती है कि जो यह जानते हैं कि राजा, स्वतन्त्र हो कर कर्म का फल दे सकता है" और लिङादिशब्द तो स्वतन्त्र हो कर फल नहीं दे सकते तो इनकी प्रेरणा से कैसे किसी काम में किसी की प्रवृत्ति हो सकती है । (तीसरा) यह कि प्रवृत्ति कराने में लिङादि शब्द प्रधान हैं, वा प्रेरणा ? यदि लिङादिशब्द प्रधान हैं तो उन से किसी फल की कल्पना नहीं हो सकेगी क्योंकि वे किसी पुरुषार्थ को साक्षात् नहीं सिद्ध कर सकते । और यदि प्रेरणा प्रधान है तो प्रेरणामात्र के ज्ञान से किसी विवेकी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं हो सकती क्योंकि प्रेरणा उलटी पुलटी भी हुआ करती है इससे यह कहना पड़ेगा कि वैदिक लिङादिशब्दों की प्रेरणा के ज्ञान से पुरुषों की प्रवृत्ति होती है क्योंकि वेद स्वतः प्रमाण है, तो प्रवृति का कारण, वैदिक लिङादिशब्दों की प्रेरणा हुई न कि केवल प्रेरणा । और ऐसी दशा में वैदिक लिङादिशब्द भी प्रवृत्ति के कारण ही में अन्तर्गत हो गये और "ऐसा प्रवृत्तिकारण" जब लिङादि शब्द का अर्थ हुआ तब लिङादिशब्द भी लिङादिशब्द के अर्थ हो जायेंगे और ऐसा होना सबी मीमांसकों के विरुद्ध है ।

(३) तीसरा कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उसका यह आशय है कि अभिधा, शब्द की उस शक्ति का नाम है जिस से अर्थ का बोध होता है और यह शक्ति लोक में प्रसिद्ध ही है और लिङादि भी शब्द ही हैं इस से उनमें भी उक्त शक्ति आप ही से स्थित है उसकी कल्पना करने की कोई अवश्यकता नहीं है प्रवृत्तिरूपी आर्थी भावना का बोध करा कर वही पुरुषों की

प्रवृत्तिहेतुतारूपप्रवर्तनात्वं कल्पयित्वा लिङ्वाच्यत्वस्वीकारे प्रवर्त्तनात्वेनार्थभावनाबोधन-रूपस्याभिधाव्यापारस्याख्यातान्तरेष्वपि संभवात्तेभ्योऽपि प्रवृत्त्यापत्तिः। यदि त्वाख्याता-न्तरार्थाद्विध्यर्थे कश्चिद्विशेषः प्रवृत्तिरूपकार्य्यविशेषदर्शनात्कल्प्यते तदा तस्यैव प्रवर्त्तक-त्वलिङाद्यर्थत्वयोरौचित्यादभिधायास्ते एव भज्येयाताम् अथ लिङाद्यभिधेयत्वमेव तत्र विशेष इत्युच्यते तदा त्वभिधायां प्रवृत्तिहेतुत्वस्य स्वतएवक्लृप्तत्वात्स्वरूपसत्या एव तस्याः प्रवर्तकतासंभवेन तत्र लिङाद्यभिधेयतायाः कल्पनैव व्यर्था स्यात्। प्रयोजनं विनैव तत्क-ल्पने तु विशेषाभावादाख्यातान्तरेष्वपि तत्कल्पना प्रसज्येत। नच कार्य्यान्यथानुपपत्त्या-ऽप्यभिधानव्यापारस्य न प्रवर्तनात्वेन बोधः संपादयितुं शक्यत इति तेन रूपेण तद्बोधा-र्थमेव तस्य लिङाद्यभिधेयत्वमङ्गीक्रियते, प्रवर्तनात्वेन बोधश्च नाख्यातान्तरेष्विति नाभि-धाया आख्यातान्तराभिधेयत्वापत्तिरिति वाच्यम्। विकल्पासहत्वात्। तथाहि। किमभिधान-व्यापारस्य लिङादिना बोधनात्प्राक् प्रवर्तकत्वशक्तिरास्ति न वा, अस्ति चेत्, व्यर्थमेव तस्य लिङाद्यभिधेयताकल्पनम्। प्रवर्त्तनात्वेन तद्बोधस्यैव निष्फलत्वात्। नास्ति चेत्, तदन-न्तरमपि केनासावुत्पाद्यताम् प्रवर्त्तनात्वेन बोधस्यात्मधर्मस्य व्यापारधर्मभूतां ताम्प्रति हेतुत्वासंभवात् तथाच प्रवर्तकतैव मिथ्या स्यादिति महदनिष्टम्।

॥ भाषा ॥

प्रवृत्ति को उत्पन्न करती है इससे उसको प्रवर्तना कहते हैं और लिङादिशब्द का अर्थ भी वही है इति। इसमें यह दोष है कि प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का बोध, लिङादि से अन्य आख्यातों (पकाता-खाता-पीता-है, इत्यादि में 'ता' आदि) में भी होता है तो उन आख्यातों से भी प्रवृत्ति हो जायगी और यह तो कह नहीं सकते कि "लिङादि के अर्थ में कोई ऐसा विशेष है कि जिसके बल से प्रवृत्ति होती है और वह विशेष अन्य आख्यातों के अर्थ में नहीं है इसी से उनसे प्रवृति नहीं होती" क्योंकि तब वही विशेष, प्रवर्तना और लिङादि का अर्थ है और अभिधा, प्रवर्तना वा लिङादि का अर्थ नहीं हो सकती। और यदि यह कहा जाय कि "अभिधा में यही विशेष है कि वह लिङादि का अर्थ है अर्थात अभिधा का यह स्वभाव है कि जब वह दूसरे आख्यातों से कही जाती है तब प्रवृत्ति नहीं कराती और लिङादि से जब कही जाती है तब प्रवृत्ति कराती है" क्योंकि तब तो अभिधा को लिङर्थ मानना निष्प्रयोजन हो जायगा क्योंकि यह तो प्रसिद्ध ही है कि लिङादि शब्दों की अभिधा, प्रवृति कराती है और यदि बिना प्रयोजन के भी अभिधा को लिङादि का अर्थ माना जाय तो क्यों न वह दूसरे आख्यातों की वाच्य मानी जाय।

(समाधान) दूसरे आख्यात, अभिधा को यों नहीं बतलाते कि यह प्रवृत्ति का कारण है क्योंकि अभिधा उनका अर्थ ही नहीं है और लिङादि शब्दों का तो अभिधा अर्थ है इसी से वे बतलाते हैं कि अभिधा प्रवृत्ति का कारण है और इसी बतलाने से प्रवृत्ति होती है और ऐसे बतलाने ही के लिये अभिधा, लिङादिकों का अर्थ मानी जाती है।

(खण्डन) "अभिधा प्रवृत्ति का कारण है" ऐसा बतलाने के पूर्व समय में अभिधा में प्रवृत्ति कराने की शक्ति है वा नहीं? यदि है तो वैसा बतलाने का प्रयोजन ही क्या है? क्योंकि उसी शक्ति से प्रवृत्ति हो जायगी इसी से अभिधा को लिङर्थ मानना व्यर्थ है। और यदि उक्त बतलाने के पूर्व, लिङादि शब्दों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति नहीं है तो बतलाने के अनन्तर भी उस-

(४) न चतुर्थः उत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्त्तनारूपायाः प्रेषणापरपर्य्यायाया आज्ञाया ज्ञानविशेषात्मकतया पुरुषधर्मतानियमेनापौरुषेयवेदघटकलिङादिवाच्यत्वासंभवात् एतेन निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्त्तनारूपाया अध्येषणायाः प्रार्थनापरपर्य्यायायाः समस्य समं प्रति प्रवर्तनारूपाया अनुमतेरनुज्ञाऽपरपर्य्यायायाश्च लिङादिवाच्यता प्रत्याख्याता।

(५) न पञ्चमः नियोगापरनामकस्य कार्य्यस्य प्रमाणान्तरागोचरतया तत्र शक्तिग्रहासंभवेन तस्य लिङादिवाच्यत्वस्वतन्त्रप्रवर्त्तकत्वयोरुभयोरपि खपुष्पपरिमलायमानत्वात्। अथ लिङादियुक्तवाक्यश्रवणानन्तरं स्वस्थस्वतन्त्रस्य प्रवृत्तिं दृष्ट्वा बालो आत्मदृष्टान्तेन तस्य वाक्यस्य कार्य्यधीहेतुतामनुमाय लिङादीनां कार्य्यवाचकत्वं कल्पयन्तीति सुघट एव कार्य्ये शक्तिग्रहः। तथाहि। गामानयेति केन चिन्निपुणेन नियुक्तः कश्चन व्युत्पन्नस्तद्वाक्यतोऽर्थं प्रतीत्य गवानयनङ्करोति तच्चोपलभमानो बाल इदं गवानयनं स्वगोचरप्रवृत्तिजन्यम्, चेष्टात्वात्, मदीयस्तनपानादिवत्, इत्यनुमाय, सा गवानयनप्रवृत्तिः स्वविषयधर्मिककार्य्यताज्ञानजन्या, प्रवृत्तित्वात्, निजप्रवृत्तिवदितिप्रवृत्तेर्गवानयनधर्मिककार्य्यताज्ञानजन्यत्वं प्रसाध्य-

॥ भाषा ॥

शक्ति को कोई नहीं उत्पन्न कर सकता है तो प्रवृत्ति नहीं होगी।

(४) चौथा कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि छोटों के प्रति बड़ों की प्रेरणा (काम में लगाना) को आज्ञा और प्रेषणा कहते हैं। तथा बड़ों के प्रति छोटों की प्रेरणा को प्रार्थना और अध्येषणा कहते हैं। और तुल्य पुरुषों के प्रति तुल्य पुरुषों की प्रेरणा को अनुमति और अनुज्ञा भी कहते हैं। ये तीनों, ज्ञानविशेषरूपी होने से सचेतन ही के धर्म हैं और वेद तो अपौरुषेयशब्द रूपी है इसी से उसके लिङादिशब्द भी अचेतन ही हैं और उनकी रचना करनेवाला भी कोई नहीं है जिसको कि चेतन बतला सकें, तो ऐसी दशा में संभव ही नहीं हो सकता कि आज्ञा, प्रार्थना और अनुमति इन तीनों में से कोई, वैदिक लिङादिशब्दों के अर्थ हो सकेंगे।

(५) पांचवां कल्प भी निर्दोष नहीं है क्योंकि जिस कार्यरूपी वस्तु का मीमांसकों ने नियोग नाम रक्खा है वह अत्यन्त अप्रसिद्ध अर्थात् किसी प्रमाण का विषय नहीं है तो ऐसी वस्तु में वैदिकलिङादिशब्दों का सम्बन्ध, आकाशपुष्प के सुगन्ध के नाईं मिथ्या ही है और ऐसी वस्तु से प्रवृत्ति होने की आशा भी शशशृङ्ग से धनुष बनाने की आशा से न्यून नहीं है।

(समाधान) उक्त नियोगरूपी कार्य में लोकप्रसिद्ध और अत्यन्त दृढ़ प्रमाण यह है कि छोटे बालक (जो किसी शब्द का अर्थ नहीं जानता) के समक्ष जब कोई व्युत्पन्न (सयाना) पुरुष ने किसी दूसरे व्युत्पन्न पुरुष से यह कहा कि "गौ ले आओ" और वह नियोज्य पुरुष, गौ ले आता है तब नियोज्य और नियोजक पुरुष के इन व्यवहारों अर्थात् शब्दों के बोलने और काम के करने को सुनता और देखता हुआ बालक, प्रथम २ यह अनुमान करता है कि "जैसे मेरी स्तनपानरूपी चेष्टा, मेरी आन्तरिक प्रवृत्ति से होती है वैसे ही इस नियोज्य की गौ ले आने की भी चेष्टा इसकी आन्तरिक प्रवृत्ति से हुई है" उसके अनन्तर पुनः यह दूसरा अनुमान करता है कि जैसे "स्तनपान मुझे करना चाहिये" इस मेरे ज्ञान से मेरी प्रवृत्ति स्तनपान में होती है वैसे ही "मुझे गौ ले आना चाहिये" इस ज्ञान से इस नियोज्य की गौ ले आने में प्रवृत्ति हुई है। (इसी ज्ञान को कार्यताज्ञान कहते हैं) तब तीसरा अनुमान यह होता है कि जैसे मेरी तृप्ति का, स्तनपान-

गवानयनगोचरतज्ज्ञानमसधारणहेतुकम् कार्य्यत्वात् मत्तृप्तिवदित्येवमनुमिन्वानः संमुपस्थित-त्वाद्वाघवाच्च श्रुतं वृद्धवाक्यमेव तदसाधारणकारणत्वेनावधारयति तदनन्तरं च विधिवाक्य-घटकपदानां प्रत्येकमावापोद्वापाभ्यां कार्य्यबुद्धौ लिङादीनां जनकत्वमवगत्य कार्य्येलिङा-दीनां शक्तिं गृह्णातीति। एवं षष्ठाध्यायस्य प्रथमाधिकरणे, कार्य्यं नियोज्येनात्मनः कार्य्य-तया ज्ञातमिति स्थापितम्। नियोगश्च तस्य स्वसम्बन्धिकार्य्यबोधएव, तद्विषयभूतं कार्य्यं च काम्यमानस्य स्वर्गादेरुपाय एव, तस्यैव कामिना स्वकार्य्यत्वेनावधार्य्यमाणत्वात्। स्वर्गाद्यु-पायत्वं च क्षणिकासु क्रियासु न संभवतीति क्रियातो भिन्नं स्वर्गादिसाधनमलौकिकम-पूर्वपर्य्यायं कार्य्यमेव वैदिकलिङामर्थः, तद्विषयकश्च नियोगाख्यो बोधस्तादृशबोधविषयतापन्नं तत्कार्य्यमेव वा प्रवर्तकमिति नानुपपत्तिगन्धोऽपीति चेन्न। अपूर्वस्य कार्य्यत्वं हि कृत्यु-द्देश्यतारूपं वा स्यात् अनुष्ठेयतारूपं वा, नाद्यः पुरुषार्थत्वाभावेन कृत्युद्देश्यतायास्तत्रा-संभवात्। न द्वितीयः। तस्य व्यापारत्वाभावेनानुष्ठेयत्वायोगात् व्यापारत्वे च स्वत-न्त्रताव्याघातात् किंच तस्य वस्तुनो व्यापारत्वाभावान्नियोगविषयतैव न स्यात्। एतेन-

॥ भाषा ॥

कारण है वैसे ही "मुझे गौ ले आना चाहिये" इस कार्यताज्ञान का भी कोई विशेष कारण अवश्य है। इन तीन अनुमानों के अनन्तर बालक के अन्तःकरण में यह विचार होता है कि इस नियोज्य के उक्त कार्यताज्ञान का कारण क्या है? और दूसरे किसी कारण को न देख कर सुने हुए इस नियोजकवाक्य (गौ ले आओ) ही को, नियोज्य के कार्यताज्ञान (मुझे गौ ले आना चाहिये) का कारण, बालक निश्चय करता है। उसके अनन्तर 'गौ बांधो' 'घोड़ा ले आओ' इत्यादि वाक्यों और उनके कामों को सुनता और देखता हुआ वही बालक पदों और अर्थों के अदल बदल के अनुसार यह निश्चय करता है कि गौ आदि शब्दों का पशुविशेष और 'ले आओ' इत्यादि लिङादियुक्त शब्दों का क्रियाविशेषरूपी कार्य, अर्थ है। और मीमांसादर्शन अध्याय ६ अधिक० १ में भी यह कहा है कि "नियोज्य पुरुष, यागादिक्रिया को अपना कार्य जानता है" इस पूर्वोक्त विवेक के अनुसार यह व्यवस्था की जाती है कि वैदिक विधिवाक्यों से नियोज्यपुरुषों को जो यह बोध होता है कि "याग मेरा कार्य है" इसी बोध का नाम नियोग है और प्रार्थित स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के उपाय ही को कार्य कहते हैं और यागादिरूपी क्रिया, प्रतिक्षण नष्टहोनेवाली है इससे वह, चिरभावी स्वर्गादि का उपाय नहीं हो सकती इसलिये यागादिरूपी क्रिया से उत्पन्न और स्वर्गपर्यन्त रहनेवाला, आत्मनिष्ठ पदार्थ (जिस को अपूर्व कहते हैं) माना जाता है उसी को कार्य कहते हैं तथा वही वैदिक लिङादिशब्दों का अर्थ, और शाब्दी भावना भी है। और उक्त नियोगरूपी बोध ही यागादि-क्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है निदान-जैसे लोक के लिङादिशब्दों का, ले आना आदि कार्य अर्थ है वैसे ही वेद के लिङादिशब्दों का, अपूर्वरूपी कार्य अर्थ है और जैसे लौकिक, गौ लेआने आदि कार्य में उक्त कार्यताज्ञान (मुझे गौ ले आना चाहिए) से नियोज्य पुरुषों की प्रवृत्ति होती है वैसे ही वैदिक यागादिक्रियाओं में भी नियोग (याग मेरा कार्य है यह ज्ञान) रूपी शाब्दी-भावना से नियोज्यपुरुषों की प्रवृत्ति होती है। यह प्रभाकर गुरू का मत है।

ख० (१) कार्यता (कार्यहोना) दो प्रकार की होती है। एक, आन्तरिकप्रवृत्तिरूपी कृति (व्यापार) की उद्देश्यता (उद्देश्य होना) जोकि क्रियाओं के फल अर्थात् पुरुषार्थ में रहती-

[illegible] स्वात्मनि नियोक्तृत्वादपूर्वमेव नियोगइत्यप्यपास्तम् किंच नित्याधिकारेषु निषेधाधिकारेषु च फलाभावात्फलोपायतया कल्पितस्य क्रियातिरिक्तस्य कार्य्यस्य सिद्धिरपि दुरुपपादा। नचैवमपि कृत्युद्देश्यत्वरूपं कार्य्यत्वमेव स्वर्गादिनिष्ठं प्रवर्त्तकमास्तामिति वाच्यम्। तथासति तच्छालिनः फलस्यैव प्रसिद्धतया प्रवर्त्तकत्वापत्तेः नचेष्टापत्तिः तस्य स्वर्गादिपदैरुक्तत्वेन लिङादिवाच्यत्वानुपपत्त्या लिङर्थस्य प्रवर्त्तकताया इष्टाया एवोच्छेदापत्तेः।

(६) न षष्ठः इच्छाया हि यद्यपिप्रवृत्त्यव्यभिचारित्वात्समानविषयताप्रत्यासत्त्या साक्षादेव प्रवृत्तिहेतुत्वं सर्वसम्मतम् तस्यैव च प्रभावादिच्छाजनकानामन्येषामपि प्रवर्त्तकत्वं भवति तथापि न तस्या लिङाद्यर्थता संभवति। तथासति तस्याः पुरुषव्यापारतया पुरुषस्यैव प्रवर्त्तकत्वापत्तेः नचासाविष्टा, वैदिकलिङादिस्थले तस्य प्रवर्त्यताया एव दृष्टत्वात्। किंचेच्छायाः स्वरूपसत्या एव प्रवर्त्तकत्वात्तत्र लिङाद्यभिधेयतायाः कल्पना व्यर्थैव। किंच-

॥ भाषा ॥

है। दूसरी, उसी कृति की साध्यता (साध्य होना) जिसको अनुष्ठेयता (अनुष्ठान अर्थात् करने की योग्यता) भी कहते हैं जो कि क्रिया में रहती है। अब ध्यान देना चाहिये कि ये दोनों कार्यताएं अपूर्वरूपी नियोग में नहीं हो सकतीं क्योंकि न वह पुरुषार्थरूपी है और न क्रियारूपी, पुरुषार्थरूपी न होना तो प्रत्यक्षसिद्ध ही है और यदि उस को क्रियारूपी मानें तो उसकी स्वतन्त्रता जाती रहेगी क्योंकि क्रिया, कर्ता के अधीन हुआ करती है।

ख० — (२) सन्ध्यावन्दनादिरूपी नित्य कर्म (जिसके करने से कोई फल नहीं और न करने से पाप होता है) के विधिवाक्यों में और ब्रह्महत्यादि के निषेधवाक्यों में उक्त अपूर्वरूपी कार्य की कल्पना ही नहीं हो सकती क्योंकि सन्ध्यावन्दनादि के करने और ब्रह्महत्यादि के न करने से कोई फल नहीं होता इसी से वहां क्रिया और क्रिया के अभाव से अन्य, अपूर्वरूपी कार्य की कल्पना नहीं हो सकती। यह तो कह नहीं सकते कि स्वर्गादिरूपी फल ही कार्य है, क्योंकि कृति की उद्देश्यता यद्यपि उसमें है तथापि यदि वह कार्य है तो प्रवृत्ति भी उसके ज्ञान से हो जायगी और यदि उसी को प्रवर्त्तक मान लिया जाय तो यह सिद्धान्त नष्ट हो जायगा कि "लिङादि ही के अर्थज्ञान से प्रवृत्ति होती है" क्योंकि स्वर्गादि कार्य, लिङादिशब्द का अर्थ नहीं है किन्तु स्वर्गादिशब्द ही का।

(६) छठां कल्प भी युक्त नहीं है क्योंकि उसमें तीन दोष पड़ते हैं। एक, यह कि इच्छा, लिङादिप्रत्यय का अर्थ नहीं हो सकती क्योंकि इच्छा, प्रवृत्ति का कारण और पुरुषार्थ का व्यापार है और जिसके व्यापार से प्रवृत्ति होती है वही प्रवर्तक कहलाता है तो जैसे "गामानय" (गौ ले आओ) इत्यादि लौकिकलिङादि का वक्ता पुरुष ही प्रवर्तक होता है वैसे ही वैदिकलिङादि के स्थल में भी इच्छा करनेवाला पुरुष ही प्रवर्तक हो जायगा जैसा कि किसी के संमत नहीं है क्योंकि सिद्धान्त यही है कि वैदिकलिङादिशब्द ही प्रवर्तक हैं और इच्छाकरनेवाला पुरुष तो उनका प्रवर्त्य (आज्ञाकारी) है। दूसरा दोष यह है कि शब्द तो अर्थ के ज्ञान के लिये कहा जाता है और इच्छा का यह स्वभाव है कि वह अपने स्वरूप ही से प्रवृत्ति कराती है न कि ज्ञान से, तो ऐसी दशा में जब लिङादिशब्द से इच्छा के ज्ञान कराने के बिना भी प्रवृति हो सकती है तब इच्छा को लिङादिशब्द का अर्थ स्वीकार करना व्यर्थ ही हो जायगा। तीसरा दोष यह है कि-

ज्ञायमानायास्तस्याः प्रवर्त्तकत्वाङ्गीकारेऽपि तस्याः स्वप्रत्यक्षैकगम्यत्वादेव न तत्र लिङ्गाद्यर्थतायाः किमपि फलम्।

(७) न सप्तमः तथासति प्रीतिरूपत्वरूपलिङ्गर्थस्य प्रवर्त्तनात्वेन तदाश्रयेषु फलेष्वेव प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। यदितु फलस्य व्यापाररूपताविरहेण प्रवृत्तिविषयत्वासंभवादगत्यान्यायेन तत्साधने व्यापारे प्रवृत्तिरुपपाद्यते तदा व्यापारनिष्ठायाः साधनताया एव लाघवात्प्रवर्त्तनात्वलिङ्गाद्यर्थत्वे स्यातामित्यनन्तरोत्तरकल्पएवास्य कल्पस्यान्तर्भावापत्तिः सच कल्पो दूष्यत एव। तथाहि—

(८) नाष्टमः तथासति व्यापारस्यैव प्रवर्त्तकत्वापत्तेः नचेयमिष्टा, तस्य साध्यताऽऽरूयविधेयतारूपप्रवृत्तिविषयताशालितया प्रवृत्तेः प्रागभावेन तां प्रति हेतुत्वासंभवात्।

(९) अतएव न नवमः फलस्यापि प्रवृत्तेः प्रागभावात्, फलेष्वेव प्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च।

(१०) न दशमः अनुष्ठेयताऽपरपर्य्यायायाः कार्य्यतारूपायाः कृतिसाध्यताया उक्त-

॥ भाषा ॥

थोड़े समय के लिये यदि यह मान भी लिया जाय कि "इच्छा के स्वरूप से नहीं प्रवृत्ति होती किन्तु उसके ज्ञान से" तब भी ज्ञानसुखादि के नाईं इच्छा का भी मन हीं से ज्ञान हो सकता है पुनः उसके ज्ञान के लिये लिङादिशब्दों का प्रयोग व्यर्थ ही है।

(७) सातवां कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि इस कल्प के स्वीकार में प्रीतिरूपी स्वर्गादिफल ही में प्रवृत्ति हो जायगी न कि क्रिया में क्योंकि प्रीतिरूपतारूपी लिङर्थ ही प्रवृत्ति का कारण है वह तो फलों ही में है। यदि यह कहा जाय कि प्रवृत्तिरूपी कृति, क्रिया ही में होती है न कि फल में, केवल इतना है कि "यह क्रिया इस फल का साधक है" इस ज्ञान से क्रिया में प्रवृत्ति होती है और स्वर्गादिफल तो किसी दूसरे फल का साधक नहीं होता, तो उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, तब तो लाघव से यही स्वीकार करना उचित होगा कि "यागादिक्रियाओं में जो स्वर्गादिरूपी फल की साधकता है वही लिङादिशब्दों का अर्थ है" क्योंकि उसी के ज्ञान से क्रियाओं में प्रवृत्ति होती है। और यदि ऐसा माना जाय तो सातवां कल्प ही टूट कर आठवें कल्प में अन्तर्गत हो जायगा।

(८) आठवां कल्प भी उचित नहीं है क्योंकि साधकता (फल का कारण होना) यदि लिङादिशब्द का अर्थ है तो वह क्रिया ही में रहती है इसलिये क्रिया ही प्रवृत्ति का कारण हो जायगी और क्रिया का, प्रवर्तकहोना कदापि इष्ट नहीं है क्योंकि प्रवृत्ति के पूर्वकाल में क्रिया रहती ही नहीं किंतु प्रवृत्ति के उत्तरकाल में प्रवृत्ति ही से क्रिया उत्पन्न होती है।

(९) नवम कल्प भी युक्त नहीं है क्योंकि यदि स्वर्गादिफल में रहनेवाली साध्यता, लिङादिशब्दों का अर्थ है तो फल ही प्रवृत्ति का कारण हो जायगा और यह भी इष्ट नहीं है क्योंकि फल तो क्रिया से भी उत्तरकाल में होता है इससे प्रवृत्ति के पूर्वसमय में उसके रहने की संभावना ही नहीं है। और दूसरा दोष यह भी है कि तब फल ही में प्रवृत्ति हो जायगी।

(१०) दशम कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि क्रिया में जो कृतिसाध्यता (प्रवृत्ति से उत्पन्न होना) है वह तो पूर्वोक्त आर्थीभावना ही में आ जाती है जो कि सामान्यरूप से सब आख्यातों का अर्थ है क्योंकि कृति कहते हैं प्रवृत्ति को और प्रवृत्ति ही का नाम आर्थीभावना है।

कथापार्थभावनायामेवान्तर्भावात् । नचास्याः प्रवर्त्तकत्वमपि, आख्यातान्तरसाधारण्येन प्रवृत्तिव्यभिचारात् । यदित्वाख्यातान्तरे वर्त्तमानादिकालसम्बन्धेन ज्ञायमानेनानुष्ठेयतायाः प्रतिबन्धात्तत्रानुष्ठेयताया अप्यभाव इति न प्रवृत्तिव्यभिचार इत्युच्यते तदाऽपि कृत्यात्मिकाया भावनाया व्याप्यतारूपैव जन्यताऽनुष्ठेयता स्यादन्यस्या असंभवात् एवं च फलव्यापारवच्च प्रवृत्तेः प्रागसिद्धायास्तस्याः प्रवृत्तिं प्रति कारणत्वं न स्यात् । एतेनानिष्पन्नरूपत्वमेवानुष्ठेयत्वमिति निरस्तम्, अशक्येऽपि शशशृङ्गोत्पादनादौ प्रवृत्तिप्रसञ्जकत्वात् ।

(११) नाप्येकादशः चन्द्रमण्डलानयनादौ प्रवृत्तिव्यभिचारदर्शनात्, कर्तव्यताया वाक्यादप्रतीतौ निष्कामानां नित्यकर्मणामकरणेऽपि प्रत्यवायाभावप्रसङ्गाच्च । किंच प्रत्ययेन प्रकृत्यर्थान्वितस्यैव स्वार्थस्याभिधानाद्द्रव्यगुणादीनां क्वापि विधाविष्टसाधनता न स्यात्, प्रमाणाभावात् । नचेष्टसाधनतामात्रं लिङाद्यर्थोवाच्यः कस्येष्टमित्यपेक्षायां चार्थभावनाक्षिप्तस्य कर्तुरित्यर्थवशादेव गम्यते, कर्तृत्वं च न क्रियायामप्रवृत्तस्य भवति, प्रवृत्तिविषयतैव च-

॥ भाषा ॥

और दूसरा दोष यह भी है कि कृतिसाध्यता के ज्ञान से प्रवृत्ति भी न होगी क्योंकि यदि उस से प्रवृत्ति हो तो वह सबी आख्यातों में साधारण है इस से अन्य आख्यातों के नाई लिङादिशब्दों से भी प्रवृत्ति न होगी ।

(समाधान) "अपचत्" (आज के पहिले पकाया) "पचति" (पकाता है) "पक्ष्यति" (पकावेगा) इत्यादि आख्यातों से क्रिया में भूतादिकाल के सम्बन्ध का भी बोध होता है इसी से वहां कृतिसाध्यता का बोध नहीं होता जिस से कि प्रवृत्ति हो । और लिङादिशब्द के स्थल में तो काल के बोध न होने से कृतिसाध्यता का बोध होता है और उस से प्रवृत्ति होती है ।

(खण्डन) चाहो जो कुछ हो परन्तु कृतिसाध्यता तो क्रिया ही में रहेगी और कृतिरूपिणी प्रवृत्ति से पूर्वसमय में उसकी साध्यता कदापि नहीं रह सकती तो जैसे क्रिया और फल, प्रवृत्ति के कारण नहीं होते वैसे ही कृतिसाध्यता भी प्रवृत्ति का कारण नहीं हो सकती । और दूसरा दोष यह भी है कि कृतिसाध्यता का ज्ञान यदि प्रवृत्ति का कारण हो तो विषभक्षणादि में भी प्रवृत्ति हो जायगी ।

(११) ग्यारहवाँ कल्प भी उचित नहीं है क्योंकि उसमें तीन दोष हैं एक यह कि इष्टसाधनता के ज्ञान (यह क्रिया, मेरे अमुक इष्ट का साधक है) से यदि प्रवृत्ति हो तो चन्द्रमण्डल ले आने के लिए भी प्रवृत्ति हो जायगी । दूसरा दोष यह कि जब लिङादिशब्द से किसी क्रिया की कर्तव्यता का बोध न होगा तब सन्ध्यावन्दनादि नित्य कर्म के न करने में भी निष्काम पुरुषों को पाप न होगा क्योंकि विधि का अर्थ तो इष्टसाधनतामात्र ही है न कि कर्तव्यता । तीसरा दोष यह कि लिङादिशब्द संस्कृत में प्रत्यय कहलाते हैं इस से इष्टसाधनतारूपी उनके अर्थ का सम्बन्ध, (यज्) आदि धातु के अर्थ यागादिरूपी क्रिया ही में होता है इस कारण केवल क्रियाएँ ही इष्ट के साधन होंगी और द्रव्यों में इष्टसाधनता न होगी ।

(समाधान) उक्त तीन दोषों में से प्रथम दोष नहीं पड़ सकता क्योंकि इष्टसाधनता जब लिङर्थ है तब आर्थीभावना के अनुसार, कर्ता ही का इष्ट लिया जायगा । और कर्ता वही कहलाता है जो कि क्रिया में प्रवृत्त हो और क्रिया, आन्तरिक प्रवृत्ति का विषय होती है वही-

क्रियायाः कर्त्तव्यता, तथाचार्थादेव तद्बोधान्नोक्तदोषापत्तिः नापि द्रव्यगुणादीनामिष्टहेतुत्वा-नुपपत्तिः, तेषूपादानताख्यायाः प्रवृत्तिविषयताया एवेष्टसाधनतानियामकत्वादिति वाच्यम् । एवं सत्यर्थभावनाबलादेव कर्त्तिष्टसाधनताया लाभेन तस्या अन्यलभ्यतया आख्यातान्त-रैरिव लिङादिभिरप्यभिधातुमशक्यतया विधेरेवाप्रामाण्यप्रसङ्गात् किंच समानविषयता-प्रत्यासत्त्यैवेच्छायाः प्रवृत्तिकारणता लोकसिद्धा अतएव बहुष्वर्थेषु समानेऽपीष्टसाधनत्वप्रकारे यो यमिच्छति स तत्रैव प्रवर्त्तते नत्वनिष्टेऽपीष्टसाधने एवं च व्यभिचारान्नेष्टसाधनतायाः प्रवर्त्तकत्वम् । एतेन इष्टसाधनत्वं स्वरूपेणैव लिङर्थो नतु प्रेरणात्वेनेति जरत्तार्किकम-तमपास्तम् ।

(१२) नापि द्वादशः दशमैकादशकल्पदोषैरेवापास्तत्वात् ।

(१३) नापि त्रयोदशः स हि नव्यनैयायिकमतमनुवर्त्तते, तच्च नोपपद्यते, गौरवात्,

॥ भाषा ॥

उसकी कर्तव्यता है इस रीति से कर्तव्यता का बोध, अर्थात् हो जाता है । तथा चन्द्रमण्डल के ले आने में कृतिसाध्यता के न होने से कर्तव्यता का बोध नहीं होता इससे प्रवृत्ति नहीं होती । और द्वितीय दोष का वारण भी इसी से हो गया । तथा तृतीय दोष भी नहीं पड़ता क्योंकि द्रव्यादिक में भी प्रवृत्ति का पूर्वोक्त उपादानतारूपी संबन्ध ही से इष्टसाधनता का बोध हो सकता है ।

ख०—(१) इस रीति के अनुसार आर्थीभावना ही के बल से इष्टसाधनता का भी बोध अर्थतः हो गया तब अन्य आख्यातों के नाईं लिङादिशब्दों का भी इष्टसाधनता, अर्थ न होगा क्योंकि शब्द का अर्थ वही होता है जिसका बोध अन्य प्रकार से न हो ।

ख—(२) एक इष्ट के अनेक साधन होते हैं तो यदि इष्टसाधक होने से प्रवृत्ति हो तो एक ही पुरुष की सब साधकों में कोई विशेष न होने से एक ही बार प्रवृत्ति हो जायगी इस से यह अवश्य कहना पड़ेगा कि इच्छा ही प्रवृत्ति का कारण है अर्थात् जो पुरुष जिस साधक को चाहता है उस की प्रवृत्ति उस साधक में होती है तस्मात् इष्टसाधनता का ज्ञान प्रवृत्ति का कारण नहीं है ।

(१२) दशवें और ग्यारहवें कल्प के खण्डन ही से बारहवाँ कल्प भी खण्डित हो गया

(१३) तेरहवाँ कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उसका मूल, नव्यनैयायिकों का यह सिद्धान्त है कि पुरुष की आन्तरिक प्रवृत्ति के तीन कारण हैं एक इष्टसाधनत्व का ज्ञान, जैसे "भोजन, तृप्ति का उपाय है" इस ज्ञान से भोजन में पुरुष की प्रवृत्ति होती है । दूसरा कृतिसाध्यता का ज्ञान, जैसे 'भोजन मैं कर सकता हूँ' इस ज्ञान से भोजन में प्रवृति होती है और इसी ज्ञान के न रहने से चन्द्रमा के ले आने में पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती । क्योंकि यद्यपि पुरुष यह समझता है कि चन्द्रमा को ले आना अनेकलाभकारी है तथापि यह नहीं समझता कि मैं चन्द्रमा कोले आ सकूँगा । तीसरा बलवदनिष्टाजनकत्व का ज्ञान, जैसे "भोजन करने में मुखादि-व्यापार का परिश्रमरूपी दुःख बहुत थोड़ा है और उसकी अपेक्षा तृप्तिरूपी सुख अधिक है" इस ज्ञान से भोजन में पुरुष की प्रवृत्ति होती है और इसी ज्ञान के न रहने से विषमिश्रित मधुर अन्न के भोजन में जान बूझकर पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि यद्यपि पुरुष यह समझता है कि "इस अन्न के भोजन से मेरी तत्काल तृप्ति हो जायगी" और यह भी समझता है कि 'मैं इस अन्न को खा सकता हूँ' तथापि यह नहीं समझता कि "तृप्तिरूपी इष्ट की अपेक्षा मृत्युरूपी अनिष्ट बहुत-

अन्यलभ्यत्वात्, अन्वयायोग्यत्वात्, अर्थवादानां सर्वथावैयर्थ्यप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वाच्च। तथाहि। इच्छाविषयसाधनतात्वापेक्षया प्रवर्त्तनात्वमतिलघु, इच्छातद्विषययोरप्रवेशात्। इच्छाज्ञानस्यापि प्रवृत्तिज्ञानवत्प्रवृत्तिहेतुत्वापातात्। वस्तुगत्या य इच्छाविषयस्तत्साधनमिति शब्देन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। साधनत्वमात्रस्यैव शक्यत्वे च तेनैव प्रत्ययेनोपस्थापितया प्रवृत्त्या सह श्रुत्या तदन्वयसंभवे पदान्तरोपस्थापितस्वर्गेण सह वाक्येन तदन्वयासंभवात्प्रवर्त्तनात्वएव पर्य्यवसानम्। श्रुत्या वाक्यस्य बाधात्। प्रत्ययश्रुतेः पदश्रुतितोऽपि बलीयस्त्वेन पशुना यजेतेत्यत्र प्रकृत्यर्थपशुं विहाय प्रत्ययार्थेन करणेन सहैकत्वस्यान्वयादेकं करणं पशुरिति वचनव्यक्त्याऽकृत्वङ्गत्वमेकत्वस्य स्थितम् किमु वक्तव्यं पदान्तरसमभिव्याहाररूपाद्वाक्याद्बलीयस्त्वमिति। किञ्चेष्टसाधनत्वादीनां त्रयाणामन्योन्यं विशेष्यविशेषणभावे विनिगमनाविरहादनेकशक्तिकल्पनागौरवमपि दुर्वारमेव। वाक्यार्थान्वयलभ्यत्वाच्च नेष्टसाधनत्वं पदार्थः। तथाहि। प्रवर्त्तनाकर्मभूता पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावना किं, केन, कथ, मित्यंशत्रयवती विधिना लत्वेन प्रतिपाद्यत इत्युक्तं प्राक्। अपुरुषार्थधर्मिकायां च तस्यां प्रवर्त्तनाऽनुपपत्तेरेकपदोपस्थापितमप्यपुरुषार्थं धात्वर्थं विहाय भिन्नपदोपात्तमन्यविशेषणमपि कामपदसंबन्धेन साध्यताऽन्वययोग्यं स्वर्गमेव पुरुषार्थं सा भाव्यतयाऽवलम्बते। स्वर्गं कामयते स्वर्गकाम इति कर्मण्यणि द्वितीयाया अन्तर्भूतत्वात् यजतेरकर्मकत्वेन स्वर्गमित्युक्तेनानन्वयाच्च अतएव यत्र कामपदं न श्रूयते तत्रापि तत्कल्प्यते यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा यएता रात्रीरुपयन्ती' त्यादौ प्रतिष्ठाकामा रात्रिसत्रमुपेयुरित्यादि एवंच लब्धभाव्यायां तस्यां समानपदोपस्थापितो धात्वर्थ एव करणतयाऽन्वेति। भाव्यांशस्य कामविशेषणावरुद्धत्वात्। सुब्विभक्तियोग्यधात्वर्थनामधेये ज्योतिष्टोमादौ तृतीयाश्रवणात्। यत्रापि नामधेये द्वितीया श्रूयते तत्रापि व्यत्ययानुशासनेन तृतीयाकल्पनात्। तदुक्तं भाष्यकारैः 'अग्निहोत्रंजुहोतीति तृतीयाऽर्थे द्वितीये' ति। अतएव तैः, प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थंब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येन प्रकृत्यर्थो गुणत्वेनेति प्रत्ययार्थं भावनां प्रति धात्वर्थस्य गुणत्वेन करणत्वमुक्तम्। आख्यातं क्रियाप्रधानमिति वदद्भिर्निरुक्तकारैरप्येतदेवोक्तम्। भावार्थाधिकरणे च तथैव स्थितम्। तेन सर्वत्र-

॥ भाषा ॥

न्यून है" किंतु उसके विपरीत यह समझता है कि तृप्तिरूपी लाभ की अपेक्षा मृत्युरूपी हानि कहीं अधिक है। तस्मात् इष्टसाधनत्व, कृतिसाध्यत्व, और बलवदनिष्टासाधनत्व, ये तीनों जैसे लौकिकवाक्यों में लिङादिशब्दों के अर्थ हैं वैसे ही वैदिकवाक्यों में लिङादिशब्दों के भी ये ही अर्थ हैं और शाब्दी भावना इन से अन्य कोई वस्तु नहीं है इति—

(खण्डन) और यह मत, ठीक नहीं है क्योंकि इस मत में पाँच दोष दुर्वार हैं, एक यह कि शाब्दीभावना, जिस को प्रवर्तना और प्रेरणा भी कहते हैं वह बहुत ही लघु (छोटा) पदार्थ है उसकी अपेक्षा ये तीन, विधि के अर्थ बहुत ही गुरु हैं इस से इस मत में गौरव दोष है। दूसरा दोष यह है कि इष्टसाधनत्व और कृतिसाध्यत्व का आर्थीभावना ही में अन्तर्भाव होता है जैसा कि इसी कल्प के संस्कृतभाग में कहा गया है और उसी रीति से बलवदनिष्टासाधनत्व का भी अर्थात् लाभ हो सकता है तो ऐसी दशा में जब सब आख्यातों से आर्थीभावना के अनुसार इन तीनों अर्थों का बोध हो सकता है तब ये तीनों, विशेष से लिङादिशब्द के अर्थ नहीं हो सकते क्योंकि शब्दों का-

प्रत्ययार्थं प्रति धात्वर्थस्य करणत्वेनैवान्वयनियमः अतएव गुणविशिष्टधात्वर्थविधौ धात्वर्थानुवादेन केवलगुणविधौ च मत्वर्थलक्षणा विधेर्विप्रकृष्टविषयत्वं च यथा सोमेनयजेतेति-विशिष्टविधौ सोमवता यागेनेति दध्नाजुहोतीतिगुणविधौ दधिमताहोमेनेति । नामधेयान्वये तु सामानाधिकरण्योपपत्तेर्धात्वर्थमात्रविधानाच्च न मत्वर्थलक्षणा नवा विधिविप्रकर्षः । तदेवं ज्योतिष्टोमेन यजेत स्वर्गकाम इत्यत्राख्यातार्थो भावयेदिति किमित्याकाङ्क्षायां कामिविषय स्वर्गमिति, विधिश्रुतेर्बलीयस्त्वादाकाङ्क्षाया उत्कटत्वाच्च । तथाच स्थितं षष्ठाद्ये । ततः केनेत्यपेक्षिते यागेनेति तृतीयान्तपदसमानाधिकरणत्वात् करणत्वेनैवान्वयनियमाच्च । किंनाम्नेत्यपेक्षिते ज्योतिष्टोमेनेति तन्नाम्नेत्यर्थः शब्दादनुपस्थितोऽपिज्योतिष्टोमशब्दो भासत एव शाब्दबोधे श्रवणेनोपस्थापितः, तात्पर्य्यवशात् । नामधेयान्वये च न विभक्त्यर्थो द्वारम् नापि वाच्यार्थान्वय इव । तेन मत्वर्थलक्षणामन्तरेणैव ज्योतिष्टोमशब्दवतेत्यन्वयलाभः तथाच कविप्रयोगः 'हिमालयो नाम नगाधिराज' इति हिमालयनामवानित्यर्थः एवम् 'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबती' त्यादावगृहीतसङ्गतिकैकपदवति वाक्ये मधुकरादिपदं स्वरूपेणैव भासते नामधेयवत्, नार्थमुपस्थापयति प्रागगृहीतसङ्गतिकत्वात् अतएव मधुकरशब्दवाच्यइत्यपि न लक्षणाऽन्वयः शक्यज्ञानपूर्वकत्वाल्लक्ष्यज्ञानस्य । स्वरूपतस्तु शब्दे भाते वाच्यवाचकसंबन्धः पश्चात्कल्प्यते संसर्गनिर्वाहायेति । तदयं वाक्यार्थः । ज्योतिष्टोमनाम्ना यागेन स्वर्गमिष्टं भावयेदिति, कथमित्यपेक्षिते श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याभिः सामवायिकारादुपकारकाङ्गग्रामपूर्त्येति । विकृतौ प्रकृतिवदित्युपबन्धेन, नित्ये यथाशक्तीत्युपबन्धेन, मुख्यालाभे प्रतिनिधायापीति, यावन्न्यायलभ्यं तत्पूरणम् । एवंच यागस्य स्वर्गावच्छिन्नभावनाकरणत्वेन साक्षात्कर्तृव्यापारविषयत्वरूपं कृतिसाध्यत्वं श्रुत्यर्थाभ्यां लभ्यत इति तदुभयमपि न लिङादिपदवाच्यम्, अप्राप्ते शास्त्रमर्थवदिति न्यायात् । अनन्वयाच्च । इष्टसाधनमितिसमासे गुणभूतमिष्टपदम् स्वर्गकामइति समासान्तरगुणभूतेन स्वर्गपदेन कथमन्वियात् इष्टस्वर्गसाधनमिति, नहि राजपुरुषो वीरपुत्र इत्यत्र वीरपदराजपदयोरन्वयोऽस्ति, पदार्थः पदार्थेनान्वेति नतु पदार्थैकदेशेनेति न्यायात् करणविभक्त्यन्तज्योतिष्टोमादिनामधेयानन्वयप्रसङ्गादिदोषाश्चास्मिन्पक्षे द्रष्टव्याः ।

(१४) नापि चतुर्दशः स हि मण्डनाचार्यसंमतः—

॥ भाषा ॥

अर्थ वही होता है जो अन्य से लभ्य न हो । तीसरा दोष यह है—कि 'भोजन करता हूँ' इत्यादि वाक्यों से भी इन तीनों अर्थों का अर्थतः बोध होता है तथापि उन से किसी पुरुष की भोजन में प्रवृत्ति नहीं होती । निदान—इन तीनों अर्थों का ज्ञान, प्रवृत्ति का कारण भी नहीं है । चौथा दोष यह है कि जब इष्ट के बोधक, स्वर्गादिशब्द वैदिकवाक्यों में वर्तमान ही हैं तब लिङादिशब्द के इष्टरूपी अर्थ का, वाक्यार्थ में संबन्ध ही नहीं हो सकता । पाँचवाँ दोष यह है कि शाब्दीभावना के इतिकर्तव्यतारूपी स्तुतिरूप अंश के बोध कराने से अर्थवादों की विधि के साथ एकवाक्यता होती है और इसी से अर्थवाद धर्म में प्रमाण होते हैं जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है परन्तु यह नैयायिकमत यदि थोड़े काल के लिये मान लिया जाय तो वैदिक सभी अर्थवादवाक्य अप्रमाण और व्यर्थ हो जायंगे क्योंकि तब अर्थवादों की विधियों के साथ एकवाक्यता दुर्घट ही हो जायगी ।

(१४) चौदहवाँ कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि इस में मण्डनाचार्य का सिद्धान्त मूल-

तथा च मण्डनाचार्याः, 'पुंसां नेष्टाभ्युपायत्वात् क्रियास्वन्यः प्रवर्तकः। प्रवृत्तिहेतुं धर्मं च प्रवदन्ति प्रवर्तनाम्' ॥ इति। अस्यार्थः इष्टसाधनत्वादन्यः कृतिसाध्यत्वादिः क्रियासु यागादिरूपासु पुंसां प्रवर्त्तको न, ज्ञाननिष्ठप्रवृत्तिजनकतायां विषयतयानावच्छेदकः यजेतेत्यादिवाक्यान्तर्गतलिङादिशक्यो नेति यावत् चो हेतौ यतः प्रवृत्तिहेतुम् हेतुतावच्छेदकमेव प्रवर्त्तनापदेन व्यपदिशन्ति तथाच प्रवर्त्तनात्वेनेष्टसाधनतैव लिङादिवाच्या नतु तार्किकाणामिव स्वरूपेणैव। कृतिसाध्यता तु लोकलभ्यत्वान्नलिङादिशक्या बलवदनिष्टाजनकत्वमपि द्वेषाभावेनान्यथासिद्धमिति। इममेव च पक्षं वैयाकरणा अप्यवलम्बन्ते अत्र च पूर्वोक्तशब्दभावनाया इष्टसाधनताया भाव्यकरणेतिकर्त्तव्यतारूपांशत्रयेणार्थवादमन्त्रसंग्रहाक्षमत्वादर्थवादादीनां प्रामाण्यानुपपत्तिरूपप्रौढापत्तिवारणप्रकारश्चिन्तनीय एव।

(१५) नापि पञ्चदशः स हि न्यायाचार्यसम्मतः तथाच न्यायकुसुमाञ्जलौ ५ स्तबके उदयनाचार्याः 'विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः॥ अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तुरिष्टाभ्युपायता' ॥ इति कारिकया, आप्ताभिप्रायो विध्यर्थः। पाकं कुर्याः पाकं कुर्यामिति मध्यमोत्तमपुरुषयोर्लिङ्इच्छाविशेषात्मकाऽऽज्ञाऽध्येषणाऽनुज्ञाप्रश्नप्रार्थनार्थकतया प्रथमपुरुषेऽपीच्छायामेव शक्तेरुचितत्वात्। तत्र भयजनिकेच्छाऽऽज्ञा, अध्येषणीये प्रयोक्तुरनुग्रहद्योतिका साऽध्येषणा, निषेधाभावव्यञ्जिकेच्छाऽनुज्ञा, उत्तरप्रयोजिका तु प्रश्नः, प्राप्तीच्छा प्रार्थनेति-विवेकः। तथाच स्वर्गकामोयजेतेत्यत्र यागः, स्वर्गकामनिष्ठतयाऽऽप्तेच्छाविषयइतिबोधः यद्वा-

॥ भाषा ॥

है जिसके अनुयायी वैयाकरण भी हैं। और यह सिद्धान्त भी निर्दोष नहीं है। क्योंकि मण्डनाचार्य जी का यह सिद्धान्त है कि प्रवर्त्तना (प्रेरणा) ही लिङादिशब्दों का अर्थ है और प्रवर्त्तना उसका नाम है कि जिसके ज्ञान से क्रिया में पुरुषों की प्रवृत्ति होती है इस से इष्टसाधनत्व ही लिङादिशब्दों का अर्थ है क्योंकि वही प्रवर्त्तना है और यद्यपि कृतिसाध्यत्व, और प्रबल अनिष्ट का साधक न होना, ये भी दो, प्रवर्त्तना में आ सकते हैं तथापि कृतिसाध्यता अर्थतः लभ्य है और प्रबल अनिष्ट की असाधकता, द्वेष के अभाव में कारण है न कि प्रवृत्ति में इस से ये दोनों लिङादिशब्दों के अर्थ नहीं हैं' इति। और इस मत में उस का वारण नहीं हो सकता जो कि अनन्तरोक्त नैयायिकमत में पञ्चम दोष कहा गया है।

(१५) पन्द्रहवाँ कल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि इस का मूल, उदयनाचार्य का न्यायकुसुमाञ्जलि के पाचवें स्तबक में यह सिद्धान्त है कि आप्ताभिप्राय (सच्चे पुरुष की इच्छा) ही लिङादिशब्दों का अर्थ है क्योंकि "तू पका" "मैं पकाऊं" इत्यादि मध्यम और उत्तम पुरुष में लिङादिशब्दों का जैसे इच्छाविशेषरूपी 'आज्ञा' (भयजनक इच्छा) 'अध्येषणा,—(लिङादि शब्दों के वक्ता का, प्रयोज्य पुरुषों पर जो अनुग्रह, उस का द्योतक इच्छा) 'अनुज्ञा,—(निषेध न करने का सूचक इच्छा) 'प्रश्न,' (उत्तरवाक्य की प्रयोजिका इच्छा) 'प्रार्थना' (प्राप्ति की इच्छा) लिङादि शब्दों के अर्थ हैं वैसे ही 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि प्रथमपुरुष के वाक्यों में भी आप्तपुरुष की इच्छा ही लिङादि शब्दों का अर्थ है और ऐसे वाक्यों से इसी प्रकार का बोध होता है कि "आप्तपुरुष, यह चाहता है कि स्वर्गकामी पुरुष, याग करे यद्वा—उस को याग करना चाहिये"। यही इच्छा लिङादिशब्दों का अर्थ है अर्थात् लिङादिशब्दों के अर्थ में आप्त पुरुष का प्रवेश है। और उक्त इच्छा ही-

कर्त्तव्यत्वेनेच्छैव विध्यर्थः तयाचेष्टसाधनत्वानुमानम् तद्यथा स्वर्गकामस्य मम याग इष्टसाधनम्, कर्त्तव्यत्वेनाप्तोक्तलिङ्पदबोध्येच्छाविषयत्वात् मत्पित्रेष्यमाणमद्भोजनवत् । विषभोजनादेरपि कस्यचित्कृतिसाध्यतया कर्त्तव्यत्वेनेश्वररूपाप्तेच्छाविषयत्वेन तत्रेष्टसाधनत्वरूपसाध्याभावाद्व्यभिचारवारणाय लिङ्पदबोध्येति । आप्तस्तु वैदिकस्थले ईश्वरएव तस्मिन्विधिरेवतावत्कुमार्य्या गर्भ इव पुंयोगे मानमित्याहुः । तच्च न सुन्दरम् । वेदस्यापौरुषेयताया अधस्तादेव निपुणतरमुपपादितत्वेन पौरुषेयतामाश्रित्य वेदवाक्येष्वाप्ताभिप्राये विध्यर्थत्वाङ्गीकारस्य हेयत्वात् पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोरुभयोरपि पक्षयोर्वैदिकविधीनामर्थानुभावकताया आनुभविकत्वेन तदुभयपक्षसाधारणस्यैव विध्यर्थस्य वाच्यतया तदपहायाप्ताभिप्राये विध्यर्थताकथनस्य स्वमतदुराग्रहग्रस्तत्वाच्चेति ।

अत्र प्रतिविधीयते

प्रवृत्तिहेतुत्वेन प्रेरणा तावत्सर्वलोकानुभवसिद्धा । राज्ञा प्रेरितो बालेन प्रेरितो ग्राम-

॥ भाषा ॥

से यागादिक्रियाओं में इष्टसाधनत्व का अनुमान होता है कि जो जो क्रिया, आप्त पुरुष के कहे हुए लिङादिशब्द के बोध्य इच्छा का विषय होती है वह अवश्य इष्ट फल का साधक होती है जैसे पिता आदि के कहे "तू खा" इत्यादि वाक्यों का बोध्य भोजनादि क्रिया, तृप्ति आदि का साधक हुआ करती है और यागादि वैदिकक्रियाएं भी आप्त पुरुष के कहे हुए 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वाक्य में (त) इत्यादि लिङ्शब्द से बोध्य इच्छा के विषय हैं तस्मात् अवश्य वे क्रियाएं स्वर्गादिरूपी इष्ट के साधक हैं । यद्यपि शोकादि के कारण किसी पुरुष का किया हुआ विषभोजनादि भी परमेश्वर रूपी आप्त की इच्छा का विषय होता है तब भी वह इष्ट का साधक नहीं है किन्तु अनिष्ट ही का साधक है तथापि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि के नाईं "विषं भुञ्जीत" (विष खावे) ऐसा लिङादिशब्द परमेश्वर ने नहीं कहा है कि जिस के बोध्य इच्छा का विषय, विषभोजन भी हो सके तो ऐसी दशा में विषभोजन का इष्टसाधक न होना उचित ही है । तस्मात् वैदिक विधिवाक्यों के स्थल में परमेश्वर ही आप्त पुरुष हैं इसरीति से जैसे कुमारी कन्या का गर्भ, उसके पुरुषसंयोग में दृढ प्रमाण होता है वैसे ही वैदिक श्रुतियों के लिङादि शब्द ही उन श्रुतियों के परमेश्वररचित होने में प्रमाण हैं इति ।

इस पक्ष में भी दो दोष हैं एक यह कि वेद का अपौरुषेय होना अत्यन्त प्रबल प्रमाणों से पूर्व ही सिद्ध हो चुका है इस से वैदिक लिङादिशब्दों के अर्थ में आप्त पुरुष का निवेश नहीं हो सकता और करने की इच्छा भी चेतन ही में रहती है इस से वैदिक अचेतन शब्दों में इच्छा का संभव ही नहीं है । दूसरा दोष यह कि वेद पौरुषेय हो, अथवा अपौरुषेय, परंतु वैदिक विधिवाक्यों से अर्थ का बोध होना अनुभव सिद्ध ही है इस से वैदिक लिङादिशब्दों का ऐसा ही अर्थ करना चाहिये कि जो वेद के पौरुषेयत्व और अपौरुषेयत्व, दोनों पक्षों में साधारण हो अर्थात् किसी पक्ष का विरोधी न हो तो ऐसी दशा में आप्ताभिप्राय को विध्यर्थ कहना अपने मत के पक्षपातरूपी दुराग्रह से दुष्ट ही है ।

तस्मात् जब पूर्वोक्त पन्द्रहों कल्प उचित नहीं है और सोलहवां कोई प्रकार निकल नहीं सकता तब शाब्दी भावना, नाम ही नाम है न कि कोई वस्तु ।

केन प्रेरितोऽहमिति हि प्रवर्त्तनावक्तारो भवन्ति सा च प्रवर्त्तना प्रवर्त्तकराजादिनिष्ठा। तत्रोत्कृष्टस्य निकृष्टं प्रति प्रवर्त्तना, आज्ञा प्रेषणेति चोच्यते निकृष्टस्योत्कृष्टं प्रति प्रवर्त्तना याञ्चा अध्येषणेति चोच्यते, समस्य समं प्रत्युत्कर्षनिकर्षौदासीन्येन प्रवर्त्तना अनुज्ञा अनुमतिरिति चोच्यते। ते चाज्ञादयो ज्ञानविशेषा इच्छाविशेषा वा चेतनधर्मा एव लोके प्रसिद्धाः। वेदे तु विधिनाऽहं प्रेरितः करोमीति व्यवहर्त्तारो भवन्ति तत्र स्वयमचेतनत्वादपौरुषेयत्वाच्च वैदिकस्य विधेरचेतनधर्मेणाज्ञादिना प्रेरकता संभवति अतःस्वधर्मेणैवाभ्युपगन्तव्या, गत्यन्तरासंभवात् स एव च धर्मश्चोदना प्रवर्त्तना प्रेरणा विधिरुपदेशः शब्दभावनेति चोच्यते।

अत्र न्यायसुधाकर्तुः भट्टसोमेश्वरस्य अयं सिद्धान्तः—

इयं शब्दभावना, लिङादीनां विलक्षणा क्रियैवेति द्वितीयकल्प एव युक्तः। तस्याश्च-

॥ भाषा ॥

॥ समाधान ॥

एक पुरुष की आन्तरिक प्रवृत्ति का कारण, अन्य पुरुष का आन्तरिक व्यापार सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है और उसी को प्रवर्तना और प्रेरणा भी कहते हैं क्योंकि "मैं राजा का प्रवर्तित (प्रेरित) हूँ" "मैं बालक का प्रेरित हूँ" "मैं ब्राह्मण का प्रेरित हूं" इत्यादि लौकिक प्रसिद्ध व्यवहार, प्रवर्तना ही को लेकर हुआ करते हैं और यह प्रवर्तना, राजा बालक आदि में रहती है तथा छोटों के प्रति बड़ों की प्रवर्तना को आज्ञा और प्रेषणा भी कहते हैं। ऐसे ही बड़ों के प्रति छोटों की प्रेरणा को याञ्चा, प्रार्थना और अध्येषणा भी कहते हैं। और तुल्य के प्रति तुल्य की प्रवर्तना को अनुज्ञा और अनुमति भी कहते हैं तथा ये सब आज्ञादिरूपी प्रवर्तना के भेद, चाहो ज्ञानरूपी हों चाहो इच्छारूपी हों परंतु चेतन ही के धर्म हैं न कि अचेतन के। और वेद में भी "मैं विधिवाक्यों से प्रेरित हो कर यज्ञ करता हूँ" इत्यादि व्यवहार प्रसिद्ध ही है किंतु वेद स्वयम् अचेतन है इस से उस में आज्ञा आदि प्रवर्तनाएं कदापि नहीं रह सकतीं और वेद का कोई कर्ता नहीं है इसी से वेदों में आज्ञादिरूपी प्रवर्तनाओं का, कर्ता के द्वारा परंपरासम्बन्ध का भी सम्भव नहीं है इस रीति से आज्ञादिरूपी चेतनधर्मों के द्वारा वैदिक विधिवाक्य प्रेरक नहीं हो सकते तथापि "मैं विधि से प्रेरित हो कर यज्ञ करता हूँ" इस व्यवहाररूपी अतिप्रबल प्रमाण के बल से वैदिक लिङादिशब्दों में उक्त आज्ञादि से भिन्न एक प्रवर्तनारूपी धर्म सिद्ध होता है और उसी को चोदना, प्रवर्तना, प्रेरणा, विधि, उपदेश, और शब्दभावना भी कहते हैं। उक्त व्यवहाररूपी प्रमाण और शब्दभावना में रहनेवाला प्रवर्तनात्व धर्म जो कि आज्ञा आदि पूर्वोक्त अनेकविध प्रवर्तनाओं में रहता है, ये दोनों लोक प्रसिद्ध ही हैं। अब अवशिष्ट रहा शाब्दीभावना का स्वरूप, जो कि उक्त व्यवहाररूपी प्रमाण से सिद्ध और उक्त प्रवर्तनात्वरूपी धर्म का धर्मी तथा ज्ञान इच्छा आदि से इस कारण भिन्न है कि वह वेदरूपी अचेतन पदार्थ में रहता है, इस से अब उसके विषय में यह विचार किया जाता है कि वह पूर्वोक्त पन्द्रह कल्पों में से द्वितीय कल्प के अनुसार कोई अलौकिक ही पदार्थ है? अथवा तृतीय कल्प के अनुसार अभिधारूपी लौकिक ही पदार्थ है? इन दो पक्षों में से प्रथम पक्ष को न्यायसुधाकार पं० सोमेश्वरभट्ट ने स्थापन किया है। उसकी यह उपपत्ति है कि यह शाब्दीभावना लिङादिशब्दों में रहनेवाली एक अलौकिक क्रिया है क्योंकि लोक में यह प्रसिद्ध है कि प्रवर्तना, प्रवर्त्तकपुरुष ही में रहती है और यदि ऐसा न हो,

प्रवर्त्तयितृधर्मत्वाभावे यज्ञदत्त एव मां प्रवर्त्तयति न देवदत्त इतिव्यवस्था नोपपद्यते। तज्ज्ञापनस्य प्रवृत्तिहेतुतां कल्पयित्वैतद्व्यवस्थोपपादने तु देवदत्तस्त्वां प्रवर्त्तयतीति प्रवर्त्तनां ज्ञापयतो यज्ञदत्तस्यापि प्रवर्त्तकत्वापत्तिरतः प्रवर्त्तयितुर्धर्म एव सा। एतदभिप्रायेणैव न्यायसुधायां 'का पुनःप्रवर्त्तना? प्रवृत्तिहेतुभूतः प्रवर्त्तयितुर्धर्म' इति तल्लक्षणमुक्तम् अहमेनं प्रवर्त्तयामीति प्रवर्त्तयितुर्मानसप्रत्यक्षं च तस्यां प्रमाणमुक्तम्। लक्षणवाक्यार्थश्च प्रवर्त्तयितृपुरुषसमवेतत्वेसति स्वाश्रयभिन्नसमवेतप्रवृत्तिहेतुत्वम्। प्रवर्त्त्यसमवेतस्येष्टस्य वारणाय सत्यन्तम्। तत्रापि सम्बन्धित्वोक्तौ प्रवर्त्तयितुः सम्बन्धिषु लिङ्शब्दादिष्वतिव्याप्तिरिति समवेतत्वमुक्तम्। प्रवर्त्तयितृकृतस्य यागादेर्निरासाय विशेष्यदलम्। फलस्यापि प्रवृत्तिहेतुत्वात्प्रवर्त्तयितृगुर्वादिधर्मत्वाच्च फलेऽतिव्याप्तिवारणाय विशेष्यदलप्रविष्टायां प्रवृत्तौ लिलक्षयिषितभावना ऽऽश्रयभिन्नसमवेतत्वनिवेशः एवंच प्रवर्त्तयितुरेव प्रवृत्तेर्हेतुता फले नतु तदन्यसमवेतप्रवृत्तेरिति नोक्तातिव्याप्तिः। तत्रलिङादीनां शक्तिग्रहप्रकारश्च, बुभुक्षितस्य बालस्य रोदनेन स्तनदाने प्रवर्त्तनां ज्ञात्वा स्तनदाने माता प्रवर्त्तते तदाऽसौ तस्या मातुःप्रवृत्तेः कारणं जिज्ञासमानः कारणान्तरानुपलब्ध्या स्वप्रवर्त्तनायां कारणत्वं प्रकल्प्य गामानयेतिवाक्यश्रवणानन्तरं प्रयोज्यप्रवृत्तिं दृष्ट्वा मातृप्रवृत्तिदृष्टान्तेन तस्यामपिप्रवर्त्तनाज्ञानस्य कारणत्वमनुमाय तत्कारणजिज्ञासायां लिङादिशब्दश्रवणानन्तर्यात्तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रवर्त्तनाऽभिधानशक्तिं कल्पयति। तत्र च प्रैषादयो न प्रैषत्वादिता लिङादिवाच्याः प्रत्येकं-

॥ भाषा ॥

तो यह व्यवस्था कदापि नहीं हो सकती कि "यज्ञदत्त ही मुझे प्रवृत्त करता है न कि देवदत्त" यदि यह कहा जाय कि प्रवर्त्तना पुरुष में नहीं रहती किन्तु जो पुरुष अन्य पुरुष को प्रवर्त्तना का ज्ञान कराता है वही प्रवर्त्तक कहलाता है न कि उसमें प्रवर्त्तना के रहने से वह प्रवर्त्तक है, तो इस में यह दोष पड़ता है कि जिस समय विष्णुमित्र से यज्ञदत्त यह कहता है कि "देवदत्त तुम को प्रवृत्त करता है" उस समय यज्ञदत्त भी विष्णुमित्र का प्रवर्त्तक हो जायगा क्योंकि उसने विष्णुमित्र को प्रवर्त्तना का ज्ञान कराया। इसी से न्यायसुधा में प्रवर्त्तना का यह लक्षण कहा है कि "प्रवर्त्तक पुरुष में रहनेवाली, प्रवृत्ति का कारण प्रवर्त्तना है" और यह भी कहा है कि "मैं इस पुरुष को प्रवृत्त करता हूं" यह, प्रवर्त्तक का मानसप्रत्यक्ष ही प्रवर्त्तना में प्रमाण है। और उक्त शाब्दीभावना के बोध कराने की शक्ति जो लिङादि शब्दों में है उसके निश्चय का क्रम जो यह है कि रोने से माता यह जानती है कि "यह भूखा बालक स्तन पिलाने में मुझे प्रवृत्त करता है" और ऐसा जानकर स्तन पिलाने में प्रवृत्त होती है तथा बालक भी यह विचार करता हुआ कि "इस की इस प्रवृत्ति का क्या कारण है?" अन्य कारण को न पाकर अपनी प्रवर्त्तना ही को उसकी प्रवृत्ति का कारण समझ लेता है। ऐसे ही बालक अपने समक्ष, प्रयोजक पुरुष के कहे हुए "गो ले आओ" इस वाक्य से प्रयोज्य पुरुष की प्रवृत्ति को देखकर माता की उक्त प्रवृत्तिरूपी दृष्टान्त के अनुसार "इस प्रवृत्ति का भी कारण, प्रवर्त्तना का ज्ञान ही है" ऐसा अनुमान कर यह विचारता हुआ कि "प्रयोज्य पुरुष को प्रयोजक पुरुष की प्रवर्त्तना का ज्ञान, किस कारण से हुआ?" अन्य कारण को न पाकर "लाओ" इत्यादि भाषा के लिङादि शब्द ही को उस ज्ञान का कारण, समझता है कि "इसी शब्द के श्रवण से उक्त ज्ञान हुआ" और इसी-

व्यभिचारात् किंतु प्रवर्त्तनासामान्यमेव लिङादिवाच्यम् लौकिकानां च प्रैषादीनां पुरुषधर्माणां वेदेऽनुपपत्तेस्तेभ्यो विलक्षणं विशेषान्तरं विधिप्रेरणानियोगाख्यं वाच्यार्थेन प्रवर्त्तनासामान्येन लक्ष्यते। एवंच तादृशभावनाविशेषस्य लिङादिलक्ष्यतया तत्र विशिष्य लिङादीनां शक्त्यग्रहेऽपि न तेभ्यस्तद्बोधानुपपत्तिः नापि लिङादीनां प्रवर्त्तकत्वानुपपत्तिः तेषां राजादिवत्साक्षात्फलप्रदत्वस्याभावेऽपि प्रवृत्तिविषयत्वस्य श्रेयःसाधनत्वाक्षेपकत्वेनैव पुरुषार्थौपयिकत्वात् प्रवर्त्तना हि प्रयत्नरूपार्थभावनाविषयिणी लोकसिद्धा। गामानयेत्याज्ञापिते प्रयतमाने कथंचिद्गवानयनासिद्धावपि मदाज्ञामयं कृतवानिति, मत्सकाशादपसरेत्याज्ञापिते च स्वयमप्रयतमाने बलात्केनचिदपसारितेऽपसरणसिद्धावपि नायं मदाज्ञां कृतवानित्याज्ञापयितुर्व्यवहारदर्शनात्। तस्याः प्रयत्नविषयकत्वं च चेतनस्य प्रवर्त्तनीयत्वनियमादेव, प्रयत्नश्च नेच्छां विना, इच्छा च साक्षात्पुरुषार्थान्स्वर्गादीनेव स्वरसतो विसिन्वती साधनमन्तरेण तेषामसिद्धेस्तत्साधनेष्वपुरुषार्थेष्वपि संक्रामति एवंच स्वयमपुरुषार्थस्य यागादेः पुरुषार्थ-

॥ भाषा ॥

ज्ञान को प्रवर्त्तना में, लिङादिशब्दों की शक्ति का ज्ञान कहते हैं तथा प्रवर्त्तनारूपी होने ही से आज्ञा आदि भी लिङादिशब्द के अर्थ हैं और वैदिक लिङादिशब्दों में तो अचेतन होने के कारण आज्ञा आदि प्रवर्त्तनाओं का संभव ही नहीं है इसी से आज्ञादि से विलक्षण एक नये प्रकार की प्रवर्त्तना वेद में मानी जाती है जिसको विधि, प्रेरणा और नियोग भी कहते हैं। और यह प्रेरणा यदि वैदिक लिङादिशब्दों का मुख्य (शक्य) अर्थ होती तो इसके अलौकिक स्वरूप में विशेषरूप से वैदिक लिङादिशब्दों की शक्ति का निश्चय न हो सकता क्योंकि विशेषरूप से ज्ञात घटादिरूपी लौकिकअर्थों ही में घटादिशब्दों की शक्ति का निश्चय होता है परन्तु यहां प्रवर्त्तनारूपी सामान्यवस्तु ही लिङादिशब्दों का मुख्य अर्थ है और केवल उसी में अन्तर्गत होने से उक्त अलौकिक प्रेरणा, वैदिक लिङादिशब्दों का अमुख्य (लक्ष्य) अर्थ है इसी से इस अलौकिक प्रेरणा में विशेषरूप से लिङादि शब्दों की शक्ति के निश्चय न होने पर भी वैदिक लिङादिशब्दों से उस प्रेरणा का बोध होता है। यद्यपि राजा आदि के नाईं वैदिक लिङादिशब्द साक्षात् फलदाता नहीं हैं तथापि जो इष्टफल का साधक नहीं होता उसमें प्रवृत्ति नहीं होती और यज्ञादि कर्मों में तो प्रवृत्ति होती है इस से वे इष्ट फल के साधक हैं तथा इष्ट फल के साधक अर्थात् यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्ति लिङादि शब्दों ही से होती है इस से वैदिक लिङादिशब्द प्रवर्त्तक होते हैं क्योंकि प्रवर्त्तक पुरुष की प्रवर्त्तनारूपी भावना का, प्रवर्त्य पुरुष की प्रवृत्तिरूपी अर्थीभावना ही, विषय होती है यह लोक में देखा जाता है जैसे "गौ ले आओ" इस आज्ञा के अनन्तर प्रयोज्य पुरुष ने गौ को ढूंढ़ा और न पाकर न ले आया तब भी प्रयोजक पुरुष यही कहता है कि "इसने मेरी आज्ञा की" और 'मेरे समीप से हट जा' ऐसी आज्ञा के अनन्तर यदि स्वयं वह पुरुष नहीं हटता किन्तु अन्य कोई उसे हटाता है तो उस हटने से स्वामी यह नहीं कहता कि इसने मेरी आज्ञा की किन्तु यही कहता है कि इसने मेरी आज्ञा नहीं की। तथा चेतन ही के प्रति प्रवर्त्तना होती है इसी से प्रवृत्तिरूपी अर्थभावना ही प्रवर्त्तना का विषय होती है और आन्तरिक प्रयत्नरूपी प्रवृत्ति, इच्छा के बिना नहीं होती। इच्छा भी स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थों ही को प्रथम २ अपना विषय बनाती है परन्तु यागादिरूपी श्रमसाध्य उपायों के बिना स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ का लाभ नहीं हो सकता इसी से अपुरुषार्थ-

साधनतां विना नेच्छाविषयता, विना च तां न प्रवृत्तिविषयता, तां च विना लिङादीनां सार्वलौकिकी प्रवर्त्तकतैव नोपपद्यते इति तदुपपादकप्रवृत्तिविषयतोपपादकेच्छाविषयतोपपादकज्ञानविषयस्य यागादीनां पुरुषार्थसाधनत्वस्याक्षेपः सुकर एव। नच पुरुषार्थसाधनताज्ञानजन्येच्छयैव प्रवृत्तेरुपपत्त्या लिङादीनां न तद्धेतुत्वम् अन्यथासिद्धत्वादिति वाच्यम्। न हि यत्सिद्धयर्थं यत्कल्प्यते तेन तद्बाधनमुचितम् कल्पकाभावेन तत्कल्पनाया एवासिद्धिप्रसङ्गात् यथा च श्रेयःसाधनताया अकल्पने प्रवर्त्तकता न निर्वहतीति सा कल्प्यते तथैव यागादेः स्वरूपेण लौकिकी श्रेयःसाधनता यदि स्यात्तदा भोजनादाविव यज्ञादावपीच्छयैव प्रवृत्तिसिद्धौ पुनरपि लिङादीनां प्रवर्त्तकता न निर्वहेत् नचासौ लौकिकीति लिङादिविहितत्वरूपेणैवासौ कल्प्यते। लोकेऽपि च स्वामिनामाज्ञां विना गवाद्यानेतुर्न वेतनादिरूपतत्फललाभो भवति तस्मादुक्तप्रेरणाज्ञापनेनैव वैदिकलिङादीनां प्रवर्त्तकत्वसिद्धिः एवं वैदिकलिङादीनां स्वात्मकस्वरूपाभिधायकत्वापात्तरपि न। शक्यत एव हि प्रैषादिदृष्टान्तमादाय प्रवर्त्तनासामान्यविशेषत्वेन हेतुना शब्दभावनायाः प्रवर्त्तयितृधर्मत्वमनुमातुम् वेदे च न पुरुषः प्रवर्त्तयिता संभवति नापि भावना प्रवर्त्तयित्री, वृत्तेरप्यौपाधिकप्रवृत्तिविषयताऽङ्गीकारेण तस्याः प्रवृत्तिविषयतया तदानीमसत्त्वात्। तथा च परिशेषाल्लिङादेरेव प्रवर्त्तकत्वमवधार्य्यते शब्दभावनायास्तदीयत्वमर्थासिद्धमिति न शाब्दविषयः। सा च प्रेरणा भावनाशब्देन गीयते प्रवृत्त्युत्पादकव्यापारत्वादेव। भाव्योत्पादानुकूलो हि व्यापारो भावनाशब्देन व्यपदिश्यते तस्याः सिद्धरूपत्वे च विना व्यापारान्तरं प्रवृत्त्युत्पादकता न संभवति

॥ भाषा ॥

रूपी यागादि उपायों में भी पश्चात् इच्छा उत्पन्न होती है और इसी के अनुसार यह सिद्धान्त किया जाता है कि यागादि, यदि पुरुषार्थ के साधक न हों तो उनकी इच्छा किसी को नहीं हो सकती और बिना इच्छा के यागादि में किसी पुरुष की प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती तथा बिना प्रवृत्ति के लिङादि शब्द, प्रवर्त्तक नहीं हो सकते। और लिङादि शब्दों का प्रवर्त्तक होना तथा यागादि में पुरुषों की प्रवृत्ति, और इच्छा, ये सब वस्तु लोकसिद्ध ही हैं और इन्हीं के बल से यह कल्पना सहज में की जाती है कि "यागादि क्रिया, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की जननी है"। यह तो कह नहीं सकते कि "यागादि, पुरुषार्थ के साधक हैं" इस ज्ञान से इच्छा और इच्छासे यागादिकों में प्रवृत्ति होती है तो लिङादिशब्द किस प्रयोजन से प्रवृत्ति के कारण माने जाते हैं? क्योंकि लिङादिशब्दों को प्रवर्त्तक बनाने के लिये ही यागादि को स्वर्गसाधक होने की कल्पना की जाती है और लौकिक प्रत्यक्ष से यदि भोजनादि के नाईं यागादि का भी स्वर्गादि के प्रति साधक होना सिद्ध होता तो जैसे भोजनादि में इच्छा ही से प्रवृत्ति होती है वैसे ही यागादि में भी इच्छा ही से प्रवृत्ति हो जाती तब लिङादिशब्दों का कुछ काम नहीं रहता। तात्पर्य यह है कि केवल वैदिकलिङादिशब्दों ही के बल से यह ज्ञान होता है कि "यागादिरूपी क्रिया, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की जननी है" और इसी ज्ञान से इच्छा भी होती है जो कि प्रवृत्ति का कारण है तो ऐसी दशा में यदि मूलकारण और भित्तिस्थानीय, वैदिकलिङादिशब्द ही न होते तो शाखारूपी और चित्रस्थानीय, ये ज्ञान, इच्छा और प्रवृत्ति कैसे होते इसलिये मूल प्रवर्त्तक, वैदिक लिङादिशब्द ही हैं। और यह वैदिकलिङादिशब्दों में रहनेवाली प्रवर्त्तना, लोकप्रत्यक्ष से गम्य नहीं है इसी से इसकी

तस्य ज्ञानं च न तद्व्यापारः ज्ञानस्य ज्ञेयव्यापारत्वानभ्युपगमात् एवं च व्यापारान्तरकल्पने गौरवात्तस्या एव लिङादिव्यापारत्वं कल्प्यते प्रेषणादावपि चायमेव व्यापारत्वकल्पनान्यायः वार्तिके च व्यापारतद्वतोरत्यन्तभेदाभावाच्छब्दात्मिकेत्युक्तम् लौकिकानां प्रवर्त्तनाविशेषाणां पुरुषधर्मतयैव शब्दात्मकत्वासंभवात् अस्यावेदैकविषयकत्वं दर्शयितुमेव वार्तिके इहेत्युक्तम् बालस्य प्राथमिकशक्तिग्रहप्रकारः पूर्वमुपपादितः पश्चात्तु विध्यादौ विधिनिमन्त्रणेत्यादिभ्यः सूत्ररूपानुशासनेभ्यः शक्तिग्रहः । लिङादीनां नानार्थत्वपरिहाराय च विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टेषु चतुर्ष्वप्यनुगतमेकं प्रवर्त्तनात्वं शक्यतावच्छेदकमङ्गीकार्य्यम् अतएव हरदत्तः 'अस्ति प्रवर्त्तनारूपमनुस्यूतंचतुर्ष्वपि । तत्रैव लिङ् विधातव्यः किं भेदस्य विवक्षया' ॥ इत्याशङ्क्य 'न्यायव्युत्पादनार्थं वा प्रपञ्चार्थमथापि वा । विध्यादीनामुपादानं चतुर्णामादितः कृतम्' ॥ इति । अत्र लौकिकनिमन्त्रणादिभ्योऽन्योऽप्यलौकिकोऽस्ति न्यायसिद्ध इतिन्यायसूचनं न्यायव्युत्पादनम् वाच्यतावच्छेदकस्य प्रवर्त्तनात्वस्याश्रया इयन्तो व्यक्तयो न लौकिकस्य एवेति सूचनं प्रपञ्चः नचलोडर्थप्रैषातिसर्गयोरपि प्रवर्त्तनात्वात्कथं चतुरुक्तिरिति वाच्यम् । कामचारानुज्ञारूपस्यातिसर्गस्य कामचारकारणात्मकामन्त्रणरूपत्वात् प्रवर्त्तनासामान्यस्यैव च प्राप्तविषयत्वाविशेषितस्य प्रैषत्वात् तदुक्तम् 'प्रवर्त्तनस्मृतिः प्राप्ते प्रैष इत्यभिधीयते ॥ अप्राप्तप्रेषणं सर्वं विधित्वं प्रतिपद्यते' ॥ इति "स्वाध्यायोऽध्येतव्य" इत्यादौ प्रैषान्तःपाति विशेष्यभूतं प्रवर्त्तनामात्रं तव्यल्लक्ष्यम् अप्राप्तप्रवर्त्तनं च विधिरिति विधातृतेत्युत्तरार्द्धस्याथइति ।

पार्थसारथिमिश्रास्तु । अभिधैव लिङादीनामर्थ इति तृतीयमेव कल्पमवललम्बिरे तथाच ६ अध्याये १ अधिकरणे शास्त्रदीपिका 'अंशत्रयविशिष्टभावनाप्रतिपादनं चास्यव्यापारोऽस्य प्रवर्त्तकस्यार्थप्रतिपादनरूपस्य व्यापारस्य प्रवर्त्तनारूपत्वमिति' इदं च मतं 'अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादय' इतिपूर्वोपन्यस्तप्राचीनपद्यसंवादकमपि ।

॥ भाषा ॥

कल्पना केवल, वैदिकलिङादिशब्दों ही के अनुसार की जाती है । इस से यह सिद्ध हो गया कि उक्त प्रेरणा के ज्ञान कराने ही से वैदिकलिङादिशब्द, प्रवर्त्तक होते हैं और वही प्रेरणा उनका अर्थ है क्योंकि वेद में कोई पुरुष प्रवर्त्तक नहीं है इसी से अनन्यगति हो कर वैदिक लिङादिशब्दों ही को प्रवर्त्तक मानना पड़ता है और इसी भावना को, शब्दों में रहने से शाब्दी और प्रवृत्ति उत्पन्न करने के कारण, व्यापार रूप होने से भावना भी कहते हैं । इसरीति से यह सिद्धान्त पं० सोमेश्वरभट्ट का पूर्ण हो गया ।

शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथिमिश्र का तो यह सिद्धान्त है कि उक्त पन्द्रह कल्पों में से "अभिधा ही वैदिक लिङादिशब्दों का अर्थ है" यह तृतीय कल्प ही ठीक है इति । इसी से मी०.अ० ६ अधि० १ के शास्त्रदीपिका में पार्थसारथिमिश्र ने यह कहा है कि तीन अंशों से संयुक्त आर्थी भावना का ज्ञान करना ही वैदिक लिङादिशब्दों का व्यापार है और यही व्यापार, प्रवृत्ति का कारण है इसी से प्रवर्त्तनारूप भी है इति । यह मत प्राचीन मीमांसकों के मतानुसारी है क्योंकि प्राचीनों का मत पूर्व में कहा जा चुका है कि "वैदिक लिङादिशब्द अभिधाभावना को कहते हैं जोकि आर्थी भावना से अन्य ही है" इति ।

अत्र वदन्ति । इदं मिश्रमत मेव युक्तम् । यत्तु 'अथ प्रवर्त्तनात्वेन काव्यादनकको-धतः । तद्रूपेणाभिधेयत्वं तच्चान्यासु न विद्यते' ॥ इति न्यायसुधायां सोमेश्वरेणा-भिधारूपं तृतीयकल्पमनूद्य 'तत्रास्य ह्यभिधानात्प्राक् चेत्प्रवर्त्तकरूपता । स्यात् व्यर्थम-भिधेयत्वं नास्ति चेत्स्यादसत्यता' ॥ इति पर्य्यवसितं दूषणद्वयमुक्तम् विवृतं चास्माभिः पूर्वपक्षे तृतीयकल्पखण्डनावसरे, तदयुक्तम् यद्यस्मिन्कल्पे लिङःप्रवर्त्तकत्वं विहाय तदभिधायाः प्रवर्त्तकत्वं स्वीक्रियेत तदैवमुक्तदोषावसरो भवेत्, लोके प्रवर्त्तकस्व-भावस्याचार्य्यादेरिव वेदे लिङादेरपि विनैवाभिधानं प्रवर्त्तकतासंभवेनाभिधायालिङाद्य-भिधेयताऽनर्थक्यसंभवात्, नतु तथोच्यते किंतु लिङादीनामेव प्रवर्त्तकत्वमभिधायास्तु प्रव-र्त्तनात्वमित्येव ह्युच्यते नचेहोक्तदूषणावकाशः यथा ह्यर्थबोधाख्यकार्यज्ञाताऽप्यभिधा, लक्षणाऽदिस्थले न प्रवृत्तिमुपजनयति तथैवाग्निहोत्रादौ प्रवृत्तिदर्शनादाप्तवाक्याद्वा अस्ति कश्चिदत्र प्रवृत्तिहेतुर्लिङो व्यापार इति सामान्यतोऽवगतः सोमेश्वरेणाङ्गीकृतो लिङादेर्वि-लक्षणो व्यापारोऽपीति सोऽपि प्रवर्त्तनात्वेन रूपेण शब्देन तत्रापि लिङादिनैवाभिहितः सन् स्वप्रवर्त्तनात्वनिर्वाहाय स्वविषयस्येष्टसाधनतामाक्षिप्येच्छामुपजनयन्प्रवृत्तौ हेतुः, पदाभिहित एव पदार्थो वाक्यार्थज्ञाने भासत इति हि तेनाप्यवश्यमभ्युपेयम्, अन्यथा तत्सं-मतेऽप्यलौकिके व्यापारे लिङाद्यभिधेयताकल्पनावैयर्थ्यापत्तेर्वारयितुमशक्यत्वात् तथैतद-स्मिन्नपि कल्पे तुल्यमेव । विलक्षणस्यालौकिकस्य व्यापारस्य कल्पनागौरवं दूषणं प्रत्युत तन्मत एवातिरिच्यते तस्मात् तन्मतं निर्मूलमेव । अस्मिंस्तु मते लोकक्लृप्त एव विध्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

प्र०—यदि यही मत ठीक है तो भट्टसोमेश्वर ने इस मत का अनुवाद कर दो दोषों से जो इसका खण्डन किया है जिसका विवरण भी पूर्वपक्ष में तीसरे कल्प के खण्डन के समय हो चुका है उसका क्या समाधान है ?

उ०—उस खण्डन का समाधान यह है कि तृतीयकल्प में यदि वैदिक लिङादिशब्दों को छोड़, उनके अभिधा ही को प्रवृत्ति का कारण माना जाय तभी सोमेश्वरभट्ट का दिया हुआ दोष पड़ता है क्योंकि लोक में जैसे राजा और आचार्य आदि प्रवर्त्तकों में अभिधा नहीं है तब भी वे प्रवृत्ति कराते हैं वैसे ही वैदिक लिङादि भी अभिधा के ज्ञान के बिना कराये ही प्रवृत्ति करायेंगे इस से अभिधा को लिङादि का अर्थ मानना व्यर्थ हो जायगा । परन्तु इस मत में वैसा माना ही नहीं जाता किंतु इतना ही कहा जाता है कि "वैदिक लिङादिशब्द ही प्रवृत्ति के कारण हैं और अभिधा तो उनका व्यापारमात्र है जिसको प्रवर्त्तना कहते हैं" और ऐसा कहने से उक्त दूषण का अवकाश ही नहीं है । भट्टसोमेश्वर के मत में भी यह अवश्य स्वीकार करना पड़ैगा कि अग्निहोत्रादि यज्ञों में पुरुषों की प्रवृत्ति होती देखकर वैदिक लिङादि में एक अलौकिक व्यापार माना जाता है जो कि उन लिङादिशब्दों का अर्थ और प्रवर्त्तनारूप है तथा प्रवृत्ति के कारण-रूपी इच्छा और उसके कारणरूपी इष्टसाधकता का भी अनुमान, प्रवर्त्तना ही से होता है और यही बात इस मत में भी मानी जाती है किन्तु भेद इतना ही है कि उनको अलौकिक व्यापार की कल्पना करनी पड़ती है इस से उनके मत में गौरव दोष है जो कि इस मत में नहीं है । तथा उनके मत में प्राचीनपण्डितों की सम्मति भी नहीं है और इस मत में तो प्राचीनों की सम्मति सभी-

प्रवर्त्तना हि प्रवृत्तिहेतुर्व्यापारः, विधिशब्दस्य च लिङादेराख्यातत्वादिना दशलकारादिसाधारणेनोपाधिना पुरुषप्रवृत्तिरूपामर्थभावनां प्रति तज्ज्ञानहेतुत्वरूपं वाचकत्वम्। सा च ज्ञातैवानुष्ठातुं शक्यत इति तद्धीहेतोरपि शब्दस्य लिङादेः परम्परया तद्धेतुत्वसंभवात्प्रवर्त्तनात्वमुपपद्यते। तत्र विधिप्रत्ययस्य पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाज्ञानहेतुर्व्यापारः पुरुषप्रवृत्तिवाचकताशक्तिमत्तया विधिशब्दज्ञानमेव, स एव च तस्य प्रवृत्तिहेतुर्व्यापार इति भवत्यसौ प्रवर्त्तना। शब्दस्य ज्ञानद्वारेणैव प्रवृत्तिजनकताया आनुभविकतया ज्ञानजनकव्यापारातिरिक्तव्यापारकल्पनायां मानाभावात्। ज्ञानजनकव्यापारश्च तस्य स्वज्ञानं शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टस्वज्ञानं च, तत्राद्ययोरन्यतरस्य शब्दभावनात्वम् तृतीयस्य तु तत्र करणत्वमिति विवेकः। एवंच विधिना स्वज्ञानं जन्यते प्रवर्त्तनात्वेनाभिधीयतेऽपीति विधिज्ञानमेव शब्दभावना। तस्यां च पुरुषप्रवृत्तिरूपाऽर्थभावनैव भाव्यतया,प्रवृत्तिवाचकताशक्तिमद्विधिज्ञानमेव-

॥ भाषा ॥

कही गई है क्योंकि इस मत का तात्पर्य यह है कि प्रवृत्ति के कारणीभूत व्यापार को प्रवर्त्तना कहते हैं और प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना सब आख्यातों का अर्थ है इसी से लिङादिशब्दों का भी वह अर्थ है क्योंकि ये भी आख्यात हैं। तथा प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का ज्ञान लिङादिशब्द कराते हैं इसी से लिङादिशब्द आर्थीभावना के वाचक कहलाते हैं और लिङादिशब्द के द्वारा प्रवृत्ति को बिना जाने, पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती इसी से प्रवृत्ति के ज्ञानद्वारा लिङादि शब्द, प्रवृत्ति के कारण होते हैं तथा "लिङादिशब्द प्रवृत्ति के वाचक हैं" यह श्रोताओं का ज्ञान ही लिङादिशब्दों का वह व्यापार है जो कि प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के ज्ञान का जनक है इसी से इसको प्रवर्त्तना कहते हैं क्योंकि शब्द, ज्ञान ही के द्वारा प्रवृत्ति का कारण होता है इसी से ज्ञान का जनक ही व्यापार, शब्द का व्यापार हो सकता है। और आर्थीभावनारूपी प्रवृत्ति के ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला, लिङादि शब्दों का व्यापार, तीन प्रकार का होता है, एक, लिङादिशब्दों का श्रवण, दूसरा, प्रवृत्ति के ज्ञान कराने की शक्ति का ज्ञान, अर्थात् "कोई ऐसी शक्ति है जिस से प्रवृत्ति का ज्ञान श्रोताओं को होता है" यह ज्ञान। तीसरा, विशिष्ट लिङादिशब्दों का ज्ञान, अर्थात् "प्रवृत्ति के बोध कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है" यह ज्ञान। यहां विवेक यह है कि प्रथम दो ज्ञानों में से किसी एक ज्ञान का नाम शाब्दीभावना और अभिधाभावना भी है, और तीसरा ज्ञान, इस शाब्दीभावना का करण है, तथा वैदिक लिङादिशब्दों के दो काम हैं, एक, यह कि वे अपने श्रवण के द्वारा उक्त शक्ति के ज्ञान को उत्पन्न करते हैं, दूसरा, यह कि वही ज्ञान उनका अर्थ भी है इसी से वे उस ज्ञान का यों बोध कराते हैं कि "यह ज्ञान प्रवर्त्तना है"। और जैसे आर्थीभावना के तीन अंश भाव्य, करण और इतिकर्त्तव्यता, पूर्व में कहे जा चुके हैं वैसे ही इस शाब्दीभावना के भी उसी प्रकार के तीन अंश होते हैं जैसे प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना, इस शाब्दीभावना का भाव्य है और उक्त तृतीय ज्ञान इसका करण है तथा अर्थवादों से बोधित स्तुति इस की इतिकर्त्तव्यता है जो आगे चलकर कही जायगी। और किसी का तो यह मत है कि "उक्त तृतीय ज्ञान ही शाब्दीभावना है और द्वितीय ज्ञान ही उसका करण है" जोकि "सम्बन्धबोधः करणं तदीयम्" (प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के ज्ञान कराने वाली शक्ति से सहित लिङादिशब्दों का ज्ञान अर्थात् "प्रवृत्ति के ज्ञान कराने की शक्ति लिङादि शब्दों में है" यह ज्ञान, शाब्दी-

च करणतया, ऽन्वेति नान्यत् उक्तशब्दभावनायाः साध्यस्याप्यस्य फलावच्छिन्नां तां प्रति करणत्वं फलकरणत्वादेव, यागस्येव स्वर्गभावनां प्रति न विरुध्यते। केचित्तु शक्तिज्ञानस्यैव करणत्वं, शक्तिविशिष्टविधिज्ञानस्य तु शब्दभावनात्वमाहुः तन्मतं च 'सम्बन्धबोधःकरणन्तदीयमि' त्यादिना पूर्वमुदाहृतम्। नन्वाख्यातत्वेन विधिशब्दादुपस्थिता पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्यतयाऽन्वेतु,-

॥ भाषा ॥

भावना का करण है) इस प्राचीनवाक्य से पूर्व में कहा गया है ।

प्र०—यह प्राचीन मत तो ठीक है परन्तु जो यह मत अभी कहा गया है कि 'तृतीय ज्ञान शाब्दीभावना का करण है यह ठीक नहीं है' क्योंकि लोक में बाणादिरूपी करण, मरणादिक्रिया के अव्यवहित पूर्वकाल में रहते हैं और यह तृतीय ज्ञान उक्त दो ज्ञानों के पश्चात् ही होता है न कि पूर्व, तो पूर्वज्ञानरूपी शाब्दीभावना का करण कैसे हो सकता है ?

उ०—जैसे "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में याग, प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना का करण होता है वैसे ही तृतीय ज्ञान भी पूर्वज्ञानरूपी शाब्दी भावना का करण होता है ।

प्र०—यह सिद्धान्त भी ठीक नहीं है कि "यागादिक्रिया आर्थीभावना का करण है" क्योंकि आर्थीभावना आन्तरिक प्रवृत्ति को कहते हैं जोकि सब क्रियाओं का कारण होती है और इसी से क्रियाओं से पूर्वकाल में रहती है न कि उत्तरकाल मे, तो ऐसी दशा में जब यागक्रिया, आर्थीभावना से पूर्वकाल में नहीं रहती तब कैसे उसका करण हो सकती है । और उलटा ही क्यों नहीं होता अर्थात् आर्थीभावना ही यागादिक्रिया का करण हो जाय क्योंकि उस से पूर्वकाल में आर्थीभावना रहती है । और जब इसरीति से दृष्टान्त ही की यह दुर्दशा है तब कैसे उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि तृतीय ज्ञान, पूर्वज्ञानरूपी शाब्दीभावना का करण होता है ? और इससे उलटे यही क्यों नहीं कहा जाता कि तृतीय ही ज्ञान शाब्दीभावना है और द्वितीय ज्ञान, उसका करण है क्योंकि उस से पूर्वकाल में रहता है और ऐसा ही प्राचीन मीमांसकों ने स्वीकार भी किया है ?

उ०—दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक (प्रकृत) दोनों ठीक हैं और इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना, याग से पूर्व ही काल में रहती है । परन्तु इसमें भी कुछ सन्देह नहीं है कि 'स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ जो कि आर्थीभावना का भाव्य (फल) है वह, याग से उत्तरकाल ही में रहता है न कि पूर्वकाल में' और याग, स्वर्गादि का कारण भी है इसी से यागादि यद्यपि केवल आर्थीभावना का करण नहीं है तथापि फल का कारण होने ही से फलयुक्त भावना का करण है और आर्थीभावना के विषय में सब मीमांसकों ने ऐसा ही स्वीकार किया है । तथा शाब्दीभावना भी भावना ही है इस से इसमें भी ऐसा स्वीकार करना अनुचित नहीं होगा अर्थात् यद्यपि तृतीयज्ञान, उक्त अन्य दो ज्ञानरूपी शाब्दीभावना के पूर्वकाल में नहीं रहता तथापि उस शाब्दीभावना के भाव्य, आन्तरिक प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के पूर्वकाल मे अवश्य रहता है और उसका कारण भी है इसी से प्रवृत्तिरूपी फल से युक्त पूर्वज्ञानरूपी शाब्दीभावना का, तृतीयज्ञान करण होता है । तथा आर्थीभावना यागक्रिया का करण नहीं हो सकती क्योंकि उसका कोई व्यापार नहीं है और याग का तो अपूर्वरूपी व्यापार है इस से वह करण होता है ।

प्र०—एक २ पदों से जो अर्थ उपस्थित होते है उन्हीं के अन्योन्य सम्बन्ध का बोध,-

करणं तु कथमनुपस्थितमन्वेतीति । उच्यते विधिशब्दस्तावच्छ्रवणेनोपस्थापितः तस्य पुरुष-प्रवृत्तिवाचकताशक्तिरपि स्मरणेनोपस्थापिता । तदुभयवैशिष्ट्यं तन्निष्ठा ज्ञातता च मनसेति रीत्या वाचकताशक्तिमत्तया ज्ञातो विधिशब्दउपस्थित एव । अनेन यच्छक्यात्तद्भावये-दिति, शक्त्यनुसारेण प्रतिशब्दं स्वाध्यायविधितात्पर्य्याच्छब्दातिरिक्तेनोपस्थितमपि शाब्द-बोधे भासत एव ज्योतिष्टोमादिनामधेयवत् उक्तश्चैतत् उद्भिदधिकरणे मीमांसाचार्य्यैः-

॥ भाषा ॥

पदसमूहरूपी वाक्यों से होता है इसरीति से शाब्दीभावना के साथ प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना के सम्बन्ध का बोध, वैदिक विधिवाक्यों से हो सकता है क्योंकि आर्थीभावना आख्यातरूपी लिङादि शब्द से उपस्थित होती है परन्तु तृतीयज्ञानरूपी करण के सम्बन्ध का बोध कैसे हो सकता है ? क्योंकि द्वितीय ज्ञान, विधिवाक्यों में से किसी शब्द का अर्थ नहीं है इसी से वह किसी शब्द से उपस्थित नहीं होता । और जिस मत में तृतीय ही ज्ञान शाब्दीभावना है उस मत में यद्यपि वह शब्द से उपस्थित है तथापि द्वितीयज्ञानरूपी सम्बन्धज्ञान, जो कि करण है वह तो किसी शब्द से उपस्थित ही नहीं है तब तृतीयज्ञानरूपी शाब्दीभावना में उसके सम्बन्ध का बोध विधिवाक्य से कैसे हो सकता है ?

उ०—लिङादिप्रत्ययरूपी शब्द तो श्रवणेन्द्रिय ही से उपस्थित है और आर्थीभावना के बोध कराने की शक्ति भी स्मरण से उपस्थित है इसी रीति से उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध और उस सम्बन्ध का ज्ञानरूपी तृतीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण से उपस्थित ही है । इसरीति से तृतीय ज्ञान का कोई अंश ऐसा नहीं है जो कि उपस्थित न हो किंतु तृतीयज्ञान सब अंशों से पूर्ण हो कर उपस्थित ही है इसी से पूर्वज्ञानरूपी शाब्दीभावना में उसके सम्बन्ध का बोध, वैदिक लिङादिशब्दों से सहज ही मे होता है । ऐसे ही जिस मत में उक्त द्वितीयज्ञान, शाब्दीभावना का करण है उस मत में भी कोई दोष नहीं है क्योंकि द्वितीय ज्ञान भी श्रोताओं के अन्तःकरण से उपस्थित ही है तो उसके सम्बन्ध का बोध, वैदिक लिङादिशब्दों से भलीभांति हो सकता है ।

प्र०—जो अर्थ पदों से उपस्थित होता है उसी के सम्बन्ध का बोध, वाक्य से होता है इसी से श्रोता के अन्तःकरण से यदि वानर उपस्थित हुआ तब भी "गौ ले आओ" इस वाक्य से उसको वानर ले आने का बोध नहीं होता क्योंकि वानर अन्तःकरण से उपस्थित है न कि शब्द से, तो ऐसी दशा में पूर्वोक्त प्रत्येक मतों में तृतीय वा द्वितीय ज्ञान रूपी करण के सम्बन्ध का बोध कैसे हो सकता है क्योंकि उन मतों में यथाक्रम उक्त दो ज्ञानों में से कोई ज्ञान शब्द से उपस्थित नहीं है किन्तु श्रोताओं के अन्तःकरण ही से ?

उ०—यह पूर्व में कहा जा चुका है कि प्रत्येक विधिशब्दों के विषय में, "स्वाध्यायो-ऽध्येतव्यः" इस सर्वव्यापी वैदिक विधिवाक्य का यह तात्पर्य है कि "इस शब्द से जो हो सकता है सो करे" इसी तात्पर्य के अनुसार, शब्द से अतिरिक्त कारण के द्वारा भी जो अर्थ उपस्थित होता है उसके सम्बन्ध का भी बोध, वैदिक शब्द कराते हैं जैसे "पशुलाभ के लिये उद्भिद् नामक यज्ञ करे" (उद्भिदा यजेत पशुकामः) इस वाक्य से, श्रवणेन्द्रिय द्वारा उपस्थित उद्भिद् शब्द के सम्बन्ध का भी बोध होता है । इसी से उद्भिद् अधिकरण में मीमांसा के आचार्यो ने मुक्तकण्ठ होकर यह कहा है कि "यह नियम नहीं है कि शब्द ही से उपस्थित विशेषण के-

'अनुपस्थितविशेषणा विशिष्टे बुद्धिर्न भवति नत्वनभिहितविशेषणेति' अथ कथमियं शक्तिर्लौकिकक्लृप्ता, तत्र हि विधिशब्दस्य प्रेषणादिरूपपुरुषधर्मवाचित्वं क्लृप्तमिति वेदे तस्य भावनावाचित्वं कथमुपपद्यते। उच्यते लोकवेदयोरैकरूप्यमेव। तथाहि लोके प्रेरणादिकं न तेन तेन रूपेणविधिपदवाच्यम्। अननुगमेन नानार्थत्वप्रसङ्गात् किंतु प्रेषणाध्येषणाऽनुज्ञा-स्वस्तिप्रवर्त्तनात्वमेकम् तच्च शब्दव्यापारेऽपि तुल्यमिति तदेव लिङादिपदवाच्यम् तच्च लौकिकशब्दे नास्त्येव, तत्र राजादीनामेव प्रवर्त्तकत्वात्। प्रवर्त्तकत्वं च राजादेरिव वेदस्या-प्यनुभवसिद्धम्। ननु वेदेऽपि प्रवर्त्तनावानीश्वरः कल्प्यताम् लोके राजादिवत् तदुक्तम् "विधि-रेवतावद्गर्भश्श्रुतिकुमार्य्याः पुंयोगे मान" मितीति चेन्न। वेदस्यापौरुषेयत्त्वात्। नहि वेदस्य कर्त्ता पुरुषो वेदे लोके वा प्रसिद्धः। तत्कल्पने च तज्ज्ञानप्रामाण्यापेक्षया वेदस्य प्रामाण्ये, निरपेक्षत्वेन स्थितं प्रामाण्यं भग्नं स्यात् किंच बुद्धवाक्येऽपि प्रामाण्यप्रसङ्गः ईश्वरवचनत्वे-

॥ भाषा ॥

सम्बन्ध का बोध, वैदिकशब्दों से होता है" अर्थात् अन्य प्रकार से उपस्थित विशेषण के सम्बन्ध का भी उन से बोध होता है। इस रीति और प्रमाण से, पूर्वोक्त दोनों मतों में श्रोताओं के अन्तः-करण द्वारा उपस्थित करणांश के सम्बन्ध का भी बोध वैदिक लिङादिशब्दों से होता है।

प्र०—जैसे भट्टसोमेश्वर के मत में अलौकिक व्यापार की कल्पना से दोष पड़ता है वैसे ही इन दो मतों में क्यों नहीं पड़ता? क्योंकि लिङादि प्रत्ययों की शक्ति, जो वेद में प्रसिद्ध है वह भी तो लौकिक लिङादिशब्दों में नहीं है। प्रसिद्ध ही है कि लौकिक लिङादिशब्द चेतन अर्थात् पुरुष में रहनेवाली पूर्वोक्त आज्ञादिरूपी प्रेरणा के वाचक हैं न कि उक्त शाब्दीभावना के।

उ०—लोक में भी आज्ञादिरूपी अनेक प्रकार की प्रेरणाएं पृथक् २ नहीं लिङादिशब्द के अर्थ है क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो लिङादिशब्दों की अनेक शक्तियों के स्वीकार करने से महागौरव होगा किन्तु सामान्यरूप से प्रेरणा ही लिङादिशब्दों का अर्थ है और उसी में आज्ञादि सबी विशेष प्रकार, अन्तर्गत हो जाते हैं तथा प्रेरणा, व्यापार ही का नाम है चाहो वह चेतन का हो वा अचेतन का। तो ऐसी दशा में जैसे चेतन का व्यापार लौकिक लिङादिशब्दों का अर्थ है वैसे ही शाब्दीभावना भी वैदिक लिङादिशब्दों का अर्थ है। क्योंकि वह भी शब्द का व्यापार ही है, इस रीति से लोक और वेद में लिङादिशब्दों का प्रेरणारूपी अर्थ तुल्य ही है। जैसे लोक में राजा आदि, पुरुषों के प्रवर्त्तक होते हैं वैसे ही वेद में लिङादिशब्द प्रवर्त्तक हैं। और जैसे लोक में राजकार्यों में पुरुषों की प्रवृत्ति देखी जाती है वैसे ही यज्ञादिरूपी वैदिक कार्यों में भी।

प्र०—जैसे लोक में राजा आदि प्रवर्त्तक हैं वैसे ही वैदिकलिङादि के विषय में भी, परमेश्वर ही (जोकि चेतन मण्डली के मण्डन और स्वामी हैं) क्यों न प्रवर्त्तक माने जायं। इसी से न्यायकुसमाञ्जलि में उदयनाचार्य ने यह कहा है कि "गर्भतुल्य वैदिक लिङादिशब्द ही कुमारी कन्या के तुल्य श्रुति (वेदवाणी) के पुरुष (परमेश्वर) संयोग में प्रमाण है?

उ०—यह मत ठीक नहीं है क्योंकि वेद अपौरुषेय ही है। यदि पौरुषेय होता तो उसका कर्ता भी कोई अवश्य प्रसिद्ध होता। और यदि कर्ता की कल्पना की जाय तो उसका ज्ञान प्रमाण है, इस से वेद प्रमाण होगा और इस से वेद का स्वतन्त्र प्रमाण होना (जो कि सि-द्धान्त है) टूट जायगा* और दूसरा दोष यह भी पड़ेगा कि बुद्धवाक्य भी धर्म में प्रमाण हो जायगा-

समानेऽपि बुद्धवाक्यं न प्रमाणं वेदवाक्यं तु प्रमाणमित्यभिधाने च सुभगाभिक्षुकन्यायप्रसङ्गः, । महाजनानामपि बौद्धवैदिकोभयसिद्धत्वाभावेन तत्परिग्रहापरिग्रहाभ्यामपि विशेषस्य दुर्वचत्वात् । अपिच ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदसाधारण्येन लोकेऽपि राजादीनां प्रेरकत्वानुपपत्तिः । अथ स्थितायामेवेश्वरप्रेरणायां राजादिरपि असाधारणतया प्रेरक इति चेत्, हन्त सा तिष्ठतु नवा किंत्विहाप्यसाधारणः प्रेरको वेद एव राजादिस्थानीय इत्यागतं मार्गे । वेदपौरुषेयत्ववादिनामपि साधारण्या ईश्वरप्रेरणाया लोकवेदासाधारणप्रेरणासहकारेणैव प्रवर्त्तकताया वक्तव्यतया शब्दभावनारूपाया असाधारण्या वेदप्रेरणायाः स्वीकारस्य गले पतितत्वात् । अन्यच्च ईश्वरप्रेरणायां सर्वोऽपि वेदविहितं कुर्य्यादेव नतु कश्चिदपि लङ्घयेत् । विहिते सन्ध्यावन्दनादाविव निषिद्धेऽपि ब्रह्मवधादावीश्वरप्रेरणायाः सत्त्वात् अन्यथा न तत्र कोऽपि प्रवर्त्तेतेति निषिद्धमपि विहितं स्यात् । तथाचोक्तम् 'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः ॥ ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा" ॥ इति । तस्माद्रा-

॥ भाषा ॥

क्योंकि वह भी ईश्वरोक्त ही है और बुद्धभगवान् का ईश्वरावतार होना निर्विवाद है तब किस मुख से यह कहा जा सकता है कि वेदवाक्य प्रमाण है और बुद्धवाक्य नहीं । यदि यह कहा जाय कि महापुरुषों ने स्वीकार किया है इस से वेदवाक्य प्रमाण है, और बुद्धवाक्यों को तो महापुरुषों ने स्वीकार नहीं किया है, तो इस पर यह प्रश्न होगा कि महापुरुष कौन है ? और इस पर वैदिक और बौद्ध का परस्पर कलह होने लगेगा अर्थात् जिसको वैदिक, महापुरुष कहेगा उसको बौद्ध, महापुरुष नहीं कहेगा और जिसको बौद्ध कहेगा उसको वैदिक नहीं कहेगा तो जब दोनों वादी का सम्मत कोई महापुरुष नहीं हुआ तब एक वादी अपने महापुरुष के स्वीकार से कैसे वेद को प्रमाण सिद्ध कर सकता है ।* और तीसरा दोष यह भी पड़ेगा कि जैसे यज्ञादिकर्मों में प्रेरणा करने से ईश्वर प्रेरक हैं वैसे ही लौकिक कर्मों में भी ईश्वर ही प्रेरक हो जायंगे क्योंकि उनकी प्रेरणा, वेद लोक दोनों में साधारण ही है तब ऐसी दशा में लौकिक कर्मों में भी राजादिक प्रेरक न कहलायेंगे । यदि यह कहा जाय कि लौकिक कर्मों में भी साधारण प्रेरक ईश्वर होते ही हैं किन्तु राजादिक भी असाधारण प्रेरक हैं, तब तो बात, घूमघामकर सिद्धान्त ही पर आ गई क्योंकि वैदिककर्मों में भी राजादि के तुल्य वेद ही असाधारण प्रेरक हैं । और वेद के पौरुषेय मानने वाले को यह अवश्य मानना पड़ेगा कि जैसे राजादिक की असाधारण प्रेरणा के बिना, ईश्वर की प्रेरणा, लौकिक कार्यों में पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं कराती वैसे ही वेद की असाधारण प्रेरणा के बिना, यज्ञादिरूपी वैदिक कार्यों में भी वह किसी की प्रवृत्ति नहीं करती । तथा वेद की असाधारण प्रेरणा उक्तरूपी शाब्दीभावना ही है, तो ऐसी दशा में शाब्दीभावना, वेद को पौरुषेय मानने वालों के गले ही पड़ गई । * और चौथा दोष यह भी पड़ेगा कि वेद में ईश्वर की प्रेरणा यदि मानी जाय तो वेदविहित कर्मों को सबी अधिकारी करेंहींगे अर्थात् कोई कदापि उसका उल्लङ्घन न करेगा क्योंकि जैसे सन्ध्यावन्दनादिरूपी विहितकर्मों में ईश्वर की प्रेरणा से प्रवृत्ति होती है वैसे ही ब्रह्महत्यादिरूपी निषिद्ध कर्मों में भी । और यदि ऐसा न माना जाय तो ब्रह्महत्यादिरूपी कर्म में कदापि किसी की प्रवृत्ति ही न हो क्योंकि यह बात स्पष्ट कही हुई है कि 'अज्ञोजन्तु' "यह अज्ञानी प्राणी अपने सुख दुःख में पराधीन है क्योंकि ईश्वर से प्रेरित हो कर स्वर्ग वा नरक को प्राप्त होता है" अव-

जादिरिव स्वप्रवर्त्तनां ज्ञापयन्वेदोऽपीच्छोपहारमुखेन प्रवर्त्तयतीति सिद्धमेव लोकवेदयोरै-करूप्यम्। यद्यपि पूर्वमीमांसकानां मते स्वतन्त्रो वेदः ब्रह्ममीमांसकानां तु ब्रह्मणोविवर्त्तत्वा तत्परतन्त्रो वेद इति विशेषः तथापि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदयमृग्वेद" इत्यादिश्रुतिलभ्येन श्वसिततुल्यत्वेन वेदस्यापौरुषेयत्वमुभयेषां समानम् अत्र च प्रवृत्त्यनुकूलव्यापारत्वं प्रवर्त्तनात्वम् तच्च सखण्ड उपाधिरखण्डो वा। तन्मात्रस्य लिङादिपदशक्यत्वे तदाश्रयविशेषाणामुपस्थितिर्गवादिव्यक्तीनामिव बोध्या अनुकूलव्यापारत्वं वा शक्यम्। प्रवृत्त्यंशस्त्वाख्यातत्वेन शक्त्यन्तरलभ्य एव, दण्डीत्यत्र सम्बन्धिनि मतुबर्थे प्रकृत्यर्थदण्डांशवदिति। इयं च विधिरूपा शब्दभावना इति।

एवं निवारणारूपाऽपि शब्दभावना विधिभावनावदेव प्रसाध्या। साऽपि च निवृत्ति-हेतुर्निवर्त्तयितुर्द्धर्मः यथा च विधिरूपा शब्दभावना प्रवर्त्तनाख्याऽहमिमं प्रवर्त्तयामीति प्रव-

॥ भाषा ॥

यह दोष स्पष्ट ही हो गया कि ईश्वर को वेदकर्ता बनाकर उनकी प्रेरणा से वैदिक कर्मों में यदि पुरुषों की प्रवृत्ति मानी जाय तो जो कर्म, निषिद्ध कहलाते हैं वे भी विहित कहलाने लगेंगे। इस से भी अधिक देखना हो तो पूर्वोक्त 'वेदापौरुषेयता' प्रकरण में देखना चाहिये। तस्मात् यह सिद्ध हो गया कि राजादि के नाईं अपनी प्रवर्त्तना को जनाता हुआ वेद भी पुरुषों में इच्छा उत्पन्न कर, कर्मों में उनकी प्रवृत्ति कराता है और लोक वेद दोनों में प्रवृत्ति कराने की व्यवस्था एक ही है। उक्त दोनों मतों में भट्टसोमेश्वर के मत के नाईं किसी अलौकिक पदार्थ की कल्पना नहीं की जाती है जिस से कि उक्त गौरवदोष का सम्भव भी हो सके। यद्यपि कर्ममीमांसकों के मत में वेद अत्यन्त स्वतन्त्र है और ब्रह्ममीमांसकों (वेदान्तियों) के मत में तो ब्रह्म के परतन्त्र है क्योंकि उनका विवर्त अर्थात् जैसे रस्सी में सर्प कल्पित होता है और ब्रह्म में भी जगत् जैसे कल्पित है वैसे ही वेद भी उनमें कल्पित है यह दोनों मतों का परस्पर भेद है तथापि "अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदयमृग्वेदः" (यह जो ऋग्वेद है सो परब्रह्म के श्वास के तुल्य स्वाभाविक है) इत्यादि वेदवाक्यों के अनुसार वेद का अपौरुषेय होना दोनों दर्शनों के मत में समान ही है क्योंकि जैसे जीव ईश्वर आदि अनेक, ब्रह्म के विवर्त अनादि माने गये हैं वैसे ही वेद भी। यद्यपि अनादियों के परिगणन में वेद नहीं परिगणित है तथापि अनन्तरोक्त वेदवाक्य के अनुसार वह परिगणन उपलक्षणमात्र है अर्थात् उस परिगणन का यही मुख्य तात्पर्य है कि "जिस २ विवर्त के अनादि होने में प्रबल प्रमाण मिलते हैं वे सब अनादि हैं"। यहां तक प्रवर्त्तनारूपी शाब्दी-भावना का निरूपण हो चुका।

अब निवर्त्तना (निवारण) रूपी शाब्दीभावना का निरूपण किया जाता है कि निवृत्ति का कारण, और निवृत्ति करनेवाले में रहनेवाली, निवारणरूपी शाब्दीभावना है जिसको निवर्त्तना भी कहते हैं। तथा जैसे "मैं इसे प्रवृत्त करता हूं" इस, प्रवर्त्तक पुरुष की मानस प्रत्यक्षरूपी प्रमाण के

र्त्तकपुरुषमानसप्रत्यक्षसाक्षिका तथा निवर्त्तनाऽप्यहमिमं निवर्त्तयामीति निवर्त्तयितुर्मानसप्रत्यक्षेण वेद्या साऽपि च न्यूनोत्तमसमविषयकत्वेन त्रिधा विभज्यमाना लोके पुरुषधर्मः। वेदे तु पुरुषाभावेन पुरुषाशयविशेषरूपतादृशविधात्रयासंभवाल्लिङादेरेव निवर्त्तकत्वाच्च लिङादिधर्मभूता चतुर्थ्यपि तद्विधाऽवश्यमङ्गीकार्य्या सैव च प्रतिषेधो निषेध इति च गीयते। लोके तु प्रतिषेधनिषेधशब्दव्यवहारो विधिशब्दव्यवहारवद्भाक्त एव। अस्याश्च निवृत्तिरेव भाव्या, करणं तु शक्तिज्ञानं शक्तिविशिष्टज्ञानं वा यथामतमनुसरणीयम्। अथ निवृत्तेर्धात्वर्थप्रतिकूलत्वेनाख्यातसामान्यवाच्यत्वाभावादनुपस्थित्या कथं तस्यां भाव्यतया निवृत्तेरन्वयः। निवर्त्तनायांच कुत्र कस्य शब्दस्य शक्तेर्ज्ञानं शक्तिविशिष्टस्य वा कस्य शब्दस्य-

॥ भाषा ॥

अनुसार, प्रवर्त्तनारूपी शाब्दीभावना सिद्ध है वैसे ही "मैं इस पुरुष को, इस काम से निवृत्त करता हूं" इस मानस प्रत्यक्ष से, निवर्त्तकपुरुष की निवर्त्तनारूपी शाब्दीभावना भी सिद्ध ही है और जैसे लोक में, प्रवर्त्तकपुरुष की अपेक्षा प्रवर्त्यपुरुष के हीन, समान और उत्तम होने से तीन प्रकार की प्रवर्त्तना पूर्व में दिखलाई गई है वैसे ही निवर्त्तकपुरुष की अपेक्षा, निवर्त्यपुरुष के हीन, समान और उत्तम होने से निवर्त्तना भी तीन प्रकारकी होती है तथा जैसे लोक में अनन्तरोक्त तीन प्रवर्त्तनाएं, प्रवर्त्तकपुरुष की इच्छाविशेष ही हैं वैसे ही ये तीन निवर्त्तनाएं भी निवर्त्तकपुरुष की इच्छाविशेष ही हैं। इसी से जैसे लोक में प्रवर्त्तना, चेतन ही का धर्म है वैसे ही निवर्त्तना भी। वेद में तो वक्ता पुरुष के न होने से उक्त तीन प्रकार की प्रवर्त्तनाओं से अतिरिक्त एक चतुर्थ प्रकार की प्रवर्त्तना, लिङादिशब्दों में रहनेवाली, पूर्व में दृढ़तर युक्तियों से सिद्ध कर दिखलाई गई है वैसे ही उक्त तीन प्रकार की निवर्त्तनाओं से भिन्न, चौथे प्रकार की एक निवर्त्तना भी वैदिकलिङादिशब्दों में अवश्य ही सिद्ध होती है और इसी को निवारण, निषेध और प्रतिषेध भी कहते हैं। जैसे "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (किसी प्राणी को न मारे) इस में (यात्) लिङ्शब्द का स्वरूप है उसी में निवर्त्तनारूपी शाब्दीभावना रहती और उसी का अर्थ भी है तथा मारने से पुरुषों की निवृत्ति ही निवर्त्तना का भाव्य है और पूर्वोक्त मतभेद के अनुसार यदि (यात्) शब्द की शक्ति का ज्ञान ही निवर्त्तना है तो शक्ति से सहित (यात्) शब्द का ज्ञान, उसका करण है तथा यदि शक्ति से सहित (यात्) शब्द का ज्ञान, ही निवर्त्तना है तो उक्त शक्ति का ज्ञान, उसका करण है।

प्र०—निवृत्ति का यह स्वभाव है कि वह क्रिया के विरुद्ध होती है क्योंकि निवृत्ति भी पुरुष का एक आन्तरिक प्रयत्न है जो कि क्रिया के न करने में कारण है तात्पर्य यह है कि जैसे प्रवृत्ति से क्रिया होती है वैसे ही प्रवृत्ति के विरुद्ध निवृत्तिरूपी यत्न से क्रिया का अभाव होता है तो ऐसी अवस्था में (यात्) आदि आख्यातों का निवृत्ति अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह धात्वर्थ (हिंसा आदि) के प्रतिकूल ही है और आख्यात का अर्थ वही हो सकता है जो धात्वर्थ के अनुकूल हो इस रीति से जब आख्यात से निवृत्ति नहीं उपस्थित हो सकती तब वह कैसे निवर्त्तना का भाव्य-

ज्ञानं करणम् निवृत्तेर्धात्वर्थप्रतिकूलतयाऽऽख्यातत्वेन विधिशक्यत्वाभावात् । कथं चास्या लिङादिवाच्यता, प्रवर्त्तनायां 'विधिनिमन्त्रणे' त्यनुशासनवत्तस्यां शक्तिग्राहकानुशासनविरहात् एवं तस्यां भाव्यं स्वरूपं करणंचेति सर्वमेवाप्रामाणिकं कथमङ्गीकार्यमिति चेत्—

अत्र केचित् यद्यपि प्रवर्त्तनायां विधिनिमन्त्रणेत्यनुशासनमिव निवर्त्तनायां न शक्तिग्राहकमनुशासनमस्ति तथापि अनादौसंसारे नञुपहितलिङादियुक्तवाक्यश्रवणानुविधायिनीं प्रयोज्यवृद्धनिवृत्तिं दृष्ट्वा आवापोद्वापाभ्यां निवृत्तावेव शक्तिग्रहे प्रसक्ते प्रवर्त्तकत्वव्यवहारान्यथाऽनुपपत्त्या प्रवर्त्तनायामिव गुरुणा निवर्त्तकेन निवर्त्तितोऽहन्निवर्त्ते इत्यादिरूपस्य गुरौ निवर्त्तकत्वव्यवहारस्यान्यथाऽनुपपत्त्या तद्व्यापारभूतायां निवर्त्तनायां भवत्येव व्युत्पित्सोः शक्तिग्रहः । अतएव नञ्टीकायां "प्रतिषेधविधिपरो हि विधायक" इत्यादौ "प्रत्ययावृत्तिलक्षणो वाक्यभेदप्रसङ्ग" इत्यन्ते ग्रन्थे विधायकपदेन लिङएव प्रतिषेधार्थत्वमुक्तम् एवं च निवृत्तिरूपो भाव्यांशोऽपि लिङादिभिरेवोपस्थाप्यते एवं स्वरूपादिकमपि निषेधभावनाया विधिभावनावदेवोपपद्यत इत्याहुः ।

अन्येतु निवर्त्तना नञर्थ एव, तद्बोधे च नञो विधिसमभिव्याहारज्ञानं कारणम् तदुक्तम् तद्भूताधिकरणे वार्तिके 'विधायकैरसंयुक्तो नहि नञ् प्रतिषेधकः । विधिना युज्यते यत्र न हन्यान्न पिवेदिति ॥ तत्राभावार्थता नैव स्वयं पुंसो रुणद्धि हि' । इति । नहि विधिं विना नञा-

॥ भाषा ॥

होगी । और निवृत्ति के बोध करानेवाली शक्ति, जब आख्यात में नहीं है तब उस से सहित किस शब्द का ज्ञान, निवर्त्तना में करण होगा ? तथा प्रवर्त्तना विधिरूपी है इससे वह लिङादिशब्द का अर्थ है क्योंकि "विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषुलिङ्" (अष्टा० अ० ३ पा० ३ सू० १६१) इस पाणिनि सूत्र से विधि में लिङ् का विधान होता है । और निवर्त्तना में तो लिङ् के विधान का कोई सूत्र ही नहीं है तो किस के बल से निवर्त्तना भी लिङादिशब्द का अर्थ हो सकती है ? तस्मात् निवर्त्तना का विध्यर्थ होना, भाव्य और करण, ये सब ही अंश जब अप्रामाणिक ही हैं तब कैसे निवर्त्तनारूपी शाब्दीभावना स्वीकार के योग्य है ?

उ०—(१) यद्यपि निवर्त्तना में लिङादि का विधायक कोई सूत्र नहीं है तथापि अनादि लोकव्यवहार के अनुसार निवर्त्तना भी लिङादि शब्द का अर्थ है क्योंकि "न कूपे पतेत्" इत्यादि वृद्धवाक्यों से प्रयोज्यपुरुषों की कूपपतन से निवृत्ति, और "गुरुरूपी निवर्त्तक के वाक्य से मैं कूपपात से निवृत्त होता हूं" इत्यादि व्यवहार को देखकर यह समझा जाता है कि वृद्ध और गुरु के निवर्त्तनारूपी व्यापार के, वे लिङादिशब्द वाचक हैं जिनके समीप में न आदि शब्द रहते हैं इसी रीति से निवृत्तिरूपी भाव्य भी लिङादिशब्द का अर्थ है और विधिभावना के नाईं निषेधभावना का भी सब ही अंश प्रामाणिक हैं ।

(२) निवर्त्तना 'न' शब्द ही का अर्थ है किन्तु बोध उसका वहीं होता है जहां कि न शब्द के समीप में लिङादिरूपी विधिशब्द रहते हैं जैसे "न हन्यात्" (न मारे) "न पिबेत्" (न पीवे) इत्यादि और जहां लिङादिविधिशब्द नहीं रहते वहां 'न' शब्द से पुरुषों की निवृत्ति नहीं होती जैसे "न पिवति" (नहीं पीता है) "न हन्ति" (नहीं मारता है) इत्यादि । तथा निवर्त्तना को जो लिङादिशब्द का अर्थ मानते हैं उनके मत के नाईं इस मत में भी भाव्य करण-

निवर्त्तना बोधयितुं शक्यते, न हन्ति न पिबतीत्यादितोऽपि हननपानादिभ्यः पुंसां निवृत्तिप्रसङ्गादिति तदाशयः। भाष्याद्युपपत्तिस्तु विध्यर्थतापक्ष इव नञर्थतापक्षेऽपि तुल्यैवेत्याहुः।

अयमेव च पक्षो युक्त इति प्रतिभाति। लिङ्लोट्पञ्चमलकाराणां तव्यादीनां चानेकेषां कृत्यानां चतुरधिकशक्तिकल्पनाऽऽपत्त्या पूर्वस्मिन्पक्षे गौरवात्। तदपेक्षया चास्मिन्कल्पे "अ मा नो नाः प्रतिषेधे" इत्यव्ययचतुष्टये शक्तिचतुष्टयीमात्रकल्पनायां लाघवात्। नन्वास्मिन्पक्षेऽप्यभावविषयाया नञादिशक्तेस्त्यागकल्पनया गौरवात्साम्यमिति वाच्यम्। एतद्गौरवस्थानीयस्य प्रवर्त्तनाविषयाया लिङादिशक्तेस्त्यागकल्पनया प्रयुक्तस्य गौरवस्य पूर्वस्मिन्नपि पक्षे सत्त्वात्। नचैवमप्यस्मिन्पक्षे नञादिसमभिव्याहृतस्य लिङादेरागादिप्राप्तप्रवर्त्तनाऽनुवादकत्वापत्तिरिति वाच्यम्। पूर्वस्मिन्नपि पक्षे नञादेर्निवर्त्तनाफलीभूतार्थिकप्रवृत्त्यभावानुवादकत्वापत्तेरविशेषात्। अतएव भगवता पाणिनिना निवर्त्तनायां लिङादिविधायकानि सूत्राणि न प्रणीतानि। ध्वनितं चैतत् तद्भूताधिकरणे नञ्टीकायां च नञि शक्तेर्द्विरभिधाने-

॥ भाषा ॥

आदि, निवर्त्तना के अंशों की उपपत्ति होती है। विचार करने से यह द्वितीय ही उत्तर निर्दोष समझ पड़ता है क्योंकि प्रथम उत्तर के स्वीकार में लिङ्, लोट्, लेट्, तव्य, अनीयर, आदि अनेक शब्दों का निवर्त्तना अर्थ स्वीकार करना पड़ता है और इस उत्तर के स्वीकार में अ, मा, नो, न, इन चार ही शब्दों का निवर्त्तना अर्थ करना पड़ता है इस कारण इस उत्तर में लाघव है।

प्र०—द्वितीय उत्तर में भी प्रथम पक्ष की अपेक्षा यह गौरव है कि 'न' आदि शब्दों के अभावरूपी प्रसिद्ध अर्थ का त्याग स्वीकार करना पड़ता है इस रीति से दोनों उत्तरों में जब गौरव समान है तब कैसे द्वितीय ही उत्तर ठीक है?

उ०—इस प्रश्नोक्त गौरव के बदले में यह गौरव प्रथम उत्तर में है कि लिङादिशब्दों के प्रवर्त्तनारूपी प्रसिद्ध अर्थ का त्याग करना पड़ता है इस से पूर्वोक्त गौरव प्रथम उत्तर में अधिक है।

प्र०—द्वितीय उत्तर में यह दोष है कि निवर्त्तना जब न आदि शब्द ही का अर्थ है तब उसके समीप में वर्त्तमान लिङादिशब्दों का प्रवर्त्तना ही अर्थ करना पड़ेगा जोकि सुरापानादि में लौकिक अनुराग ही से प्राप्त होता है तो रागप्राप्त अर्थ का विधान व्यर्थ है इसलिये 'सुरां न पिबेत्" इत्यादि में लिङादिशब्दों को अनुवादक मानने से उनकी विधानशक्ति छूट जाती है।

उ०—प्रथम पक्ष में भी यह दोष है कि निवर्त्तना जब लिङादिशब्द का अर्थ होता है तब प्रवृत्ति का अभाव, अर्थात् निकल आता है इसी से 'न' आदि शब्द, प्रवृत्ति के अभाव का विधान नहीं कर सकते किन्तु उस अभाव के अनुवादक ही होते हैं इस कारण 'न' आदि शब्दों की निवर्त्तनाशक्ति छूट जाती है ऐसी दशा में अर्थात् जब दोनों उत्तरों में एक २ दोष है तब पूर्व उत्तर में उक्त गौरवरूपी दोष अधिक ही है इसलिये द्वितीय ही उत्तर उचित है न कि प्रथम। तथा निवर्त्तना में लिङादि के विधान का सूत्र, जो पाणिनि महर्षि ने नहीं बनाया उसका भी यही तात्पर्य है कि द्वितीय ही उत्तर ठीक है क्योंकि यदि निवर्त्तना लिङर्थ होती तो अवश्य ही उक्त महर्षि उसमें लिङादि के विधान का सूत्र बनाते और निवर्त्तना 'न' आदि शब्द ही का अर्थ है यही समझकर महर्षि ने निवर्त्तना में लिङादि के विधान का सूत्र नहीं बनाया। और द्वितीय ही उत्तर कुमारिलभट्टपाद-

भाष्यैव पक्षस्यादरं सूचयद्भिर्वार्तिककृद्भिरिति ध्येयम् ।

ननु सत्यपि भावनाद्वये कथमर्थवादानां ग्रहणमिति चेत्, अर्थभावनायाःकंचिदंशम-प्रतिपादयतामपि तेषां तादृशभावनामनुष्ठापयन्त्या शब्दभावनयैव ग्रहणम् तत एव चार्थ-भावनाऽऽख्यक्रियाऽर्थत्वमप्यमीषामिति गृहाण । तयाऽपि कथं ग्रहणमिति चेत्, श्रूयताम् । शब्दभावना तावदध्ययनविधिवशात्कार्य्यत्वेन प्रतीयते ततश्च तद्द्वारेणैव तदङ्गभूतस्य प्राश-स्त्यज्ञानस्यापि कार्य्यत्वमवसीयते । तथाच प्राशस्त्यज्ञानस्य साधनाकाङ्क्षायां स्वाध्यायपदा-भिधेयानर्थवादानध्ययनविधिरेव तत्साधनतया विनियुङ्क्ते, वेदोऽर्थवादैः स्तुत्वा लिङादि-शब्दशक्तिज्ञानेन पुरुषप्रवृत्तिं भावयेदिति । एवंच दर्शपूर्णमासभावनया स्वाङ्गस्य प्रयाजादेर-ङ्गानां द्रव्यदेवतादीनामिव शब्दभावनयाऽप्यर्थवादानां ग्रहणमुचितमेवेति । नच ग्रहणमूल-भूतत्वेन निवेद्यमानः स्वर्गकामादिवाक्यगतशब्दभावनाधर्मिकः कार्य्यत्वावगम एवाध्ययन-

॥ भाषा ॥

के भी सम्मत ज्ञात होता है क्योंकि तद्भूताधिकरण के वार्तिक और नव्यटीका में भी उन्हों ने, एक २ बार इन दोनों उत्तरों को कह कर द्वितीय उत्तर के पुनः कहने से उसमें अपना आदर सूचित किया है।

यहां तक आर्थी और शाब्दीभावना का निरूपण समाप्त हो गया अब यह विचार किया जाता है कि शाब्दीभावना के किस अंश में किस रीति से अर्थवादवाक्य अन्तर्गत हो कर विधि-वाक्यों के अङ्ग होते हैं ? जिस से कि वे प्रमाण हैं ।

प्र०—यह ठीक है कि वैदिक लिङादिशब्दों का आर्थीभावना (जो सब आख्यातों का अर्थ है) से अतिरिक्त शाब्दीभावना (जो लिङादि ही का अर्थ है अर्थात् अन्य आख्यातों का अर्थ नहीं है) अर्थ है और दोनों भावनाओं के स्वरूपों और अंशों का निश्चय भी हो गया । तथा पूर्व में यह भी कहा जा चुका है कि 'आर्थीभावना में अर्थवादों का अन्तर्भाव नहीं होता है' इससे यह स्पष्ट हो गया कि शाब्दीभावना ही में अर्थवादों का निवेश होता है इसलिये अब ये ही प्रश्न अवशिष्ट रहे कि किस अंश में ? और किस रीति से ? अन्तर्भाव होता है, तो इन प्रश्नों का क्या उत्तर है ?

उ०—प्रथम प्रश्न का यह उत्तर है कि इतिकर्त्तव्यतारूपी (करने की रीति) अंश में अर्थवादों का अन्तर्भाव होता है । और द्वितीय प्रश्न का उत्तर यह है कि उक्त अध्ययनविधिवाक्य का यह अर्थ है कि 'वेद, लिङादिशब्दों की शक्ति से पुरुषों की प्रवृत्ति को उत्पन्न करे' और वह तब उत्पन्न की जा सकती है कि जब उसके विषय यागादिकों के गुण का ज्ञान पुरुषों को कराया जाय इस रीति से उसी अध्ययनविधि के द्वारा यह भी निश्चित हुआ कि प्रशंसा (यागों के गुण का वर्णन) भी करना चाहिये जिस से पुरुषों की यागादिकों में प्रवृत्ति हो, और इस निश्चय के अनन्तर "किन शब्दों से प्रशंसा की जाय" इस जिज्ञासा की दशा में उक्त अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) ही वेदवाची स्वाध्याय शब्द से, अर्थवादवाक्यों को नियम से बतलाता है कि 'इन्हीं अर्थवादों से यज्ञा-दिकों प्रशंसा करे, न कि अन्यवाक्यों से' । इसी रीति से अर्थवाद, शाब्दीभावना में, इतिकर्त्त-व्यतारूपी हो कर अन्तर्गत होते हैं ।

प्र०—विधिवाक्यों के लिङादिशब्दों का अर्थ तो शाब्दीभावना है किन्तु उक्त अध्ययन-विधि उसमें कार्यता का ज्ञान (करे) ही नहीं करा सकता क्योंकि इसकी उपपत्ति नहीं हो सकती-

विधितो न संभवति, उपपत्त्यभावात् । कार्य्यत्वाप्रतीतौ च न तद्द्वारेणापि प्राशस्त्यज्ञाने कार्य्यत्वस्यावगतिः तत्र तदनवगतौ च न प्राशस्त्यज्ञानस्य स्वसाधनापेक्षा, अर्थवादाश्च लक्षणया प्राशस्त्यबोधने स्वातन्त्र्येणासमर्था एवेति न शब्दभावनया तेषां ग्रहणमिति रीत्या सकलमाकुलमेवेति वाच्यम् । अध्ययनविधिर्हि शक्त्यनुसारेण सर्वाण्येव वेदाक्षराणि विनियुङ्क्ते, गुरुमुखादधीतैर्वेदाक्षरैर्यथाशक्ति पुरुषस्योपकर्त्तव्यमिति एवंच शब्दशक्तिस्वाभाव्यानुसारात्स्वसहितानां स्वर्गकामादिसकलवाक्यानां घटकानि लिङादीनि प्रवर्त्तनायां विनियुङ्क्ते, इमानि पुरुषं प्रवर्त्तयेरन्निति, नच तत्र प्रवर्त्तयिता कश्चित्पुरुषोऽस्तीति स्वातन्त्र्याल्लिङादय एव प्रयोजककर्त्तारः, प्रयोज्यकर्त्तारश्च पुरुषा इतिकल्प्यते । एवंच शब्दभावनायाः पुरुषप्रवृत्तिरूपार्थभावनाऽनुकूलाया लिङादिशब्दकार्य्यता स्फुटतरमेव स्वाध्यायविधिना प्रत्याय्यत इत्यस्त्येव ततस्तत्कार्य्यताबोधस्योपपत्तिः । नचैवमस्तुनामान्येषां विधीनामध्ययनविधिनियोज्यता, तथाप्यध्ययनविधिर्न स्वनियोज्यः स्वस्मिन्स्वनियोगासंभवात् नाप्यध्य-

॥ भाषा ॥

और जब शाब्दीभावना ही में कार्यताज्ञान (करे) नहीं हुआ तब उस भावना के अङ्गभूत, प्रशंसा में भी कार्यताज्ञान (करे) नहीं हो सकता और जब प्रशंसा में कार्यताज्ञान ही नहीं है तब यह जिज्ञासा ही नहीं हो सकती कि "किन शब्दों से" और ऐसी दशा में अध्ययनविधि अर्थवादों को नहीं बतला सकता कि 'इन्हीं से प्रशंसा करो' क्योंकि जो पदार्थ जिज्ञासित नहीं है उसके उपाय का उपदेश व्यर्थ होता है । और यह भी नहीं कह सकते कि अर्थवाद, लक्षणावृत्ति के द्वारा आपही आप यज्ञों की प्रशंसा का बोध करा सकते हैं क्योंकि वे अपने शब्दों के अनुसार सिद्ध ही अर्थ का बोध कराते हैं निदान जब अध्ययनविधि से, प्रशंसा का करना, उक्त रीति से नहीं निकलता तब किस के द्वारा अर्थवाद सब, शाब्दीभावना की इतिकर्त्तव्यता में आ सकते हैं ?

उ०—इस प्रश्न का मूल यही है कि 'शाब्दीभावना में, अध्ययनविधि से कार्यता का ज्ञान नहीं हो सकता,' सो यह ठीक नहीं है क्योंकि अध्ययनविधि का यह अर्थ है कि 'गुरुमुख से अधीत वेदाक्षरों को, यथाशक्ति पुरुष का उपकार करना चाहिये' । और इसी अर्थ के अनुसार अध्ययनविधि, अपने और अपने से अन्य सब वैदिकवाक्यों को पुरुष के उपकार में अक्षरशः लगाता है और वेद के किसी एक अक्षर की व्यर्थता का भी यह अध्ययनविधि कदापि सहन नहीं कर सकता तथा इसी कारण से सब वैदिकविधिवाक्यों के लिङादिशब्दों को यही अध्ययनविधि, पुरुषों की प्रवृत्ति कराने में नियुक्त करता है कि "ये लिङादि शब्द, पुरुषों की प्रवृत्ति कराएँ" इस रीति से वैदिकलिङादिशब्द ही यज्ञादिकर्मों में पुरुषों के प्रति, प्रयोजक (१) कर्ता हैं क्योंकि ये अपौरुषेय हैं इससे कोई पुरुष प्रयोजक कर्ता नहीं है इस रीति से पुरुषरूपी प्रयोज्य (२) कर्ता की जो प्रवृत्तिरूपी आर्थीभावना है उसके अनुकूल प्रेरणारूप, उक्त शाब्दीभावना, वैदिकलिङादिरूपी प्रयोज्यकर्ताओं का कर्त्तव्य है । इस प्रकार से उक्त अध्ययनविधि ही उक्त शाब्दीभावना में, वैदिक लिङादिशब्दों की कार्यता का ज्ञान कराता है तब क्यों नहीं कार्यता का ज्ञान हो सकता ?

प्र०—यह स्वीकार के योग्य है कि अध्ययनविधिवाक्य, अन्य विधिवाक्यों को पुरुषोपकार में उक्त रीति से नियुक्त करता है और सब अन्यान्य वैदिकवाक्य, अध्ययनविधि के नियोज्य-

(१) कर्ता को प्रेरित करनेवाला । (२) प्रेरित ।

यनाविधिविषयकं विधायकान्तरमस्ति यन्नियोज्यतामसावध्ययनविधिरुररीकुर्य्यात् । तत-श्चाध्ययनविधिघटकस्य तव्यप्रत्ययस्य व्यापारभूतायां शब्दभावनायां कार्य्यत्वावगमः कथमपि न संभवति । विधायकान्तररूपप्रमाणान्तराविरहात् । तस्य च स्वस्मिन्नप्रमाणत्वात् । उक्ततव्यप्रत्ययव्यापाररूपशब्दभावनायाः कार्य्यत्वानवगमे च कार्य्यत्वाविषयकस्य तादृश-व्यापारज्ञानमात्रस्य जननमात्रेणाध्ययनविधिः कृतार्थः स्यादिति मातापित्रादिवदाग्रहेण वेदाध्ययनरूपेष्टसाधने तव्यप्रत्ययोऽयं पुरुषान्प्रवर्त्तयतीत्याकारिका प्रवृत्तावाग्राहकत्वावग-तिरपि भज्येत । नियोजकाभावेन नियोज्यत्वरूपस्य तद्व्याप्यधर्मस्याभावात् ततश्च तद्वाक्य-जन्यबोधविषयस्य वेदाध्ययनस्य पुरुषार्थानुवन्धित्वमेव न केनचिदाक्षिप्येत, नहि प्रवृत्त्या-ग्रहविषयत्वं विना तदाक्षेपकमन्यदस्ति, नचेह प्रवृत्त्याग्रहो नियोज्यत्वं विना, तथाच वेदा-प्रामानर्थक्यमेव स्यादिति वाच्यम् । नहि लिङादीनां स्वसम्बन्धिप्रेरणावोद्धृत्वरूपं मुख्यं नियोज्यत्वं संभवति, चेतनत्वाभावात् । प्रवृत्त्याग्राहकत्वमात्रं तु तेषामध्ययनविधिः पुरुषं बोध-

॥ भाषा ॥

हैं परन्तु अध्ययनविधि तो किसी का नियोज्य नहीं हो सकता क्योंकि वेद के अपौरुषेय होने से वह पुरुष का नियोज्य नहीं है और अपना नियोज्य तो हो ही नहीं सकता क्योंकि अपने पर अपना नियोग ही नहीं होता, लोक की मर्य्यादा यही है कि नियोज्य (१) और नियोजक (२) परस्पर भिन्न हुआ करते हैं । और वैदिकवाक्य कोई दूसरा ऐसा हई नहीं है कि जो अध्ययनविधि को नियुक्त करै इस रीति से अध्ययनविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के (तव्य) शब्द का जो शाब्दीभावना अर्थ है उसमें कार्य्यता का ज्ञान किस वाक्य के बल से होगा ? और जब उक्त कार्य्यताज्ञान नहीं होगा तब अध्ययनविधि, केवल अपने तव्य शब्द के अर्थरूपी शाब्दीभावनामात्र का ज्ञान कराने मात्र से कृतार्थ हो जायगा अर्थात् उसमें कार्य्यता का ज्ञान न कराएगा। और तब यह सिद्धान्त भी सहज ही में टूट जायगा कि 'जैसे श्रमकारक, सुखदायक, कर्मों में बालक स्वयं नहीं प्रवृत्त होता परन्तु उसके माता पिता वा अन्य हितैषी मनुष्य, बड़े आग्रह (अनेक उपाय) से बालकों की उन कर्मों में प्रवृत्ति कराते हैं वैसे ही अध्ययनविधि का तव्य शब्द भी श्रमकारक, सुखदायक, वेदाध्ययन में बड़े आग्रह से पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है' क्योंकि जब वेद पढ़ने में प्रवृत्ति के अनुकूल शाब्दी-भावना में अध्ययनविधि के (तव्य) शब्द से कार्य्यता ही का ज्ञान नहीं हुआ तब कैसे अध्ययन-विधि, प्रवृत्ति भी करा सकता है, आग्रह की वार्ता तो दूर ही छूटी । और अब यह भी सिद्धान्त टूट जायगा कि "वेदाध्ययन में पुरुषार्थ का साधक होना, अध्ययनविधि के बल से सिद्ध होता है" क्योंकि आग्रह से पुरुषों की प्रवृत्ति कराना ही अध्ययनविधि का बल था जो कि अब नहीं है क्योंकि जब अध्ययनविधि, किसी का नियोज्य ही नहीं है और शाब्दीभावना में कार्य्यता का ज्ञान ही नहीं करा सकता तब किस रीति से केवल श्रमकारक वेदाध्ययन में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये आग्रह कर सकता है । अब स्पष्ट आंखें खोलकर देखना चाहिये कि सब वेदों का अध्ययन, सहज ही में व्यर्थ हो गया और अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध करते २ सब वेदों ही के प्रामाण्य से हाथ धो बैठना पड़ा । वाह २ रे अर्थवाद का प्रामाण्य ! । अब बतलाना चाहिये कि कैसे अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध किया जाय ? ।

उ०—लोक में नियोज्य उसको कहते हैं जो कि अपने प्रति, अपने स्वामी आदि की प्रेरणा-

(१) आज्ञाकारी । (२) आज्ञा देनेवाला ।

यति, विधिवाक्यानां शक्त्यालोचनानुसारात्। फलंचास्य बोधनस्य यागादीनां पुरुषार्थानुबन्धित्वज्ञानम्। उक्तं नियोजकादरकारित्वं च स्वारसिकेच्छारहितस्य नियोज्यस्यैव लोके दृष्टमित्यौपचारिक एव स्वर्गकामादिविधिष्वध्ययनविधिनियोज्यत्वव्यवहारः। तावतैव च तेषु शब्दभावनायां विधेयतासिद्धिः तयाचार्थवादान्वयोपपत्तिः ईदृशं चौपचारिकं नियोज्यत्वमध्ययनविधेर्विध्यन्तरेष्विव स्वस्मिन्नप्यक्षतम्। नचैकस्य नियोज्यत्वनियोजकत्वविरोधः, अवच्छेदकभेदेनतदुभयसमावेशसंभवात् नियोजकताह्यध्ययनविधेरसाधारण्या स्वानुपूर्व्या, नियोज्यता च विधायकान्तरसाधारणेन स्वाध्यायपदोपात्तेन स्वाध्यायत्वेन। तथाच नानियोज्यत्वापादितपूर्वदूषणावकाशः। तथाहि। अध्ययनविधौ द्वयी विधा। विधेः-

॥ भाषा ॥

को समझता है और वैदिकलिङादिशब्द तो अध्ययनविधि के, ऐसे नियोज्य नहीं हो सकते क्योंकि वे चेतन नहीं हैं। किन्तु अध्ययनविधि इतना बोध, उनकी शक्ति के अनुसार कराता है कि 'ये लिङादिशब्द, यागादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति कराने में आग्रह करें' इति और इस बोध के कराने का यही फल है कि पुरुष यह समझ जाता है कि 'यज्ञादि कर्म. पुरुषार्थ के साधक अवश्य हैं नहीं तो वैदिकलिङादिशब्द. उक्त आग्रह को नहीं करते'। और लोक में नियोज्यपुरुष (जिसकी आप से आप, कर्म करने की इच्छा नहीं है) नियोजकपुरुष का आदर करता है तथा उसके अनुसार कर्मों में उसकी इच्छा और प्रवृत्ति होती है। उसी के सदृश वैदिकलिङादिशब्द भी अध्ययनविधि का आदर करते अर्थात् उसके अनुसार बोध कराते हैं इसी से वे भी नियोज्य कहलाते हैं अर्थात् उनके नियोज्य होने का व्यवहार, पुरुष में सिंह के व्यवहार के नाईं गौण ही है न कि मुख्य। इसी के अनुसार, शाब्दीभावना में कार्य्यता का ज्ञान और स्तुति आदि लाक्षणिक अर्थों के द्वारा विधिवाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता भी होती है इस रीति से अचेतन लिङादिशब्द भी अध्ययनविधि के नियोज्य हैं। और ऐसी नियोज्यता अध्ययनविधि की अपने में भी हो सकती है अर्थात् अध्ययनविधि भी अध्ययनविधि का नियोज्य है।

प्र०—नियोज्य और नियोजक, लोक में अन्योन्य भिन्न ही देखे गये हैं तब उसके विरुद्ध, यह कैसे हो सकता है कि अध्ययनविधि ही अध्ययनविधि का नियोज्य है।

उ०—इस लोकदृष्टान्त का विषय यहां नहीं है क्योंकि यहां नियोज्य और नियोजक चेतन नहीं हैं। और जिस प्रकार से नियोज्य और नियोजक पूर्व में कहे गये हैं वे एक भी हो सकते हैं जैसे "सर्वं मिथ्या" (सब पदार्थ मिथ्या हैं) यह वाक्य घटादिपदार्थों को मिथ्या बतलाता हुआ अपने को भी मिथ्या बतलाता है क्योंकि अपने भी सब पदार्थों में अन्तर्गत ही शब्दरूप पदार्थ है ऐसे ही अध्ययनविधि भी सब वेदों पर अपना नियोग करता हुआ अपने पर भी नियोग करता है क्योंकि अपने भी तो वेद ही में अन्तर्गत है अर्थात् अध्ययनविधि का यह अर्थ है कि 'वेदों को पढ़े' तो अपने भी वेद ही है इसी से अपने पढ़ने में भी नियोग करता है निदान अध्ययनविधि, वाक्यरूपी है इस से सब वेद का नियोजक है और स्वयं भी वेद में अन्तर्गत है इस से अपना नियोज्य भी है तो क्या विरोध है?

अर्थवादों को शाब्दीभावना की इतिकर्त्तव्यता में अन्तर्गत करने की तो मीमांसादर्शन में दो पक्षों के अनुसार दो चालें हैं जोकि नीचे लिखी जाती हैं इनको बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से-

मेर्य्यान्वयात्प्राग्विषयान्वय इति पक्षे विषयान्वयावसरे लिङादिमेर्य्यान्वयाभावाल्लिङादि-शक्त्यनुसरणासंभवेन व्यापारविशेषावगमासंभवात्सामान्याकार एव 'भावयेदि' तिविनियोगः तत्र च लिङादीनां प्रयोजककर्तृत्वं पुरुषश्च प्रयोज्यकर्त्ता। ततश्च 'किमि' तिभाव्याकाङ्क्षोत्तिष्ठते साच 'दृष्टशक्त्यनुसाराद् यच्छक्यते तादि' त्यवधारणेन पूर्य्यते, अनन्तरं च लिङादिरूपप्रेर्य्यान्वयावलम्बिनी 'लिङादयः किं शक्नुवन्ती' ति भाव्यविशेषाकाङ्क्षा समुन्मिषति साच लिङादीनां प्रवर्त्तकत्वे पुरुषस्य च प्रवर्त्यत्वे शक्तेरनुसारात् 'प्रवृत्तिमि' त्यनेन निवर्त्यते। एवंच पर्य्यवसाने प्रवृत्तिरेवोक्तभावनायां भाव्यत्वेन समन्वेति। ततश्च 'लिङादिः पुरुषेण प्रवृत्तिं भावयेदि' त्युपप्लूयमाननियोगवाक्याकार इत्याद्या विधा। एवंच प्रवृत्तेः प्रयोज्यव्यापारतया प्रयोज्यान्वयं विना भाव्यत्वासंभवेनाध्ययनविधेश्चेतन-

॥ भाषा ॥

देखना चाहिये।

रीति—(१) प्रथम पक्ष यह है कि वैदिकलिङादिशब्द के अर्थ का यज्ञादिरूपी विषयों के साथ अन्वय (सम्बन्ध) हो कर नियोज्य के साथ अन्वय होता है इति। इस पक्ष के अनुसार उक्त अध्ययनविधि के अर्थ करने की यह रीति है कि प्रथम तो वैदिकलिङादिरूपी नियोज्य के साथ अध्ययनविधि के तव्यरूपी विधिशब्द का अन्वय ही नहीं होता इससे वैदिकलिङादिशब्दों के शाब्दीभावना आदि व्यापारों का विशेषरूप से उस समय ज्ञान ही नहीं हो सकता इसी कारण पूर्व में अध्ययनविधि का सामान्यरूप ही से यह नियोगरूपी अर्थ होता है कि "कराए"। इसके अनन्तर यह जिज्ञासा होती है कि 'कौन और किस से'। और इस जिज्ञासा की पूर्ति इस अर्थ से होती है कि 'वैदिक लिङ् शब्द, पुरुष से '। तब भाव्य की आकाङ्क्षा (क्या कराए) होती है जिसकी निवृत्ति इस अर्थ से होती है कि 'लोक के अनुसार लिङ् शब्द जो काम करा सके उसे'। करने के शक्य कामरूपी विषय के सम्बन्ध से ये ही तीन अर्थ पूर्वमें अध्ययनविधि के होते हैं। इसके अनन्तर, उक्त तव्य शब्द के अर्थ का वैदिकलिङादिशब्दरूपी नियोज्य के साथ सम्बन्ध होता है और उसके अनुसार यह भाव्याविशेष की आकाङ्क्षा होती है कि 'वैदिक लिङ् शब्द, क्या करा सकता है' तथा इस आकाङ्क्षा की पूर्ति इस अर्थांश से होती है कि 'पुरुषों की प्रवृत्ति को'। इस रीति से अन्त में पूर्वोक्तभावना (कराए) का विशेषभाव्य, प्रवृत्तिरूप ही निकलता है जिससे सब जुड़कर अध्ययनविधि के नियोगरूपी अर्थ का यह आकार प्रकट होता है कि 'वैदिक-लिङादिशब्द, यज्ञादिरूपी कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति कराएँ'। यही प्रथम रीति है। इस रीति में प्रश्नोक्त, वेदों की अनर्थकता का, परिहार इस ढङ्ग से होता है कि प्रवृत्ति, प्रयोज्यपुरुष का व्यापार है इसी से वह शाब्दीभावना का फल है और अध्ययनविधि भी अन्य वैदिकविधिवाक्यों के द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है और पुरुषों की प्रवृत्ति, कर्मों में तब तक नहीं हो सकती जब तक वे यह न निश्चय कर लें कि 'ये यज्ञादि कर्म, पुरुषार्थ के साधक हैं' और इसी ज्ञान को उत्पन्न करना, 'स्वर्गकामोयजेत' आदि वेदवाक्यों का काम है।

रीति—(२) द्वितीयपक्ष यह है कि लौकिक लिङादिशब्द के अर्थ का, नियोज्य के साथ सम्बन्ध हो कर यज्ञादि विषयों से सम्बन्ध होता है इति। इस पक्ष के अनुसार उक्त 'तव्य' शब्द के अर्थ का, अपने (तव्य शब्द के) और अन्य वैदिकलिङादिशब्द के अन्योन्य सम्बन्ध होने से लिङादिशब्दों-

प्रवर्त्तकत्वाच्छ्रेयःसाधनताज्ञानं विना च चेतनप्रवृत्तेरनुपपत्त्या श्रेयःसाधनत्वाक्षेप इति नानर्थक्यं वेदानाम् । विधेः प्रेर्य्यान्वयपूर्वको विषयान्वय इति पक्षे तु प्रवर्त्तनाऽऽख्ये व्यापारविशेषे पूर्वमेव लिङादिशक्तेरवधारणादध्ययनविधिना तस्यैव विधेयतया प्रथममेव 'प्रवर्त्तयेदि' ति विशेषाकारो विनियोगः तत्रापि च लिङादेःप्रयोजककर्तृत्वमेव । ततः 'कमि' तिप्रयोज्यकर्त्राकाङ्क्षा, प्रयोज्यपुरुषपूरणीया । एवंच 'लिङादिः पुरुषं प्रवर्त्तयेदि' ति पर्य्यवसितनियोगवाक्याकार इति द्वितीया विधा । इहापि वेदानर्थक्यापत्तिपरिहारः पूर्ववदवधेयः । नच लिङादेरचेतनतया नियोज्यावगमपूर्विकायाः प्रयोजककर्तृताया एवानुपपत्त्या कथं तद्वशेन पुरुषप्रवृत्तेर्भाव्यत्वमुपपाद्यत इति वाच्यम् । अध्ययनविधिना हि पूर्वोक्ताया अध्ययनकरणिकाया आर्थ्या भावनाया द्वारेण लिङाद्यध्ययने नियुज्यमानःपुरुषः 'कतममिमे लिङादयो ममोपकारं करिष्यन्ती' ति जिज्ञासमानो लिङादिशब्दशक्तिमालोच्य-

॥ भाषा ॥

केअर्थ प्रवर्त्तनानामक उक्त शाब्दीभावनारूपी व्यापार के लाभ के द्वारा प्रथम हीं "प्रवर्त्तयेत्" (प्रवृत्ति कराए) यह विशेषाकार विनियोगरूपी अर्थ, अध्ययनविधि का होता है इस अर्थ में भी वैदिकलिङादिशब्द ही प्रयोजककर्त्ता हैं और प्रयोज्यकर्त्ता की आकाङ्क्षा, (किस की) 'पुरुषों की' इस अर्थ से पूर्ण होती है इस रीति से अध्ययनविधि के नियोगरूपी अर्थ का पूर्ण आकार यह होता है कि "वैदिकलिङादिशब्द, पुरुषों की प्रवृत्ति कराएँ" । इस रीति में भी वेदों की प्रश्नोक्त अनर्थकता का परिहार, प्रथम रीति के नाईं समझना चाहिये ।

प्र०—उक्त दोनों रीतियों में वैदिकलिङादिशब्दों को प्रयोजककर्त्ता मान कर प्रयोज्यकर्त्तारूप पुरुष की प्रवृत्ति को, वैदिकलिङादिशब्द के प्रवर्त्तनारूपी व्यापार का भाव्य (फल) बना कर अध्ययनविधि के वाक्यार्थ का आकार दिखलाया गया है । इस प्रकार से दोनों रीतियों का यही मूल है जो कि वैदिकलिङादिशब्दों को प्रयोजककर्त्ता माना जाता है सो यह, लोकानुभव से विरुद्ध है क्योंकि लोक में प्रयोजककर्त्ता वही होता है जो अपने नियोज्य को समझता है और वैदिकलिङादिशब्द तो ऐसे नहीं हैं क्योंकि वे अचेतन हैं तब कैसे वे प्रयोजककर्त्ता हो सकते हैं ?

उ०—यद्यपि वैदिकलिङादिशब्द चेतन नहीं हैं तथापि उनके प्रयोजककर्त्ता होने की उपपत्ति यह है कि अध्ययनविधि, पूर्वोक्त अध्ययनकरणक आर्थीभावना (वेदों के गुरुपूर्वक अध्ययन से अपने इष्ट फल को सिद्ध करे) के द्वारा वैदिकलिङादिशब्दों के अध्ययन में पुरुषों को नियुक्त करता है तब वह नियुक्त पुरुष यह जिज्ञासा करता है कि "ये वैदिकलिङादिशब्द मेरा कौनसा उपकार करेंगे" पश्चात् उक्त लिङादिशब्दों की शक्ति को समालोचना कर यह निश्चय करता है कि "प्रवर्त्तनारूपी शाब्दीभावना के जनाने के द्वारा ये लिङादिशब्द, पुरुषार्थ के साधक कर्मों का बोध करा कर मुझे उपकृत करेंगे" । और उक्त जिज्ञासा को इसी निश्चय से पुरुष, निवृत्त करता है परन्तु इस निश्चयमात्र से कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति हो नहीं सकती क्योंकि वह यह विचार करता है कि 'यज्ञों में बहुत श्रम और व्यय होता है तथा यह निश्चित नहीं होता कि उसके योग्य ही पुरुषार्थ सिद्ध होगा और वैदिकलिङादिशब्दों ने यज्ञादिकर्मों में पुरुषार्थ के-

प्रवर्त्तनाज्ञापनद्वारेण पुरुषार्थसाधनबोधरूपमुपकारमि' त्यवगत्यैव स्वजिज्ञासां निरस्यति। नचैतादृशावगममात्रेण पुरुषार्थसाधनत्वाक्षेपः संभवति, नच तं विना विधेरुपकारकतेति तदन्यथाऽनुपपत्त्या 'मातापित्रादिवदाग्रहेणेष्टसाधनेषु कर्मसु लिङादयो मांप्रवर्त्तयिष्यन्ती' ति प्रवृत्त्याग्राहकतामवगच्छति। ततश्चा 'ध्ययनविधिविनियुक्तैर्लिङादिभिरवश्यं प्रवृत्तिरुपजननीये' ति लिङादिविषयक नियोगावगतिःपुरुषस्य भवति। तामेव च नियोगावगतिं लिङादिष्वारोप्य तेषां प्रयोजककर्तृत्वं व्यवह्रियते। नचायं व्यवहारो नूतनोऽपि, येन स्वान्यथाऽनुपपत्त्या नोक्तमुपचारमाक्षेप्तुं क्षमेत, लिङादिर्विधायक इति ण्वुलर्थप्रयोजकताव्यवहारस्यानादिपरम्पराऽऽयातत्वात् 'लिङादिः पुरुषं प्रवर्त्तयेदि' त्यत्र 'केने' तिकरणाकाङ्क्षा तु लिङादिशक्त्यालोचनपूर्वकेण प्रेरणाज्ञानेन पूरणीया। प्रेरणारूपायां च शब्दभावनायां लौकिकेन प्रवर्त्तनात्वेन लिङादेःशक्तिग्रह उपपादितपूर्व एव। 'शब्दभावनारूपायाः प्रेरणाया ज्ञानेन करणेन कथं प्रवृत्तिं भावयेदि' तीतिकर्त्तव्यताऽऽकाङ्क्षा तु 'यागेन स्वर्ग-

॥ भाषा ॥

साधक होने का ज्ञानमात्र तो करा दिया परन्तु पूर्ण रीति से उसका निश्चय नहीं कराया' इस विचार से यज्ञादि कर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति ढीली होने लगती है उसी समय उक्त अध्ययनविधि के अनुसार पुरुष यह निश्चय करता है कि 'ये वैदिकलिङादिशब्द, यज्ञादिकर्मों में मेरी प्रवृत्ति के लिये केवल ज्ञान ही नहीं कराते किन्तु माता और पिता के समान बड़े आग्रह (बल) से प्रवृत्ति कराते हैं क्योंकि ये, उक्त अध्ययनविधि से नियुक्त हैं और अध्ययनविधि का यह नियोग है कि 'इन लिङादि शब्दों को अवश्य ही पुरुष की प्रवृत्ति करानी चाहिये'। और अध्ययनविधि के नियोग का जो यह निश्चय पुरुष में उत्पन्न हुआ उसी को वैदिकलिङादशब्द में आरोप (मान) कर यह व्यवहार होता है कि वैदिकलिङादिशब्द प्रयोजककर्त्ता हैं। जैसे सिंह में रहनेवाले शौर्य्यादिगुणों के आरोप से पुरुष में सिंह का व्यवहार होता है कि यह पुरुष, सिंह है। अर्थात् वैदिकलिङादिशब्दों में प्रयोजककर्त्ता होने का व्यवहार मुख्य नहीं हैं किन्तु गौण है तथापि अवश्य माननीय है क्योंकि अनादिकाल से यह व्यवहार चला आता है कि ये वैदिकलिङादिशब्द, यज्ञादिविधान के प्रयोजक हैं।

प्र०—"वैदिकलिङादिशब्दः पुरुषं प्रवर्त्तयेत्" (वैदिक लिङादि शब्द, पुरुष की प्रवृत्ति कराए) यह जो अध्ययनविधि का अर्थ कहा गया वह भी अब तक पूर्ण नहीं है क्योंकि करणाकाङ्क्षा (किसके द्वारा) की पूर्ति कैसे होगी ?

उ०—लिङादिशब्दों की शक्ति के ज्ञानानुसार 'प्रेरणाज्ञान के द्वारा' इस अर्थ से उक्त आकाङ्क्षा पूर्ण होती है क्योंकि पूर्व में यह कहा गया है कि प्रेरणा, प्रवर्त्तना और शाब्दीभावना एक ही वस्तु है और वही वैदिकलिङादिशब्दों का अर्थ है।

प्र०—अब भी अध्ययनविधि का अर्थ पूर्ण नहीं हुआ क्योंकि इतिकर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा (प्रेरणाज्ञान के द्वारा किस प्रकार से प्रवृत्ति करै) की पूर्ति किस से होगी ?

उ०—'याग से स्वर्गसुख का लाभ करै' 'इस पूर्वोक्त आर्थीभावना की, अर्थवादों से प्रशंसा कर' इसी अर्थ से उक्त आकाङ्क्षा की पूर्ति होती है।

इस रीति से अध्ययनविधि का यह अर्थ हुआ कि 'वैदिकलिङादिशब्द, प्रेरणा का ज्ञान-

भावयेदि' त्यर्थभावनाधर्मिकप्राशस्त्यज्ञानरूपेतिकर्त्तव्यतयैव पूरणीया । नच शब्दभावनाज्ञानमात्रेण सिध्यन्त्याः प्रवृत्तेरन्यानपेक्षत्वात्कथमियं 'कथमिती' तिकर्त्तव्यताऽऽकाङ्क्षा, अर्थभावनादृष्टान्तेनात्रापि 'कथमि' त्याकाङ्क्षोपपादने तु लिङादितच्छक्तिज्ञानान्यतरस्यैवेतिकर्त्तव्यतात्वमङ्गीकृत्य सा पूर्य्यताम् कृतंप्राशस्त्यज्ञानेन, तस्य प्रवर्त्तकसहकारिशक्तिमत्त्वेनाप्रसिद्धतयेतिकर्त्तव्यतात्वासंभवादिति वाच्यम् । इच्छोत्पादनद्वारा हि विधेः प्रवर्त्तकत्वम् इच्छा च नेष्टसाधनत्वज्ञानं विनेतीष्टविध्यन्यथाऽनुपपत्त्या प्रवृत्तिहेतोरिच्छाया उत्पत्तावपि-

॥ भाषा ॥

और उसके अनन्तर अर्थवाद से आर्थीभावना की प्रशंसा के द्वारा यज्ञादिकर्मों में पुरुष की प्रवृत्ति कराएँ' ।

प्र०—पुरुषों की प्रवृत्ति, शब्दभावना के ज्ञान ही मात्र से हो सकती है तो इतिकर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा (किस प्रकार से) ही नहीं हो सकती । और यदि यह कहा जाय कि जैसे आर्थीभावना में इतिकर्त्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है वैसे ही शाब्दीभावना में भी होनी चाहिये, तब तो यह भी कह सकते हैं कि पूर्वोक्त रीति से वैदिकलिङादिशब्द और उनकी शक्ति के ज्ञानों में से एक ज्ञान को करण और दूसरे को इतिकर्त्तव्यता बना कर उसी से, इस आकाङ्क्षा की पूर्ति हो सकती है । तात्पर्य यह है कि जब उक्त आकाङ्क्षा ही नहीं होती, वा होती है तब भी उक्त ज्ञान ही से उसकी पूर्ति हो सकती है, इन दोनों अवस्थाओं में अर्थवाद से, आर्थीभावना की प्रशंसा का क्या प्रयोजन है ? क्योंकि पुरुष की प्रवृत्ति तो प्रेरणा के ज्ञान ही से हो सकती है । यह तो कह नहीं सकते कि प्रेरणा के ज्ञान से प्रवृत्ति होने में प्रशंसा सहकारी है, क्योंकि ऐसा सहकारी होना प्रशंसावाक्यों का, कहीं दृष्ट नहीं है तो अप्रसिद्ध सहकारीशक्तिकी कल्पना नहीं हो सकती तस्मात् शाब्दीभावना के इतिकर्त्तव्यतांश में उक्त प्रशंसा नहीं आ सकती तो कैसे उसमें अर्थवादों का अन्तर्भाव हो सकता है ?

उ०—वैदिकलिङादिशब्द, पुरुष को अपनी प्रेरणामात्र जना कर कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं करा सकते क्योंकि पुरुष, यदि वैदिकलिङादिशब्दों की प्रेरणा अपने ऊपर जाने भी किन्तु उसकी इच्छा, कर्म करने में न हो तो कैसे वह कर्म में प्रवृत्त हो सकता है ? इससे यही स्वीकार करना पड़ेगा कि वैदिकलिङादिशब्द के कराये हुए, प्रेरणा के ज्ञान से पुरुष की कर्म करने में इच्छा होती है उसी इच्छा से प्रवृत्ति होती है । और यह बात प्रसिद्ध और अनुभवसिद्ध भी है कि बिना इच्छा के, प्रवृत्ति नहीं होती । इस रीति से वैदिकलिङादिशब्द के अनुसार जैसे कर्म करने की इच्छा पुरुष की होती है वैसे ही वैदिककर्मों में बहुत परिश्रम अधिकाधिक धन का व्यय देख कर आलस्य और लोभ, के कारण यज्ञादिकर्मों से द्वेष भी पुरुष का हो सकता है जो कि निवृत्ति का कारण और प्रवृत्ति का प्रबल बाधक प्रसिद्ध है । और वह द्वेष, वैदिकविधिशब्द से हुई उक्त इच्छा को दबा कर पुरुष की प्रवृत्ति में बहुत कुछ विघ्न कर सकता है । लोक में भी लाभदायी, श्रम और व्यय से साध्य, व्यापारों में उत्पन्न हुई लोभी और अलस पुरुष की इच्छा, द्वेष से दब जाती हुई सहस्रशः देखी जाती है और यज्ञादिकर्मों में पूर्वोक्त द्वेष के मिटानेवाले की अपेक्षा, वैदिकलिङादिशब्द, अवश्य ही करते हैं तो पुरुषों की प्रवृत्ति न होने से वे व्यर्थ ही हो जायेंगे और द्वेष मिटाने के लिये यज्ञादिभावना की प्रशंसा से अतिरिक्त कोई उपाय नहीं हो सकता ।

बहुवित्तव्ययायाससाध्यत्वेन निश्चितेषु यागेष्वनिष्टसाधनत्वावगमादालस्याच्च समुल्लसन् द्वेष उक्तेच्छामप्यास्कन्द्य प्रवृत्तिं प्रतिबध्नीयादिति प्रवृत्तेरुत्पत्तये द्वेषापनायकस्यावश्यमपेक्षा भवति। प्राशस्त्यज्ञानस्य च तादृशद्वेषापनायकत्वमुक्तबहुक्षीराऽऽदिवाक्येषु लोके दृष्टमेवेति युक्तमेवास्येतिकर्त्तव्यतात्वम्। किंच प्राशस्त्यस्य स्वरूपपर्य्यालोचनयाऽपि तज्ज्ञानस्य द्वेषापनायकत्वम्। प्राशस्त्यं हि नेष्टफलसाधनत्वम्, तस्य 'यागेनभावयेत्स्वर्गमि' त्यर्थभावनाऽन्वयवशेन विधिवाक्यादेव लब्धत्वात्, नाप्यन्यत् प्रवृत्तावनुपयोगात् किंतु बलवदनिष्टाननुबन्धित्वम् तच्च नेष्टहेतुत्वज्ञानाल्लभ्यते, इष्टहेतावपि कलञ्जभक्षणादावनिष्टहेतुत्वस्यापि दर्शनात् विहितश्येनफलस्य च शत्रुवधस्यानिष्टानुबन्धित्वं दृष्टम् अतो यावत् साधनस्य फलस्य चानिष्टाहेतुत्वं नोच्यते तावदिष्टहेतुत्वेन ज्ञातेऽपि तत्र पुरुषो न प्रवर्त्तते, अतएवोक्तम् 'फल-

॥ भाषा ॥

लोक में भी मूल्य अधिक होने से गौ लेने में द्वेष जिस पुरुष को होता है और लेने की इच्छा उस की दब जाती है उस पुरुष के उस द्वेष को, "इस में बीस सेर दूध है, प्रति वर्ष और बछरी ही बियाती है, अबहीं तो पहिला बियान है" इत्यादि प्रशंसा ही से लोग मिटा, और इच्छा को जगा तथा प्रवृत्ति को उत्पन्न, कर उस से गौ का क्रय करा देते हैं वैसे ही ये अर्थवाद, प्रशंसा के द्वारा पुरुष के उक्त द्वेष को हटा और उक्त इच्छा को जगा कर यज्ञादिकर्मों में उस की प्रवृत्ति करा देते हैं। और उक्त लौकिक प्रशंसावाक्यों में प्रवृत्ति कराने की शक्ति, जैसे अनुभवसिद्ध है वैसे ही इन अर्थवादों में भी, और इसी रीति से अर्थवादों की, प्रवृत्ति कराने में सहकारिशक्ति भी प्रसिद्ध ही है न कि अप्रसिद्ध। और प्रशंसा का स्वरूप ही ऐसा है कि वह अपने प्रशंसनीय पदार्थ से पुरुषों के द्वेष को हटा देता है क्योंकि यागादिकर्मों में इतना ही गुण नहीं है कि वे पुरुषार्थ के साधक हैं जो कि 'यागेन स्वर्गं भावयेत' (याग से स्वर्गसुख का लाभ करे) इस आर्थी भावना के द्वारा वैदिक-लिङादिशब्दों ही से निकलता है, किन्तु यह भी गुण है कि वे बतलाते हैं कि 'यज्ञादिकर्म, किसी प्रबलदुःख के दाता नहीं हैं अर्थात् प्रबलदुःख देने का दोष भी उन में नहीं है कि जिस से उन में प्रवृत्ति न हो सके'। और यह नियम तो हई नहीं है कि जो कर्म सुखसाधक अर्थात् गुणवान हो वह प्रबलदुःख का साधक अर्थात् दोषवान न हो क्योंकि कलञ्ज (जहरीले बाण से मारे हुए हरिणादि का मांस) के भक्षण से तृप्ति पुष्टि आदि सुख और दुःखमूल पाप भी होता है। इस अंश में विषमिश्रित अन्न का भक्षण, इत्यादि बहुत से दृष्टान्त लोक में प्रसिद्ध ही हैं। वेद में भी इस विषय के बहुत से अनूठे दृष्टान्त हैं जिन में से एक श्येनयाग है जिस से कि शत्रु का मरण होता है। तात्पर्य यह है कि श्येनयाग का शत्रुबध के लिये विधान, यद्यपि वेद में है और विधिवाक्य के अनुसार. श्येन, शत्रुनाश से जन्य सुख का कारण भी है तथा श्येनयाग का स्वरूप किसी प्रबलदुःख का साधक भी नहीं है तथापि श्येनयाग का फल, जो हिंसा है वह, "न हिंस्यात् सर्वा भूतानि" (किसी प्राणी को न मारे) इस निषेधवाक्य के अनुसार, प्रबलदुःख का कारण है इसी से श्येनयाग, धर्म नहीं है और सत्पुरुष की उस में प्रवृत्ति भी नहीं होती। इसी से मीमांसा के आचार्य्यों ने यह कहा है कि "जिस कर्म का फल भी दुःखदायी न हो अर्थात् अपने स्वरूप और फल से भी जो कर्म, केवल सुखदायक ही हो वही धर्म, कहलाता है" अर्थात् लाभ की अपेक्षा श्येन में फल के द्वारा हानि अधिक है इस से श्येन धर्म नहीं है और-

तोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते । केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' ॥ इति । अतः स्वतः फलतो वा ऽनर्थाननुबन्धित्वरूपप्राशस्त्यबोधनेनार्थवादा विधिशक्तिमुत्तम्भयन्ति । क उत्तम्भ इति चेत्, स्वतः फलतो वा ऽनर्थानुबन्धित्वशङ्कायाः प्रवृत्तिप्रतिबन्धिकाया विगम इति गृहाण । नच यदि प्रवृत्तिकारणेच्छाविरोधिनो द्वेषस्य नाशाय प्राशस्त्यज्ञानमपेक्ष्यते तदा स्वर्गादिफलेऽपि प्राशस्त्यस्य ज्ञानमपेक्ष्येत । नचेदमिष्टम्, तथासति स्वर्गस्वरूपपरिशोधकानामपि वाक्यशेषाणां प्राशस्त्यपरत्वेन स्वर्गस्वरूपपरत्वानुपपत्त्या लौकिकसुखातिरिक्तसुखत्वेन स्वर्गसिद्धेरेवानुपपत्तेरिति वाच्यम् । अङ्गप्रधानयोरेव हि विधेयतया प्रेरणाविषयत्वम् तयोरेव च प्राशस्त्यज्ञानस्य कार्य्यत्वमध्ययनविधितोऽवगम्यते, फलांशे तु स्वतःपुरुषार्थभूते स्वारसिक्यैवेच्छया प्रवृत्तिसिद्ध्या न तदंशे प्राशस्त्यज्ञानस्य कार्य्यतामध्ययनविधिरवग-

॥ भाषा ॥

न विवेकी की उस में प्रवृत्ति होनी चाहिये । श्येन का विधान भी इसी अभिप्राय से है कि जिस को फलकृत उक्त हानि स्वीकार कर शत्रुवधरूपी लाभ उठाना हो वह श्येन करै. न कि यह अभिप्राय है कि श्येन करना चाहिये, निचोड़ यह है कि वैदिकलिङादिशब्द यद्यपि अपनी प्रवर्त्तना के ज्ञान से यागादि को सुखसाधन बतला कर पुरुषों की इच्छा उत्पन्न करने की शक्ति अपने में रखते हैं तथापि अर्थवादों के विना उन्हीं यागादि में विषमिश्रित मिष्टभोजन और श्येनयाग के नाई प्रबलदुःखदायी होने के ज्ञान से उत्पन्न हुआ पूर्वोक्त द्वेष, इच्छा को दबा कर, लिङादिशब्दों की शक्ति को निष्फल कर गिरा देता है और अर्थवादों का यही काम है कि वे प्रशंसा के द्वारा यह बतला कर कि 'इन यागों के स्वरूप तथा फल सभी सुख ही के साधक हैं इन में प्रबलदुःखकारी होने की शङ्का भी कदापि न करनी चाहिये' द्वेष के हटाने से, पूर्वोक्त गिरती हुई लिङादिशब्दों की शक्ति को पुनः उठा कर खड़ी कर देते हैं जिस से पुरुषों की प्रवृत्ति निर्विघ्न हो जाती है इसी रीति से प्रशंसारूपी अपने उक्त लक्ष्यार्थ के द्वारा सब अर्थवाद, शाब्दी भावना की इतिकर्त्तव्यता में अन्तर्गत हो कर विधिवाक्यों के अङ्गभूत होने से प्रमाण होते हैं अर्थात् इन अर्थवादों के विना. प्रवृत्ति में विघ्न पड़ने के कारण सभी वैदिक विधिवाक्य, अधूरे ही हैं, यह महत्त्व अर्थवादों का है ।

प्र०—उक्त रीति से यदि उक्त इच्छा के विरोधी उक्त द्वेष के नाशार्थ यागादि की प्रशंसा आवश्यक है तो स्वर्गादिरूपी फल की भी प्रशंसा, अर्थवादों के द्वारा आवश्यक हो जायगी और तब स्वर्गादिरूपी फल के यथार्थस्वरूप को बतलानेवाले वाक्य भी प्रशंसापर ही हो जायंगे और उन का मुख्य तात्पर्य, अन्य अर्थवादों के नाई प्रशंसा ही में समझा जायगा न कि स्वर्गादि के यथार्थ स्वरूप में । और स्वर्गादिका सुखरूपी हो कर फलरूप होना, लोकसे सिद्ध नहीं होता किन्तु उक्त वेदवाक्यों ही से । और जब उक्त वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य, प्रशंसा ही में है तब स्वर्गादि के यथार्थ स्वरूप का निश्चय ही नहीं हो सकता और उस निश्चय के विना पुरुषों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ?

उ०—अङ्ग और प्रधान रूपी यागादि कर्मों ही के विषय में वैदिकविधिवाक्यों की प्रेरणा होती है इसी से अध्ययनविधि भी उन कर्मों ही के प्रशंसा में कार्यत्व का ज्ञान कराता है क्योंकि वे कर्म, श्रम और व्यय रूपी होने से पुरुषार्थ नहीं हैं कि उन में विना वैदिक प्रेरणा के किसी-

भयति, प्रेरणाऽनुपपत्त्या तदंशे प्राशस्त्यज्ञाने कार्य्यत्वाभावात्साधनानपेक्षत्वेन प्राशस्त्यज्ञानद्वारेणार्थवादाग्राहकतया स्वर्गस्वरूपप्रतिपादकवाक्यानां स्वर्गस्वरूपपरत्वे न किमपि बाधकम्। नच तर्हि प्राशस्त्यज्ञानस्य कुत्रसाधनाकाङ्क्षेति वाच्यम्। करणेतिकर्त्तव्यतांऽशयोरेवेति सुवचत्वात्। नच भवतु नाम साधनेतिकर्त्तव्यताविषये प्राशस्त्यज्ञानस्य स्वसाधनभूतशाब्दाकाङ्क्षा, तथाप्यसौ फलपदाद्यात्मकशास्त्रैरेव पूर्यताम् कृतमर्थवादैरिति वाच्यम्। तादृशाकाङ्क्षापूरणं हि, प्रशस्तोऽयं भूतिफलत्वादिति रीत्या फलवाचकपदेन स्यात्, विधिनैव वा, अन्त्येऽपि, प्रशस्तोऽयम् सकलदोषाशङ्काविनिर्मुक्तवेदविहितत्वादितिरीत्या, विशिष्टद्रव्यदेवतेतिकर्त्तव्यतायुक्तत्वादितिरीत्या वा? सर्वे चेमे कल्पा अकल्पा एव, साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताविशिष्टायामर्थभावनायां बुद्धायामेव हि तां तदंशं वोद्दिश्य प्राशस्त्यं शास्त्रेण प्रवृत्तये प्रतिपादनीयम्, नचास्यामवस्थायां फलादिपदानां प्राशस्त्यज्ञाने कोऽप्युपयोगः संभवति। तेषामुक्तभावनासिद्धेः प्रागेव स्वार्थभूततत्तदंशान्वयसमर्पणेनोपक्षीणत्वात्, विधिरपि च तादृशार्थ-

॥ भाषा ॥

पुरुष की प्रवृत्ति आप से आप हो जाय और स्वर्गादिरूपी फल तो स्वयम् पुरुषार्थ हैं इस से उन के स्वरूपज्ञान ही से पुरुषों की इच्छा और प्रवृत्ति, यागादि कर्मों में स्वर्गादि की प्रशंसा के बिना ही आप से आप होती है इसी से उक्त अध्ययनविधि भी फल की प्रशंसा में, कार्यता का ज्ञान नहीं कराता। निष्कर्ष यह है कि यागादि में पुरुष की इच्छा और प्रवृत्ति के लिये स्वर्गादिरूपी फलों का स्वरूपज्ञान ही आवश्यक है न कि प्रशंसा, इसी से स्वर्गादि के स्वरूपबोधक वेदवाक्यों का स्वर्गादि के स्वरूप ही में मुख्य तात्पर्य है और उन्हीं वाक्यों से स्वर्गादि का सुखरूपीहोना निश्चित होता है!

प्र०—अब आर्थी भावना के किस अंश में प्रशंसा की आवश्यकता है?

उ०—यागादिरूपी करणांश और अवघातादिरूपी इतिकर्त्तव्यतांश में, अर्थात् स्वर्गादिरूपी फलांशमात्र में प्रशंसा की आवश्यकता नहीं है!

प्र०—यदि उक्त दोनों अंशों में प्रशंसा की आवश्यकता है तो स्वर्गादिरूपी फल के स्वरूपबोधक वाक्यों हीं से उक्त प्रशंसा कर ली जाय, उस के लिये अर्थवादों की क्या आवश्यकता है?

उ०—प्रशंसा की आवश्यकता के पूर्ण करने का काम, क्या फलवाचक स्वर्गादिपद ही करेंगे, अथवा 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि संपूर्ण विधिवाक्य ही, और यदि विधिवाक्य ही करेंगे तो भी क्या 'याग प्रशस्त (अच्छा) है क्योंकि निर्दोषवेद से विहित है, इस रीति से, अथवा 'याग प्रशस्त है क्योंकि इस के, द्रव्य, देवता, इतिकर्त्तव्यता, ये सब अङ्ग अच्छे हैं' इस रीति से करेंगे? क्योंकि इन प्रकारों से अन्य कोई प्रकार नहीं हो सकता। परन्तु ये कोई प्रकार, संभव में नहीं आ सकते क्योंकि विधिवाक्यों ही से, स्वर्गादिरूपी भाव्य, यागादिरूपी करण और अवघातादिरूपी इतिकर्त्तव्यता से सहित उक्त आर्थीभावना का निश्चय होता है और इसी निश्चय से विधिवाक्य के प्रत्येक पद सफल हो जाते हैं और तदनन्तर उस शाब्दी भावना अथवा उस के किसी अंश की प्रशंसा करनी चाहिये जिस से कि पुरुषों की प्रवृत्ति निर्विघ्न हो। यही क्रम, वाक्यार्थबोध और प्रशंसा का है और ऐसी अवस्था में जब वैदिक विधिवाक्य अथवा उस के एक२-

भावनाबोधनादेव पूर्वमुपक्षीणः। नच स्वार्थं परित्यज्यैव फलपदादयो लक्षणामूलकप्राश-स्त्यार्थतया प्राशस्त्यबोधन एवोपयुज्यन्तामिति वाच्यम्। पूर्वतरमाकाङ्क्षितानामर्थानां परि-त्यागे मानाभावात्। युगपद्वृत्तिद्वयापत्तिभयेन फलपदादीनां प्राशस्त्यमात्रे लक्षणाऽङ्गीकारे फलादीनामेवासिद्धिप्रसङ्गाच। नच फलप्राशस्त्ययोरुभयोस्तात्पर्य्यानुपपत्त्या फलादिषु फल-पदादीनां तात्पर्य्याभावेऽपि तेभ्यस्तेषां प्रतीयमानत्वमात्रादेव तानि सेत्स्यन्तीति वाच्यम्। फलाद्यंशानामनन्यलभ्यतया तेषु फलादिपदतात्पर्य्याभावे मानाभावेन प्राशस्त्य एव तेषां तात्पर्य्याभावस्य युक्तत्वात्। नच तात्पर्य्याभावेऽपि स्वर्गोऽस्यफलमतः प्रशस्तोऽयमिति रीत्याऽर्थत एव प्राशस्त्यसिद्धिस्तेभ्य इति वाच्यम्। नह्यर्थमात्रात्प्रतीयमानेऽपि प्राशस्त्ये फलपदादीनां तात्पर्य्यम्, नचासति तात्पर्य्ये शाब्दी सिद्धिः संभविनी, नचार्थिकोऽर्थः

॥ भाषा ॥

पद, वाक्यार्थबोध करा कर निवृत्त हो गये तो अब दो बारा उन से प्रशंसा होने की आशा बहुत ही दूर है !

प्र०—अर्थवादों के नाई स्वर्गादिशब्द ही अपने अक्षरार्थ को छोड़ कर उक्त लक्षणा के द्वारा यागादि की प्रशंसा ही का बोध क्यों नहीं करा सकते ?

उ०—(१) स्वर्गादि पद, जब फलरूपी अपने अक्षरार्थ का बोध करा कर पहिले ही चरितार्थ ही गये तब उनके वाच्यार्थ (अक्षरार्थ) का त्याग कैसे हो सकता है !

उ०—(२) यदि पहले ही से स्वर्गादि पद, अपने वाच्यार्थ का त्याग कर प्रशंसा-रूपी लक्ष्यार्थ का बोध कराएँ,तो फल के स्वरूप का पूर्वोक्त रीति से निश्चय न होने के कारण पुरुषों की प्रवृत्ति ही न होगी।

उ०—(३) वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ अर्थात् दोनों अर्थों का बोध एक ही बार उच्चारित एक पद से नहीं हो सकता इस से यह भी नहीं कह सकते कि दोनों अर्थों का स्वर्गादि पद से बोध हो सकता है।

प्र०—फल में स्वर्गादिपदों का तात्पर्य न हो, तब भी तो शब्दशक्ति के अनुसार उन से फल का बोध हो ही जायगा उसी से फलों की सिद्धि और पुरुषों की प्रवृत्ति दोनों हो सकती हैं तब ऐसी दशा में स्वर्गादिपदों का प्रशंसारूपी लक्ष्यार्थ में तात्पर्य के स्वीकार करने में कौन अनुपपत्ति है ?

उ०—यही मूलनाशिनी अनुपपत्ति है कि ऐसा हो ही नहीं सकता क्योंकि जब विधिवाक्यों में स्वर्गादिपद से अन्य कोई पद, फल का बोधक नहीं है तब स्वर्गादिपद का फल ही अर्थ है, और उस में तात्पर्य न होने का कोई कारण नहीं है तथा जब उस में स्वर्गादिपद का तात्पर्य है तब प्रशंसा में उस के तात्पर्य का न होना ही उचित है !

प्र०—अच्छा, विधिवाक्य के पदों से यागादि की प्रशंसा न निकले, क्योंकि उस में तात्पर्य नहीं है परन्तु अनुमान ही से यगादि की प्रशंसा निकलैगी क्योंकि यह अनुमान, कर सकते हैं कि यागादि कर्म, प्रशस्त हैं क्योंकि इन के स्वर्गादि फल हैं ?

उ०—अनुमानादि के द्वारा निकले हुए अर्थ में विधिवाक्यों का तात्पर्य नहीं हो सकता और तात्पर्य के बिना, उस अर्थ की सिद्धि, विधिवाक्यों से नहीं हो सकती कि जिस से फल के-

शास्त्रार्थो भवति येन तद्बोधनद्वारा फलपदादिरूपं शास्त्रं प्रवृत्तये कल्पेत । यथा हि पूर्वो धावतीत्युक्ते गम्यमानेनापि परेण न धावनक्रियाऽन्वयस्तथाऽर्थलभ्यप्राशस्त्यस्यार्थभावनायामन्वयःकथमुपपद्येत । नच यथा 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ती' त्यादीना-

॥ भाषा ॥

निश्चय द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति हो सके । जैसे "पूर्वो धावति" (पहला दौड़ता है) इस वाक्य से अर्थात् द्वितीय का ज्ञान होता है किन्तु दौड़ने में द्वितीय के सम्बन्ध का बोध इस वाक्य से नहीं होता वैसे ही अर्थात् निकले हुए प्रशंसारूपी अर्थ का आर्थीभावना में सम्बन्ध विधिवाक्यों से कदापि ज्ञात नहीं हो सकता ।

प्र०—जैसे 'प्रतिष्ठन्ति ह वा य एतारात्रीरुपयन्ति' (जो इस रात्रिसत्र को करते हैं वे अवश्य ही प्रतिष्ठा पाते हैं) ऐसे अर्थवादवाक्यों के विषय में सब मीमांसाचार्यों की एकवाक्यता से यह सिद्धान्त है कि "ऐसे वाक्य यज्ञ की प्रशंसा भी करते हैं और यज्ञ के फल का निश्चय भी कराते हैं । और इसी से यद्यपि ऐसे वाक्यों के समीप में रात्रिसत्र आदि यज्ञों के विधान करनेवाले कोई विधिवाक्य नहीं श्रुत हैं तथापि ऐसे अर्थवादवाक्यों के बल ही से प्रतिष्ठा आदि फल के निश्चय द्वारा "प्रतिष्ठाकामारात्रिसत्रं कुर्वीरन्" (प्रतिष्ठा की इच्छा करनेवाले पुरुष, रात्रिसत्र को करें) इत्यादिरूपी विधिवाक्यों की अर्थात् कल्पना की जाती है और उन यज्ञों में पुरुषों की प्रवृत्ति के लिये अनन्तरोक्त अर्थवादवाक्य ही उन यज्ञों की प्रशंसा भी करते हैं अर्थात् इन अर्थवादवाक्यों में दो शक्तियां मानी जाती हैं एक, प्रतिष्ठादिफलों के स्वरूप बतलाने की और दूसरी, प्रशंसा के बोध कराने की" । और अधिक क्या कहना है आर्थीभावना के निरूपण में इसी ग्रन्थ में 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' (वेद अवश्य पढ़े) इस वाक्य से अर्थात् अनेक वाक्यों की कल्पना के द्वारा वेद का पुरुषार्थसाधक होना निकाला गया है । वैसे ही स्वर्गकाम आदि शब्दों का यद्यपि स्वर्गादिरूप फल ही में मुख्य तात्पर्य है तथापि पुरुष की प्रवृत्ति के लिये अत्याकाङ्क्षित प्रशंसा, इन शब्दों से क्यों नहीं निकल सकती है ?

उ०—उक्त दोनों दृष्टान्त इस विषय के तुल्य नहीं हैं क्योंकि प्रथमदृष्टान्त में यदि उक्त अर्थवादों से प्रतिष्ठादिरूपी फलों का निश्चय न किया जाय तो उक्त विधियों की कल्पना ही नहीं हो सकती तो वे अर्थवाद किस वाक्यसे विहित यज्ञ की स्तुति करेंगे ? इस कारण वे व्यर्थ ही हो जायंगे इसी से अनन्यगति हो कर उनमें दो शक्तियां मानी जाती हैं । और द्वितीयदृष्टान्त की भी यही दशा है क्योंकि उतने वाक्यों की कल्पना वहां यदि न की जाय तो समस्त वेद ही निष्प्रयोजन हो जाय । और दोनों दृष्टान्तों में एक यह भी विशेष है कि वहां वाक्यों ही की कल्पना होती है और वे ही कल्पितवाक्य, प्रत्यक्षवेदवाक्यों के नाई अपने अर्थों का बोध कराते हैं और इन "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" आदि वाक्यों में तो 'भूति' आदि पद से फल के स्वरूपमात्र का निश्चय होता है और प्रशंसा का बोध "वायुर्वैक्षेपिष्ठा" इत्यादि अर्थवादों से होता है इस रीति से दोनों काम यथाक्रम प्रत्यक्षपठित ही विधि और अर्थवादों से जब हो सकते हैं तब अर्थवश के अनुसार भूति आदि शब्दों से प्रशंसा निकालने का क्लेश क्यों किया जाय ? दूसरे यह कि भूति आदि शब्द से प्रश्नकर्ता ने किसी वाक्य की कल्पना नहीं कहा है कि दृष्टान्तों के नाईं उस वाक्य से प्रशंसा का बोध हो सके किन्तु प्रशंसारूपी अर्थ ही को निकाला है जो कि

मर्थवादानांप्राशस्त्यपराणामप्याकाङ्क्षितफलसमर्पकत्वमङ्गीक्रियते। अतएव च तत्र विधिकल्पना, तथा भूतिकामादिशब्दानां फलादिपराणामप्याकाङ्क्षितमाशस्त्यसमर्पकत्वमपि कुतो नस्यादिति वाच्यम्। तत्र हि प्रकारान्तरेण फलप्रत्ययासंभवादगत्या फलसमर्पकत्वमङ्गीक्रियते-

॥ भाषा ॥

'पूर्वो धावति' इत्यादि दृष्टान्त के अनुसार वाच्यार्थ ही नहीं हो सकता।

प्र०--तब नहीं कहा गया तो अब कहा जाता है कि भूति आदि शब्दों से प्रशंसा-वाक्यों ही का कल्पना क्यों न की जाय? और क्यों उन्हीं वाक्यों से प्रशंसा का बोध न कराया जाय?।

उ०--यह कैसा अन्याय का प्रश्न है? क्योंकि कल्पना उस पदार्थ की होती है कि जो आप से आप प्रसिद्ध न हो और उसके विना, प्रस्तुत कार्य का निर्वाह न हो सके, यहां तो प्रशंसा के बोधार्थ अर्थवादवाक्य प्रत्यक्ष ही पठित हैं तो अप्रसिद्ध वाक्य की कल्पना कैसे हो सकती है।

प्र०--यहां भी तो प्रशंसा के बोध का निर्वाह नहीं हो सकता क्योंकि अर्थवादों में प्रशंसा करने की शक्ति आप से आप नहीं है इसी से प्रशंसा में उनकी लक्षणा मानी जाती है। तो ऐसी दशा में भूति आदि शब्दों ही से प्रशंसावाक्यों (वायव्य याग प्रशस्त है) इत्यादि की कल्पना, रात्रिसत्र दृष्टान्त के अनुसार क्यों न की जाय?

उ०--जब अर्थवादवाक्य प्रत्यक्ष ही पठित है और लक्षणावृत्ति के द्वारा उससे प्रशंसा का बोध भी हो सकता है तो रात्रिसत्र दृष्टान्त की तुल्यता यहां कहां है? और कैसे लक्षणारूपी राजमार्ग को छोड़ कर प्रशंसावाक्य की कल्पनारूपी साँकरी गली में चलना स्वीकार किया जाय?

प्र०--प्रशंसा में लक्षणा की कल्पना भी तो एक साँकरी गली ही है तो किस कारण से उसको राजमार्ग कहा जाता है?

उ०--(१) इस कारण से, कि पूर्व में स्पष्ट रीति से इसका उपपादन किया गया है कि 'प्रशंसा में अर्थवादवाक्यों की लक्षणा होने का प्रमाण अध्ययनविधि ही है' इसी से उक्त लक्षणा राजमार्ग है न कि साँकरी गली। और इस प्रश्न से यह ज्ञात होता है कि प्रश्नकर्ता की बुद्धि में इस समय पूर्वोक्त उपपादन उपस्थित नहीं है इससे इस अवसर पर भी उस उपपादन का थोड़ा संक्षेप लिखा जाता है कि जैसे उक्त द्वेष को निकाल कर पुरुषों की प्रवृत्ति होने के अर्थ 'आलभेत' आदि वैदिक-विधिवाक्य, अर्थवादों का मुख देखा करते हैं वैसे ही 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' आदि अर्थवाद भी अपनी सफलता के लिये उक्त विधिवाक्यों का मुख देखा करते हैं और इसी आकाङ्क्षा को देख कर अध्ययनविधि, यह बतलाता है कि उक्त अर्थवादवाक्य लक्षणावृत्ति से प्रशंसा का बोध करा कर उसके द्वारा उक्त विधिवाक्यों से मिल कर पुरुषों की प्रवृत्ति कराने के द्वारा स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक हैं। और जब उक्त रीति से लोकप्रसिद्ध कार्य्यकारणभाव के अनुसार अध्ययनविधि से अर्थवादों का पुरुषार्थसाधक होना सिद्ध हो सकता है तब पाठमात्र से अदृष्ट के द्वारा उनको पुरुषार्थसाधक स्वीकार करना गौरवदोष के कारण अनुचित है। इसी से 'इन अर्थवादों से लौकिकशक्ति के अनुसार जो हो सकता है वह होना चाहिये' ऐसे सामान्यरूपी नियोगवाक्य की कल्पना अध्ययनविधि ही से होती है इति। इसके अनन्तर अब यह निर्णय होता है कि अर्थवाद, विधायक नहीं हो सकते क्योंकि उनमें लिङादिरूपी विधिशब्द ही नहीं हैं। और यह भी नहीं-

प्रकृते त्वर्थवादतः फलप्रत्ययसंभवाद्गतिरस्तीति वैषम्यात्। नच प्रकृतेऽपि गतिर्नास्ति,अर्थवादानामपि स्वरसतः प्राशस्त्यप्रतिपादनशक्तेरभावेन सर्वेषां प्रमाणानां प्रत्यक्षप्रयात्,अतो-न वैषम्यमिति वाच्यम्। अर्थवादानां हि लक्षणया प्राशस्त्यप्रतिपादनशक्तिः संभवत्येवेति जाग्रत्स्वर्थवादरूपेषु प्रमाणेषु नोक्तरात्रिसत्रार्थवादन्यायेन फलपदादीनामर्थतः प्राशस्त्यसमर्पकता संभवति। नच "वसन्ताय कपिञ्जलानालभत" इत्यादौ विधौ कस्यचिदर्थवादस्याभावेऽपि यथा विधेः प्राशस्त्यसमर्पकत्वमप्यङ्गीक्रियते तथा भूतिकामादिवाक्येऽपि स्वीक्रियतामिति वाच्यम्। उक्तप्रायोत्तरत्वात् नहि प्राशस्त्यसमर्पकेष्वर्थवादेषु सत्स्वप्यगतिक-

॥ भाषा ॥

कह सकते कि उनसे विधिवाक्यों की कल्पना करली जाय, क्योंकि तब तो प्रशंसा करनेवाले वाक्य के न रहने से पुरुषों का उक्त द्वेष ही नहीं हटैगा तो प्रवृत्ति कैसे होगी? इसरीति से वे कल्पित विधिवाक्य भी व्यर्थ ही हो जायंगे। और यह भी नहीं कह सकते कि अर्थवाद, विधियों की कल्पना भी कराएँ और लक्षणा से उनके अर्थों की प्रशंसा का बोध भी, क्योंकि जब अपने वाच्यार्थ के द्वारा वे विधियों की कल्पना करा चुके और उनके सामर्थ्य का व्यय हो चुका तब किस सामर्थ्य से वे लक्षणा के द्वारा प्रशंसा का बोध कराएँगे? हां यदि वे दो बार पढ़े होते तो बारी २ से दोनों काम सिद्ध करते किन्तु ऐसा नहीं है अर्थात् वे एक ही बार पढ़े हुए हैं।

उ०—(२) और यह भी है कि जब अनसुने विधियों की कल्पना करने पर भी प्रशंसा में लक्षणा ही करना है तब तो प्रथम हीं से प्रशंसा में लक्षणा कर प्रत्यक्ष सुने ही विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से कार्य सिद्ध होने की संभवदशा में अश्रुत विधिवाक्य की कल्पना, व्यर्थ, गौरवग्रस्त और निर्मूल भी है तस्मात् अर्थवादों की, प्रशंसा में लक्षणा, अध्ययनविधि से सिद्ध और अत्यन्त सयुक्तिक है इसमें किसी प्रकार से शंका का अवसर ही नहीं है।

प्र०—प्रशंसारूपी अपने लक्ष्यार्थ के द्वारा आर्थीभावना में अर्थवादों का दूर से सम्बन्ध क्यों लगाया जाता है? अर्थवादों का आर्थीभावना ही क्यों साक्षात् ही अर्थ नहीं माना जाता?

उ—यदि ऐसा माना जाय तो 'लौकिकशक्ति के अनुसार अर्थवादों से जो हो सकता है सो करें' इस पूर्वोक्त, अध्ययनविधि के अर्थ का विरोध हो जायगा क्योंकि लिङादिविधिशब्द अर्थवादों में नहीं रहते इसी से आर्थीभावना के साक्षात् बोध कराने में अर्थवादों की शक्ति ही नहीं है।

प्र०—यह सब ठीक है परन्तु इसका क्या उत्तर है कि जैसे 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (बसन्त देवता के प्रीत्यर्थ कपिञ्जलों अर्थात् पक्षिविशेषों से यज्ञ करै) इस विधिवाक्य में विधान करने की और प्रशंसा करने की दो शक्तियां मानी जाती हैं वैसे ही 'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः' इत्यादि विधिवाक्यों ही में प्रशंसा करने की शक्ति भी मान ली जाय। पुनः अर्थवादों का क्या प्रयोजन है?

उ०—इसका वही उत्तर है जो अभी कहा गया है अर्थात् इस विधिवाक्यरूपी दृष्टान्त के समीप में कोई अर्थवादवाक्य प्रत्यक्ष पठित नहीं है इसी से अनन्यगति हो कर प्रशंसा करने की शक्ति भी उसी में मान ली जाती है जिसमें पूर्वोक्त द्वेष हटाने से पुरुषों की प्रवृत्ति निर्विघ्न हो और-

गतिभूतमर्थतः प्राशस्त्यसमर्पकत्वमुचितमाश्रयितुम् अर्थवादानां प्राशस्त्यसमर्पणे सामर्थ्यं च स्वाध्यायाऽध्ययनविधिनैव बोध्यम्। यथाऽऽलभेतेत्यादयो विधयः प्राशस्त्यप्रतिपादकं प्रति-सापेक्षास्तथा 'वायुर्वैक्षेपिष्ठे' त्याद्यर्थवादा अपि पुरुषार्थं प्रति साकाङ्क्षा एवेति स्वाध्या-याऽध्ययनविधिना पुरुषार्थतया प्रस्याय्यन्ते। सति च दृष्टे द्वारे न पाठमात्रोत्पन्नादृष्टद्वारेण पुरुषार्थता तेषां कल्पयितुमुचिता। तथाच 'तैर्यच्छक्यते तत्कर्त्तव्यमि' त्याकारेण पर्य्यव-सितेन शक्त्यनुसारिणाऽध्ययनविधिविनियोगेन दृष्टमेव पुरुषार्थताद्वारं सामान्यतस्तेभ्यः समर्प्यते। तेषां च लिङादियुक्तत्वाभावान्न विध्यभिधाने शक्तिरस्ति, नचाश्रुतो विधिस्तेषु कल्पयितुं शक्यते, कल्पितेऽपि तस्मिन्प्राशस्त्यसमर्पकार्थवादान्तराभावेन प्रवृत्तेर्दुर्निर्वाहतया कल्पितविधिवैयर्थ्यात्। नच तेनैवार्थवादेन स्वकल्पितविध्यर्थे लक्षणयाऽपि प्राशस्त्यं बोध-यितुं शक्यते, शक्यार्थद्वारा विधिकल्पकत्वे लक्षणया च प्राशस्त्यबोधकत्वे वाक्यभेदप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वात्। किंच प्राशस्त्यलक्षणाया विधिकल्पकत्वेऽप्यावश्यकतया तामेवाश्रित्यानन्तरश्रु-तविध्येकवाक्यतासंभवादश्रुतविधिकल्पना, गौरवग्रस्ता निर्मूला च। नच किमर्थं भावनासंब-न्धद्वारा प्राशस्त्यस्य पुरुषार्थानुबन्धित्वं कल्प्यते, नार्थवादानां साक्षादेवार्थभावनाप्रतिपाद-कत्वं कल्प्येत कृतमन्तर्गडुना प्राशस्त्येनेति वाच्यम्। तथासति हि 'यदर्थवादैः शक्यते त-त्कर्त्तव्य' मित्यध्ययनविधिविनियोगेन पूर्वोक्तेन सह विरोध आपद्येत, नहि लिङादिरहि-तैरर्थवादैरार्थीभावना कयाऽपि वृत्त्या साक्षात्प्रतिपादयितुं शक्यते। नच यदि शक्त्यभा-वादर्थवादानामर्थभावनासाक्षात्प्रतिपादकत्वं न संभवति तदाऽक्षरग्रहणसाक्षात्प्रतिपादकत्व-मेवतेषामस्तु, तथाचार्थभावनागतप्राशस्त्ये लक्षणा निर्मूलैवेति वाच्यम्। अक्षरग्रहणस्यापुरु-षार्थत्वेन साक्षात्तत्प्रतिपादकत्वेऽप्यर्थवादानां पुरुषार्थानुबन्धित्वस्योपपादयितुमशक्यत्वात्।

॥ भाषा ॥

प्रकृत में तो 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' इत्यादि अर्थवाद, प्रत्यक्ष पठित ही हैं तो यहां उक्त क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

प्र०—यदि विधिशक्ति के न रहने से अर्थवाद, आर्थीभावना का बोध नहीं कराते तो अपने अक्षरों के पढ़ने ही का बोध कराएँ पुनः ऐसी दशा में उनकी लक्षणा, किस प्रयोजन से प्रशंसा में मानी जाती है?

उ०—अर्थवाद, अपने अक्षरों के अनुसार सिद्ध ही अर्थ का बोध कराते हैं और उससे पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती इसी से अर्थवादवाक्य ऐसे अर्थ का बोध करा कर सप्रयोजन हो सकते हैं कि जिस से पुरुषों की प्रवृत्ति हो सकै। और ऐसा वही अर्थ हो सकता है जोकि पुरुषार्थरूपी है। और अक्षरपाठ तो परिश्रमदायी होने से पुरुषार्थरूप नहीं है इसी से उसके बोध कराने पर भी अर्थवादों की, अपने सफलता की आकाङ्क्षा पूर्ण नहीं होती इस रीति से अनन्यगति हो कर पुरुषों की प्रवृत्ति के अर्थ अर्थवाद, अपनी, पुरुषार्थ की आकाङ्क्षा को प्रशंसा ही के बोध कराने से परिपूर्ण करते हैं क्योंकि एक तो उक्त लोकानुभव के अनुसार, प्रशंसा करना अर्थवादों का काम है और दूसरे यह कि विधिवाक्यों के प्रतिपाद्य उक्त आर्थीभावना में प्रशंसा के सम्बन्ध होने के द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति होने से स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थों में अर्थवादों का उपयोग सिद्ध होता है। और तीसरे यह कि यागादि की प्रशंसा ही विधिवाक्यों से आकाङ्क्षित है क्योंकि-

एवंचाप्रशान्ताकाङ्क्षा वायुर्वेत्यादयोऽर्थवादा, लौकिक्याः साधनानुरूपसाध्योत्पत्तेरनुसारिणं, साक्षात्पुरुषार्थानुबन्धिन्यां वाक्यार्थभूतायामर्थभावनायामन्वययोग्यत्वेन स्वपुरुषार्थानुबन्धित्वोपपादनक्षमं, भूतिकामादिरूपानन्तरप्रवृत्तविध्याकाङ्क्षितत्वादनुपेक्षणीयं, क्षिप्रदेवतासाध्यत्वप्रयुक्तक्षिप्रफलप्रदत्वादिरूपं, प्राशस्त्यमेव लक्षणया बोधयित्वा स्वीयां पुरुषार्थाकाङ्क्षां गत्यन्तरविरहादुपशमयन्ति नत्वन्यथा। सोऽयं विध्यर्थवादयोर्नष्टाश्वदग्धरथयोरिव संप्रयोगः। यथैकस्य दग्धरथस्य जीवद्भिरश्वैरविद्यमानाश्वस्य विद्यमानरथस्य संप्रयोगः परस्परस्यार्थवत्त्वाय भवति तथाऽर्थवादानां पुरुषार्थांशो विधिना, विधेश्च शब्दभावनाया इतिकर्त्तव्यतांशोऽर्थवादैः पूर्यते। तस्मात् अर्थवादेभ्योऽन्येन बोधितमपि प्राशस्त्यं न लिङाद्यर्थशब्दभावनाऽङ्गम्, अर्थवादैश्च वैदिकलिङाद्युपात्तार्थभावनाधर्मिकप्राशस्त्यज्ञानादतिरिक्तं प्रयोजनं नैव साधनीयम्, किंत्वर्थवादैरेव प्राशस्त्यलक्षणया प्ररोचितं, वैदिकविधिभिरेव विहितं, यागादिकमनुष्ठितं सत्, फलं साधयति नान्यादृशमित्ययमर्थोऽध्ययनविधिबलादेव लभ्यत इति सिद्धम्। इत्थंच विध्यर्थवादौ समुदितावेवैकं वाक्यं पूर्णं भवत इत्युभयोः श्रवणे पूर्णमेव वाक्यम्, एकस्य श्रवणे त्वन्यस्य कल्पनया वाक्यं पूरणीयम् यथा 'वसन्ताय कपिञ्जला-

॥ भाषा ॥

यदि प्रशंसा न हो तो पूर्वोक्त रीति से पुरुषों की प्रवृत्ति न होने के कारण सब विधिवाक्य व्यर्थ ही हो जायं।

अब इतने व्याख्यान से यह सिद्ध हो गया कि जैसे नष्टाश्व (जिस पुरुष के घोड़े नहीं हैं किन्तु रथ ही है) और दग्धरथ (जिसका रथ जल गया और घोड़े ही उसके हैं) पुरुषों के अन्योन्य मिलाप होने से दोनों, रथ में घोड़ों को नियुक्त कर अपने यात्रारूपी कार्य का भलीभांति निर्वाह कर लेते हैं अर्थात नष्टाश्व के घोड़ों की आवश्यकता को दग्धरथ और दग्धरथ की आवश्यकता को नष्टाश्व, पूर्ण करता है और इस रीति से उनके अन्योन्य की प्रयोजनाकाङ्क्षा को उनका अन्योन्यसम्बन्ध ही निवृत्त करता है वैसे ही अर्थवादों के पुरुषार्थरूपी प्रयोजन की आकाङ्क्षा को विधिवाक्य और विधिवाक्यों के अपने शाब्दीभावना के इतिकर्त्तव्यतांशरूपी प्रशंसा की आकाङ्क्षा को अर्थवादवाक्य पूर्ण करते हैं इसी से विधि और अर्थवाद वाक्यों का अन्योन्यसम्बन्ध अति गुणकारी और क्षीर नीर के नाईं अति घनिष्ट होता है। यहां तक है कि पृथक् २ दोनों वाक्य अधूड़े होते हैं और दोनों मिल ही कर एक वाक्य हैं। यह सब अर्थ उक्त अध्ययनविधि ही के बल से सिद्ध होता है। और यह भी उसी से निकलता है कि वैदिकअर्थवादों से अन्य किसी कैसे भी वाक्य से यदि यागादिकों की प्रशंसा की जाय तो वह कदापि वैदिकशाब्दीभावना का अङ्ग नहीं हो सकता और वैदिकअर्थवादों का भी वैदिकआर्थीभावना की प्रशंसा से अतिरिक्त कोई कार्य साधनीय नहीं है अर्थात् विधि और अर्थवाद के विषय में उक्त अध्ययनविधि का यही अर्थ निष्कृष्ट और सारभूत है कि "वैदिकअर्थवादों ही से प्रशंसा में लक्षणा के द्वारा प्ररोचित और वैदिकविधिवाक्यों ही से विहित जो यागादिकर्म किया जाता है वही स्वर्गादिफलों का साधक होता है न कि अन्य प्रकार का" इति। विधि और अर्थवाद दोनों मिल ही कर एक वाक्य पूर्ण होता है नहीं तो अधूड़ा रहता है इसी से पूर्वोक्त "वसन्ताय" इत्यादि विधिवाक्यों में (जहां कि अर्थवादवाक्य प्रत्यक्ष पठित नहीं हैं) कल्पित अर्थवादवाक्यों से विधिवाक्य पूर्ण किये जाते हैं

मालभत' इति विधावर्थवादांशोऽश्रुतोऽपि कल्प्यते "प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एतारात्रीरुप यन्ती" त्याद्यर्थवादे तु विध्यंश इति ध्येयम्। एवम् "यो बर्हिषि रजतं दद्यात्पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवति" इत्यादिषु निन्दाऽर्थवादेष्वप्ययमेव विध्यर्थवादपरस्पराकाङ्क्षोपपादनन्याय उन्नयनीयः। तथाहि "तस्माद्बर्हिषि रजतं न देय" मितिनिषेधान्यथानुपपत्त्या यद्यपि तादृशे रजतदानेऽनिष्टसाधनत्वबोधात्तत्राप्रीतिस्ततश्च निवृत्तिर्लभ्यते तथापि लोके यथा परदारगमनादौ वेदेनानिष्टसाधनताबोधेऽपि तात्कालिकस्य सुखादेरिष्टस्य साधनताया लोकानुभवसिद्धाया बोधादिच्छा जायते ततश्चोत्साहः सच निवृत्तिं प्रतिबध्नाति तथा रजतदानेऽपि कीर्त्यादिदृष्टफलसाधनत्वावगमाज्जाताया इच्छाया वशादुल्लसन्नुत्साहो निवृत्तिं प्रतिहत्य प्रवृत्तिं जनयेदेवतीच्छानाशकद्वेषोत्पादकस्य रोदनादिरूपदोषातिशयरूपाप्राशस्त्यज्ञानस्योपजननद्वारेण निवृत्तिजनने सहकारिणां नञ्लिङादियुक्तशब्दभावनाया निवारणापरपर्य्यायाया निषेधज्ञानात्मकं करणांशमनुगृह्णतामर्थवादानामावश्यकता न तिरोधानमर्हति। अमाशस्त्यज्ञानस्य च साधनापेक्षा, पूर्वोक्तेनैवप्रकारेणाध्ययनविधिव-

॥ भाषा ॥

और 'प्रतितिष्ठन्ति ह वा' इत्यादि पूर्वोक्त अर्थवादवाक्यों में (जहां कि विधिवाक्य प्रत्यक्ष पठित नहीं हैं) कल्पितविधिवाक्यों से अर्थवादवाक्य पूर्ण किये जाते हैं।

यहां तक प्रशंसार्थक अर्थवादवाक्यों के, विधिवाक्य में सम्बन्ध होने की रीति समाप्त हो चुकी। अब निन्दार्थक अर्थवादवाक्यों के, निषेधवाक्यों में सम्बन्ध होने की रीति कही जाती है।

यद्यपि सामान्यरूप से यह भी कही जा चुकी है तथापि विशेषरूप से संक्षेपतः उसका वर्णन करना इस अवसर पर आवश्यक है। "यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सराद्गृहे रोदनं भवति" (जो कुश पर चांदी दक्षिणा देता है उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) इत्यादि निन्दार्थवादों में भी निषेधवाक्यों के साथ परस्पर में आकाङ्क्षा का उपपादन पूर्वोक्तरीति ही से किया जाता है जो यह है, कि 'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयम्' (उक्त रोदनभय से कुश पर रजत न दे) इसी निषेधवाक्य का पूर्वोक्तवाक्य, अर्थवाद है। यद्यपि इस निषेध ही से यह बोध स्पष्ट होता है कि उक्त रजतदान, प्रबलदुःख का कारक है और इसी बोध से उक्त दान में पुरुषों का द्वेष और उस द्वेष से उनकी निवृत्ति भी हो सकती है तथापि जैसे लोक में परस्त्रीगमन आदि में वेद से दुःखकारक होने का बोध होने पर भी तत्कालसुख के कारक होने का लोकानुभव, उन कर्मों में पुरुषों की इच्छा उत्पन्न कर उत्साह करा देता है और वह उत्साह उक्त द्वेष को हटा कर निवृत्ति को दूर कर प्रवृत्ति करा देता है वैसे ही प्रकृत में भी उक्त रजतदान में कीर्ति आदि दृष्टफलों के साधक होने के लोकानुभव से उत्पन्न हुई इच्छा से उठता हुआ उत्साह भी निवृत्ति को हटा कर उक्त दान में पुरुषों की प्रवृत्ति करा ही देगा, उसके निवारणार्थ, उक्त इच्छा के नाशक द्वेष के उत्पादनार्थ, उक्त अर्थवाद, रोदनरूपी अतिप्रबलदुःख को दिखला कर उक्त दान की निन्दा करता है और उक्त निषेधवाक्य के, विधियुक्त 'न' शब्द से निकली हुई निवारणारूपी उक्त शाब्दीभावना के निषेधज्ञानरूपी करणांश में अन्तर्गत हो कर निषेधवाक्य की गिरती हुई निवर्त्तकशक्ति को उठा कर खड़ी कर देता है इस कारण पुरुष उक्त दान से निवृत्त हो जाते हैं। और उक्तरीति ही के अनुसार अध्ययनविधि ही के बल से यह भी निकलता है कि वैदिक निषेध्य-

लावगतसाधनत्वाकैः 'सोऽरोदी' दित्येवमादिभिर्निन्दाऽर्थवादैरेव पूर्य्यत इति युक्तमेव निवर्त्तकशब्दभावनया तेषां ग्रहणमिति। ततश्चाध्ययनविधिबलेनार्थवादानां पुरुषार्थानुबन्धित्वाय लाक्षणिकस्तुतिनिन्दापरत्वस्य दृढतरमध्यवसायाद्रूपभङ्गेन सिध्यन्ती 'विधिनात्वि' तिप्रकृतसूत्रोक्तैकवाक्यता सर्वथा न्याय्यैव। अथाध्ययनविधिबलाकलितेन पुरुषार्थानुबन्धित्वेनैवार्थवादानां स्तुतिनिन्दापरत्वं विध्यर्थवादयोर्भिन्नवाक्यत्वेऽप्यध्यवसाययितुं सुतरामेव शक्यते तथाचैतावता महता प्रयासेन सूत्रोक्तैकवाक्यतोपपादनमनर्थकमेवेति चेन्न। नह्यर्थवादानां विधिस्तुतिनिन्दापरत्वं शब्दशक्त्या प्रतीयते। नच प्राशस्त्याप्राशस्त्यलक्षणा संभवति। मुख्यार्थपरित्यागे कारणाभावात्। सिद्धवत्कीर्त्तनान्यथानुपपत्त्या 'तमग्नीषोमीयमेकादशकपालं दर्शपूर्णमासे प्रायच्छ' दित्यादाविव विधिकल्पनेनैवान्यथासिद्धायाः पुरुषार्थानुबन्धितया अपि लक्षणोपपादकत्वाभावाच्च। एवंच विध्यर्थ-

॥ भाषा ॥

कर्मों की निन्दा भी वैदिकअर्थवादों ही से होनी चाहिये। तस्मात्, उक्त अध्ययनविधि के बल से जब यह सिद्ध हो गया कि अर्थवादों का मुख्यतात्पर्य, स्तुति वा निन्दा में है तब द्वारभूत अक्षरार्थ को अमुख्य ही समझना चाहिये और अर्थवादों के अक्षरों पर अति ध्यान न दे कर स्तुति वा निन्दा में उन की लक्षणावृत्ति मान कर स्तुति वा निन्दा रूपी लक्ष्यार्थ ही के द्वारा विधि वा निषेध वाक्यों के साथ अर्थवादों की एकवाक्यता अत्यन्त उचित और वास्तविक है जिस को 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' इस प्रकृतसूत्र में अपने श्रीमुख ही से महर्षि ने कहा है अर्थात् इस वर्त्तमान बृहद्व्याख्यान के आरम्भ ही में जो यह प्रश्न किया गया था कि 'विधि और अर्थवाद की परस्पर एकवाक्यता कैसे हो सकती है' उस का उत्तर, इतने दूर पर यहां आ कर पूर्ण हो चुका।

प्र०—उक्त अध्ययनविधि के बल से इतना ही निकल सकता है कि अर्थवाद पुरुषार्थ के साधक हैं और लक्षणावृत्ति के अनुसार स्तुति वा निन्दा इन का अर्थ है। परन्तु 'इन के बिना, विधिवाक्य अधूड़ा रहता है अर्थात् विधिवाक्यों के साथ इन की एकवाक्यता है' इतना अंश जब अध्ययनविधि से नहीं निकलता तब सूत्रकार महर्षि का, एकवाक्यता कहना, निर्मूल ही है क्योंकि विधि और अर्थवाद यदि पृथक् २ स्वतन्त्र ही वाक्य रहें तब भी प्रवृत्ति और निवृत्ति का काम सहज में चल सकता है। तो ऐसी निर्मूल एकवाक्यता का इतने बड़े प्रबन्ध और परिश्रम से जो उपपादन किया गया इस से क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ?

उ०—(१) अर्थवादों के अक्षरों की पर्यालोचना से कदापि यह नहीं निकल सकता कि शब्दों की शक्ति के अनुसार यागादिकों की स्तुति वा निन्दा में उन (अर्थवाद) का मुख्यतात्पर्य है। और स्तुति वा निन्दा में अर्थवादों की लक्षणा भी नहीं हो सकती क्योंकि लक्षणा वहां होती है जहां कि मुख्यार्थ का बाध हो। और यदि यह कहा जाय कि अर्थवाद, सिद्ध ही पदार्थों को कहते हैं और सिद्धपदार्थ के कहने से प्रवृत्ति वा निवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति वा निवृत्ति न कराने से अर्थवाद पुरुषार्थ के साधक नहीं हो सकते इसी कारण से स्तुति वा निन्दा में उन की लक्षणा, अध्ययनविधि के अनुसार मानी जाती है, तो इस का यह खण्डन है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति के लिये विधिवाक्य और निषेधवाक्य की कल्पना अर्थवादों से कर ली जाय परन्तु लक्षणा-

वाद्योः परस्पराकाङ्क्षयैव लक्षणोपपादनीया। तथा च स्तुतिनिन्दापरत्वमध्ययनविधिलभ्यमुपपाद्यते। परस्पराकाङ्क्षापूरणं च न विनैकवाक्यतामित्येकवाक्यता सिध्यति। अतएवार्थवादेषु वाक्यशेषत्वव्यवहारः। विध्यर्थाकाङ्क्षानिवर्त्तकं हि वाक्यं वाक्यशेष इत्युच्यते। किंच अर्थवादानां वाक्यशेषतामनङ्गीकृत्य स्वातन्त्र्यस्वीकारे स्तुतिनिन्दानिर्णायकत्वं तेषां न संभवत्येव। नहि स्तुतिनिन्दे क्वचिद्व्यवस्थिते। अविधेयनिन्दापरत्वेन भासमानेष्वपि वाक्येषु निन्दाविपरीतस्य विधेयस्तावकत्वस्य पारमार्थिकत्वदर्शनात्। विधेयनिन्दकत्वेनाविधेयस्तावकत्वेन च भासमानेषु तदुभयविपरीतस्य विधिस्तावकत्वस्य वास्तविकत्वदर्शनाच्च। कतिपयेषु च वाक्येषु स्तावकत्वनिन्दकत्वसंदेहदर्शनाच्च। त्रिविधेष्वपि चामीषु स्थलेषु विधिवाक्यशेषतामात्राधीनो निर्णयः। वाक्यशेषता चोक्तलक्षणा केवलैकवाक्यताप्राणा, नह्येकवाक्यतां विना विध्यर्थाकाङ्क्षामर्थवादाः कथञ्चन निवर्त्तयितुमीशत इति सूत्रवार्णितैकवाक्यताऽनुसरणसरणिरेव रमणीया शरणीकरणीया च। अनुपदोक्तनिर्णयत्रितयस्थलानि च क्रमेण यथा—

॥ भाषा ॥

का क्या प्रयोजन है ? इस रीति से अनन्यगति हो कर यही कहना पडेगा कि विधि और अर्थवाद की पूर्वोक्त परस्पराकाङ्क्षा को पूर्ण करना ही उक्त लक्षणा के स्वीकार का प्रयोजन है उसी के अनुसार लक्षणा होती है और लक्षणा के अनुसार स्तुति वा निन्दा में अर्थवादों के मुख्यतात्पर्य (जो कि अध्ययन विधि से लभ्य है) की सिद्धि होती है। तथा उक्त परस्पराकाङ्क्षा की शान्ति, विना एकवाक्यता के, हो ही नहीं सकती इसी से विधि और अर्थवाद की अन्योन्य एकवाक्यता, अत्यन्त समूल है न कि निर्मूल। इसी से अर्थवादों को भी मीमांसाचार्य्य लोग, विधिवाक्यों का वाक्यशेष (विधियों में जिन अर्थों की आकाङ्क्षा हो अर्थात् जिन अर्थों के बिना विधिवाक्यों का अर्थ पूर्ण नहीं हो सकता हो उन अर्थों का पूरक वाक्य) कहते हैं।

उ० — (२) यदि अर्थवादों को विधिवाक्यों से पृथक् स्वतन्त्र ही वाक्य मान लिया जाय तो उन से प्रशंसा वा निन्दा का निर्णय ही नहीं हो सकता अर्थात् अर्थवादों का प्रशंसा में तात्पर्य है अथवा निन्दा में, इस का निर्णय ही नहीं हो सकता क्योंकि केवल अर्थवादों के अक्षरों से स्तुति वा निन्दा की व्यवस्था ही नहीं हो सकती, इस में यह कारण है कि अर्थवादों में स्तुति वा निन्दा की तीन दशाएं होती हैं। अर्थात्—

(१) कोई अर्थवाद ऐसे होते हैं जो कि देखने से ऐसे ज्ञात होते हैं कि 'ये विधेय से भिन्न पदार्थ की निन्दा करते हैं' परन्तु वस्तुतः वे, विधेय की स्तुति करने वाले हैं।

(२) कोई ऐसे होते हैं जो कि थोड़े बिचार से ऐसे ज्ञात होते हैं कि "ये विधेय की निन्दा और उस से भिन्न की प्रशंसा कर रहे हैं" परन्तु वे, वस्तुगत्या दोनों से पृथक् विधेय की प्रशंसा ही करते हैं।

(३) कुछ अर्थवाद ऐसे होते हैं कि जिन में यह सन्देह होता है कि ये प्रशंसा करते हैं वा निन्दा।

इन तीन प्रकारों के उदाहरण दिखलाने से प्रथम, इतना कहना आवश्यक है कि उक्त तीनों प्रकार के स्थलों में निर्णय करने का एकमात्र उपाय यही है कि अर्थवादवाक्यों को-

२ अध्याये ४ पादे २ अधिकरणम्

अत्र, "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति ये ऽग्निहोत्र" मितिवाक्यस्य स्वरसतएवानुदितहोमनिन्दकत्वेन भासमानस्यापि "तस्मादुदिते होतव्यम्" इतिविध्येकवाक्यत्वादुदितहोमस्तावकत्वंनिर्णीतम् । तथाच सूत्रम्

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि २० इति

अस्यार्थांशः । यानि शेषाणि निन्दादिवचनानि पूर्वपक्षिणा भिन्नभिन्नशाखागतयोरग्निहोत्रयोर्मिथोभेदे प्रमाणतयोपन्यस्तानि तानि तयोः कर्मणोरैक्येऽप्युपपद्यन्ते नहि निन्दावाक्यस्य निन्दायां तात्पर्य्यं किंतु पक्षान्तरविधान एवेति । अत्र शावरे

॥ भाषा ॥

विधिवाक्यों का वाक्यशेष मान लिया जाय, और वाक्यशेष बनाने का उपाय, एकवाक्यता को छोड़ कर दूसरा, ढूंढ़ने पर भी कदापि नहीं मिल सकता क्योंकि विधिवाक्यों की पूर्वोक्त आकाङ्क्षाओं को एकवाक्यता के बिना, त्रिकाल में भी अर्थवादवाक्य पूरी नहीं कर सकते । ये तीन आधिकरण जो नीचे लिखे जाते हैं अनन्तरोक्त तीन प्रकारों के क्रम से उदाहरणभूत हैं ।

(१) मीमांसा दर्शन २ अध्याय ४ पा० २ आधिकरण ।

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि सू० २०

उपयोगी अर्थांश

भिन्न २ शाखागत अग्निहोत्र के भेद में पूर्वपक्षी ने उन २ शाखाओं के अर्थवादवाक्यों को दिखलाया है वे, अग्निहोत्रकर्म के एक होने पर भी सङ्गत होते हैं क्योंकि निन्दावाक्यों का निन्दा में तात्पर्य नहीं है किन्तु अन्य पक्ष के विधान ही में । और शावरभाष्य में यह कहा है कि, 'निन्दावाक्य का तात्पर्य निन्दा में नहीं है किन्तु निन्दित से अन्य की प्रशंसा में । इसी से निन्दित का निषेध, निन्दावाक्य से नहीं कल्पित होता किन्तु अनिन्दित का विधान ही होता है । और अग्निहोत्र में उदित और अनुदित दोनों पक्ष हैं उन में एक पक्ष की निन्दा से उस पक्ष का निषेध नहीं समझना चाहिये किन्तु अन्य पक्ष का विधान । इस रीति से किसी पक्ष में निन्दावाक्य का विरोध नहीं है' ।

तात्पर्य यह है कि "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्" (सूर्य्योदय से पूर्व जो अग्निहोत्र करते हैं वे प्रति प्रातःकाल झूठा बोलते हैं अर्थात् जैसे प्रतिदिन प्रातःकाल झूठा बोलना निन्दित है वैसे ही सूर्योदय के प्राक् अग्निहोत्र करना भी) यह अर्थवादवाक्य, यद्यपि स्पष्टरूप से अनुदितहोम की निन्दा करता हुआ प्रतीत होता है तथापि वैसा नहीं है क्योंकि "तस्मादुदिते होतव्यम्" (इस कारण सूर्योदय के अनन्तर होम करे) इस विधि का, उक्त अर्थवाद, वाक्यशेष है अर्थात् उक्त विधि के साथ इसकी एकवाक्यता होती है इसी से अनुदित पक्ष की निन्दा इसका अर्थ नहीं है किन्तु यही अर्थ है कि 'उदितहोम प्रशस्त है' क्योंकि यदि अनुदितपक्ष की निन्दा इस से होती तो उदितहोम के विधिवाक्य के समीप में इसका पाठ न होता और अनुदितहोम के विधिवाक्य से विरोध भी पड़ जाता क्योंकि कहां विधान और कहां निन्दा । इसी से उदित और अनुदित दोनों काल में से कोई निषिद्ध नहीं है अर्थात् उन में-

'नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रवर्त्तते किं तर्हि, निन्दितादितरत्प्रशंसितुम् तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते किंतु इतरस्य विधिः तत्र एकस्मिन् अग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्पेते अतो न कश्चिद्विरोधः' इति । यथा वा

१० अध्याये ८ पादे ५ अधिकरणम्

अत्र, चातुर्मास्येषु त्र्यम्बकान् पुरोडाशानधिकृत्य पठितम् "अभिघार्य्या नाभिघार्या इति मीमांसन्ते, यदभिघारयेत् रुद्रायास्ये पशूनिदध्यात्, यन्नाभिघारयेत् न रुद्रायास्ये पशूनिदध्यात् अथोखल्वाहुरभिघार्या एव नहि हविरनभिघृतमस्ति" इति वाक्यमुदाहृत्य चिन्तितम् किं त्र्यम्बका अभिघार्या नाभिघार्या इति विधिप्रतिषेधार्थत्वमस्य वाक्यस्य उत नेति तत्र हिंस्ररुद्रास्ये पशुनिधानापादकत्वेनाभिघारणस्यनिन्दितत्वा-

॥ भाषा ॥

से चाहे जिस काल का नियम यजमान कर सकता है इस में कोई विरोध नहीं हो सकता तस्मात् उक्त रीति से जब निन्दावाक्यों का विरोधपरिहार हो चुका तब शाखाभेद होने पर भी अग्निहोत्रकर्म का भेद नहीं है किन्तु वह एक ही है इति । अब यहां यह विषय अतिस्पष्ट है कि निन्दावाक्य की एकवाक्यता, विधिवाक्य के साथ यदि न की जाय तो यह निर्णय कदापि नहीं हो सकता अर्थात् विधि के साथ एकवाक्यता के बिना, केवल स्वतन्त्र उक्त निन्दावाक्य से प्रशंसा कदापि नहीं निकल सकती जैसे बालुकाराशि से तैलकणिका । अब इस अवसर पर आंख खोल कर प्रत्यक्ष यह देखना चाहिये कि उक्त अर्थवादवाक्य का निन्दारूपी शब्दार्थ को अनन्यगति होने से हटा कर " उदितहोम अच्छा है " इसी अर्थ में लक्षणा के द्वारा उसका मुख्यतात्पर्य मान कर उदितहोम के विधिवाक्य के साथ उस की एकवाक्यता ही स्वीकार करने से गला छूटता है न कि किसी अन्य प्रकार से । और जो उक्त एकवाक्यता को न स्वीकार करेगा उस की विचारचातुरी, "जिस अनुदितहोम का विधान करते हैं उस की निन्दा क्यों करते हैं ? और उदितहोम के विधान से तो अनुदितहोम की निन्दा का कोई सम्बन्ध नहीं है तो क्यों उदितहोम के विधिवाक्य के समीप में यह निन्दावाक्य पढ़ा गया ?" इत्यादि सन्देहसमुद्र में डूब ही मरेगी ।

(२) मी० द० अध्या० १० पा० ८ अधि० ५

(वि०) त्र्यम्बकदेवता वाले पुरोडाश (होमद्रव्य) के प्रकरण में यह श्रुति है कि, 'अभिघार्या नाभिघार्या इति मीमांसन्ते, यदभिघारयेत् रुद्रायास्ये पशूनिदध्यात्, यन्नाभिघारयेत् न रुद्रायास्ये पशूनिदध्यात्, अथोखल्वाहुः अभिघार्या एव नहि हविरनभिघृतमस्ति' (यह विचार करते हैं कि ये पुरोडाश, अभिघार्य अर्थात् अग्नि पर उष्ण कर गलाये जायँ अथवा नहीं, जो अभिघारण करै वह जानो रुद्र के मुख में अपने पशुओं को डालै, और जो न अभिघारण करै वह जानो न डालै, अब कहते हैं कि ये अवश्य अभिघार्य हैं क्योंकि अभिघारण के बिना हवि नहीं होती)

(सं०) यह वाक्य, अभिघारण के निषेधार्थ और विध्यर्थ भी है वा नहीं ।

(पू०) यह वाक्य अभिघारण के निषेधार्थ और विध्यर्थ भी है क्योंकि इस वाक्य में यह कहा है कि अभिघारण से यजमान के पशु, हिंसाशील रुद्र के मुख में डाले जाते हैं और-

दनभिघारणस्य च तदनापादकत्वेन स्तुतत्वादभिघारणस्य निषेधोऽवगम्यते। 'नानभिघृतं हविरस्ती' त्यभिघारणस्य हविःसम्पादकत्वाभिधानाच्च तद्विधिरवगम्यते। तथाच षोडशिग्रहणाग्रहणयोरिवाभिघारणानभिघारणयोर्विकल्प इति प्राप्ते, मीमांसासम्प्रदायव्यवहारेण विधिनिषेधशक्त्योः प्रतिबन्धादनभिघारणाभिघारणनिन्दास्तुत्योर 'भिघार्या एवे' ति विध्येकवाक्यत्ववशेनाभिघारणस्तावकत्वमवधार्यते तच्च यतः अभिघारणं प्रशस्ततरम् गुणवत्तरत्वात् अतः त्रैयम्बकानां दर्विहोमत्वेनापूर्वत्वादतिदेशतोऽप्राप्ते मीमांस्यमाने तस्मिन् दोषोऽप्येवंविधोऽनभिघारणस्य च गुणोऽपि न गण्यत इति रीत्या ज्ञेयम् एवंच वाक्यभेदापादकस्य विधिप्रतिषेधार्थत्वस्यायुक्तत्वादभिघार्या एवेति निर्णीतम्। तथाच सूत्रम्।

पूर्वैश्च तुल्यकालत्वात् ८ इति

इदंच सूत्रमभिघारणाधिकरणोक्तन्यायस्य 'आधाने होतव्यमग्निहोत्रं होतव्यमि' त्यत्रातिदेशार्थम् पूर्वैः पूर्वन्यायैः तुल्यकालत्वात् तुल्ययोगक्षेमत्वात् 'अर्थवादः स्यादि' त्यनुवृत्तेन पूर्वसूत्रावयवेन पञ्चम्या अन्वय इत्यक्षरार्थः।

यथा वा ९ अध्याये २ पाद ८ अधिकरणम्।

अत्र "यदृचाम्तुवते तदसुरा अन्ववायन्, यत्साम्नास्तुवते तदसुरा नान्ववायन्, य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीते" ति वाक्यमुदाहृत्य, किम् 'ऋचा स्तुवत' इत्यपि विधायकम् उत-

॥ भाषा ॥

अभिघारण न करने से नहीं डाले जाते हैं, तथा यह कहने से अभिघारण का विधान होता है कि 'अभिघारण के विना हवि नहीं होती' तस्मात् जैसे 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति, नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' (अतिरात्रयज्ञ में षोडशी अर्थात् पात्रविशेष का ग्रहण करे, अतिरात्रयज्ञ में षोड़शी का ग्रहण न करे) इस वाक्य में विधि और निषेध दोनों के श्रवण से षोड़शी का ग्रहण अतिरात्र में वैकाल्पिक होता है वैसे ही प्रकृत में भी अभिघारण के विधि और निषेध दोनों के श्रवण से अभिघारण का विकल्प ही होना चाहिये अर्थात् यजमान चाहे तो अभिघारण करे और न चाहे तो न करे।

(सि०) इस वाक्य में जब अभिघारण के करने और न करने का विचार करना कहा है तब इस वाक्य में अभिघारण के विधान करने की शक्ति ही नहीं है इसी से इस वाक्य में कही हुई अभिघारण की निन्दा और स्तुति, इन दोनों का 'अभिघार्य्या एव' इस विधिवाक्य की एकवाक्यता के अनुसार अभिघारण की प्रशंसा ही में तात्पर्य है जिस का यह आकार है कि 'अभिघारण, अतिप्रशस्त है इसी से अभिघारण के दोष और अभिघारण न करने के गुण की गणना न कर अभिघारण अवश्य करना चाहिये'।

इस अधिकरण में अभिघारण के निन्दावाक्य का निन्दारूप प्रत्यक्ष अर्थ को, केवल विधि के साथ एकवाक्यता ही के बल से हटा कर अभिघारण की प्रशंसा में उस के तात्पर्य का निर्णय किया गया है।

(३) मी० द० अध्या० ९ पा० २ आधि० ८

(वि०) यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्, यत्साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन्, य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीत। (ऋक्मन्त्र से जो स्तुति करता है उस स्तुति के पीछे असुर आजाते हैं,-

'साम्नास्तुवीते' त्येतद्विहितसामस्तावकमिति चिन्तितम् तत्र 'य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीते' त्यस्य तावद्विधायकत्वं न संभवति "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते" इत्यादेरिव कर्त्तुः प्रवृत्तिमनुवदता यच्छब्देन घटिततया प्रवृत्त्यनुकूलाया विधिशब्दभावनाशक्तेः प्रतिबन्धात् इतरयोस्तु वाक्ययोर्भवति विधायकत्वम्, "यदाग्नेयोऽष्टाकपाल" इत्यादिवत्क्रियास्वरूपमात्रमनुवदता यच्छब्देन घटिततयाऽननूदितायाः प्रवृत्तेरनुकूलस्य वैधव्यापारस्य तत्रावारितप्रसरत्वात् तथाच तदुभयविधिवशादृक्सामयोर्विकल्प इति प्राप्ते, यच्छब्दयोगे-

॥ भाषा ॥

साममन्त्र से जो स्तुति करता है उस स्तुति के पीछे असुर नहीं आते, ऐसा समझ कर जो साममन्त्र से स्तुति करै)

(सं) 'ऋचा स्तुवते' यह वाक्य, ऋक्मन्त्र से स्तुति करने का विधान करता है किंवा 'साम्ना स्तुवीत' इस वाक्य से विधान की हुई सामस्तुति की प्रशंसा मात्र करता है अर्थात् विधायक नहीं है किन्तु अर्थवाद है।

(पू०) 'ऋचा स्तुवते' इस वाक्य में यद्यपि विधायक लिङादिशब्द नहीं हैं तथापि यह वाक्य विधायक ही है क्योंकि उक्त विषयवाक्य में 'साम्ना स्तुवीत' इस वाक्य से यदि सामस्तुति का विधान होता तो उस सामस्तुति की प्रशंसा 'ऋचा स्तुवते' वाक्य से हो सकती और 'साम्ना स्तुवीत' तो विधायक ही नहीं हो सकता क्योंकि उसमें 'यः' (जो) यह 'यद्' शब्द है जो कि आप से आप होने वाली पुरुषों की प्रवृत्ति का अनुवादमात्र करता है न कि विधान जैसे, 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' (जो ऐसा समझ कर पूर्णमास याग करता है) इस वैदिकवाक्य में, और इस लौकिकवाक्य में भी कि 'जो जैसा करै सो वैसा पावै', अर्थात् जिस वाक्य में 'यद्' शब्द रहता है उस वाक्य के लिङादिशब्दों की विधानशक्ति नष्ट हो जाती है जैसे कि इस लौकिकवाक्य में, वैसे ही 'साम्ना स्तुवीत' वाक्य में 'त' इस लिङ् शब्द में, उक्त 'यद्' शब्द के कारण, विधान की शक्ति ही नहीं है तो जब इस वाक्य से सामस्तुति का विधान ही नहीं हुआ तब 'ऋचा स्तुवते' वाक्य उसकी प्रशंसा नहीं कर सकता किन्तु विधायक ही है। और 'साम्ना स्तुवते' यह वाक्य भी विधायक है यद्यपि इन दोनों वाक्यों में भी 'यद्' शब्द लगा हुआ है तथापि यह यागादिरूपक्रिया ही का अनुवाद करता है न कि शाब्दी और आर्थीभावना का। इसी से भावना का बोध कराने वाली विधिशक्ति इन वाक्यों की नष्ट नहीं हुई है। इस रीति के अनुसार इन दो विधायकवाक्यों के बल से ऋक्मन्त्र और साममन्त्र का विकल्प होना चाहिये अर्थात् चाहे दो में जिस से स्तुति करै।

(सि०) 'यद्' शब्द लगने पर भी 'साम्ना स्तुवीत' वाक्य, अनुवादक नहीं है किन्तु विधायक ही है जैसे 'य एवं विद्वान् सोमेन यजेत' (जो ऐसा समझ कर सोम यज्ञ करै) यह वाक्य। इसमें कारण यह है कि इस वाक्य में 'त' रूपी विधायक लिङ्शब्द प्रत्यक्ष ही पठित है वह 'यद्' शब्द को दबा कर विधान करता है। 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते' इस वाक्य में तो 'ते' शब्द, विधायक लिङादिरूपी नहीं है इसी से वह 'यद्' शब्द की अपेक्षा दुर्बल है और 'यद्' शब्द, वहां विधायक लिङादिशब्द की कल्पना को नहीं होने देता। यही दशा 'यदृचा स्तुवते' 'यत्साम्ना स्तुवते' इन प्रकृत वाक्यों की भी है क्योंकि इन में भी 'ते' शब्द ही है और

ऽपि स्तुवीतेत्यस्य विधायकत्वमेव, "य एवं विद्वान् सोमेन यजेत" इतिवत् विधेःप्रत्यक्षतया तच्छक्तेर्यच्छब्दयोगेन प्रतिबन्धुमशक्यत्वात्, 'य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजत' इत्यादौ विधेरप्रत्यक्षतया तद्वैषम्यात् इतरयोस्तु न विधायकत्वम् वर्त्तमानापदेशकत्वेन विधिशक्तेरेवाभावात् किंच सत्येकवाक्यत्वसंभवे वाक्यभेदापादकविधिद्वयकल्पना न युज्यते अतः सामविध्येकवाक्यतावशेन सामस्तुत्यर्थमृचांनिन्देयमिति निर्णीतम् तथाच क्रमेण पारमर्षे पूर्वोत्तरपक्षसूत्रे ।

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ३०

अस्यार्थः अर्थस्य स्तुतिरूपकार्य्यस्य एकत्वात् तदर्थत्वात् । स्तुत्यर्थताश्रवणस्य ऋक्सामयोरुभयोस्तुल्यत्वात् विकल्पः स्यादिति ।

वचनाद्विनियोगः स्यात् ३१

अस्यार्थः वचनात् एकवाक्यत्वात् विनियोगः साम्नएव नियमेन विधिः 'असुराअन्ववायन्नि' तिनिन्दया साम्नः स्तावकत्वा 'दृचास्तुवत' इत्यर्थवाद एवेति । अत्र पूर्वसूत्रे शावरम् 'ननु असुरसङ्कीर्तनान्निन्दैषा नेत्याह न वयं निन्दितानिन्दितान्वा असुरानविद्मः संकीर्तनात्कर्त्तव्यतामध्यवस्याम' इति । अत्रच शावरे 'निन्दितानानिन्दितान्वे' त्यनेन सन्देहः सूच्यते सच किं यस्मादसुरानप्येषा क्रिया वशीकृत्यानयति 'तस्मान्नूनं प्रशस्ते' ति-

॥ भाषा ॥

'यद्' शब्द भी लगा हुआ है । तथा इस कारण से भी ये विधायक नहीं हैं क्योंकि दो विधायक होने से दो वाक्य हो जायंगे तस्मात् 'साम्ना स्तुवीत' यह वाक्य विधायक ही है और 'यदृचा स्तुवते' इस वाक्य का ऋक्स्तुति की निन्दा में तात्पर्य नहीं है किन्तु सामस्तुति की प्रशंसा ही में, 'यत्साम्ना स्तुवते' इस वाक्य का, तो प्रशंसा में तात्पर्य सुघट ही है क्योंकि इन दोनों वाक्यों की एकवाक्यता, 'साम्ना स्तुवीत' वाक्य के साथ होती है जो कि विधायक है । सिद्धान्त यह है कि 'साम्ना स्तुवीत' यह एक ही विधायक है और सब वाक्य सामस्तुति की प्रशंसा करने वाले अर्थवाद ही हैं इसी से सामस्तुति ही का विधान इस वाक्य से है विकल्प का संभव कहीं से नहीं हो सकता ।

इस अधिकरण को जैमिनिमहर्षि ने पूर्वोक्तस्थल में दो सूत्रों से कहा है जो कि ये हैं—

(पू०) 'अर्थैकत्वा द्विकल्पः स्यादृक्सामयो स्तदर्थत्वात्' सू० ३०

अर्थात् स्तुतिरूपी काम दोनों का तुल्य ही है इस से ऋक् और साम का विकल्प होना चाहिये ।

(सि०) 'वचनाद्विनियोगः स्यात' सू० ३१

अर्थात् एकवाक्यता के अनुसार साम ही का विधान है 'ऋचा स्तुवते' आदि वाक्य, विधायक नहीं हैं किन्तु अर्थवाद ही हैं ।

यहां यह ध्यान करना चाहिये कि 'यदृचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन' इस विषयवाक्य में यह सन्देह है कि यह वाक्य ऋङ्मन्त्रस्तुति की प्रशंसा करता है अर्थात् यह कहता है कि यह स्तुति, असुरों को बलात्कार से बांध लाती है इस से प्रशस्त है, अथवा निन्दा करता है कि यह स्तुति विघ्नकारी असुरों को उपस्थित कर देती है इस से निन्दित है । अनन्तरोक्त पूर्वपक्षसूत्र पर भाष्यकार शबरस्वामी ने भी 'हम, असुरों को निन्दित वा अनिन्दित नहीं समझते' इस कहने से उक्त सन्देह को सूचित किया है ।

स्तुतिः स्यात् उत विध्वंसकानामसुराणामागमने निमित्तत्वा 'अ शोभने' तिनिन्देत्याकारकः। नचार्थवादेष्वपि ये भागाः स्तुतिनिन्दाऽर्थपरत्वस्य योग्या गुणदोषविशेषबोधकपदघटितास्तेषां स्वरसतो भूतार्थान्वाख्यापकत्वे संभवत्यपि निर्णीयतां नाम प्राशस्त्याप्राशस्त्यरूपार्थलक्षणोपपादकाविधिनिषेधैकवाक्यतावशात्क्रमेण स्तुतिनिन्दयोस्तात्पर्य्यम् परंतु ये भागा गुणदोषविशेषबोधकपदाघटितत्वात्स्तुतिनिन्दयोर्न योग्याः यथा "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" "सोऽरोदी" दित्येवमादयस्तेषां लक्षणयाऽपि स्तुतिनिन्दाऽर्थत्वस्य दुरवधारत्वया विधिनिषेधैकवाक्यताया एवासंभवात्कथं स्तुतिनिन्दयोस्तात्पर्य्यस्य निर्णयः स्यादिति वाच्यम्। तेषामपि स्वस्वसमभिव्याहृतस्तावकनिन्दकपदैकवाक्यतापन्नानां स्तुतिनिन्दापरत्वयोःसंभवितया संभवन्तीभ्यां विधिनिषेधैकवाक्यताभ्यामेव स्तुतिनिन्दयोस्तात्पर्य्यपर्यवसानस्य सुवचत्वात्। नचैवमपि येष्वर्थवादेषु स्तावकं निन्दकं वा किंचिदपि पदं न श्रूयते यथा "आपो वै शान्ता" इत्यादिषु, तेषु तु पूर्वोक्तपरम्परयाऽपि विधिनिषेधैकवाक्यतयोरसंभवात्कथं तेषां स्तुतिनिन्दापरत्वनिर्णय इति वाच्यम्। तेष्वपि "वेतसशाखया-

॥ भाषा ॥

इस अधिकरण में ऋक्‌मन्त्रस्तुति की स्तुति, निन्दा, के सन्देह को छोड़ कर उक्त एकवाक्यता ही के बल से एक तीसरे प्रकार का निर्णय किया गया है कि 'यह अर्थवाद सामस्तुति की प्रशंसा ही करता है।

प्र०—अर्थवादवाक्यों के जितने भाग में गुण वा दोष के वाचक पद वर्त्तमान हैं उतने वाक्यभागों की प्रशंसा वा निन्दा में लक्षणास्वीकार के द्वारा विधि वा निषेध के साथ एकवाक्यता होने से स्तुति वा निन्दा में उतने वाक्यभागों का मुख्यतात्पर्य हो परन्तु जिन भागों में गुण वा दोष के वाचक पद नहीं हैं वे वाक्यभाग तो स्तुति वा निन्दा के बोध कराने में अयोग्य हैं जैसे 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता' (वायु क्षिप्रकारी देवता है) "सोऽरोदीत्" (वह रोता है) इत्यादि, इस से उन भागों की, स्तुति वा निन्दा में लक्षणा ही नहीं हो सकती और न विधि वा निषेध के साथ एकवाक्यता हो सकती तब उन भागों का, स्तुति वा निन्दा में मुख्यतात्पर्य कैसे हो सकता है ?

उ०—जिन भागों में शङ्का की जाती है वे भाग भी उन पूर्णवाक्यों में अन्तर्गत ही हैं जिन में कि स्तुति वा निन्दा के वाचक पद वर्त्तमान हैं, इस रीति से एक २ पूर्णवाक्य ही की जब विधियों के साथ एकवाक्यता और प्रशंसा वा निन्दा में मुख्यतात्पर्य सिद्ध कर दिया गया तब यह प्रश्न हो ही नहीं सकता क्योंकि वे भाग (जिनके विषय में प्रश्न है) अर्थवादवाक्यों से पृथक् नहीं हैं।

प्र०—जिन वाक्यों में क्रियागत गुण वा दोष का वाचक एक पद भी नहीं है जैसे 'आपो वै शान्ताः' इत्यादि, उनकी एकवाक्यता, विधि वा निषेध के साथ हो ही नहीं सकती तो प्रशंसा वा निन्दा में उनका तात्पर्य कैसे हो सकता है ?

उ०—'वेतसशाखयाऽऽवकाभिश्चाग्निं कर्षति' (बेंत की और आवका अर्थात् पनिहां के वृक्ष की शाखा से अग्नि को खींच कर एकत्रित करे) इस विधि के समीप में यह अर्थवाद है कि 'आपो वै शान्ताः' (जल शीतल होता है) इसी से इस अर्थवाद का प्रथम, जल की प्रशंसा में,-

ऽऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षती" त्यादीनां विधीनां सन्निधानवशेनार्थवादस्वाभाव्येनच लक्षणया वेतसशाखादिप्राशस्त्यस्य लक्षितलक्षणया वा विकर्षणप्राशस्त्यस्य प्रतिपादकतायाः सुसंपादतया विध्येकवाक्यतयैव स्तुत्यादितात्पर्य्यनिर्णयस्य सुकरत्वात्। नच स्तावकनिन्दकार्थवादैकवाक्यतामात्रनिवर्त्त्यताया, नियमेन विधिनिषेधवाक्यार्थोत्थापिताकाङ्क्षयोरङ्गीकारे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभत" इत्यादीनां विधीनामनुपरताकाङ्क्षत्वेन सापेक्षत्वादप्रामाण्यं दुर्वारमेव तेष्वर्थवादाभावादिति वाच्यम्। उक्तोत्तरत्वात् उक्तं हि तत्रागत्या विध्यर्थवादशक्तिद्वयकल्पनम्। यद्वा विधिप्रतिषेधयोर्मध्येऽन्यतरदर्शनेन स्तुतिनिन्दयोर्मध्येऽन्यतरामनुमाय वाक्यं पूरयितव्यम् अन्यथोक्तदिशा विधिनिषेधयोरर्थवादाविनाभावित्वस्य निश्चितचरतयाऽर्थवादमन्तरेण विधिनिषेधशक्त्योरेवावसादप्रसङ्गादिति 'विधिनात्वि' तिसूत्रार्थविचारसंक्षेपः।

अथार्थवादप्रामाण्ये सिद्धान्तस्य द्वितीयं सूत्रम्।

तुल्यं च साम्प्रदायिकम्॥ ८॥

अस्यार्थः चो हेतौ समुच्चये वा साम्प्रदायिकम् गुरुपरम्परासम्प्रदायप्राप्तम् स्वाध्यायविधिपरिगृहीतत्वम् तन्मूलकमनध्यायपाठाभावादिरूपपालनादिकं चेति यावत् तुल्यम् विध्यर्थवादयोस्तुल्यम् अतोऽपि चार्थवादा धर्मे प्रमाणं स्युरिति।

अत्र शावरम्

अथोच्येत प्राक्स्तुतिपदेभ्यः निराकाङ्क्षाणि विधायकानि, विधिस्वरूपत्वात् स्तुतिपदानि तु प्रमादपाठ इति, तन्न एवम् अर्थावगमात् तुल्यं च साम्प्रदायिकम् सम्प्रदायः प्रयोजनंयेषांधर्माणाम् ते विधिपदानामर्थवादपदानां च तुल्याः अध्यायानध्यायते गुरुमुखात्प्रतिपत्तिः शैष्योपाध्यायिका च सर्वस्मिन्नेवंजातीयके अविप्रार्थे तुल्यमाद्रियन्ते स्मरणं च दृढम् अतो न प्रमादपाठ इति।

॥ भाषा ॥

अनन्तर, जल से उत्पन्न होने के कारण वेतस और आवका की प्रशंसा में तथा उसके भी अनन्तर, वेतस और आवका से किये हुए अग्निकर्षण की प्रशंसा में लक्षणा और तात्पर्य की कल्पना, एकवाक्यता के अनुसार सहज में हो सकती है।

यहां तक इस 'बृहद् व्याख्यान' से कहे हुए सब तात्पर्य, "विधिनात्वेकवाक्यत्वात्स्तुत्यर्थेन विधीनांस्युः" (पृ. २१४) इस पूर्वोक्त जैमिनिमहर्षि के सूत्र में केवल 'एकवाक्यत्वात्' इन पांच ही अक्षरों के हैं और यह निश्चय नहीं हो सकता कि इस पञ्चाक्षरमन्त्र का उतना ही तात्पर्य है जो कहा गया क्योंकि इसी पञ्चाक्षरमन्त्ररूपी पवित्र चुलुक (चिल्लू) से उक्त महर्षि ने अनन्त अर्थवादों के अप्रामाण्यसन्देहरूपी समुद्र को अगस्त्यमुनि के नाई चुलुकित कर निश्शेष ही कर दिया है।

॥ बृहद् व्याख्यान समाप्त हुआ ॥

अर्थवादों के प्रामाण्य का दूसरा सिद्धान्तसूत्र यह है कि—

'तुल्यञ्चसाम्प्रदायिकम्' (अ० १ पा० २ सू० ८)

अर्थ— (१) गुरुपरम्परारूपी सम्प्रदाय से प्राप्त और स्वाध्यायविधि के अनुसारी, अनध्यायों-

अत्र भट्टवार्तिकम्

च शब्दव्याख्यानार्थं परिचोदनोपन्यस्ता आनर्थक्यमेवास्त्विति तन्नैवम् कुतः पूर्वोक्तेन न्यायेनार्थस्यावगम्यमानत्वात् अथवा तन्नेत्यवच्छिद्य एवम् अर्थावगमात् इत्युक्तप्रकारपरामर्शः किंच तुल्यंचेति योजना संप्रदायानुग्रहार्थं धर्मजातम् तादर्थ्यस्मरणात् स्वर्गाद्यसंयोगाच्च नचास्य प्रयोजनवत्सन्निहिताध्ययनपरित्यागेनान्यार्थत्वे प्रमाणमस्ति संप्रदाया-

॥ भाषा ॥

में न पढ़ना आदि अनेक नियमों का पालन, जैसे विधिवाक्यों के विषय में अनादिकाल से चला आता है वैसे ही अर्थवादों के विषय में भी, इससे भी सिद्ध है कि विधिवाक्य के नाईं अर्थवादवाक्य भी धर्म में प्रमाण हैं। (यद्यपि) इस अर्थ के अनुसार अर्थवादों का सामान्यरूप ही से धर्म में उपयोग सिद्ध होता है इसलिये यही सूत्र प्रथम २ कहना चाहिये क्योंकि 'विधिनात्वेकवाक्यत्वात्' इत्यादि प्रथमसूत्र से धर्म में स्तुतिरूप द्वारविशेष दिखला कर अर्थवादों का उपयोग कहा गया है और क्रम यह है कि सामान्योपयोग के ज्ञान होने पर विशेषोपयोग की जिज्ञासा होती है तथा जिज्ञासा ही के क्रमानुसार प्रतिपादन करना चाहिये, इसी को सङ्गति कहते हैं (तथापि) इस अभिप्राय से इस सूत्र को पश्चात् कहा कि प्रथमसूत्र से अध्ययनविधि के अनुसार प्रशंसादिरूप अनेक दृष्टफलों के द्वारा विशेषोपयोग का संभवमात्र दिखलाया गया है इसलिये सिद्धरूप सामान्योपयोग दिखलाने के लिये उसके अनन्तर यह सूत्र है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वसूत्र से यह भी सिद्ध होता है कि अर्थवादों का पाठ, उनके अनर्थक होने से अनर्थक नहीं है किन्तु स्तुतिरूप अर्थ में लक्षणा के द्वारा विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता होने से अत्यन्त सार्थक और वास्तविक ही है और यह सूत्र भी प्रमादपाठ ही के निराकरण में पूर्वोक्त नियमपालनरूपी द्वितीयहेतु को दिखलाता है।

प्र०—अनध्याय में न पढ़ना आदि पूर्वोक्तनियम, पढ़नेवाले पुरुषों के लिये हैं अर्थात् उन नियमों के पालन से छात्रों को पुण्यविशेष होता है अध्ययन तो परिश्रम के अधीन है उसमें उक्तनियमों का कुछ भी उपयोग नहीं है। और अध्ययनमात्र तो लोककल्पित आख्यायिकाओं के नाईं प्रमादपठित वाक्यों का भी हो सकता है तो ऐसी दशा में विधिवाक्यरूपी दृष्टान्तमात्र से कैसे अर्थवादवाक्य, धर्म में प्रमाण हो सकते हैं ?

उ०—(१) "तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च श्रुतिचोदितैः। वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः स रहस्यो द्विजन्मना" (द्विज को चाहिये कि वेदोक्त अनेक तप और व्रत से, उपनिषत् सहित पूर्ण वेद पढ़े) इस स्मृतिवाक्य से यही सिद्ध होता है कि उक्त नियमों का पालन, अध्ययन हीं का अङ्ग है अर्थात् पुरुष का साक्षात् उपकारी नहीं है।

उ०—(२) उक्त नियमों के पुरुषोपकारी होने में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि श्रुति वा उक्त स्मृति में स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की चर्चा भी उक्त नियमों के साथ नहीं की गई है।

प्र०—जब नियम कहे गये हैं तब उन्हीं के बल से स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की कल्पना क्यों नहीं की जाती ?

उ०—जब इसी स्मृतिवाक्य में अध्ययन कहा हुआ है जो कि सफल भी है और इसी से उक्त नियमपालन, अध्ययन का अङ्ग हो सकता है तब अश्रुत स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ की कल्पना सर्वथा अप्रामाणिक है इसी से नहीं की जाती।

क्त्वेऽपि चाविघ्नस्याकाङ्क्षितत्वात् तादर्थ्यस्मरणाच्चाविघ्नार्थत्वम् नह्यन्यत्कल्प्यमानं स्वाध्यायेतिकर्त्तव्यताऽनुगुणं भवति यदि तावत् स्वर्गः कल्प्येत ततः पुरुषार्थत्वमेवापद्यते अथ पुनः क्रतुफलसिद्धिरेवंपठिते वेदे भवतीति एवमपि दूरस्थोपकारितैव तस्मात्सम्प्रदायस्या-

॥ भाषा ॥

प्र०—अध्ययन और उसके फलरूपी बोध में उक्त नियम का कोई उपयोग नहीं ज्ञात होता वरुक क्लेशरूपी होने से उक्त नियम, अध्ययन और बोध में विघ्नकारी ही है इस कारण यह क्यों न स्वीकार किया जाय कि अध्ययन से साध्य यज्ञरूपी कर्म ही के उक्त नियम, अङ्ग हैं न कि अध्ययन के ?

उ०—उक्त अनध्यायपालन का नियम, अध्ययन ही का अङ्ग है न कि कर्मों का यह सिद्धान्त, मीमांसादर्शन अध्याय १२ अधि० ७ का है और उस अधिकरण का स्वरूप नीचे लिखा जाता है—

(सं०) जो मन्त्र कर्मों के अङ्ग हो कर वेद में विहित हैं, यदि वे कर्म, अमावास्या आदि अनध्याय में पड़ जायं तो उस समय उन मन्त्रों को पढ़ना चाहिये वा नहीं ?

(पू०) सू० मन्त्राणाङ्कर्मसंयोगात्स्वधर्मेण प्रयोगःस्यात् धर्मस्य तन्निमित्तत्वात् ॥ १८ ॥

अर्थात् मन्त्र, कर्म के अङ्ग हैं और अनध्याय में न पढ़ा जाना मन्त्रों का वेदोक्तनियम है इसलिये कर्मकाल पर भी अनध्यायों में उन मन्त्रों को नहीं पढ़ना चाहिये प्रसिद्ध है कि स्वाध्याय ही में मन्त्रपाठ करना उचित है ।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अनध्याय में न पढ़ने का नियम वेदाध्ययन के प्रकरण में कहा है न कि यागादिकर्म के प्रकरण में, तथापि अध्ययन वा बोध में उस नियम के उपयोग न होने से अध्ययनविधि के नियम "अध्ययन ही से यागादिकों का बोध करै" के अनुसार प्रकरण पर ध्यान न दे कर, अध्ययनजन्य ज्ञान से स्मारित ज्ञेयरूपी कर्म ही में उस नियम का उपयोग समझना चाहिये तस्मात् अमावास्या आदि अनध्यायों में मन्त्रपाठ नहीं करना चाहिये क्योंकि यज्ञाङ्ग मन्त्रपाठ ही के, अनध्याय में न पढ़ना आदि नियम, अङ्ग हैं न कि वेदाध्ययन के ।

सि० सू० विद्यां प्रति विधानाद्वा सर्वकालं प्रयोगः स्यात् कर्मार्थत्वात्प्रयोगस्य ॥ १९ ॥

अर्थात् जब कर्मों का अनुष्ठान, अनध्याय स्वाध्याय सब काल में होता है और उस समय में किया हुआ मन्त्रपाठ भी कर्माङ्ग ही है तब अनध्यायों में कर्मानुष्ठान के समय मन्त्रपाठ अवश्य करना चाहिये क्योंकि उक्त अनध्याय में न पढ़ने आदि नियम का बोधक, पूर्वोक्त स्मृतिवाक्य, गुरुमुख से वेद पढ़ने ही के विषय में है अर्थात् उक्तनियम गुरुमुख से वेदाध्ययन ही का अङ्ग है न कि कर्मकाल में मन्त्रपाठ का भी ।

तात्पर्य यह है कि अध्ययन के प्रकरण में उक्त स्मृतिवाक्य से उक्त नियम विहित है इसी से वह उक्त अध्ययन ही का अङ्ग है क्योंकि किसी दूसरे कर्म के प्रति उसके अङ्ग होने में कोई प्रमाण नहीं है और जब उक्त नियम का पालन, उक्त अध्ययन से अन्यकर्म का अङ्ग नहीं है तब अन्य-कर्म के समय पर मन्त्रपाठ करने में स्वाध्याय और अनध्याय की चर्चा भी नहीं हो सकती तस्मात् कर्माङ्ग मन्त्रोच्चारण अमावास्या आदि अनध्यायों में भी उचित ही है ।

प्र०—उक्त अध्ययन का कौन उपकार, उक्त नियमों से होता है कि जिस से ये उसके-अङ्ग होते हैं ?

क्षरग्रहणं साधयतो नियमजातमनुग्राहकम् नच निष्प्रयोजनस्याविघ्नेन किंचित्कार्य्यम्, वरं तादृशस्य विघ्नएवोत्पन्नो येन क्लेशोऽपि तावन्न स्यात् यतस्तु सप्रयोजनैर्विधिवाक्यैस्तुल्यमेवाद्रियन्ते तेनावश्यं तद्वदेव प्रयोजनवन्त्यपीति, नियमस्मृतेश्च वेदमूलकत्वाद्वेदकृतएवायमादरः सच प्रयोजनवत्त्वादृते नोपपद्यत इति प्रयोजनवत्त्वमपि सामान्येनानुमाया 'धीद्वा-

॥ भाषा ॥

उ०—विघ्न का निवारण ही उपकार है क्योंकि यदि उक्त अध्ययन में विघ्न पड़ जाय तो अक्षरग्रहण कैसे होगा।

प्र०—इसमें क्या प्रमाण है कि उक्तनियम के पालन न करने से कौन विघ्न होता है और पालन करने से उसका वारण होता है ?

उ०—(१) 'अमावास्या गुरुं हन्ति शिष्यं हन्ति चतुर्दशी। ब्रह्माष्टमीपौर्णमास्यौ तस्मात्ताः परिवर्जयेत्' (अमावास्या गुरू को, चतुर्दशी शिष्य को, अष्टमी और पौर्णमासी पठित-वेद के स्मरण को मारती है इससे इन तिथियों में न पढ़े) इस स्मृतिवाक्य से उक्त प्रश्न का उत्तर हो जाता है।

उ०—(२) 'तपोविशेषैर्विविधैः०' इस उक्त स्मृतिवाक्य से जब उक्तनियमों का अध्ययन के प्रति अङ्ग होना सिद्ध हो गया तब उसी से यह भी सिद्ध हो गया कि उक्तनियम, अध्ययन की निर्विघ्नसमाप्ति के कारण हैं और निर्विघ्नसमाप्तिरूप ही, अध्ययन का उपकार उक्त-नियमों से होता है क्योंकि बिना उपकार किये किसी का कोई अङ्ग नहीं हो सकता और प्रकृत में उक्त निर्विघ्नसमाप्ति को छोड़ कर किसी दूसरे प्रकार के उपकार का संभव भी नहीं है!

प्र०—जैसे प्रोक्षण (जल में डालना) धानों का, धानों से साध्ययाग से उत्पन्न, स्वर्गादिरूपी पुरुषार्थ के साधक, अपूर्व के लिये है तब भी वह धानों का अङ्ग है वैसे ही अध्ययन से ज्ञान और ज्ञान से कर्मानुष्ठान और उससे अपूर्व होता है और उसी अपूर्व का अङ्ग, यदि उक्त नियम हों तब भी तो वे अध्ययन के अङ्ग हो सकते हैं तो ऐसी अवस्था में विघ्नवारणरूपी उपकार की कल्पना कैसे हो सकती है ?

उ०—धान, याग के उपकारी हैं इससे वे याग के अङ्ग प्रोक्षणादि के ग्राहक होते हैं अध्ययन तो याग का अङ्ग नहीं है इसी से यदि उक्तनियम, यागाङ्ग माने जायं तो अध्ययन, इनको अपना अङ्ग नहीं बना सकता है।

इतने विचार से यह सिद्ध हो गया कि ये नियम, अध्ययन को सिद्ध करने वाले गुरु-सम्प्रदाय के सहकारी हो कर विघ्नों का वारण करते हैं और यदि अर्थवाद अनर्थक होते तो उनके अध्ययन में विघ्न ही होना अच्छा था तब विघ्न के निवारणार्थ नियम का विधान उक्त स्मृति में क्यों किया जाता ? क्योंकि विघ्न पड़ने से अध्ययन के क्लेश ही से छुटकारा होता। परन्तु ऐसा न कर स्मृति ने उक्तनियमों का विधान किया और उसी के अनुसार अनादिकाल से छात्रलोग विधिवाक्यों के तुल्य आदरपूर्वक अर्थवादों का अध्ययन करते चले आये हैं और यह आदर केवल स्मृतिमूलक ही नहीं है किन्तु वेदमूलक है क्योंकि स्मृति का मूल भी वेद ही है इसलिये अर्थवाद अनर्थक नहीं हैं किन्तु पूर्वसूत्रोक्तरीति से स्तुतिरूप अर्थ के द्वारा धर्म में प्रमाण हैं।

कल्पनैकदेशत्वादि' ति सामर्थ्यतोऽर्थवादानां स्तुतिर्नाम प्रयोजनविशेषो लभ्यते स्मरणं च दृढमित्येतदेवाह अथवा यदेवेदं ग्रन्थस्मरणं परिपालनात्मकं तेनाध्येतृपुरुषप्रयोजनवत्त्वाभिप्रायप्रतिपत्तिपूर्वकं प्रयोजनवत्त्वानुमानम् संभाव्यते च कुतश्चिद्वाक्यादियं प्रतिपत्तिरिति नाप्रमाणम् अन्यथा हि निष्प्रयोजनान्येतानीति केचित्परित्यज्यार्थवादान्विधिमात्रं प्रतिपद्येरन् तत्र दृढस्मरणमेतेषु न स्यात् अस्ति तु तत् तस्मान्न प्रमादपाठः ततश्चार्थवन्त इति। तुल्यं च साम्प्रदायिकमित्यस्यापरा व्याख्या संप्रदायः प्रयोजनं यस्य वाक्यस्य येन प्रवर्त्तितः सम्प्रदायः तत् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इत्येतत् स्वाध्यायत्वाविशेषाद्विध्यर्थवादयोस्तुल्यमतः प्रागुक्तेन न्यायेन प्राक्पुरुषार्थसिद्धेरवस्थातुं न लभ्यत इति शक्त्यनुसारेण स्थितमर्थवादानां स्तुत्यर्थत्वमिति।

अथान्यैः पूर्वपक्षसूत्रैरुपात्तानां शास्त्रविरोधादिरूपाणामाक्षेपाणां परिहाराय सूत्राणि। तत्र 'शास्त्रदृष्टविरोधादि' त्यत्रोक्तस्य शास्त्रविरोधस्य परिहाराय—

सू० अप्राप्ता चानुपपत्तिःप्रयोगे हि विरोधःस्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥ ९ ॥

अत्र शाबरम्।

अपि च या एषा अनुपपत्तिरुक्ता 'शास्त्रदृष्टविरोधात्' इत्येवमाद्या सा 'सोऽरोदी' दित्येवमादिषु न प्राप्नोति कुतः, प्रयोगे हि स्तेयादीनामुच्यमाने विरोधःस्यात् शब्दार्थस्तु,

॥ भाषा ॥

अर्थ (२) अनादिकाल से लोग अर्थवादों का अध्ययन और ग्रन्थस्मरण करते चले आये हैं। और यही अध्ययन तथा स्मरण, इस सूत्र में 'साम्प्रदायिक' शब्द का अर्थ है सो यह जैसा विधिवाक्यों के विषय में है वैसा ही अर्थवादवाक्यों के विषय में भी। तो ऐसी दशा में यदि अर्थवाद, निष्प्रयोजन होते तो अर्थवादों के अध्ययन और स्मरण का सम्प्रदाय अद्यावधि अविच्छिन्न नहीं चला आता किन्तु अवश्य ही निष्प्रयोजन अर्थवाद के अध्ययन को निष्प्रयोजन और क्लेशदायी समझ कर लोग कभी छोड़ दिये होते तस्मात् स्तुतिरूपी अर्थ के द्वारा पूर्वसूत्रोक्तरीति से अर्थवाद धर्म में प्रमाण हैं।

अर्थ (३) उक्त अध्ययनविधि ही अनादिकाल से वेदाध्ययन के सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक है इसी से इस सूत्र में साम्प्रदायिकशब्द से वही अध्ययनविधि कहा जाता है और पूर्वसूत्र के व्याख्यान में यह स्पष्टरीति से दिखला दिया गया है कि वेद के प्रत्येक पदों का प्रयोजन उसी अध्ययनविधि से सिद्ध होता है, ऐसी दशा में जब वह अध्ययनविधि, अन्य विधिवाक्यों के नाईं अर्थवादवाक्यों को भी अपना विषय करता है तब अर्थवादवाक्य, कैसे निष्प्रयोजन वा धर्म में अप्रमाण हो सकते हैं? तस्मात् अर्थवादवाक्य, पूर्वसूत्रोक्तरीति से स्तुतिरूपी अर्थ के द्वारा धर्म में प्रमाण हैं।

यहां तक इन दो सिद्धान्तसूत्रों के व्याख्यान से "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" (पृ० १८५) इस पूर्वपक्षसूत्र का उत्तर हो गया। अब उसके अग्रिम पूर्वपक्षसूत्रों का उत्तर, इन दो सूत्रों के अग्रिमसूत्रों से यथाक्रम दिया जाता है।

"शास्त्रदृष्टविरोधाच्च (पृ० १९१) इस सूत्र से अर्थवादों में जो शास्त्रविरोध दिखलाया गया उसके उत्तर में ये सूत्र हैं कि—

अप्रयोगभूतःतस्मादुपपद्येत 'स्तेनंमनः अनृतवादिनी वाक्' इति ।

वार्तिकम् ।

उक्तदोषपरिहारोऽतःपरम् शास्त्रदृष्टविरोधादिका याऽत्रानुपपत्तिर्विधिकल्पनायामुक्ता तामस्मत्पक्षमप्राप्तां मन्यामहे । अथवेदं स्तुतिव्याख्यानं तामनुपपत्तिमप्राप्तमिति व्याख्येयम् येषां ह्रस्वःपाठः । प्रयोगे ह्यनुष्ठाने रोदनवपोत्खननदिङ्मोहस्तेयानृतवादादीनां कल्प्यमाने विरोधःस्यात् अस्माकं पुनर्य एषां शब्दानां श्रौतोऽर्थः स नैव विवक्षितः नचाध्याहारादिभिर्विधिः किं तर्हि स्तुतिमात्रं विवक्षितम् नच तद्विरुध्यते तस्मादुपपद्येत । अथवा शब्दार्थस्त्विति विधायकशब्दानुग्रहार्थस्तु सन्नयमर्थवादो न स्वार्थानुष्ठानेन संबध्यते प्रयोगमप्राप्तोऽप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत । त्रयोऽत्रपाठाः । अप्राप्तां चानुपपत्तिमित्यत्र मन्यामहे इति वाक्यशेषः अप्राप्तं चानुपपत्तिमित्यपरस्तत्रास्मद्व्याख्यानमित्यध्याहारः अप्राप्ताचानुपपत्तिरित्यपरस्तत्रास्मत्पक्षे विज्ञेयेति ।

सू० गुणवादस्तु ॥ १० ॥

अत्र शाबरम् ।

व्या० १ यदुक्तं विधेयस्य प्ररोचनार्था स्तुतिः इति तदिह कथमवकल्प्येत यत्रान्यद्विधेयम् अन्यच्च स्तूयते यथा 'वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति' इति वेतसावके विधीयेते आपश्च स्तूयन्ते 'आपो वै शान्ताः' इति तदुच्यते गुणवादस्तु गौण एष वादो भवति यत्संबन्धिनि स्तोतव्ये सम्बन्ध्यन्तरं स्तूयते अभिजनोह्येष वेतसावकयोःततस्ते जाते अभिजन-

वार्तिकम् ।

(१) यत्र तावद्विधिस्तुत्योरेकविषयता तत्रोपपद्यतां नाम संबन्धो विषयनानात्वे तु कथमिति गुणादित्याह यत् क्रियायाः सम्बन्धिनि स्तोतव्ये तत्सम्बन्ध्यन्तरं स्तूयते अथवा यत् विकारे प्रकृतिसम्बन्धिनि विधानार्थं स्तोतव्ये तत्संबन्ध्यन्तरं प्रकृतिःस्तूयते तत्र तद्द्वारेणापि-

॥ भाषा ॥

(सू०) अप्राप्राचानुपपत्तिःप्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूतस्तस्मादुपपद्येत ॥९॥

इसका यह अर्थ है कि उक्त पूर्वपक्षसूत्र से जो शास्त्रविरोधादिरूपी दोष दिया गया वह अर्थवादों में नहीं पड़ता क्योंकि "स्तेनंमनः" "अनृतवादिनीवाक्" ऐसे वाक्य, किसी अर्थ का विधान नहीं करते अर्थात् द्वारभूत अक्षरार्थ में ऐसे वाक्यों का मुख्यतात्पर्य नहीं है किन्तु पूर्वोक्तरीति से स्तुति आदि लक्ष्यार्थ ही में मुख्यतात्पर्य है और जब द्वारवाक्यार्थ में मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तब उस अर्थ के प्रयोजनार्थ, किसी विधि की कल्पना भी नहीं हो सकती कि उसके अनुरोध से चौर्य आदि का विधान निकले और जब चौर्य्य आदि का विधान नहीं है तब शास्त्रविरोध होने का अवसर ही क्या है ? ।

(सू०) गुणवादस्तु १० । भाष्यकार शवरस्वामी ने इस सूत्र का, उदाहरणभेद से चार प्रकार का व्याख्यान किया है वे प्रकार नीचे लिखे जाते हैं ।

व्या०— १ पूर्वसूत्र से यह कहा गया कि अर्थवादों का, प्रशंसा में मुख्यतात्पर्य है । उस पर यह आक्षेप है कि विधिवाक्य से जिसका विधान किया जाय उसी की प्रशंसा अर्थवाद करते हैं परन्तु "आपो वै शान्ताः शान्ताभिरेवास्य शुचं शमयति" (जल शान्त होता है इस से

शा० संस्तवेन चाभिजातः स्तुतो भवति यथा अश्मकाभिजनो देवदत्तोऽश्मकेषु स्तूयमानेषु स्तुतमात्मानं मन्यते एवमत्रापि द्रष्टव्यम्

व्या० २ अथ 'सोऽरोदीत्' कस्य विधेः शेषः ? तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयम् इत्यस्य, कुतः ? साकाङ्क्षत्वात्पदानाम् सोऽरोदीत् यदरोदीत् तत् रुद्रस्य रुद्रत्वमित्यत्र, सः इति प्रकृतापेक्षः तत्प्रत्ययात् तस्य यदश्रु अशीर्यत इति, तस्य इति पूर्वप्रकृतापेक्ष एव उपपत्तिश्चोपरितनस्य यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुराऽस्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवतीत्यस्य हेतुत्वेनायं प्रतिनिर्दिश्यते 'तस्माद्बर्हिषि रजतं न देयम्' इति एवं सर्वाणि साकाङ्क्षाणि कथं विधेरुपकुर्वन्तीति गुणवादेन रोदनप्रभवं रजतं बर्हिषि ददतो रोदन मापद्यते तत् प्रतिषेधस्य

वा० लोके वेदे च स्तुतिसिद्धेः प्रकारान्तरता तस्माददोषः एतस्यास्तु स्तुतेरर्थमुपरिष्टाद्वक्ष्यति शान्ताभिरद्भिःसंवृद्धोविकारः शान्तिहेतुर्भवन्यजमानस्य कष्टं शमयतीति गुणवादसूत्रेण शुद्धेनैव तावद्रोदनाद्युदाहरणत्रयपरिहारः शेषसूत्राण्यप्येतदुक्तोपपादनार्थतया संभन्त्स्यन्ते तत्रोदाहृतानां गौणतानिमित्तं किंचिदिहैव वक्ष्यते परं तु तत्सिद्धिसूत्रे ।

(२) 'सोऽरोदीदि' ति साकाङ्क्षत्वेनैकवाक्यता विधिस्तुत्योःप्रत्यवयवं कथ्यते । स इति प्रकृतापेक्षः कुतः तत्प्रत्ययात् तद्धि प्रकृतं प्रतीयते अथवा तच्छब्दस्य प्रकृतग्राहित्वं प्रसिद्धम् स इत्युक्ते तच्छब्दप्रत्ययात् स एवार्थः एवं तस्य यदश्रु तद्रजतमिति संबन्धः, सर्वाचेयमुपरितनस्य निन्दाग्रन्थस्योपपत्तिरिति तदनन्तरं तदभिधानमुपपद्यते कोग्रन्थस्तं दर्शयति 'यो बर्हिषि रजतं दद्यात्पुराऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवती'ति, केन हेतुना तदेवं भवतीति तदुपपाद्यते, कारणानुरूपत्वात्कार्यस्य रोदनप्रभवरजतदानाद्रोदनोत्पत्तिस्तस्मान्न देयमिति सकलमदानस्योपपत्तिरिति निन्दया तच्छेषत्वमर्थवत् गुणवादस्तु शब्दालम्बनम्

॥ भाषा ॥

यजमान के शोक को वह शान्त करता है) यह अर्थवाद जल की प्रशंसा करता है और "वेतसशाखयाऽऽवकाभिश्चाग्निं कर्षति" यह वाक्य अग्नि के कर्षण का विधान करता है तो ऐसी दशा में जल की प्रशंसा के द्वारा उक्त अर्थवादवाक्य की एकवाक्यता इस विधि के साथ नहीं हो सकती क्योंकि उसने अग्निकर्षण की प्रशंसा ही नहीं किया । इस आक्षेप के समाधानार्थ यह सूत्र है, और इस सूत्र का यह अर्थ है कि गुण अर्थात् अग्निकर्षण ही के गुण का कथन यह अर्थवाद है । तात्पर्य यह है कि उक्त अर्थवाद, उक्त अग्निकर्षण ही का प्रशंसा करता है क्योंकि जैसे जन्मभूमि की प्रशंसा से पुरुष की प्रशंसा होती है कि काशी बड़ी पुण्य पुरी है वह देवदत्त की जन्मभूमि है वैसे ही जल शान्त होते हैं और जल ही वेतस (वेंत) आवका (पनिहां वृक्ष) की जन्मभूमि है इससे वेतस और आवका भी शान्त है और अग्निकर्षण, वेतस और आवका से किया जाता है इससे वह भी शान्त है तथा यजमान के शोक को शान्त करता है इसरीति से अग्निकर्षण की प्रशंसा में उक्त अर्थवाद का तात्पर्य है ।

व्या०— २ "सोऽरोदीत् यदरोदीत्तद्रुद्रस्य रुद्रत्वं तस्य यदश्रु अशीर्यत तद्रजतमभवत् यो बर्हिषि रजतं दद्यात् पुरा ऽस्य संवत्सराद् गृहे रोदनं भवति" (वह रोता है इसी से रुद्र कहलाता है जो उसका अश्रु गिरता है उससे रजत (चांदी) होता है यज्ञ में जो पुरुष कुशा पर रजतदक्षिणा देता है उसके गृह में वर्ष के भीतर रोदन होता है) यह अर्थवाद, रजतदान की निन्दा के द्वारा 'तस्मा-

शा० गुणः यत् अरोदनमिति। कथं पुनररुदति अरोदीदिति भवति कथं वा अनश्रुप्रभवे रजते अश्रुप्रभवमिति वचनम् पुराऽस्य संवत्सरादसति रोदने कथं रोदनं भवतीति ? तदुच्यते गुणवादस्तु, गौणा एते शब्दाः, रुद्र इति रोदननिमित्तस्य शब्दस्य दर्शनात् यदरोदीत् इत्युच्यते, वर्णसारूप्यात् निन्दन् अनश्रुप्रभवमप्यश्रुप्रभवमित्याह निन्दन्नेव च धनत्यागे दुःखदर्शनात् पुराऽस्य संवत्सरात् गृहे रोदनं भवतीत्याह ।

(३) व्या० तथा 'यः प्रजाकामः पशुकामो वा स्यात् स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत' इति आकांक्षितत्वादस्य विधेः शेषोऽयम् 'स आत्मनो वपामुदखिदत्' इति, कथं गुणवादः ? इत्थं नाम, न आसन् पशवः यत् आत्मनो वपामुदखिदादिति एतच्च कर्मणः सामर्थ्य

वा० रुद्रशब्दोत्थापितविज्ञानवशेन रोदनसामान्यतोदृष्टकल्पना अश्रुणश्च शौक्ल्याद्यदि नामैतत्कठिनं भवेत्ततो रजतसदृशं भवेदित्युत्प्रेक्ष्य तत्प्रभवनिन्दा,धनत्यागेनात्यन्तोदारस्यापि गृहजनः पीड्यत इति तत्सामान्याद्वा रोदनोपन्यासः एवं येन केनचिदालम्बनेन निन्दा-विज्ञानोत्पत्तिः प्रतिषेधोपकारिणीति मुख्यार्थाभावेऽप्यदोषः ।

(३) एवं वपोत्खननादिवाक्ययोजना, आत्मवपोत्कर्त्तनेनापि हि विशिष्टप्रयोजनार्थ-

॥ भाषा ॥

र्हिषि रजतं न देयम्' (इससे कुश पर रजतदक्षिणा न दे) इस निषेध का अङ्ग होता है और इसका यह तात्पर्य है कि रजत, रोने से उत्पन्न हुआ इस कारण कुश पर उसके देने से दाता के गृह में वर्ष के भीतर रोदन 'शोक' होता है इससे कुश पर रजतदक्षिणा नहीं देना चाहिये । इस पर यह आक्षेप है कि एकवाक्यता तो विधि और अर्थवाद की हुई परन्तु रुद्र रोये नहीं तो यह क्यों कहा जाता है कि वह रोता है ? रजत भी अश्रु से नहीं हुआ तो क्यों कहा जाता है कि अश्रु से रजत होता है ? कुश पर रजतदाता के घर भी वर्षभीतर रोदन नहीं होता तब क्यों कहा जाता है कि रोदन 'शोक' होता है ? तस्मात् यह सब प्रत्यक्ष के विरुद्ध मिथ्यावाद ही है और ऐसी दशा में यह अर्थवाद कैसे धर्म में प्रमाण हो सकता है ? इस आक्षेप के समाधानार्थ यह सूत्र है कि "गुणवादस्तु" इसका यह अर्थ है कि जैसे 'यह पुरुष सिंह है' इस वाक्य से 'सिंह' शब्द, सिंह में रहने वाले शौर्यगुण का पुरुष में सम्बन्ध होने से पुरुष को कहता है और पुरुष, सिंह-शब्द का गौण (गुण से आया) अर्थ कहलाता है वैसे ही उक्त अर्थवाद के शब्द, गुणवाद अर्थात् गौण अर्थ के कहने वाले हैं । निदान यद्यपि रुद्रशब्द संज्ञाशब्द है तथापि उसके रुद्शब्द से रोदन का कल्पनामात्र किया गया और अश्रु में रूपक की रीति से रजत की कल्पना की गई क्योंकि ऐसी संभावना की गई कि यह अश्रु यदि कठिन [छूने में कड़ा] होता तो शुक्लतागुण के कारण रजत सा होता और उदारमनुष्यों के धनत्याग से उनके गृहजनों को पीड़ा और शोक होता है उसका सादृश्य-मात्र ले कर रोदन कहा है इसी रीति से निन्दा की उपपत्ति करनी चाहिये और पदों के वाच्य अर्थों का मिथ्या होना कोई बाधक नहीं है क्योंकि अश्रु आदि उक्त पदों का उक्त गौण अर्थों ही में मुख्यतात्पर्य है जो कि मिथ्या नहीं हैं ।

व्या०— ३ गुणवाद का यह भी एक उदाहरण है "स आत्मनो वपा मुदखिदत् तामजु-होत् ततस्तूपरः पशुरगात्" [प्रजापति अपनी वपा अर्थात् हड्डी से सटी हुई चर्बी को उखेड़ता है उसका होम करता है तब अग्नि से तूपर पशु अर्थात् बकरा (हलुआन) निकल खड़ा होता है] यह अर्थवाद,

शा० यत् अग्नौ प्रहुतमात्रायां वपायामजस्तूपर उदगात् इत्थं बहवः पशवोभवन्तीति। कथं पुनरनुत्खिन्नायां वपायां प्रजापतिरात्मनो वपा मुदखिदत् इत्याह ? उच्यते अस-

बा० कर्माणि क्रियन्ते किमुत बाह्यधनत्यागेनेतिस्तुतिः यथा नेत्रमप्युद्धृत्यार्थे ददातीति लोकेऽपि त्यागिनं स्तुवन्तीति। वृत्तान्तपर्यवसायी च वेदस्तत्र प्रामाण्यमप्रतिपद्य-मानः स्तुतौ सत्यत्वान्नान्यत्रान्वेषणमर्हतीति निष्प्रयोजनोपाख्यानसत्यतया नार्थः शब्दभा-वनाङ्गं चार्थवादाः सा च प्रवृत्तिविज्ञानमात्रेणोपयुज्यते नार्थेन अर्थात्मिकायां तु सर्वत्रावि-

॥ भाषा ॥

"यःप्रजाकामःपशुकामो वा स्यात्स एतं प्राजापत्यं तूपरमालभेत" [जिसको पुत्र वा पशु की इच्छा हो वह इस प्राजापत्य अर्थात् प्रजापति के उत्पादित अर्थात् हलुआन तूपर से यज्ञ करे] इस विधिवाक्य का शेष है। इस अर्थवाद से किस रीति के अनुसार प्रशंसा निकलती है ? इस प्रश्न के समाधानार्थ यह सूत्र है कि "गुणवादस्तु" अर्थात् इस रीति से प्रशंसा निकलती है कि प्रयोजनविशेष के लिये अपनी वपा (चर्बी) को भी उखेड़ कर उस से यज्ञ किये जाते हैं और बाह्यधन के व्यय की तो कोई गणना ही नहीं है। लोक में भी दाता की ऐसी ही प्रशंसा की जाती है कि यह अपनी आंख को भी उद्धृत कर अर्थियों को देता है। और उक्त वैदिक अर्थवाद, प्रजापति के वृत्तान्तमात्र को कह कर प्रमाण नहीं हो सकता क्योंकि उसके कहने से प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये अध्ययनविधि के बल से लक्षणा-वृत्ति के द्वारा उक्त प्रशंसारूपी अर्थ को कहता और उसी में अपना मुख्य तात्पर्य रखता है तथा इस प्रशंसारूपी अर्थ में कोई बाध नहीं है कि जिस से यह मिथ्या हो सके। ऐसे ही अर्थ को द्वारी [प्रधान] वाक्यार्थ कहते हैं और इसी अर्थ के सत्य होने से अर्थवाद धर्म में प्रमाण होता है तथा उक्त वृतान्त का उपाख्यानरूपी द्वारवाक्यार्थ, जब प्रवृत्ति न कराने से निष्फल ही है और इसी से उस में मुख्यतात्पर्य भी नहीं है तब उसकी सत्यता वा असत्यता से अर्थवाद के प्रामाण्य में किसी प्रकार का लाभ वा हानि नहीं हो सकती।

प्र०—जब प्रजापति ने वस्तुतः अपनी वपा नहीं उखेड़ी तो अर्थवादों में यह मिथ्या उपाख्यान, याग की प्रशंसा के लिये कैसे कहा गया ?

उ०—जैसे लोक में यह कहा जाता है कि यह दाता अपनी आंख को भी उद्धृत कर अर्थियों को देता है।

प्र०—यह लौकिकवाक्य भी अपने अर्थ में मिथ्या ही है तो क्या वैदिकवाक्य भी ऐसा ही होता है ?।

उ०—इस लौकिकवाक्य के भी दो अर्थ हैं, एक यह कि आंख को उद्धृत कर अर्थियों को देना, जिसमें कि इस वाक्य का मुख्यतात्पर्य ही नहीं है और यही द्वाररूपी वाक्यार्थ है जिसके मिथ्या होने से भी उक्त लौकिकवाक्य के प्रामाण्य में कुछ भी हानि नहीं होती, बल्कि इस वाक्य के वक्ता की वाक्यचातुरी प्रशंसायोग्य समझी जाती है क्योंकि इस लौकिकवाक्य का दूसरा अर्थ, उस दाता की प्रशंसा है जिसका स्वरूप यह है कि यह बहुत बड़ा दाता है यही द्वारीवाक्यार्थ कहलाता है और उसी में उक्त लौकिकवाक्य का मुख्यतात्पर्य है और इसमें बाध का गन्ध भी नहीं है।

प्र०—"वनस्पतयः सत्र मासत" अर्थात् वृक्षों ने सत्र [यज्ञ] किया। ऐसे वाक्यों में द्वारभूत वाक्यार्थ सर्वथा असत्य ही हैं। और गुणवाद भी इस विषय में हो नहीं सकता, तो इस प्रकार के अर्थवाद कैसे प्रमाण हो सकते हैं ?

शा०वृत्तान्तान्वाख्यानम् स्तुत्यर्थेन, प्रशंसाया गम्यमानत्वात् इहान्वाख्याने वर्त्तमाने द्वयं निष्पद्यते यच्च वृत्तान्तज्ञानं यच्च कस्मिंश्चित्प्ररोचना, द्वेषो वा तत्र वृत्तान्तान्वाख्यानं न प्रवर्त्तकं न वा०संवादः सिद्ध एव अथोच्येत असदन्वाख्याने न स्तुतिनिन्दात्वमिति सुतरां तत्र प्रतीयते। कामं परार्थे वक्तारोभवन्ति काऽत्रस्तुतिर्निन्दा वा सत्यमेवैतदिति असत्ये तु यस्मादन्यत्र दुष्टमप्यवधृतमिह गुणवन्तमिति ब्रवीत्यतो नूनं मे प्ररोचयति तथागुणवन्तं सन्तं निन्दति निवर्तयितुमिति ततश्चैवं विदित्वा यो यस्यानतिक्रमणीयस्तदनुरोधेन स तथा प्रवर्त्तते वेदश्च

॥ भाषा ॥

उ०—इस प्रश्न का क्या अभिप्राय है? क्या यह अभिप्राय है कि असत्य अर्थ से स्तुति नहीं होती अथवा बिना किसी आलम्बन [सत्यविषय] के, कोई उपाख्यान ही नहीं हो सकता? यदि प्रथम अभिप्राय है तो उसका यही उत्तर है कि असत्यगुणों से भी स्तुति हो सकती है अर्थात् द्वारभूत वाक्यार्थ का असत्य होना कोई दोष नहीं है क्योंकि उसमें अर्थवादों का मुख्यतात्पर्य ही नहीं है और स्तुतिरूप द्वारीवाक्यार्थ तो सत्य ही है। और यदि यह कहा जाय कि असत्यगुण, वास्तविकस्तुति के कारण कैसे होंगे? तो इसका यही उत्तर है कि पूर्वोक्त शाब्दीभावना के इतिकर्तव्यतांश में स्तुतिमात्र की, और स्तुति में सत्यासत्यसाधारण गुणज्ञान की अपेक्षा है अर्थात् गुणज्ञानमात्र स्तुति में कारण है चाहे वह भ्रम ही क्यों न हो, क्योंकि भ्रमरूपी रज्जुसर्पज्ञान भी भय का कारण होता है जैसे ककारादि अक्षरों की लिपि, ककारादिशब्द नहीं है तथापि वास्तविक ककारादिशब्द के बोध का उपाय है और चित्रलिखित घोडा, घोड़ा नहीं है परंतु वास्तविक घोड़े के बोध का उपाय है, ऐसे ही द्वारवाक्यार्थरूपी गुण, यद्यपि असत्य होते हैं तथापि वे वास्तविक स्तुति के बोध के उपाय हैं। और दूसरा अभिप्राय तो असंभवदोष से ग्रस्त ही है क्योंकि वैदिक और लौकिक, बहुत सी आख्यायिकाएं कल्पित आलम्बन ले कर प्रसिद्ध हैं जिनका मुख्यतात्पर्य, शिक्षाविशेष आदि रूपी द्वारीवाक्यार्थ में है।

प्र०—अर्थवाद के उपाख्यानों के नाईं "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि विधिवाक्यों से 'यागका, स्वर्ग के प्रति कारण होना' और 'स्वर्ग का, याग के प्रति कार्य होना' जो कहा जाता है सो भी तो पुरुषों की प्रवृत्ति ही के लिये है। और प्रवृत्ति, पूर्वोक्तरीति से असत्यकीर्तन से भी होती है तो स्वर्ग और याग का अन्योन्य में कार्यकारणभाव भी क्यों नहीं असत्य होता?

उ०—आर्थवादिक उपाख्यान, किसी पुरुषार्थ के कारण नहीं हैं इसी से उनमें यदि अर्थवादों का मुख्यतात्पर्य स्वीकार किया जाय तो वह निष्फल हो जायगा इसी से अर्थवादों का, स्तुति ही में मुख्यतात्पर्य माना जाता है और स्तुति ही, शब्दभावना की इतिकर्तव्यता है। और द्वारवाक्यार्थ तो स्तुतिज्ञान का उपाय है उसमें यदि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विरोध पड़ता है तो उसका वारण गुणवाद से किया जाता है। और आर्थीभावना में तो इतिकर्तव्यता के उपायभूत द्रव्य, देवता, आदि में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध का संभव ही नहीं है क्योंकि द्रव्य, प्रत्यक्षसिद्ध ही होता है और देवता, प्रत्यक्ष के योग्य ही नहीं है कि उसका अभाव प्रत्यक्ष से सिद्ध हो सके, ऐसेही यागादिक्रिया भी अर्थभावना का करण है सो प्रत्यक्षसिद्ध ही है और स्वर्गादिरूपी भाव्य, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के योग्य ही नहीं है कि उसका अभाव उनसे सिद्ध हो सके, ऐसे ही स्वर्ग और याग का कार्यकारणभाव भी किसी लौकिकप्रमाण से गम्य नहीं है कि उसका अभाव उस

शा० निवर्त्तकं च इति प्रयोजनाभावात् अनर्थकम् इति अविवक्षितम् प्ररोचनया तु प्रवर्त्तते द्वेषात् निवर्त्तते इति तयोर्विवक्षा वृत्तान्तान्वाख्यानेऽपि विधीयमाने आदिमत्तादोषो वेदस्य बाऽप्रमाणमिति स्थितम् तेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यनुग्रहणीये स्वसंवेद्येऽर्थे पुंसः प्रशस्ताप्रशस्तज्ञाने भवतः इह ते वेदेनोत्पादिते तस्मात्तदनुरूपं व्यवहर्त्तव्यमिति। लोकेऽपि यां क्रियां फलान्तरयुक्तां मेधादिहेतुत्वेनाप्ता मन्यन्ते तस्यां कंचित्प्रवर्तयन्तस्तदभिप्रेतं सौभाग्यादिफलमसत्यमप्युपंयस्य नियुञ्जते तत्प्रवृत्तश्चेतरोऽपिक्रियाऽश्रयं फलं प्राप्नोति यद्यपि च प्रतिपत्ता जानाति नैतदत्र

॥ भाषा ॥

से सिद्ध हो सकै। तात्पर्य यह है कि आर्थीभावना के किसी अंश, वा किसी अंश के उपाय में प्रत्यक्षादि प्रमाणों के विरोध का कदापि संभव भी नहीं हो सकता इसी से "स्वर्गकामो यजेत" आदि विधिवाक्य, अपने किसी बोध्यांश में कदापि गुणवाद नहीं हो सकते अर्थात् उनका सबी बोध्यांश अत्यन्त सत्य ही होता है।

प्र०—असत्य के कथन से कैसे स्तुति वा निन्दा हो सकती है ?।

उ०—यह लोकव्यवहार है कि सत्यकथन को लोग कहते हैं कि इसमें स्तुति वा निन्दा क्या है ? यह तो सत्य ही है। और असत्यकथन पर यह कहते हैं कि जो पदार्थ, अन्यत्र दुष्ट निश्चित है उसी को यह पुरुष, गुणवान् कहता है इसमें ज्ञात होता है कि यह पुरुष अवश्य मेरी प्ररोचना (प्रवृत्ति के लिये स्तुति) करता है। तथा गुणवान् पदार्थ को भी दुष्ट बतलाता है इससे ज्ञात होता है कि यह पुरुष अवश्य ही मेरी निवृत्ति के लिये निन्दा करता है। और इसी रीति से स्तुति और निन्दा को समझ कर जो जिस वाक्य को उलंघन के योग्य नहीं समझता वह उसके अनुसार उस कार्य को करता, वा छोड़ता है इसी रीति से प्रकृत अर्थवाद से भी यही बोध होता है, कि अपनी वपा (अस्थि में श्लिष्ट श्वेतधातु) के उखेड़ने आदि प्रकार से यह अर्थवाद, गुणवान् याग को कहता है और इसी ज्ञान के अनुसार पुरुषों की उस याग में प्रवृत्ति होती है।

प्र०—यदि असत्य के ज्ञान से भी प्रवृत्ति होती है तो प्रसिद्ध मिथ्यावाक्यों से क्यों नहीं होती ?।

उ०—वाक्य के मिथ्या होने की प्रसिद्धि ही उससे प्रवृत्ति होने नहीं देती। लोक में राजादिकृत स्तुति, निन्दा, से भी तो उलंघनयोग्य न होने के कारण प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है।

प्र०—राजादिक तो इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के परिहार में समर्थ हैं इससे उनकी की हुई स्तुति, निन्दा, का उल्लङ्घन नहीं हो सकता किन्तु वेद की की हुई स्तुति निन्दा, क्यों नहीं उल्लङ्घन के योग्य है ?।

उ०—वेद भी इष्ट के साधन और अनिष्ट के वारण का बोध कराता है इसी से उसकी की हुई स्तुति और निन्दा उल्लङ्घनयोग्य नहीं है क्योंकि जब वेदप्रामाण्य के प्रकरण में पूर्व ही यह सिद्ध हो चुका है कि वेद प्रमाण है तब उसकी की हुई स्तुति और निन्दा सत्य ही है यह दूसरी बात है कि स्तुति और निन्दा के ज्ञान का उपाय द्वारवाक्यार्थ, आख्यायिकारूप से कहीं कल्पित भी होता है, क्योंकि ज्ञान को उत्पन्न करना शब्द का स्वभाव ही है और उक्त विषय, लोक में प्रसिद्ध ही है न कि अलौकिक। जैसे किसी सत्यवादी पुरुष ने अपने शिष्यपुत्रादि से यह कहा कि वचा (वच नामक ओषधी) के भक्षण से शरीरशोभा और पुत्रादि प्राप्ति होती है। और यद्यपि शिष्यादिक,

शा० प्रसज्येत। कथं पुनरिदं निरालम्बनमन्वाख्यायेत इति ? उच्यते नित्यः कश्चिदर्थः प्रजापतिः स्यात् वायुः आकाशः आदित्यो वा स आत्मनो वपा मुदखिदत् इति वृष्टिं वायुं रश्मिं वा बा०पारमार्थिकं फलं मदभिप्रायानुसारेणैतैरुपन्यस्तं सर्वथा त्वपुरुषार्थे मां न प्रवर्त्तयन्ति तदसत्यं नामैतत्किमप्यन्यदवाप्स्यामीति ज्ञात्वाऽनुतिष्ठति एवं वेदेऽपि विधिना तावत्फलमवगमितमर्थवादास्त्वसत्येन नाम प्ररोचयन्तु न तद्गते सत्यासत्यत्वे किंचिद् दूषयतः प्रवर्तनमात्रोपकारित्वात् यत्तु परस्ताद्भविष्यति तद्विधेरुपरिगतमिति निश्चित्य नैव विद्वांसो न प्रवर्तन्ते तस्मादुपाख्यानास-

॥ भाषा ॥

अपने को बुद्धिमान् समझते हैं इससे बुद्धिवृद्धि के लिये बचाभक्षण में प्रवृत्त नहीं हो सकते, तथापि शरीरशोभादि के लिये उक्तवाक्य से बचाभक्षण में प्रवृत्त हो गये और इस प्रवृत्ति कराने से उक्तवाक्य सफल हो गया तथा शिष्यादि को बुद्धिवृद्धि का लाभ भी हुआ । ऐसे विषय में यद्यपि उक्तवाक्य मिथ्या ही है क्योंकि शास्त्र में बचा के भक्षण का बुद्धिवृद्धि ही फल कहा है न कि शरीरशोभा आदि, तथापि उक्त आप्तवाक्य ने बचाभक्षण में जो प्रवृत्ति कराया उस से शिष्यादि को फललाभ अवश्य ही हुआ । इससे उक्त वाक्य असत्य नहीं होता क्योंकि उसका मुख्यतात्पर्य बचाभक्षण की स्तुति ही में था जिससे कि प्रवृत्ति हुई, न कि शरीरशोभा आदि द्वारभूत वाक्यार्थ में । ऐसे ही "प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्" इस अर्थवादवाक्य का भी यज्ञ की स्तुति ही में मुख्यतात्पर्य है ।

प्र०—उक्त लौकिक उदाहरणरूपी शिष्यादिक यह नहीं जानते कि "यह पुरुष मिथ्या बोलता है अर्थात् भक्षण का शरीरशोभा आदि फल नहीं है" इसी से उस वाक्य से शिष्यादिकों की प्रवृत्ति होती है और प्रकृत अर्थवाद के विषय में तो श्रोताओं को यह निश्चित है कि 'प्रजापति ने अपनी वपा नहीं उखेड़ा, यह अर्थवाद मिथ्यावादी है' तो ऐसी दशा में उक्त अर्थवादकृत स्तुति से उक्त यज्ञ में श्रोता पुरुषों की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? ।

उ०—उक्त उदाहरण में शिष्य आदि यदि उक्त वाक्य को अत्युक्तिरूपी मिथ्योक्ति भी समझते हैं अर्थात् यह समझते हैं कि "हमारी इच्छा के अनुसार यह आप्तपुरुष, स्तुति करता है वस्तुतः बचाभक्षण का शरीरशोभा आदि फल नहीं है" तो भी उनको यह निश्चय रहता है कि यह पुरुष आप्त और मेरा हितैषी है इससे कदापि निष्फलकार्य में मेरी प्रवृत्ति नहीं करा सकता इसलिये यह वाक्य चाहो मिथ्यास्तुति ही क्यों न हो परन्तु उसके अनुसार काम करने में शरीरशोभा से अतिरिक्त कोई उत्तमफल अवश्य ही प्राप्त होगा, और इसी निश्चय से शिष्यादिकों की बचाभक्षण में प्रवृत्ति होती है तथा बुद्धिवृद्धिरूपी फल प्राप्त होता है । ऐसे ही प्रकृत अर्थवाद के विषय में भी श्रोताओं को यह निश्चय रहता है, कि "विधिवाक्य ने इस यज्ञ का फल बतला ही दिया है और यह अर्थवाद, चाहो मिथ्यास्तुति ही से मेरी प्रवृत्ति कराता हो परन्तु प्रवृत्ति तो उसी यज्ञ में कराता है कि जिसके फल को विधि ने यथार्थरूप से बतला दिया है और ऐसी दशा में इस अर्थवाद का असत्य होना कोई दोष नहीं है क्योंकि इसका काम सत्य ही कहना नहीं है किंतु प्रवृत्ति कराना ही इसका मुख्यकाम है उसको तो यह कर ही रहा है तथा इस यज्ञ करने के अनन्तर जो फल होगा उसका भार तो अत्यन्त सत्यवादी विधिवाक्य ही के ऊपर है" । इसी निश्चय से विद्वान् श्रोताओं की उक्त यज्ञ में प्रवृत्ति होती है । और जैसे कोई

शा०तामग्नौ प्रागृह्णात् वैद्युते आर्चीशे लौकिके वा ततोऽज इत्यग्नं वीजं वीरुत् वा तमालभ्य बा०त्यत्वमतन्त्रम् न हि शुक्तिकाऽदृष्टसत्यरजतो यदि रजतान्तरं तद्देशे लभतेऽतोऽभिसन्धीयते शुक्तिकावत्तु किंचिदालम्बनं श्रुतिसामान्यमात्रेण सर्वत्र योजनीयम् यथेह महाभूतानि प्रजाः पान्तीति प्रजापतित्वेनोच्यन्ते वाय्वादीनां यथासंख्येन मध्यवर्त्तिनः सारा वृष्ट्यादयो वपा ताम्ग्नाविति तेनैव क्रमेण वैद्युते वृष्टिमार्चीशे शरीरान्तर्वर्त्तिनि वायुमन्तश्चरत्वसामान्याद्रश्मिं

॥ भाषा ॥

पुरुष, अन्धकार में अपने निश्चित रजत के समीप पड़ी हुई शुक्तिका (सीपी) को अँगुली से दिखा कर किसी पुरुष से कहे कि "यह रजत है इसे उठा लो" तो यद्यपि यह उसका वाक्य मिथ्या ही है क्योंकि शुक्तिका कदापि नहीं रजत है तथापि वक्ता पुरुष वंचक नहीं कहला सकता किन्तु उस अन्यपुरुष का हितैषी ही है क्योंकि उसके वाक्य के अनुसार जब वह अन्यपुरुष रजत समझ कर शुक्तिका को उठाने लगैगा उसी समय शुक्तिका के संनिहित रजत को देख कर पा जायगा ऐसे ही प्रकृत अर्थवाद भी यदि वपानिकर्तनरूपी मिथ्याभूत अर्थ को दिखला कर श्रोता पुरुषों की प्रवृत्ति कराता है तो वंचक नहीं है किन्तु श्रोताओं का हितैषी है क्योंकि उक्त अर्थवाद के अनुसार जब श्रोता पुरुष उक्त यज्ञ को करैगा तब विधिवाक्य से प्रतिपादित सत्यफल का लाभ उसको अवश्य होगा। निदान किसी वैदिक आर्थवादिक उपाख्यान, अर्थात् द्वारभूत वाक्यार्थ का असत्य होना कोई दूषण नहीं है।

प्र०—जैसे उक्त शुक्तिरजतरूपी दृष्टान्त में शुक्तिरूपी आलम्बनांश तो सत्य ही होता है, केवल रजतरूपी आरोप्यांश मिथ्या है वैसे ही उक्त अर्थवाद के विषय में कौन पदार्थ सत्य आलम्बन है? और उसमें किसका आरोप है? जिससे कि इस अर्थवाद को गुणवाद कहा जाता है। तथा प्रकृत अर्थवाद का उक्त अर्थ कैसे उचित है? क्योंकि प्रजापति के, वपा उखेड़ने का उपाख्यान जब वेद में है तब तो वेद की अनादिता ही का भङ्ग हो जायगा अर्थात् वेद, उखेड़ने के अनन्तर बनाये हुए सिद्ध हो जायंगे।

उ०—उक्त अर्थवाद में 'प्रजापति' शब्द से 'वायु' और वपा शब्द से जलवृष्टि, लेते हैं इससे यह अर्थ होता है कि 'तामग्नौ प्रागृह्णात्' वायु, जल को अग्नि अर्थात् विद्युतरूपी अग्नि में होम करता है अथवा प्रजापतिशब्द से आकाश, वपाशब्द से वायु, अग्निशब्द से जठराग्नि, लेते हैं तब यह अर्थ होता है कि आकाश, जठराग्नि में वायु का प्रवेश कराता है। यद्वा प्रजापतिशब्द से सूर्य, वपाशब्द से किरण, अग्निशब्द से लौकिकअग्नि लेते हैं, तब यह अर्थ होता है कि सूर्य, अग्नि में अपने किरणों का प्रवेश कराता है। क्योंकि श्रुति में यह कहा है कि (आदित्योवाऽस्तं यन्नग्निमनुप्रविशति) "अस्त के समय सूर्य अग्नि में प्रवेश करता है" इससे तूपर अज अर्थात् अनादिबीज उत्पन्न होता है। यद्यपि बीज की व्यक्ति अज (अनादि) नहीं है किन्तु जन्मवाली है तथापि बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि है इससे बीज को अज कहा जाता है। तात्पर्य यह है कि उदर में वायुसम्बन्ध से अन्न के परिपाकद्वारा विट्मूत्र आदि से पृथग्भूत शुक्रधातुरूपी बीज उत्पन्न होता है और उदर में वायु का सम्बन्ध आकाशरूपी अवकाश से होता है। वायु और सूर्य, वृष्टि और किरण, के अन्योन्य में सम्बन्ध से यवगोधूमादिरूपी बीज उत्पन्न होता है उसके द्वारा प्रजा और पशु की प्राप्ति होती है, ये ही अर्थ उक्त अर्थवाद के हैं। और इन अर्थों में

भा० तमुपयुज्य प्रजाः पशून् प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः ।

वा० लौकिके तदाप्यायनात्तस्य। ततोऽज इति वीजादीनां सामान्येनानादित्वादजत्वप्रसिद्धेः तमालभ्य प्राप्य प्रजाःपशूनाप्नोतिसर्वप्रजानां व्रीह्यादिपरिणामप्रभवत्वादित्यालम्बनम् । एतस्मिंस्तु प्रक्रमे सत्यं साऽऽलम्बनता किंतु स्तुतित्वमेव हीयते अतःस्तुतित्वान्यागेनैव स्वार्थसत्यतां वर्णयामः मन्त्रार्थवादपुराणेतिहासप्रामाण्यात्सृष्टिप्रलयाविष्येते तत्र सृष्ट्यादौ प्रजापतिरेव योगी तस्मिन्काले पुण्यकर्मोद्भवाभ्युपगमेन पशूनामभावात्स्वमाहात्म्येनात्मन एव पशुरूपमभिनिर्माय वपोत्खननादि कृतवाँस्ततोऽसमाप्त एव कर्मणि तूपरः पशुरुत्थितः ईदृशमिदं कर्म प्रत्यासन्नफलम् एवं च महता यत्नेन प्रजापतिनाऽऽचरितमिति सर्वं सत्यमेव । प्रतिसृष्टि पर्तुलिङ्गन्यायेन तुल्यनामप्रभावव्यापारवस्तूत्पत्तेर्नानित्यताप्रसङ्ग इति ।

॥ भाषा ॥

वायु, आकाश, सूर्य, और वृष्टि, वायु, किरण, और प्रवश, शुक्र, अन्न, रूपी सबी आलम्बन सत्य ही हैं तथा इन अर्थो के स्वीकार में वायु आकाश आदि अनादि ही पदार्थों का यह उपाख्यान है इसी से वेद की अनादिता का भङ्ग भी नहीं हुआ। ऐसे ही प्रजापति, वपा, होम और अज, रूपी आरोप्यांश, मिथ्याभूत हैं । यही तृतीयव्याख्यान, "गुणवादस्तु" सूत्र का है ।

इस तृतीयव्याख्यान पर वार्तिककार भट्टपाद ने यह कहा है कि "इस व्याख्यान के अनुसार जो उक्त अर्थवाद के अर्थ हैं उनमें आलम्बन तो सत्य हैं परन्तु उनसे स्तुति ही नहीं हो सकती जो कि अर्थवादों का मुख्य अर्थ है क्योंकि यह, साधारण लौकिककार्यकारण का अनुवादमात्र है इस दोष के कारण इस भाष्योक्त अर्थ को छोड़कर स्तुति ही की रीति से उक्त अर्थवाद के द्वारभूत अर्थ की सत्यता को मैं वर्णन करता हूं" और ऐसा कह कर उक्त अर्थवाद का व्याख्यान भी अन्य ही प्रकार से किया है जिसको अब मैं लिखता हूं कि—

मन्त्र, अर्थवाद, पुराण और इतिहास, रूपी प्रमाणों से विश्व की सृष्टि और प्रलय इष्ट है। और इसी सृष्टि के समय योगसिद्ध प्रजापति (ब्रह्मा) ने उस समय पशुओं के अभाव से अपने योगप्रभाव के अनुसार अपने स्वाभाविकशरीर से अन्य, एक पशुशरीर को भी धारण कर उसके वपा के उखड़ने से यज्ञ करता है और यज्ञ के मध्य ही में तूपर पशु यज्ञभूमि से उठ खड़ा होता है ऐसा तुरित फल देने वाला यह कर्म है और इतने बड़े उद्योग से प्रजापति इसको करता है। इस रीति से उक्त अर्थवाद का द्वारभूत अर्थ भी सर्वांश से सत्य ही है । और जैसे प्रत्येक ऋतुओं की असंख्यबार आवृत्ति होने पर भी जिस ऋतु का जो पुष्प फल आदि चिन्हभूत हैं वे उस ऋतु की प्रत्येक आवृत्ति में तुल्य ही रूप और गुण से सम्पन्न होता है अर्थात् यद्यपि पुष्पों की व्यक्तियां प्रत्येक आवृत्ति में भिन्न २ हुआ करती हैं तथापि रूप, गुण, प्रभाव, उनका तुल्य ही होता है, ऐसे ही प्रत्येक विश्वसृष्टि के समय में भिन्न २ प्रजापति होते हैं परन्तु उनका प्रभाव और व्यापार आदि सब तुल्य ही हुआ करते हैं । और यही समाचार, उत्पन्न होने वाले सब पदार्थों का है ऐसी दशा में प्रजापति के नाम से इस आर्थवादिक उपाख्यान होने से वेद की अनादिता में किसी प्रकार की क्षति नहीं हो सकती क्योंकि एक प्रजापति की व्यक्ति यद्यपि अनादि नहीं है तथापि प्रजापति का स्थान (जगह) अनादि ही है और उसी स्थान के नाम से यह वैदिक-उपाख्यान भी अनादि ही है ।

व्या० ४ शा० आदित्यः प्रायणीयश्चरुरादित्य उदयनीयश्चरुः इत्यस्य विधेः शेषो देवा वै देवयजनमध्यवसाय दिशो न प्रजानन् इति आकाङ्क्षितत्वात् सर्वव्यामोहाना-मादित्यश्चरुर्नाशयिता अपि दिङ्मोहस्येति स्तुतिः कथमसति दिङ्मोहे दिङ्मोहशब्दः इति । उच्यते अप्राकृतस्य बहोः कर्मसमूहस्योपस्थितत्वात् गौणो मोहशब्दोऽवधारणावकाशदानादि-भिर्ज्ञापयतीति गौणता ॥

वा० ४ कर्मसु कौशलेन दीव्यन्तीति देवा ऋत्विजः तेषां देवयजनाध्यवसानानन्तरं दर्शपूर्णमासयोरनभ्यस्तं सौमिकं कर्मराशिमालोक्य कथमविदितं करिष्याम इत्याकुलीभाव-सामान्याद्दिङ्मोहाभिधानम् तथाच लोके कर्तव्यतासु दिशो मे परिभ्रमन्तीति वक्तारो-भवन्ति तत्र तद्व्युदासनादितियागः प्रशस्यते कथं तु तद्व्युदसनम् अवधारणावकाशदानात् ।

यावद्धि प्रायणीयायां प्राकृतानि समभ्यस्तानि कर्माणि क्रियन्ते तावदितरेषु भविष्यत्सु प्रणिधानं भवति अन्यथा सर्वस्मिन्नप्राकृते निरवकाशत्वादनवधारणं स्यात् तेनादित्येनैवै-तज्ज्ञापितमिति मोहापनयेन स्तुतिः इति ।

अत्रेदमवधेयम् यथा श्रीभगवतो वेदकारत्वमात्रस्य निराकरणेन वेदस्यापौरुषेयताया उपपत्तिसंभवेऽपि वेदकारत्वशङ्काया मूलोच्छेदायाभ्युच्चयमात्रेणौत्पत्तिकसूत्रे वार्तिककृद्भिर्भग-वत्सत्ताऽपि खण्डिता नत्वेतावतामीमांसका वस्तुगत्या श्रीभगवन्तं नानुमन्यन्त इत्युत्प्रेक्षणीयम्

॥ भाषा ॥

व्या०–४ "आदित्यः प्रायणीयश्चरुः, आदित्य उदयनीयश्चरुः" (यह आदित्यचरु सूर्य के उदय और अस्त समय के लिये है) इस विधिवाक्य का अर्थवाद यह है कि "देवा वै देवयजनमध्य-वसाय दिशो न प्रजानन्" (देवताओं का यज्ञसमय में दिग्भ्रम हो गया) यह गुणवाद अर्थात गौणव्यवहार है क्योंकि " उक्तयज्ञ में इतने अनेक प्रकार के नये २ कर्म किये जाते हैं कि उन के करने और विचारने में देवताओं की बुद्धि भी भ्रान्त हो जाती है, और इस यज्ञ ही का ऐसा प्रभाव है कि ऐसी भ्रान्ति को दूर कर देता है" इस स्तुतिरूपी अर्थ ही में उक्त अर्थवाद का मुख्य तात्पर्य है न कि देवताओं के दिग्भ्रम होने में । और दिग्भ्रम न होने पर भी दिग्भ्रम के कथन का तात्पर्य, फल और निर्दोषता का प्रकार तो, अनन्तर तृतीयव्याख्यान में ही कहा जा चुका है ।

यहां यह ध्यान करना चाहिये कि मीमांसादर्शन के ग्रन्थों को देख कर अन्य दर्शनों के अनुयायी लोग यह कहते हैं कि मीमांसक, परमेश्वर और विश्व का सृष्टिसंहार नहीं मानते परन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही है क्योंकि मीमांसक, परमेश्वर को और विश्व की सृष्टिसंहार को भी अवश्य ही मानते हैं और इस बात के दिखलाने का यह अवसर है क्योंकि अनन्तरोक्त तृतीयव्याख्यान के वार्तिक में सृष्टिसंहार की चर्चा हो चुकी है इस लिये परमेश्वर और सृष्टिसंहार के स्वीकार में मीमांसकों की अतिगुप्त अनुमति यहां प्रकाश की जाती है ।

जैमिनिमहर्षि ने अपने किसी सूत्र में ऐसा नहीं कहा है कि 'परमेश्वर नहीं हैं' और औत्पत्तिकसूत्र ५ अध्याय १ पा० १ के वार्तिक में मीमांसावार्तिककार भट्टपाद ने ईश्वर की सत्ता (होना) का खण्डन किया है उस का भी यह तात्पर्य नहीं है कि ईश्वर नहीं हैं किन्तु यह तात्पर्य है कि "यद्यपि ईश्वर के स्वीकार करने पर भी यदि ईश्वर के वेदकर्तृत्वमात्र का खण्डन किया जाय तब भी औत्पत्तिकसूत्र में कहे हुए वेद के स्वतःप्रामाण्य और उस के मूलभूत

उक्तं चैतदधस्तात्, अतएव मीमांसाबालप्रकाशे शङ्करभट्टः 'पदपदार्थसंबन्धस्येश्वरकृतसङ्केतात्मकत्वेऽपि वेदाप्रामाण्यापत्तेस्तत्प्रामाण्यायैवेश्वरनिरास' इति अत्र हि तत्प्रामाण्यायैवेत्येवकारेण न तु वस्तुत इत्युक्तप्रायम् अतएव वार्तिकस्यादावेव 'विशुद्धज्ञानदेहाय त्रिवेदीदिव्यचक्षुषे॥ श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्द्धधारिणे' ॥१॥ इति श्रीभगवतां नमस्कारो मङ्गलतया समाचरितः स्वयमेव भट्टपादैः, व्याख्यातश्च पार्थसारथिमिश्रेण न्यायरत्नाकरे 'श्लोकवार्तिकमारिप्सुस्तस्याविघ्नसमाप्तये । विश्वेश्वरं महादेवं स्तुतिपूर्वं नमस्यति ॥ विशुद्धेति॥ विशुद्धं मीमांसया परिशोधितम् ज्ञानमेव देहो यस्य त्रिवेद्येव दिव्यं चक्षुः प्रकाशकं यस्य सोमस्य अर्द्धम् स्थानम् ग्रहचषसादि तद्धारिणे इति यज्ञपक्षेऽपि सङ्गच्छते' इति आस्तिकसम्प्रदायश्चायं मङ्गलाचारः तस्य संप्रदायस्योद्धारार्थमेव च वार्तिकनिर्माणम् तथाच उपक्रमे एव वार्तिकम् 'प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता । तामास्तिकपथे कर्तुमयं यत्नः कृतो मया' ॥१०॥ इति । अत्र न्यायरत्नाकरः "ननु मीमांसायाश्चिरन्तनानि भर्तृमित्रादिविरचितानि व्याख्यानानि विद्यन्ते किमनेनेत्यतआह प्रायेणेति मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायता कृता 'नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्टं फलं नास्ति' त्यादि बहुपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति तामास्तिकपथे कर्तुं वार्तिकारम्भयत्नः कृतो मयेति" यत्र क्वचिद् ग्रन्थादौ भगवन्नमस्कारः शिष्यशिक्षाऽर्थं न न्यबन्धि यथा शाबरे, तत्रापि बहिरेव मङ्गलमाचरितमित्यनुमीयते

॥ भाषा ॥

अपौरुषेयता की सिद्धि हो सकती है तथापि ईश्वर में वेदकर्तृत्व की शङ्का के मूलोच्छेदार्थ ईश्वर की सत्ता ही का खण्डन करना चाहिये"। तो इतने मात्र से झट यह नहीं मान लेना चाहिये कि धर्ममीमांसक लोग परमेश्वर की सत्ता ही नहीं मानते क्योंकि उक्तरीति से भट्टपाद का मुख्यतात्पर्य वेद की पौरुषेयता ही के खण्डन में है न कि ईश्वर के खण्डन में, और यह बात पूर्व में भी कही जा चुकी है, इसी से 'मीमांसाबालप्रकाश' नामक ग्रन्थ में शङ्करभट्ट ने स्पष्टरूप से यह कहा है कि "केवल वेदप्रामाण्य के रक्षार्थ ही ईश्वर का खण्डन औत्पत्तिकसूत्र पर किया गया है न कि इस अभिप्राय से कि वस्तुतः ईश्वर नहीं हैं क्योंकि घटादि शब्द और घटादिरूपी अर्थ का परस्परसम्बन्ध, यदि परमेश्वरकृत हो तो वेद पौरुषेय हो जायगा और पुरुष के तो भ्रम, प्रमाद आदि स्वभाव ही हैं इस से पौरुषेय होने पर वेद अप्रमाण ही हो जायगा"। यदि भट्टपाद, परमेश्वर को नहीं स्वीकार करते होते तो मीमांसावार्तिक के आरम्भ ही में श्रीशिवजी का नमस्काररूप मङ्गलाचरण न करते जो कि ऊपर संस्कृतभाग में लिखा है। और मङ्गलाचरण, आस्तिक्य का विशेषलक्षण (मुद्रा-मुहर) है तथा आस्तिकसंप्रदाय ही के उद्धारार्थ भट्टपाद ने वार्तिक की रचना की है क्योंकि उन्हों ने आरम्भ ही में श्लोक १० से यह कहा है कि " यद्यपि मीमांसाभाष्य पर पण्डितभर्तृमित्र आदि के रचित अनेक व्याख्यान वर्तमान हैं तथापि उन में अनेक स्थानों पर यह लिखा है कि 'संध्या,अग्निहोत्र आदि नित्यकर्मों से धर्म और सुरापानादिरूपी निषिद्धकर्मों से अधर्म नहीं होता, इत्यादि, इस कारण मीमांसादर्शन चार्वाक (स्थूलनास्तिक) दर्शन के समान हो गया है इस लिये उस को आस्तिकसिद्धान्त पर ले आने के अर्थ मैंने वार्तिकारम्भरूपी इस यत्न को किया है" इति । जहां कहीं ग्रन्थ के आदि में परमेश्वरनमस्कार नहीं लिखा जाता जैसे कि शाबरभाष्य में नहीं लिखा है वहां भी यह निश्चय है कि यद्यपि नहीं लिखा तथापि मङ्गल-

'मङ्गलाचारयुक्तानामि' त्यादिस्मृतिप्रामाण्याच्छिष्टाचाराच्चेति त्वन्यत् । तथा सृष्टिसंहारयोरभ्युपगमेऽपि हिरण्यगर्भस्य वेदसम्प्रदायद्योतकत्वमात्रेण वेदस्यापौरुषेयत्वसंभवेऽपि सृष्ट्याद्युत्पन्नस्यैकस्य हिरण्यगर्भस्य वेदसम्प्रदायद्योतकत्वे तत्राविश्वासेनोत्थितासमानाया वेदाप्रामाण्यशङ्काया मूलस्योन्मुमूलयिषयैव 'प्रक्षालनाद्धी' तिन्यायमनुसरद्भिर्मीमांसकैः सृष्टिसंहारौ निराकृतौ, नतु तौ न वस्तुतः स्त इत्यभिप्रयद्भिः । अतएव मीमांसकमते सृष्टिसंहारप्रतिपादकबहुतरस्मृतीतिहासपुराणादिविरोधोऽपि न भवति नवा क्षित्यङ्कुरादिकं कार्य्यम्, सावयवत्वात् घटादिवत् ॥ १ ॥ नश्वरं च, कार्यभावत्वात् तद्वत् ॥ २ ॥ ब्रह्माऽपि मैष्यति, शरीरित्वात् अस्मदादिवत् ॥३॥ पर्वता अपि चूर्णीभविष्यन्ति, संघातत्वात् लोष्टवत् ॥ ४ ॥ सूर्योऽपि निर्वास्यति, तेजस्त्वात् प्रदीपवत् ॥ ५ ॥ समुद्रा अपि शोषमुपयास्यन्ति, जलाशयत्वात् स्थलोपल्वलवत् ॥ ६ ॥ इत्यादिभिरनुमानैरपि विरोधः । किं बहुना पूर्वोक्तरीत्या सर्वेष्वेव वेदेषु तदनुयायिनीषु मीमांसासु च प्रमाणताकल्पलतामूलं पुरुषार्थानुबन्धित्वं दृढतरमारोपयन्ती 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इति श्रुतिरेव 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्' इत्यादिश्रुत्यनुगता, सृष्टिसंहारयोः सत्यत्वे मानम् । नहि स्वाध्यायपदाभिधेयाया

॥ भाषा ॥

वाक्य का उच्चारण अवश्य किये होंगे क्योंकि "मङ्गलाचारयुक्तानाम्०" इत्यादि मन्वादिस्मृतिवाक्यों और शिष्टों के आचार से मङ्गलाचरण करना आस्तिक के लिये प्रत्येक शुभकर्मों के आरम्भ में अत्यावश्यक है। ऐसे ही विश्व की सृष्टि और संहार यदि मान लिये जायँ तो भी आदिसृष्टि में अनादि वेदसम्प्रदाय का प्रचारमात्र, हिरण्यगर्भ के द्वारा स्वीकार करने से भी वेद की अपौरुषेयता में कोई विघ्न नहीं पड़ सकता परन्तु यदि एक हिरण्यगर्भ ही वेदसम्प्रदाय के प्रचारक माने जायं तो उन पर भी अविश्वास होने से वेद में अप्रामाण्य होने की शङ्का हो सकती है इसी से मीमांसकों ने विश्व की सृष्टि और संहार का खण्डन कर उस अप्रामाण्यशङ्का की जड़ ही को उखाड़ दिया परन्तु वस्तुतः यह मीमांसकों का अभिप्राय नहीं है कि 'विश्व की सृष्टि और संहार नहीं होते, क्योंकि यदि ऐसा अभिप्राय हो तो मीमांसकों के मत में, विश्व की सृष्टि और संहार के प्रतिपादक बहुत से स्मृति, इतिहास, पुराण आदि, के वाक्यों से विरोध पड़ जायगा। और "पृथिवी अङ्कुर आदि पदार्थ, कार्य हैं क्योंकि यह सावयव हैं और जो २ सावयव होता है वह कार्य होता है जैसे घट आदि" ॥ १ ॥ और ये नष्ट भी होते हैं क्योंकि कार्य हैं, और जो २ कार्य होता है वह नष्ट होता है जैसे घट आदि ॥ २ ॥ ब्रह्मा भी विनाशी हैं क्योंकि शरीरी हैं जो २ शरीरी होता है वह मरता है जैसे हम ॥ ३ ॥ पर्वतादिक भी चूर्ण हो कर उड़ जायंगे, क्योंकि वे परमाणुओं के समुदाय हैं जो २ परमाणुओं का समुदाय होता है वह चूर्ण हो कर उड़ जाता है जैसे मृत्तिका का पिण्ड ॥ ४ ॥ सूर्य भी शान्त हो जायंगे क्योंकि तेज हैं जो २ तेज होता है वह बुझता है जैसे दीपक ॥ ५ ॥ समुद्र भी सूख जायंगे क्योंकि जलाशय हैं जो २ जलाशय होता है वह सूखता है जैसे तडाग ॥ ६ ॥ इत्यादि विश्वसंहार के साधक अनेक अनुमानों से भी विरोध पड़ जायगा। और अधिक कहना ही क्या है यदि विश्व की सृष्टि और संहार न माने जायं तो सब वेदों और मीमांसादर्शन की प्रमाणता का मूलभूत "स्वध्यायोऽध्येतव्यः" इस पूर्वोक्त वेदवाक्य, और "प्रजापतिरात्मनोवपामुदखिदत्" इत्यादि वाक्यों से भी विरोध पड़ जायगा। क्योंकि प्रथम-

अस्याः श्रुतेरुक्ताध्ययनविधिबोधितं पुरुषार्थानुबन्धित्वं,स्तुत्यर्थतामन्तरेणोत्प्रेक्षासरणिमप्यारोहति। नच स्तुत्यर्थता, शाबरीयेण व्याख्यानेन मनागपि निर्वहति उक्तञ्चैतत् अत्रैव वार्तिके 'एतस्मिंस्तु प्रक्रमे सत्यं सालम्बनता किंतु स्तुतित्वमेव हीयते अतः स्तुतित्वात्यागेनैव स्वार्थसत्यतां वर्णयामः' इति। नापि अत्रैव वार्तिकेऽभिहितम्-"मन्त्रार्थवादपुराणेतिहासप्रामाण्यात्सृष्टिप्रलयाविष्येते तत्र सृष्ट्यादौ प्रजापतिरेव योगी तस्मिन्काले पुण्यकर्मोद्भवाभ्युपगमेन पशूनामभावात्स्वमाहात्म्येनात्मन एव पशुरूपमभिनिर्माय वपोत्खननादि करोति ततोऽसमाप्त एव कर्मणि तूपरः पशुरुत्पद्यते। ईदृशमिदं कर्म मत्यासन्नफलम् एवंच महता यत्नेन प्रजापतिनाऽऽचर्यत इति सर्वं सत्यमेव। प्रतिसृष्टि चर्तुलिङ्गन्यायेन तुल्यनामप्रभावव्यापारवस्तूत्पत्तेर्नानित्यताप्रसङ्गः" इतिव्याख्यानं विना स्तुत्यर्थता संभवति अनन्यगतिकत्वात्, नचेदं व्याख्यानं सृष्टिसंहारसत्यतामन्तरा कर्तुं शक्यते। तस्मात् श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासन्यायतर्कसिद्धं सृष्टिसंहारयोः सत्यत्वं मीमांसकसम्मतमेव। यत्तु अत्रैव न्यायसुधायाम् "वस्तुवृत्त्या स्थितिप्रलयाभावेऽपि मन्त्रादिव्याख्याऽऽलम्बनत्वेनोपायतयातदङ्गीकरणमिति" "सालम्बनत्वाभिप्रायः सत्यशब्द" इति च। तन्न मनोरमम्। वार्तिकाक्षरस्वरसव्याकोपप्रसङ्गात्। तथाहि। यद्यालम्बनमात्रस्य प्रजापतेरेव सत्यत्वमभिप्रेयेत तदा सर्वमिति विरुध्येत। किंच मन्त्राद्यालम्बनतामात्रप्रयुक्तत्वेन सत्यत्वं यदि विवक्ष्येत तदा सत्यमेवेत्येवकारउपरुध्येत तस्य हि सत्यमेव नतु कथंचिदप्यसत्यमित्यर्थः वस्तुगत्या सत्यमिति यावत्। अपिच वपोत्खेदार्थवादस्य सत्यवृत्तान्तपरतायां भाष्योक्तस्य वेदानित्यत्वापत्तिदोषस्य परिहाराय ऋतुलिङ्गन्याय आश्रितः,नचतदाश्रयणं सृष्टिसंहारयोर्वास्तविकतायावार्तिकाननुमतत्वे घटते,स्मार्तोह्ययमृतुलिङ्गन्यायः, स्मृतौ च प्रलयानन्तरमादिसृष्टौ कर्मव्यवस्थासौस्थ्यस्थापनार्थमेवासावास्थीयतेस्म।

तथाच १ अध्याये स्वयमेव मनुः

यं तु कर्माणि यास्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः। स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥२८॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते। यद्यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥ २९॥
यथर्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्तुपर्यये। स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः॥३०॥ इति

॥ भाषा ॥

वाक्य का तात्पर्य यह है कि जितने वेदवाक्य हैं वे सब साक्षात् वा परंपरा से पुरुषार्थ के कारण हैं इसी के अनुसार उक्त दूसरा वाक्य भी पुरुषार्थ का कारण है परन्तु यदि उक्त रीति से इस वाक्य का अर्थ, प्रजापतियज्ञ की स्तुति न माना जाय तो यह वाक्य किसी रीति से पुरुषार्थ का कारण नहीं हो सकता और "गुणवादस्तु" (पृ०३०५) इस प्रकृतसूत्र के भाष्योक्त तृतीयव्याख्यान से इस वाक्य का स्तुतिरूप अर्थ कदापि नहीं निकलता इसी से वार्तिककार ने भी उस व्याख्यान पर यह कहा है कि "इस व्याख्यान के अनुसार जो उक्त अर्थवाद के अर्थ हैं उनमें आलम्बन तो सत्य है परन्तु उनसे स्तुति ही नहीं हो सकती जो कि अर्थवादों का मुख्य अर्थ है क्योंकि यह साधारण लौकिक कार्यकारण का अनुवादमात्र है इस दोष के कारण इस भाष्योक्त अर्थ को छोड़ कर स्तुति ही की रीति से उक्त अर्थवाद के द्वारभूत अर्थ की सत्यता को मैं वर्णन करता हूं"। और उक्तरीति से अनन्यगति हो कर वही वार्तिकोक्तव्याख्यान स्वीकारयोग्य है जो कि पूर्व (पृ०३१३) में तृतीयव्याख्यान पर लिखा गया है। उसको स्मरण कर यह निश्चय करना चाहिये कि वह व्याख्यान, विश्व की सृष्टि-

. नच 'मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणप्रामाण्यात्सृष्टिप्रलयाविष्येते' इत्यत्रत्यवार्तिकवाक्य-पर्य्यालोचनया, मन्त्रादिप्रामाण्यादेव ननु वस्तुतः, एवम् इष्येते एव ननु वस्तुत्त्वया स्त इतितात्पर्यमुल्लसति अतः सुधोक्तं युक्तमेवेति वाच्यम्। सृष्टिप्रलययोः पिशितलोचनाधुनातन-जनानाकलनीयतत्त्वबुबोधयिषया मन्त्रादिप्रामाण्योक्तेरन्यथोपपत्तिसंभवात्। इष्येते इत्यस्य स्वरसतस्तयोः कण्ठतो मीमांसकसम्मतत्वोक्तिरूपत्वेनास्माकमनुकूलतया सुधाप्रतिकूलस्योक्ता-वधारणपरतया व्याख्यानस्योदक्षरतया क्षारीकृतत्वाच्च। अवधारणपरतायामाग्रहेऽपि इष्येते एव ननु केनापि नेष्येते इत्यवधारणस्यापि प्रतिपिपादयिषायाः सुवचत्वाच्च। तस्मात् श्री-भगवतः, विश्वसृष्टिसंहारयोश्च विद्वेषिणो मीमांसका इति भ्रान्तिमात्रमिति।

अथ अस्तेने मनसि स्तेनाभेदस्य सत्यायां वाच्यनृतत्वस्य च बाधितत्वात् 'स्तेनंमन' इत्यादिश्रुतेर्गौरश्वइत्यादिवदयोग्यवाक्यत्वमत उक्तविधिद्वयकल्पने शास्त्रविरोधइति शङ्काया निराकरणाय सूत्रम्—

रूपात्प्रायात् ॥ ११ ॥ इति

अस्यार्थः रूपात् स्तेनवृत्तरूपात् स्तेने यथा प्रच्छन्नसंचारस्तथा मनसि मत्त्वादभेद-प्रयोग औपचारिकः प्रायात् वाचामनृतवादिनीत्वस्य प्रायशो दर्शनात् च च्छत्रिन्यायाद-नृतवादिनी वागित्युक्तिरिति।

शा. हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति इति साकाङ्क्षत्वादस्य विधेःशेषः स्तेनं मनोऽनृ-तवादिनीवाक् इति निन्दावचनं हिरण्यस्तुत्यर्थेन यथा किं कृपिणा देवदत्त एव भोजयि-तव्यः कथंपुनरस्तेनं मनः निन्दितुमपि स्तेनशब्देनोच्यते वाचं चाननृतवादिनीम् अपि अनृतवादिनी इति ब्रूयात् गुणवादस्तु रूपात् यथा स्तेनाः प्रच्छन्नरूपाः एवं च मनइति

॥ भाषा ॥

संहार की सत्यता ही पर निर्भर है इससे यह सिद्ध हो गया कि श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, अनुमान और तर्क से विश्व के सृष्टिसंहार की सत्यता सिद्ध और मीमांसकों के अतिसंमत भी है। और इस वार्तिकोक्तव्याख्यान का तात्पर्य न्यायसुधा में भट्टसोमेश्वर ने जो लगाया है वह ठीक नहीं है और उसका स्पष्टरूप से खण्डन संस्कृतभाग में लिखा है जिसका अनुवाद अत्यावश्यक नहीं है इसी से नहीं किया जाता है।

पूर्वपक्ष में "शास्त्रदृष्टविरोधाच्च" इस सूत्र से "स्तेनं मनोऽनृतवादिनीवाक्" (मन चोट्टा, वाणी झूठी) इस अर्थवाद पर "नानृतं वदेत्" (झूठा न बोले) इस निषेधशास्त्र के विरोध को ले कर जो आक्षेप किया गया है उसका उत्तर "रूपात्प्रायात्" ११ इस सूत्र से दिया जाता है। इसका अर्थ यह है कि मन और चोर का सादृश्य यह है कि दोनों प्रच्छन्नरूप से चलते हैं इसी से उक्तअर्थवाद में "सिंहोमाणवकः" के नाईं मन में स्तेनशब्द का गौणप्रयोग है, और ऐसे ही वचन भी अनेकस्थान में मिथ्या हुआ करता है इसी से बाणी को झूठी कहा है। तात्पर्य यह कि उक्त वाक्य, "हिरण्यं हस्ते भवति अथ गृह्णाति" (हाथ पर सुवर्ण ले और पहिने) इस विधि का अङ्ग है इसी से सुवर्ण की स्तुति के लिये मन और वचन का निन्दा करता है क्योंकि जो ही काम किया जाता है प्रथम २ पुरुष के मन में उसका संकल्प होता है तदनन्तर वह काम वचन से कहा जाता है पश्चात् किया जाता है इसी से सब कामों के करने में मन और वचन अन्तरङ्गसाधन हैं

गौणःशब्दः प्रायात् च अनृतवादिनी वागिति ।

वार्तिकम्

इह सर्वं क्रियमाणं मनसा सङ्कल्प्य वाचा चाभिधाय क्रियते तदत्यन्तान्तरङ्गभूतयो-रप्यनयोर्दूरेण हिरण्यादूनत्वं स्तेयानृतवादयोगादिति या निन्दा तन्मात्रपर्यवसायिनी सा निषेधफला भवति त्रिविधिपरा तु स्तुत्यर्था जायते तदुपपादनस्य दृष्टार्थत्वात् यथा वक्ष्यति 'नचेदन्यं प्रकल्पयेत्प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यादि' ति ।

पूर्वपक्षसूत्रोक्तस्य द्विविधस्य दृष्टविरोधस्य परिहाराय क्रमेण सूत्रे ।

दूरभूयस्त्वात् १२

अस्यार्थः दिवा दूरदेशस्य धूम एव दृश्यते न वन्हिरिति न दृष्टेर्विरोधः वन्हेर्दिवाऽदर्शनमिति सूत्रं पूरणीयम् अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहेति सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति मिश्रलिङ्गमन्त्रयोर्विधानस्य 'तस्माद्धूमएवाग्नेर्दिवाददृशे' इत्ययं शेष इति ॥ १२ ॥

स्त्र्यपराधात् कर्तुश्च पुत्रदर्शनम् ॥ १३ ॥

शा० दृष्टविरोधे एव उदाहरणम् नचैतद्विद्मइति तत् प्रवरे प्रव्रियमाणे देवाः पितरइति-ब्रूयात् इत्याकाङ्क्षितत्वादस्यविधेः शेषः अब्राह्मणोऽपिब्राह्मणः प्रवरानुमन्त्रणेन स्यादिति स्तुतिः दुर्ज्ञानत्वादज्ञानवचनं गौणम् स्त्र्यपराधेन कर्तुश्च पुत्रदर्शनेन 'अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्'

॥ भाषा ॥

और वह भी चोर और झूठा होने के कारण सुवर्ण की अपेक्षा, निन्दित है इससे सुवर्ण सर्वोत्तम है, और इसी से "चोरी करे, और झूठ बोले" इन विधियों की कल्पना इस अर्थवाद से नहीं हो सकती क्योंकि यह अर्थवाद, उक्तरीति से सुवर्णधारणविधि का अङ्ग हो कर चरितार्थ हो गया तब कैसे "अनृतं न वदेत्" इस निषेधशास्त्र का विरोध इस अर्थवाद में पड़ सकता है । निदान कि यह मन और वचन की निन्दा, उक्त सुवर्णधारणविधि की स्तुति करती है, जो विधि प्रत्यक्ष-पठित है, और चोरी करने का झूठ बोलने का विधिवाक्य, प्रत्यक्ष नहीं है किन्तु उसकी कल्पना करनी पड़ेगी जिसमें कि गौरवदोष स्पष्ट है । और यह विषय दशमाध्याय के "न चेदन्यं प्रकल्पयेत्" इस अधिकरण में स्पष्ट है ॥ ११ ॥

और उसी पूर्वपक्षसूत्र से "धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इस अर्थवाद पर जो प्रत्यक्षविरोध दिखलाया गया उसका उत्तर "दूरभूयस्त्वात् १२" यह सूत्र है, जिसका यह अर्थ है कि अधिक दूरस्थ होने से दिन में धूम ही देख पड़ता है न कि वन्हि, इसी से अग्नि का न देखपड़ना कहने में प्रत्यक्ष से कोई विरोध नहीं है ॥ १२ ॥ (हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं वा नहीं) तथा उसी सूत्र से "नचैतद्विद्मो ब्राह्मणा वयमब्राह्मणा वा" (हम नहीं जानते कि हम ब्राह्मण हैं वा अन्य) इस अर्थवाद में जो ब्राह्मणत्व के प्रत्यक्ष होने से विरोध कहा गया है उसके वारणार्थ "स्त्र्यपराधात्कर्तुश्च पुत्रदर्शनम्" ॥ १३ ॥ यह सूत्र है, जिसका यह अर्थ है कि "प्रवरे प्रव्रियमाणे देवाः पितर इति ब्रूयात्" (जब यजमान अपने गोत्र और प्रवर का यज्ञ में वर्णन करने लगै तब 'देवाःपितरः' इस शब्द को कहै) इस विधि के प्रशंसार्थ ही "नचैतद्विद्मः" यह पूर्वोक्तअर्थवाद है । और यद्यपि ब्राह्मणत्व ज्ञात है तथापि उसका ज्ञान सहज में नहीं होता किन्तु विचार से, इसलिये उस ज्ञान को भी अर्थवाद ने अज्ञान कहा है क्योंकि एक तो स्त्री में व्यभिचाररूपी अपराध का संभव है दूसरे

इत्यादिना दुर्ज्ञानम् इति प्रवरे प्रक्रियमाणे यजमानो वदेद्देवाःपितरइत्यादि तत्प्रशंसार्थमुक्त-मब्राह्मणोऽपि ब्राह्मणो भवति प्रवरानुमन्त्रणेनेति तत्रप्रसिद्धब्राह्मणत्वानामेव ब्राह्मण्यलाभो निष्प्रयोजन इति तदुपपत्त्यर्थमुक्तं नचैतद्विद्मइति । ज्ञायमाने त्वज्ञानवचनं दुर्ज्ञानत्वात् यत् सुखेनाज्ञानं तदज्ञानमेव तच्च स्त्र्यपराधनिमित्तम् सत्यपि च स्त्र्यपराधे यदि मातुरेव क्षेत्रिणो वा पुत्रः स्यात्ततस्तयोःप्रसिद्धजातित्वान्नैव दुर्ज्ञानता भवेत् तयोरप्येवमेवंतत्पूर्वजयोरित्य-नादिन्यायेन जातिरवधार्यैतैव यतस्तु 'माता भस्त्रा पितुः पुत्र' इति स्मर्तॄणां दर्शनम् जनयितुश्च नानाजातित्वोपपत्तिस्तेन वर्णसङ्करः वेदेऽपि चा 'प्रमत्ता रक्षत तन्तुमेन' मिति जातिविच्छेददर्शनं स्त्र्यपराधकर्त्तृपुत्रनिमित्तमेवोपपद्यते अन्यथा ह्यपरिरक्ष्यमाणेऽपि नैव स्वजातितन्तुविच्छेदो भवेत् तेनास्ति प्रशंसाऽवकाश इति निरूढब्राह्मण्यप्रवरसङ्कीर्त्तनात् तत्प्रभवोऽयमिति ज्ञानाद्ब्राह्मणःकृतो भवतीति स्तुतिरिति ।

उक्तस्य फलाभावस्य परिहाराय सूत्रम् ।

विद्याप्रशंसा ॥ १५ ॥

अस्यार्थः गर्गत्रिरात्रवेदनस्येदं फलं किमुत तदनुष्ठानस्येति विद्याया वेदनस्य प्रशंसा

॥ भाषा ॥

यदि उक्तअपराध होने पर भी पुत्र, माता ही का होता अथवा वह माता जिसका क्षेत्र है, पुत्र, उसी क्षेत्री का होता तब तो उस पुत्र के ब्राह्मण होने का ज्ञान सहज ही में हो जाता क्योंकि माता और क्षेत्री की जाति प्रसिद्ध ही होती है यदि उसमें भी सन्देह हो तो उनके माता पिता की जाति के निश्चय से निश्चय हो सकता है परन्तु "माता भस्त्रा पितुः पुत्रो यतो जातः स एव सः" (माता केवल, भस्त्रा अर्थात् भाथी है पुत्र, जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है उसी का है) इत्यादि स्मृतिवाक्यों से यह निश्चित है कि पुत्र बीजी का, अर्थात् जिसके वीर्य से उत्पन्न होता है उसी का है न कि माता अथवा क्षेत्री अर्थात् उस माता के विवाहित पति का। और बीजी उपपति है जिसका सम्बन्ध अतिप्रच्छन्न होता है तथा उसका वर्ण वा जाति अनेक प्रकार के हो सकते हैं जिन में से किसी एक का निश्चय, क्लेश और अन्वेषण से हो सकता है और वर्णसङ्कर होने की शङ्का भी हो सकती है इसी से वेद में भी कहा है "अप्रमत्ता रक्षत तन्तुमेनम्" (अपनी जाति-रूपी तन्तु की बड़े सावधानी से रक्षा करते जाओ) इत्यादि। इस प्रकार से किसी ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व की शङ्का हो सकती है और जब उस ब्राह्मण की पूर्ववंशपरंपरा के प्रवर ऋषियों (जो कि प्रसिद्ध ब्राह्मण हैं और जिन में उक्त शङ्का का संभव भी नहीं हो सकता) उनके नामों को ले कर अनुमन्त्रण किया जाता है तब यजमान ब्राह्मण में उक्त शङ्का नष्ट ही हो जाती है और ब्राह्मणत्व का दृढनिश्चय हो जाता है इसी से ऐसा कहा जाता है कि 'अब्राह्मण भी प्रवर के अनुमन्त्रण से ब्राह्मण हो जाता है' और "नचैतद्विद्मः" यह उक्त अर्थवाद, प्रवरानुमन्त्रण की प्रशंसामात्र करता है कि प्रवरानुमन्त्रण में यह शक्ति है कि "जो ब्राह्मण नहीं है उसको भी ब्राह्मण कर देता है"। वास्तविक में ब्राह्मणत्वादिजाति प्रत्यक्षसिद्ध है जैसा कि "शास्त्रदृष्टविरोधाच्च" २ । इस पूर्वपक्ष-सूत्र पर पूर्व ही उपपादन हो चुका है।

"तथाफलाभावात् ३ (पृ०२११)" इस पूर्वपक्षसूत्र से जो यह आक्षेप किया गया था कि "शोभतेऽस्य मुखं य एवं वेद" (जो पूर्वोक्त विषय को जानता है उसका मुख सुन्दर हो जाता है) यह

तद्द्वारा क्रतुस्तुतिरिति ॥ १५ ॥

शा० 'तथाफलाभावात्' इत्यत्र उदाहृतं 'शोभतेऽस्य मुखम्' इति गर्गत्रिरात्रविधेराकाङ्क्षितत्वाच्छेषः वेदानुमन्त्रणस्य च 'आऽस्य प्रजायां वाजी जायते' इति शेषः मुखशोभा वाजिमत्त्वं च गुणवचनत्वात् गौणः शब्दः शोभते इव शिष्यैरुद्वीक्ष्यमाणम् कुले सन्तताध्ययनश्रवणान्मेधावी जायते इति स प्रतिग्रहादन्नं प्राप्नोति इति ।

वा० अध्ययनविधिशेषत्वादफलविधिः सन् यथाविज्ञातमुखशोभावाजिमत्त्वानुवादो विज्ञायते नचैष एव प्रकारो मुखशोभायाः संस्थानं रमणीयता लावण्यं चेति, स्त्रीविषयं ह्येतत् विदुषां पुनः पदवाक्यन्यायोद्गारि मुखं शोभते तेनात्मना मुख्ययैव वृत्त्या शोभते पुत्रश्च वाजवान्ब्रह्मवर्चसद्वारेण अथापि गौणता तथापि स्तुतिपरत्वाददोष इति ॥ १५ ॥

पूर्णाहुत्या सर्वे कामा इति शेषकर्मवैयर्थ्यस्य परिहाराय सूत्रे—

सर्वत्वमाधिकारिकम् ॥ १६ ॥

अस्यार्थः श्रूयमाणं सर्वत्वमाधिकारिकम् औपचारिकम् यथा सर्वमन्नं शुद्धमित्यत्र सर्वपदं गेहस्थान्नमात्रपरं तथा सर्वपदं प्रकृतक्रतुसाध्यफलपरम् यच्च क्रतुसाध्यं फलं तत्पूर्णाहुत्यनुष्ठानेन विना न भवतीति पूर्णाहुतिविधिस्तावक इति ॥ १६ ॥

अत्रापरितुष्यन् समाधानान्तरमाह—

फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यात् ॥ १७ ॥

अस्यार्थः फलस्य स्वर्गादेः कर्मतः क्रियया निष्पत्तेः तेषां कर्मणां परिमाणतः फले

॥ भाषा ॥

अर्थवाद झूठा है, क्योंकि कुत्सितमुख, उक्त ज्ञान से सुन्दर नहीं होता, उसका उत्तर "विद्याप्रशंसा १५" यह सूत्र है इस का यह अर्थ है कि उक्त अर्थवादवाक्य का यह तात्पर्य है कि मुख की शोभा तीन ही प्रकार की नहीं होती कि गढ़न्त अच्छी हो १ वर्ण अच्छा हो २ और चमक हो ३ क्योंकि ये शोभाएं प्रायः स्त्रियों के मुख पर वर्णन की जाती हैं और विद्वानों के मुख की शोभा तो, व्याकरण, न्याय, मीमांसा के व्याख्यानोद्गार से होती है इसी से उक्त ज्ञान से मुख की शोभा होती है । इस रीति से उक्त अर्थवाद मिथ्या नहीं है ।

"आनर्थक्यात् ४ (पृ० २१२)" इस पूर्वपक्षसूत्र से जो यह आक्षेप किया गया था कि "पूर्णाहुतिमुत्तमां जुहोति" (यज्ञान्त में पूर्णाहुति होम करै) यह विधि है और "सर्वमेवाप्नोति" (सबी फल पाता है) यह अर्थवाद है यदि यह सत्य माना जाय तो पूर्णाहुति से अन्य, सब यज्ञकर्म ही व्यर्थ हो जायेंगे, इस आक्षेप के उत्तर में दो सूत्र हैं जिनमें प्रथम, "सर्वत्वमाधिकारिकम् १६" है । इसका अर्थ यह है कि जैसे यह पूछा कि घर में जो अन्न है वह शुद्ध है ? उत्तर दिया कि 'सब अन्न शुद्ध है' इस उत्तरवाक्य में 'सब' शब्द का घर में रखा अन्न ही अर्थ है न कि बाहर का भी, वैसे ही जिस यज्ञ में जो पूर्णाहुति है उसी यज्ञ का सब फल उस पूर्णाहुति से मिलता है न कि अन्य यज्ञ का भी । अर्थात् पूर्णाहुति के बिना उस यज्ञ का फल नहीं होता, यही तात्पर्य अर्थवाद का है । इसी से यह अर्थवाद पूर्णाहुतिविधि की प्रशंसा करता है । दूसरा यह है कि "फलस्य कर्मनिष्पत्तेस्तेषां लोकवत्परिमाणतः फलविशेषः स्यात् १७" अर्थ इसका यह है कि यागादि कर्म से स्वर्गादि फल होते हैं, छोटा वा बड़ा जैसा याग हुआ उससे वैसा ही छोटा वा बड़ा फल होता है ।

विशेषो लघुगुरुभावः स्यात् लोकवत् लोकेऽल्पक्रियायाऽल्पभृतिः गुरुत्वे कर्मणः भृत्याधिक्यम् तथा पूर्णाहुत्या अल्पकालभोग्यः स्वर्गः ज्योतिष्टोमेन चिरभोग्य इति न शेषवैयर्थ्यमिति ॥ १७ ॥

शा० अन्वारुह्यवचनमिदं यद्यपि विधिः तथापि अर्थवत्ता परिमाणतः सारतो वा फलविशेषात् इति ।

वा०तच्चैतत्समानस्वर्गादिफलेष्वग्निहोत्रादिषूपयोक्ष्यत इत्युपन्यस्तं साधनानुरूपत्वात्साध्यानाम् सर्वे हि कामाः पूर्णाहुत्याऽवाप्यमानाः स्तोकस्तोकाः प्राप्यन्ते तत्र फलभूमाऽर्थिनः कर्मान्तरविधिरर्थवान् भविष्यतीति स्थिते चोद्यते युक्तं लोके कृष्यादिफलानां प्रत्यक्षावगतत्वात्साधनानुरूपं जन्म पूर्णाहुत्यादिषु त्वत्यन्तशास्त्राधीनत्वादविशेषश्रुते फले किंमूला विशेषकल्पना नह्यग्निहोत्रज्योतिष्टोमस्वर्गयोः कश्चिद्विशेषः श्रूयते नचानुमानमीदृशे विषये समर्थम्, तदभिधीयते विधिसामर्थ्यादेवेदं सिद्धम् कथम् यदि ह्यल्पान्महतश्च कर्मणः समं फलं जायेत ततोऽ 'र्केचेन्मधु विन्देते' त्यनेनैव न्यायेनाल्पेन सिद्धे महति न कश्चित्प्रवर्त्तेत तत्र विधिशक्तिबाधः स्यात् अविहतशक्तिस्तु सन् 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वा दि' ति विधिरेव फलाधिक्यमङ्गीकरोति अतो यथा विश्वजिदादौ फलसद्भावः प्रमाणवानेवमिह तद्विशेष इति ।

॥ भाषा ॥

जैसे लोक में छोटे काम से थोड़ा और बड़े काम से बहुत वेतन मिलता है इसी रीति से पूर्णाहुति मात्र से अल्पकाल तक स्वर्गभोग होगा और ज्योतिष्टोम से चिरकाल तक । तात्पर्य यह है कि जो फल ज्योतिष्टोम के हैं वे सब यद्यपि पूर्णाहुति से भी थोड़े २ काल तक होते हैं क्योंकि उक्त अर्थवाद का यही अर्थ है परन्तु उन फलों का चिरकालस्थायी होना ज्योतिष्टोम ही का प्रयोजन है इस से वह व्यर्थ नहीं हो सकता ।

प्रश्न—लोकप्रसिद्ध कृषि सेवा आदि कर्म तो प्रत्यक्षसिद्ध हैं और उनका फल भी प्रत्यक्षसिद्ध ही है इससे उसका न्यूनाधिकत्व भी कर्म के न्यूनाधिकत्व के अनुसार हो सकता है परन्तु अग्निहोत्र और ज्योतिष्टोम आदि का स्वर्गरूपी फल वेद ही से सिद्ध है न कि अन्य प्रमाण से, और वेद में उनके फलों का न्यूनाधिकत्व नहीं कहा है तथा ऐसे ही ज्योतिष्टोम और पूर्णाहुति के फलों का न्यूनाधिकत्व भी वेद में नहीं कहा है । और ऐसे विषय में निर्णय करने का सामर्थ्य अनुमान का भी नहीं है, तब किस के बल से फलों में न्यूनाधिकत्व की कल्पना की जायगी ? ।

उत्तर—विधिसामर्थ्य ही से फलों के उक्त न्यूनाधिकत्व की कल्पना होगी क्योंकि यदि बड़े कर्म के फल का लाभ, छोटे कर्म से हो जाय तो बड़े कर्म में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी कौन ऐसा मूर्ख है कि जो वराटिका (कौड़ी) से लभ्य पदार्थ को स्वर्णकार्षापण से कीनता (खरीदता) है और जब किसी की प्रवृत्ति ही न होगी तब उस बड़े कर्म का विधान व्यर्थ ही हो जायगा, इसी से बड़े और छोटे कर्म के फलों में अवश्य ही विशेष सिद्ध होता है, तथा जैसे विश्वजित् याग का विधान ही वेद में है परन्तु फल नहीं कहा है तब भी विधानसामर्थ्य से स्वर्गरूपी फल की कल्पना होती है वैसे ही बड़े कर्म के विधानसामर्थ्य ही से उसके फल में छोटे कर्म के फल की अपेक्षा आधिक्य की कल्पना होती है और यह भी उसी से सिद्ध होता है कि स्वर्गरूपी फल भी अपने स्वरूप वा काल वा दोनों के अनुसार छोटा और बड़ा अनेक प्रकार का होता है न कि एक ही प्रकार का ।

अवशिष्टस्याक्षेपद्वयस्य परिहाराय सूत्रम्—

अन्त्ययोर्यथोक्तम् ॥ १८ ॥

अस्यार्थः अन्त्ययोः अभागिप्रतिषेधात् अनित्यसंयोगादितिसूत्रयोः समाधानम् यथोक्तं पूर्वोक्तं ज्ञेयम् स्वार्थे अप्रामाण्येऽपि 'रुक्ममुपदधाती' तिविधेयस्तावकतया प्रावाहणिरित्यस्य वायुपरत्वं चोक्तमिति ॥ १८ ॥

शा० अभागिप्रतिषेधात् इत्यादावुदाहृतं 'न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यो नान्तरिक्षे न दिवि' इति 'हिरण्यं निधाय चेतव्यम्' इत्याकाङ्क्षितत्वात् अस्य विधेः शेषः पृथिव्यादीनां निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था असति प्रसङ्गे प्रतिषेधो नित्यानुवादः यच्च अनित्यदर्शनं 'बबरः प्रावाहणिरकामयत' इति तत् परिहृतम् अर्थवादाक्षेपेण पुनरुत्थितम् इदानीमर्थवादप्रामाण्ये तेनैव परिहरिष्यते इति ।

वा० यथा वाङ्मनसयोर्निन्दा हिरण्यस्तुत्यर्था तथा शुद्धपृथिवीनिषेधः प्रक्लृप्तावर्थवादः स्यात् इत्येवं हिरण्यनिधानस्तुत्यर्थो न प्रतिषेधमात्रफलः नान्तरिक्षे न दिवीत्यौचित्येन शुद्धपृथिवीनिषेधसमर्थनायैव यथाऽन्तरिक्षे दिवि वा चयनं न प्रसिद्धं तथा हिरण्यरहितायां पृथिव्यामिति स्तवनम् अनित्यसंयोगो गतार्थः परंतु श्रुतिसामान्यमिति । प्रयोजनं रात्रिसत्रे पूर्वपक्षे स्वर्गःफलं स्यादिति सिद्धान्ते त्वर्थवादस्थमेव फलम् इति ।

अत्रायं निष्कर्षः । अध्ययनविधिबलादर्थवादानां प्राशस्त्यमप्राशस्त्यं चेति द्वयं यथायथं लक्ष्योऽर्थः तत्रैव च तेषां तात्पर्यं मुख्यमिति 'विधिनात्वि' ति सिद्धान्तसूत्रव्याख्यानावसरे निपुणतरमुपपादितमधस्तात् येषु चार्थवादेषु निन्दापरत्वं न घटते तेषां सर्वप्रकाराणामेव प्रशस्तत्वे तात्पर्यमिति केचिदप्यर्थवादाः प्रशस्तत्वाप्रशस्तत्वलक्षकतारूपाभ्यां धर्माभ्यामुपपादितं द्वैराश्यं नातिक्रामन्तीति "निन्दार्थवादव्यतिरिक्तेषु सर्वेष्वर्थवादेषु प्रशंसार्थत्वमवि-

॥ भाषा ॥

"अभागिप्रतिषेधात (पृ०२१२)" "अनित्यसंयोगात (पृ०२१२)" इन दो पूर्वपक्षसूत्रों से जो आक्षेप किये गये उनका उत्तर यह सूत्र है कि "अन्त्ययोर्यथोक्तम् १८" इसका यह अर्थ है "नान्तरिक्षे चिन्वीत" (आकाश में अग्नि का स्थापन न करे) यह अर्थवाद "रुक्ममुपदधाति" (सुवर्णप्रतिमा का स्थापन कर उस पर अग्निचयन करे) इस विधि की स्तुति करता है इस से उसका यह तात्पर्य है कि जैसे अन्तरिक्ष में अग्निस्थापन नहीं होता वैसे ही विना सुवर्ण रक्खे केवल पृथिवी में भी अग्निस्थापन नहीं होता, सुवर्ण ऐसा प्रशस्तपदार्थ है और "बबरः प्रावाहणिरकामयत" (प्रवाहण के पुत्र बबर ने इच्छा किया) इस अर्थवाद से वेद के अनित्य होने के आक्षेप का परिहार "परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम्" (पृ०१५०) इस सूत्र से हो चुका है । और आगे चल कर यह भी सिद्ध किया जायगा कि 'अकामयत' आदि में 'त' आदि का भूतकाल अर्थ नहीं है ।

यहां निचोड़ यह है कि इस उक्त इतने बड़े अर्थवादाधिकरण में मीमांसाचार्य जैमिनिमहर्षि के आन्तरिकतात्पर्य का अतिसंक्षिप्त सारांश यह है कि उक्त अध्ययनविधि के बल से अर्थवादवाक्यों का कहीं प्रशंसा और कहीं निन्दा, यथायोग्य लक्ष्य अर्थ है और उसी में उनका मुख्यतात्पर्य है । तथा जिन अर्थवादवाक्यों का निन्दा में मुख्यतात्पर्य घटित नहीं हो सकता उन सब का किसी न किसी प्रकार से स्तुति ही में तात्पर्य है । इसी से कोई अर्थवादवाक्य ऐसा नहीं है कि जिस का

शिष्टम्" इति शङ्करभट्टेनापि निर्णीतम् युक्तंचैतत् विधिनिषेधात्मिकयोः शब्दभावनयोर्यथाक्रमं प्रवृत्तिनिवृत्तिफलकतया प्रशंसानिन्दयोरेव तदनुगुणत्वात् विधेयनिषेध्यधर्माधर्मरूपक्रियागतयोः प्रशस्तत्वाप्रशस्तत्वयोः शब्दतदुपजीविप्रमाणातिरिक्तप्रमाणागोचरतया तद्बोधकतयैव निरुक्तपूर्वं वेदत्वमर्थवादानामुपपद्यतेतराम् अन्यथा वायुक्षेपिष्ठत्वादीनां प्रत्यक्षादिगोचरतया तद्बोधमात्रतात्पर्यकत्वे स्वीक्रियमाणे वेदत्वमेव तेषां भज्येत आपद्येत च गृहीतग्राहित्वलक्षणमप्रामाण्यमप्रयोजनकत्वं च एवंच श्रुतमात्रेभ्योऽर्थवादेभ्यः शब्दशक्तिस्वाभाव्याद्वायुक्षेपिष्ठत्वादिरूपस्य वाच्यार्थस्य प्रत्ययोदयेऽपि न तदंशमात्रे कथंचिदर्थवादानां वेदत्वम् तस्यार्थस्यार्थवादमुख्यतात्पर्य्यविषयत्वाभावात् लौकिकप्रमाणगोचरत्वाच्चेति तादृशार्थमात्रस्याबाधो नार्थवादानां वेदत्वं प्रामाण्यं वोपपादयितुमीष्टे बाधिताभ्यामपि गुणदोषाभ्यामारोपितमात्राभ्यां स्तुतिनिन्दयोः प्रवृत्तिनिवृत्त्योश्चोपपत्तेः सार्वलौकिकत्वात् एवंविधे स्थले हि गौणार्थे लक्षणा प्रशस्तत्वाप्रशस्तत्वयोस्तु लक्षितलक्षणेति सिद्धान्तः

॥ भाषा ॥

स्तुति वा निन्दा में मुख्यतात्पर्य न हो। और यह बात मीमांसाबालप्रकाश नामक ग्रन्थ में भी स्पष्ट कही हुई है। तथा ठीक भी यही है, क्योंकि विधिरूपी शब्दभावना प्रवृत्ति कराती, और निषेधरूपी, निवृत्ति कराती है। और जैसे प्रवृत्ति के अनुगुण स्तुति है वैसे निवृत्ति के अनुकूल निन्दा है। विधेयक्रियारूपी धर्म का उत्तम होना और निषेध्यक्रियारूपी अधर्म का अधम होना, वेद और उसके अनुसारी प्रमाण से अन्यप्रमाण के द्वारा ज्ञात नहीं हो सकता इसी से उस उत्तमता और अधमता के बोधक अर्थवादवाक्यों में पूर्वोक्त वेदलक्षण का समन्वय होता है, नहीं तो अर्थवादवाक्यों का वाच्यार्थ लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणों से भी गम्य होते हैं इस से यदि केवल वाच्यार्थ ही में उनका तात्पर्य होता तो वे वेद कहलाने से भी हाथ धो बैठते तथा लौकिकवाक्यों के नाई केवल अनुवादक हो कर अपने मुख्य प्रमाणतापद से भी प्रच्युत और व्यर्थ भी हो जाते। इसी से अर्थवादवाक्यों के श्रवणमात्र से केवल वैयाकरण आदि पुरुषों को शब्दस्वभाव के अनुसार यद्यपि वाच्यार्थ का बोध होना अनुभवसिद्ध भी है तथापि केवल वाच्यार्थ के बोध कराने से अर्थवादवाक्य, वेद नहीं कहला सकते क्योंकि एक तो वाच्यार्थ में उनका मुख्यतात्पर्य ही नहीं है दूसरे यह कि अक्षरार्थ का बोध, शब्द और शब्दानुसारी प्रमाण से अतिरिक्त अर्थात् केवल प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भी हो सकता है और जब अक्षरार्थ में अर्थवादों का मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तथा उसके बोध कराने मात्र से वे वेद नहीं कहला सकते, तब अर्थवादों के अक्षरार्थ की सत्यता से उनकी प्रमाणता और वेदता में कोई उपयोग नहीं है क्योंकि आरोपितगुणों से भी स्तुति होने पर पुरुषों की प्रवृत्ति और आरोपितदोषों से निन्दा होने पर निवृत्ति लोकानुभव से सिद्ध है। तथा जब प्रवृत्ति निवृत्ति ही अर्थवादों का प्रयोजन है तब गुणों और दोषों की सत्यता से कोई प्रयोजन नहीं है तथा ऐसे ही स्थल में (जहां कि अर्थवादों का अक्षरार्थ बाधित होता है) किसी गौण अर्थ में अर्थवादों की लक्षणा, और प्रशंसा वा निन्दारूपी अर्थ में लक्षितलक्षणा होती है। यही सिद्धान्त "गुणवादस्तु" (पृ० ३०५) इस पूर्वोक्त सूत्र से जैमिनिमहर्षि का है और स्तुति निन्दा रूपी अर्थ, न कदापि बाधित होता और न वेद वा उसके अनुसारी प्रमाणों को छोड़ कर किसी अन्य प्रमाण से कदापि बोधित हो सकता। इसी से अर्थवादभाग का प्रमाण होना और वेद होना ये दोनों अटल सिद्ध हैं और इस विषय को "गुणवादस्तु" इस सूत्र के अपने व्याख्यान

तथाचोपन्यस्तं सूत्रम् । गुणवादस्तु इति । तथाच तादृशस्य लक्षितलक्ष्यार्थस्याबाधितत्वा-न्मानान्तरागम्यत्वाच्च सर्वेष्वेवार्थवादेषु वेदत्वप्रामाण्ययोरुपपत्तिः एवम् मुख्यतात्पर्याविषयस्य वाच्यार्थमात्रस्य बाधोऽपि न तेषां ते विहन्तुमलम् नहि लौकिकानामपि —

पर्वताग्रे रथो याति भूमौ तिष्ठति सारथिः । भ्रमंश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति ॥ १ ॥

इत्यादि प्रहेलिकावाक्यानां मुख्यतात्पर्याविषयस्य वाच्यार्थस्य बाधेऽपि क्वचित्केन-चिदप्रामाण्यं व्यवह्रियते मुख्यतात्पर्यविषयस्य लक्ष्यार्थस्य बाधविरहितत्वात् । प्रत्युतैतादृश-वाक्यमुख्यतात्पर्यविषयार्थप्रतिभाशालिनां पाण्डित्यमेव व्यपदिश्यते लोकैः यथा—

पञ्चभर्त्री न पाञ्चाली द्विजिह्वा नच सर्पिणी । श्यामास्या नच मार्जारी यो जानाति स पण्डितः १॥

इत्यादौ । बोधस्तु वाच्यार्थस्यापि शब्दशक्तिस्वाभाव्यादुल्लसन्नाञ्जसा निरस्यत इति त्वन्यदेतत् । अस्मादेव च बोधाद्बाधितार्थादपि चमत्कृतिरनुभूयते लोके । अमीषां वाच्या-र्थएव सन्दिहाना उद्विजमानाश्चाक्षिपन्ति च बालाः । तथैव च बाधितवाच्यार्थेष्वपि केषु चिदर्थवादेषु यदि मुष्टिना गगनमिव गृह्णाना आधुनिका वेदबाह्या अनधीतशास्त्रत्वादर्थ-वादमुख्यतात्पर्यानभिज्ञा आक्षेपरूक्षाण्यक्षराणि शिष्टजनसमक्षमाचक्षते प्रत्याचक्षते च-

॥ भाषा ॥

में मैंने पूर्व हीं अर्थवादाधिकरण में स्पष्टरूप से वर्णन कर दिया है। ऐसे ही जब अक्षरार्थ में अर्थ-वादों का मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तब अक्षरार्थ का मिथ्या होना भी अर्थवादों के प्रमाण होने वा वेद होने में कदापि बाधक नहीं हो सकता क्योंकि जब "पर्वताग्रे रथोयाति भूमौ तिष्ठति सारथिः। भ्रमंश्च वायुवेगेन पदमेकं न गच्छति"॥ (पहाड़ की चोटी पर रथ चलता है, और सारथी भूमि पर खड़ा है यद्यपि रथ वायु के नाईं बेग से चलता है तथापि अगाड़ी को एक पग भी नहीं खसकता) इत्यादि लौकिकपहेलियों के अक्षरार्थों के मिथ्या होने पर भी कहीं कोई इन पहेलियों को अप्रमाण नहीं कहता और अप्रमाण न कहने में कारण भी यही होता है कि उनका अपने अक्षरार्थ में जब मुख्यतात्पर्य ही नहीं है तब उसके मिथ्या होने से उनकी प्रमाणता में कोई हानि नहीं पहुंच सकती बल्क उलटे उनके, "पर्वत अर्थात् कुम्हार की खूंटी के अग्र पर रथ अर्थात् कुलालचक्र चलता है और उसका सारथी अर्थात् चलानेवाला कुलाल भूमि पर रहता है और रथ वायु के नाईं बेग से घूमता है परन्तु अगाड़ी को एक पद भी नहीं चलता" इत्यादि लक्ष्यार्थ के सत्य होने से ये पहेलियां लोक में प्रमाण गिनी जाती हैं। और इतना ही नहीं है कि वे प्रमाण गिनी जाती हैं किन्तु उनके लक्ष्यार्थों के समझनेवाले मनुष्य की प्रशंसा भी होती है कि यह बुद्धिमान् है जैसे "पञ्चभर्त्री न पाञ्चाली द्विजिह्वा नच सर्पिणी। श्यामास्या नच मार्जारी यस्तां वेद स पण्डितः"॥ (जिसके पांच भर्ता हैं परन्तु वह द्रौपदी नहीं है, और दो जिह्वा हैं किन्तु वह सर्पिणी नहीं है, तथा उसका मुख श्याम है परन्तु वह बिल्ली नहीं है, उस (लेखनी) को जो समझता है सो पण्डित है) इत्यादि। तात्पर्य यह है कि शब्दशक्ति के अनुसार इन पहेलियों से वाच्यार्थ का बोध होता ही है और उस मिथ्या अर्थ के बोध से भी श्रोताओं के हृदय में चमत्कार भी होता है और उनके वाच्यार्थों के ठीक न बैठने से बालक सब यह भी कहते हैं कि यह झूठा है, ये सब दूसरी बातें हैं, परन्तु वाच्यार्थ के मिथ्या होने पर भी ये पहेलियां अप्रमाण नहीं गिनी जातीं क्योंकि वाच्यार्थ में इनका मुख्यतात्पर्य ही नहीं है और लक्ष्यार्थ के सत्य होने से प्रमाण गिनी जाती हैं क्योंकि

तान् केचन प्रज्ञाचक्षुषो वाच्यार्थाबाधदुराग्रहग्रहवशंवदा वैदिकंमन्या मन्यामुन्नमय्य 'नास्तिकाःस्थे' त्यादिभीरूक्षतरैरक्षरनिकरैः, सन्धुक्षतेतरां चायमाक्षेपप्रत्याक्षेपरूप उभयोः पक्षप्रतिपक्षयोर्महामोहमयः कलहकोलाहलः। तदा, को नाम तत्रार्थवादानामपराधः। नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यतीति न्यायात्। उपन्यस्तचरे ऽर्थवादाधिकरणे वाच्यार्थबाधोद्धारधोरणीसम्प्रधारणा तु क सद्भ्यांगुणदोषाभ्यां स्तुतिनिन्दे, क चासद्भ्यामप्यारोपिताभ्यां ताभ्यामित्येतावन्मात्रनिर्णयायैव। अतएव च 'परोक्षप्रियाइव हि देवाः' इति श्रुतिरपि केवललौकिकप्रमाणागोचरार्थतात्पर्य्यपर्यवसानं प्रशंसन्ती प्रसादमासादयति। अथारोपिताभ्यामपि गुणदोषाभ्यां केषांचिदर्थवादानां स्तुतिनिन्दापरत्वेऽभ्युपगम्यमाने प्रतारणया प्रवर्त्तयितॄणां निवर्त्तयितॄणां च नृणामिव तेषां वञ्चकत्वापत्तिरिति चेत्। स्यादप्येवं यदि वञ्चका इव ते श्रमबहुले स्वल्पफले, निष्फले, विरुद्धफले वा कर्मणि पुंसः प्रवर्त्तये-

॥ भाषा ॥

लक्ष्यार्थ ही में इनका मुख्यतात्पर्य है। जब लौकिकवाक्यों में भी यह दशा है तब किसी २ बैदिक अर्थवादवाक्य का वाच्यार्थ, यदि मिथ्या भी हो तो उसके प्रमाण होने में कोई सन्देह ही नहीं हो सकता क्योंकि जिस में उसका मुख्यतात्पर्य है वह निन्दा वा स्तुतिरूपी उसका लक्ष्यार्थ तो किसी प्रकार से बाधित नहीं है किन्तु सर्वथा सत्य ही है। और यद्यपि जैसे पहेलियों के गूढ अर्थों के न समझनेवाले धृष्ट बालक, उनके अर्थों में सन्देह करते २ निश्चय न होने से उद्विग्न हो कर उनको असत्य कह बैठते हैं वैसे ही "बनस्पतयः सत्रमासत" (वृक्ष यज्ञ करते हैं) इत्यादि कतिपय अर्थवादों के बाधित वाच्यार्थों को झूठा समझ कर उनके सत्य लक्ष्यार्थों के न समझने से शास्त्रों के अनपढ़ वेदबाह्य पण्डितमानी मनुष्य, आकाश को मूठ में पकड़ना चाहते हुए, शिष्टजनों के समक्ष, 'बेद मिथ्या ही है' इत्यादि आक्षेप से रूक्ष अक्षर प्रायः बोल बैठते हैं और उन अर्थवादों के वाच्यार्थ की सत्यता पर दुराग्रह करने वाले वैदिकमानी प्रज्ञाचक्षु (अन्धा) कोई २ मनुष्य गर्दन ऊंची कर 'तुम नास्तिक हो' इत्यादि रूक्षतर अक्षरों को उत्तर में कह भी बैठा करते हैं और उन दोनों में पक्ष, प्रतिपक्ष, ले कर महामोह से आक्षेप और प्रत्याक्षेप रूपी कलहकोलाहल भी हुआ करता है तथापि उस कलह में उक्त अर्थवादों का क्या अपराध है, क्योंकि गड़े हुए खूँटे (कीले) पर यदि अन्धे ठोकर खा कर गिरते हैं तो क्या खूंटा अपराधी होता है ?। और पूर्वोक्त अर्थवादाधिकरण में जो वाक्यार्थों के बाध का उद्धार किया गया है उसका भी यह तात्पर्य नहीं है कि सबी वाच्यार्थ सत्य ही होते हैं कोई वाच्यार्थ मिथ्या नहीं है, किन्तु वह उद्धार इस बिबेक के लिये है कि किस अर्थवाद में सच्चे गुण वा दोष से स्तुति वा निन्दा की गई है. और किस अर्थवाद में आरोपित गुण वा दोष से, क्योंकि प्रत्येक बेदवाक्यों के दो प्रकार के अर्थ होते हैं एक, दिखलाने के दूसरे, मुख्यतात्पर्य वाले। इसी से बेद ही में कहा है कि "परोक्षप्रिया हि देवाः" (देवता लोग वाक्यों के उन्हीं अर्थों से प्रसन्न होते हैं जो कि लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणों के गोचर नहीं, अर्थात् गूढतात्पर्यवाले हैं)।

प्रश्न—यदि कोई २ अर्थवाद आरोपित गुण वा दोष से भी स्तुति वा निन्दा कर प्रवृत्ति वा निवृत्ति कराते हैं तब तो वे वञ्चना ही करते हैं, क्योंकि ऐसे काम करने वाले ही पुरुष को लोक में वञ्चक कहते हैं ?

उत्तर—हां ! वञ्चक अवश्य ही होते किन्तु यदि निष्फल कर्म में, वा ऐसे कर्म में

गुर्बलवदनिष्टानुबन्धिनो वा कर्मणस्तान् निवर्त्तयेयुः। नत्वेवम्, इह हि स्वीयेषु भाव्यकरणे-तिकर्त्तव्यतारूपेषु त्रिष्वप्यंशेषु सर्वथैवाविसंवादिनीमार्थीं भावनामुपधाय विधय एव केवला, इष्टफले कर्मणि पुंस इष्टसाधनतां, नञुपहिताश्चानिष्टसाधनतां पारमार्थिकीमेव बोधयित्वा शब्दभावनया तत्र ततश्च यथायथं प्रवर्त्तयन्ति निवर्त्तयन्ति च, उपकुर्वते चेतिकर्त्तव्यताभूय स्तुतिनिन्दाद्वारेण शब्दभावनायामेवार्थवादा इति क्व प्रतारणाशङ्कावकाश इति ।

अयंचार्थ उत्तरमीमांसकानामपि सम्मतः । तथाच १ अध्याये ३ पादे देवताधिकरणे—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

इतिब्रह्मसूत्रस्थस्य 'अत्रोच्यते विषमउपन्यासः' इतिशारीरकभाष्यस्य व्याख्यानावसरे भामत्याम्-

वाचस्पतिमिश्राः

यत्र तु वाक्यस्यैकस्य वाक्यान्तरेण संबन्धस्तत्र लोकानुसारतो भूतार्थव्युत्पत्तौ

॥ भाषा ॥

जिसमें श्रम अधिक और फल न्यून होता वा ऐसे कर्म में जिसमें इष्टफल के स्थान पर अनिष्टफल होता, प्रवृत्ति कराते, अथवा ऐसे कर्म से निवृत्ति कराते कि जिसमें इष्ट ही फल होता अनिष्ट नहीं, क्योंकि ऐसे ही कर्मों में प्रवृत्ति और ऐसे ही कर्मों से निवृत्ति कराना वञ्चक का काम है परन्तु अर्थवाद ऐसे नहीं हैं क्योंकि सिद्धान्त यह है कि पूर्वोक्त आर्थीभावना अपने भाव्य, करण और इतिकर्तव्यता रूपी तीनों अंशों में सर्वथा अबाधित और सत्य ही होती है । और उसी आर्थीभावना को ले कर वैदिकलिङादिशब्दरूपी विधि, यह बोध कराते हैं कि यज्ञादि कर्म, स्वर्गादिरूपी इष्ट के साधक हैं। और 'न' शब्द के साथ होने से वे ही विधि, निषेधरूपी हो निवारणारूपी आर्थीभावना से यह बोध कराते हैं कि हिंसा आदि, नरकरूपी अनिष्ट के साधक हैं ऐसे बोध करानेवाले ही वाक्य को निषेधवाक्य कहते हैं । और उक्त बोध कराने के अनन्तर विधिवाक्य, अपनी पूर्वोक्त शाब्दीभावना से यज्ञादि कर्मों में पुरुषों की प्रवृत्ति कराते हैं । तथा निषेधवाक्य भी अपनी उक्त शाब्दीभावना से, पुरुषों की हिंसादि कर्मों से निवृत्ति कराते हैं और विधिवाक्य की उक्त शाब्दी-भावना का, अर्थवाद ही इतिकर्तव्यतांश हो कर अपने लक्ष्यार्थरूपी स्तुति वा निन्दा के द्वारा पुरुषों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति में काम आते हैं। ऐसी दशा में जैसे कोई मनुष्य किसी शुभ फल वाले कर्म में आलस्यादिदोष से प्रवृत्त नहीं होता परन्तु गुरू, पिता, आदि उस कर्म के वास्तविक-फल से अधिक आरोपित गुण दिखला कर भी उसकी प्रवृत्ति उस कर्म में कराते हैं और प्रबल-रागादि के वश हो कर यदि कोई, हिंसादि अशुभ कर्म करने को उद्यत होता है तो वास्तविक दोष की अपेक्षा अधिक आरोपित दोष को दिखला कर उस कर्म से उसकी निवृत्ति कराते हैं इस से वे उस पुरुष के वञ्चक नहीं किन्तु शुभचिन्तक ही हैं वैसे ही आरोपितगुणों से स्तुति और आरोपित दोषों से निन्दा करनेवाले जो कोई २ अर्थवाद हैं वे भी पुरुषों के वञ्चक नहीं किन्तु शुभचिन्तक ही हैं । उक्त ये सब बातें वेदान्तदर्शन के भी पूर्णरूप से सम्मत हैं इसी से वेदान्त-दर्शन, अ० १ पा० ३ देवताधिकरण "भावं तु बादरायणोऽस्ति हि" सू० ३८ के शङ्करभाष्य पर "अत्रोच्यते विषमउपन्यासः" इस प्रतीक को ले कर भामती में वाचस्पतिमिश्र ने यह कहा है कि "जहां एक वाक्य का दूसरे वाक्य से सम्बन्ध होता है वहां लोकानुभव के अनुसार वे दोनों वाक्य पृथक् २ अपने २ पदों के अर्थों में परस्परसम्बन्ध का बोध करा कर अपने २

सिद्धायामेकैकस्य वाक्यस्य तत्तद्विशिष्टार्थप्रत्यायनेन पर्यवसितवृत्तिनः पश्चात् कुतश्चिद्धेतोः प्रयोजनान्तरापेक्षायामन्वयःकल्प्यते यथा 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता वायुमेव स्वेन भागधेयेनोपधावति सएवैनं भूतिं गमयति वायव्यं श्वेतमालभेत' इत्यत्र। इह हि यदि न स्वाध्यायाध्ययनविधिः स्वाध्यायशब्दवाच्यं वेदराशिं पुरुषार्थतामनेष्यत् ततो भूतार्थमात्रपर्यवसिता अर्थवादा विध्युद्देशेन नैकवाक्यतामगमिष्यन् तत् स्वाध्यायविधिवशात् कैमर्थ्याकाङ्क्षायां वृत्तान्तादिगोचराः सन्तस्तत्प्रत्यायनद्वारेण विधेयप्राशस्त्यं लक्षयन्ति न पुनरविवक्षितस्वार्थाएव तल्लक्षणे प्रभवन्ति। तथासति लक्षणैव न भवेत् अभिधेयाविनाभावस्य तद्बीजस्याभावात्। अतएव गङ्गायां घोष इत्यत्र गङ्गाशब्दःस्वार्थसंबद्धमेव तीरं लक्षयति नतु समुद्रतीरम् तत् कस्यहेतोः स्वार्थप्रत्यासत्त्यभावात् नचैतत्सर्वं स्वार्थाविवक्षायां कल्पते अतएव यत्र प्रमाणान्तरविरुद्धा अर्थवादा दृश्यन्ते यथा आदित्यो वै यूपो यजमानः प्रस्तरइत्येवमादयः तत्र यथा प्रमाणान्तराविरोधः यथा च स्तुत्यर्थता तदुभयसिद्ध्यर्थं 'गुणवादस्त्वि' ति च 'तत्सिद्धिरि' ति च अमूत्रयत्जैमिनिः तस्मात् यत्र सोऽर्थोऽर्थवादानां प्रमाणान्तरविरुद्धस्तत्र गुणवादेन प्राशस्त्यलक्षणेति लक्षितलक्षणा यत्र तु प्रमाणान्तरसंवादस्तत्र प्रमाणान्तरादि-

॥ भाषा ॥

वाक्यार्थ में समाप्त हो जाते हैं पश्चात् किसी कारण से किसी प्रयोजन की अपेक्षा होने पर उन वाक्यार्थों के परस्पर में सम्बन्ध की कल्पना होती है जैसे "वायु र्वै क्षेपिष्ठा देवता" (वायु शीघ्रकारी देवता है) "वायव्यं श्वेतमालभेत" (श्वेत छाग से वायव्य यज्ञ करे) इन दोनों वेदवाक्यों में, क्योंकि यहां यदि "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह विधिवाक्य इस बात को नहीं बतलाता कि स्वाध्याय, (वेदराशि) पुरुषार्थ का साधक है, तो "वायु र्वै" इत्यादि अर्थवाद, अपने वाच्यार्थ का बोध कर निवृत्त हो जाते तब "वायव्यम्" इत्यादि विधिवाक्यों के साथ उनकी एकवाक्यता न होती और जब अध्ययनविधि ने उक्त बात को बतला दिया तब उक्त अर्थवाद, अपने वाच्यार्थ को कह कर उसी के द्वारा वायुयज्ञरूपी विधेय की प्रशंसा का, लक्षणावृत्ति से बोध कराते हैं। और यदि अपने वाच्यार्थ का बोध न कराएं तो उनकी लक्षणा भी न हो सके क्योंकि वाच्यार्थ के सम्बन्धी ही पदार्थ में लक्षणा होती है, इसी से "गङ्गायां घोषः" (गङ्गा में अहीरपुरा है) इस वाक्य में गङ्गाशब्द से लक्षणावृत्ति के द्वारा गङ्गा ही के तीर का बोध होता है न कि समुद्र के तीर का, क्योंकि वह गङ्गा का सम्बन्धी नहीं है निदान अर्थवादों का अपने वाच्यार्थ में अवश्य ही तात्पर्य है, इसी से जिन अर्थवादों का वाच्यार्थ, अन्य प्रमाणों से विरुद्ध होता है वहां "आदित्यो वै यूपः" (यज्ञस्तम्भ ही सूर्य है) "यजमानः प्रस्तरः" (कुशों की आंटी यजमान है) इत्यादि में उक्त प्रमाणविरोध के परिहार, और यूपादि की स्तुति के लिये "गुणवादस्तु" (मी० अध्या० १ पा० २ सू० १०) और "तत्सिद्धिः" (मी० अध्या० १ पा० ४ सू० २३) ये दोनों जैमिनिमहर्षि के सूत्र हैं। तब ऐसी दशा में जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ, प्रमाणान्तर से विरुद्ध होता है, गुणवाद से प्रशंसा में उस अर्थवाद की लक्षितलक्षणा होती है और जिस अर्थवाद का वाच्यार्थ, प्रमाणान्तर का अनुसारी होता है वह अर्थवाद और वह प्रमाणान्तर, ये दोनों उस वाच्यार्थ का बोध पृथक् २ कराते हैं अर्थात् एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। इतना तो अवश्य होता है कि श्रोता के अनुसार अर्थवादवाक्य अनुवादक होते हैं क्योंकि श्रोता प्रथम २ प्रत्यक्षादिप्रमाणों

थार्थवादादपि सोऽर्थः प्रसिध्यति द्वयोः परस्परानपेक्षयोः प्रत्यक्षानुमानयोरिवैकत्रार्थे प्रवृत्तेः। प्रमात्रपेक्षया त्वनुवादकत्वम् प्रमाताह्यव्युत्पन्नः प्रथमं यथा प्रत्यक्षादिभ्योऽर्थमवगच्छति न तथाऽऽम्नायतः तत्र व्युत्पत्त्याद्यपेक्षत्वात् नतु प्रमाणापेक्षया, द्वयोः स्वार्थेऽनपेक्षत्वादित्युक्तम् नन्वेवं मानान्तरविरोधेऽपि कस्माद्गुणवादोभवति यावता शब्दविरोधे मानान्तरमेव कस्मान्न बाध्यते वेदान्तैरिवाद्वैतविषयैः प्रत्यक्षादयःप्रपञ्चगोचराः कस्माद्वाऽर्थवादवद्वेदान्ता अपि गुणवादेन न नीयन्ते अत्रोच्यते लोकानुसारतो द्विविधो हि विषयः शब्दानाम् द्वारतश्च तात्पर्यतश्च यथैकस्मिन्वाक्ये पदानां पदार्थो द्वारतो वाक्यार्थश्च तात्पर्यतो विषयः एवं वाक्यद्वयैकवाक्यतायामपि। यथेयं देवदत्तीया गौः क्रेतव्येत्येकं वाक्यम् एषा बहुक्षीरेत्यपरम् तदस्य बहुक्षीरत्वप्रतिपादनं द्वारम् तात्पर्यं तु क्रेतव्येतिवाक्यान्तरार्थे। तत्र यद् द्वारतस्तत्प्रमाणान्तरविरोधेऽन्यथा नीयते यथा विषंभक्षयेतिवाक्यं माऽस्यगृहेभुङ्क्ष्वेतिवाक्यान्तरार्थपरं सत् यत्र तु तात्पर्यं तत्र मानान्तरविरोधे पौरुषेयमप्रमाणमेव भवति वेदान्तास्तु पौर्वापर्यपर्यालोचनया निरस्तसमस्तभेदप्रपञ्चब्रह्मप्रतिपादनपरा अपौरुषेयतया

॥ भाषा ॥

ही से अर्थों को जानता है, पश्चात् जब संस्कृतशब्दों से अर्थ को समझने लगा तब वैदिक अर्थवादों के अर्थ को समझता है। इतने मात्र से अर्थवाद प्रत्यक्ष के अनुवादक हो सकते हैं।

प्रश्न—जैसे अद्वैत के विषय में भेदविषयक प्रत्यक्षादिकों का अद्वैत श्रुतियों से बाध होता है वैसे ही 'आदित्यो यूपः' इत्यादि वैदिक अर्थवादों से यूप और आदित्य के भेदग्राही प्रत्यक्षादि प्रमाणों ही का बाध होना चाहिये, तब अर्थवादों ही को दबा कर गुणवाद की कल्पना क्यों की जाती है? और यदि ऐसी ही कल्पना की जाती है तो प्रत्यक्षादि के विरोध से वेदान्तवाक्यों को दबा कर वहां पर भी गुणवाद ही की कल्पना क्यों नहीं की जाती?।

उत्तर—लोकानुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ, दो प्रकार के होते हैं, एक द्वार, दूसरा द्वारी। पदों के वाच्यार्थ, पृथक् २ द्वार कहलाते हैं, और वाक्यार्थ, द्वारी कहलाता है क्योंकि उसी में वक्ता का तात्पर्य होता है और यही रीति वहां भी है जहां दो वाक्यों की एकवाक्यता होती है, जैसे 'यह देवदत्त की गौ, कीनने के योग्य है' यह एक वाक्य है, और 'इसमें दूध बहुत है' यह दूसरा वाक्य है, इस दूसरे वाक्य का दूध बहुत होना द्वार अर्थ है और तात्पर्य इसका पूर्ववाक्य के इस अर्थ में है कि अवश्य कीनने के योग्य है इससे यही अर्थ दूसरे वाक्य का द्वारी अर्थ है। अब न्यायरीति यह है कि उक्त द्वाररूपी अर्थ में यदि प्रमाणान्तर का विरोध पड़ जाय तो वहां उस वाक्य ही को दबा कर गुणवाद की कल्पना होती है जैसे 'इसके घर में भोजन न कर' यह एक वाक्य है 'बरुक जहर खा' यह दूसरा वाक्य है, यहां जहर खाना द्वार अर्थ लौकिक बिवेक के विरुद्ध है इसी से इस दूसरे वाक्य का प्रथमवाक्य ही के अर्थ में गुणवाद की रीति से तात्पर्य है और वही उसका द्वारी अर्थ है और जब द्वारी अर्थ प्रमाणान्तर के बिरुद्ध होता है तभी लौकिकवाक्य अप्रमाण होते हैं। ऐसे ही "आदित्यो यूपः" इत्यादि अर्थवादों का द्वार अर्थ प्रत्यक्षादिप्रमाणों से बिरुद्ध है इसी से वहां गुणवाद माना जाता है, और वेदान्तवाक्य तो अपौरुषेय होने से स्वतःसिद्ध वास्तविक प्रमाण हैं तथा उपक्रमादि छ प्रमाणों के अनुसार ब्रह्माद्वैत ही उनका द्वारी अर्थ है। इसी से उनसे विरोध के कारण प्रत्यक्षादिप्रमाण ही को वास्तविक प्रमाण न मान कर

स्वतःसिद्धतात्विकप्रमाणभावाः सन्तस्तात्विकप्रमाणभावात् प्रत्यक्षादीनि प्रच्याव्य सांव्य-वहारिके तस्मिन् व्यवस्थापयन्ति नचा 'दित्यो वै यूप' इतिवाक्यमादित्यस्ययूपत्वप्रतिपाद-नपरम् अपितु यूपस्तुतिपरम् तस्मात्प्रमाणान्तरविरोधे द्वारभूतो विषयो गुणवादेन नीयते यत्र तु प्रमाणान्तरं विरोधकं नास्ति यथा देवताविग्रहादौ, तत्र द्वारतोऽपि विषयः प्रतीय-मानो न शक्यस्त्यक्तुम् नच गुणवादेन नेतुम् को हि मुख्ये संभवति गौणमाश्रयेदतिप्रस-ङ्गादिति प्रोचुः।

एवंचार्थवादानां स्तुतिनिन्दातिरिक्तस्तद्द्वारभूतोऽर्थो नास्त्येव, लोके बुध्यमानेऽपि च तस्मिन् न तेषां तात्पर्यगन्धोऽपीत्येवाध्वरमीमांसकसिद्धान्त इति केषांचिन्निश्चयो भ्रम एव। यद्यप्यर्थवादानां लक्षणं निरूप्य तत्प्रामाण्यादि निरूपणीयम् तथापि विधिनिषेध-मन्त्रनामधेयोपनिषदन्यवेदभागत्वरूपस्य तस्य सुप्रतिपदत्वादुक्तप्रायं तदिति न तत् पृथक् महर्षिणोक्तमितिध्येयम्।

॥ इत्यर्थवादप्रामाण्यम् ॥

॥ अथ मन्त्राणामुपयोगः ॥

एवं तावदर्थवादानां धर्मे विशेषतः प्रामाण्यमुपयोगश्चावर्णिषाताम् तुल्यन्यायत्वाच्च 'विधिनात्वि' ति पूर्वोपन्यस्तसिद्धान्तसूत्रव्याख्यानेनैव मन्त्राणामपि धर्मे क्रियार्थत्वात्प्रा-माण्यमुपवर्णितमेव वेदितव्यम् ततश्च तेषां धर्मं प्रत्युपयोग एव चिन्तयितुमवशिष्यते। सा च चिन्ता, किं मन्त्राणामुच्चारणमात्रेण क्रियार्थत्वम्? किं वा कर्मसमवेतार्थस्मारकतया तदु-पयोग? इति। तदुपोद्घातिनी च चिन्ता किं मन्त्राणामप्यर्थवादानामिव वाच्यार्थे न मुख्यं तात्पर्यम्? उत तादृशं तात्पर्यमिति?

॥ भाषा ॥

व्यवहारदशा ही में उनकी प्रमाणता मानी जाती है। और जिन अर्थवादों के द्वाररूपी अर्थों में प्रमाणान्तर का विरोध नहीं है क्योंकि वे वेद से अन्य प्रमाण के योग्य ही नहीं हैं जैसे देवशरीर आदि अर्थ, उन अर्थवादों का द्वाररूपी अर्थ तो सत्य ही है तथा उन अर्थवादों के गुणवाद होने का भी कोई कारण नहीं है क्योंकि जब मुख्य अर्थ में कोई विरोध नहीं है तब गौण अर्थ का आश्रयण क्यों किया जाय"। इस भामती के अनुसार अर्थवादों के प्रामाण्य की रीति वही सिद्ध होती है जिसको कि मैं कह चुका हूं और जैमिनिमहर्षि की सम्मति भी उसी रीति में है। और जो लोग यह कहते हैं कि "किसी अर्थवाद का, द्वाररूपी अर्थ में तात्पर्य का लेश भी नहीं होता यही पूर्वमीमांसा का सिद्धान्त है" यह उनका कहना भ्रममूलक ही है।

अर्थवाद का प्रामाण्य समाप्त हो गया।

अब मन्त्रों का उपयोग कहा जाता है—

पूर्वोक्तरीति से धर्म के विषय में अर्थवादों का विशेषरूप से प्रामाण्य और प्रयोजन कहा गया तथा मन्त्रों का प्रामाण्य भी उसी से उक्तप्राय हो गया क्योंकि क्रियार्थ होना प्रामाण्य का कारण है वह अर्थवादों और मन्त्रों में समान ही है इस लिये अब मन्त्रों के प्रयोजन ही का विचार अवशिष्ट रहा जिसका यह स्वरूप है कि केवल पाठमात्र के द्वारा यज्ञों में मन्त्रों का प्रयोजन है? अथवा यज्ञों में उनके अवान्तरक्रियाओं के स्मरण कराने के द्वारा, और इस विचार से भी

अत्रायम् पूर्वपक्षः

'उरु प्रथस्व' त्यादयः क्रियार्था मन्त्रा न स्ववाच्यार्थपराः, क्रियार्थत्वेसत्यविधायकत्वात् अर्थवादवत् मन्त्रोपनिषदि व्यभिचारवारणाय सत्यन्तम् ।

ननु अविधायकत्वमसिद्धम् मन्त्राणां विधायकत्वे बाधकाभावात् ब्राह्मणेष्विव "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च" इत्यादौ यजते ददातीत्याद्याख्यातानां हि संभवत्येव विधायकत्वम् । समिधो यजतीत्यादाविव छान्दसेन व्यत्ययानुशासनेन लिङादिभिन्नलकाराणामपि विधायकत्वदर्शनात् । नच मन्त्रत्वादेवाविधायकत्वम् विषघ्नमन्त्रवत् जपार्थमन्त्रवच्चेति वाच्यम् अनुकूलतर्काभावेनाप्रयोजकत्वात् । नच मन्त्र-

॥ भाषा ॥

प्रथम यह विचार है कि अर्थवादों के नाई मन्त्रों का अपने अक्षरार्थों में मुख्यतात्पर्य नहीं है वा है ?

"यहां यह पूर्वपक्ष है"

"उरु प्रथस्व" (हे पुरोडाश तू बहुत प्रसिद्ध हो) इत्यादि जो क्रियार्थ मन्त्र हैं उनका अपने अक्षरार्थ में मुख्यतात्पर्य नहीं है क्योंकि वे क्रियार्थ होते हुए भी किसी कर्म का विधान नहीं करते. जो २ वैदिकवाक्य क्रियार्थ होते हुए विधायक नहीं होते हैं उनका अपने अक्षरार्थ में मुख्यतात्पर्य नहीं होता, जैसे कि अर्थवादों का, और मन्त्र, क्रियार्थ होते हुए विधायक नहीं हैं इसी से इनका अपने अक्षरार्थ में मुख्यतात्पर्य नहीं है । ईशावास्य उपनिषद् आदि, ज्ञानकाण्ड में पढ़े हुए मन्त्र तो क्रियार्थ नहीं हैं इसी से किसी अर्थ का विधान न करने पर भी उनका अपने वाच्यार्थ में मुख्यतात्पर्य है ।

प्रश्न—प्रथम यही बात कैसे सिद्ध है कि मन्त्र, किसी क्रिया का विधान नहीं करते, क्योंकि मन्त्रों के विधायक होने में कोई बाधक नहीं हो सकता जैसे "समिधो यजति" (समिधनामक याग करै) इत्यादि ब्राह्मणवाक्य, विधायक होते हैं वैसे ही "देवांश्च याभिर्यजते ददाति च" (जिन गौओं से देवताओं का यज्ञ करता है और जिन गौओं का दान करता है) इत्यादि मन्त्रवाक्य क्या विधायक नहीं हो सकते और जैसे "यजति" इस क्रियापद का 'याग करै' यह अर्थ होता है वैसे ही क्या 'यजते' और 'ददाति' का याग करै, दान करै, यह अर्थ नहीं हो सकता ?

उत्तर—मन्त्र होना ही विधायक होने में बाधक है इसी से मन्त्र विधायक नहीं होते, जैसे जपार्थ मन्त्र और विषघ्न मन्त्र ।

प्रश्न—यह क्या कोई वेदवाक्य है कि 'मन्त्र विधायक नहीं होते' वा लोक का अनुभव है ? क्योंकि यदि ऐसा होता तो यह विचार ही नहीं उठता कि मन्त्र विधायक हैं वा नहीं ?

उत्तर—'स्वर्गकामो यजेत' आदि विधिवाक्य, ब्राह्मणभाग ही के हैं इसी से यह सिद्ध है कि मन्त्र, विधायक नहीं हैं ।

खण्डन—(१) जैसे विधायकवाक्य. ब्राह्मणभाग में हैं वैसे ही ऐसे भी बहुत से वाक्य उसमें हैं जो कि विधायक नहीं हैं जैसे "यस्योभयं हविरार्त्तिमार्च्छेत्" (जिस पुरुष का दोनों हवि भ्रष्ट हो जायं) इत्यादि । और जब विधायक अविधायक दोनों प्रकार के वाक्य ब्राह्मणभाग में हैं तो ब्राह्मणभाग में पाठ होना, विधायक होने में कारण नहीं है इससे मन्त्र भी विधायक क्यों नहीं हो सकते ? ।

स्वादित्यस्य ब्राह्मणत्वाभावादित्यत्र तात्पर्यम् , दृश्यते हि "यस्योभयं हविरार्त्ति-मार्च्छेदन्वाधेयं तस्य प्रायश्चित्तिः" इत्यादौब्राह्मणेऽप्यार्छेदित्यादीनामविधायकत्वमिति तत्र प्रयोजकत्वव्यभिचारः । किंच "वसन्ताय कपिञ्जलानालभत" इत्यादिमन्त्रे-ष्वप्यालभत इत्यादीनां विधायकत्वदर्शनाद्व्यभिचारो दुर्वारः तस्मात् ब्राह्मणत्वमिव मन्त्रत्वमपि न विधायकत्वे तदभावे वा प्रयोजकम् । नच ब्राह्मणगतैर्विधिवाक्यैः प्राप्तार्थतया ऽनुवादकत्वादेव मन्त्राणामविधायकत्वम् कपिञ्जलादिवाक्यानां त्वप्राप्तार्थत्वाद्विधायक-त्वोपपत्तिः मन्त्रब्राह्मणयोश्चोपात्तस्य कर्मण एकत्वं बलीयस्या प्रत्यभिज्ञयैव सिद्धमिति न मन्त्रेष्वनुवादकत्वासिद्धिः उक्तजातीयकेषु च मन्त्रेषु न विधिभ्योऽप्राप्तो गुणः कश्चिदुपादी-यते नापि किंचित्फलम् न वा निमित्तम् यस्याप्राप्तत्वेन विधेयता स्यादिति वाच्यम् । मन्त्र-ब्राह्मणयोःकस्यानुवादकत्वं कस्य वा विधायकत्वमित्यत्र विनिगमनाविरहेणानुवादकत्वस्य सन्दिग्धासिद्धत्वात् । किंच नोभयोरनुवादकत्वं संभवति तृतीयस्य विधायकस्याभावात् । एवं चागृह्यमाणविशेषत्वान्मन्त्रब्राह्मणयोरुभयोरपि पृथगेव विधायकत्वं स्यादित्यनुवादकत्वम-सिद्धमेव । कर्म च नोभयोरेकं येनान्यतरस्यानुवादकत्वं स्यात् यथादिधातूनामभ्यासेन-

॥ भाषा ॥

खं०—(२) "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" (वसन्त देवता के लिये कपिञ्जल नामक पक्षियों का बलिप्रदान करै) इत्यादि मन्त्रवाक्यों का विधायक होना, जब मीमांसादर्शन हीं में सिद्धान्त किया गया है तब इसी दृष्टान्त से अन्य मन्त्रों के भी विधायक होने में सन्देह ही क्या है ? निदान मन्त्र होना वा ब्राह्मण होना विधायक न होने वा होने में कदापि कारण नहीं है ।

समाधान—विधिवाक्यों से प्राप्त ही अर्थों का प्रायः मन्त्र, अनुवाद करते हैं जैसे "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" ('उरु प्रथस्व' इस मन्त्र से पुरोडाश की प्रसिद्धि करै अ० फैलावै) ब्राह्मणभाग के इस विधिवाक्य से प्राप्त पुरोडाशप्रसिद्धि का "उरु प्रथस्व" यह पूर्वोक्तमन्त्र अनुवाद करता है । और उक्त कपिञ्जलादिवाक्यरूपी कुछ ही मन्त्र ऐसे हैं कि जिनका अर्थ अन्य विधिवाक्यों से प्राप्त नहीं है इसी से उन कतिपयमन्त्रों को मीमांसादर्शन ने विधायक माना है यह दूसरी बात है, किन्तु अनुवादक होने हीं से प्रायः मन्त्र, विधायक नहीं हो सकते । इससे मन्त्रों का अनुवादक होना ही विधायक होने का बाधक है इसी से मन्त्र विधायक नहीं होते ।

खण्डन—(१) जब मन्त्रवाक्य और ब्राह्मणवाक्य दोनों, पुरोडाश की प्रसिद्धि आदि रूपी एक ही अर्थ को कहते हैं तब इसमें क्या प्रमाण है कि ब्राह्मणवाक्य ही विधायक है और मन्त्रवाक्य ही अनुवादक है विपरीत ही क्यों नहीं होता अर्थात् ब्राह्मण ही अनुवादक हैं और मन्त्र ही विधायक हैं ।

ख०— २ । मन्त्र और ब्राह्मण, दोनों तो अनुवादक नहीं हो सकते क्योंकि तीसरा कोई वाक्य विधायक नहीं है । यदि तीसरा कोई वाक्य विधायक होता तो उसके ये दोनों अनु-वादक होते तथा उक्तरीति से मन्त्र और ब्राह्मण में एक अनुवादक तथा दूसरा विधायक नहीं हो सकता, तो ऐसी दशा में मन्त्र और ब्राह्मण ये दोनों पृथक् २ स्वतन्त्र विधायक होंगे । इससे मन्त्रों का अनुवादक होना नहीं सिद्ध हुआ ।

ख०—(३) इस कारण से भी मन्त्र अनुवादक नहीं हैं कि पुरोडाश की प्रसिद्धि करना आदि कर्म जो मन्त्र और ब्राह्मण से कहे जाते हैं वे एक नहीं हैं किन्तु परस्पर में भिन्न २ हैं

कर्मभेदस्यावश्यकत्वात् "समिधो यजति" "तनूनपातं यजती" त्यादौ यजतेरभ्यासेन कर्मभेदवत् । तथाच २ अध्याये २ पादे सूत्रम्

एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥ २ ॥

अस्यार्थः समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इत्यादौ धातुभेदाभावान्नात्रापूर्वभेद इति वहिः पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । एकस्येति एकस्य धातोः अविशेषात् गुणाद्यविधायकत्वेन पुनः-श्रुतिरपि शब्दान्तरवत् कर्मभेदकं प्रमाणं स्यात् दध्ना जुहोतीत्यत्र दध्यादिवदन्यस्य विधेय-स्याभावेन सकृदुच्चारणादेव कार्यसिद्धौ असकृदुच्चारणमनर्थकं स्यादिति ।

यत्तुकेचित् । मन्त्रेष्वविधायकत्वं नासिद्धम् अनुमानसिद्धत्वात् तथाच प्रयोगः मन्त्रा न विधायकाः, कर्मकरणतया ब्राह्मणेन विनियुज्यमानत्वात् "व्रीहिभिर्यजेते" त्यादि वाक्यविनियुज्यमानव्रीह्यादिवदिति। ब्रह्मयज्ञस्य फले ब्राह्मणस्यापि ब्राह्मणवाक्येन करणतया विनियोगस्य दर्शनाद्विनियुज्यमाने विधायके ब्राह्मणवाक्ये व्यभिचारवारणाय हेतौ कर्मेति । एवमपि पाठाधिकरणवक्ष्यमाणरीत्या ब्राह्मणस्यापि स्मारकतया कर्मकरणत्वेन श्रुत्या विनियुज्यमाने ब्राह्मणे व्यभिचारवारणाय ब्राह्मणेनेति तथाच पाठक्रमस्या-

॥ भाषा ॥

क्योंकि 'प्रथस्व' और "प्रथयति" आदि शब्दों में 'प्रथ' आदि शब्द बार २ कहे जाते हैं और एक शब्द को बार २ कहने से उस शब्द की अर्थरूपी क्रिया का भेद होता है यह बात "एकस्यै-वं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्" [मी० द० अध्या० २ पा २ सू० २] इस सूत्र से जैमिनि-महर्षि ने कहा है । इस सूत्र का यह अर्थ है कि "समिधो यजति" [समिध नामक याग करै] "तनूनपातं यजति" [तनूनपात् नामक याग करै] इत्यादि स्थलों में 'यज्' धातु के एक होने से यह नहीं समझना चाहिये कि दोनों एक ही याग हैं क्योंकि जैसे "जुहोति" [होम करै] 'ददाति' [दान करै] आदि शब्दों के भेद से कर्मों का भेद होता है वैसे ही एक धातु के अनेक बार उच्चारण से भी । नहीं तो एक याग के लिये उस धातु के एक ही उच्चारण से जब काम चल सकता है तब दोबारा उच्चारण व्यर्थ ही हो जायगा ।

समाधान--मन्त्रों का विधायक न होना इस अनुमान से सिद्ध होता है कि मन्त्र, विधायक नहीं हैं क्योंकि यज्ञादिकर्मों में करण बना कर ब्राह्मणवाक्यों के ओर से ये नियुक्त किये जाते हैं अर्थात् ब्राह्मणवाक्य, मन्त्रों का क्रियाओं में नियोग करते हैं कि इस मन्त्र से इस क्रिया को करै, जैसे "उरु प्रथस्व, इस मन्त्र से पुरोडाश की प्रसिद्धि करै" इत्यादि । यज्ञादि-कर्मों में करण बना कर ब्राह्मणवाक्यों के ओर से जो २ नियुक्त होता है वह कोई विधायक नहीं होता जैसे "व्रीहिभिर्यजेत" [चावल से यज्ञ करै] इस ब्राह्मणवाक्य के ओर से यज्ञ में करण बनाकर चावल नियुक्त होते हैं और वे विधायक नहीं होते, ऐसे ही जब मन्त्र भी ब्राह्मणवाक्य के ओर से नियुक्त होते हैं तब वे विधायक नहीं हो सकते इति ।

ब्रह्मयज्ञ [नित्यवेदाध्ययन] के फल में मन्त्र के नाईं ब्राह्मणवाक्य भी ब्रह्मयज्ञ के विधायक ब्राह्मणवाक्य के ओर से यद्यपि नियुक्त होते हैं तथापि वे फल ही में नियुक्त होते हैं न कि क्रियाओं में, इसी से नियुक्त होने पर भी वे ब्राह्मणवाक्य, विधायक होते हैं और मीमांसा-

शाब्दत्वमाशङ्क्य तत्समाधानाय ५ अध्याये १ पादे सूत्रम्—

अर्थकृते वानुमानं स्यात् क्रत्वेकत्वे परार्थत्वात्
स्वेन त्वर्थेन संबन्धः तस्मात् स्वशब्दमुच्यते ६ इति।

अस्यार्थः क्रत्वेकत्वे बहूनां कर्मणामेकफलकत्वे एककर्तृकत्वे च यः कश्चन क्रमः स यद्यपि युगपदनुष्ठानासंभवादर्थसिद्धः तथापि अर्थकृतेवानुमानम् 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति विधिभाव्यफलानुसार्यनुमानं कर्तव्यम् अध्ययनविधे र्हि न केवलं वेदार्थज्ञानमेव सम्पादयेदिति तात्पर्यम् किंतु यद्यद् दृष्टं संभवति तावद्भावयेदिति इत्थं च यथाऽर्थज्ञानं तथा तद्द्वारा प्रयोगकालेऽनुष्ठेयार्थस्मरणमपि भावयितुं शक्यते सा च स्मृतिः यथापाठमेव भविष्यतीति। स्वाध्यायविधितात्पर्यविषयत्वाम्नाशब्दमितिभावः नन्वेतावद्दूरं तात्पर्यकल्पने मानाभाव इत्यत आह, वेदस्येतिशेषः। परार्थत्वात् यद्यदनेन शक्यते कर्तुं तावदर्थत्वात् स्वेन स्वसम्बन्धिना अर्थेन अनुष्ठानकालिकस्मरणेनापि संबन्धः तस्मात् स्वस्य पाठक्रमस्य प्रापकःशब्द इति। अत्र स्वप्रापकःशब्दः स्वशब्द इति मध्यमपदलोपीसमासः नपुंसकत्वमार्षमिति। अत्र च शाबरे "परार्थो हि वेदः यद्यदनेन शक्यते कर्तुं तस्मै तस्मा एष समाम्नायते। शक्यते चानेन पदार्थोविधातुम् क्रियाकाले च प्रतिपत्तुम् तस्मात् वेदः पदार्थाश्च विधातुम् उपादेयः क्रियाकाले च प्रतिपत्तुम्" इत्युक्त्या वेदत्वाविशेषाद्ब्राह्मणस्याप्यध्ययनविधिबलाच्छब्दसामर्थ्येन श्रुतिसमाख्येन कर्मणि करणत्वेन विनियोगो भवतीति स्पष्टमेवोक्तम् ततश्च शब्दसामर्थ्यव्यावृत्तये हेतौ ब्राह्मणेनेति पूरणीयमेव। ब्राह्मणेन कचित्कर्मणि करणतया विनियुज्यमानत्वाभावादेव स कपिञ्जलालम्भवाक्यस्य सत्यपि मन्त्रत्वे विधायकता सर्वसिद्धा निष्प्रत्यूहवेत्यूह्यमिति वदन्ति—

तदपि न युक्तम्। हेतोरप्रयोजकत्वादेव। साध्याभावविरोधी हि हेतुः प्रयोजको भवति अयं च विनियोगरूपो हेतुर्न कथंचन विधायकत्वविरोधी। अनन्तरोपन्यस्तपाठाधिकरणीयशाबरेणैव विनियोगविधायकत्वयो रविरोधस्य तैरेव स्वप-

॥ भाषा ॥

दर्शन अध्या० ५ पा० १ सू० ६ जिसका विवरण संस्कृतभाग में ऊपर लिखा है उसके अर्थात् पाठाधिकरण के अनुसार शब्दशक्तिरूपी श्रुति के ओर से यद्यपि ब्राह्मणवाक्य भी स्मारक होने के कारण करण बना कर यज्ञादिकर्मों में नियुक्त होता है तथापि वह अपनी शब्दशक्तिरूपी श्रुति ही के ओर से नियुक्त होता है न कि किसी अन्य ब्राह्मणवाक्य के ओर से, इसी से वह विधायक होता है। और यद्यपि "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" यह मन्त्र है तथापि ब्राह्मणवाक्य के ओर से किसी कर्म में करण बना कर यह नियुक्त नहीं है, इसी से यह विधायक है परन्तु ऐसे कतिपय मन्त्रों के विधायक होने से क्या हुआ ? जब कि अन्य सभी मन्त्र, ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त हो कर विधायक नहीं हैं।

खण्डन-(१) यह अनुमान भी ठीक नहीं है क्योंकि किसी कार्य में नियुक्त होना, विधायक होने का विरोधी नहीं है प्रसिद्ध ही है कि राजादि के ओर से नियुक्त पुरुष, अन्य पुरुष के प्रति विधान करता है कि 'यह काम तू कर' तो ऐसी दशा में ब्राह्मणभाग के ओर से नियुक्त होने पर भी मन्त्र अवश्य ही विधायक हो सकते हैं। और चावल आदि तो समर्थ न होने से विधायक नहीं

मुपपादितत्वात् । युक्तियुक्तश्चासावविरोधः विरोधे मानाभावात् नहि यः केनाचिद्विनियुज्यते स न किंचिद्विदधातीति क्वचित् सिद्धम् व्रीह्यादेस्त्वविधायकत्वं सामर्थ्यविरहादेव । नच ब्राह्मणस्य विधायकत्वग्रहकालोत्तरमेव 'यत्सन्निधाने यो दृष्ट' इति न्यायात्स्वसंबन्धित्वेन स्वार्थविधेयस्य स्मरणे श्रुत्या विनियोगो भवतीति नियोगात्प्रागेव विधायकत्वमिति मा भूद् ब्राह्मणे तयोर्विरोधः मन्त्रेषु तु प्रागेव ब्राह्मणेन विनियुज्यमानेषु पूर्वमेव स्मारकत्वग्रहाद्विधायकत्वं पाश्चात्यं नोपपद्यत इति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथा हि । किं मन्त्रेषु ब्राह्मणवाक्यकृतविनियोगप्रयोज्यस्मारकत्वग्रहात्पूर्वकाले विधिशक्तिरस्ति नवा, अस्ति चेत् नासौ स्मारकत्वेनापनेतुं शक्यते । नास्ति चेत्, विनियोगाभावेऽपि कस्तामुत्पादयेत् विधायकत्वस्मारकत्वयोरविरोधस्यानुपदमेवोपपादितत्वात् तथाच व्यर्थो विनियोगोपन्यासः नह्यत्र स्मारकत्वविधायकत्वग्रहयोः पौर्वापर्यस्योपपादनात्किंचित् प्रयोजनमुपलभ्यते किंतु स्मारकत्वविधायकत्वयोर्विरोधस्योपपादनादेव, स च नैवोपपादयितुं शक्यते इति चेत्-

अत्रोच्यते । ब्राह्मणवाक्यस्य शक्तिपर्यालोचनया स्मारकत्वावगमेऽपि कर्म किंचिदनूद्य विनियोगाभावात्कर्मविधायकत्वं तेषां यद्यपि न विरुध्यते तथापि मन्त्राणां तत्तत्कर्मानूद्य तत्तत्स्मारकतया तत्तद्ब्राह्मणवचनैर्विनियोगात्कर्मविधायकत्वं विरुध्यत एवेति विनियोगघटित उक्तो हेतुर्विधायकत्वाभावसाधने क्षम एव । किंच विधिशक्तिविहन्तारस्तावत्

॥ भाषा ॥

होता क्योंकि विधायक दो ही होते हैं एक चेतन, दूसरा वेद, तो जब मन्त्रों के उच्चारणकाल से पूर्व ही यह निश्चित हो गया कि ब्राह्मणवाक्य ने अपने अर्थ के स्मरण कराने में इस मन्त्र को नियुक्त किया है तब वह मन्त्र, उस अर्थ का स्मरण ही करा सकता है न कि विधान, इसी से मन्त्र नहीं विधायक होता ।

खण्डन-(२) जिस समय यह निश्चय होता है कि यह मन्त्र, ब्राह्मणवाक्य के ओर से स्मरण कराने में नियुक्त है, उससे पूर्व, विधान करने की शक्ति उस मन्त्र में है वा नहीं ? यदि है तो स्मरण कराने से उसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह अभी कहा जा चुका है कि स्मरण कराने से विधान करने में कोई विरोध नहीं है । और यदि उससे पूर्व, मन्त्र में विधान करने की शक्ति नहीं है तो यदि मन्त्र नियुक्त न होता तो भी उसमें विधान करने की शक्ति को कौन उत्पन्न कर सकता ? निदान जब नियुक्त होने के साथ, विधान करने का कुछ विरोध नहीं है तब उक्त अनुमान में, नियुक्त होने की चर्चा व्यर्थ ही है, और नियुक्त होने पर भी मन्त्र विधायक हो सकते हैं ।

समाधान--(१) ब्राह्मणवाक्यों से, जिन कर्मों का नाम धर कर जो मन्त्रवाक्य उन कर्मों में स्मारक बना कर नियुक्त किये गये वे मन्त्रवाक्य उन कर्मों के विधायक कदापि नहीं हो सकते । लोक में भी राजादि की आज्ञा से जिस कर्म में जो पुरुष साक्षात् कर्ता बना कर नियुक्त होता है वह दूसरे के प्रति उस कर्म करने का विधान नहीं कर सकता किन्तु आप ही करता है । इससे अनन्तरोक्त अनुमान ठीक ही है और मन्त्र विधायक नहीं हैं ।

समा०-(२) इस कारण से भी मन्त्र विधायक नहीं होते कि "यद्, (जो, जिन) संबो-

यच्छब्दसम्बोधनविभक्त्युत्तमपुरुषयदिशब्दादयः यथा "याभिः गोभिः यजते याश्च ददाति ता गावो न नश्यन्ति नच ताः तस्करो हरति नचासां कंचिदवयवममित्रकृतो व्याधिरुपद्रवः पीडयति गोस्वामी च ताभिः सह ज्योक् चिरकालं सचते संसक्तः संयुक्तो भवती" त्यर्थके गोस्तुत्यर्थे—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाम् आमित्रो व्यथिर आ दधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योक् इत् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

इतिमन्त्रे गोयागगोदानयोः सिद्धवद्भावाभिधायिना यच्छब्देन विधायकत्वमुपहन्यते । एवम् "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" इतिमन्त्रे वक्त्रभिमुखीकरणार्थया 'अहे' इति संबोधनविभक्त्या सामान्यतो वक्त्रभिहितार्थानुष्ठानप्रवृत्तवक्त्रभिमुखपुरुषप्रवर्तकत्वमस्य मन्त्रस्यावगमयन्त्या स्वतोऽप्रवृत्तपुरुषप्रवर्तनात्मिका विधिशक्तिर्नाश्यते ।
तथा "बर्हिर्देवसदनं दामि शुक्रं त्वा शुक्राय धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे गृभ्णामि" इतिमन्त्रे अस्मदर्थकेनोत्तमपुरुषेणात्मनि प्रवर्तनानुपपत्त्या विधिशक्तिर्बाध्यते ।

एवम् "यदिसोममपहरेयुः" इत्यादिमन्त्रे निमित्तत्ववाचिना प्राप्तिबोधोपधायिना यदिशब्देनाप्राप्तप्रापणात्मिका विधिशक्तिरपनीयते ।

एवजातीयकानां च विधायकत्वप्रतिघातिनां मन्त्रेषु प्रायेणोपलम्भान्मन्त्राणामविधायकत्वं सिद्धमेव । यत्र तु कचिदेवंजातीयका विधित्वोपघातिनो नोपलभ्यन्ते

॥ भाषा ॥

धनविभक्ति, (हे) उत्तमपुरुष, (मैं हम आदि) यदि, (जो) इत्यादि शब्द, मन्त्रों में प्रायः रहते हैं और ये शब्द, विधान करने की शक्ति के तोड़नेवाले हैं जैसे, "न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाम् आमित्रो व्यथिर आदधर्षति । देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योक् इत् ताभिः सचते गोपतिः सह" (जिन गौओं से याग करता है और जिन गौओं को देता है, वे गौएं नष्ट नहीं होतीं, न उनको चोर चुराता, न उनके अङ्गों में शत्रुकृत वा व्याधिकृत पीडा होती है और उन गौओं का स्वामी उनके साथ अर्थात् परलोक में चिरकाल तक संयुक्त रहता है) यह मन्त्र विधायक नहीं हो सकता क्योंकि 'यद्' शब्द के रहने से गोयाग तथा गोदान की सिद्धावस्था ज्ञात होती है और विधान तो सिद्धका नहीं होता किन्तु असिद्ध ही का । सम्बोधनविभक्ति का उदाहरण यह है कि "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" (हे बुध्नियनामक सर्प मेरे मन्त्र की रक्षा करो) इत्यादि, यहां 'हे' इस संबोधन से यह निश्चित होता है कि सर्प, मन्त्रबोलनेवाले के अभिमुख स्थित है और उसका काम करने में प्रवृत्त है तो ऐसी अवस्था में विधान नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व से जो जिस काम में प्रवृत्त नहीं है उसको उस काम में प्रवृत्त करने को विधान कहते हैं । उत्तमपुरुष का उदाहरण यह है कि "बर्हिर्देवसदनं दामि" (मैं कुशों को काटता हूं) इस मन्त्र में विधान करने की शक्ति नहीं है क्योंकि अपने से अपने को कोई नहीं प्रवृत्त करता । 'यदि' शब्द का उदाहरण "यदि सोमपहरेयुः" (यदि सोम हटा लें) यहां 'यदि' शब्द से सोम का हटाना प्राप्त होता है और अप्राप्त ही का प्रापण अर्थात् बोधन, विधानशक्ति है इसी से यह मन्त्र विधायक नहीं है, विधायकत्व के तोड़नेवाले ऐसे २ शब्द मन्त्रों में प्रायः रहा करते हैं इसी से मन्त्र, विधायक नहीं होते। और जिस किसी मन्त्र में ऐसे शब्द नहीं रहते वह

तत्र विधायकत्वमस्त्येव यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इत्यादिषु कतिपयमन्त्रेषु। मन्त्रा न विधायका इति सामान्योपसंहारिणी प्रसिद्धिस्तु ब्राह्मणग्रामादिप्रसिद्धिवद्भूयस्त्वाभिप्राया। नचेह पक्षतावच्छेदकक्रियार्थमन्त्रत्वावच्छेदेन वाच्यार्थपरत्वाभावःसिषाधयिषतो यत कस्य कस्यचिन्मन्त्रस्य विधायकत्वेऽपि भागासिद्धिसाध्वसमास्कन्देत् ब्राह्मणेषु तु केषुचिदेव 'यस्योभयं हविरार्तिमार्छेत्' इत्यादिषु के के चन पूर्वोक्तजातीयका विधित्वप्रतिरोधिनः प्रतिसन्धीयन्ते इति प्रायेण तेषां विधायकत्वात्पूर्ववदेव विधायकानि ब्राह्मणानीति प्रसिद्धिः। नापि प्रशस्तत्वादिलक्षकता मन्त्रेषु संभविनी, अर्थवादैरेव गतार्थत्वात्। तथाच मी० द० अध्या० २ पा० १ सिद्धान्तसूत्रम्-

अपिवा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् ३१ इति।

अस्य च, मन्त्रः मन्त्रस्थाख्यातपदम्। अभिधानवाची अर्थप्रकाशनमात्रपरम् प्रयोगे अनुष्ठाने क्रियमाणे तावदर्थस्मरणमात्रसामर्थ्यात् न विधायकं न वा स्तावकमित्यर्थः।

शावरं च स्तुत्यर्थकल्पनायामप्यानर्थक्यम् परिसमाप्तेन सार्थवादकेन वाक्येन विहितत्वाद् यागस्य इति।

एवमन्येऽपि मन्त्राणां वाच्यार्थपरत्वाभावे सूत्रोक्ता हेतवः। तेषां चावतरणाय इयं

॥ भाषा ॥

विधायक होता ही है. जैसे "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" यह पूर्वोक्त मन्त्र विधायक है, 'मन्त्र विधायक नहीं होते' यह सामान्यरूप से प्रसिद्धि तो, बहुत्व के अभिप्राय से है जैसे जिस ग्राम में ब्राह्मण अधिक होते हैं वहां कतिपय क्षत्रियादिकों के रहते भी यह प्रसिद्धि होती है कि वह ब्राह्मणग्राम है, और पूर्वोक्त अनुमान से भी यही सिद्ध किया जाता है कि मन्त्र, प्रायः विधायक नहीं होते न कि यह सिद्ध किया जाता है कि मन्त्र विधायक होता ही नहीं। ऐसे ही यदि किसी ब्राह्मणवाक्य में भी पूर्वोक्त 'यद्' आदि शब्द पड़ जाते हैं तो वह भी विधायक नहीं होता, जैसे "यस्योभयं हविरार्तिमार्छेत" (जिसके दोनो हवि अशुद्ध हो जायं) यह ब्राह्मणवाक्य, 'यद्' शब्द के कारण विधायक नहीं है, और उक्त 'यद्' आदि शब्द ब्राह्मणवाक्यों में प्रायः नहीं रहते इस कारण बहुत से ब्राह्मणवाक्य विधायक होते हैं इसी से यह प्रसिद्ध है कि ब्राह्मणवाक्य विधायक होते हैं। इन पूर्वोक्त युक्तियों से जब यह सिद्ध हो गया कि मन्त्र, विधायक नहीं हैं तब यह भी सिद्ध हो गया कि अर्थवादों के नाईं अपने वाच्यार्थ में मन्त्रों का मुख्यतात्पर्य नहीं है। और यह भी नहीं कह सकते कि अर्थवादों के नाईं लक्षणावृत्ति के द्वारा मन्त्रों का भी तात्पर्य, प्रशंसा ही में है, क्योंकि तब तो अर्थवादों ही से प्रशंसा के बोध होने पर मन्त्र व्यर्थ ही हो जायंगे इसी अभिप्राय से मी० द० अध्या० २ पा० १ "अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात्" ॥ ३१॥ यह सिद्धान्तसूत्र है। इसका यह अर्थ है कि मन्त्र, न विधान करते हैं और न प्रशंसा करते हैं किन्तु याग करने के समय उन क्रियाओं का स्मरण कराते हैं जिनका विधान ब्राह्मणवाक्यों से हुआ है इति। और जब उक्त रीति से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रों का किसी अर्थ में तात्पर्य नहीं है तब यह भी सिद्ध हो गया कि अपने पाठमात्र के द्वारा मन्त्रों का यज्ञों में उपयोग है। तथा उक्त-हेतुओं से अन्य, और हेतुओं को भी जैमिनिमहर्षि ने अपने सूत्रों से कहा है जिनसे कि यह सिद्ध किया है कि मन्त्रों का अपने अर्थों में तात्पर्य नहीं है परन्तु उन सूत्रोक्तहेतुओं के प्रस्ताव के

भूमिका। तथाहि। मन्त्रास्तावद्विध्यर्थवादादिवत् स्वाध्यायाध्ययनविधिनैव स्वाध्यायत्वाविशेषात्पुरुषार्थानुबन्धितया बोध्यन्ते। सा च पुरुषार्थानुबन्धिता, सति दृष्टार्थद्वारकत्वे, न केवलादृष्टद्वारकत्वेनोपपादयितुमुचिता, कल्पनागौरवप्रसंगात् एवंच दर्शपूर्णमासादिभिर्विधेयैः क्रमप्रकरणयोरनुरोधाद्यद्यत्संबध्यते तत्सर्वमङ्गत्वेनाङ्गीक्रियते तत्र च यथा प्रयाजादिवाक्यान्यङ्गत्वेनोपगृह्यन्ते तथा मन्त्रा अपि। नचैवं प्रयाजादिवाक्यवन्मन्त्रस्यापि स्वरूपं न दर्शपूर्णमासादिभिरङ्गत्वेनोपगृह्येतेति कर्मकाले मन्त्रोच्चारणनियमो न स्यात् क्रमप्रकरणाभ्यां तदुपपादने तु मन्त्रवत्कर्मकाले प्रयाजादिवाक्यानामप्युच्चारणनियमः स्यात् विनिगमनाविरहादिति वाच्यम्। समानेऽपि क्रमप्रकरणसंस्पर्शे प्रयाजादिवाक्यैः कर्माङ्गभूतार्थाभिधानेन दर्शादिवाक्यानामङ्गाकाङ्क्षोपशमनसंभवादनाकाङ्क्षितानि प्रयाजादिवाक्यस्वरूपाणि न तैरङ्गत्वेनाङ्गीक्रियन्ते मन्त्राणां तु प्रयाजादिवाक्यवत्कर्माङ्गभूतार्थविधायकत्वस्य, दर्शादिप्रधा-

॥ भाषा ॥

लिये भूमिका प्रथम होनी चाहिये वह यह है कि—

जैसे अर्थवादादि वेदभागों का पुरुषार्थ के प्रति कारण होना "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस पूर्वोक्त अध्ययनविधि से सिद्ध है, और सिद्ध करने की रीति भी अर्थवाद के प्रकरण में पूर्वहीं "बृहद्व्याख्यान" में कही जा चुकी है वैसे ही उसी रीति से मन्त्रों में भी पुरुषार्थ का कारण होना उसी अध्ययनविधि से सिद्ध है, क्योंकि जैसे अर्थवाद, स्वाध्याय अर्थात् वेद हैं वैसे ही मन्त्र भी। और मन्त्रों का पुरुषार्थ के प्रति कारण होना जब तक किसी लौकिककार्य के द्वारा सिद्ध हो सकै तब तक धर्मरूपी अदृष्टकार्य के द्वारा उसको नहीं सिद्ध करना चाहिये क्योंकि ऐसा स्वीकार करने में कल्पनागौरवरूपी दोष पड़ता है, और दर्शपूर्णमासादि यज्ञों के विधायक वाक्यों के साथ, क्रम और प्रकरण के अनुसार जिस २ पदार्थ का सम्बन्ध होता है वही २ पदार्थ उन यज्ञों का अङ्ग होता है। ऐसी अवस्था में प्रयाजादि नामक यज्ञ जैसे दर्शपूर्णमासयज्ञ के अङ्ग होते हैं वैसे ही मन्त्र भी उसके अङ्ग होते हैं।

प्र०—दर्शादियज्ञ, जैसे प्रयाजादिवाक्यों के अक्षरों वा पदों को अपना अङ्ग नहीं बनाता अर्थात् उस यज्ञ के लिये प्रयाजादिवाक्यों का पाठ नहीं होता, किन्तु उसके अर्थ, प्रयाज नामक यज्ञ का अनुष्ठान ही होता है वैसे ही मन्त्रों के भी अर्थ ही का अनुष्ठान उस यज्ञ में होना चाहिये, जिसके अङ्ग वे मन्त्र हैं तब यज्ञ में मन्त्रों का पाठ क्यों किया जाता है? यदि यह कहा जाय कि क्रम और प्रकरण के अनुसार प्रयाजादिवाक्यों का भी यज्ञकाल में पाठ ही होना चाहिये, तो क्यों प्रयाजादियज्ञों का अनुष्ठान होता है? क्योंकि क्रम और प्रकरण का अनुसार, प्रयाजादिवाक्यों और मन्त्रों में तुल्य ही है किसी में कुछ विशेष नहीं है।

उत्तर—(१) विशेष यह है कि दर्शपूर्णमासादि के विधायक प्रधानवाक्यों को, अपने अङ्गक्रियाओं की आकाङ्क्षा होती है कि कौन सी क्रिया दर्शपूर्णमासादियज्ञ का अङ्ग है? और इस आकाङ्क्षा को प्रयाजादिवाक्य अपने अर्थ अर्थात् क्रिया से पूर्ण करते हैं तथा वही क्रिया, प्रधानयज्ञ का अङ्ग होती है और जब आकाङ्क्षा पूर्ण हो गई तब दर्शपूर्णमासादि यज्ञों में प्रयाजादिवाक्य के अक्षरों वा पदों के पाठ का कुछ प्रयोजन नहीं रहता इसी से यज्ञ में उनका पाठ नहीं होता, और मन्त्र तो उक्त आकाङ्क्षा को अपने अर्थ के द्वारा पूर्ण नहीं कर सकते क्योंकि प्रयाजादि-

नवाक्यवत्कर्मविधायकत्वस्य, वायुक्षेपिष्ठादिवाक्यवत्स्तावकत्वस्य, ध्यानादिनाऽपि स्मरणसिद्ध्या, नियतस्मारकत्वस्य, चासंभवेन तत्तद्द्वारेण दर्शादिविधिवाक्याकाङ्क्षाया उपशमनासंभव इति विनिगमनायाः सुनिगमनतया मन्त्राणां स्वरूपमेवाप्रशान्ताकाङ्क्षैर्दर्शादिवाक्यैः क्रमप्रकरणसंस्पर्शानुसारादनन्यगतिकतयाऽङ्गत्वेनाङ्गीक्रियत इत्यस्य सुवचत्वात् । एवंच मन्त्रस्वरूपस्य निर्व्यापारतयाऽङ्गत्वान्यथानुपपत्तिबलकल्पनीयतद्व्यापारताके तत्तत्कर्मकालिकोच्चारणमात्रे मन्त्राः पर्यवसास्यन्तीति नार्थबोधने तेषां तात्पर्यमित्यतिसामयिको ऽसौ पूर्वपक्षाङ्कुरप्ररोहः। एवमध्ययनविधिनाऽपि क्रमप्रकरणपाठयोः सार्थक्याय मन्त्राणां कर्माङ्गत्वमात्रमाक्षिपता तदन्यथानुपपत्तिबलात्कर्मकालिकोच्चारणमात्रकल्पनेनैव मन्त्राणां ग्रहणस्यार्थानां संस्कार्यत्वस्य च सूपपादत्वान्न तेषामर्थावबोधपर्यन्तत्वमाक्षेप्तुं क्षम्यते । प्रयाजादिवाक्येषु तु स्वाभाविकशब्दसामर्थ्यानुसारिणा कर्माङ्गभूतपदार्थविधानेन स्वयं शास्त्रार्थावधारणकालिकेन व्यवेतोत्तरकर्मकालिकत्वादकारणभूतस्य कर्मकालिकोच्चारणस्यानपेक्षणादेव नादृष्टार्थःकर्मकालिकोच्चारणनियमः कथमपि शक्यते कल्पयितुम् । एवं कर्मकालप्रयोज्यानां मन्त्राणामनुभूयमानयोरुच्चारणस्वार्थाभिधानयोर्मध्ये कतरेण

॥ भाषा ॥

वाक्य के नाईं दर्शादियज्ञों के अङ्गक्रियाओं को वे अपूर्वरीति से नहीं कहते और दर्शादि प्रधानवाक्यों के नाईं किसी कर्म का बिधान नहीं करते तथा अर्थवादवाक्यों के नाईं प्रशंसा भी नहीं करते और नियतरीति से किसी अर्थ के स्मारक भी नहीं हैं क्योंकि ध्यानादि के द्वारा भी उन अर्थों का स्मरण हो सकता है, इसी से क्रम और प्रकरण के अनुसार दर्शादिबिधिवाक्य, अनन्यगति हो कर मन्त्रों के स्वरूप अर्थात पदों और वाक्यों ही को अपना अङ्ग बनाते हैं । और मन्त्रों का स्वरूप शब्दरूप है वह बिना किसी व्यापार के दर्शादियज्ञों का अङ्ग नहीं हो सकता इसी से उसके उच्चारणरूपी व्यापार की कल्पना होती है । और यही कारण है जिस से कि यज्ञकाल में मन्त्रों का उच्चारण अवश्य किया जाता है और जब उक्तरीति से मन्त्रों का यज्ञकाल में उच्चारण ही प्रयोजन है तब उनके अर्थज्ञान का कोई फल ही नहीं है इससे यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रों का अपने अर्थों में तात्पर्य नहीं है ।

उ०—(२) दूसरा विशेष यह है कि पूर्वोक्त अध्ययनविधि भी क्रम और प्रकरण के अनुसार प्रथम यही सूचना करता है कि जो मन्त्र जिन यज्ञों के प्रकरण में हैं वे उनके अङ्ग हैं, तदनन्तर जब यह बिचार होता है कि किस व्यापार के द्वारा अङ्ग हैं ? तब लाघव से यही निश्चय होता है कि यज्ञकाल में उच्चारण ही के द्वारा मन्त्र, यज्ञ के अङ्ग हैं, इस रीति से मन्त्रों को अध्ययनबिधि, उच्चारण ही तक ले जाता है न कि अर्थज्ञानपर्यन्त । और प्रयाजादिवाक्य तो अपनी स्वाभाविक शब्दशक्ति के अनुसार प्रधानयज्ञ के अङ्गभूत क्रियाओं को प्रथम ही बिधान करते हैं इसी से वे क्रियानुष्ठान के द्वारा यज्ञों के अङ्ग होते हैं और उनके अर्थरूपी क्रिया ही का अनुष्ठान किया जाता है, तथा उनका उच्चारण भी अर्थज्ञान ही से सफल हो जाता है तब किस प्रमाण से यह कल्पना की जाय कि यज्ञसमय में उनका उच्चारण अवश्य करना चाहिये ।

उ०—(३) यज्ञकाल में जब मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है और उनके अर्थ का बोध भी होता है तब यदि यह बिचार किया जाय कि "इनका उच्चारण, यज्ञ का उपकारी है

द्वारेण विधेयोपकारकत्वमिति सन्देहेऽनुपदोक्तयुक्तिभिरावश्यकत्वात्प्राथम्याच्चोच्चारणस्यैव द्वारत्वमुचितम् नतु ध्यानादिनाऽप्यन्यथासिद्धत्वादनावश्यकस्य चरमोपस्थितिकस्य च स्मरणात्मकस्यार्थबोधस्य। दृष्टं चेदं बहुशो जपार्थेषु विषघ्नेषु च मन्त्रेष्विति नाक्लृप्तकल्पनाऽपत्तिरपि। एवं च अनेनैव न्यायेन मन्त्राणां सिद्धएव स्वार्थतात्पर्याभावे सूत्रकारेण तदर्थशास्त्रादयः कतिपये हेतवोऽपि प्रदर्शिताः तेषामप्रयोजकत्वापहारी त्वयमेव विपक्षबाधकतर्कायमाणो भूमिकाऽऽभोगः। हेतवश्च ते यथा—

(१) 'उरु प्रथस्व' इत्यादयो मन्त्राः 'उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति' इत्यादीनि च ब्राह्मणानि एवं च यथा नीलीरोगाद्युपहतेन्द्रियस्य चक्षुरस्त्येवेति परैर्दृश्यते परेण तु नीयमानमुपलभ्य न पश्यतीति ज्ञायते तथा मन्त्ररूपमालोचयतां मन्त्रेष्वर्थप्रकाशनशक्तिबुद्धिर्यद्यपि भवति तथापि परेण विनियोगं दृष्ट्वा स्वयंविनियोगशक्तिर्नास्तीति गम्यते ततश्च न मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्यम् अन्यथा स्वयमेव विनियोगे विनियोजकानि ब्राह्मणानि निरर्थकान्यापद्येरन् तथाच — मी० द० अध्या० १ पा० ॥ २ ॥

'तदर्थशास्त्रात्' सू० ॥ ३१ ॥ इति

उरु प्रथस्वेत्यादौ यस्तदर्थः पुरोडाशप्रथनादिरूपोऽर्थः स यादृशि शास्त्रे तादृशशास्त्रात् "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयती" त्यादिविधिवाक्यात्। तदर्थज्ञानसंभवादितिशेषः। इत आरभ्य पञ्चम्यन्तानाम् "अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्य" मित्येकोनचत्वारिंशत्तमसूत्रस्थे

॥ भाषा ॥

अथवा अर्थ का बोध ?" तो उसमें यही निर्णय न्यायप्राप्त होगा कि अर्थबोध, यज्ञोपकारी नहीं है क्योंकि उनके क्रियारूपी अर्थ का बोध तो विधायक ब्राह्मणवाक्यों से हो कर यज्ञ करने में यजमान की प्रवृत्ति हुई है इससे उसी विहित यज्ञक्रिया का दोबारा बोध स्मरणात्मक ही है और स्मरण अवधानादि से अन्यथासिद्ध है. और उच्चारण तो बोध की अपेक्षा प्रथम होता है तथा किसी से अन्यथासिद्ध भी नहीं है इसी से उच्चारण ही यज्ञोपकारी है न कि अर्थज्ञान। और जब अर्थज्ञान यज्ञोपकारी ही नहीं है तब अर्थों में मन्त्रों का तात्पर्य भी नहीं है तथा यह कोई नवीन बात भी नहीं है क्योंकि जपकियेजानेवाले मन्त्र और विषहारी मन्त्र के उच्चारण ही से फल का होना अनुभवसिद्ध है उसमें अर्थज्ञान का कोई फल नहीं है और इसी दृष्टान्त से क्रियार्थमन्त्रों को समझना चाहिये इति।

इसी भूमिका को ले कर जैमिनिमहर्षि ने अपने अर्थ में मन्त्रों के तात्पर्य न होने से अनेक हेतुओं को कहा है, जो अब नीचे अलग २ में सूत्रोल्लेख कर दिखलाये जाते हैं।

(१) जैसे नीलीरोग (जिसमें आंख का विकार प्रत्यक्ष न हो और देख न पड़े) वाले पुरुष की आंखों को देख, लोग यह समझते हैं कि यह देखता है परन्तु जब दूसरे मनुष्य की अंगुली पकड़ उसे चलते देखते हैं तब यह निश्चय करते हैं कि इसको देख नहीं पड़ता, वैसे ही पूर्वोक्त 'उरु प्रथस्व' आदि क्रियार्थमन्त्रों के स्वरूप देखने से ज्ञात होता है कि ये अमुक क्रिया में पुरुष को नियुक्त कर सकते हैं परन्तु जब पूर्वोक्त "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों से पुरोडाश की प्रसिद्धि आदि कार्य में उन मन्त्रों को नियुक्त होते देखते हैं तब यह निश्चय होता है कि मन्त्रों में अन्य को नियुक्त करने की शक्ति नहीं है क्योंकि जब क्रियाओं में वे आप ही ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त हो रहे हैं तब वे दूसरों को क्या नियुक्त कर सकते हैं। और यदि वे अपने ही से अपने को नियुक्त करैं तब तो उनको नियुक्त करने वाले ब्राह्मणवाक्य ही व्यर्थ

मन्त्रानर्थक्यमित्यत्रान्वयः। प्रकृते चानर्थक्यं यत्सिसाधयिषितं तद्वाच्यार्थतात्पर्यराहित्यम् शास्त्रादिति च जातावेकवचनं ब्राह्मणेन विनियुज्यमानत्वं च हेतुरितिभावः।

(२)किंच मन्त्राणां स्वार्थपरत्वे "अग्निर्मूर्द्धा" इतिशब्देन प्रत्यायनीयस्यार्थस्य 'मूर्द्धाऽग्नि' रित्यनेनापि प्रत्याययितुं शक्यत्वादग्निमूर्द्धपदयोर्मान्त्रः क्रमनियमो निरर्थक एव स्यात् मन्त्राणां केवलादृष्टार्थकत्वे तु नियतक्रमभङ्गे तदुच्चारणजन्यादृष्टसद्भावे प्रमाणाभावात् क्रमभङ्गो न युक्त इति पदयोःक्रमनियमः सार्थको भवति अतो मन्त्रा न स्वार्थपराः। नच स्वार्थपराणामपि शब्दानां क्रमनियमो दृश्यते यथा इन्द्राग्नी, नीलोत्पलम्, राजपुरुषः, चित्रगुः, निष्कौशाम्बिरिति तथैवार्थबोधोपपत्त्या मान्त्रोऽपि पदक्रमनियमः सार्थको भविष्यतीति वाच्यम्। वैषम्यात् इन्द्राग्नीनीलोत्पलमित्यत्र क्रमभङ्गे हि साधुत्वमेव न स्यात् 'अजाद्यदन्तम्' "उपसर्जनंपूर्वम्' इति सूत्राभ्यां पूर्वनिपातनियमस्मरणात् अग्नीन्द्राविति काचित्कः प्रयोगस्तु छान्दसतयाऽग्नेरभ्यर्हितत्वविवक्षया वा नेयः। एवं राजपुरुषइत्यत्र पुरुषराजइति क्रमवैपरीत्ये तदर्थएव विपरीयात् तथा चित्रगुरित्यत्र गुचित्रइति निष्कौशाम्बिरित्यत्र च कौशाम्बिनिरिति क्रमव्यत्यासेऽनर्थकत्वमेव स्यात् एवंचैतेषु क्रमभङ्गे तात्पर्यविषयस्य शाब्दस्यानिर्वाहात्तन्निर्वाहाय क्रमनियमस्य सार्थकत्वेऽप्यग्निर्मूर्द्धेत्यत्र क्रमविपर्ययेऽप्यभिमतशाब्दविपर्ययाभावादुक्तं क्रमनियमानर्थक्यं दुष्परिहरमेव। नच प्रकृतेऽपि मूर्द्धाऽग्निरिति क्रमव्यत्यये मन्त्रत्वमेव भज्येतेति न क्रमनियमानर्थक्यापत्तिरिति वाच्यम्। अर्थपरत्वाभावएव ह्ययं परिहारो युज्येत नत्वर्थपरत्वे, मन्त्र इति शब्दो हि 'गुधृविपतिवचियमिमनितनिसन्दिच्छदिभ्यस्त्रन्' इत्यौणादिके, ज्ञानार्थान्मन्यतेर्मनोतेर्वा त्रन्प्रत्यये कृते व्युत्पद्यते मन्त्राणामर्थपरत्वाभावे च तेषु योगप्रवृत्तेरसंभवान्मन्त्रशब्दस्य रूढिरेवाश्रीयेत तन्निमित्तं नियतक्रमपदकवाक्यविशेषत्वरूपं मन्त्रत्वं च क्रमभङ्गे विरुध्येतेति क्रमनियमोऽदृष्टार्थतया सार्थको-

॥ भाषा ॥

हो जायेंगे। इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है किन्तु वे ब्राह्मणवाक्यों से नियुक्त हो कर अपने पाठमात्र के द्वारा यज्ञ के उपकारी हैं। यह बात मी० द० अध्या० १ पा० २ में "तदर्थशास्त्रात्" ॥ ३१ ॥ इस सूत्र से कही गई है जिसका यह अर्थ है कि "उरु प्रथस्व" आदि मन्त्रों को पढ़ कर पुरोडाश की प्रसिद्धि करना आदि जो क्रियाएं की जाती हैं उनका विधान ब्राह्मणवाक्यों से होता है इसी से मन्त्र, विधायक नहीं हैं और न उनका अपने अर्थ में तात्पर्य है।

(२) "अग्निर्मूर्धा" (अग्नि शिर है) यह एक मन्त्र का शब्द है यदि यह अपने अर्थबोध के लिये है तो यदि उलट कर "मूर्धाअग्नि" कहें तब भी उसी अर्थ का बोध हो सकता है परन्तु उलटा कहने से वह मन्त्र न कहलावेगा, क्योंकि जिस क्रम से मन्त्रों में शब्द पढ़े हुए हैं उसी क्रम से जब वे कहे जायं तब ही वे, मन्त्र कहलाते हैं यह मर्यादा मन्त्रों में सर्वसिद्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि मन्त्र, अर्थबोध के लिये नहीं हैं क्योंकि यदि वे अर्थबोध के लिये होते तो पदों के उलट पलट होने पर भी वे इस कारण मन्त्र ही कहलाते कि अर्थबोध तो उनसे ज्यों का त्यों होता है, इससे यह निश्चित होता है कि यथास्थित क्रम से उनका पाठमात्र यज्ञोपकारी है, और अपने अर्थ में उनका तात्पर्य नहीं है। यद्यपि 'राजपुरुषः' आदि लौकिकवाक्य, अपने अर्थ का बोध कराते हैं तब भी उनमें क्रम का नियम है क्योंकि 'पुरुषःराज' कहने से राजभृत्य का बोध

भवति । तेषामर्थपरत्वे तु मन्त्रशब्दस्य तेषु योगएवाश्रीयेत तथाच तत्तदर्थविशेषबोधकत्व-घटितमेव मन्त्रत्वं तन्निमित्तं स्यात् तच्च मूर्द्धाऽग्निरिति क्रमभङ्गेऽपि न भज्यते, शब्दे वैष-म्याभावादिति क्रमनियमानर्थक्यापत्तिरिति कथं प्रतिकूलमेवानुकूलत्वेन युज्यते ।
तथाच पूर्वोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

वाक्यनियमात् ॥ ३२ ॥ इति ।

वाक्यस्य पदक्रमस्य नियमात् अग्निर्मूर्धा दिवःककुदित्यत्र मूर्धाऽग्निरिति व्युत्क्रम-पाठेऽपि अर्थप्रतिपत्तिसंभवात् क्रमनियमो व्यर्थः स्यादित्यर्थः अतो नियतक्रमत्वं हेतुरितिभावः।

(३) अपिच नह्यबुद्धं कर्म केनाचित्कर्तुंशक्यत इति यज्ञप्रयोगात्पूर्वमेवाग्नीधा ऋत्वि-जा 'अग्नीदग्नीन्विहरेदि' तिपाठादेवाग्निविहरणादिके कार्य्ये स्वकर्तव्यत्वेन बुद्धे सति यज्ञ-प्रयोगकाले 'अग्नीदग्नीन्विहरे' ति प्रैषमन्त्रः पिष्टपेषणन्यायेन बोधमुपजनयितुमशक्नुव-न्नुच्चारणमात्रेणादृष्टार्थो भवति तथाच कथमेवंजातीयकानां मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्यं संभवति । नवा स्मारकत्वमपि संभवति, ब्राह्मणज्ञानाभ्यासपाटवजन्यैः संस्कारैः स्मरणस्यापि संभ-वात् नवा तादृशसंस्कारोद्बोधकत्वमपि, पूर्वपदार्थसमाप्तेर्ब्राह्मणवाक्यस्यैव वा तदुद्बोधकत्व-संभवात् । तथाच उक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

बुद्धशास्त्रात् ॥ ३३ ॥ इति ।

अग्नीधा प्रयोगाद् बहिरेव अग्निविहरणादि कर्म मदीयमिति, बुद्धे ज्ञाते 'अग्नीद-

॥ भाषा ॥

नहीं होता तथापि "अग्निर्मूर्धा" में क्रम बदलने पर भी अर्थबोध नहीं बिगड़ता, इसी से इसके पदों का क्रम, अर्थबोध सुधारने के लिये नहीं है किन्तु पाठद्वारा धर्मार्थ ही है यह बात पूर्वोक्त-स्थल में "वाक्यनियमात्" ॥ ३२ ॥ इस सूत्र से कहा है । यहां वाक्यशब्द का क्रम थर्थ है और अर्थ स्पष्ट ही है ।

(३) किसी यज्ञक्रिया को समझे बिना कोई नहीं कर सकता इससे यज्ञारम्भ के पूर्व हीं 'अग्नीध्' आदि ऋत्विक् अपने २ कामों को अध्ययनकाल के अनन्तर "अग्नीदग्नीन् विहरेत्" (अग्नीध् नामक ऋत्विक् अग्नि का हरण करे) इत्यादि ब्राह्मणवाक्यों ही से अपने २ कामों को समझे रहते हैं तब यज्ञप्रयोग के काल में "अग्नीदग्नीन्विहर" (हे अग्नीध् तू अग्नि का विहरण कर) इत्यादि मन्त्रों से उनको अपने २ काम में प्रेरणा करना व्यर्थ ही है क्योंकि वे तो प्रथम हीं से यह जानते हैं कि अमुक २ अवसर पर हमको अमुक २ काम करना चाहिये इसी से इस प्रकार के मन्त्र, उस २ अवसर पर अपने २ पाठमात्र हीं से यज्ञोपकारी हैं न कि अर्थबोध कराने से । और यह भी नहीं कह सकते कि ऐसे मन्त्र, उस अवसर पर उन २ अर्थों के स्मरण कराने के लिये हैं, क्योंकि ऋत्विजों में ब्राह्मणवाक्यों के अध्ययनाभ्यास ही से ऐसे दृढतर संस्कार उत्पन्न होते हैं कि वे उन अर्थों को अवसर पर स्मरण करा देते हैं स्मरण के लिये मन्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं रहती । और यह भी नहीं कह सकते कि उन्हीं संस्कारों को जगाने के लिये ऐसे मन्त्रों की आवश्यकता है, क्योंकि वह अवसर ही उन संस्कारों को झट जगा लिया करता है । इन उक्तयुक्तियों से यह निश्चित होता है कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है । यह बात भी उक्तसूत्र के अनन्तर ही "बुद्धशास्त्रात्" ॥ ३३ ॥ इस सूत्र से कही गई है इसका यह अर्थ

प्रीनाविहर' 'बर्हिस्तृणीही' ति शास्त्रात् पाठात्, ज्ञातस्य ज्ञानं निष्प्रयोजनमतः प्रयोगाद्बहिरेव ज्ञातार्थकत्वं हेतुरिति भावः ।

(४) एवम्—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥

इत्येवंजातीयकेषु मन्त्रेषु निबध्यमानं चतुःशृङ्गादि, न किंचित्कर्म नवा कस्यचित्कर्मणः संबन्धि काचिद्विकृतौ प्रकृतौ वा विद्यते । यदि तु कयाचिद्गौण्या वृत्त्या यागादिकमेव चतुःशृङ्गादिपदेन बोध्यते तदाऽपि तदीयस्य गौणरूपस्यानुष्ठानयोग्यताविरहात्तत्प्रतिपादनं केवलादृष्टार्थमेव स्यात् एवंच यज्ञप्रकाशने तैरङ्गीक्रियमाणे तदुच्चारणयोग्यप्रदेशविशेषावधारणस्य दुष्करतया तदुच्चारणस्याकस्मिकत्वं मन्त्रपाठक्रमानुसारित्वं च स्ववाच्यार्थतात्पर्याभावपर्यवसितं प्रसज्येतेति । तथाचउक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अविद्यमानवचनात् ॥ ३४ ॥ इति ।

अविद्यमानवस्तुनःवचनात् कथनात् । 'चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा' इति प्रतिपादितं वस्तु प्रकृतौ विकृतौ वा नास्तीत्यर्थः ।

(५) तथा—

ओषधे त्रायस्व । शृणोत ग्रावाणः ॥

इत्यादीनि मान्त्राणि संबोधनान्यभिमुखीकरणानर्हाचेतनोद्देश्यकत्वादत्यन्तबाधितार्थानि मन्त्राणां स्वार्थपरत्वेऽवश्यमेवताननर्थकत्वेन योजयेयुरतस्तेषां न स्वार्थे तात्पर्यम् ।

तथाच पूर्वोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अचेतनार्थबन्धनात् ॥ ३५ ॥ इति ।

अचेतनेऽर्थे ओषध्यादौ संबोधनविभक्तेः प्रयोगादित्यर्थः ।

॥ भाषा ॥

है कि जब अग्निविहरण आदि कार्य, पूर्व ही से 'बुद्ध' (ज्ञात) हैं तब मन्त्ररूपी शास्त्र से उनका ज्ञान कराना व्यर्थ ही है ।

(४) "चत्वारि शृङ्गा" इत्यादि मन्त्रों में जो एक वृषभ के चार शृङ्ग आदि असंभवपदार्थ कहे गये हैं वे स्वयं क्रियारूपी नहीं हैं और न किसी यज्ञक्रिया से संबन्ध रखते हैं और यदि 'सिंहो माणवकः' के नाई गौणवृत्ति से 'चतुर' 'शृङ्ग' आदि शब्दों का कोई दूसरा ही अर्थ किया जाय तब भी इस अंश में कोई प्रमाण नहीं मिल सकता कि किस यज्ञ में किस अवसर पर ऐसे मन्त्रों का उच्चारण करना चाहिये, इसी से ऐसे २ मन्त्र अपने उच्चारणमात्र से धर्मार्थ हैं न कि इनका अपने अर्थ में तात्पर्य है, यह बात भी उक्तसूत्र के अनन्तर "अविद्यमानवचनात्" ॥ ३४ ॥ इस सूत्र से कही है । इसका यह अर्थ है कि 'चत्वारिशृङ्गा' आदि मन्त्रों में अर्थ का सम्भव नहीं है ।

(५) "ओषधे त्रायस्व" (हे ओषधि ! रक्षा करो) "शृणोत ग्रावाणः" (हे पत्थरो ! सुनो) इत्यादि मन्त्रों में जड़ पदार्थों का संबोधन कहा है जिसका किसी प्रकार से संभव नहीं है, इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है । यह बात भी उक्तसूत्र के अनन्तर

(६) एवम्—

आदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम् । एको रुद्रो नद्वितीयोऽवतस्थे ॥

असङ्ख्याताः सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम् ॥

इत्यादावदितेर्द्युत्वमन्तरिक्षत्वं च तथा रुद्रस्यैकत्वमनेकत्वं च विप्रतिषिद्धम् तथैवा-दितेरेकस्या देवताया देवतान्तररूपत्वं विरुद्धम्, नचैवंविधो विप्रतिषिद्धोऽर्थः कर्मोपयिको भवितुमर्हति। नच स्तुत्यर्थमविद्यमानस्यापि गुणस्योपचारेणाभिधानोपपत्तेरेकस्या देवताया देवतान्तररूपत्वमनेकरूपत्वं च शक्यं बोधयितुमिति वाच्यम् । ब्राह्मणे हि विधिशेषत्वात्स्तु-तयः सप्रयोजना भवन्ति मन्त्रे तु तदभावात्स्तुतिपरत्वेऽप्यानर्थक्यं दुर्वारमेवेति न मन्त्राणां स्वार्थपरत्वम् । तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अर्थविप्रतिषधात् ॥ ३६ ॥ इति ।

अर्थयोः मन्त्रघटकपदार्थयोः विप्रतिषेधात् विरोधात् । अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमि-त्यत्रादितिः चेतना, तस्या अचेतनेन अन्तरिक्षादिना साकं संबन्धो विरुध्यतइत्यर्थः ।

(७) तथा वृद्धा विद्वांसः शिष्यान् मन्त्राणामक्षरावधारण एव प्रवर्तयन्ति ते च मन्त्रा-क्षराण्येवाभ्यस्यन्ति तदेवचाभ्यसितव्यं यस्य कर्मण्युपयोगो भवेत् एवंच मन्त्रोच्चारणस्यैव

॥ भाषा ॥

"अचेतनार्थबन्धनात्" ॥ ३५ ॥ इस सूत्र से कही गई है कि जड़ों का संबोधन नहीं हो सकता इस से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ।

(६) "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्" (अदिति, स्वर्गलोक है और अन्तरिक्षलोक है) तथा "एको रुद्रो न द्वितीयोऽवतस्थे" (रुद्र एक है दूसरा नहीं है) "असंख्याता: सहस्राणि ये रुद्रा-अधि भूम्याम्" (जो अगणित सहस्रों रुद्र भूमि पर हैं) इत्यादि मन्त्रों का अर्थ परस्पर में विरुद्ध है क्योंकि प्रथममन्त्र में एक ही अदितिदेवता को स्वर्गलोक और अन्तरिक्षलोक दोनों कहा है इसमें दो विरोध हैं एक तो यह कि देवता, लोक कैसे हो सकता है और लोक भी देवता है तो जो देवता स्वर्गलोकरूपी है वह अन्तरिक्षलोकरूपी कैसे हो सकता है । और द्वितीय तृतीय मन्त्र के अर्थ में तो यही विरोध है कि रुद्र जब एक है तब अनेक कैसे ? । और जब ये अर्थ स्वयं ठीक नहीं हो सकते तब यज्ञों में इनसे अर्थ के द्वारा उपयोग की आशा नहीं हो सकती । और यह भी नहीं कह सकते कि जैसे अर्थवाद, बाधितगुणों से भी प्रशंसा करते हैं वैसे ही ऐसे मन्त्र भी एक देवता को अनेकरूपी बना कर स्तुति करते हैं, क्योंकि अर्थवाद तो विधिवाक्यों के अवयवभूत हैं इससे उनकी की हुई स्तुति, विधेय से अन्वित हो कर सफल होती है और क्रियार्थमन्त्र तो विधिवाक्यों के अवयव नहीं हैं जिस से कि उनकी की हुई स्तुति भी यज्ञों में उपयोग न होने से व्यर्थ ही हो जायगी । इन कारणों से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ये बातें भी उक्त-सूत्र के अनन्तर "अर्थविप्रतिषेधात्" ॥ ३६ ॥ इस सूत्र से कही हैं इस सूत्र का अर्थ यह है कि मन्त्रस्थपदों के अर्थ, परस्पर में विरुद्ध हैं इससे मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ।

(७) अनादिशिष्टाचार यह है कि वृद्धवैदिक लोग अपने शिष्यों से केवल मन्त्रों ही का अभ्यास कराते हैं न कि उनके अर्थों का, और अभ्यास उसी का उचित होता है कि जिसका यज्ञों में उपयोग हो। इससे निश्चित होता है कि मन्त्रों का पाठ ही यज्ञकर्म का उपयोगी है न कि अर्थ ।

कर्मोपयोगित्वावधारणाच्च कर्मानुपयुक्ते स्वार्थबोधे मन्त्राणां तात्पर्यम् तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्-
स्वाध्यायवदवचनात् ॥ ३७ इति ।

यथा स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इति अक्षरग्रहणाविधिः तथा अवचनात् अर्थस्मरणं मन्त्रेण कर्तव्यमिति विध्यभावादित्यर्थः ॥

(८) किंच—

१ सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू इत्यादिः

२ अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टि रस्मे इत्यादिः

३ एकया प्रतिधाऽपिबत् इत्यादिः

एवंजातीयकेषु मन्त्रेषु कथंचिदपि नार्थपरत्वं घटते द्वितीये हि इन्द्रस्तुतिरूपस्य वाक्यार्थस्यापाततोऽवगमसंभवेऽप्यम्यगादिपदार्थस्य दुर्ज्ञेयत्वान्न सकलस्य मन्त्रस्यार्थवत्त्वं सिध्यति । सृण्येवेत्यादौ तु वाक्यार्थोऽपि दुर्ज्ञान इति सुतरामेवानर्थक्यम् । नचोक्तजातीयकेषु मन्त्रेषु श्रोतुर्वाक्यार्थबोधाभावेऽपि न स्वार्थपरत्वं विरुध्यते मन्दाचक्षुषो रूपाप्रत्यक्षेऽपि प्रदीपेषु प्रकाशकत्ववदिति वाच्यम् । सर्वेषु मन्त्रेषु कर्तुं शक्यस्योच्चारणस्य कर्माङ्गतासंभवे प्रायिकस्यार्थबोधस्य कर्माङ्गत्वे मानाभावेन तत्र मन्त्राणां तात्पर्यकल्पनाया अन्याय्यत्वात् । तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अविज्ञेयात् ॥ ३८ ॥ इति ।

सृण्येवजर्भरीतुर्फरीत्यादिमन्त्राणामविज्ञेयार्थकपदघटितत्वादित्यर्थः ॥३८॥

॥ भाषा ॥

इसी से मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है यह बात भी उक्त सूत्र के अनन्तर "स्वाध्यायवदवचनात्" ॥ ३७ ॥ इस सूत्र से कही गई है । इस सूत्र का यह अर्थ है कि जैसे "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस वेदवाक्य से वेद के अक्षराभ्यास का विधान है वैसे इस वाक्य से यह विधान नहीं है कि मन्त्र से अर्थ का स्मरण करना चाहिये इससे भी मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है ।

(८) "सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू" इत्यादि "अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टि रस्मे" इत्यादि "एकया प्रतिधाऽपिबत्" इत्यादि ऐसे २ मन्त्रों का अपने अर्थ में कदापि तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि द्वितीयमन्त्र के विषय में यद्यपि सामान्यरूप से इतना निश्चित हो सकता है कि इन्द्र की स्तुति में इस मन्त्र का तात्पर्य है तथापि 'अम्यक्' आदि शब्दों का जब कोई अर्थ नहीं ज्ञात हो सकता तब यह मन्त्र अनर्थक है । और प्रथम तृतीय मन्त्र का तो पदार्थ वा वाक्यार्थ कुछ भी नहीं ज्ञात होता इससे ये अनर्थक ही हैं । यदि यह कहा जाय कि अर्थ का ज्ञान न होना श्रोता का अपराध है न कि मन्त्र का, तो इस अपराध से मन्त्र अनर्थक नहीं हो सकते क्योंकि अन्ध को प्रज्वलितदीपक से रूप, प्रत्यक्ष नहीं होता, इससे क्या यह मान लिया जायगा कि प्रज्वलितदीपक, रूप का प्रत्यक्ष नहीं कराता ? तो इसका यह उत्तर है कि जब सब मन्त्रों का अर्थबोध श्रोताओं को नहीं होता अर्थात् अर्थबोध सार्वजनिक नहीं है तब वह यज्ञकर्म का अङ्ग नहीं हो सकता, और मन्त्रों का पाठ तो सब श्रोता कर सकते हैं इससे पाठ ही यज्ञाङ्ग है और मन्त्रों का, अर्थ में तात्पर्य नहीं है । ये बातें भी उक्तसूत्र के अनन्तर "अविज्ञेयात्" ॥ ३८ ॥ इस सूत्र से कही गई हैं जिसका यह अर्थ है कि 'सृण्येव' आदि मन्त्रों में पदों के अर्थ नहीं ज्ञात हो सकते इस से

(९) अपिच मन्त्राणां स्वार्थपरत्वे—

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावो नाशिरं दुह्रे न तपन्ति धर्मम्।
आ नो भर प्रमगन्दस्य वेदो नैचाशाखं मघवन् रन्धयानः॥

इत्यादिमन्त्रेषु सादीनां कीकटाद्यर्थानामभिधानाद् वेदस्य कृत्रिमत्वेनाप्रामाण्यं प्रसज्येत। नच तेष्वर्थान्तरं शक्यमुपपादयितुमित्यर्थसत्त्वासत्त्वे अनादृत्य मन्त्राणामुच्चारणमेव कर्माङ्गत्वेनाश्रयणीयम् तथाच न मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्यम्। तथाच पूर्वोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्-

अनित्यसंयोगादमन्त्रानर्थक्यम्॥ ३९॥ इति।

किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गाव इत्यत्र कीकटदेशादिरूपानित्यवस्तुवचनपदघटितत्वात् अर्थविवक्षायामनित्यत्वं वेदस्य स्यादतो मन्त्रानर्थक्यम् मन्त्रः दृष्टस्यार्थस्मरणस्य कारणं न, किन्तु तदुच्चारणमदृष्टार्थमित्यर्थः॥ ३९॥

सिद्धान्तस्तु

'उरु प्रथस्वे' त्यादीनां क्रियार्थानां मन्त्राणामस्त्येव स्वार्थे तात्पर्यमिति। तथाहि। सत्यमेवैतत् मन्त्राणां न विधायकत्वमिति। पूर्वपक्षे प्रतिपादितस्य विनियोगविशेषहेतुकानुमानस्य तत्रैवोक्तानां विधिशक्तिविहन्तॄणां च मन्त्रेभ्यो निराकर्तुमशक्यत्वात्। अतएव 'विधिमन्त्रयोरिति' (मी० द० अध्या० २ पा० १ सू० ३०) सूत्रे भट्टपादैरुद्धृतः प्राचां श्लोकः

यस्माद्व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्। ब्राह्मणेन नियुज्यन्ते तस्मात्तेन विधायकाः॥१॥इति।

॥ भाषा ॥

मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है।

(९) मन्त्रों का यदि उनके अर्थ में तात्पर्य माना जाय तो "किन्ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" (तुम्हारी गौएं मगधदेश में क्या करती हैं) इत्यादि मन्त्रों में मगधदेश आदि अनित्यपदार्थ के कथन से वेद उन देशों की उत्पत्ति के अनन्तर बना हुआ निश्चित होगा तब वेद की अनादिता ही टूट जायगी इससे यही स्वीकार करना चाहिये कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है किन्तु उनका पाठमात्र, यज्ञोपयोगी है। यह बात भी उक्तसूत्र के अनन्तर "अनित्यसंयोगान्मन्त्रानर्थक्यम्"॥ ३९॥ इस सूत्र से कही है। इसका यह अर्थ है कि मगधदेश आदि अनित्यवस्तुओं के वाचक पद मन्त्रों में हैं और उनके अर्थ से वेद अनित्य हो जायगा इससे मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है।

यहां तक पूर्वपक्ष समाप्त हुआ।

अब सिद्धान्त यह है कि—

यह सत्य ही है कि मन्त्र विधायक नहीं होते क्योंकि पूर्वपक्ष में जो अनुमान और विधायकशक्ति तोड़ने वाले 'यद्' आदि शब्द, दिखलाये गये उनका खण्डन नहीं हो सकता। इसी से 'विधिमन्त्रयोः' (मी० द० अध्या० २ पा० १ सू० ३०) के वार्तिक में भट्टपाद का उद्धृत यह प्राचीनों का श्लोक है कि—

'यस्मात्०' अ० मन्त्रों में विधान करने की शक्ति नहीं है क्योंकि ब्राह्मणभाग की आज्ञा से वे (मन्त्र) तण्डुलादिद्रव्यों के समान स्वयम् यज्ञकर्मों में जब नियुक्त किये जाते हैं तब

येषु तु विरलेषु वसन्ताय कपिञ्जलानित्यादिमन्त्रेषु न तेषां प्रसरः तेषां विधायकत्वेऽपि न तावन्मात्रेणेष्टसिद्धिः भूयसैव व्यपदेशदर्शनात् पूर्वपक्षे सूत्रोक्तहेतूनामवतरणाय रचिता, मन्त्राणामुच्चारणमेव कर्माङ्गं नत्वर्थबोध इति प्रतिपादयन्ती, पूर्वपक्षोक्ता भूमिका तु प्रथमं विचार्यते किं मन्त्रोच्चारणस्य साक्षादेव कर्माङ्गत्वं प्रयाजादिवत् ? अथवा स्वकर्मभूतमन्त्रद्वारकपरम्परया, अवघातादिद्वारकपरम्परया कर्माङ्गभूतप्रोक्षणादिवत् ? नाद्यः प्रमाणाभावात् । न तावत्प्रकरणं साक्षादङ्गत्वे प्रमाणम् कर्मप्रकरणे मन्त्रोच्चारणस्य विशिष्य विधानाभावात् तत्र हि मन्त्राःकेवलं पठित एव नतु कर्मण्यस्मिन्निमंमन्त्रमुच्चारयेदिति विधिरस्ति । अथ स्वाध्यायविधिना वेदानां यथाऽऽम्नानमध्ययनं विधीयते तच्च कर्मप्रकरणेष्वाम्नातानां मन्त्राणां तत्रैवाध्ययनस्य विधाने पर्यवस्यति अयं चाध्ययननियमः स्वस्यार्थवत्त्वाय प्रकरणिकर्म-

॥ भाषा ॥

उन मन्त्रों में स्वतन्त्रता कहां से आ सकती है ? और जिन कतिपय कपिञ्जलादिमन्त्रों में उक्त-अनुमानादि के सञ्चार का सम्भव नहीं है वे मन्त्र बहुत थोड़े अर्थात् दो ही चार हैं । इसी से उतने ही मन्त्रों के विधायक होने के कारण, सब क्रियार्थमन्त्रभाग विधायक नहीं कहला सकता, क्योंकि पूर्वोक्त ब्राह्मणग्रामरूपी दृष्टान्त के अनुसार बहुत्व ही विधायकत्व के व्यवहार का कारण होता है परन्तु पूर्वोक्त ९ हेतुओं के अवतारणार्थ जो भूमिका, पूर्वपक्ष में कही गई है जिसका कि यह सिद्धान्त है कि मन्त्रों का उच्चारण ही यज्ञोपकारी है न कि उनका अर्थबोध, उस भूमिका पर प्रथम यह विचार किया जाता है कि—

खं०—(१) क्या मन्त्रों का उच्चारण, प्रयाजादि के नाईं साक्षात् (अव्यवधान से) ही यज्ञोपकारी है ? अथवा जैसे प्रोक्षण (भिगाना) आदि, अवघात (भूसी छुड़ाने के लिये कूटना) आदि के द्वारा परम्परा से यज्ञोपकारी होते हैं वैसे उच्चारण भी अपने कर्मकारकरूपी मन्त्रों के द्वारा परम्परा से यज्ञोपकारी हैं ? क्योंकि अन्य प्रकार से यज्ञोपकारी होने का असंभव है और इन दोनों पक्षों में प्रथम पक्ष इस कारण से ठीक नहीं है कि मन्त्रोच्चारण के साक्षात् यज्ञोपकारी होने में कोई प्रमाण नहीं है । यदि यह कहा जाय कि यज्ञों के प्रकरण (मन्त्रसंहिता) में वेद के मन्त्रों के स्वरूप कहे हुए हैं इससे प्रकरण ही उक्त विषय में प्रमाण है, तो इसका यह खण्डन है कि यज्ञों के प्रकरण में यदि विशेषरूप से ऐसे कोई विधायक वाक्य होते कि "इस कर्म में इस मन्त्र को पढ़े" तब तो उक्त विषय में प्रकरण प्रमाण होता, सो तो है नहीं किन्तु मन्त्रों का स्वरूपमात्र यज्ञों के प्रकरण में पठित है और इतने मात्र से उक्त विषय में प्रकरण नहीं प्रमाण हो सकता । वास्तविक तो यह है कि मन्त्रसंहिता में यज्ञ का कोई प्रकरण ही नहीं होता किन्तु ब्राह्मणभाग ही में ।

समाधान—यद्यपि प्रथमकल्प (पक्ष) में प्रकरण प्रमाण नहीं हो सकता तथापि पूर्वोक्त "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" यह अध्ययनविधि ही प्रथमकल्प में प्रमाण है क्योंकि यह विधि-वाक्य, यथाश्रुत कर्मों के अनुसार अर्थात् वेद में जहां जो वाक्य पठित है वहीं उसके अध्ययन का विधान करता है निदान संहिता के यज्ञप्रकरण में पठित मन्त्रों का वहीं अध्ययन करने का विधान करता है और यह अध्ययन का नियम, (जिसका कि विधान होता है) तभी सफल हो सकता है कि जब मन्त्र, अपने प्रकरणवाले यज्ञों के उपकारी हों । तथा मन्त्र, तभी अपने प्राकरणिक यज्ञों के अङ्ग (उपकारी) हो सकते हैं कि जब मन्त्रों का कोई व्यापार हो, क्योंकि व्यापार के बिना कोई

निरूपितयज्ञत्वं मन्त्रेष्वाक्षिपति तच्चाङ्गत्वं नानुच्चारिते मन्त्रे संभवति, निर्व्यापारत्वात् अतः कर्मकाले मन्त्रमुच्चारयेदिति विधिः कल्प्यते एवंचोच्चारितेषु मन्त्रेषु साक्षात्कर्माङ्गतायामध्ययनविधिरेव प्रमाणमिति चेन्न । मन्त्राणामङ्गत्वनिर्वाहाय कल्पितस्याप्युच्चारणस्य मन्त्राक्षराभिव्यक्तिमात्रेणोपक्षीणतया साक्षात्कर्माङ्गताऽऽक्षेपकत्वे प्रमाणाभावात् । नापि द्वितीयः । प्रमाणाभावादेव । नच प्रकरणमेव प्रमाणमिति वाच्यम् । द्वारत्वेनाभिमतानां मन्त्राणां क्रियाऽनात्मकतया स्वयमेव प्रकरणग्राह्यत्वासंभवेन द्वारिण्युच्चारणे कर्माङ्गत्वस्य दूरनिरस्तत्वात् ।

तथाचोक्तम् वार्तिके—

नावान्तरक्रियायोगादृते वाक्योपकल्पितात् । गुणद्रव्ये कथं भावैर्गृह्यन्ते प्रकृताः क्रियाः इति ॥

किं चोभयोरपि कल्पयोः कथंचिदध्ययनविधिबलान्मन्त्राणां स्वीकृतमपि कर्माङ्गत्वं कथमपि नोपपद्यते व्यापारस्यैवाभावात् नचोच्चारणं तथा, तस्य पुंव्यापारत्वेन मन्त्र-

॥ भाषा ॥

किसी का उपकारी नहीं होता और व्यापार भी मन्त्रों का, उच्चारण से अन्य नहीं है, इसी रीति के अनुसार उक्त अध्ययनविधिरूपी मूल से इस विधिवाक्य की कल्पना होती है कि "यज्ञादि के अनुष्ठानकाल में मन्त्रों का उच्चारण करे" इसी से स्पष्टरूप से प्रथमकल्प निकलता है कि "मन्त्रों का उच्चारण यज्ञों का साक्षात् अङ्ग है" ।

ख०—अनन्तरोक्त कल्पितविधि से भी प्रथमकल्प नहीं सिद्ध हो सकता है, क्योंकि यह भी कह सकते हैं कि मन्त्रों का उच्चारण इसी लिये है कि मन्त्राक्षरों का श्रवण हो, न कि इस लिये है कि उच्चारण से यज्ञों का साक्षात् उपकार हो, इस रीति से प्रथमकल्प ठीक नहीं है ।

ऐसे ही द्वितीयकल्प भी ठीक नहीं है क्योंकि उसमें भी कुछ प्रमाण नहीं है । यह तो कह नहीं सकते कि उसमें प्रकरण प्रमाण है क्योंकि यह रीति अनुभव से सिद्ध और वार्तिककारों की कही हुई है कि प्राकरणिक यज्ञरूपी क्रिया, गुणों और द्रव्यों को तभी अपना अङ्ग बना कर ग्रहण करती है जब कि वाक्य से कल्पित कोई क्रिया, मध्यवर्तिनी होती है, जैसे दर्शपूर्णमासादिरूपी क्रिया, क्रयणादि और पेषणादिरूपी अवान्तरक्रिया के द्वारा आरुण्यादिरूपी गुणों और तण्डुलादिरूपी द्रव्यों को अपनी इतिकर्तव्यतांश में ले आकर अङ्ग बनाती है, तब ऐसी अवस्था में यज्ञरूपी क्रिया, मन्त्रों को अपना अङ्ग नहीं बना सकती, क्योंकि उस क्रिया और मन्त्रों के मध्य में कोई दूसरी क्रिया नहीं कही है और उच्चारणक्रिया तो मन्त्रों से व्यवहित है, क्योंकि द्वितीयकल्प में उच्चारण, अपने कर्मकारकरूपी मन्त्रों के द्वारा यज्ञाङ्ग कहा जाता है तो जब द्वाररूपी मन्त्र ही, मध्यस्थक्रिया के न होने से यज्ञाङ्ग नहीं है तब उसका पुच्छलग्न द्वारीरूप उच्चारण का कर्माङ्ग होना तो बहुत ही दूर है । तात्पर्य यह है कि द्रव्य और गुण तो क्रिया ही के द्वारा यज्ञाङ्ग होते हैं तथा यह बात सभी प्रकार से उलटी है कि उच्चारणरूपी क्रिया, शब्दरूपी द्रव्य के द्वारा यज्ञाङ्ग हो । तथा उक्त दोनों कल्पों में और भी यह एक दोष तुल्य ही है कि उक्त अध्ययनविधि आदि के बल से यदि कथंचित् मन्त्रों का यज्ञाङ्ग होना मान लिया जाय तो भी वह ठीक नहीं हो सकता क्योंकि मन्त्रों का कोई ऐसा व्यापार नहीं है जिससे कि वे यज्ञाङ्ग हो सकें और मन्त्रों का उच्चारण तो पुरुष का व्यापार है न कि मन्त्रों का, तथा जहां वेद में ऐसा भी विधान है कि "इस मन्त्र से

व्यापारतायाः असंभवदुक्तिकत्वात् । एतेन श्रुतविधिविनियुक्तानामपीषेत्वादीनां कर्माङ्गता निरस्ता । नच मन्त्रघटकपदार्थो, बोधे मन्त्रव्यापारतामनुभावितुं प्रभवति, तस्य वाक्यार्थप्रतिपादनमात्रपर्यवसायितयोपक्षीणस्य कर्मानुष्ठानौपयिकत्वाभावात् । अतो नासौ भूमिका विचारसहा । तथाच प्रकरणावधारितायाः मन्त्राणां कर्माङ्गतायाः उपपादकं गत्यन्तरमनासादयता कर्मानुष्ठानौपयिकेन वाक्यार्थप्रतिपादनरूपेणैव व्यापारेण तस्या उपपत्तिरनन्यशरणत्वादवश्याश्रयणीयेति न्यायसिद्धमेव मन्त्रोच्चारणस्यार्थाभिधाने पर्य्यवसानम्। अयमेव च वाक्यार्थबोध इतिकर्तव्यतात्वेन विधिभिः परिगृह्यते फलंचास्य व्यापाररूपस्य वाक्यार्थबोधस्य कर्मसमवेतार्थस्मृतिरेव, मन्त्राणां ब्राह्मणवाक्यविहितक्रियमाणार्थानुवादकत्वात् । एवंच कर्मौपयिकार्थाभिधानरूपदृष्टार्थत्वेनैव प्रकरणपाठस्यार्थवत्ताया उपपन्नत्वान्नादृष्टकल्पना ।नच तादृशार्थस्मृतेरेव किं फलमिति वाच्यम् । क्रियमाणानुवादिनां मन्त्राणामनन्तरानुष्ठास्यमानतादृशार्थस्मृतेः स्वयमेव फलरूपत्वात् । अनुमन्त्रणादिषु चानुष्ठितार्थस्मृतेः फलत्वस्य कृताकृतावेक्षणयोः सुवचत्वात् । प्रोत्साहनार्थैः 'अगन्म स्वः संज्योतिषा भूमे'

॥ भाषा ॥

इस क्रिया को करे" जैसे "इषे त्वा मन्त्र से पलाशशाखा का छेदन करे" इत्यादि, वहां भी मन्त्र, क्रिया के अङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनका कोई व्यापार नहीं है । और यह भी नहीं कह सकते कि मन्त्रों में वर्तमान एक २ पद के अर्थ का बोध ही मन्त्रों का व्यापार है और उसी के द्वारा मन्त्र, यज्ञोपयोगी होते हैं, क्योंकि पदार्थबोधरूपी व्यापार का कार्य वाक्यार्थबोध ही है इससे मन्त्र, उस व्यापार के द्वारा वाक्यार्थबोध ही के उपयोगी हो सकते हैं न कि यज्ञों के, इस लिये उक्त भूमिका ठीक नहीं है ।

अब ध्यान देना चाहिये कि जब मन्त्रों का यज्ञाङ्ग होना प्रकरणानुसार उक्तरीति से सिद्ध ही है किन्तु व्यापार के बिना वे कर्माङ्ग नहीं हो सकते और उनका व्यापार भी उक्तरीति से कोई दूसरा ऐसा नहीं हो सकता कि जिसके द्वारा वे कर्माङ्ग हों तो ऐसी दशा में अनन्यगति हो कर यही स्वीकार करना पड़ता है कि वाक्यार्थ का बोध ही मन्त्रों का व्यापार है, क्योंकि यही यज्ञानुष्ठान का उपयोगी है और इस रीति से यह बात न्यायसिद्ध ही हो चुकी कि मन्त्रोच्चारण का पर्यवसान अर्थबोध ही में है तथा इसी वाक्यार्थबोधरूपी व्यापार को अपनी इतिकर्तव्यता बना कर सबी विधिवाक्य ग्रहण करते हैं और इस वाक्यार्थबोधरूपी व्यापार का फल भी विधिविहित क्रियाओं का स्मरण दिलाना ही है क्योंकि मन्त्र, ब्राह्मणवाक्यों से विहित क्रियाओं का अनुवाद ही करते हैं न कि विधान, और यज्ञ के प्रकरण में मन्त्रों के पाठ से भी यही निश्चित होता है कि मन्त्र, वाक्यार्थबोधरूपी दृष्ट ही व्यापार के द्वारा यज्ञोपयोगी हैं । इसी से अदृष्ट की कल्पना करने में जो गौरवदोष पड़ता था वह भी नहीं पड़ा । और यदि यह प्रश्न किया जाय कि विहित क्रियाओं के स्मरण दिलाने ही का क्या प्रयोजन है ? तो इसका यही उत्तर है कि जब मन्त्र, अनुवादक ही हैं तब उनके उच्चारण के अनन्तर कर्तव्य क्रियारूपी वाक्यार्थ का स्मरण तो आप ही फलरूपी है तब फल के फल का प्रश्न अत्यन्त अनुचित ही है । और जहां अनुमन्त्रण (क्रिया के अनन्तर मन्त्र पढ़ना) होता है वहां कृतक्रिया के स्मरण का, "यह क्रिया हो चुकी और यह क्रिया अवशिष्ट है" यह विवेक ही फल है । ऐसे ही उत्साह दिलानेवाले "अगन्म स्वः" इत्यादि मन्त्रों से कर्तव्य

स्यादिभिस्तज्जनितायां अनुष्ठेयार्थस्मृतेः 'यदेव श्रद्धया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवती' तिवाक्यावधारितकर्माङ्गताकश्रद्धाजननार्थत्वात्। स्तोत्रशस्त्रादिमन्त्राणां च स्तुत्यर्थेनैव तज्जन्यस्तुत्यगुणस्मृतेः कर्मस्वारादुपकारकत्वात्। नच प्रकारान्तरेणाप्यनुष्ठेयार्थस्य स्मृतिसम्पादनसंभवान्मन्त्रनियमस्यादृष्टार्थता सिद्धान्तिनोऽपि संमतैवेति कथमुच्यते नादृष्टकल्पनेतीति वाच्यम्। भावानवबोधात्। जाते हि वाक्यार्थप्रत्यये तादृशनियमादृष्टकल्पनाऽवसरो भवति नत्वौपयिकार्थप्रतीतिनिराकाङ्क्षाद्वाक्यादेवादृष्टं कल्प्यते। नचादृष्टार्थता, प्रकरणबलादुल्लसन्ती केन निराकर्तुं शक्यत इति वाच्यम्। अन्तरङ्गत्वात्प्रकरणापेक्षया बलवता वाक्यार्थबोधरूपदृष्टार्थतामुल्लासयता लिङ्गेनैवेति सुवचत्वात्। नच प्रकरणस्य बाधे

॥ भाषा ॥

क्रियाओं के स्मरण का उस क्रिया में श्रद्धा ही प्रयोजन है क्योंकि "यदेव श्रद्धया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति" (जो ही वैदिकक्रिया श्रद्धा से की जाती है उसी से पूर्णफल होता है इस वाक्य के अनुसार श्रद्धा भी यज्ञाङ्ग है। ऐसे ही स्तोत्र (वे मन्त्रविशेष जिनका गान किया जाता है) और शस्त्र (वे मन्त्रविशेष जिनका गान नहीं किया जाता) आदि मन्त्रों से प्रशंसा के द्वारा जो प्रशंसनीय देवतादि के गुणों का स्मरण होता है उस स्मरण से तो यज्ञों का उपकार स्पष्ट ही है।

प्रश्न—जिस क्रिया के अनन्तर जो क्रिया यज्ञों में की जाती है उस पूर्वक्रिया की समाप्ति भी उस उत्तरक्रिया को स्मरण कराती है। इसी से "मन्त्रों ही से उत्तरक्रिया का स्मरण करना चाहिये" इस नियम का कोई लौकिकफल नहीं है इससे सिद्धान्ती भी इस नियम का अदृष्ट ही फल मानता है अर्थात् यह मानता है कि मन्त्र ही के द्वारा उक्त क्रिया के स्मरण करने से धर्म (अदृष्ट) होता है न कि पूर्वक्रिया की समाप्तिद्वारा स्मरण से। तो जब इस रीति से सिद्धान्ती को भी अदृष्ट की कल्पना करनी ही पड़ती है तो पूर्व में यह क्यों कहा गया कि "अदृष्ट की कल्पना में जो गौरव पड़ता था वह भी नहीं पड़ा"?

उत्तर—प्रश्नकर्ता ने सिद्धान्ती का तात्पर्य ही नहीं समझा क्योंकि तात्पर्य यह है कि जब मन्त्रों से वाक्यार्थबोध हो जाता है तब उक्तनियम से अदृष्ट की कल्पना का अवसर आता है न कि वाक्यार्थबोध से पूर्व। इससे वाक्यार्थबोधरूपी दृष्ट ही व्यापार के द्वारा मन्त्र, यज्ञाङ्ग होते हैं अर्थात् मन्त्रों के कर्माङ्ग होने के लिये अदृष्टव्यापार की कल्पना नहीं होती। और उक्तनियम से अदृष्ट की कल्पना तो नियम के साफल्यार्थ है। और पूर्वपक्षी के मत में तो मन्त्रोच्चारण के अनन्तर ही अर्थात् वाक्यार्थबोध के पूर्व ही अदृष्टरूपी व्यापार की कल्पना होती है जिस से कि मन्त्र, यज्ञाङ्ग होता है इसी से कल्पनागौरव दोष पड़ता है।

प्रश्न—मन्त्रों का अदृष्टार्थ होना जब यज्ञों के प्रकरणबल ही से सिद्ध होता है तब उसका निराकरण कौन कर सकता है?।

उत्तर—वाक्यार्थबोधरूपी दृष्ट द्वार का दिखलानेवाला मन्त्रलिङ्ग (अपने २ अर्थ के बोध कराने में मन्त्र के पदों की शक्ति) ही मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने का वारण करता है क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वह इस कारण से प्रबल है कि पदार्थों का बोध, प्रथम ही होता है और प्रकरण का ज्ञान पीछे होता है तथा मन्त्रलिङ्ग का ज्ञान पदार्थबोध से भी प्रथम होता है। इस क्रम के अनुसार प्रकरण की अपेक्षा मन्त्रलिङ्ग अन्तरङ्ग है।

मुपपादितत्वात् । युक्तियुक्तश्चासावविरोधः विरोधे मानाभावात् नहि यः केनचि-द्विनियुज्यते स न किंचिद्विदधातीति क्वचित् सिद्धम् ब्रीह्यादेस्त्वविधायकत्वं सामर्थ्यविरहादेव । नच ब्राह्मणस्य विधायकत्वग्रहकालोत्तरमेव 'यत्सन्निधाने यो दृष्ट' इति न्यायात्स्वसंबन्धित्वेन स्वार्थविधेयस्य स्मरणे श्रुत्या विनियोगो भवतीति नियोगात्प्रागेव विधायकत्वमिति मा भूद् ब्राह्मणे तयोर्विरोधः मन्त्रेषु तु प्रागेव ब्राह्मणेन विनियुज्यमानेषु पूर्वमेव स्मारकत्वग्रहाद्विधायकत्वं पाश्चात्यं नोपपद्यत इति वाच्यम् । विकल्पासहत्वात् । तथा हि । किं मन्त्रेषु ब्राह्मणवाक्यकृतविनियोगप्रयोज्यस्मारकत्वग्रहात्पूर्वकाले विधिशक्तिरस्ति नवा, अस्ति चेत् नासौ स्मारकत्वेनापनेतुं शक्यते । नास्ति चेत्, विनियोगाभावेऽपि कस्ता-मुत्पादयेत् विधायकत्वस्मारकत्वयोरविरोधस्यानुपदमेवोपपादितत्वात् । तथाच व्यर्थो विनि-योगोपन्यासः, नह्यत्र स्मारकत्वविधायकत्वग्रहयोः पौर्वापर्यस्योपपादनात्किंचित् प्रयोजन-मुपलभ्यते किंतु स्मारकत्वविधायकत्वयोर्विरोधस्योपपादनादेव, स च नैवोपपादयितुं शक्यते इति चेत् —

अत्रोच्यते । ब्राह्मणवाक्यस्य शक्तिपर्यालोचनया स्मारकत्वावगमेऽपि कर्म किंचिदनूद्य विनियोगाभावात्कर्मविधायकत्वं तेषां यद्यपि न विरुध्यते तथापि मन्त्राणां तत्तत्कर्मानूद्य तत्तत्स्मारकतया तत्तद्ब्राह्मणवचनैर्विनियोगात्कर्मविधायकत्वं विरुध्यत एवेति विनियो-गघटित उक्तो हेतुर्विधायकत्वाभावसाधने क्षम एव । किंच विधिशक्तिविहन्तारस्तावत्

॥ भाषा ॥

होता क्योंकि विधायक दो ही होते हैं एक चेतन, दूसरा वेद, तो जब मन्त्रों के उच्चारणकाल से पूर्व हीं यह निश्चित हो गया कि ब्राह्मणवाक्य ने अपने अर्थ के स्मरण कराने में इस मन्त्र को नियुक्त किया है तब वह मन्त्र, उस अर्थ का स्मरण हीं करा सकता है न कि विधान, इसी से मन्त्र नहीं विधायक होता ।

खण्डन—(२) जिस समय यह निश्चय होता है कि यह मन्त्र, ब्राह्मणवाक्य के ओर से स्मरण कराने में नियुक्त है, उससे पूर्व, विधान करने की शक्ति उस मन्त्र में है वा नहीं ? यदि है तो स्मरण कराने से उसका नाश नहीं हो सकता क्योंकि यह अभी कहा जा चुका है कि स्मरण कराने से विधान करने में कोई विरोध नहीं है । और यदि उससे पूर्व, मन्त्र में विधान करने की शक्ति नहीं है तो यदि मन्त्र नियुक्त न होता तो भी उसमें विधान करने की शक्ति को कौन उत्पन्न कर सकता ? निदान जब नियुक्त होने के साथ, विधान करने का कुछ विरोध नहीं है तब उक्त अनुमान में, नियुक्त होने की चर्चा व्यर्थ ही है, और नियुक्त होने पर भी मन्त्र विधायक हो सकते हैं ।

समाधान—(१) ब्राह्मणवाक्यों से, जिन कर्मों का नाम धर कर जो मन्त्रवाक्य उन कर्मों में स्मारक बना कर नियुक्त किये गये वे मन्त्रवाक्य उन कर्मों के विधायक कदापि नहीं हो सकते । लोक में भी राजादि की आज्ञा से जिस कर्म में जो पुरुष साक्षात् कर्ता बना कर नियुक्त होता है वह दूसरे के प्रति उस कर्म करने का विधान नहीं कर सकता किन्तु आप ही करता है । इससे अनन्तरोक्त अनुमान ठीक ही है और मन्त्र विधायक नहीं हैं ।

समा०—(२) इस कारण से भी मन्त्र विधायक नहीं होते कि "यद्, (जो, जिन) संबो-

यच्छब्दसम्बोधनविभक्त्युत्तमपुरुषयदिशब्दादयः। यथा "याभिः गोभिः यजते याश्च ददाति ताः गावो न नश्यन्ति नच ताः तस्करो हरति नचासां कंचिदवयवममित्रकृतो व्याधिरुपद्रवः पीडयति गोस्वामी च ताभिः सह ज्योक् चिरकालं सचते संसक्तः संयुक्तो भवती" त्यर्थके गोस्तुतिरूपे—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाम् आमित्रो व्यथिर आ दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योक् इत् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥

इतिमन्त्रे गोयागगोदानयोः सिद्धवद्भावाभिधायिना यच्छब्देन विधायकत्वमुपहन्यते।
एवम् "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" इतिमन्त्रे वक्त्रभिमुखीकरणार्थया 'अहे' इति संबोधनाविभक्त्या सामान्यतो वक्त्रभिहितार्थानुष्ठानप्रवृत्तवक्त्रभिमुखपुरुषप्रवर्तकत्वमस्य मन्त्रस्यावगमयन्त्या स्वतोऽप्रवृत्तपुरुषप्रवर्तनात्मिका विधिशक्तिर्नाश्यते।
तथा "बर्हिर्देवसदनं दामि शुक्रं त्वा शुक्राय धाम्ने धाम्ने देवेभ्यो यजुषे यजुषे गृभ्णामि" इतिमन्त्रे अस्मदर्थकेनोत्तमपुरुषेणात्मानि प्रवर्तनानुपपत्त्या विधिशक्तिर्बाध्यते।

एवम् "यदि सोममपहरेयुः" इत्यादिमन्त्रे निमित्तत्ववाचिना प्राप्तिबोधोपधायिना यदिशब्देनाप्राप्तप्रापणात्मिका विधिशक्तिरपनीयते।

एवंजातीयकानां च विधायकत्वप्रतिघातिनां मन्त्रेषु प्रायेणोपलम्भान्मन्त्राणामविधायकत्वं सिद्धमेव। यत्र तु क्वचिदेवंजातीयका विधित्वोपघातिनो नोपलभ्यन्ते

॥ भाषा ॥

धनविभक्ति, (हे) उत्तमपुरुष, (मैं हम आदि) यदि, (जो) इत्यादि शब्द, मन्त्रों में प्रायः रहते हैं और ये शब्द, विधान करने की शक्ति के तोड़नेवाले हैं जैसे "न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासाम् आमित्रो व्यथिर आदधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योक् इत् ताभिः सचते गोपतिः सह" (जिन गौओं से याग करता है और जिन गाओं को देता है, वे गाएं नष्ट नहीं होतीं, न उनको चोर चुराता, न उनके अङ्गों में शत्रुकृत वा व्याधिकृत पीडा होती है और उन गौओं का स्वामी उनके साथ अर्थात् परलोक में चिरकाल तक संयुक्त रहता है) यह मन्त्र विधायक नहीं हो सकता क्योंकि 'यद्' शब्द के रहने से गोयाग तथा गोदान की सिद्धावस्था ज्ञात होती है और विधान तो सिद्धका नहीं होता किन्तु असिद्ध ही का। सम्बोधनविभक्ति का उदाहरण यह है कि "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय" (हे अहिंसक, जगत् के आदि में उत्पन्न आवसथ्य अर्थात् पञ्चम अग्नि! मेरे मन्त्र की रक्षा करो) इत्यादि, यहां 'हे' इस सम्बोधन से यह निश्चित होता है कि उक्त अग्नि मन्त्र बोलनेवाले के अभिमुख स्थित है और उसका काम करने में प्रवृत्त है तो ऐसी अवस्था में विधान नहीं हो सकता क्योंकि पूर्व से जो जिस काम में प्रवृत्त नहीं है उसको उस काम में प्रवृत्त करने को विधान कहते हैं। उत्तमपुरुष का उदाहरण यह है कि "बर्हिर्देवसदनं दामि" (मैं, देवस्थान कुशों को काटता हूं) इस मन्त्र में विधान करने की शक्ति नहीं है क्योंकि अपने से अपने को कोई नहीं प्रवृत्त करता। 'यदि' शब्द का उदाहरण "यदि सोममपहरेयुः" (यदि सोम हटा लें) यहां 'यदि' शब्द से सोम का हटाना प्राप्त होता है और अप्राप्त ही का प्रापण अर्थात् बोधन, विधानशक्ति है इसी से यह मन्त्र विधायक नहीं है, विधायकत्व के तोड़नेवाले ऐसे २ शब्द मन्त्रों में प्रायः रहा करते हैं इसी से मन्त्र, विधायक नहीं होते। और जिस किसी मन्त्र में ऐसे शब्द नहीं रहते वह

तद्बललभ्यस्य क्रतुसंबन्धाख्यस्य सामान्यसंबन्धस्यापि बाधापत्तौ तत्सापेक्षस्य लिङ्गस्य विनियोजकतैव न स्यादिति वाच्यम् । अदृष्टरूपद्वारविशेषसंबन्धो हि प्रकरणं बाधित्वा दृष्टार्थतां व्यवस्थापयता लिङ्गेन बाध्यते, विरोधात् तत्रैव प्रकरणस्य शक्तिरूपलिङ्गसापेक्षत्वेन दौर्बल्याच्च । उक्तसामान्यसंबन्धेन तु न कश्चिल्लिङ्गस्य विरोधो येन सोऽपि तेन बाध्येत, प्रत्युत लिङ्गस्यैव तत्सापेक्षत्वाच्च । इत्थंचाबाधितसामान्यसंबन्धसापेक्षस्य लिङ्गस्य दृष्टार्थे विनियोजकता निर्बाधैव । वाक्यार्थबोधरूपदृष्टार्थद्वारेणापि प्रकरणलभ्यादृष्टार्थताया उपपत्तिसंभवेन दृष्टादृष्टार्थतयोर्मिथोविरोधाभावात् प्रकरणं च नाशक्येऽर्थे मन्त्रान्विनियोक्तुमर्हतीति 'यच्छक्नुयात्तन्मन्त्रेण कुर्यादि' त्याकारक एव मन्त्रविषये चरमः स्वाध्यायविधिपरिणाम इति मन्त्राणां साक्षाददृष्टजननशक्तौ न किमपि लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं शक्यमुपन्यसितुम् तस्माल्लिङ्गप्रकरणयोरुभयोरपि मन्त्रविषये दृष्टप्रयोगेणैकवाक्यतैव नतु मिथोविरोधगन्धोऽपि नवा याज्ञिकप्रयोगप्रसिद्ध्योच्चारणविधिकल्पनक्लेशलेशोऽपि । तथाच

॥ भाषा ॥

प्रश्न—यदि मन्त्रलिङ्ग से प्रकरण का बाध हुआ तब तो मन्त्रों का यज्ञाङ्ग होना भी नहीं सिद्ध होगा क्योंकि जैसे मन्त्रों का अदृष्टार्थ होना प्रकरणलभ्य है वैसे ही उनका यज्ञाङ्ग होना भी । और जब मन्त्र यज्ञाङ्ग नहीं होंगे तब उनको किस कार्य में मन्त्रलिङ्ग नियुक्त करेगा, और जब नियुक्त नहीं करेगा तब तो मन्त्रलिङ्ग, व्यर्थ ही हो जयगा । तो ऐसी दशा में मन्त्रलिङ्ग, कैसे प्रकरण का बाध कर सकता है ?

उत्तर—विरोध ही में बाध्यबाधकभाव होता है और प्रकरण के बल से दो बातों की कल्पना हो सकती है, एक, मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने की और दूसरी, उनके यज्ञाङ्ग होने की । और मन्त्रलिङ्ग, मन्त्रों के यज्ञाङ्ग होने में वाक्यार्थबोधरूपी दृष्ट अर्थ को द्वार बतलाता है इस कारण, मन्त्रों के अदृष्टार्थ होने ही में उसका विरोध है तथा प्रकरण भी मन्त्रलिङ्ग की अपेक्षा करने से दुर्बल है, इसी से प्रकरणबल से मन्त्रों का अदृष्टार्थ होने की कल्पना का, मन्त्रलिङ्ग से बाध होता है । और प्रकरण से मन्त्रों के यज्ञाङ्ग होने की कल्पना के साथ तो मन्त्रलिङ्ग का कोई विरोध नहीं है बल्कि मन्त्रलिङ्ग उसकी अपेक्षा करता है, इस कारण मन्त्रलिङ्ग उसका बाध नहीं कर सकता । तथा वाक्यार्थबोधरूपी दृष्टार्थ के द्वारा भी मन्त्र अदृष्टार्थ हो सकता है जैसा कि नियम का अदृष्टफल, पूर्व में कहा जा चुका है इससे लिङ्ग के साथ प्रकरण का मेल भी है । और प्रकरण भी उसी कार्य में मन्त्र को नियुक्त कर सकता है जो कि मन्त्रों से हो सकता है क्योंकि मन्त्रों के विषय में "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस उक्त अध्ययनविधि का यही अन्तिमस्वरूप प्रकट होता है कि "मन्त्रों से जो कर सकै सो करै" और कर सकना भी लोकानुभव ही का अनुसारी है, तथा मन्त्र भी वाक्य ही है इससे मन्त्र से लोकानुभव के अनुसार वाक्यार्थबोध ही हो सकता है न कि अदृष्ट । इसी से मन्त्रों में साक्षात् अदृष्ट (धर्म) उत्पन्न करने की शक्ति किसी लौकिक वा वैदिक प्रमाण से सिद्ध नहीं की जा सकती निदान मन्त्रों के विषय में लिङ्ग और प्रकरण की, लोकप्रसिद्ध क्रियानुष्ठान के द्वारा परस्पर में सहानुभूति ही है न कि विरोध का लेश भी । और इसी से याज्ञिकों के प्रसिद्ध क्रियानुष्ठान के बल से "यज्ञक्रिया के समय में मन्त्रों को पढ़ै" इस नये विधिवाक्य की कल्पना का क्लेश भी नहीं उठाना पड़ता, क्योंकि इस विधिवाक्य का अर्थ मन्त्र-

मन्त्रेष्वर्थप्राधान्यमभ्याहतमेव। एतावाँस्तु मान्त्राणामाख्यातानां ब्राह्मणीयेभ्यो विधिभिर्भ्योऽपि तेभ्यो विशेषः, यत् ब्राह्मणीयेषु पूर्वपक्षोक्तैः कारणैर्विधिशक्तौ प्रतिहतायां तेषां स्वरूपस्य कर्मसु प्रयोगानर्हतया स्वरूपतएव तेषां निमित्तादिप्रत्यायनार्थता, मन्त्रगतानां तु तेषां रूपमेवोपलभ्य दामि गृह्णामि निर्वपामीदामिदं च करोमि अग्नीन्विहर बर्हिःस्तृणीहि इदमिदं च कुर्वित्यादिकं, शक्यमेतैः कर्म स्मर्तुमिति विनियोगबुद्धिर्भवति। तथाहि। न तावदनुष्ठानवेलायामस्मृतःकश्चित्पदार्थः शक्यः कर्तुम् ततश्चावश्यंभाविन्या योग्यं साधनमात्रमाक्षिपन्त्या स्मृत्या ब्राह्मणपदार्थानुसंधानं वा पूर्वपदार्थप्रत्यवेक्षणं वा सूत्रग्रन्थो वा स्वीयानि ग्रहणवाक्यानि वा उपद्रष्ट्रादि वा यत्किंचिदनियतमेव साधनं ग्रहीतुमारभ्यते तत्रानन्यप्रयोजनान्मन्त्रान्प्रकरणे पठ्यमानान्सामान्येन 'किमप्येभिः कर्तव्यमि' त्येवं प्रयोगवचनेन गृह्यमाणानुपलभ्य 'यादृशेन वाक्येन स्मृतिः कर्तुमाकाङ्क्ष्यते तद्रूपा एते' इति विदित्वा लिङ्गप्रकरणानुमितया श्रुत्या विनियोगे सत्यभिधानार्थता विज्ञायते ततश्चोपायान्तराण्यप्रमाणकत्वान्निवर्तन्ते नियमादृष्टसिद्धिश्च 'मन्त्रैरेव स्मृत्वा कृतं कर्माभ्युदयकारि भवती' त्यवधार्यते।

॥ भाषा ॥

लिङ्ग और यज्ञप्रकरण ही से सिद्ध हो जाता है। इस रीति से यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य अवश्य है। ब्राह्मणवाक्यों में जो क्रियाशब्द विधायक नहीं हैं उनकी अपेक्षा भी मन्त्रों के क्रियाशब्दों में इतना तो विशेष अवश्य ही है कि 'यद्यपि पूर्वपक्ष में कहे हुए 'यद्' शब्द आदि, कारणों से ब्राह्मणवाक्यों के क्रियाशब्द की विधायकशक्ति टूट जाती हैं तथापि वह अपने अर्थ का बोधमात्र कराते हैं न कि उनके स्वरूप का' यज्ञसमय में पाठ होता है। और मन्त्र के क्रियाशब्दों का तो 'दामि' 'गृह्णामि' 'निर्वपामि' इत्यादि स्वरूप ही के सुनने से यह निश्चय हो जाता है कि "ब्राह्मणवाक्यों के ओर से विहितक्रियाओं के स्मरण में ये स्वरूप नियुक्त हैं" इसी से यज्ञकाल में मन्त्रों के स्वरूप का नियम से पाठ होता है और इस विशेष में कारण यह है कि क्रिया के अनुष्ठानसमय में बिना स्मरण किये कोई काम नहीं किया जा सकता इस से कार्य का स्मरण अत्यावश्यक है और उस स्मरण के अनेक कारण, ब्राह्मणवाक्य के अर्थ का अनुसन्धान, पूर्वकृत क्रिया का ज्ञान, कात्यायनादिकृत गृह्यसूत्रों के अर्थ का स्मरण, उस मन्त्र से उस काम करने का वाक्य, वा उपद्रष्टा, (वह पुरुष जो इस विवेक में नियुक्त किया गया कि किस क्रिया के अनन्तर कौन क्रिया करनी चाहिये) इत्यादि अनेक विकल्परीति (कभी कोई कभी कोई) से प्राप्त होते हैं। तदनन्तर जब यह विचार प्रस्तुत होता है कि किस कारण से स्मरण किया जाय तब यह समालोचना होती है कि वैदिकयज्ञों के प्रकरण में जो मन्त्र पठित हैं और ब्राह्मणवाक्यों ने क्रियाओं में जिनको नियुक्त भी किया है उन मन्त्रों से यज्ञों में कुछ काम अवश्य लेना चाहिये और दूसरा कोई उपयोग तो मन्त्रों का यज्ञों में प्रत्यक्ष नहीं है इससे मन्त्रलिङ्ग और यज्ञप्रकरण के अनुसार इस विधायक श्रुतिवाक्य का अनुमान करना चाहिये कि "कर्तव्यक्रियाओं को मन्त्रों से स्मरण करै" और इस अनुमित श्रुति के अनुसार मन्त्रों को, कर्तव्य और पूर्वविहित क्रियाओं के स्मरण में विनियुक्त समझना चाहिये और इसी से जब उक्तस्मरण के प्रामाणिककारण मन्त्ररूपी, वेद में पठित ही हैं तब अन्तरोक्त जितने अन्य कारण हैं वे सब आप से आप निवृत्त हो जाते हैं क्योंकि नियोग करने की शक्ति उन में वेद से सिद्ध नहीं है और उन कारणों से स्मरण होने पर भी उक्त अनुमित-

तस्मात् यथा वैदिकेष्वाख्यातेषु द्वे विधे गुणप्रधानकर्मत्वाभ्यां भवतः तथाऽभिधायकत्वरूपा तृतीयाऽपि विधा, सा च लौकिकवाक्येष्विव मन्त्रेष्वप्यक्षतैव । तथाच वार्तिकम्—

येषामाख्यातशब्दानां यच्छब्दाद्युपबन्धनात् । विधिशक्तिःप्रणश्येत्तु तेमर्वत्राभिधायकाः ॥ इति

अतएवोक्तसमस्ताभिप्रायगर्भितम् मी० द० अध्या० १ पा० २ सिद्धान्तसूत्रम्-

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥ इति ।

अस्यार्थः लोके यानि पदानि ये च तेषामर्थाः तेभ्यः अविलक्षणः वेदे पदसहितोऽर्थः यथा लोके उच्चारितशब्दार्थो विवक्षितस्तथा वेदेऽपीति यावत् इति ।

एवम् सूत्रान्तरेष्वपि मन्त्रस्वार्थपरताप्रमाणान्यनुसन्धेयानि । तथाहि—

किंच 'आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते' इतिविधावाग्नेय्येतितद्धितप्रतिपादितेनाग्निदेवत्यत्वेन कल्पितं मन्त्रेषु देवताऽभिधानसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गमिहोपदिश्यमानं मन्त्राणामविवक्षितार्थत्वे कथमपि नोपपादयितुं शक्यते नह्यभिधानमात्रेणाग्निलिङ्गत्वमुपपद्यते 'साऽस्यदेवते' तिदेवतार्थे ताद्धितस्मरणात् । नच देवतात्वमपि मन्त्रघटकशब्दाभिधेयतामात्रेण घटयितुमर्हम्, 'त्वाᳫंहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने । इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः' इतिमन्त्रेऽग्न्येकदेवत्ये देवतान्तरवाचकानेकेन्द्रादिपदप्रयोगेऽप्यनेकदेवत्यत्व-

॥ भाषा ॥

विधिवाक्य, जब व्यर्थ होने लगता है तब वह नियमरूप से पर्यवसित हो कर इस आकार से प्रकट होता है कि "मन्त्रों ही से स्मरण कर की हुई वैदिकक्रिया अदृष्ट (धर्म) को उत्पन्न करती है न कि पूर्वोक्त अन्य कारणों से स्मरण की हुई." निदान जैसे वैदिक क्रियाशब्द दो प्रकार के होते हैं एक, अङ्गकर्म का विधायक, दूसरा, प्रधानकर्म का विधायक, वैसे ही अभिधायकत्व (बोधमात्र कराना) तीसरा भी प्रकार है जो कि मन्त्रों में है । इसी से वार्तिककार ने कहा है कि 'येषामाख्यात०' अर्थात् यद् शब्द आदि के कारण जिन क्रियाशब्दों की विधिशक्ति नष्ट हो जाती है वे सब अभिधायक हैं । इन समस्त पूर्वोक्त युक्तियों के तात्पर्य से प्रथित, जैमिनिमहर्षि का सूत्र, यह है कि "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" (मी० द० अध्या० १ पा० १ सिद्धान्तसूत्र ४०) इसका अक्षरार्थ यह है कि लोक के शब्द और उनके अर्थ से वेद के शब्द और अर्थ, बोध कराने में विलक्षण नहीं हैं अर्थात् जैसे लौकिकशब्दों का अपने अर्थ में तात्पर्य होता है वैसे ही वैदिकशब्दों का भी ।

ऐसे ही उत्तरसूत्रों में भी ऐसे प्रमाण दिखलाये गये हैं जिन से मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य सिद्ध होता है और वे सूत्र, व्याख्यानपूर्वक अब दिखलाये जाते हैं कि—

"आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" (अग्निदेवता वाले ऋग्मन्त्र से अग्निस्थापन के स्थल का उपस्थान करे) इस विधिवाक्य से भी मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य सिद्ध होता है क्योंकि अग्निदेवतावाला ऋग्मन्त्र वही कहला सकता है कि जो अपने मन्त्रलिङ्ग के द्वारा प्रधानरूप से अग्निदेवता का बोध कराता है न कि वह मन्त्र भी जो कि किसी रीति से अग्नि का बोध करा देता हो, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो "त्वाᳫंहि मन्द्रतममर्कशोकैर्ववृमहे महि नः श्रोष्यग्ने । इन्द्रं न त्वा शवसा देवता वायुं पृणन्ति राधसा नृतमाः" (हे अग्ने ! जिस कारण मन्द्रतम अर्थात् पूजा के अतियोग्य तुमको अर्कशोक अर्थात् पूजनीय और दीप्तिकारी स्तोत्रों से वृणीमहे अर्थात् भजते हैं उस कारण हमारे महि अर्थात् बड़े स्तोत्र को श्रोषि अर्थात् सुनो । 'नृतम' स्तुतियों के नेता

व्यपदेशाभावात् । नचास्तु नाममात्राग्नेःप्राधान्येनाभिधानं न त्वेतावन्मात्रेण तात्पर्यमुन्नेतुमग्निमात्रे शक्यते इति वाच्यम् । अर्थपरत्वं विना प्राधान्येनाभिधानस्यानुपपत्त्या तन्मात्रेणैव स्वार्थपरतायाः सुसाधत्वात् । तथाच तत्रैव सूत्रम् —

लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात् ॥ ५१ ॥ इति । स्पष्टोऽर्थः

किंच यद्यपि वेदे क्वचित् ऊहः कार्य इति न श्रूयते तथाप्यूहप्रतिषेधः श्रूयते 'न माता वर्धते न पिता' इति । सचायं 'माता मन्यतामनु पिता' इतिमन्त्रे 'मातरो मन्यन्तामनु पितरः' इति बहुवचनस्योहप्राप्तावेव सार्थको भवति। अस्मादेव च निषेधान्मातृपितृशब्दाभ्यामन्यस्य, अनेकपशुकयागे एनम् इत्यस्य, स्थाने सङ्ख्याबाधापत्तिसमाधानाय 'एनान्' इतिबहुवचनस्योहो भवति । वर्धते इति वृद्धेश्चोह एवार्थः तथाच शब्दवृद्धिरेव प्रतिषिध्यते नहि मातुरवयवोपचयरूपा वृद्धिः प्रतिषेद्धुं शक्यते, प्रत्यक्षत्वात् मातृशब्दे च नादगतायाः स्थौल्यरूपाया वृद्धेरसंभवात् विकारान्तरस्य चाशास्त्रीयत्वेनासाधुत्वापादकत्वात् प्रकृतानुपयोगित्वाच्चाधिकार्थबोधोपधायिनी द्विवचनबहुवचनयोरूहवात्र वृद्धिर्निषेद्धुमध्यवसीयते। यद्यपि

॥ भाषा ॥

ऋत्विज् लोग 'शवसा' बल से 'वायुं न' वायु के सदृश 'इन्द्रं न देवता' इन्द्र के ऐसा देवतारूपी 'त्वां' तुमको 'राधसा' हविरूपी धन से 'पृणन्ति' तृप्त करते हैं) इस मन्त्र में अग्नि, वायु, इन्द्र, तीनों के नामग्रहण से यह मन्त्र 'त्रिदेवत्य' (तीन देवतावाला) हो जायगा और वस्तुतः यह मन्त्र एकदेवत्य अर्थात् अग्नि ही का है और जब यह कहा जायगा कि "जो मन्त्र अपने लिङ्ग के अनुसार प्रधानरूप से जिस देवता का बोध कराता है वह मन्त्र उसी देवता का है" तब तो यह मन्त्र अग्निदेवता ही का होगा क्योंकि प्रधानरूप से यह उसी का बोध कराता है और यदि अग्नि में इसका तात्पर्य न होता तो कैसे प्रधानरूप से उसका बोध कराता इससे यह सिद्ध हो गया कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य है । इसी अभिप्राय से पूर्वोक्त ही अध्याय और पाद में "लिङ्गोपदेशश्च तदर्थत्वात्" ॥ ५१ ॥ यह सूत्र है इसका यह अर्थ है कि "आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते" इस विधिवाक्य में "आग्नेय्या" शब्द से मन्त्रों में जो अग्निलिङ्ग का उपदेश है वह मन्त्रों से अर्थज्ञान के विना नहीं हो सकता, क्योंकि जिस ऋक् में प्रधानरूप से अग्निदेवता के बोध कराने की शक्ति है वही ऋक् आग्नेयी कहलाती है ।

स्वार्थ में मन्त्रों का तात्पर्य होने में, 'ऊह' (मन्त्र के किसी शब्द को बदल कर प्रकरण के अनुसार उसके स्थान में दूसरे शब्द का उच्चारण) भी प्रमाण है । **प्रकृतियज्ञ** उसको कहते हैं जिस की सब क्रियाओं के करने की रीति वेद में प्रथम कही जाती है, और **विकृतियज्ञ** उसको कहते हैं कि जिसके विषय मे प्रकृतियज्ञ की अपेक्षा केवल विशेषक्रियाओं ही के करने की रीति वेद में कही है, और अवशिष्टक्रियाएं वे ही की जाती हैं जो कि प्रकृतियज्ञ में की जाती हैं । इस रीति से आग्नेययाग प्रकृतियज्ञ है और सौर्यचरु उसकी विकृति है और आग्नेययाग में अग्निदेवता को "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इस मन्त्र से चरु (भोज्यद्रव्य) दिया जाता है तथा विकृतियज्ञ अर्थात् सौर्यचरु में सूर्यदेवता को चरु देने के लिये किसी दूसरे मन्त्र का विधान नहीं है इसी से सूर्यदेवता को चरु देने में वही मन्त्र पढ़ा जाता है जो कि उसके प्रकृतियज्ञ अर्थात् आग्नेययाग में पढ़ने के लिये विहित है जो कि अभी कहा गया है परन्तु उसमें 'सूर्य' पद नहीं है जिस से कि वह

मातृप्रभृतीनामनेकपशुकेषु यागेषु मातृत्वादिनिरूपकभेदादेव प्रत्येकमेकत्वादेकवचनेनैवो-पपत्तावियं निषेधश्रुतिर्न्यायप्राप्तमूहाभावमनुवदत्येव नतु विदधाति तथाऽप्यनुवादस्यार्थवत्त्वा-न्यथानुपपत्त्या प्राकृतेषु 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इत्यादिषु विकृतौ सौर्यादौ पिपठिषिते-ष्वग्न्यादिपदानामूहमभ्यनुजानातीयं निषेधश्रुतिः । एवम् 'त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोता' इति मनोतामुक्ते, वायव्ये पशावतिदेशप्राप्ते, अग्निशब्दस्थाने प्राप्तो वायुपदस्योहः 'यद्यप्यन्य-देवत्यःपशुराग्नेय्येव मनोता कार्या' इति एवकारघटितेनानेन वाक्येन निषिध्यमानः स्थलान्तरेषु पदान्तरस्योहे मानम् । ऊहश्च सर्वएव मन्त्राणां स्वार्थपरत्वे मानम् अन्यथा प्राकृतपदत्यागे पदान्तरकल्पने चादृष्टद्वयकल्पनागौरवप्रसङ्गात् । तथाच तत्रैव सूत्रम्—

ऊहः ॥ ५२ ॥ इति

अपिच अग्निहोत्रप्रकरणे महोपस्थाने 'अग्ने गृहपते सुगृहपतिरहं त्वया' इति मन्त्रे 'शतꣳहिमा' इत्यस्ति । तस्य च व्याख्यानब्राह्मणम्, 'शतꣳहिमा इत्याह । शतं त्वा हेम-न्तानिन्धिषीयेति वावैतदाह' इति हिमा हेमन्तान् एतत् यजुः इत्याहतीममर्थं बोधयति । एवं तत्र तत्र पर्यायैरवयवव्याख्याननिर्वचनादिभिश्च मन्त्राणामर्थबोधतात्पर्यमुपदर्शयन्त्योऽब्रा-ह्मणश्रुतयएव मन्त्राणां स्वार्थपरत्वे प्रमाणम् । तथाच तत्रैव सूत्रम्—

विधिशब्दाश्च ॥ ५३ ॥ इति ।

अत्र च विधिपदं ब्राह्मणपरम् ब्राह्मणस्यैव शावरादावुदाहृतत्वात् 'विधिरेव ब्राह्म-

॥ भाषा ॥

सूर्यदेवता को चरु देने में पढ़ा जाय किन्तु उसमें अग्निपद है इसी से अग्निपद को निकाल कर उसके स्थान में सूर्यपद कहा जाता है जिस से कि उस मन्त्र का यह स्वरूप हो जाता है कि "सूर्याय जुष्टं निर्वपामि" ऐसे ही पदों के अदल बदल को ऊह कहते हैं ऐसे २ ऊहों का विचार मी० द० अध्या० ९ में विशेषरूप से किया गया है । ये सब ऊह, मन्त्रों के अर्थ ही के अनुसार किये जाते हैं और मन्त्रों ही में होते हैं यही सिद्धान्त है । ऐसी दशा में यदि मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है तो एक भी ऊह नहीं हो सकता, इसी से स्वार्थ में मन्त्रों के तात्पर्य होने में सबी ऊह प्रमाण हैं यह बात पूर्वोक्तसूत्र के अनन्तर "ऊहः" ॥ ५२ ॥ इस सूत्र से कही गई है इसका तात्पर्य यह है कि यदि मन्त्रों का स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है तो उक्तमन्त्र में अग्निपद के त्याग से एक अदृष्ट (धर्म) और सूर्यपद के उपादान से दूसरा अदृष्ट, इस रीति से दो अदृष्टों की कल्पना होने में गौरवदोष पड़ेगा ।

और यह भी है कि ब्राह्मणभाग की श्रुतियां बहुत से मन्त्रों के एक २ पदों को कह कर उनके अर्थों में उनके तात्पर्यों का वर्णन करती है जैसे अग्निहोत्र के प्रकरण में 'अग्ने गृहपते' इत्यादि महोपस्थान के यजुर्मन्त्र में "शतꣳहिमा" यह शब्द है, और "शतꣳहिमा इत्याह शतं त्वा हेमन्तानिन्धिषीयेति वावैतदाह" (यजुर्मन्त्र, जो 'शतं हिमा' यह कहता है वह यही कहता है कि हे अग्ने ! मैं चाहता हूं कि तुमको सौ हेमन्तऋतुओं में प्रज्वलित किया करूं) यह ब्राह्मण है । इस से ऐसी २ सब श्रुतियां इस विषय में प्रमाण हैं कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य है इस बात को भी पूर्वोक्तसूत्र के अनन्तर "विधिशब्दाश्च" ५३ ॥ इस सूत्र से जैमिनिमहर्षि ने कहा है । इसका अक्षरार्थ यह है कि विधिशब्द अर्थात् ब्राह्मणभागवेद के बहुत से वाक्य इस

णाभिध' इति वार्तिकाच्चेति ।

अत्र पार्थसारथिमिश्राः । मन्त्राणां पदार्थत्वेन प्रामाण्यम् । वाक्यार्थे पदार्थानां प्रामाण्याभ्युपगमात् ।

अत्राभिधीयते यद्यप्यस्ति मूलान्तरं न नः । पदार्थानां तु मूलत्वमिष्टं तद्भावभावतः ॥

इत्यभिहितान्वयसिद्धान्तप्रतिपादकेन 'उत्पत्तौ वा वचनाःस्युः' इति सूत्रस्थेन श्लोकवार्तिकेन तथैवावधारणात् । दर्शपूर्णमासादिप्रयोगविधिषु हि श्रुतिलिङ्गादिविनियोज्या मन्त्रा वाक्यैकवाक्यत्वमर्यादया पदार्थत्वेन प्रविशन्तीति मन्त्रविशिष्टां दर्शपूर्णमासादिभावनां विदधतो महावाक्यस्य दर्शपूर्णमासादिप्रयोगविधेर्महावाक्यार्थे पदार्थभूता मन्त्राः प्रामाण्यं प्रतिपद्यन्ते इति प्रतिपेदिरे ।

केचित्तु मिश्रोक्ता मन्त्रप्रामाण्योपपादनरीतिरयुक्ता । तथासति व्रीह्यादिवन्मन्त्राणामपि पदार्थविधयैव प्रामाण्यापत्त्या शब्दविधया प्रामाण्यस्य सार्वलौकिकस्य भङ्गप्रसङ्गात् । किंतु यथा स्मृतीनां तद्वतितत्प्रकारकत्वरूपयाथार्थ्यलक्षणं प्रामाण्यं तथा मन्त्राणामपीति स्वीचक्रिरे ।

सोमेश्वरभट्टास्तु मन्त्राणामगृहीतग्राहित्वलक्षणमेव प्रामाण्यमिति सोपपत्ति, प्रतिजज्ञिरे ।

॥ भाषा ॥

अंश में प्रमाण हैं कि मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य है ।

मन्त्रों की प्रमाणता किस प्रकार की और कैसे होती है ? इस विषय में मीमांसकों के ये तीन पक्ष हैं जैसे कि—

(१) पार्थसारथिमिश्र का यह मत है कि मन्त्र पदार्थ हैं इसी से प्रमाण हैं क्योंकि अभिहितान्वयवाद, वार्तिककार भट्टपाद का सिद्धान्त है जिसका यह तात्पर्य है कि पदों के अर्थ ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं इससे वे अर्थ ही प्रमाण हैं और इस रीति से दर्शपूर्णमास आदि यज्ञों के प्रयोगविधि में मन्त्र सब, मन्त्रलिङ्गादि के अनुसार नियुक्त हो कर वाक्यैकवाक्यता (दो वाक्यों का एक होना) की रीति को अवलम्बन कर पदार्थ ही हो कर प्रविष्ट होते हैं इसी से दर्शपूर्णमासादियज्ञों की भावना के विधान करने वाले प्रयोगविधिरूपी महावाक्य के अर्थ में पदार्थ हो कर प्रवेश होने के कारण मन्त्रों का प्रामाण्य होता है, तात्पर्य यह है कि "उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयति" इत्यादि अङ्गविधिवाक्यों में "उरु प्रथस्वेति" इत्यादि शब्दों के 'उरु प्रथस्व' आदि मन्त्रस्वरूप ही अर्थ होते हैं इसी से महावाक्यार्थ में प्रविष्ट हो कर मन्त्र प्रमाण होते हैं ।

(२) अन्यमीमांसक, इस मत से संतुष्ट नहीं होते वे कहते हैं कि "व्रीहिभिर्यजेत यवैर्वा" (धान से याग करे वा यव से) इत्यादि वाक्यों में धानआदि भी व्रीहिआदि पदों के अर्थ ही हो कर उपयोगी होते हैं वैसे ही यदि मन्त्र भी प्रमाण होते हैं तो लौकिकवाक्यों के नाईं शब्दरूपी होने से मन्त्रों का प्रामाण्य, जो लोक में प्रसिद्ध है उसका भङ्ग हो जायगा, इसी से मन्त्रों का प्रामाण्य स्मरणरूपी ज्ञान के नाईं स्वीकार करना चाहिये क्योंकि ब्राह्मणवाक्यों से विहित क्रियाओं का, मन्त्र अनुवाद करते हैं और स्मरण भी पूर्व अनुभव के विषय ही को विषय करता है । तात्पर्य यह है कि जैसे यथार्थ अनुभव का अनुसारी स्मरण, यथार्थ होता है वैसे ही ब्राह्मणवाक्य के अर्थों के अनुसारी मन्त्रों के अर्थ भी यथार्थ होते हैं । यही मन्त्रों का प्रामाण्य है ।

तथाच तदर्थशास्त्रसूत्रीयवार्तिकव्याख्यानावसरे न्यायसुधायाम् तदीयाः श्लोकाः—
प्रपादिस्मृतिलिङ्गत्वं मन्त्राणां वक्ष्यतेऽत्र यत् । देवताकल्पनं यच्च मान्त्रं तस्माद्यजिश्च यः ॥
मन्त्रवर्णाच्च यद्धोतुः पूर्वपानं वदिष्यते । 'मे देही' त्यात्मवादित्वान्मन्त्राणां याजमानता ॥
करणानां त्वार्त्विजत्वेऽप्यङ्गसाध्यफलस्य यत् । स्वामिगत्वं क्रियार्थस्य कर्तृगत्वं च वक्ष्यते ॥
मन्त्रक्रमानुरोधाच्च ब्राह्मणक्रमबाधनम् । छागस्य निश्चयो यश्च पशावूहश्च मन्त्रगः ॥
तदर्थपरतायां स्या त्सर्वं नैवान्यथा भवेत् । सर्वसाधारणत्वेन विचारस्य प्रयोजनम् ॥
कर्मकालेऽनुसन्धेयो मन्त्रार्थोऽर्थपरत्वतः । इषेत्वादिषु चोच्चार्य्यं छिनद्मीत्यादि पूर्तये ॥
असावित्यादिशब्दस्य स्थाने यष्ट्रादिनाम च । सिद्धान्ते मन्त्रलोपश्च प्रकाश्याभाव इष्यते ॥
यथाऽऽम्नानं प्रयोगस्तु केवलोऽर्थाविवक्षणे । यदि त्वर्थपरत्वेऽपि नैतावत्स्यात्प्रयोजनम् ॥
ततो धर्मप्रमाणत्वं मन्त्राणां नैव सिध्यति । लवनादिस्वरूपस्य प्रकाश्यत्वे हि धर्मता ॥

॥ भाषा ॥

(३) सोमेश्वरभट्ट का तो यह मत है कि जैसे ब्राह्मणवाक्य स्वतन्त्रप्रमाण हैं वैसे ही मन्त्रवाक्य भी। और इसकी उपपत्ति भी उन्हों ने "तदर्थशास्त्रात्" इस सूत्र के वार्तिक पर व्याख्यान करने के अवसर न्यायसुधा में साढ़े बारह श्लोकों, से किया है 'प्रपादिस्मृति०' इत्यादि। और इन श्लोकों का यह तात्पर्य है कि यदि मन्त्र, स्वतन्त्रप्रमाण न माने जायं तो पूर्वमीमांसाशास्त्र के नव सिद्धान्त उच्छिन्न हो जायंगे। और वे सिद्धान्त ये हैं कि—

(१) "धन्वन्निव प्रपा असि" (जैसे मरुभूमि अर्थात् निर्जलदेश में प्रपा अर्थात् पौसला होती है वैसे तू है) इत्यादि मन्त्र, "प्रपा प्रवर्तयितव्या" (पौसला चलावे) इत्यादि स्मृतिवाक्यों के मूल हैं।

(२) "वसन्ताय कपिञ्जलानालभते" इत्यादि मन्त्रों से देवता और याग की कल्पना होती है।

(३) मन्त्रलिङ्ग के अनुसार 'होता' नामक ऋत्विज् को प्रथम ही सोमपान करना चाहिये।

(४) "आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि" (हे आयु देनेवाले अग्नि आयु मुझे दे) इत्यादि मन्त्रों में आत्मवाची 'मे' (मुझे) शब्द है इससे ये मन्त्र स्वयं यजमान के पढ़ने योग्य हैं।

(५) यद्यपि यज्ञाङ्गमन्त्रों को ऋत्विक् पढ़ता है तथापि याग का फल यजमान ही को होता है।

(६) पूर्णमासयज्ञ में उपांशुयाज और अग्नीषोमीय नामक यज्ञरूपी भीतरी यागों के मन्त्रों का जो पाठक्रम संहिता में है उसी क्रम से उनका पाठ होना चाहिये और इन यज्ञों के विधायक ब्राह्मणवाक्यों का पाठक्रम जो मन्त्रों के पाठक्रम से विपरीत है उसको नहीं स्वीकार करना चाहिये।

(७) "पशुना यजेत" (पशु से याग करे) इत्यादि वाक्यों में पशुशब्द से छाग (खसी) ही लेते हैं क्योंकि पशु की वपा (मज्जा अर्थात् अस्थिलग्न धातुविशेष) के होम में प्रैषमन्त्र, "अग्नये छागस्य हविषो वपायाः" इत्यादिक है और उस में छाग ही कहा है।

(८) सौर्यचरु में "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" इस आग्नेयमन्त्र के 'अग्नि' पद के स्थान में 'सूर्य' पद का ऊह करना चाहिये।

समाहिताङ्गताभावो न कथंचित्प्रतीयते । अपूर्वसाधनत्वेन यद्यप्येतत्प्रकाश्यते ॥
विधिप्राप्तानुवादत्वा न्न तथापि प्रमाणता । अपूर्वसाधनत्वात्तु लवनादौ समीहिते ॥
आत्मनोऽङ्गत्वबोधेन मन्त्रः प्रामाण्यमश्नुते । अश्रुतद्रव्ययागादिकल्पनाच्च प्रमाणता ॥
स्फुटैवार्थपरत्वे स्या दिति सर्वमसूसुचत् । इति

एषां श्लोकानां चायमर्थः 'प्रपा प्रवर्तयितव्या' इत्यादिस्मृतीनां 'धन्वन्निव प्रपा असि' इत्यादिमन्त्रमूलकत्वम्, 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इत्यादिमन्त्रेभ्यो देवतायागयोः कल्पनम्, मन्त्रवर्णाद्धोतुःसोमपानस्य प्राथम्यम्, 'आयुर्दा अग्ने आयुर्मे देहि' इत्यादिमन्त्राणामात्मवादित्वाद्यजमानपठनीयत्वम् , यज्ञाङ्गमन्त्राणामृत्विक्पठनीयत्वेऽप्यङ्गापूर्वप्रधानापूर्वयोः स्वामिगामित्वम्, पूर्णमासयागे उपांशुयाजाग्नीषोमीयमन्त्रयोः पाठक्रमेण तद्विपरीतस्य ब्राह्मणगतयोस्तदुत्पत्तिवाक्ययोः पाठक्रमस्य बाधनम्, 'पशुना यजेत' त्यादौ 'अग्नये छागस्य हविषो वपाया' इत्यादिमान्त्रप्रैषानुसारेण सामान्यवाचिनोऽपि पशुपदस्यच्छागपरत्वम्, सूर्यचरौ निर्वापमन्त्राभावेऽपि प्राकृतत्वेनातिदिष्टे 'अग्नये जुष्टं निर्वपामि' इति मन्त्रेऽग्निपदस्थाने सूर्यपदस्योहनम्, एवमादिकं चान्यदपि पूर्वमीमांसायां तत्र तत्र सूत्रभाष्यवार्तिककारैर्व्यवस्थापितम् । तच्चैतत्सर्वमेव मन्त्राणां स्वार्थपरतामनधिगतार्थगन्तृतां चान्तरेण न कथमपि शक्यते सङ्गमयितुम् । किंच मन्त्राणां स्वार्थपरत्वे सिद्धान्तिते सत्येव 'इषेत्वा' इत्यादौ छिनद्मीत्यादिना अध्याहृतेन साम्प्रदायिकमाकाङ्क्षापूरणम्, मान्त्रस्यासावित्यादेः स्थाने यजमानादिनामग्रहणं च सङ्गच्छते । स्वार्थपरत्वाभावे तु तदुभयं नोपपद्यते । अपिच तथासति सूर्यचरावूहस्यात्यन्तदुर्वचत्वात्प्रकाश्याभावेन मन्त्रलोप एव प्रसज्येत । अन्यच्च वर्हिर्लवनादेः 'बर्हिर्देवसदनं दामि' इत्यादिमन्त्रप्रकाश्यत्वाभावे धर्मत्वमेव न स्यात् । समीहितं वर्हिर्लवनं प्रति तस्य मन्त्रस्याङ्गत्वे मानाभावात् । नच सिद्धान्तेऽपि मान्त्री लवनाङ्गता ब्राह्मणेनैव बोधितेति मन्त्रस्य तदंशेऽनुवादकतया कथं लवनरूपे धर्मे प्रामाण्यं स्यादिति-

॥ भाषा ॥

(९) 'इषे त्वा' [इष्टफल के लिये तुझे] इस मन्त्र को अधूरा समझ कर इसके अनन्तर 'छिनद्मि' [काटता हूं] इसको अपनी इच्छा से संप्रदाय के अनुसार लगा लेते हैं और ऐसे ही मन्त्रों में "असौ" (यह) इत्यादि पदों को निकाल कर उसके स्थान में यजमान का नाम पढ़ा जाता है।

और जब मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य नहीं है तब मन्त्रों में अर्थानुसार अदल-बदल हो नहीं सकता। तथा "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" यह उक्तमन्त्र सौर्यचरु में पढ़ा ही नहीं है इस कारण उसमें मन्त्रोच्चारण का लोप ही हो जायगा। "बर्हिर्देवसदनं दामि" [देवताओं के स्थानभूत कुशों को काटता हूं] इस मन्त्र का यदि स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है तो कुशों का छेदन, धर्म ही नहीं कहलावेगा, क्योंकि वह वेदवाक्य से बोधित ही नहीं है और उक्तमन्त्र, कुशच्छेदन का अङ्ग भी न होगा क्योंकि उसके अङ्ग होने में कोई प्रमाण नहीं है।

प्रश्न—सिद्धान्त अर्थात् मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य स्वीकार करने पर भी उक्तमन्त्र का कुशच्छेदन के प्रति अङ्गहोना ब्राह्मणवाक्यों ही से बोधित होता है क्योंकि मन्त्र तो अनुवादकमात्र हैं तब उक्तमन्त्र, कुशच्छेदनरूपधर्म में कैसे प्रमाण हो सकता है, ? और इस रीति से जब सिद्धान्त में भी यह दोष है तब सिद्धान्ती, पूर्वपक्षी के ऊपर इस दोष को कैसे

वाच्यम्। दामीत्यादौ दात्यादीनामपूर्वसाधनताविशिष्टलवनादौ लक्षणाङ्गीकारेण लिङ्गात्मकप्रमाणानुसारादेव मन्त्राणां तादृशतादृशलक्ष्यार्थाङ्गताया अनायासलभ्यतया धर्मे प्रामाण्यस्य सूपपादत्वात्। अतएव पूर्वोपन्यस्तार्थवादाधिकरणे आम्नायस्येति सूत्रे न्यायसुधायाम् स्वयमेवोक्तम् 'मन्त्रेष्वपि च प्रयोगविध्येकवाक्यत्ववशेनापूर्वसाधनरूपलक्षणा सिद्धान्तिनोऽभिप्रेतैवेति'। अर्थवादानामिव समभिव्याहारलक्षणाया विध्येकवाक्यताया मन्त्रेष्वसंभवेऽप्युक्तलक्षणानुसारिलिङ्गप्रमाणमूलकप्रयोगविध्येकवाक्यतायाः स्वीकारे न किंचिद्बाधकमिति च तदाशयः। तथाच लक्ष्यैकदेशभूतामपूर्वसाधनतां प्रति दात्यादिमुख्यार्थलवनादेर्विशेष्यतया लक्षणास्वीकारेऽपि तदवस्थत्वादर्थप्राधान्यं मन्त्रेषु न व्याहन्यते। सूत्रे चेदं तदर्थशास्त्रादितिसूत्रे पूर्वोदाहृते 'अतो न प्रमाणं बर्हिर्देवसदनं दामीत्यस्य रूपं बर्हिर्लवने विनियोगस्य' इति शावरे प्रमाणपदोपादानेन ध्वनितमिति।

इदं पुनरिहावधेयम्। मध्यपक्षस्तावज्जपमन्त्रेष्वव्याप्तः तथाहि अविवक्षितार्थकमुच्चारणमात्रमेव हि जपः तदुक्तम् १२ प्रसङ्गाध्याये शावरादौ 'यत्र सन्तमप्यर्थमविवक्षित्वोच्चारणमात्रमदृष्टार्थं क्रियते यथा वैष्णवीमृचमनूच्येति स जप' इति। अत्र च सन्तमपीत्यपिशब्दात्कचिदर्थाभावोऽपि प्रतीयते असतश्च याथार्थ्यं दूरापेतमेव। नच तत्रापि लक्षणया याथा-

॥ भाषा ॥

लगा सकता है ?।

उत्तर--सिद्धान्त में उक्त मन्त्रस्थ "दामि" शब्द के 'दा' धातु का छेदनमात्र ही नहीं अर्थ है किन्तु अपूर्व का साधनरूपी छेदन में उसकी लक्षणावृत्ति मानी जाती है। और लक्षणावृत्ति का स्वरूप अर्थवाद प्रकरण में कहा जा चुका है इस रीति से 'दा' आदि मन्त्रस्थ धातुओं का अपूर्वसाधनरूपी छेदन आदि लक्ष्यार्थ हैं और इस रीति से मन्त्रलिङ्ग ही के अनुसार मन्त्रों का छेदनादि क्रियाओं के प्रति अङ्गहोना सहज में सिद्ध हो जाता है इसी से छेदनादिरूपी धर्म में मन्त्र प्रमाण होते हैं क्योंकि क्रियारूपी धर्म से पुरुषों में एक संस्कार उत्पन्न होता है जिस से कि क्रिया के नष्ट होने पर भी कालान्तर में स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है और उसी संस्कार का नाम अपूर्व और अदृष्ट है तथा अपूर्व के उत्पादक ही क्रिया को धर्म कहते हैं तो जब अपूर्व का उत्पादक छेदनादि क्रिया 'दा' आदि शब्दों का लक्ष्यार्थ है तब छेदन आदि क्रिया के धर्म होने में क्या सन्देह है ? और उक्त लक्षणा में भी छेदन आदि क्रिया ही विशेष्य हो कर प्रधान हैं इस से मन्त्रार्थ का प्राधान्य भी सिद्ध होता है। इति

अब यह विचार किया जाता है कि उक्त तीन पक्षों में कौन पक्ष ठीक है ?

द्वितीयपक्ष इस कारण ठीक नहीं है कि जपमन्त्रों में वह पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि 'जप' ऐसे उच्चारण को कहते हैं कि जिस से किसी अर्थ के बोध कराने की इच्छा, जप करनेवाले की न हो। और पूर्वमीमांसादर्शन, अध्या० १२ के शावरभाष्य आदि ग्रन्थों में यह स्पष्टरूप से कहा है कि 'अदृष्टमात्र के लिये, सच्चे अर्थों के भी बोध कराने की इच्छा न करके जो उच्चारणमात्र किया जाता है उस उच्चारण को जप कहते हैं' इस वाक्य में 'सच्चे अर्थों के भी' इस 'भी' शब्द से यह स्पष्ट निकलता है कि किसी २ मन्त्र के अर्थ, सत्य नहीं होते हैं। तो ऐसे मन्त्रों में उस यथार्थता का कदापि सम्भव नहीं है जो कि द्वितीयपक्ष में कही गई है।

र्थ्यं वाच्यमेव अतएवार्थवादाधिकरणे 'धूमएवाग्नेर्दिवा ददृशे' इत्यादिष्वयथार्थेषु 'गुणवादस्तु' इत्युपक्रम्य 'दूरभूयस्त्वात्' इत्यादिभिः सूत्रैरुपचारादेव याथार्थ्यमुपपादितमिति वाच्यम्। असताऽपि गुणेनासतोऽपि गुणिनः स्तुतिबुद्धेरुत्पत्तिसंभवमात्रेण तेषूदाहरणेषूपचारोक्तावपि सर्वत्रोपचारकल्पनानियमे मानाभावात्। तस्मात्स्तोत्रमन्त्रेष्वपि याथार्थ्यमव्याप्तमेव। अतएवेमं पक्षं परित्यज्य चरमः पक्ष आश्रितः सोमेश्वरभट्टैः। नच चरमपक्षेऽपि कथं न जपमन्त्रेष्वव्याप्तिः अत्रापि हि पक्षे मन्त्रार्थानुसन्धानविषय एव मन्त्राणामगृहीतार्थग्राहित्वलक्षणं प्रामाण्यमुपवर्ण्यते असतश्च कुतोऽनुसन्धानं संभवतीति वाच्यम्। 'सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचस्तोमं पारिप्लवं शंसति' इतिब्राह्मणवाक्येन जपमन्त्राणामपि गुणगुणिसंबन्धकीर्तनात्मके शस्त्रे विनियोगस्य दर्शनेन गुणगुणिसंबन्धरूपेऽर्थे पर्यवसिततात्पर्यतया मन्त्रार्थानुसन्धानविषये तेषां प्रामाण्यस्य दुरपवदत्वात्। नचैवमप्युभयोरप्यनयोरन्त्योपान्त्यपक्षयोः साममन्त्रेषु शब्दविधया प्रामाण्यमनुपपन्नमेव। तेषां गीतिमात्रात्म-

॥ भाषा ॥

प्रश्न—जैसे इन अर्थवादों में जहां कि अर्थ की घटना नहीं हो सकती वहां "गुणवादस्तु" इस सूत्र के अनुसार गौण अर्थ की कल्पना से उसकी उपपत्ति की जाती है जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है वैसे ही उक्त मन्त्रों में भी गौण अर्थ की कल्पना से यथार्थता की उपपत्ति क्यों नहीं होती ?

उत्तर—उक्त अर्थवादों में मिथ्याभूत गुणों से मिथ्याभूत गुणियों की स्तुति के सम्भवमात्र से गुणवाद कहा गया है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि सब असंभव स्थलों में मनमाने अर्थ की कल्पना कर ली जाय। इस रीति से स्तुतिमन्त्रों में भी वह यथार्थता नहीं हो सकती जो कि द्वितीयपक्ष में कही गई है। और इन्हीं दोनों दोषों के कारण पं. सोमेश्वरभट्ट ने द्वितीयपक्ष का त्याग कर तृतीयपक्ष का आश्रयण किया।

प्रश्न—उक्त दोनों दोष तृतीयपक्ष में भी पड़ते हैं, क्योंकि वे ही मन्त्र स्वतन्त्रप्रमाण हो सकते हैं जो कि अपने अर्थ का अनुसन्धान करा सकते हैं और जिन मन्त्रों का कोई अर्थ ही नहीं है उनके स्वतन्त्रप्रमाण होने का संभव ही नहीं है इस रीति से जब सोमेश्वरभट्ट के पक्ष में भी यह दोष है तब कैसे कहा जाता है कि उक्तदोष के कारण सोमेश्वरभट्ट ने द्वितीयपक्ष को छोड़ कर तृतीयपक्ष का आश्रयण किया ?

उत्तर—"सर्वा ऋचः सर्वाणि यजूंषि सर्वाणि सामानि वाचःस्तोमं पारिप्लवं शंसति" [सब ऋक्, सब यजु, सब साम, वाचस्तोम और पारिप्लव को शंसन करे अर्थात् यज्ञोपयोगी देवतादि पदार्थों में गुणों के सम्बन्ध का वर्णन करे] इस ब्राह्मणवाक्य से सब मन्त्रों के नाईं जप' मन्त्रों का भी, गुण और गुणी के सम्बन्धरूप अर्थ में तात्पर्य सिद्ध होता है और उसी अर्थ में जपमन्त्रों की स्वतन्त्रप्रमाणता है।

प्रश्न—साममन्त्र में द्वितीय और तृतीय दोनों पक्ष नहीं हो सकते क्योंकि केवल गानमात्र ही का साम नाम है न कि किसी वाक्य का, और जब साममन्त्र वाक्यरूपी नहीं हैं तब वे, शब्द हो कर वाक्यों के नाईं किसी अर्थ का बोध नहीं करा सकते, और ऐसी अवस्था में न उनमें यथार्थता आ सकती, और न स्वतन्त्रप्रमाणता। तो इससे ये दोनों पक्ष क्यों नहीं दुष्ट हैं ?

कतया वाक्यत्वाभावादिति वाच्यम्। साम्नामवाक्यत्वेऽपि वाक्याभिव्यञ्जकत्वेन शब्दानुग्राहकतया शाब्दप्रमाजनकसामग्र्यन्तर्गतत्वेन शब्दप्रमाणेऽन्तर्भावसंभवात्। एवम् चरमः पक्षोऽपि प्रजापतेर्हृदयादिषु सामस्वव्याप्त एव तथाहि पञ्चत्रिंशद्धि सामान्यनृक्काणि भवन्ति यथा अर्कग्रीवमेकम्, पञ्चानुगानमध्ये सामत्रयम्, हाउहोवा सामैकम्, हाउवाक्सामानि त्रीणि, वाचोव्रते द्वे, सत्रस्यर्द्धिएकम्, परमेष्ठिसामैकम्, आङ्गिरसव्रतमेकम्, इलान्दमेकम्, सधस्थमेकम्, देवव्रतानि त्रीणि, कत्यग्रीवमेकम्, प्रजापतेर्हृदयमेकम्, अनडुद्व्रतमेकम्, महादिवाकीर्त्यानि नव, सत्वाभूतमेकम्, धर्मरोचनमेकम्, आदित्यआत्मैकम्, इन्द्ररोचनमेकम्, इति। न ह्येतेष्वर्थानुसन्धानमगृहीतग्राहित्वं वा कथंचिदपि संभवदुक्तिकम्। एतच्च दूषणं मध्यपक्षेऽपि दुर्वारमेव, अर्थस्यैवाभावेनैतेषु याथार्थ्यस्य संभावयितुमप्यशक्यत्वात्। किंच दात्यादेरपूर्वसाधनत्वविशिष्टे लवनादौ लक्षणाऽपि न प्रामाणिकी नवा प्रयोजनवती। सूत्रभाष्यवार्तिकाक्षरैरस्पृष्टत्वेन स्वकपोलवल्लकल्पितत्वात्। लवनादावपूर्वसाधनतायाः स्वाध्यायविध्यनुगृहीतैस्तत्तद्ब्राह्मणवाक्यैरेव संलभ्याच्च। अपिच उभयोरप्यन्त्योपान्त्यपक्षयोः सर्वेषामेव साममन्त्राणां वाक्यविधया प्रामाण्यं दुरुपपादमेव। वाक्याभिव्यञ्जकत्वेन तदुपपत्तिस्तु पूर्वोक्ता न युक्ता, शब्दप्रमाणान्तर्भावोपपादनेऽपि वाक्यताया अनुपपादितत्वात्।

॥ भाषा ॥

उत्तर—यद्यपि साममन्त्र, वाक्यरूपी नहीं हैं तथापि मन्त्रवाक्यों के अभिव्यञ्जक होने से शब्दों के सहकारी हैं, इसी से शाब्दबोध की सामग्री में अन्तर्गत हो कर शब्दप्रमाण में अन्तर्भूत हैं और उसका अर्थ वही है जो कि उनके आश्रयभूत ऋग्मन्त्रों का है। इसी से उनकी यथार्थता और स्वतन्त्रप्रमाणता में कोई हानि नहीं पड़ सकती।

वस्तुतः विचार करने से तो तृतीयपक्ष भी ठीक नहीं है क्योंकि अर्कग्रीव आदिक पैंतीस प्रकार के साममन्त्रों [जिनकी गणना संस्कृतभाग में की हुई है] में तृतीयपक्ष हो ही नहीं सकता, इसमें यह कारण है कि अन्य सामों के नाईं ये पैंतीस साम, ऋग्मन्त्रों के अक्षरों पर नहीं गाये जाते जिस से कि यह कहा जाय कि ऋग्मन्त्रों के जो अर्थ हैं वे ही इनके भी अर्थ हैं तथा जब गानमात्र ही साम है तब उनका अपना स्वतन्त्र कोई अर्थ हो ही नहीं सकता और जब उनका कोई अर्थ ही नहीं है तब उनमें स्वतन्त्रप्रमाणता की चर्चा भी कैसे हो सकती है? और यह दोष द्वितीयपक्ष में भी तुल्य ही है। तृतीयपक्ष में दूसरा दोष यह भी है कि "बर्हिर्देवसदनं दामि" इस उक्त मन्त्र में "दा" शब्द की, अपूर्वसाधनभूतछेदन में लक्षणा नहीं हो सकती, क्योंकि इस लक्षणा में न कोई प्रमाण है और न इसका कुछ प्रयोजन है। इसी से सूत्रकार, भाष्यकार, वार्तिककार ने इस लक्षणा को अपने अक्षरों से स्पर्श भी नहीं किया है और पूर्वोक्त स्वाध्यायविधि के अनुसार ब्राह्मणवाक्यों ही से छेदन का अपूर्वसाधन होना जब सिद्ध है तब उसके सिद्ध होने के लिये ऐसी लक्षणा को कौन मीमांसक स्वीकार कर सकता है? निदान यह लक्षणा पं. सोमेश्वरभट्ट की केवल कपोलकल्पना ही है। और एक यह भी दोष द्वितीय और तृतीय पक्ष में दुर्वार ही है कि जितने साममन्त्र हैं उनमें एक मन्त्र भी इन पक्षों के अनुसार, वाक्य हो कर प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि वह वाक्यरूपी नहीं है किंतु गानरूपी है। और साम को वाक्य का अभिव्यञ्जक बना कर शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत करने से जो पूर्व में समाधान किया गया है वह भी अनुचित

अतएव चैतत्पक्षद्वयमपहाय प्रथममेव पक्षमवलम्बिरे मिश्राः । युक्तश्च प्रथम एव पक्षः, दत्तदोषलेशास्पर्शात् । नच मन्त्राणां पदार्थत्वेन प्रामाण्ये व्रीह्यादिवद्वाक्यविधया प्रामाण्यानुपपत्तिरित्युक्तदोषो दुर्वार इति वाच्यम् । सर्वेषामेव वाच्यानां 'वाक्य' निपदार्थत्वेऽपि वाक्यत्वस्य वाक्यविधया प्रामाण्यस्य चानपायवन्मन्त्राणां पदार्थत्वेऽपि वाक्यत्वानपायेन बोधकत्वस्याप्यनपेतपूर्वावस्थतया वाक्यविधया प्रामाण्ये बाधकाभावात् । नहि पदार्थत्वेन-सह वाक्यत्वस्य विरोधे किंचिन्मानमस्ति येन तस्मिन्सति तदपेयात् ।

तथाचोक्तं 'तदर्थशास्त्रादि' तिसूत्रे वार्तिकम्—

स्पष्टे शब्दात्प्रतीतेऽर्थे नानर्थक्यं हि शङ्क्यते अग्नौ दहति दृष्टे वा दग्धृत्वं किं विचार्यते ॥ इति

एवंच प्रयोगविधौ व्रीह्यादिवत्पदार्थत्वेन मन्त्राणामङ्गत्वेऽपि 'अविशिष्टस्तु वाक्यार्थ' इति न्यायेन लोकानुभवसाक्षिका मन्त्राणां स्वार्थबोधकता केन शक्यते प्रत्याख्यातुम् । इत्थमेव च प्रपादिस्मृतीनां मन्त्रमूलकत्वमित्येवमादीनि सोमेश्वरभट्टोक्तानि कार्याण्यपि

॥ भाषा ॥

ही हैं क्योंकि जब उन सामों का वाक्यरूपी होना सिद्ध नहीं किया जा सकता तब शब्द प्रमाण में अन्तर्भूत होने से क्या होता है ? क्योंकि सामों के किसी अर्थ का तभी सम्भव हो सकता है जब उनके वाक्यरूपी होने का सम्भव हो । और यदि ऐसा नहीं है तब घंटाघोष के नाईं साम-मन्त्र निरर्थक ही हैं यह तो दूसरी बात है कि अपूर्व के द्वारा उनका यज्ञकर्मों में उपयोग है । इसी से पं. पार्थसारथिमिश्र ने इन दोनों पक्षों को त्याग कर प्रथमपक्ष ही को स्वीकार किया । और ठीक भी प्रथम ही पक्ष है, क्योंकि उसमें पूर्वोक्त दोषों का स्पर्श भी नहीं है ।

प्रश्न—प्रथमपक्ष में भी तो द्वितीयपक्ष के ओर से पूर्व में यह दोष दिया जा चुका है कि यदि पदार्थ होने से मन्त्रों की प्रमाणता है तो व्रीहि आदि द्रव्यों से, मन्त्रों में कुछ विशेष नहीं रहा और इसी से वाक्य हो कर मन्त्रों की प्रमाणता न होगी अर्थात् जैसे व्रीह्यादिरूपी पदार्थ किसी अर्थ के बोधक नहीं हैं वैसे ही मन्त्र भी अर्थबोधक न होंगे क्योंकि ये भी पदार्थ ही हैं । तब प्रथमपक्ष भी कैसे दुष्ट नहीं है ? ।

उत्तर—लौकिक और वैदिक सबी वाक्य, "वाक्य" इस पद के अर्थ हैं और अपने २ अर्थों का बोध भी कराते हैं । तात्पर्य यह है कि पदार्थ होने मात्र से, वाक्य होना वा अर्थबोध कराने का सामर्थ्य, नष्ट नहीं होता क्योंकि पदार्थता के साथ वाक्यता का कोई विरोध नहीं है जिस से कि पदार्थ होने से वाक्य न हो, वा अर्थबोध न करा सके । इस रीति से मन्त्र, पदार्थ हो कर प्रमाण हैं और वाक्य हैं तथा अपने अर्थ का बोध कराते हैं, इसमें कोई विरोध नहीं है और न पूर्वोक्तदोष है । इसी से "तदर्थशास्त्रात्" इस पूर्वोक्त पूर्वपक्षसूत्र पर वार्तिककार ने कहा है कि 'स्पष्टे०' मन्त्रों से अर्थ का बोध होना जब अनुभवसिद्ध है क्योंकि मन्त्र, वाक्यरूपी हैं जैसे दाह की शक्ति अग्नि में प्रत्यक्ष है वैसे ही बोध कराने की शक्ति भी वाक्यों में, इससे यह विचार नहीं करना चाहिये कि 'मन्त्र अपने अर्थ का बोध कराते हैं वा नहीं' ? किन्तु यह विचार करना चाहिये कि "मन्त्रों का अपने अर्थ में तात्पर्य है वा नहीं ?" और जब मन्त्र, अर्थबोधक है तब पं. सोमेश्वरभट्ट के दिखलाये हुए सब कार्यों की उपपत्ति भी पूर्णरूप से हो जाती है । तथा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि जैसे यज्ञों में व्रीहि यव आदि, पदार्थ, द्रव्य हो कर उपयोगी

मन्त्राणामर्थबोधकत्वस्वीकारेणैवान्यथासिद्धानि न तदुक्तलक्षणामूलतामाकलयितुमलंभवन्ति। पदार्थत्वद्रव्यत्वे तु मन्त्राणां व्रीहियवादिभ्यो न किंचिदपि विशिष्टं किंतु तत्साधारणे एव। तथाच साममन्त्रान् द्रव्यशब्देन व्यवजहार ३ अध्याये ३ पादे स्वयमेव भगवान् जैमिनिः— धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण संबन्धः॥ ४॥ इति

शावरं च 'नास्य सामद्रव्येण सह संबन्धो वेदितव्य' इति। एतावांस्तु व्रीह्यादिद्रव्येभ्यो मन्त्ररूपशब्दद्रव्यस्य विशेषो यत् व्रीह्यादयो नियमेनाबोधका भवन्ति। मन्त्रास्तु केचिद्बोधका यथा इषेत्वादयो वाक्यरूपाः, केचिच्चाबोधका अदृष्टमात्रेणोपयोगिनो यथा पूर्वोक्ता अनृकसामादयो, जपमन्त्रा, विषविद्याश्च इति। तस्मात् पदार्थत्वेन मन्त्राणां प्रामाण्यमिति प्रथमो मिश्रोक्तपक्ष एव रमणीयतम इति प्रतीमः। एवम् तान्त्रिकपौराणिकादिमन्त्रेष्वप्ययमेव विवेको वेदितव्यः। एवं यत्रैषां कर्मसमवेतार्थता तत्र वाक्यविधया, परत्र तु शब्दद्रव्यविधयोपयोगः। विनियोगोऽप्येतेषां स्वसजीतायप्रतियोगिकध्वंसव्याप्यप्रागभावप्रतियोगित्वात्मिकया प्रवाहानादितया दृष्टतत्तत्फलसंवादनिर्णीतप्रामाण्यकदृष्टार्थतत्तन्मन्त्रप्रकाशकत्वेन चाविप्रतिपदनीयप्रामाण्यैः पुराणादिभिरेव वेदितव्यः। इदमेव च वासिष्ठीप्रतिष्ठामयू-

॥ भाषा ॥

होते हैं वैसे ही मन्त्र भी। इसी से पूर्व मी० द० अध्या० ३ पा० ३ "धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः" सू० ४ में जैमिनिमहर्षि ने साममन्त्रों को द्रव्य कहा है और भाष्यकार शबरस्वामी ने यह अर्थ किया है कि "सामद्रव्य के साथ उच्च उच्चारणरूपी धर्म का सम्बन्ध न समझना चाहिये" और ठीक भी यही है क्योंकि मीमांसकों के मत में 'शब्द' द्रव्य ही है। हां व्रीह्यादिद्रव्यों की अपेक्षा मन्त्ररूपी शब्दद्रव्य का इतना विशेष है कि व्रीह्यादि सब ही द्रव्य किसी अर्थ के बोधक नहीं होते और मन्त्ररूपी द्रव्य बहुत से, अर्थबोधक होते हैं जैसे "इषेत्वा" आदि, और बहुत से अर्थबोधक नहीं होते किंतु पाठमात्र से उपकारी होते हैं जैसे पूर्वोक्त 'अर्कमीवादि नामक' साममन्त्र, जपमन्त्र, और विषविद्या। इस पूर्वोक्तविचार से यह सिद्ध हो गया कि प्रथमपक्ष ही रमणीय है अर्थात् व्रीहि आदि द्रव्यों के तुल्य, मन्त्रद्रव्य भी पदार्थ होने से क्रियाओं के उपयोगी हैं। और तान्त्रिक, पौराणिक, आदि मन्त्रों के विषय में भी उपयोग के निर्णय का प्रकार यही है जो कि अभी कहा गया है क्योंकि तन्त्र पुराण आदि का मूल, वेद ही है और वेद के मन्त्रों में जब यह निर्णय हो चुका तब तन्त्र पुराण आदि मन्त्रों में अन्यप्रकार का निर्णय कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि उन्हीं क्रियाओं में, मन्त्रों का वाक्य हो कर अपने अर्थ के बोधद्वारा उपयोग और नियोग होता है कि जिन क्रियाओं का बोध, मन्त्र के पदों से हो सकता है, और जिन क्रियाओं का बोध मन्त्रों के पदों से नहीं होता उन क्रियाओं में तो द्रव्य हो कर पाठमात्र के द्वारा मन्त्रों का उपयोग (काम) और नियोग (नियुक्त होना) होता है, तथा उपयोग, नियोग, की यही दो चालें वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक आदि सब मन्त्रों के विषय में हैं। नियोगमात्र में केवल इतना विशेष है कि वैदिकमन्त्रों का ब्राह्मणवाक्यों से, तान्त्रिकमन्त्रों का तन्त्रवाक्य से, पौराणिकमन्त्रों का पुराणवाक्य से और सांवर आदि मन्त्रों का गुरुसंप्रदाय से उन २ क्रियाओं में विनियोग होता है। और इन्ही दो चालों के अनुसार वासिष्ठी, प्रतिष्ठामयूख, उत्सर्गपद्धति, श्राद्धविवेक, पितृभक्तितरङ्गिणी और प्रेतमञ्जरी इत्यादि, देवपितृकार्य के पद्धतिग्रन्थों में तथा दशकर्मादिसंस्कारों के पद्धतिग्रन्थों में

स्वोत्सर्गपद्धतिश्राद्धविवेकपितृभक्तितरङ्गिणीपेतमञ्जरीप्रभृतिभिर्देवपितृकर्मपद्धतिग्रन्थैर्देशकर्मा-दिसंस्कारपद्धतिग्रन्थैश्च प्रकाशितेषु तत्र तत्र कर्मणि विनियुक्तेषु च मन्त्रेषूपयोगद्वैविध्य-मनुध्येयं विद्वद्भिरिति सर्वं चतुरस्रमिति ।

अथ पूर्वपक्षोक्ता हेतवः (पृ० ३४० से ३४६ तक) क्रमेण निरस्यन्ते—

(१) तत्र मन्त्राणां पदार्थत्वेन प्रामाण्यस्य सिद्धान्तितत्वात् 'तदर्थशास्त्रात्' इति सूत्रेण प्रतिपादितो ब्राह्मणवाक्यानर्थक्यापत्तिरूपस्तर्कः प्रतिविहित इत्यप्रयोजक एवाद्यो हेतुः । मन्त्राणां स्वार्थे तात्पर्येऽपि विधायकत्वाभावेन व्रीह्यादीनामिव तद्विनियोगार्थं विधायकब्राह्मणवाक्यानां सुतरामावश्यकत्वात् । तथाचोक्ततात्पर्यकमुक्तंसूत्रम्—

अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः ॥ ४० ॥ (पृ० ३५३) इति ।

(२) किंच मन्त्रपदानां व्युत्क्रमेऽप्युच्चारणविशेषावगमाददृष्टान्तरं विना तदीयोच्चा-रणक्रमनियमस्य सार्थक्यं कथमपि नोपपादयितुं शक्यते ततश्च पूर्वपक्षे उच्चारणाददृष्टमुच्चारण-क्रमनियमाददृष्टं चेत्यदृष्टद्वयकल्पनं दुर्वारमेवेति गौरवम् । सिद्धान्ते तु प्रयोगकालिकायानुष्ठे-यपदार्थस्मरणाय सत्स्वपि पूर्वोक्तेषूपायान्तरेषु विशिष्टानुपूर्वीकमन्त्रविशेषाम्नानवशात्तेषां

॥ भाषा ॥

जिस २ मन्त्र का जिस २ कर्म में विनियोग कहा है वह सब मीमांसादर्शन के अनुसार ठीक ही है । और जो आधुनिक कतिपय लोग, उन पद्धतियों पर कतिपयस्थलों में यह आक्षेप करते हैं कि "इस मन्त्र के पद से जब इस क्रिया का बोध नहीं होता तब इस क्रिया में इस मन्त्र का विनियोग लिखना उचित नहीं है" सो यह आक्षेप उनका, इस समय पूर्वमीमांसादर्शन के पूर्णप्रचार न होने ही का फल है । यही मन्त्रों के विषय में सिद्धान्त है जो कि कहा गया ।

अब पूर्वपक्षोक्त (पृ० ३४० से ३४६ तक) हेतुओं का क्रम से खण्डन किया जाता है ।

(१) यहां तक व्याख्यान से, "तदर्थशास्त्रात्" इस पूर्वपक्षसूत्र के अनुसार जो ब्राह्मणवाक्यों पर अनर्थक होने की आपत्ति दी गई थी उसका परिहार पूर्णरूप से हो चुका क्योंकि जब पूर्वोक्तरीति से मन्त्र, विधायक नहीं हैं और ब्राह्मणवाक्यों के पदार्थ हो कर प्रमाण हैं तब जैसे यज्ञों में यव व्रीहि आदि के विनियोगार्थ ब्राह्मणविधिवाक्य, आवश्यक हैं वैसे ही मन्त्रों के विनि-योग के लिये भी वे आवश्यक ही हैं और ऐसी दशा में उन विधिवाक्यों पर अनर्थक होने की आपत्ति कदापि नहीं हो सकती । जैसा कि "अविशिष्टस्तु वाक्यार्थः" सू० ४० (पृ० ३५३) पर कहा गया ।

(२) पूर्वपक्ष में मन्त्रों के उच्चारण से एक अपूर्व की कल्पना होती है और मन्त्र के पदों को आगे पीछे बदल कर यदि उच्चारण किया जाय तो मन्त्र के स्वरूप बिगड़ने से यह अपूर्व नहीं होता इस लिये मन्त्र में पदों के क्रम का नियम भी आवश्यक है और इस नियम से भी दूसरे अपूर्व की कल्पना करनी पड़ती है इस रीति से दो अदृष्ट की कल्पना से गौरव है, सिद्धान्त में तो अनुष्ठानयोग्य क्रियाओं के अवसर पर उन क्रियाओं के स्मरण के लिये पूर्वोक्त अनेक उपाय प्राप्त होते हैं किन्तु संहिताओं में मन्त्रों के पाठसामर्थ्य से अन्य उपायों की निवृत्ति हो कर यह नियम होता है कि मन्त्रों ही से स्मरण करना चाहिये और इस नियम से एक ही अपूर्व की कल्पना होती है यह लाघव है । यह बात पूर्वोक्तसूत्र के उत्तर "अविरुद्धं परम्" ॥ ४४ ॥ इस सूत्र से जैमिनि-महर्षि की कही है । सूत्र का अर्थ यह है कि मन्त्र यदि क्रियाओं के स्मारक हैं तब भी उनके पदों

निवृत्तौ मन्त्रेणैवानुस्मरणीयमितिनियमादृष्टमात्रकल्पनाल्लाघवम्। तथाच पूर्वोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अविरुद्धं परम् ॥ ४४ ॥ इति।

परम् नियतक्रमकं पठनम् अविरुद्धम् मन्त्राणां स्मारकत्वेऽपि न विरुद्धम् क्रमपाठनियमापूर्वकल्पनादितिशेषः इत्यर्थः

(३) किंच संप्रैषे अग्नीदग्नीनित्यत्र बुद्धबोधनासंभवादर्थाभिधानानर्थक्यस्यापादनं न युक्तम् स्वाध्यायकालोत्पन्नानां बुद्धीनां प्रयोगकालपर्यन्तमवस्थानासंभवात्तदाऽवधानादिना केनचिदुपायेनावश्यकर्तव्येऽनुष्ठेयार्थानुसंन्धाने मन्त्रो नियम्यते अतो न मन्त्रानर्थक्यम्। तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

संप्रैषे कर्मगर्हाऽनुपालम्भः संस्कारत्वात् ॥ ४५ ॥ इति।

सम्प्रैषे अग्नीदग्नीनितिवाक्ये कर्मणि कर्मबोधे गर्हा दूषणम् अनुपालम्भः अदूषणम् संस्कारत्वात् मन्त्रेण हि पुनःस्मरणादाग्नीध्रस्य संस्कारो भवति प्रोक्षणेन व्रीहीणामिवेत्यर्थः।

(४) किंच चत्वारिशृङ्गेति रूपकद्वारेण यागस्तुतिः, कर्मकालउत्साहं करोति होत्रे त्वयं विषुवति होतुराज्ये विनियुक्तः तस्य चाग्नेयत्वादहश्चादित्यदैवतत्वसंस्तवादादित्यरूपेणाग्निस्तुतिरुपवर्ण्यते। तत्र चत्वारिशृङ्गेति दिवसयामानां ग्रहणम् त्रयो अस्य पादा इति शीतोष्णवर्षकालाः द्वे शीर्षे इति अयनाभिप्रायम् सप्तहस्ता इत्यश्वस्तुतिः। त्रिधा बद्ध इति

॥ भाषा ॥

का, नियत क्रम से पढ़ना विरुद्ध अर्थात् व्यर्थ नहीं है क्योंकि क्रमपाठ के नियम से अपूर्व की कल्पना होती है।

[३] पूर्वपक्षी का यह आक्षेप कि "जब अध्ययन के समय ही से अग्नीध् ऋत्विक् को यह ज्ञात हो चुका है कि अग्नि का विहरण मेरा कर्तव्य है तब यज्ञ के समय में "अग्नीदग्नीन् विहर" इस प्रैषमन्त्र से उसका स्मरण कराना व्यर्थ हो जायगा" ठीक नहीं है क्योंकि अध्ययनकाल में उत्पन्न हुई बुद्धि, यज्ञकालतक ठहर नहीं सकती, और यज्ञकाल में अवधानादि अनेक उपाय, अग्नि-विहरण के स्मरणार्थ प्राप्त होते हैं परन्तु अनन्तरोक्तरीति के अनुसार यह नियम होता है कि 'अग्नीदग्नीनि' त्यादि प्रैषमन्त्र ही से स्मरण करना चाहिये इस लिये यह मन्त्र व्यर्थ नहीं है। इस बात को जैमिनिमहर्षि ने "संप्रैषे कर्मगर्हाऽनुपालम्भः संस्कारत्वात्" ॥ ४५ ॥ इस सूत्र से कहा है। इसका यह अर्थ है कि "अग्नीदग्नीन्विहर" इस वाक्य से अग्निविहरण के स्मरण में जो दोष दिया गया वह दोष नहीं है क्योंकि जैसे प्रोक्षण [भिगोने] से व्रीहियों का संस्कार होता है वैसे इस मन्त्र के द्वारा पुनः स्मरण होने से आग्नीध्र [अग्निकुण्ड] का संस्कार होता है।

[४] "चत्वारिशृङ्गा" इस मन्त्र से याग की स्तुति इस लिये होती है कि जिस से यज्ञ-काल में कर्ता के उत्साह की वृद्धि हो और 'विषुवत्' नामक यज्ञ से होता [ऋत्विज्] के घृतहोम के लिये इसका विनियोग होता है और यह मन्त्र, अग्निदेवता का है तथा विषुवत् उस दिन का नाम है जिसमें रात्रि और दिन का परिमाण तुल्य हो, और दिन के देवता सूर्य हैं, इस कारण सूर्यरूप से अग्नि की स्तुति इस मन्त्र से की जाती है अब इस मन्त्र का यह अर्थ है कि "चत्वारिशृङ्गा" [दिन के चार पहर अग्नि के सींग] "त्रयो अस्य पादाः" [शीत, उष्ण, वर्षा, ये तीनों इसके चरण] "द्वे शीर्षे" [उत्तरायण, और दक्षिणायन ये दोनों शिर] "सप्त हस्तासः" [सात घोड़े सूर्य के इसके हाथ हैं]

सवनाभिप्रायेण वृषभ इति वृष्टिहेतुत्वेन स्तुतिः रोरवीति स्तनयित्नुना। सर्वलोकप्रसिद्धे-महान् देवो मर्त्यानाविवेशेत्युत्साहकरणोपकारेण सर्वपुरुषहृदयानुप्रवेशः संभवत्येवेत्यनेनैव मार्गेण धर्मसाधनस्मृतिरिह जागर्त्येव। एवमेवैवंजातीयकेषु मन्त्रान्तरेष्वप्यूहनीयम्।

(५) किंच 'ओषधे त्रायस्व' त्यादावचेतनसंबोधनेऽप्यनन्तरोक्तन्यायेन स्तुतित्व-सम्भवादेव न दोषः। तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

अभिधानेऽर्थवादः ॥ ४६ ॥ इति।

अभिधाने 'चत्वारिशृङ्गा' 'ओषधे' इत्यादिमन्त्रे पदानीतिशेषः अर्थवादः गुणवृत्त्या स्तावकानीत्यर्थः।

(६) किंच अदितिर्द्यौरित्यादौ न तावद् द्युत्वादीनि विवक्षितानि किंत्वदितौ प्रका-शयितव्यायां तस्याः स्तुत्यर्थमेवाविद्यमानानामपि परस्परविप्रतिषिद्धधर्माणां तत्रोपादानम् तच्चार्थवादाधिकरणोक्तपूर्वगुणवादन्यायेन योजनीयमिति न दोषः। तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

गुणादविप्रतिषेधः स्यात् ॥ ४७ ॥ इति।

गुणात् गुणकथनात् अविप्रतिषेधः अविरोधः 'अदितिर्द्यौरि' त्यत्र 'त्वं माता त्वं-पिते' तिवदविद्यमानगुणैरेव स्तुतिरिति भावः।

(७) अपिच उक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्।

'विद्याऽवचनमसंयोगात् ॥ ४८ ॥' इति।

॥ भाषा ॥

"त्रिधा बद्धः" [तीन, प्रातः, मध्यान्ह, सायम्, सवन अर्थात् स्नान से संयुक्त] "वृषभः" [जल-वृष्टि का कारण] "रोरवीति" [विद्युत् से शब्द करता है] "महोदेवो मर्त्या आविवेश" [यह बड़ा देवता सूर्य, अग्निरूप हो कर मनुष्यों के बीच आया है] इस रीति से इस मन्त्र के द्वारा धर्म-साधनरूपी अग्नि का स्मरण होता है और इस प्रकार के अन्यान्य मन्त्रों के अर्थ करने की रीति भी यही है।

(५) उक्तरीति ही से "ओषधे त्रायस्व" इत्यादि मन्त्रों में भी ओषधी आदि अचेतन-पदार्थों को चेतनदेवता मान कर उनके अभिमुखीकरण के द्वारा स्तुति की जाती है।

इन 'दोनों' उत्तरों को भी पूर्वोक्तसूत्र के उत्तर "अभिधानेऽर्थवादः" ॥ ४६ ॥ सूत्र से जैमिनिमहर्षि ने कहा है, इसका अक्षरार्थ यह है कि "चत्वारिशृङ्गा" "ओषधे" इत्यादि मन्त्रों के पद, गुणवाद की रीति से स्तुति करने वाले हैं।

(६) "अदितिर्द्यौः" इस मन्त्र का अदितिदेवता के, स्वर्गलोकरूपी होने आदि में तात्पर्य नहीं है कि जिस से विरोध हो सके किन्तु अदितिदेवता की स्तुति के लिये उसमें न रहनेवाले परस्परविरुद्ध धर्मों का इस मन्त्र में उपादान है और उसकी उपपत्ति अर्थवादाधिकरण में पूर्व ही कही हुई गुणवादरीति से होती है इससे कोई दोष नहीं है। यह बात पूर्वोक्तसूत्र के अनन्तर "गुणादविप्रतिषेधः स्यात्" ॥ ४७ ॥ इस सूत्र से कही है। इसका यह अर्थ है कि जैसे किसी अन्य पुरुष को "तू माता है तू पिता है" इस वाक्य के द्वारा माता और पिता होने के आरोप से लोक में स्तुति की जाती है वैसे ही "अदितिर्द्यौः" इस मन्त्र से द्युलोक होने आदि आरोपित-गुणों से ही स्तुति की जाती है इसी से विरोध नहीं है।

(७) पूर्वोक्तसूत्र के उत्तर "विद्याऽवचनमसंयोगात्" ॥ ४८ ॥ यह सूत्र है इसका

विधायाः अर्थज्ञानस्य अर्थस्मरणस्येति यावत् अवचनम् अविधानम् अ न पृथक्प्रयोग आर्षः संयोगात् स्वाध्यायाध्ययनविधिभाव्यत्वेनैव तस्य सिद्धत्वादित्यर्थः ।

(८) किंच केषांचिन्मन्त्राणां वाक्यरूपाणामर्थस्य तेषां लोकाप्रयुक्तपदघटितत्वाधदविज्ञेयत्वमुक्तम् । तदपि न युक्तम् । सत एवार्थस्य पुरुषापराधेनाज्ञानात् । नह्यन्धा न पश्यन्तीति न रूपं नाम किमपीति शक्यते वक्तुम् । एवं च अर्थप्रकरणसूक्तदेवताऽऽर्षनिगमनिरुक्तव्याकरणरूपोपायाधिगमपरिणतबुद्धीनां सर्वत्र तादृशि मन्त्रेऽर्थज्ञानसंभवेन तादृशोपायज्ञानशून्यमानसानामर्थज्ञानाभावस्य न दूषणक्षमता । अर्थो हि सामर्थ्यं पदान्तरसामानाधिकरण्यादियोग्यतेति यावत् प्रकरणम् प्रक्रमः तयोश्च सर्वत्र लोकवेदयोरर्थज्ञानोपायत्वं प्रसिद्धम् । सूक्तदेवते, एतयोश्चाव्यक्तलिङ्गायामृचि प्रसिद्धमेवार्थज्ञानोपायत्वम् आर्षज्ञानमपि 'अहं मनुरभवं सूर्यश्चे'त्यादौ वामदेवरूपस्यास्मदर्थस्य ज्ञानं प्रति हेतुत्वेन प्रसिद्धमेव । नहि सूक्तं देवता आर्षं वा क्वचिद्विधेयतया वाक्येन बोध्यते भवन्ति च तान्यर्थज्ञानहेतवः । अतएव चाद्य यावत्तेषां परिपालनमपि सार्थकं भवति निगमनिरुक्तव्याकरणानि चार्थज्ञानहेतुत्वेनातिप्रसिद्धान्येव । नचार्षज्ञानस्योपायत्वे 'भूतांशोनाम ऋषिर्जरामरणनिरासायाश्विनौ तुष्टावे' त्येवमार्षस्योपाख्यानादनित्यसंयोगे वेदस्यानित्यत्वमापद्यतेति वाच्यम् । यथैव हि व्याकरणेन नित्यपदान्वाख्याने क्रियमाणे लोपविकारादीनामुपायत्वेनोपादानम् अव्युत्पन्नाश्च तैरेव पदोत्पादनमिव मन्यन्ते तथैवात्रापि नित्यवाक्यार्थप्रतिपत्तावार्षोपाख्यानमनि-

॥ भाषा ॥

यह अर्थ है कि मन्त्रों के द्वारा अर्थों के स्मरण का विधान, विशेषरूप से इस कारण नहीं किया गया कि पूर्वोक्तरीति से "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इसी वाक्य से उक्तस्मरण का भी विधान सिद्ध है ।

(८) पूर्वपक्ष में जो यह कहा गया है कि "कतिपयमन्त्रों के अर्थ ही नहीं ज्ञात हो सकते" वह ठीक नहीं है क्योंकि उनके अर्थ अवश्य ही हैं और अर्थों के न समझने का अपराधी वह पुरुष है जिसकी समझ में वे अर्थ नहीं आते । प्रसिद्ध है कि अन्धे, रूप को नहीं देखते किन्तु इससे कोई यह नहीं कहता कि रूप कोई पदार्थ नहीं है । तात्पर्य यह है कि पदों का सामर्थ्य, प्रकरण, सूक्त, देवता, आर्ष, ब्राह्मण, निरुक्त और व्याकरण, ये मन्त्रार्थज्ञान के उपाय हैं और इनके अभ्यास से व्युत्पन्नपुरुष, सब मन्त्रों के अर्थ को समझ सकता है, तो ऐसी दशा में किसी अव्युत्पन्नपुरुष के न समझने से यह नहीं कहना चाहिये कि इस मन्त्र का कोई अर्थ ही नहीं है ।

प्रश्न—आर्ष (भूतांशनामक ऋषि ने जरामरणदुःख छूटने के लिये अश्विनीकुमार की स्तुति की इत्यादि) भी यदि मन्त्रार्थ के निश्चय का उपाय है तो वेद अनित्य क्यों नहीं है क्योंकि अश्विनीकुमार के मन्त्र का भूतांशऋषि ही ने जब प्रथम उच्चारण किया तब तो वेद पौरुषेय ही हुआ ? ।

उत्तर—जैसे पद सब नित्य ही हैं परन्तु उनके साधुत्व दिखलाने के लिये किसी वर्ण का लोप, किसी का विकारआदि अनेक कल्पितउपाय व्याकरण में दिखलाये जाते हैं और जो उनके तत्त्व को नहीं जानता वह यही समझता है कि व्याकरण, पदों को उत्पन्न करता है वैसे ही वेदवाक्य नित्य ही हैं और उनके पदों के अर्थ, गोत्वादिजातिरूपी, भी नित्य ही हैं । केवल उन वाक्यार्थों के समझने में सुगमता के लिये आर्ष का उपाख्यान (जो कि अनित्य सा ज्ञात होता है)

स्वबदाभाससमानमुपायत्वं प्रतिपद्यते । नच लोपविकारादीनामुपायमात्रत्वेन प्राभूत्पदानित्यत्वापादकत्वम् अपारमार्थिकत्वात् आर्षे तु कथं न वेदानित्यत्वापादकत्वम् पारमार्थिकत्वादिति वाच्यम् । यथा कश्चिद् व्याचक्षाणः पदतदवयवादीनां चेतनत्वमिवाध्यस्य 'एतेन एवमुक्तोऽयम् एवमत्याह' इत्यादिरीत्या विशेषबाधादिव्यापारं निरूपयति यथा च पूर्वोत्तरपक्षवादिनौ व्यवहारार्थं कल्पितौ भवतस्तथैव ऋष्यार्षेयकल्पनाया अप्युपायमात्रत्वेनापारमार्थिकत्वेऽपि क्षतिविरहात् । पारमार्थिकत्वेऽपि वा न वेदस्यानित्यत्वापत्तिः मन्त्राणामृषिकृतत्वाभावात् । प्रयोगस्य च तेषां प्रवाहरूपेण सर्वदैव सद्भावात् ।

तथाच श्रुतिः

अजान्ह वै पृश्नीं स्तपस्यमानान् स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषयोऽभवन् तदृषीणामृषित्वम् इति ।

अयमस्या अर्थः 'अजान्' कल्पादावेव ये ब्रह्मणा सृष्टा नतु कल्पमध्येऽस्मदादिवन्मुहुर्मुहुर्जायन्ते ते अजाः तान् तथा 'पृश्नीन्' शुक्लान् स्वरूपेणैवाविद्यकमालिन्यहीनानितियावत् 'तपस्यमानान्' 'मनसश्चेन्द्रियाणांच ह्यैकाग्र्यं परमं तप' इति स्मृत्युक्तलक्षणंतपः चरतः तान् तत्तपसाऽऽवार्जितं 'स्वयम्भु' निरतिशयं जगत्कारणं 'ब्रह्म' परंब्रह्म कांचिन्मूर्त्तिं धृत्वा अनु-

॥ भाषा ॥

कल्पित एक उपाय है। यदि यह कहा जाय कि लोप, बिकार, आदि तो पदों के साधुत्वबोध में काल्पनिकउपाय हैं इससे उनके अनुसार पद अनित्य नहीं हो सकते और आर्ष तो काल्पनिक नहीं है किन्तु पारमार्थिक है तब उसके अनुसार बेद को अनित्य होना चाहिये, तो इसका यह उत्तर है कि ऋषि और आर्षेय भी वास्तविक नहीं हैं किन्तु काल्पनिक ही हैं, इस में दो दृष्टान्त हैं। एक यह है कि व्याकरण के ग्रन्थों में सूत्रों को चेतन सा मान कर यह व्यवहार काल्पनिक होता है कि अमुक सूत्र, अमुक कार्य का बिधान करता है, और अमुक सूत्र उसका निषेध करता है इत्यादि, दूसरा यह है कि दर्शनग्रन्थों में बिचार के अर्थ पूर्वपक्षी और उत्तरपक्षी की कल्पना का व्यवहार किया जाता है। और यदि आर्षेय वास्तविक ही स्वीकार कर लिया जाय तब भी बेद अनित्य नहीं हो सकता, क्योंकि मन्त्रों के उच्चारणमात्र करने से ऋषि उनका कर्ता नहीं हो सकता और ऋषि भी कोई व्यक्तिविशेष नहीं है किन्तु भूतांश आदि नाम वाले ऋषियों की परम्परा चली आती है, तात्पर्य यह है कि जो, अश्विनीकुमार के इस मन्त्र का, सृष्टि के आदि में प्रथम उच्चारण करैगा वही भूतांश है। और सृष्टि, प्रलय, का प्रवाह अनादि है इससे प्रत्येकसृष्टि के आदि में एक भूतांशनामक ऋषि होता है जो अश्विनीकुमार के इस मन्त्र का प्रथमउच्चारण करता है इस रीति से मन्त्र के उच्चारणों की परम्परा अनादि है और बेद पौरुषेय नहीं है। और इस उक्तव्यवस्था में प्रमाण यह बेदवाक्य है कि 'अजान् ह वै०' अर्थात् अजों (जिनको कि आदिसृष्टि ही के समय ब्रह्मदेव ने उत्पन्न किया अर्थात् जो लोग हम लोगों के ऐसा, कल्प अर्थात् ब्रह्मदिन के बीच में पुनः २ नहीं उत्पन्न होते) और पृश्नियों (शुद्ध अर्थात् अविद्याकृत मलिनता से रहित) तथा मन और नेत्र आदि इन्द्रियों की एकाग्रतारूपी तप करते हुए, महाशयों के अभिमुख, परब्रह्म मूर्तिधारी हो कर 'आनर्षत्' (आते हैं) यही उन महाशयों में ऋषित्व है क्योंकि 'अभि' से सहित 'ऋषी' धातु का अभिमुख आना अर्थ है इसके अनुसार परब्रह्म, जिनके अभिमुख आये

ग्रहीतुम् 'अभ्यानर्षत्' आभिमुख्येन प्रत्यक्षमागच्छति (कालसामान्ये 'छन्दसिलुङ्लङ्लिट' इति लुङ्) 'तत्' तस्मात् ऋषीगताविति धात्वर्थानुगमादितियावत् ऋषयोऽभवन् ऋषयो-भवन्ति (पूर्ववल्लुङ्) तदृषीणामृषित्वम् अनयैव व्युत्पत्त्याऽन्येषामपि ऋषित्वं सम्पद्यते इति।

वेदव्यासोऽपि—

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः। लेभिरे तपसा पूर्वं मनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥ इति।

इयं च स्मृतिः 'अतएवच नित्यत्वम्' (शा० अ० १ पा० ३ सू० २९) इतिसूत्रभाष्ये भगवत्पादैरुद्धृता।

मनुरपि—

प्रजापतिरिदंशास्त्रंतपसैवासृजत्प्रभुः। तथैववेदानृषय-स्तपसाप्रतिपेदिरे (अ० ११ श्लो० २४३) इति

नच वृद्धव्यवहारावगतपदार्थानुसारेणैव संभवन्त्यामस्माकीनायां मन्त्रार्थप्रतिपत्तौ कौतस्कुतीयमृषिप्रत्ययबलापेक्षेति वाच्यम्। आपाततो मन्त्रार्थबोधेऽपि मन्त्रार्थतत्त्वावधारणस्य ऋषिसम्प्रदायानुसारेणैव साध्यत्वात्। आर्षस्मरणादिदर्शनस्य चानुपदमेव निवेदितत्वात्। तथाच वार्तिकम् 'प्रत्ययदृढत्वार्थमेव चार्षस्मरणमिति' एवं स्थिते पूर्वपक्षोक्तानां सृण्येवेत्यादीनां त्रयाणामपि मन्त्राणामर्था वार्तिकमाश्रित्यार्षोपाख्यानसूक्तमन्त्रपदच्छेदपदार्थोपपत्तिवाक्यार्थक्रमेण व्याख्यायन्ते। तत्र 'सृण्येव' इत्यादि भूतांशस्यार्षम्।

एवमुपाख्यानं स्मरन्ति 'यथा किल भूतांशो नाम कश्चिदृषिर्जरामरणमोक्षार्थी सृण्येवेत्या-

॥ भाषा ॥

वे ऋषि कहलाते हैं चाहे वे किसी समय के हों, निदान परब्रह्म, प्रत्यक्ष हो उन महाशयों को अपनी अनुज्ञा से मन्त्रदर्शी बना देते हैं इति।

तथा 'अतएवच नित्यत्वम्' (शा० द० अ० १ पा० ३ सू० ९) इस सूत्र के भाष्य में भगवत्पाद (श्रीशङ्कराचार्य) का उद्धृत यह वेदव्यास का स्मृतिवाक्य है कि—

'युगान्ते०' अ. ब्रह्मदिन के अन्त (प्रलय) में गुप्त हुए, इतिहाससहित वेदों को, पूर्व ही (आदिसृष्टि के समय) ब्रह्मदेव की अनुज्ञा पा कर अपने मन और इन्द्रियों की एकाग्रता से महर्षियों ने प्रत्यक्ष कर लिया इति। तथा मनु ने भी कहा है कि—

'प्रजापति०' अ. प्रभुप्रजापति ने तप (मन और इन्द्रियों की एकाग्रता) ही से इस शास्त्र (लक्षाध्यायी पितामहस्मृति) की रचना किया और ऋषियों ने भी तप ही से, (गुप्त) वेदों को प्रत्यक्ष किया इति।

प्रश्न—जब, जैसे लौकिकवाक्यों का अर्थ, व्यवहारों के द्वारा समझ में आता है वैसे ही मन्त्रों का अर्थ भी, तब ऋषिसंप्रदाय की कल्पना का क्या प्रयोजन है ?।

उत्तर—यद्यपि सामान्यरूप से मन्त्रार्थ का बोध, पूर्वोक्त अन्य उपायों से भी हो सकता है तथापि मन्त्रार्थ के तत्त्व का विशेषरूप से निश्चय, ऋषिसंप्रदाय ही के अनुसार हो सकता है और मन्त्रार्थ पर विश्वास भी उसी से दृढ होता है।

अब पूर्वपक्षोक्त "सृण्येव" इत्यादि तीन मन्त्रों का अर्थ, वार्तिक के अनुसार आर्षोपाख्यान, सूक्तमन्त्र, पदच्छेद, पदार्थ की उपपत्ति और वाक्यार्थ, के क्रम से संस्कृतभाग में दिखलाया गया है, उसका संक्षेप यह है कि—

दिना सूक्तेनाश्विनौ स्तुतवानिति'। आश्विनंच सूक्तम् । अन्ते 'भूतांशो अश्विनोः काममप्रा' इतिसङ्कीर्तनात् ।

मन्त्रः—सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका ।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु ॥

पदच्छेदः—सृण्या इव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशा इव तुर्फरी पर्फरीका । उदन्यजा इव जेमना मदेरू ता मे जरायु अजरम् मरायु ।

पदार्थोपपत्तिः—(सृण्यौ) सृणिरङ्कुशः, सरणसाधनत्वात् तमर्हन्तौ तत्रसाधू वा सृण्यौ अर्थात् कुञ्जरौ आकारश्छन्दसिद्विवचनादेशः ताविव (जर्भरी) अत्यर्थं जृम्भमाणौ चत्वारः पादाः द्वौ दन्तौ शुण्डा पुच्छं चेत्येभिरङ्गैः प्रहारे व्यापृतौ (तुर्फरीतू) हिंसन्तौ (नैतोशा) नैतोशतिर्वधकर्मा वधकारिणौ योद्धारौ नैतोशौ ताविव (तुर्फरी) त्वरमाणौ हिंसकौ वा (उदन्यजा) उदन्यतिः पिपासार्थः उदन्यशब्दस्य च चातकपिपासाकालः प्रावृडिहलक्ष्योऽर्थः तत्र जातौ उदन्यजौ चातकौ (जेमना) उदकवाचिनो जेमशब्दात्पामादित्वलक्षणो मत्वर्थीयो-नप्रत्ययः जेमनौ उदकवन्तौ ताविव (मदेरू) यथा प्रावृषिजौ चातकावुदकलाभेन मत्तौ भवतः तथा मत्तौ । यौ इति पूरणम् (ता) तौ (मे) मम (जरायु—मरायु) जरामरणधर्मकम् शरीरमितियावत् (अजरम्) अमरंच कुरुतामितिवाक्यशेषः ।

वाक्यार्थः—यावङ्कुशचोदिताविव कुञ्जरौ सर्वतो जृम्भमाणौ शत्रूणां निहन्तारौ भवतोहिंस्राविव च हिंसनव्यापृतौ दाक्ष्येण शोभेते चातकाविव जललाभेन मदात्मीयेते तावुभावपि जरामरणयोः क्रपिताविवाजरत्वस्यामरत्वस्य च प्रीतावजरममरं मे शरीरं विधत्तामिति ।

'अभ्यक् सा ते' इत्यगस्त्यस्यार्षम् । तेन किलेन्द्रोऽमरत्वं धनं प्रार्थितः, उपरितन्यामृचि 'त्वं नू न इन्द्र तं रयिं दा' इति श्रवणेन तस्यैवास्यामनुषङ्गात् इयं च छन्दोमसञ्ज्ञकानां

॥ भाषा ॥

मं० सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका। उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराय्वजरं मरायु॥

यह उपाख्यान है कि जरा और मरण से अपने छूट जाने के अर्थ, भूतांशनामक ऋषि ने अश्विनौ (अश्विनीकुमार दो देववैद्य) की स्तुति की इति। और जिस सूक्त [मन्त्रसमूह] से स्तुति किया वह सूक्त आश्विन [अश्विनीकुमार का] कहा जाता है उसी सूक्त का यह एक मन्त्र है । पदार्थ यह है कि [सृण्या] अंकुश के योग्य अर्थात् हाथी [इव] ऐसे [जर्भरी] जम्हुआते अर्थात् चारो चरण, सूंड, और पूंछ से व्यापार करते [तुर्फरीतू] मारते [नैतोशा] बध करने वाले अर्थात् योद्धा [तुर्फरी] क्षिप्रकारी [उदन्यजा] बर्षाकाल के चातक [इव] ऐसे [जेमना] जलवाले [मदेरू] हर्ष को प्राप्त [ता] वे [मे] मेरा [जरायु-मरायु] जरामरणवाले (अजर) अजर अमर ।

वाक्यार्थ । जो दोनों अश्विनीकुमार, अंकुश से प्रेरित हस्ती के समान अंगों से व्यापार करते, शत्रुओं के मारनेवाले और युद्ध करनेवाले, तथा अपनी क्षिप्रकारिता से शोभित और जल मिलने से संतुष्ट चातक के तुल्य, अपने संतोष से प्रसन्न रहते हैं वे प्रसन्न हो कर मेरे, जरा और मरण से युक्त इस शरीर को अजर और अमर करें ।

मं० अभ्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि ॥

उपाख्यान यह है कि अगस्त्यऋषि ने इन्द्रदेवता से अमरत्वरूपी धन की प्रार्थना, इस

त्रयाणामह्नां मध्ये द्वितीयेऽह्नि, शस्त्रे मरुत्वतीयसञ्ज्ञके 'महाँसित्वमिन्द्रयतएतानीतिसूक्तम्' इति श्रुत्या विनियुक्ता ऐन्द्रं च सूक्तम्।

मन्त्रः—अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिरस्मे सनेम्यभ्वं मरुतो जुनन्ति।
अग्निश्चिद्धि ष्मातसे शुशुक्वानापो न द्वीपं दधति प्रयांसि॥

पदच्छेदः—अम्यक् सा त इन्द्र ऋष्टिः अस्मे सनेमि अभ्वम् मरुतः जुनन्ति। अग्निः चित् हि स्म अतसे शुशुक्वान् आपः न द्वीपम् दधति प्रयांसि।

पदार्थोपपत्तिः—(अम्यक्) साहित्यार्थोऽव्ययम् अमाशब्दः यतोऽमात्य इति भवति अमा सह अञ्चति अम्यक् आकारस्य छान्दसेन वर्णव्यत्ययेनेकारः (सा) प्रसिद्धा (ते) तव (इन्द्र) (ऋष्टिः) पाणिक्षेप्यआयुधविशेषः (अस्मे) अस्माकम् (सनेमि) पुराणम् (अभ्वम्) जलम् (मरुतः)(जुनन्ति) क्षिपन्ति)। (अग्निः) (चित्) इव (हि) (स्म) एतौ वाक्यालङ्कारे (अतसे) शुष्कतृणे (शुशुक्वान्) दीप्तः (आपः) (न) इव (द्वीपम्) पुलिनम् (दधति) धारयन्ति (प्रयांसि) अन्नाद्यानि। अत्र प्रथमतृतीययोर्द्वितीयचतुर्थयोश्च पादयोर्मिथःसम्बन्धः सेत्यनेन तृतीयपादे यच्छब्दः कल्प्यः। तथाचायम् वाक्यार्थः। हे इन्द्र शुष्कतृणे दीप्तोऽग्निरिव या लक्ष्यते नित्यं तव सहचारिणी बल्लभा च ऋष्टिः सा तावत् त्वत्प्रसादेन अस्माकमेव। येऽप्यमी पुराणं जलं वृष्टिरूपेण क्षिपन्तः आप इव द्वीपम् अन्नाद्यानि धारयन्ति तव प्रियसखामरुतस्तेऽप्यस्माकमेव स त्वमेवं साधारणद्रव्यः सन् (रयिम्) अमरत्वं केवलं नो (दाः) देहि इति। 'एकया प्रतिधा' इत्यादेरैन्द्रं सूक्तम्।

मन्त्रः—एकया प्रतिधाऽपिवत्साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रः सोमस्य काणुका॥

पदच्छेदः स्पष्टः। पदार्थोपपत्तिस्तु (एकया) एकेन (प्रतिधा) प्रयत्नेन (अपिवत्) (साकम्) यौगपद्येन (सरांसि) पात्राणि (त्रिंशतम्) (सोमस्य) पूर्णानि (इन्द्रः) (काणुका) कामयमानः कामुकशब्दस्य छान्दसो वर्णव्यत्ययः आकारस्तु विभक्त्यादेशः। अथवा काणुकेति सरांसि इत्यस्य विशेषणम् कान्तम् प्रियम् कम् उदकं सोमरसात्मकं येषु तानि,

॥ भाषा ॥

मन्त्र के द्वारा किया। पदार्थ यह है कि (अम्यक्) साथ चलनेवाली (सा) वह (ते) तुम्हारी (इन्द्र) हे इन्द्र (ऋष्टि) दोधारा खड्ग (अस्मे) हमारा (सनेमि) पुराना (अभ्वम्) जल (मरुतः) वायु (जुनन्ति) फेंकते हैं (अग्निः) (चित्) जैसा (अतसे) सूखे तृण में (शुशुक्वान्) दीप्त (आपः) जल (न) ऐसा (द्वीपं) द्वीप को (दधति) धारण करते हैं (प्रयांसि) भोज्यअन्नों को। वाक्यार्थ यह है कि हे इन्द्र! सूखे तृण में दीप्त अग्नि के समान और नित्य तुम्हारे साथ रहनेवाली प्यारी ऋष्टि तुम्हारे प्रसाद से हमारी है और पुराने जल को, वृष्टिरूप से फेंकते हुए तुम्हारे प्यारे वायु जो कि भोज्यान्न को ऐसा धारण करते हैं जैसे कि जल, द्वीप को धारण करता है वे वायु भी हमारे ही हैं इस रीति से जिसका द्रव्य, सर्वसाधारण है सो तू मुझे केवल अमर कर।

मं० एकया प्रतिधाऽपिवत्साकं सरांसि त्रिंशतम्। इन्द्रःसोमस्य काणुका।

(एकया) एक (प्रतिधा) प्रयत्न से (अपिवत्) पीते हैं (साकं) एक ही साथ (सरांसि) पात्रों को (त्रिंशतम्) तीस (सोमस्य) सोमलता के (काणुका) सोमरूपी लता के मीठे जल से पूर्ण (इन्द्रः) इन्द्र। और वाक्यार्थ यह है कि इन्द्र, सोमलता के मीठे रस से पूर्ण, तीस पात्रों

कान्तकानीत्यादीनां निरुक्तोक्तानां काणुकाशब्दविकल्पानां दर्शनात् इति। वाक्यार्थः स्पष्टः।

तस्मात् केनचित् प्रकारेणाभियुक्तानामर्थोत्प्रेक्षोपपत्त्या प्रसिद्धतरार्थाभावेऽपि सिद्धमेव मन्त्रवाक्यानामर्थवत्त्वम्। तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

सतः परमविज्ञानम् ॥ ४९ ॥ इति।

सृण्येवेत्यादौ सतः अर्थस्य अविज्ञानम् परम् केवलम् अशक्तेरालस्याद्वेतिशेष इत्यर्थः।

(९) किंच वेदस्य सादितानिराकरणावसरेऽधस्तादेवानित्यसंयोगः 'परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्' इतिसूत्रमुपन्यस्य सुतरां निराकृत इति तदेवेहावर्त्तनीयम्।

तथाचोक्तसूत्रोत्तरं सूत्रम्—

उक्तश्चानित्यसंयोगः ॥ ५० ॥ इति।

अत्र वार्तिकम्

यजमानस्तावत्प्रार्थयिता इन्द्रश्च प्रार्थ्यमानः सर्वदाऽस्ति। कीकटा नाम यद्यपि जनपदास्तथापि नित्याः। अथवा सर्वलोकस्थाः कृपणाः कीकटाः, प्रमगन्दः कुसीदवृत्तिः स हि प्रभूततरमागमिष्यतीत्येवं ददाति। नीचाशाखः षण्ढः तदीयं धनं नैचाशाखम्। तच्च सर्वमयज्ञाङ्गभूतं तेषां कर्मण्यप्रवृत्तेस्तदस्माकमाहरेति। शेषं गतार्थम् इति।

न्यायसुधा च— श्रुतिसामान्यमात्रतां दर्शयति यजमानस्तावदिति० इति।

। इति मन्त्रोपयोगः।

॥ अथ मन्त्रादिलक्षणानि ॥

अथ मन्त्रस्य किं लक्षणमिति चेत्, अत्र २ अध्याये १ पादे जैमिनीयं सूत्रम्—

तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥ ३२ ॥ इति ॥

॥ भाषा ॥

को एक साथ एक ही प्रयत्न से पीते हैं इति। इस रीति से सभी मन्त्रों का अर्थ हो सकता है और पूर्वोक्तसूत्र के उत्तर, "सतःपरमविज्ञानम्" ॥ ४९ ॥ इस सूत्र से जैमिनिमहर्षि ने उक्तविषय को कहा है और सूत्र का अक्षरार्थ यह है कि "सृण्येव" इत्यादि मन्त्रों का अर्थ अवश्य ही है यह दूसरी बात है कि कोई पुरुष अपने अशक्ति वा आलस्य से उन मन्त्रों के अर्थ को नहीं समझता।

(९) उत्पन्न पदार्थ के कथन से वेद में अनित्यता की शङ्का का समाधान, "परंतु श्रुतिसामान्यमात्रम्" इस (अर्थवाद प्रकरण के) सूत्र ही पर हो चुका है इस बात को भी पूर्वोक्त सूत्र के अनन्तर "उक्तश्चानित्यसंयोगः" ॥ ५० ॥ (अनित्य पदार्थ के कथन पर कहा जा चुका है) इस सूत्र से जैमिनि महर्षि ने कहा है। इसका यह तात्पर्य है कि "किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः" इत्यादि मन्त्रों में कीकटआदिशब्दों का मगधदेशआदि नहीं अर्थ है किन्तु कृपण ही आदि अर्थ है (जैसा कि वार्तिककार ने कहा है और वह वार्त्तिक ऊपर संस्कृत भाग में उद्धृत भी है)

॥ मन्त्रों का उपयोग समाप्त हुआ ॥

॥ मन्त्र, ब्राह्मण, आदि के लक्षण ॥

मन्त्र का क्या लक्षण है? मीमांसादर्शन अध्याय १ पाद १ में जैमिनिमहर्षि ने 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' ॥ ३२ ॥ इस सूत्र से मन्त्र का लक्षण कहा है। इस सूत्र का अर्थ और तात्पर्य यह है कि कर्तव्य क्रियाओं के स्मारक उन वेदवाक्यों को मन्त्र कहते हैं कि जिनके विषय

शावरम्—

मन्त्रगतो भावशब्दो विधायको न इति परीक्षितम् । कोऽयं मन्त्रोनाम इति उच्यते अज्ञाते मन्त्रे तद्गतो भावशब्दः कथं विचारितः इति इदमर्थतोऽधिकरणम् पूर्वं द्रष्टव्यम् कथंलक्षणो मन्त्र इति तच्चोदकेषु मन्त्राख्या अभिधानस्य चोदकेष्वेवंजातीयकेष्वभियुक्ता उपदिशन्ति मन्त्रानधीमहे मन्त्रानध्यापयामः मन्त्रा वर्तन्ते इति । प्रायिकमिदं लक्षणम् अनभिधायका अपि केचित् मन्त्रा इत्युच्यन्ते यथा वसन्ताय कपिञ्जलानालभते इति । न शक्यं पृष्ठाकोटेन तत्रतत्रोपदेष्टुमिति लक्षणमुक्तम् । 'ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्कशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः' । उदाहरणम् मेधोऽसि इत्येवमादयोऽस्यन्ताः इषे-त्वा इत्येवमादयस्त्वान्ताः आयुर्दा असि इत्याशीः अग्निर्मूर्द्धा इति स्तुतिः । सङ्ख्या, एको मम इति । प्रलपितम्, अक्षीते इन्द्र पिङ्गले दुलेरिव इति । परिदेवनम्, अम्बे अम्बिके इति । प्रैषः, अग्नीदग्नीन् इति । अन्वेषणम्, कोऽसि कतमोऽसि इति । पृष्टम्, पृच्छामि त्वा इति । आ-ख्यानम्, इयं वेदिः इति । अनुषङ्गः अच्छिद्रेण पवित्रेण इति । प्रयोगः, त्रैस्वर्यं चातुः-स्वर्यञ्च । सामर्थ्यमभिधानम् तच्चैतद्वृत्तिकारेणोदाहरणापदेशेनाख्यातम् । एतदपि प्रायिकमेव । असिमध्या अपिच मन्त्राभवन्ति, इड्यश्चासि वन्द्यश्च वाजिन् इति । त्वामध्याश्च, तत्त्वा यामि इति । आशीर्ब्राह्मणमपि, सोऽकामयत प्रजाः सृजेयइति । स्तुतिरपि, वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति । प्रलापो, नचैतद्विद्मो ब्राह्मणा वा स्मोऽब्राह्मणा स्मो वा इति । परिदेवनम्, ये मामधुक्षन्त ते मां प्रत्यमुञ्चन्त इति । प्रैषः, अमुतः सोममाहर इति । अन्वेषणम्, इह वा स इह वा इति । प्रश्नः, वेदकर्णवर्तीं मूर्मिम् इति । प्रतिवचनम्, विद्मो वा इति । अनुषङ्गः, हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसि इति । प्रयोगः, त्रैस्वर्यञ्चातुःस्वर्यञ्च इति । सामर्थ्यम्, स्रुवेण अवद्यति द्रवेषु इति । लक्षणकर्मणि प्रयोजनं प्रसिद्धत्वात् न वक्तव्यम् लघीयसी प्रतिपत्ति-लक्षणेन "आक्षेपेष्वपवादेषु प्राप्त्यां लक्षणकर्मणि प्रयोजनं न वक्तव्यं यच्च कृत्वा प्रवर्त्तते" आक्षेपेषु पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनम्, अपवादेषु उत्सर्गस्य, प्राप्त्यामुत्तरविवक्षा, कृत्वाचिन्तायां-पूर्वाधिकरणस्य प्रयोजनम् । अस्ति वेदे मन्त्रशब्दो यस्यायमर्थः परीक्षितः "अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः । ऋचः सामानि यजूंषि" इति ।

अत्र वार्तिकम्

तच्चोदकेष्विति तत् अभिधानम् चोदकं प्रयोजकं येषामितिबहुव्रीहिः अर्थप्रदर्शन-मात्रार्थं तु षष्ठीकथनं भाष्ये अध्येतृवृद्धव्यवहारसिद्धं चेदं प्रायिकचिन्हयुक्तं लक्षणं लाघवा-र्थमुक्तम् धरणिगतानेकद्रव्यप्रत्येकनिरीक्षणे पुनःपुनःपृष्ठं कुटिलीक्रियत इति तत्सामान्येन

॥ भाषा ॥

में वेदपाठी वृद्धों का 'यह मन्त्र है, यह मन्त्र है' ऐसा अनादि व्यवहार चला आता है। यद्यपि उक्तसूत्र के अक्षरानुसार मन्त्र का यह लक्षण है तथापि 'कर्तव्य क्रियाओं के स्मारक' इतना अंश आवश्यक नहीं है बरुक इस अंश में यह दोष भी है कि 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' (वसन्तदेवता के अर्थ कपिंजल अर्थात् पक्षिविशेष से यज्ञ करे) यह वाक्य मन्त्र न कहलावेगा क्योंकि यह मन्त्र, यज्ञक्रिया का विधायक है न कि स्मारक ।

प्रश्न—यह लक्षण सब मन्त्रों में तुरित नहीं ज्ञात हो सकता किन्तु जब जिस वाक्य

पृष्ठाकोटाभिधानम् श्लोकाश्चैवं द्रष्टव्याः—

ऋषयोऽपि हि लक्ष्याणां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः॥
वृत्तौ लक्षणमेतेषामस्यन्तत्वान्तरूपता। आशिष्टिःस्तुतिसङ्ख्ये च प्रलप्तंपरिदेवितम्॥
प्रैषान्वेषणपृष्टाख्या-नानुषङ्गप्रयोगिताः। सामर्थ्यंचेति मन्त्राणां विस्तरः प्रायिकोमतः॥

दुलारिवेति। दुलिःकच्छपः। प्रतिपुनातुशब्दमच्छिद्रेणपवित्रेणेत्यनुषङ्गः। सामर्थ्यम् अभिधानशक्तिः। येमां दुग्धवन्तस्त एव मां निराकृतवन्त इति धेन्वाः परिदेवनम् अमुतः सोममाहरेति सौपर्णोपाख्याने विनतया गरुत्मानमृतार्थं प्रेषितः। कर्णवतीं सूर्मिम्। सूर्मिः स्थूणा इति।

अत्र शास्त्रदीपिका—

न्यायानौपयिकेनापि मन्त्रशब्देन पूर्वं व्यवहृतमिति तत्प्रसङ्गाद 'हे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' त्यादिवेदप्रयुक्तस्य मन्त्रशब्दस्यार्थनिरूपणार्थं मन्त्रलक्षणं क्रियते। यानि प्रयोगकालेऽनुष्ठानौपयिकार्थाभिधानस्वरूपाणि वाक्यानि तानि मन्त्रशब्देनोच्यन्ते प्रायिकमिदमभियुक्तप्रसिद्ध्युपलक्षणार्थम् यत्राभियुक्तानां मन्त्रप्रसिद्धिः स मन्त्र इत्यर्थः इति।

माधवीयन्यायमालायामपि २ अध्याये १ पादे ७ अधिकरणम्

अहे बुध्निय मन्त्रं मे इति मन्त्रस्य लक्षणम्। नास्त्यस्तिवाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात्॥
याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम्। तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जते॥ इति

॥ भाषा ॥

के विषय में वैदिकों का मन्त्रशब्द से व्यवहार, ज्ञात होगा तब उस वाक्य में यह लक्षण भी ज्ञात होगा। और लक्षण का यह स्वभाव नहीं होता जैसे गौ का लक्षण, एक ही गौ में ज्ञात होने से सब गौओं में ज्ञात हो जाता है, तब यह लक्षण कैसे ठीक हो सकता है ?

उत्तर—वैदिकों का मन्त्रशब्द से व्यवहार भी अनेक प्रकार के मन्त्रों में गौ के लक्षण ऐसा एकाकार ही होता है इसी से उक्तलक्षण उचित ही है और जैसे अन्यलक्षणों का ज्ञानलाघव प्रयोजन है वैसे ही इस लक्षण का भी, अर्थात् प्रत्येक मन्त्रों में पृथक् २ मन्त्रता के निश्चय करने में पृष्ठाकोट (पीठ टेढ़ी कर २ देखना) से गौरव होता है और उक्तलक्षण से मन्त्रता का निश्चय सहज में हो जाता है। इस सूत्र पर भाष्यकार और वार्तिककार के व्याख्यान का प्रकृत में उपयोगी सारांश यही है जो कि कहा गया।

और इस सूत्र की शास्त्रदीपिका में पं० पार्थसारथिमिश्र ने यह कहा है कि मन्त्रशब्द का व्यवहार, पूर्व में आ चुका है और 'अहे बुध्निय मन्त्र में गोपाय' इत्यादि मन्त्र में भी 'मन्त्र' यह शब्द है इस से मन्त्रशब्द के अर्थज्ञान के लिये मन्त्र का लक्षण कहा जाता है कि **यज्ञकाल में यज्ञ के** उपकारी **अर्थों के** स्मारक वाक्य, मन्त्र कहलाते हैं। और यह लक्षण भी साक्षात् लक्षण नहीं है क्योंकि ऐसे भी मन्त्र होते हैं जो स्मारक नहीं होते किन्तु विधायक होते हैं जैसे '**वसन्ताय कपिञ्जलानालभते**' इत्यादि। तस्मात् मन्त्र २ इत्याकारक वैदिकों का व्यवहार ही मन्त्र का साक्षात् लक्षण है और उक्तलक्षण, इस व्यवहार ही का उपलक्षण है।

न्यायमाला अध्याय २ पाद १ में माधवाचार्य ने तो उक्तसूत्र का व्याख्यान अधिकरणरूप से किया है वह सात ७ वाँ अधिकरण अब दिखलाया जाता है—

तस्या विस्तरः

आधाने इदमाम्नायते 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाये' ति। तत्र मन्त्रस्य लक्षणं नास्ति, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् विहितार्थाभिधायकोमन्त्र इत्युक्ते 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः। मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिः। एवमसिपदान्तो मन्त्रइत्यादिलक्षणानां परस्परमव्याप्तिरितिचेन्मैवम्। याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात्। तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति। 'उरुप्रथस्वे' त्याद्योऽनुष्ठानस्मारकाः अग्निमीळेपुरोहित' मित्यादयः स्तुतिरूपाः 'इषेत्वा' ऽऽदयस्त्वान्ताः 'अग्नआयाहिवीतय' इत्यादय आमन्त्रणोपेताः 'अग्नीदग्नीन्विहरे' त्यादयः

॥ भाषा ॥

विषय-आधान के प्रकरण में—

अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः।
ऋचो यजूंषि सामानि सा हि श्रीरमृता सताम ॥ (तै० ब्रा० १।२।२६)

अर्थात् हे जगत् के आदि में उत्पन्न आवसथ्य नामक पाँचवाँ अग्नि! तू, जिसको तीन वेदों के ज्ञातालोग ऋक्, साम, यजु, जानते हैं मेरे उस मन्त्र की रक्षा कर क्योंकि वही सत्पुरुषों की नित्य लक्ष्मी है।

संशय—इस वेदवाक्य में मन्त्रशब्द का जो अर्थ है उसका लक्षण कोई नहीं है अथवा है?

पूर्वपक्ष-मन्त्र का कोई लक्षण ठीक नहीं है क्योंकि यदि यह कहा जाय कि अन्य वेदवाक्य से विधान किये हुए अर्थ का बोध कराने वाला वाक्य मन्त्र है, तो 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभते' यह, मन्त्र नहीं कहलावेगा क्योंकि यह दूसरे वाक्य से विहित अर्थ का बोध नहीं कराता किन्तु स्वयम् विधान करता है। और यदि यह कहा जाय कि जिस वाक्य से किसी अर्थ का मनन अर्थात् ध्यान किया जाय वह वाक्य मन्त्र है, तो ब्राह्मणभाग के वाक्य भी मन्त्र कहलावेंगे क्योंकि 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से भी परमेश्वर आदि अर्थों का ध्यान किया जाता है। और यदि यह कहा जाय कि जिस वाक्य के अन्त में 'असि' शब्द हो वह मन्त्र है जैसे 'मेधोऽसि' इत्यादि, तो 'इषेत्वा' आदि, मन्त्र नहीं कहलावेंगे क्योंकि इनके अन्त में 'त्वा' है। ऐसे ही जिसके अन्तमें 'त्वा' हो वह वाक्य मन्त्र है, इत्यादि लक्षण भी नहीं हो सकता क्योंकि तब 'मेधोऽसि' आदि मन्त्र नहीं कहलावेंगे। निदान 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे' इस पूर्वोक्त मन्त्रवाक्य में कहे हुए मन्त्र का कोई लक्षण उचित नहीं हो सकता।

सिद्धान्त—याज्ञिकों का नियत किया हुआ 'मन्त्र' यह नाम ही मन्त्र का लक्षण निर्दोष है क्योंकि वे क्रियाओं के अनुष्ठान का स्मारक आदि वाक्यों में अनादिकाल से मन्त्रशब्द का प्रयोग करते आते हैं। उदाहरण। 'उरु प्रथस्व' (हे पुरोडाश अर्थात् देवताओं के लिये देयद्रव्य, तू फैल जा) इत्यादि मन्त्र, अनुष्ठान के स्मारक हैं। 'अग्निमीळेपुरोहितम' (यज्ञकार्य के उपयोगी अग्निदेव की प्रशंसा करता हूं) इत्यादिमन्त्र स्तुतिरूपी हैं। 'अग्नआयाहि' (हे अग्ने आप आइये) इत्यादि मन्त्र, आवाहनरूपी हैं। 'अग्नीदग्नीन्विहर' (हे अग्नीध् ऋत्विग् तू अग्नि का विहरण कर) इत्यादि मन्त्र, प्रैष अर्थात् प्रेरणारूपी हैं। 'अधःस्विदासीदुपरिस्विदासीत्' (नीचे है वा ऊपर)

प्रैषरूपाः 'अधःस्विदासीदुपरिस्विदासी' दित्यादयो विचाररूपाः 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मामयति कश्चने' त्यादयः परिदेवनरूपाः 'पृच्छामि त्वा परमंतं पृथिव्याः' इत्यादयः प्रश्नरूपाः 'वेदिमाहुःपरमन्तंपृथिव्याः' इत्यादय उत्तररूपाः एवमन्यदप्युदाहार्यम्। इदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति यस्य लक्षणत्वमुच्येत। लक्षणस्योपयोगश्च पूर्वाचार्यैर्दर्शितः 'ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः। लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चित' इति। तस्मादभियुक्तानां मन्त्रोऽयमिति समाख्यानं लक्षणम् इति।

मन्त्रश्च त्रिधा ऋचः, सामानि, यजूंषि, इति। एषां च उक्त 'तच्चोदकेषि' ति सूत्रोत्तरसूत्रद्वयोत्तरम् क्रमेण लक्षणसूत्राणि यथा—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥ ३५ ॥

शास्त्रदीपिका

वेदभागयोर्मन्त्रब्राह्मणयोर्लक्षणमुक्तम्। तत्र मन्त्रभागस्यापरोऽवान्तरविभाग ऋगादिरूपो लोके वेदे च प्रसिद्धः 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषी' ति तत्र को भाग ऋक्शब्देनोच्यते को वा सामशब्देन को वा यजुःशब्देनेति तत्परिज्ञानाय ऋगादिलक्षणमुच्यते। यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक् इति।

॥ भाषा ॥

इत्यादि मन्त्र, विचाररूपी हैं 'अम्बे अम्बिके अम्बालिके न मानयति कश्चन' (गौ अपने माता से रो कर कहती है कि हे माता मेरा मान, कोई नहीं करता अर्थात जो लोग मेरे दुग्ध को बहुत काल तक दोहन कर चुके हैं वे ही लोगों ने मुझे निकाल दिया) इत्यादि मन्त्र, बिलापरूपी हैं। 'पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः' (तुम से मैं पृथिवी का परम अन्त पूछता हूं) इत्यादि मन्त्र, प्रश्नरूपी हैं। 'वेदिमाहुःपरमन्तंपृथिव्याः' (यज्ञ की वेदी को पृथिवी का परम अन्त कहते हैं) इत्यादि मन्त्र, उत्तररूपी हैं। इसी प्रकार से अन्यान्य उदाहरण भी देना चाहिये। ऐसे २ परस्पर में बिलक्षणरूप और बिलक्षणअर्थ वाले मन्त्रों में 'मन्त्र' इस समाख्या (नाम) को छोड़ सब में अनुगत कोई अन्य धर्म नहीं है कि जो मन्त्र का लक्षण हो सकै इसी से 'मन्त्र' यह समाख्या ही मन्त्र का लक्षण है क्योंकि मन्त्रों के विषय में यही शब्द, याज्ञिकों के व्यवहार में अनादि काल से प्रचलित है इति। इसी से मन्त्राधिकरण के पूर्व ही जैमिनिमहर्षि ने मन्त्र का लक्षण नहीं कहा क्योंकि 'मन्त्र' यह नामरूपी लक्षण तो सिद्ध ही है।

मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं। १ ऋक् २ साम ३ यजु। अध्याय २ पाद १ में जैमिनिमहर्षि ने इन तीनों का लक्षण क्रम से तीन सूत्रों में कहा है उन में प्रथमसूत्र 'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' ॥ ३५ ॥ यह है। इस का तात्पर्य, शास्त्रदीपिका में यह कहा है कि "वेद के दो भाग हैं १ मन्त्रभाग २ ब्राह्मणभाग, जिनका लक्षण पूर्व में कहा गया है और मन्त्रभाग में तीन भाग हैं १ ऋक् २ साम ३ यजु। ये तीन भाग लोक में और 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः। ऋचः सामानि यजूंषि' इस वेदवाक्य में भी प्रसिद्ध ही हैं। उन में से प्रत्येक का लक्षण कहा जाता है कि ऋक् उस मन्त्र को कहते हैं जिस में पादों की व्यवस्था है। द्वितीयसूत्र 'गीतिषु

गीतिषु सामाख्या ॥ ३६ ॥

शास्त्र दी०

यद्यपि प्रगीते मन्त्रे सामशब्दप्रयोगोऽभियुक्तानां तथापि नागृहीतविशेषणेतिन्यायेन 'कवतीषु रथन्तरं गायती' त्याद्यतिदेशोपपत्तेश्च गीतिरेव सामेति सप्तमे सूत्रकारः स्वयमेव वक्ष्यति। इह तु मन्त्रविभागमात्रं विवक्षितम् तद् यद्यपि प्रगीतो मन्त्रः साम यदि वा गीतिमात्रमुभयथापि ऋग्यजुर्भ्यामन्यत्सामेति विभागसिद्धेर्न विभागाय प्रयत्यते। सप्तमे तु 'रथन्तरमुत्तरयोर्गायती' त्याद्यतिदेशौपायिकत्वाद्विभागे न प्रयोजनमस्तीति तत्रैव वक्ष्यमाणावष्टम्भेन गीतिः सामेत्युक्तम्। यत्त्वत्र भाष्यवार्तिकयोर्गीतिवाचित्वं साधितं तद्वक्ष्यमाणमेव प्रसङ्गादिति द्रष्टव्यं न सूत्रार्थतया, माभूत्साप्तमिकस्य पौनरुक्त्यम् ॥ इति ॥

शेषे यजुःशब्दः ॥ ३७ ॥

शास्त्र दीपि०

ऋक्सामाभ्यां यदन्यत्प्रश्लिष्टपठितं मन्त्रजातं तद्यजुः इति।

माधवीयन्यायमालायामपि २ अध्याये १ पादे १० । ११ । १२ । अधिकरणानि-नर्क्सामयजुषां लक्ष्म साङ्कर्यादिति शङ्किते। पादश्च गीतिः प्रश्लिष्टपाठ इत्यस्त्वसङ्करः। इति।

विस्तरः

इदमाम्नायते 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदा विदुः ऋचःसामानि यजूंषी' ति। त्रिविदा संबन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण त्रिविधमाहुः तं गोपायेति योजना। तत्र त्रिविधानामृक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति।

॥ भाषा ॥

सामाख्या' ॥ ३६ ॥ है शास्त्रदीपि० "यद्यपि गानयुक्त ऋक्मन्त्रों ही को सामान्य वैदिकलोग साम कहते हैं तथापि 'कवतीषु रथन्तरं गायति' (कवती ऋचाओं में रथन्तर नामक साम को गान करै) इत्यादि श्रुतियों से यह निश्चित है कि साम, गानरूप ही है न कि वर्णरूप, अर्थात् गानमात्र ही को साम कहते हैं और गानमात्र ही साममन्त्र है तथा जिस ऋक्मन्त्र में जो साममन्त्र, गाया जाता है वह ऋक्मन्त्र उस साममन्त्र का योनि कहलाता है। इस बात को सप्तम अध्याय में जैमिनिमहर्षि स्वयम् कहेंगे"। तीसरा सूत्र 'शेषे यजुःशब्दः' ॥ ३७ ॥ शास्त्रदी० ऋक् और साम से अन्य जो मन्त्र हैं सब यजु कहलाते हैं।

इन लक्षणों को न्यायमाला अध्याय २ पाद १ में माधवाचार्य ने ।१०।११।१२। अधिकरणों से कहा है कि —

विषय—'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' यह पूर्वोक्तमन्त्र है।

संशय—इस में कहे हुए ऋक्, साम, यजु, का निर्दोष लक्षण है वा नहीं ?

पूर्वप०—इनका कोई लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता। क्योंकि यदि यह कहा जाय कि अध्यापकों के व्यवहार अनुसार, जो मन्त्र, ऋक्संहिता में पढ़ा है वह ऋक् है इत्यादि, तो यह दोष है कि 'देवोव:सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः' यह मन्त्र यजुर्वेद में यजुमन्त्रों के मध्य में पढ़ा है परन्तु यजु नहीं है क्योंकि इसके ब्राह्मण में 'सावित्र्यर्चा' इस वाक्य से यह मन्त्र ऋक है। और 'यह साम गाता रहै' ऐसा कह कर 'अक्षितमसि' 'अच्युतमसि' 'प्राण-

कुतः। साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात्। अध्यापकप्रसिद्धेर्ऋग्वेदादिषु पठितो मन्त्र इति हि लक्षणं वक्तव्यम्। तच्च सङ्कीर्णम् "देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभि-रिति" अयं मन्त्रो यजुर्वेदे संप्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः नच तस्य यजुष्ट्वमस्ति, तद्ब्राह्मणे 'सावित्र्यर्चे' त्यृक्त्वेन व्यवहृतत्वात्। 'एतत्साम गायन्नास्ते' इति प्रतिज्ञाय किंचित्साम यजुर्वेदे गीतम् 'अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणशंसितमसीति' त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नातानि। तथा गीयमानस्य साम्न आश्रयभूता ऋचः सामवेदे समाम्नायन्ते तस्मान्नास्ति लक्षणमिति चेन्न। पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात्। पादबन्धेनार्थबन्धेनचोपेता वृत्तबद्धा मन्त्रा ऋचः, गीतिरूपा मन्त्राः सामानि। वृत्तगीतवर्जितत्वेन प्रश्लिष्टपठिता मन्त्रा यजूंषी-त्युक्ते न सङ्करः इति।

एवम् ब्राह्मणलक्षणमप्याहोक्तमन्त्रलक्षणानन्तरमेव भगवान् जैमिनिः

शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥ ३३ ॥ इति।

शाबरम्

अथ किंलक्षणम् ब्राह्मणम्? मन्त्राश्च ब्राह्मणं च वेदः तत्र मन्त्रलक्षणे उक्ते परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयं मन्त्रलक्षणवचनेनैवसिद्धम् यस्यैतल्लक्षणं न भवति तद्ब्राह्मणम् इति परिशेषसिद्धं ब्राह्मणम्। वृत्तिकारस्तु शिष्यहितार्थं प्रपंचितवान्। इति-करणबहुलम् इत्याहोपानिबद्धम् आख्यायिकास्वरूपम्। हेतुः, शूर्पेण जुहोति तेन ह्यन्नं क्रियते, इति। निर्वचनम्, (तत् दध्नो दधित्वम्) निन्दा (उपवीता वा एतस्याग्नयः) प्रशंसा (वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता इति) संशयः (होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम् इति) विधिः (यजमानसम्मिता औदुम्बरी भवति) परकृतिः (माषानेव मह्यं पचति इति) पुराकल्पः उल्मुकैर्ह स्म पूर्वे समा-जग्मुः इति) व्यवधारणकल्पना (यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात् इति)। हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना। उपमानं दशैते तु विधयो ब्राह्मणस्य तु। एतद्वै सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्। एतदपि प्रायिकम्। इति करणबहुलो मन्त्रोऽपि कश्चित्, इति वा मे मनः इति। आहोपनिबद्धश्च, भगं भक्षीत्याह। आख्यायिकास्वरू-पश्च, रुग्रो ह भुज्यम् इति। हेतुः, इदं वो वा मुशन्ति हि। निर्वचनं, तस्मादापोनुस्थना इति। निन्दा, मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः इति। प्रशंसा, अग्निर्मूर्द्धा इति। संशयः, अधः स्विदासी दुपरिस्विदासीत् इति। विधिः पृणीयादिन्नाधमानाय इति। परकृतिः, सहस्रमयुताददत् पुराकल्पः, यज्ञेन यज्ञमयजन्तदेवाः इति। परिशेषसिद्धत्वाद्ब्राह्मणलक्षणमवचनीयमिति

॥ भाषा ॥

शंसितमसि' ये तीन यजुर्मन्त्र सामवेद में पढ़े हैं। और सामसंहिता में सामों की योनिभूत ऋचाएं पढ़ी हैं तो ऐसी दशा में अध्यापकों के व्यवहार से कैसे पृथक् २ शुद्धलक्षण, ऋक् आदि के हो सकते हैं जब कि यजुर्मन्त्र को भी ऋक् कहा जाता है और यजु में भी साम का गान होता है तथा सामसंहिता में भी यजुर्मन्त्र पढ़े हैं और सामगान ऋचाओं में होता है।

सिद्धा०—ये लक्षण ऋक्आदि के निर्दोष हैं कि लौकिक श्लोकों के नाई जो मन्त्र, छन्दोबद्ध और पादव्यवस्था वाले हैं वे ऋक् हैं तथा गानमात्ररूपी मन्त्र, साम हैं और इन दोनों से भिन्न, प्रश्लिष्टपाठ वाले गद्यरूपी मन्त्र, यजु हैं।

सूत्रमिदमनारभ्यमिति प्रतिभाति । तत्र शेषशब्दप्रयोगाल्लक्षणानभिधानाच्च सूत्रव्याख्यानमेवेदमिति द्रष्टव्यम् । किमर्थं पुनःसूत्रमारभ्यते ? नारभ्येत यदि मन्त्रब्राह्मणात्मक एव वेद इति सर्वेषां प्रसिद्धं भवेत् । येषां त्वप्रसिद्धं तेषां तृतीयादिप्रकारनिराकरणार्थं द्वैराश्यमेव वेदस्येति प्रतिपादयितुमाह शेषे ब्राह्मणशब्द इति । एकपुरुषकर्तृकमुपाख्यानं परकृतिः बहुकर्तृकं पुराकल्पः । यत्रान्यथाऽर्थःप्रतिभातः पौर्वापर्यपर्यालोचनेन व्यवधार्य्यान्यथा कल्प्यते सा व्यवधारणकल्पना । तद्यथा प्रतिगृह्णीयादिति श्रुतं प्रतिग्राहयेदिति कल्पयिष्यते । विधिलक्षणमित्यत्र ब्राह्मणवाची विधिशब्दः ॥ इति ।

शास्त्रदीपिका

द्विविभागस्य वेदस्य एकस्य भागस्य मन्त्रात्मकस्य लक्षणमुक्तं तत्प्रसङ्गा 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषी' ति वेदप्रयुक्तब्राह्मणशब्दार्थपरिज्ञानार्थं ब्राह्मणलक्षणकथनम् अवशिष्टं ब्राह्मणमिति इति ।

माधवीयन्यायमाला

नास्त्येतद्ब्राह्मणेत्यत्र लक्षणं विद्यतेऽथवा । नास्तीयन्तो वेदभागा इति क्लृप्तेरभावतः ॥
मन्त्रश्च ब्राह्मणं चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः । अन्यद्ब्राह्मणमित्येतद्भवेद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥ इति ।

विस्तरः

चातुर्मास्येष्विदमाम्नायते 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषी' ति तस्य ब्राह्मणस्य लक्षणं नास्ति । वेदभागानामियत्ताऽनवधारणेन ब्राह्मणभागेष्वन्यभागेषु च लक्षणस्याव्याप्त्यतिव्याप्त्योः शोधयितुमशक्यत्वात् पूर्वोक्तोमन्त्रभाग एकः भागान्तराणि च कानि चित्पूर्वैरुदा-

॥ भाषा ॥

ऐसे ही मी० द० अध्याय २ पाद १ पूर्वोक्त मन्त्रलक्षण के अनन्तर ब्राह्मण का लक्षण भी '**शेषे ब्राह्मणशब्दः**' इस सूत्र से जैमिनिमहर्षि ने कहा है । इसका अक्षरार्थ यह है कि मन्त्रों से भिन्न वेदवाक्य ब्राह्मण कहलाते हैं इस सूत्र के शावरभाष्य और वार्तिक का प्रकृत में उपयोगी जो तात्पर्य है वह संक्षेप से इसी सूत्र के शास्त्रदीपिका में कहा है कि वेद के दो भागों में, मन्त्र का लक्षण कहा गया उसी के प्रसङ्ग से ब्राह्मण का लक्षण कहा जाता है और जैसे 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे' इस मन्त्र में 'मन्त्र' शब्द कहा है वैसे ही 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि' इस वेदवाक्य में 'ब्राह्मण' शब्द भी है इससे भी ब्राह्मण का लक्षण कहा जाता है कि ब्राह्मण उस वेदभाग को कहते हैं कि जो, मन्त्रभाग से भिन्न है इति । न्यायमाला अध्याय २ पाद १ में माधवाचार्य ने भी ब्राह्मण के लक्षण को अधिकरणरूप से कहा है जो कि अब लिखा जाता है ।

विषय—चातुर्मास्ययज्ञ के प्रकरण में '**एतद् ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि**' (**इसी ब्राह्मण** में पांच हवि हैं) ।

संशय—इस श्रुति में कहे हुए ब्राह्मण का लक्षण कोई नहीं है अथवा है ?

पूर्वपक्ष—ब्राह्मण का लक्षण कोई नहीं है क्योंकि 'तेन ह्यन्नं क्रियते' (क्योंकि उस से अन्न, भोजन के योग्य किया जाता है यह हेतु है । '**अमेध्या वै माषाः**' (उर्द) यज्ञ के योग्य नहीं हैं यह निन्दा है । 'तद्दध्नो दधित्वम्' (धारण करने से दही दधि कहलाता है) यह शब्दार्थ है । 'वायुर्वै क्षेपिष्ठा' (वायु क्षिप्रकारी है) यह प्रशंसा है । 'होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यम्' (गार्हपत्य अग्नि में होम करै

हर्तुं संगृहीतानि 'हेतुर्निर्वचनंनिन्दा प्रशंसा संशयो विधिः। परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना इति। तेन ह्यन्नं क्रियते इति हेतुः। तद्दध्नो दधित्वमिति निर्वचनम्। अमेध्या वै माषा इति निन्दा। वायुर्वै क्षेपिष्ठा इति प्रशंसा। होतव्यं गार्हपत्ये न होतव्यमिति संशयः। यजमानेन संमितौदुम्बरी भवतीति विधिः। माषानेव मह्यं पचतीति परकृतिः पुरा ब्राह्मणा अभैषुरिति पुराकल्पः। यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेदितिविशेषावधारणकल्पना। एवमन्यदप्युदाहार्यम्। नच हेत्वादीनामन्यतमं ब्राह्मणम्। मन्त्रेष्वपि हेत्वादिसद्भावात्। तथाहि। इदं वो वा मुशन्तिहीति हेतुः। उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते इति निर्वचनम्। कपिंजलानालभत इति विधिः। सहस्रमयुता ददिति परकृतिः। यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा इति पुराकल्पः। इतिकरणबहुलं ब्राह्मणमिति चेन्न। 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गाये' दित्यस्मिन्ब्राह्मणेन गातव्ये मन्त्रेऽतिव्याप्तेः। इत्याहेत्यनेन

॥ भाषा ॥

वा न करै) यह संशय है। 'यजमानेन सम्मितौदुम्बरी भवति' (यजमान के तुल्यप्रमाण, औदुम्बरी अर्थात् गूलर की शाखा बनावै) यह विधान है। 'मापानेव मह्यं पचति' (मेरे लिये माष ही पकाता है) यह परकृति अर्थात् एक की क्रिया है। 'पुरा ब्राह्मणा अभैषुः' (प्रथम ब्राह्मण डरते हैं) यह पुराकल्प अर्थात् अनेकों की क्रिया है 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपत्' (जितने अश्वों का प्रतिग्रह करै उतने वारुणचतुष्कपालयज्ञों को करै) यह विशेषावधारण की कल्पना है अर्थात् यद्यपि इस वाक्य में प्रतिग्रह करने वाले को यज्ञ करना विहित ज्ञात होता है तथापि पूर्वमीमांसादर्शन में यही निश्चय किया गया है कि यह यज्ञ, दाता को करना चाहिये। ऐसे ही और उदाहरण हैं इन अनेकजातीय ब्राह्मणवाक्यों में अनुगत, और मन्त्र में न रहने वाला कौन धर्म है जो लक्षण हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि इन हेतु आदि प्रकारों में किसी एक प्रकार का जो वेदवाक्य है वह ब्राह्मण है, तो भी नहीं लक्षण बन सकता, क्योंकि ये प्रकार मन्त्रों में भी होते हैं जैसे 'इदम्वो वा मुशन्ति हि' (यह तुम्हारा है क्योंकि तुम्हारे लिये इसको चाहते हैं) यह हेतु है 'उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते' (पृथ्वी को उदानित अर्थात् आर्द्र किया इससे उदक कहलाता है) यह शब्दार्थ है। 'कपिंजलानालभते' यह विधान है। 'सहस्रमयुता ददत्' (सहस्र अयुत देता है) यह परकृति है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः' (प्रथम, देवता, यज्ञ से विष्णु का पूजन करते हैं) यह पुराकल्प है। इन सब विलक्षण २ शब्द और अर्थ वाले वाक्यों में कोई ऐसा धर्म एक नहीं है कि जो अन्य शब्दों में न रहता हो और यह भी नहीं कह सकते कि जिस वाक्य में 'इति' शब्द कई वार आता है वह वेदवाक्य ब्राह्मण है, क्योंकि 'इत्यददा इत्ययजथा इत्यपच इति ब्राह्मणो गायेत्' इस श्रुति का यह अर्थ है कि 'इत्यददा' [तूने यह दिया] 'इत्ययजथाः' [यह यज्ञ किया] 'इत्यपचः' [यह पकाया] इस मन्त्र को विप्रजातीय पुरुष गावै। और इस श्रुति के अनुसार गाने के योग्य इस उक्तमन्त्र में भी अनेकबार इतिशब्द आता है इससे यह मन्त्र भी ब्राह्मण हो जायगा। और यह भी नहीं कह सकते कि जिन वेदवाक्यों में 'इत्याह' यह शब्द आता है वे ब्राह्मण हैं, क्योंकि 'राजाचिद्यंभगंभक्षीत्याह' 'यो वा रक्षाःशुचिरस्मीत्याह' इन दो मन्त्रों में भी 'इत्याह' शब्द है। और यह भी नहीं कह सकते कि वेदवाक्यों के जो समुदाय आख्यायिकारूपी हैं वे ब्राह्मण कहे जाते हैं, क्योंकि मन्त्रभाग में भी यमयमीसंवाद आदि बहुत से सूक्त [मन्त्रसमूह] आख्यायिकारूप होते हैं।

वाक्येनोपनिबद्धं ब्राह्मणमिति चेन्न। 'राजाचिद्यंभगंभक्षीत्याह' 'यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह' त्वनयोर्मन्त्रयोरतिव्याप्तेः। आख्यायिकारूपं ब्राह्मणमिति चेन्न। यमयमीसंवादसूक्तादावतिव्याप्तेः। तस्मान्नास्ति ब्राह्मणलक्षणमितिप्राप्ते ब्रूमः मन्त्रब्राह्मणरूपौ द्वावेव वेदभागौ इत्यङ्गीकारात्। मन्त्रलक्षणस्य पूर्वमभिहितत्वादवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणमिति लक्षणं भवतीति।

अत्रेदमवधेयम्। इह खलु 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इति भगवदापस्तम्बाद्युक्तवेदविभागक्रममनुसरता 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय' इति मन्त्रस्थमन्त्रपदस्य 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि यद्ब्राह्मणानीतराणि' इति ब्राह्मणस्थब्राह्मणपदस्य चार्थमुपदर्शयता भगवता जैमिनिना प्राङ् मन्त्राणां पश्चाच्च ब्राह्मणानां लक्षणं सूत्राभ्यामुपदर्शितम् 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इति। तत्र प्रथमे लाघवात् 'तच्चोदकोमन्त्र' इत्येव वाच्येऽभ्यधिकस्याख्याशब्दस्योपादानादाख्या व्यवहाराख्या लक्षणमिति लक्ष्यते। एवञ्च मन्त्रो मन्त्र इति याज्ञिकाद्यभियुक्तपरिशीलितानुगतव्यवहारस्तत्सिद्धो मन्त्रत्वाख्यो धर्मविशेषो वा मन्त्रलक्षणम् अन्येषामुत्तमामन्त्रणादीनामव्याप्त्यादिग्रस्तत्वादिति फलितम्। सच धर्मो जातिरखण्डोपाधिर्वेत्यन्यदेतत्। द्वितीये तु शेषइत्यनेन लक्षणमुच्यते तच्च वेदत्वे सति मन्त्रभिन्नत्वम् कल्पसूत्रादिवारणाय सत्यन्तम्। नच ब्राह्मणं ब्राह्मणमिति व्यवहारस्तत्सिद्धो ब्राह्मणत्वाख्यो धर्म एव वा लक्षणम्। मन्त्रलक्षणं तु वेदत्वेसति ब्राह्मणभिन्नत्व-

॥ भाषा ॥

सिद्धान्त—वेद के दो भाग मन्त्र और ब्राह्मण, जब प्रसिद्ध हैं और मन्त्र का लक्षण पूर्व में कहा जा चुका है तब आप ही से आप ब्राह्मण का यह लक्षण निर्दोषसिद्ध है कि मन्त्र से भिन्न, वेदभाग, ब्राह्मण है। इति।

यहां इस विषय पर ध्यान रखना चाहिये कि 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' [मन्त्र और ब्राह्मण का वेद नाम है] इस आपस्तम्ब आदि महर्षियों के वाक्यानुसार वेद के, मन्त्र और ब्राह्मणरूपी दो भागों के क्रम को अनुसरण कर 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे' इस मन्त्र में 'मन्त्र' शब्द के और 'एतद्ब्राह्मणान्येव' इस ब्राह्मणवाक्य में 'ब्राह्मण' शब्द के अर्थ को वर्णन करने के लिये जैमिनिमहर्षि ने प्रथम, मन्त्रों का और पश्चात् ब्राह्मणों का लक्षण, 'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या' 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' इन पूर्वोक्त सूत्रों से वर्णन किया। इन में प्रथम सूत्र के स्थान में 'तच्चोदको मन्त्रः' [अनुष्ठान के समय, क्रिया के स्मारक वेदवाक्य मन्त्र हैं] इतनेमात्र से काम चलने पर भी महर्षि ने जो 'आख्या' [व्यवहार] शब्द अधिक कहा उस से यह स्पष्ट ही निकलता है कि व्यवहार ही मन्त्र का लक्षण है और इस सूत्र का अवशिष्ट अंश उसी का उपलक्षणमात्र है अर्थात् याज्ञिकों का 'मन्त्र' २ यह अनादिव्यवहार अथवा इस व्यवहार से सिद्ध मन्त्रत्वरूपी धर्म, मन्त्र का लक्षण है क्योंकि अन्य कोई लक्षण निर्दोष नहीं हो सकता। और दूसरे सूत्र का यह अर्थ है कि ब्राह्मण का यह लक्षण है कि मन्त्र से भिन्न वेदभाग ब्राह्मण है। यहां यदि 'वेदभाग' यह शब्द न कहा जाय तो कल्पसूत्रादि भी ब्राह्मण कहला जायंगे क्योंकि वे भी मन्त्र से भिन्न ही हैं।

प्रश्न—पूर्वोक्त से विपरीत ही ऐसा क्यों नहीं स्वीकार किया जाय? कि 'ब्राह्मण' २ यह याज्ञिकों का व्यवहार अथवा इस व्यवहार से सिद्ध ब्राह्मणत्वरूपी धर्म ही ब्राह्मण का लक्षण

मित्युत्सूत्रं वैपरीत्यमेव कुतो न स्यात् विनिगमनाविरहादिति वाच्यम् । तथासति तान्त्रिकादिमन्त्रेषु वेदत्वाभावेनाव्याप्तिप्रसङ्गात् । नचेष्टापत्तिः, वैदिकमन्त्राणामेव प्रकृते लक्ष्यत्वादिति वाच्यम् । तन्मात्रस्य लक्ष्यत्वेऽनन्तरोक्तवैपरीत्यापत्तेर्दुःसमाधानतयैव तान्त्रिकादिमन्त्राणामपि लक्ष्यतायां सूत्रतात्पर्यस्यावधारणात् । युक्तञ्चैतत् मन्त्रो मन्त्र इति व्यवहारस्य तेष्वप्यविशेषात् । अपौरुषेया इमे, ते तु पौरुषेया इति विशेषेऽप्यणुकार्यपृथिव्योः

॥ भाषा ॥

है और मन्त्र का लक्षण यही है कि ब्राह्मण से भिन्न वेदभाग मन्त्र है ।

उत्तर—यदि ऐसा विपरीत कहा जाय तो यह दोष पड़ेगा कि तन्त्रोक्त, पुराणोक्त आदि मन्त्र, कदापि मन्त्र नहीं हो सकेंगे क्योंकि वे सब वेदभाग में पठित नहीं हैं ।

प्रश्न—तन्त्रोक्त आदि, यदि मन्त्र न होंगे तो उस से हानि ही क्या है ? क्योंकि प्रकृत में वैदिक ही मन्त्रों का लक्षण किया गया है ।

उत्तर—यदि पुराणोक्त आदि, मन्त्र नहीं हैं तो पूर्वोक्त विपरीत स्वीकार के प्रश्न का उत्तर ही नहीं हो सकता ।

प्रश्न—यदि उत्तर नहीं हो सकता तो न हो, क्योंकि विपरीत स्वीकार में हानि ही क्या है ?

उत्तर—यह प्रत्यक्ष ही हानि है कि जैमिनिमहर्षि के कहे हुए क्रम के साथ विरोध दुर्वार हो जायगा ।

प्रश्न—जब उक्त विपरीतरीति में कोई दोष नहीं है तो जैमिनि के उक्तक्रम से विरोध क्या कर सकता है ?

उत्तर—किसी शब्द के अर्थ का निश्चय, बिना वृद्धव्यवहार के नहीं हो सकता, प्रसिद्ध है कि छोटे से बालक को प्रथम २ वृद्धों के व्यवहार ही से घट, पट, दण्ड, गौ, गर्दभ, आदि शब्दों के अर्थ का निश्चय होता है ऐसे ही 'मन्त्र' शब्द के अर्थ का निश्चय वृद्धों ही के व्यवहार से होना चाहिये । इसी तात्पर्य से जैमिनिमहर्षि ने 'मन्त्र' २ इस वैदिक वृद्धों के व्यवहार ही को मन्त्र का लक्षण बतलाया है और वैदिक, लौकिक, सब वृद्धों का, तन्त्रोक्त आदि मन्त्रों में वैदिकमन्त्रों के नाईं वही 'मन्त्र' २ व्यवहार प्रसिद्ध है इसी से तन्त्रोक्त आदि भी मन्त्रशब्द के अर्थ अर्थात् मन्त्र हैं । इसी से जैमिनिमहर्षि की कही हुई रीति, लोकानुभव और युक्ति के अनुसार दृढ और उचित है । तथा इसी रीति के कहने से यह भी पूर्णरूप से निश्चित है कि तन्त्रोक्त आदि मन्त्रों की मन्त्रता, जैमिनिमहर्षि के अत्यन्तसम्मत है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो महर्षि जी पूर्वोक्त विपरीतरीति को क्यों न स्वीकार करते, उन्हों ने इसी कारण विपरीतरीति को स्वीकार नहीं किया कि उसके स्वीकार में यह दोष अवश्य पड़ेगा कि तन्त्रोक्त आदि मन्त्रों की मन्त्रता, [जो कि उक्तरीति के अनुसार लोकानुभव और युक्ति से सिद्ध है] न बन सकेगी । निदान प्रश्नोक्त विपरीतरीति, लोकानुभव और युक्ति से सिद्ध तन्त्रोक्त आदि मन्त्रों की मन्त्रता और जैमिनिमहर्षि के विरोध से बहुत ही दुष्ट है ।

प्रश्न—वैदिकमन्त्र पौरुषेय नहीं हैं इस से उनका मन्त्र होना उचित है परन्तु तन्त्रोक्त आदि मन्त्र जो पुरुषरचित हैं उनका मन्त्र होना कैसे उचित है ?

उत्तर—जैसे पृथिवीद्रव्य दो प्रकार का होता है एक नित्य, जैसे पृथिवी का परमाणु,

पृथिवीत्ववत् ध्वंसात्यन्ताभावयोरभावत्ववच्चोभयेषामपि मन्त्रत्वाभ्युपगमे बाधकाभावात्। ब्राह्मणमिति ब्रह्मेति च ब्राह्मणभागस्य श्रुत्युक्ते सञ्ज्ञे, 'एतद्ब्राह्मणान्येवे' त्युक्तश्रुतेः। तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् (अथर्व कां०१५ अ०१ सू०६) इति मन्त्रवर्णाच्च। अतएव 'ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव' (अ० ४ श्लो० १०००) इति मनुः। कुल्लूकश्च 'ब्रह्म ब्राह्मण' मिति व्याख्यत्। वायसराक्षसादिवच्च ब्राह्मणमिति स्वार्थेऽण्। टिलोपस्तु न, सञ्ज्ञाभङ्ग-भयात्। सूत्रं चेदं न ब्राह्मणलक्षणङ्गमयति किंतु तदभिधानस्यानावश्यकत्वमेव, मन्त्रलक्षणे कृते तद्रहितत्वेन परिशेषादेव मन्त्रातिरिक्तवेदभागे ब्राह्मणपदप्रतिपाद्यतायाः सुप्रतिपदत्वात्। उपन्यस्तभाष्यवार्तिकोपक्रमस्वरसोऽप्येवमेव। एवंच पूर्वसूत्रस्य फलव्याख्यानमेवोत्तरं सूत्रम्। नचैतावता ब्राह्मणलक्षणमपह्नूयत इत्येतावन्मात्रेण तु शास्त्रदीपिकादावुत्तरसूत्रे पूर्वोक्तब्राह्मणलक्षणोपपादनमप्युपपद्यते। प्रवचनाविशेषेऽपि च विहितकर्मादौ स्वेन रूपेण शब्दविधया चोपयोगान्मन्त्रो मन्त्र इत्यनुगताभियुक्तव्यवहारसिद्धमन्त्रत्वलक्षणधर्मसंबन्धाच्च मन्त्राणां लक्षणं ब्राह्मणवसिष्ठन्यायादेव महर्षिणा पृथक् सूत्रितम्। सर्वएवच वैदिका मन्त्रा उक्तऋग्यजुषान्यतरलक्षणेनाक्रान्ता एव भवन्ति। ऋङ्मन्त्रवृत्तित्वोपलक्षिताश्च गानविशेषा एव तार्तीयीको मन्त्रभेदः सामाख्यः। वर्णात्मकेषु तेषु साममन्त्रत्वव्यवहारस्तु सामसंबन्धि-

॥ भाषा ॥

दूसरा अनित्य, जैसे घटादि, वैसे ही मन्त्र भी दो प्रकार के होते हैं एक अपौरुषेय, जैसे वैदिक-मन्त्र, दूसरा पौरुषेय, जैसे तन्त्रोक्त आदि मन्त्र। तात्पर्य यह है कि एकजातीय पदार्थ भी कोई नित्य और कोई अनित्य अर्थात् रचित होते हैं इस में कोई विरोध नहीं है ऐसे ही मन्त्र भी कोई पौरुषेय और कोई अपौरुषेय हैं इस में कोई विरोध नहीं है 'ब्राह्मण' और 'ब्रह्मन्' ये दोनों शब्द, मन्त्र से अन्य वेदभाग का वेदोक्तनाम हैं जैसा कि 'एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवींषि यद्ब्राह्मणानीतराणि' [चातुर्मास्ययज्ञ के प्रकरण में] तथा 'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन्' [अथर्व० का० १५ सू० ६ मं० ८] इत्यादि वेदवाक्यों में इन दोनों शब्दों से व्यवहार किया है। और मनु ने भी 'ब्रह्मच्छन्दस्कृतं चैव' [अ० ४ श्लो० १००] 'ब्रह्मन्' शब्द से मन्त्रभिन्न वेदभाग को कहा है। तथा मनुस्मृति के टीकाकार [कुल्लूकभट्ट] ने भी 'ब्रह्मन्' शब्द का ब्राह्मणभाग अर्थ किया है। और उक्त द्वितीय जैमिनीयसूत्र भी ब्राह्मण के लक्षण को नहीं बतलाता किन्तु उसका यही तात्पर्य है कि ब्राह्मण के लक्षण कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि मन्त्र का लक्षण जब कहा जा चुका तब आप ही आप यह निश्चय हो जाता है कि मन्त्र से अन्य वेदभाग ही ब्राह्मणशब्द का अर्थ है क्योंकि वेद के दो ही भाग हैं १ मन्त्र २ ब्राह्मण। यद्यपि मन्त्रों का अध्यापन भी ब्राह्मणजातीय ही पुरुष अनादिकाल से करते आते हैं क्योंकि अध्यापन में उन्हीं का अधिकार है तथापि 'मन्त्र' २ इस व्यवहार से सिद्ध मन्त्रत्वरूपी धर्म को ले कर और इस विशेष पर ध्यान दे कर कि 'ब्राह्मण-भाग का शब्दपाठ प्रायः यज्ञोपयोगी नहीं होता किन्तु मन्त्रभाग ही का यज्ञ के समय में शब्दपाठ उपयोगी होता है' जैमिनिमहर्षि ने मन्त्र के लक्षण का सूत्र पृथक् बनाया। और वैदिक वर्णात्मक मन्त्र जितने हैं सब ही में यथायोग्य ऋक् अथवा यजु का पूर्वोक्तलक्षण अवश्य रहता है तथा ऋक् के अक्षरों से उपजे हुए अथवा स्वतन्त्र गानविशेष को साममन्त्र कहते हैं। तथा इन्हीं ऋक् यजु मन्त्रों

त्वादेव । अग्निहोत्रादिवैतानिककर्मानङ्गेषु शान्त्यभिचारादिगृह्यकर्मौपयिकेषु ऋग्यजुषमन्त्रेष्वेव कतिपयेषु वैदिकानां लौकिकानां चाप्यथर्वमन्त्रत्वव्यवहारः। समाख्या चेयमथर्वप्रवचनादिनिबन्धना, काठकादिवत् । अतएवचायं भेदस्तुरीयत्वेन न परिगणितो महर्षिणा । त्रयीतिव्यवहारोऽप्येतदभिप्रायक एव। एवंच ऋगादिशब्दा मन्त्राणामेव वाचकाः ऋग्वेदादिशब्दास्तु ऋगादितत्सम्बन्धिब्राह्मणोभयसमुदायवाचकाः । अतएव 'अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाये' त्यादौ पूर्वोक्तमन्त्रे वेदशब्दो न श्रूयते, श्रूयते च पुनः पुनः 'एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यदयमृग्वेदो यजुर्वेद इत्यादिशतपथश्रुतौ । एतच्च विस्तरेणोपरिष्टात्प्रतिपक्षप्रतिक्षेपप्रघट्टके पटुपटु स्फुटीकरिष्यत इत्यलमिह पल्लवयित्वेति ।

एवमियता महता प्रबन्धेन 'वेदोऽखिल' इत्यादेः पूर्वोक्तमानवपद्याद्यपादस्य 'अखिल' इति अक्षरोंऽशः पूर्वतरं व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातो व्याख्यातः । प्रतिपादितं च वेदस्य भागशः प्रामाण्यमुपयोगश्च ।

॥ इति मन्त्रब्राह्मणादिलक्षणानि ॥

अथ वेदस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्च महत्त्वम्, विभागो, ह्रासश्च वर्ण्यते तथाहि—

श्रूयते—भरद्वाजोह त्रिभिरायुर्भिर्ब्रह्मचर्यमुवास । तꣳहजीर्णिꣳस्थविरꣳशयानम्, इन्द्रउपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम्, किमेनेन कुर्या इति । ब्रह्मचर्यमेनेन चरेय-

॥ भाषा ॥

में जो कतिपयमन्त्र ऐसे हैं कि जिनका उपयोग अग्निहोत्र आदि यज्ञों में नहीं होता ।किन्तु विघ्नशान्ति आदि कर्मों में उपयोग होता है उन्हीं मन्त्रों को अथर्व कहते हैं अथर्वानामक अनादिऋषिवंश के कृत अध्यापन के कारण उन मन्त्रों को अथर्व कहते हैं जैसे काठक आदि नाम पूर्वोक्त अनादि हैं वैसे ही अथर्व नाम भी है । वास्तविक में अथर्वमन्त्र ऋक् और यजु में अन्तर्गत हैं इसी अभिप्राय से जैमिनिमहर्षि ने अथर्वमन्त्रों को चतुर्थभेद मान कर पृथक् वर्णन नहीं किया । और यह भी प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि ऋक्, यजु, साम, ये शब्द, केवल मन्त्र ही के वाचक हैं और ऋग्वेद आदि शब्द तो ऋक् आदि मन्त्रभाग तथा उसका सम्बन्धी वह २ ब्राह्मणभाग, इन दोनों के समूह को कहते हैं । ऐसे ही 'वेद' शब्द भी मन्त्र और ब्राह्मण के समुदाय को कहता है । इस विषय में इस अवसर पर अतिसंक्षेप से व्याख्यान समाप्त किया जाता है और विस्तारपूर्वक व्याख्यान तो ऊपर चल कर स्वामी के मत के खण्डन में किया जायगा ।

यहां तक वेद के भागों की विशेषरूप से प्रमाणता और प्रयोजन सिद्ध किया गया ।

मन्त्र आदि का लक्षण समाप्त हुआ ।

अब वेद के शब्दविस्तार अर्थविस्तर, विभाग और ह्रासक्रम के प्रमाण एकत्रित किये जाते हैं ।

'भरद्वा०' अर्थात् भरद्वाज, अपने तीन जीवनकालों [३०० वर्ष] से ब्रह्मचर्य करता है अब तृतीयजीवन के अन्त में वह अतिवृद्ध और अतिशिथिल हो, पड़ा ही रहता है तब इन्द्र [परमेश्वर] उसके समीप आ कर पूछता है कि यदि मैं तुमको चतुर्थजीवन दूं तो उस से तुम क्या करोगे ? भर० 'उस से मैं ब्रह्मचर्य ही करूंगा' तदनन्तर इन्द्र, भरद्वाज को, अज्ञात तीन पर्वत दिखलाता है और अपने हाथ से तीनों पर्वतों से मुष्टि २ मात्र प्रस्तर तोड़ पुनः कहता है

मिति होवाच । तᳪं ह त्रीन् गिरिरूपानविज्ञातानिव दर्शयांचकार, तेषाᳪं ह्येकैकस्मान्मुष्टिमुपाददे । स होवाच भरद्वाजेत्यामन्त्र्य । वेदा वा एते, अनन्ता वै वेदाः एतद्वा एतैस्त्रिभिरायुर्भिरन्ववोचथाः, अथ तदितरदननूक्तमेव इति (तै० ब्रा० ३. १०. ११. ३. ४.)।
वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ वर्त्तन्ते कुत्र ते वद । हनूमन् शृणु वक्ष्यामि वेदान्तस्थितिमञ्जसा ॥८॥
निःश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाताः सुविस्तराः । तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्ताः सुप्रतिष्ठिताः ॥९॥
राम वेदाः कतिविधा स्तेषां शाखाश्च राघव । तासूपनिषदः काः स्युः कृपया वद तत्वतः ॥१०॥
श्रीराम० ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः । तेषां शाखा ह्यनेकाःस्यु स्तासूपनिषदस्तथा ११
ऋग्वेदस्य तु शाखाःस्यु रेकविंशतिसङ्ख्यकाः । नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज॥१२॥
सहस्रसङ्ख्यया जाताः शाखाःसाम्नः परन्तप । अथर्वणस्य शाखाःस्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥१३॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता । इति (मुक्तिकोपनिषदि) ।

अत्र श्रीरामहनुमदादिशब्दा न कृतकार्थका बर्बरादिशब्दवदिति वेदापौरुषेयत्वादि प्रकरणेष्वधस्तादुक्ता उपपत्तयो न कथंचन सुमनोभिर्निजमानसादवरोपणीयाः ।

एवम् ब्रह्मसूत्रभाष्योपक्रमे समप्रमाणोपन्यासम् श्रीमाध्वाचार्यचरणाः

द्वापरे सर्वत्र ज्ञान आकुलीभूते तन्निर्णयाय ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिभिरर्थितो भगवान्नारायणो व्यासरूपेणावततार अथेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारेच्छूनां तद्योगमविजानतां तज्ज्ञापनार्थं वेदमुत्सन्नं

॥ भाषा ॥

कि हे भरद्वाज ! ये तीनों पर्वत वेद ही हैं वेद अनन्त ही हैं तुमने व्यतीत तीन जीवनों में इतने भाग का अनुवचन [गुरुमुख से अध्ययन] किया है जितना कि मैंने तीन मुष्टियों में यह निकाला है और अवशिष्ट ये तीनों पर्वत तुम्हारे अपठित ही हैं इति ।

'वेदान्ताः के०' इत्यादि मुक्तिकोपनिषद् में श्रीराम के प्रति हनुमान का प्रश्न, हे रघुवंशियों में श्रेष्ठ ! वेदान्त [उपनिषद्] कौन २ और कहां है ? श्रीराम का उत्तर "हे हनुमान वेदान्तों की वास्तविकस्थिति सुनो मैं कहूंगा । वेद बड़े विस्तर वाले, श्वास के तुल्य स्वाभाविक मुझ विष्णु से प्रकट होते हैं और तिलों में जैसे तेल रहता है वैसे वेदों में वेदान्त स्थित है । प्र० हे राम ! वेद कितने और उनकी शाखाएं कितनी और उन शाखाओं में उपनिषद् कितनी हैं ? यह कृपापूर्वक ठीक बतलाइये । उ० ऋग्वेदादिविभाग के अनुसार वेद चार हैं और उनकी अनेक शाखाएं और शाखाओं में उपनिषदें भी अनेक हैं । ऋग्वेद में शाखाएं २१, यजुर्वेद में शाखाएं १०९, सामवेद में शाखाएं १००० और अथर्ववेद में शाखाएं ५० हैं और पूर्वोक्त प्रत्येकशाखा में एक २ उपनिषद् है"। यहां हनुमान् आदि शब्दों का कोई अनित्यव्यक्ति अर्थात् वानरविशेष अर्थ नहीं है किन्तु प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता का कल्पितनाम और कल्पितविशेषण कह कर वेद के भेद के प्रश्नोत्तर-द्वारा यह आख्यायिकामात्र है और इसकी उपपत्ति भी बर्बर आदि शब्दों के ऊपर पूर्वखण्ड के अर्थवादप्रकरण में जो कही जा चुकी है ऐसे अवसर पर उसको अवश्य स्मरण रखना चाहिये इति ।

तथा वेदान्तदर्शन के भाष्य में माध्वाचार्य का उद्धृत स्कन्दपुराण 'नारायणाद्विनिष्पन्नं' अर्थात् नारायण से प्रकट वेद, सत्ययुग में पूर्णस्वरूप से स्थित रहा । तदनन्तर धीरे २ त्रेतायुग में उसका प्रचार न्यून होने लगा । द्वापर में भी बहुत वर्षों तक ह्रास (प्रचार का न्यून होना) का

व्यञ्जयंश्चतुर्धा व्यभजत् चतुर्विंशतिधा एकशतधा सहस्रधा द्वादशधा च एवं तदर्थनिर्णयाय ब्रह्मसूत्राणि चकार। तथोक्तं स्कान्दे "नारायणाद्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम्। किंचित्तदन्यथा जातं त्रेतायां द्वापरे स्थितम्। गौतमस्य ऋषेः शापाज्ज्ञाने त्वज्ञानतां गते। सङ्कीर्णबुद्धयो देवा ब्रह्मरुद्रपुरःसराः। शरण्यं शरणं जग्मुर्नारायणमनामयम्। तैर्विज्ञापितकार्यस्तु भगवान्पुरुषोत्तमः। अवतीर्णो महायोगी सत्यवत्यां पराशरात्। उत्सन्नान्भगवान्वेदानुज्जहार हरिः स्वयम्। चतुर्धा व्यभजत्तांश्च चतुर्विंशतिधा पुनः। शतधा चैकधा चैव तथैव च सहस्रधा। कृष्णो द्वादशधा चैव पुनस्तस्यार्थवित्तये। चकार ब्रह्मसूत्राणि तेषां सूत्रत्वमञ्जसा। अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः। निर्विशेषितसूत्रत्वं ब्रह्मसूत्रस्य चाप्यतः। यथा व्यासत्वमेकस्य कृष्णस्यान्यविशेषणात्। सविशेषणसूत्राणि ह्यपराणि विदो विदुः। मुख्यस्य निर्विशेषेण शब्दोऽन्येषां विशेषतः। इति वेदविदःप्राहुः शब्दतन्त्रार्थवेदिनः। सूत्रेषु येषु सर्वेषु निर्णयः समुदीरितः। शब्दजातस्य सर्वस्य यत्प्रमाणश्च निर्णयः। एवंविधानि सूत्राणि कृत्वा व्यासो महायशाः। ब्रह्मरुद्रादिदेवेषु मनुष्यपितृपक्षिषु। ज्ञानं संस्थाप्य भगवान् क्रीडते पुरुषोत्तम इत्यादीनि।

तथा श्रीमद्भागवते १२ स्कन्धे ६ अध्यायेऽप्युक्तम्।

सूत० समाहितात्मनो ब्रह्मन्ब्रह्मणः परमेष्ठिनः। हृदाकाशादभून्नादो वृत्तिरोधाद्विभाव्यते॥३७॥ यदुपासनया ब्रह्मन्योगिनोमलमात्मनः। द्रव्यक्रियाकारकाख्यं धूत्वा यान्त्यपुनर्भवम् ॥३८॥ ततोऽभूत्त्रिवृदोंकारो योऽव्यक्तप्रभवःस्वराट्। यत्तु लिंगं भगवतो ब्रह्मणः परमात्मनः ॥३९ शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्। येन वाग्व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः॥४०॥

॥ भाषा ॥

यही क्रम रहा। तदनन्तर द्वापर ही में गौतमऋषि के शाप से जब वेद लुप्तप्राय हो गया तब उसी कारण से संकुचितबुद्धि हो कर ब्रह्मा, रुद्र, आदि देवगण, नारायण के शरण में गए। उनके विज्ञापन से पुरुषोत्तम महायोगी, ने पराशरऋषि से सत्यवती में अवतार ले कर अर्थात् कृष्णद्वैपायन व्यास हो कर लुप्त वेदों का स्वयम् उद्धार किया। उस उद्धार का प्रकार यह है कि वेद का १ ऋग्वेद २ यजुर्वेद ३ सामवेद ४ अथर्ववेद यह चार विभाग किया। और ऋग्वेद में २४ यजुर्वेद में १०१ सामवेद में १००० और अथर्ववेद में १२ विभाग पुनः किया। और वेद के अर्थनिर्णय के लिये ब्रह्मसूत्रों की रचना किया, ऐसे सूत्रों को बना कर व्यासरूपी महायशस्वी पुरुषोतम, ब्रह्मरुद्र आदि देवों में और मनुष्य, पितर और गरुड आदि पक्षियों में वेदका प्रचार कर बिहार करते हैं इति।

तथा श्रीमद्भागवत १२ स्कन्ध ६ अध्याय में यह कहा है जो लिखा जाता है कि—

'समाहितात्मनो०' अ० सूत ने कहा कि ब्रह्मा के हृदय में जो आकाश है उस से नाद (अव्यक्तशब्द) प्रथम प्रकट हुआ जो कि कर्णरंध्र को रुद्ध करने से मनुष्यों को भीतर सुनाई देता है और जिस नाद की उपासना से योगी लोग आत्मा के सब दोषों को नाश कर मोक्ष पाते हैं, उस नाद से परमात्मा का लिङ्ग (साक्षात् वाचक) सूक्ष्मरूपी, आप से आप प्रकाशमान, ओंकार प्रादुर्भूत हुआ इस ओंकार का वाच्य परमात्मा वही है कि जो जीवों के सुषुप्तिकाल में जडप्राय हो जाने पर इस स्फोट (अव्यक्त ओंकार) को श्रवण करता है। तात्पर्य यह है कि सुषुप्ति-

स्वधाम्नो ब्रह्मणः साक्षाद्वाचकःपरमात्मनः । स सर्वमन्त्रोपनिषद्वेदबीजं सनातनम् ॥ ४१ ॥
तस्य ह्यासंस्त्रयो वर्णा अकाराद्या भृगूद्वह । धार्यन्ते यै स्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ॥४२॥

॥ भाषा ॥

काल (गाढ़ीनिद्रा) में जीव किसी शब्द को नहीं सुन सकता क्योंकि उस समय उसकी सब इन्द्रियां लीन रहती हैं जैसे मृतकों की, और शब्द सुन कर जीव का जग जाना बहुत ही प्रसिद्ध है। अब बिचार यह है कि श्रोत्र इन्द्रिय के लीन होने से जीव मृतक के नाई उस समय, शब्द को कदापि नहीं सुन सकता और यदि सुने बिना भी उसका जग जाना स्वीकार किया जाय तो शब्द होने से मृतक क्यों नहीं जग जाता ? इस से अनन्यगति हो कर यही निर्णय करना पड़ता है कि जीवों से अन्य, सदा चेतन कोई अवश्य ऐसा है कि जो सुषुप्तिकाल में, शब्द को सुनता है और सुन कर जीवों को उनके प्रारब्धकर्मों के अनुसार सुख दुःख भोग के लिये जगा दिया करता है और मृतकों के तो प्रारब्धकर्म का भोग पूर्ण हो गया रहता है इस से उनको नहीं जगाता । और वह चेतन जब ऐसा है कि अनन्तजीवों के अनन्तकर्मों का बिवेक कर इस काम को सदा ही करता रहता है तब उसके सर्बज्ञ, नित्य और अधिष्ठाता होने में सन्देह ही क्या है ? यह सुषुप्तिकाल एक दृष्टान्त-मात्र कहा गया है मूर्छा, प्रलय, महाप्रलय और सृष्टि आदि काल में भी यही व्यवस्था है। तथा शब्द का सुनना भी एक उदाहरणमात्र है किन्तु जिस २ प्रकार से सुप्तजीव जगाया जाता है उन सब प्रकारों का ज्ञान उस समय जीवों को कदापि नहीं हो सकता किन्तु उसी चेतन को होता है । और उस चेतन को वास्तविक में सुषुप्ति, इन्द्रिय, आदि जीवधर्म, कदापि नहीं होते क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो उस चेतन को जगाने वाला एक दूसरा चेतन और उसको भी जगाने वाला तीसरा और तीसरे को जगाने वाला चौथा स्वीकार करने की रीति और युक्ति से अनन्तचेतनों के अनवस्थादोष में गिरना पड़ेगा । और यदि इस अनवस्थादोष के भय से दो चार बीस चेतनों के अनन्तर इस चेतनधारा को तोड़ दिया जाय तो जिस चेतन में इस धारा का विच्छेद होगा वह चेतन जड़ ही हो जायगा क्योंकि उसका जगाने वाला कोई नहीं है और जब वह जड़ हुआ तब उसके पूर्व २ चेतन भी उसी के तुल्य जड़ हो जायंगे और जब वे जड़ हुए तब संसार के यावत् जीव जड़ हो जायंगे इस रीति से जगत् ही अन्ध हो जायगा और कोई व्यवहार नहीं चल सकैगा । इस से यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि वह अन्तिमचेतन, स्वप्र-काश, सदा चेतन और स्वतन्त्र है तो ऐसी दशा में अनेकचेतनों में भटकना व्यर्थ ही है और उचित यही है कि प्रथम ही अधिष्ठाता एक चेतन को सदा स्वप्रकाश और स्वतन्त्र तथा सर्बशक्तिमान् और सर्बज्ञ स्वीकार कर लिया जाय। इतने व्याख्यान से जो चेतन पूर्णरूप से सिद्ध होता है उसी का नाम परमात्मा है निदान यदि परमात्मा नहीं है तो सोयों को कदापि नहीं कोई जगा सकता यह तात्पर्य 'शृणोति य इमं स्फोटं सुप्तश्रोत्रे च शून्यदृक्' इतने अक्षरों का है । (परमात्मा के साधन में ऐसी दृढ-युक्ति अन्यग्रन्थों में कम है) और ओंकार वह है कि जो ब्रह्मा के भीतर आकाश में परमात्मा से प्रादुर्भूत हुआ जिस से कि सब वाक्यों का प्रादुर्भाव होता है और यह ओंकार अपने आश्रय परब्रह्म को और उनके अंशरूप समस्तदेवताओं को भी कहता है तथा सब मन्त्रों का सूक्ष्मरूप मूल और बेदों का बीज सनातन है । इसी ओंकार के अ, उ, म, इन तीन वर्णों से सत्व, रज, तम, और ऋक्, यजु, साम प्रादुर्भूत हुए। तथा भूः, भुवर्, स्वर्, लोक और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति,

ततोऽक्षरसमाम्नाय मसृजद्भगवानजः । अंतस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादिलक्षणम् ॥ ४३ ॥
तेनासौ चतुरो वेदांश्चतुर्भिर्वदनैः प्रभुः । सव्याहृतिकान्सोङ्कारांश्चातुर्होत्रविवक्षया ॥ ४४ ॥
पुत्रानध्यापयत्ताँस्तु ब्रह्मर्षीन्ब्रह्मकोविदान् । ते तु धर्मोपदेष्टारः स्वपुत्रेभ्यः समादिशन् ॥ ४५ ॥
ते परम्परया प्राप्तास्तत्तच्छिष्यैर्धृतव्रतैः । चतुर्युगेष्वथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः ॥ ४६ ॥
क्षीणायुषः क्षीणसत्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः । वेदान्ब्रह्मर्षयो व्यस्यन्हृदिस्थाच्युतनोदिताः ४७
अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन् भगवान् लोकभावनः । ब्रह्मेशाद्यैर्लोकपालैर्याचितो धर्मगुप्तये ॥४८॥
पराशरात्सत्यवत्यामंशांशकलया विभुः । अवतीर्णो महाभाग वेदं चक्रे चतुर्विधम् ॥ ४९ ॥
ऋगथर्वयजुःसाम्नां राशीनुद्धृत्य वर्गशः । चतस्रः संहिताश्चक्रे मंत्रैर्मणिगणा इव ॥ ५० ॥
तासां स चतुरः शिष्यानुपाहूय महामतिः । एकैकां संहितां ब्रह्मन्नेकैकस्मै ददौ विभुः ॥५१॥
पैलाय संहितामाद्यां बह्वृचाख्यामुवाच ह । वैशम्पायनसञ्ज्ञाय निगदाख्यं यजुर्गणम् ॥ ५२ ॥
साम्नां जैमिनये प्राह तथा च्छन्दोगसंहिताम् । अथर्वाङ्गिरसीं नाम स्वशिष्याय सुमन्तवे५३इत्यादि

तथा तत्रैव

वैशम्पायनशिष्या वै चरकाध्वर्यवोऽभवन् । यच्चेरुर्ब्रह्महत्यांऽहःक्षपणं स्वगुरोर्व्रतम् ॥ ६१ ॥
याज्ञवल्क्यश्च तच्छिष्य आहाहो भगवन् कियत् । चरितेनाल्पसाराणां चरिष्येऽहं सुदुश्चरम् ६२॥

॥ भाषा ॥

उत्पन्न हुए । तदनन्तर भगवान् ब्रह्मा ने वर्णमाला के अक्षरों को प्रकाशित किया और उन्हीं अक्षरों से उस चतुर्मुखब्रह्मा ने यज्ञकर्मों के प्रचारार्थ, भूर् भुवर् आदि सात व्याहृति और ओंकार से सहित वेदों का प्रकाश किया । और अपने पुत्र मरीचि आदि ब्रह्मर्षियों को वेद पढ़ाया उन ब्रह्मर्षियों ने अपने पुत्रों को और उनके पुत्रों ने भी अपने पुत्रों और शिष्यों को पढ़ाया ऐसी ही शिष्य-परम्परा से चार युगों में वेद का प्रचार हो गया किन्तु हृदयस्थित परमेश्वर की इच्छा से प्रेरित महर्षिलोग, कलिकाल के भविष्यत् मनुष्यों को अल्पायु अल्पबल और अल्पबुद्धि समझ कर प्रत्येक चतुर्युग के द्वापरान्त में वेदों का व्यास (विभाग) करते आये हैं । और इस अन्तर अर्थात् वैवस्वतमनु के अन्तर में भी धर्मरक्षा के लिये ब्रह्म रुद्र आदि लोकपालों की प्रार्थना से भगवान् ने अपनी कलामात्र का आश्रयण कर पराशरमहर्षि से सत्यवती में अवतार ले कर वेद का चार विभाग किया और जैसे रत्नपरीक्षक अनेकरत्नों की राशि से पन्ना आदिरत्नों को निकाल २ कर एक २ जाति के मणियों की राशि पृथक् २ लगा देता है वैसे ही वेदों में स्थान २ पर पठित ऋक्, यजु, साम, अथर्वनामक मन्त्रों को एकत्रित कर चार प्रकार की संहिताएं बनाया और अपने चार शिष्यों को पास बुला कर एक २ को एक २ प्रकार की संहिता दिया अर्थात् प्रथम बह्वृचनामक ऋग्मन्त्रसंहिता, पैल को और निगदनामक यजुर्मन्त्रसंहिता, वैशम्पायन को तथा छन्दोगसंहिता-नामक साममन्त्रसंहिता, जैमिनि को और अथर्वाङ्गिरसी नामक अथर्वमन्त्रसंहिता, सुमन्तु को पढ़ाया इति ।

तथा व्यास के जो यजुर्वेदी शिष्य अनन्तरोक्त वैशम्पायन थे उनके शिष्यगण, यजुर्वेदी होने से अध्वर्यु तो कहलाते ही थे परन्तु अपने गुरू (वैशम्पायन) के ओर से उन ने ब्रह्महत्या की निवृत्ति के लिये एक व्रत किया इससे वे चरक (व्रत का चरण अर्थात् अनुष्ठान करने वाले) भी कहे जाने लगे इस कारण उन शिष्यों की चरकाध्वर्यु संज्ञा भी हुई । एक समय वैशम्पायन के

इत्युक्तो गुरुरप्याह कुपितो यात्वलं त्वया । विप्रावमन्त्रा शिष्येण मदधीतं त्यजाश्विति ॥६३॥
देवरातसुतः सोपि छर्दित्वा यजुषां गणम् । ततो गतोऽथ मुनयो ददृशुस्तान्यजुर्गणान् ॥६४॥
यजूंषि तित्तिरा भूत्वा तल्लोलुपतयाऽऽददुः । तैत्तिरीया इति यजुःशाखा आसन्सुपेशलाः ॥६५॥
याज्ञवल्क्यस्ततो ब्रह्मन् छंदांस्यधिगवेषयन् । गुरोरविद्यमानानि सूपतस्थेऽर्कमीश्वरम् ॥६६॥
सूत० एवं स्तुतः स भगवान् वाजिरूपधरो हरिः । यजूंष्ययातयामानि मुनयेऽदात्प्रसादितः ७३
यजुर्भिरकरोच्छाखा दशपञ्च स तैर्विभुः । जगृहुर्वाजसन्यस्ताः काण्वमाध्यंदिनादयः ॥७४॥ इति।

चरणव्यूहवृत्तावुद्धृते विष्णुपुराणेऽपि

ब्रह्मणा चोदितो व्यासो वेदान्व्यस्तुं प्रचक्रमे । अथ शिष्यान्स जग्राह चतुरो वेदपारगान् ॥
ऋग्वेदश्रावकं पैलं सञ्जग्राह महामतिः । वैशम्पायननामानं यजुर्वेदस्य चाग्रहीत् ॥
जैमिनिः सामवेदस्य तथैवाथर्ववेदवित् । सुमन्तुस्तस्य शिष्योभूद्वेदव्यासस्य धीमतः ॥ इति।
आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसम्मितः । ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्वकामधुक् ॥
अत्रैव मत्सुतो व्यासः अष्टाविंशतिमेऽन्तरे । वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः ॥ इति च

॥ भाषा ॥

शिष्य याज्ञवल्क्यऋषि (जिसने उक्त व्रत को नहीं किया) ने अपने गुरू वैशम्पायनमहर्षि से यह कहा कि भगवान् ! इन अल्पसारऋषियों का किया हुआ व्रत कहां तक अच्छा हो सकता है अब मैं अकेला ही इस कठिनव्रत को करूंगा । इसको सुन कुपित हो कर वैशम्पायन ने कहा कि तू ब्राह्मणों का अपमान करता है तेरे ऐसे शिष्य से मुझको कोई काम नहीं है तूने जो मुझ से पढ़ा है उसको तुरित ही छोड़ दे और यहां से चला जा । तब देवरात के पुत्र याज्ञवल्क्य ने यजुर्वेद की उन शाखाओं को (जिनको उन्हों ने वैशम्पायन से पढा था) अपने योगबल से वमन (उगल) कर चले गये । और वैशम्पायन के अन्यशिष्यों ने उन शाखाओं को वमन के कारण, ब्राह्मण-शरीर से अग्राह्य समझ कर तीतरपक्षी का स्वरूप हो ग्रहण कर लिया इसी से वे शाखाएं तैतिरीय कहलाने लगीं । और याज्ञवल्क्य ने यह विचार किया कि यजुर्वेद की जिन १५ शाखाओं में व्यास ने मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग का विभाग बिना किये पिण्डितरूप से मेरे गुरू वैशम्पायन को पढ़ाया है और इसी कारण मेरे गुरू जी को उन शाखाओं में विवेक ठीक नहीं है उन शाखाओं में मुझ को विवेक उत्पन्न करना चाहिये जिस से कि मैं गुरू जी से बढ़ जाऊं । और ऐसा विचार कर सूर्यभगवान् का आराधन किया । सूर्यभगवान् ने अश्वरूप धारण कर वाज (वेग) से उन १५ शाखाओं में मन्त्र और ब्राह्मण को पृथक् २ समझा कर याज्ञवल्क्य को दे दिया । याज्ञवल्क्य ने उन १५ शाखाओं में १५ संहिता और १५ ब्राह्मण का विभाग कर अपने शिष्य काण्व, माध्यन्दिन आदि को पढ़ाया इति ।

तथा चरणव्यूह की महिदासवृत्ति में उद्धृत विष्णुपुराण, 'ब्रह्मणा०, परमेश्वर से प्रेरित व्यास ने वेदों का विभाग करना आरम्भ किया तदनन्तर महामति व्यास ने वेदपारग चार शिष्यों को संग्रह किया अर्थात् ऋग्वेद सुनने के लिये पैल को, यजुर्वेद सुनने के लिये वैशम्पायन को, सामवेद सुनने के लिये जैमिनि को, और अथर्ववेद सुनने के लिये सुमन्तु को संग्रह किया इति । तथा पूर्वोक्त चरणव्यूहवृत्ति में पुनः उद्धृत, विष्णुपुराणीय, पराशरमहर्षि के वाक्य, वृत्तिकार महिदास के व्याख्यान से सहित, । 'आद्यो०' विभाग से पहिले परस्परमिलित ऋग्वेदादि का

अस्यार्थः शौनकमहर्षिप्रणीते चरणव्यूहपरिशिष्टे १ खण्डे 'ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति' २ इति सूत्रमुपादाय महिदासवृत्तावुक्तः।

आद्यो वेदः। वेदविभागात्पूर्वकालिको वेदः चतुष्पादः ऋग्वेदादिचतुष्टयसमूहरूपः शतसाहस्रसंमितः अनन्तसङ्ख्याकः 'दश दश तच्छतं दश शतानि तत्साहस्रं तत्सर्वम् अनन्ता वै वेदाः' इति श्रुतेः। ततो वेदात्प्रवृत्तः कृत्स्नोऽयं दशगुणः दशविधः 'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोम' इति श्रुतेः 'पञ्च वा एते महायज्ञा' इत्युपक्रम्य 'ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञ' इति श्रुतेश्च वैतानिका गृह्याश्च दश यज्ञाः। अत्रान्तरे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशतिमे द्वापरयुगे इति शेषः मत्सुतो व्यासः कृष्णद्वैपायनः चतुर्धा व्यभजत् ऋग्वेदादिरूपेण चतुर्धा विभक्तवान् इति।

चरणव्यूहपरिशिष्टे ३ खण्डे

सामवेदस्य किल सहस्रभेदा भवन्त्येष्वनध्यायेष्वधीयानास्ते शतक्रतुना वज्रेणाभिहताः शेषान्व्याख्यास्याम इति।

अत्र वृत्तौ

किलेति प्रसिद्धौ सहस्रभेदा आसन् सहस्रभेदमध्ये शक्रेण वज्रेणाभिहताः प्रनष्टाः। 'अनध्यायेष्वधीयाना म्रियन्ते विद्युता खलु' इति शेषान् शाखापाठकान् व्याख्यास्याम इति।

एवम् वात्स्यायनीये कामसूत्रे साधारणाख्ये १ अधिकरणे शास्त्रसङ्ग्रहाख्ये १ अध्याये जयमङ्गलाख्यवृत्तिसहितानि सूत्राणि।

'प्रजापतिर्हि' इत्यादिनाऽऽगमविशुद्ध्यर्थं गुरुपूर्वकक्रमलक्षणं सम्बन्धमाह।

सू० प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य
साधनमध्यायानां शतसहस्रेणाग्रे प्रोवाच॥

प्रजापतिर्हीति। हि शब्दो यस्मादर्थे। अविपरीतोऽयमागमो गुरुपरम्परयाऽन्वाख्यायते यतः। स्थितिनिबन्धनमिति। प्रजानां तिस्रोऽवस्थाः, सर्गस्थितिप्रलयलक्षणाः। तत्र

॥ भाषा ॥

समूह अनन्तसंख्यावाला एक ही वेद था। इस में प्रमाण 'दश दश तच्छतं दश शतानि तत् साहस्रं तत्सर्वम् अनन्ता वै वेदाः' यह श्रुति है उस वेद से दश प्रकार के यज्ञ प्रचलित हुए इस में प्रमाण 'स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुःसोमः' 'पञ्च वा एते महायज्ञाः' 'ब्रह्मयज्ञो देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः' ये श्रुतियां हैं। इस वैवस्वतमन्वन्तर के अठाईसवें द्वापरयुग में मेरे पुत्र कृष्णद्वैपायन व्यास ने उस एक वेद का ऋग्वेदादिरूप से चार विभाग किया इति। तथा चरणव्यूहपरिशिष्ट ३ खण्ड में 'साम०' सामवेद के १००० भाग (शाखा) प्रचलित थे उनमें से बहुत से भागों के पढ़ने वालों को अनध्याय में वेदपाठ करने के अपराध के कारण इन्द्र ने वज्र (बिजुली) से मार दिया इससे जिन भागों के पाठक बचे हैं उनको हम कहते हैं इति।

तथा वात्स्यायनमहर्षि के प्रणीत कामशास्त्र १ अधिकरण, साधारणनामक १ अध्याय शास्त्रसंग्रहनामक में 'प्रजापतिर्हि'० ब्रह्मा ने प्रजाओं की सृष्टि के अनन्तर उनके शुभ और अशुभ के भोग की अवस्था के लिये धर्म, अर्थ, काम, के उपदेशार्थ, वेद के तात्पर्यों को संक्षेप कर सब

सर्गादूर्ध्वं प्रबन्धेनावस्थानं स्थितिः सा हि द्विविधा, शुभा चाशुभा च। त्रिवर्गोऽपि द्विविधः, उपादेयोऽनुपादेयश्च। तत्र पूर्वो धर्मोऽर्थः काम इति। द्वितीयोऽप्यधर्मोऽनर्थो द्वेष इति। तत्र धर्मादमुत्र शुभा गतिः। अधर्मादशुभा। अर्थादिहैव परिभोगो धर्मप्रवर्तनं च। अनर्थात्क्लिष्टजीवनमधर्मप्रवर्तनञ्च। कामात्सुखम् प्रजोत्पत्तिश्च। द्वेषान्नोभयम्। तस्य च निःसुखस्याप्रजस्य तृणस्येव स्थितिः। इत्येवं स्थितेस्त्रिवर्गो निबन्धनम्। तस्योपेयानुपेयस्य प्राप्तिपरिहारौ नोपायं विनेति तदुपायशासनत्वाच्छास्त्रं च सम्यगुपचारात्तन्निबन्धनम्। शतसहस्रेण लक्षेण अग्रे प्रोवाचेति तदानीं शास्त्रान्तराभावादिदमेवाग्र्यमिति। श्रुतिरपि सर्वजनविषयेति तामेव हृदिस्थामनुसंचिन्त्य साधारणभूतं स्मार्त्तशास्त्रं प्रकर्षेणोवाच।

सू० तस्यैकदेशिकं मनुः स्वायंभुवो धर्माधिकारिकं पृथक् चकार॥

तस्येति। प्रजापतिप्रोक्तस्यैकदेशाश्रयः, तत्र यत्र धर्मोऽधिकृतस्तन्मनुः पृथक् चकार यत्रार्थस्तद् बृहस्पतिः। यत्र कामस्तन्नन्दीति। स्वायंभुव इति वैवस्वतनिवृत्त्यर्थम्। धर्माधिकारिकमिति। धर्मप्रस्तावो यत्रास्ति तद् धर्मशास्त्रमित्यर्थः।

सू० बृहस्पतिरर्थाधिकारिकम्॥

अर्थाधिकारिकमिति। अर्थशास्त्रं चकारेत्यर्थः। द्वयोरप्यनयोरप्रस्तुतत्वान्नाध्यायसङ्ख्या प्रदर्शिता।

सू० महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच॥

महादेवेति। महादेवमनुचरति यः। नान्योऽयं नन्दिनामा कश्चित् तथाहि श्रूयते दिव्यं वर्षसहस्रमुमया सह सुरतसुखमनुभवति महादेवे वासगृहद्वारगतो नन्दी कामसूत्रं प्रोवाचेति। अत्राध्यायसङ्ख्यानमुक्तम्, शास्त्रस्य प्रस्तुतत्वात्।

सू० तदेव तु पञ्चभिरध्यायशतैरौद्दालकिः श्वेतकेतुः संचिक्षेप॥

तदेवत्विति। नन्दिप्रोक्तम्। तस्यैकदेशम्। तुशब्दो विशेषणार्थः। औद्दालकिरित्युद्दालकस्यापत्यं यः श्वेतकेतुः।

सू० तदेव तु पुनरध्यर्धेनाध्यायशतेन साधारणसांप्रयोगिककन्यासंप्रयुक्तकभार्याधिकारिकवैशिकौपनिषदिकैः सप्तभिरधिकरणैर्बाभ्रव्यः पाञ्चालः संचिक्षेप॥

तदेवत्विति। यदेवौद्दालकिसंक्षिप्तम्। पुनरर्थतो ग्रन्थतश्च संचिक्षेप। पूर्वत्र परदाराभिगमनं सामान्येन प्रतिषिद्धम्, इह तु विशेषेणेत्येवं पारदारिकमत्रोक्तम्। अध्यर्धेन पञ्चाशदधिकेन। तत्रोत्तरेषामधिकरणानामस्य साधारणत्वात्साधारणम्। संप्रयोगः प्रयोजनम-

॥ भाषा ॥

धर्मशास्त्रों की अपेक्षा प्रथम, लक्षाध्यायी (१००००० अध्यायों की) स्मृति बनाया।

उसमें से धर्मसंबन्धी अंशों को एकत्रित कर ब्रह्मा के पुत्र स्वायम्भुवमनु ने पृथक् स्मृति बनाया। और बृहस्पति ने उसी लक्षाध्यायी के नीति आदिरूपी अर्थ के संबन्धी अंशों को एकत्रित कर पृथक् अर्थशास्त्र बनाया। शिवजी के अनुचर नन्दीश्वर ने उसी लक्षाध्यायी से कामसुखसंबन्धी अंशों को एकत्रित कर सहस्राध्यायी (१००० अध्यायों का) कामशास्त्र, पृथक् रचना किया। उसके अनन्तर उद्दालक के पुत्र श्वेतकेतुमहर्षि ने नन्दीश्वरकृत सहस्राध्यायी का संक्षेप पञ्चशताध्यायी (५०० अध्यायों का) कामशास्त्र बनाया। उस से पीछे पञ्चालदेश के बाभ्रव्यमहर्षि ने उस पंचशताध्यायी का संक्षेप,

स्येति सांप्रयोगिकम्। कन्यायाः संप्रयुक्तं संप्रयोगो यस्मिन्निति कन्यासंप्रयुक्तकम्। भार्याऽधिकारिणी यस्मिन्नस्तीति भार्याधिकारिकम्। तथा पारदारिकम्। वेशो वेश्यावृत्तम्। तत्प्रयोजनमस्येति वैशिकम्। तथौपनिषदिकम्। उपनिषद्रहस्यम्। साधारणाद्युपादानं शास्त्रशरीरख्यापनार्थम् एतावन्तोऽर्थाः शास्त्र इति। आचार्योऽपि तथैव स्वशास्त्रमतः संचिक्षेप सप्तभिरिति नियमार्थम्। अधिक्रियन्ते प्रकरणार्था येष्वित्यधिकरणानि। बाभ्रव्यो बभ्रोरपत्यं यः पाञ्चालः मधुबभ्रोः इति यञ्।

सू० तस्य षष्ठं वैशिकमधिकरणं पाटलिपुत्रिकाणां गणिकानां नियोगाद्दत्तकः पृथक् चकार॥

तस्येति। बाभ्रव्यसंक्षिप्तस्य षष्ठमितीयमेवानुपूर्वी नान्येति प्रदर्शनार्थम्। अन्यथा पाठादेव सङ्ख्या लब्धा। तां चानुपूर्वीं वर्णयिष्यामः पाटलिपुत्रिकाणामिति मगधेषु पाटलिपुत्रं नाम नगरं तत्र भवा इति। रोपधेतोः प्राचाम् इति वुञ्। नियोगादिति अन्यतमो-माथुरो ब्राह्मणः पाटलिपुत्रे वसतिं चकार। तस्योत्तरे वयसि पुत्रो जातः तस्य जातमात्रस्य माता मृता पिताऽपि तत्रान्यस्यै ब्राह्मण्यै तं पुत्रत्वेन दत्त्वा कालेन लोकान्तरं गतः। ब्राह्मण्यपि ममायं दत्तकः पुत्र इत्यनुगतार्थमेव नाम चक्रे। सच तया सम्बर्द्धितोऽचिरेण कालेन सर्वा विद्याः कलाश्चाधीतवान्। व्याख्यानशीलत्वाद्दत्तकाचार्य इति प्रतीतिमुपागतः। एकदा च तस्य चेतस्येवमभवत्, लोकयात्रा परा ज्ञेयाऽस्ति। सा प्रायशो वेश्यासु स्थितेति। ततो वेश्याजनं परिचयपूर्वकं प्रत्यहमुपागम्य तथा तां बिभेद यथा स एवोपदेशग्रहणायास्य प्रार्थनीयोऽभूत्। ततोऽसौ वीरसेनाप्रमुखेण गणिकाजनेनाभिहितः, अस्माकं पुरुषरञ्जनमुपदिश्यतामिति। तन्नियोगात्पृथक् चकारेत्याम्नायः। अन्यस्तु श्रद्धामाधिगम्य युक्तियुक्तमाह यत्र गर्भयात्रायां दत्तकनामा तत्पदावधूतेन प्रतिशायितेन यक्षेण शप्तः स्त्री बभूव पुनश्च कालेन लब्धवरः पुरुषोऽभूत् तेनोभयज्ञेन पृथक् कृतमिति। यदि बाभ्र-

॥ भाषा ॥

अध्यर्द्धशताध्यायी (१५० अध्यायों का) कामशास्त्र रचना किया जिस में ये ७ प्रकरण हैं (१) साधारण (ऊपर के प्रकरणों का उपयोगी) (२) साम्प्रयोगिक (स्त्री पुरुष के भोग का प्रकार) (३) (कन्यासम्प्रयुक्तक (कन्या से विवाह का उपाय) (४) भार्याधिकारिक (भार्या के सम्बन्ध में) (६) पारदारिक (परस्त्री के विषय में। (६) वैशिक (वेश्याओं का वृत्तान्त) (७) औपनिषदिक (काम के उपयोगी औषध आदि)। उसके पश्चात् दत्तकनामक ब्राह्मण ने पटनेवाली वेश्याओं की प्रेरणा से उस अध्यर्द्धशताध्यायी के छठें अर्थात् वैशिकप्रकरण को जैसा का तैसा पृथक् कर दिया। इसका इतिहास यह है कि मथुरावासी एक ब्राह्मण पटने में जा कर वास करने लगा वृद्धावस्था में उसको एक पुत्र हुआ पुत्र होने के अनन्तर ही उसकी स्त्री का परलोकवास हो गया वृद्धब्राह्मण ने एक ब्राह्मणी को अपना पुत्र दे दिया और कुछ दिन पीछे आप भी परलोकगामी हो गया। ब्राह्मणी ने उस दत्तकपुत्र का दत्तक ही नाम रखा और दत्तक थोड़ी ही अवस्था में सब विद्या पढ़ कर उत्तमव्याख्यान देने लगा इस से लोग उसको दत्तकाचार्य कहने लगे। एक समय दत्तकाचार्य के हृदय में यह ध्यान हुआ कि लोकयात्रा (लौकिकव्यवहार) मैं पूर्ण नहीं जानता और लोकयात्रा, प्रायः वेश्याओं में स्थित है। परिचय के द्वारा वेश्याओं को प्रतिदिन बुलवा २ कर उनकी वार्ता के द्वारा लोकयात्रा में ऐसा निपुण हो गया कि स्वयम् वेश्या ही बस से

ब्योक्तमेव पृथक् कृतं किमपूर्वंस्वसूत्रेषु दर्शितं येनोभयरसज्ञता कल्प्यते । यदि चायमर्थः शास्त्रकृतोऽप्यभिमतः स्यात्तदानीं नियोगादुभयरसज्ञो दत्तक इत्येवमभिदध्यात् ।

सू० तत्प्रसङ्गाच्चारायणः साधारणमधिकरणं पृथक् प्रोवाच ॥ सुवर्णनाभः सांप्रयोगिकम् । घोटकमुखः कन्यासंप्रयुक्तकम् ॥ गोनर्दीयो भार्याधिकारिकम् ॥ गोणिकापुत्रः पारदारिकम् ॥ कुचुमार औपनिषदिकमिति । एवं बहुभिराचार्यैस्तच्छास्त्रं खण्डशः प्रणीतमुत्सन्नकल्पमभूत् । तत्र दत्तकादिभिः प्रणीतानां शास्त्रावयवानामेकदेशत्वात्, महदिति च बाभ्रवीयस्य दुरध्येयत्वात्, संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पेन ग्रन्थेन कामसूत्रमिदं प्रणीतम् ॥

दत्तकेन वैशिकं पृथक् कृतमित्येतत्प्रसङ्गाच्चारायणादयोऽपि पृथक् प्रकर्षेणाचुः । प्रकर्षश्च ग्रन्थेषु स्वमतप्रकाशनम् । तच्च स्थानस्थानेषु स्वशास्त्रे प्रदर्शयिष्यति एवमित्यादिना । स्वशास्त्रस्य प्रयोजनमाह तच्छास्त्रं बाभ्रव्योक्तम् । खण्डश इति खण्डं खण्डं कृत्वा । उत्सन्नकल्पमीषदुत्सन्नमिव । क्वचिद्दृश्यमानत्वात् । नन्द्यादिप्रणीतमुत्सन्नमेवेत्यर्थोक्तम् । तत्रेति । शास्त्रप्रस्थाने । शास्त्रावयवानामिति अवयवभूतानामेकदेशार्थत्वात्प्र-कामाङ्गीभूताशेषवस्तुपरिज्ञानम् । बाभ्रवीयस्येति । बाभ्रव्यप्रोक्तस्य सम्पूर्णशास्त्रस्याप्रयोजनमाह तस्य सम्पूर्णस्यापि महदिति कृत्वा दुःखेनाध्ययनम् । तत्सप्तभिरधिकरणैः सप्तसहस्राणि (सप्तशास्त्राणि) संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पेन ग्रन्थेनेति सम्पूर्णतां स्वध्येयतां च दर्शयति । इदमिति बुद्धिस्थमाह । प्रणीतमिति समाप्तमाशंसते ॥ इति

१ अध्याये मनुरपि ।

इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः ।
विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन् ॥ ५८ ॥ इति

अत्र कुल्लूकः

असौ ब्रह्मा इदं शास्त्रं कृत्वा सृष्ट्यादौ मामेव विधिवत् शास्त्रोक्ताङ्गजातानुष्ठाने-

॥ भाषा ॥

उपदेश की प्रार्थना करने लगीं अर्थात् वीरसेना आदि पटने की प्रसिद्ध वेश्याओं ने दत्तकाचार्य से कहा कि हम को पुरुषरञ्जन (पुरुषों के अनुरक्त करने का उपाय) उपदेश कीजिये तब दत्तक ने वैशिक अधिकरण (प्रकरण) पृथक् कहा । और उसकी देखी देखा से चारायण ने साधारण, सुवर्णनाभ ने साम्प्रयोगिक, घोटकमुख ने कन्यासम्प्रयुक्तक, गोनर्दीय (व्याकरणभाष्यकार पतञ्जलि) ने भार्याधिकारिक, गोणिकापुत्र ने पारदारिक और कुचुमार ने औपनिषदिक अधिकरण का पृथक् २ एक २ ग्रन्थ रचना किया । और इन ग्रन्थों के प्रचार से पूर्वोक्त अध्यर्द्धशताध्यायी लुप्तप्राय हो गई तब मैं (वात्स्यायन) ने यह विचार किया कि दत्तकाचार्य आदि के ग्रन्थ एकदेशी हैं उन में एक के पढ़ने से सातों प्रकरणों का अर्थ नहीं ज्ञात हो सकता और सातों ग्रन्थों तथा अध्यर्द्धशताध्यायी का अध्ययन अतिक्लेश से साध्य है । ऐसा विचार कर सातों ग्रन्थों के अर्थों को सात अधिकरणों में संक्षेप कर इस छोटे ग्रन्थ कामसूत्र को मैंने बनाया इति ।

तथा मनुस्मृति अध्याय १ में स्वायम्भुवमनु ने स्वयम् कहा है कि 'इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ मामेव स्वयमादितः । विधिवद् ग्राहयामास मरीच्यादींस्त्वहं मुनीन्' ॥ ५८ ॥ मनुस्मृति की टीका मन्वर्थमुक्तावली में कुल्लूकभट्ट ने इस श्लोक का यह व्याख्यान किया है कि ब्रह्मा ने इस

नाध्यापितवान् । अहं तु मरीच्यादीनध्यापितवान् । ननु ब्रह्मकृतत्वेऽस्य शास्त्रस्य कथं मानवत्वव्यपदेशः । अत्र मेधातिथिः । शास्त्रशब्देन शास्त्रार्थो विधिनिषेधसमूह उच्यते तं ब्रह्मा मनुं ग्राहयामास मनुस्तत्प्रतिपादकं ग्रन्थं कृतवानिति न विरोधः । अन्यं तु ब्रह्मकृतत्वेऽप्यस्य मनुना प्रथमं मरीच्यादिभ्यः स्वरूपतोऽर्थतश्च प्रकाशितत्वान्मानवत्व-व्यपदेशः वेदापौरुषेयत्वेऽपि काठकादिव्यपदेशवत् इति । इदं तूच्यते ।

ब्रह्मणा शतसाहस्रमिदं धर्मशास्त्रं कृत्वा मनुरध्यापित आसीत् । ततस्तेन स्ववचनेन संक्षिप्य शिष्येभ्यः प्रतिपादितमित्यविरोधः तथा च नारदः 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थ' इति स्मरति स्म इति ।

आचारकाण्डे भगवान् पराशरोऽपि

न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः । तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे ॥ इति

अस्य च व्याख्यानं माधवपाराशरीयं वेदापौरुषेयत्वव्याख्यानावसरे पूर्वमुपन्य-स्तमिह स्मर्त्तव्यम् । इति

॥ भाषा ॥

शास्त्र को बना कर आदिसृष्टि के समय मुझ (स्वायम्भुवमनु) ही को विधिपूर्वक प्रथम पढ़ाया मरीचि आदि मुनियों को तो उसके अनन्तर मैंने यह शास्त्र पढ़ाया ।

प्रश्न—जब यह धर्मशास्त्र ब्रह्मा का रचित है तब मानव (मनु का रचित) क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—(१) मेधातिथि पं० यह कहते हैं कि ब्रह्मा ने मनु को, शास्त्र अर्थात् शास्त्र का अर्थ (विधान और निषेध का समूह) ही को समझाया । पश्चात् मनु ने उस अर्थ के प्रतिपादक-ग्रन्थ (मनुस्मृति) की रचना किया इसी से यह धर्मशास्त्र मानव कहा जाता है ।

(२) पं० गोविन्दराज आदि यह कहते हैं कि यह शास्त्र यद्यपि ब्रह्मदेव ही का रचित है तथापि प्रथम २ मरीचि आदि मुनियों से मनु ही ने इस शास्त्र के शब्द और अर्थ को प्रकाश किया इसी से यह शास्त्र मानव कहा जाता है जैसे अपौरुषेय वेद की शाखा, आदिसृष्टि के समय कठऋषि के द्वारा प्रकाशमात्र होने से काठक कही जाती है ।

(३) प्रथम उत्तर से यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मदेव ने किसी शास्त्रग्रन्थ की रचना नहीं की थी और दूसरे उत्तर से यह निकलता है कि मनु ने किसी धर्मशास्त्र की रचना नहीं की, परन्तु वस्तुतः दोनों बातें मिथ्या हैं और उक्तप्रश्न का यथार्थ उत्तर यह है कि ब्रह्मदेव ने लक्षाध्यायीनामक शास्त्र को बना कर अपने पुत्र स्वायम्भुवमनु को पढ़ाया उसके पश्चात् मनु ने उस शास्त्र के धर्मसम्बन्धी अंशों को संक्षेप कर इस मनुस्मृतिरूपी धर्मशास्त्र को अपने वाक्यों से रचना कर अपने शिष्यों को पढ़ाया । इसी से 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' (१००००० अध्याओं का यह ग्रन्थ है) यह नारदस्मृति का वचन है इति ।

तथा पराशरस्मृति आचारकाण्ड में 'न कश्चिद्वेदकर्ता च वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः । तथैव धर्मान् स्मरति मनुः कल्पान्तरेऽन्तरे' ॥ २१ ॥ श्लोक है इसका अर्थ यह है कि वेद का कर्ता कोई नहीं है किन्तु प्रत्येक महाकल्प (ब्रह्मा का जीवनसमय) के आदि में परमेश्वर के दिये हुए अनादि-सिद्ध वेद को स्मरण कर उस वेद में अनेक भिन्न २ स्थानों पर कहे हुए सामान्य, और वर्णाश्रमादिधर्मों

अत्रायम् प्रमाणोपन्यासाभिप्रायसङ्क्षेपः।

वेदस्य शब्दतो महत्त्वम्।

अनन्त एव वेदस्य शब्दविस्तरः श्रुतितो युक्तितश्च तथाहि यथैवाविच्छिन्नशाखे तरौ वस्तुगत्या वर्तमानान्यपि दण्डसहस्राणि पृथगवर्तमानत्वात्स्थूलदृष्टिभिर्लौकिकैर्न गणयितुं शक्यन्ते, गण्यन्ते च तदात्वेऽपि विदग्धैः तथैवाविभक्ते पिण्डीभूतेऽनन्ते वेदे वर्तमाना अनन्ता अवयवा जीवमात्रैर्न पृथक्त्वेन ग्रहीतुं शक्यन्ते नवा गणयितुमित्यविभागावस्थायामेवेयमौपनिषदी वेदावयवसङ्ख्या 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' इतिश्रुतबहुत्ववत् साचेयं नावयवसाकल्याभिप्राया, 'अनन्ता वै वेदा' इत्युक्तश्रुतिविरोधप्रसङ्गात् किंतु ऋग्वेदत्वादिधर्मपरिगणनाभिप्रायैव नागृहीतविशेषणेतिन्यायात्। उक्तवेदान-

॥ भाषा ॥

को विचारपूर्वक एकत्रित कर ब्रह्मदेव एक स्मृतिस्वरूप ग्रन्थ बनाते हैं और प्रत्येक अवान्तरकल्प (ब्रह्मदिन) का भागरूपी अपने मन्वन्तर में उसी ग्रन्थ के अनुसार स्वायम्भुवमनु, वेदोक्तधर्मों का स्मृतिग्रन्थ बनाते हैं (जिसको मनुस्मृति कहते हैं) इति।

यहां तक इन प्रमाणों को एकत्रित करने का तात्पर्य, संक्षिप्तरूप से यह है कि—

(विचार १) जैसे वृक्ष में छेदन के प्राक् भी अन्योन्यमिलित सहस्रों दण्ड रहते हैं परन्तु स्थूलदृष्टि लौकिक-पुरुष उनकी गणना नहीं कर सकता किन्तु चतुर (गणितज्ञ) पुरुष उनकी गणना करते हैं वैसे ही विभाग के प्राक् अनन्त एक ही वेद में वर्तमान और अन्योन्यमिलित अनन्तशाखारूपी अवयवों को जीवमात्र पृथक् २ नहीं समझ सकते न गिन सकते किन्तु उस अवस्था में वेद ही अपने अवयवों की गणना करता है जैसे कि पूर्वोक्त मुक्तिकोपनिषद् में चार वेदों और उनकी शाखाओं की गणना है। तात्पर्य यह है कि वह गणना, अविभक्त पिण्डीभूत एक ही वेद के अवयवों की है ऐसे ही 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (जो परमेश्वर ब्रह्मा के लिये वेदों को प्रेरित करता है) इस श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी, एक ही वेद में जो 'वेदों' यह बहुत्व कहा गया है वह भी पूर्वोक्त वृक्षदण्डदृष्टान्त से अविभक्त एक ही वेद में मिलित ऋग्वेद आदि चार वेदरूप अवयवों के अभिप्राय से है क्योंकि पूर्वोक्त 'समाहितात्मनो ब्रह्मन्' इत्यादि श्रीमद्भागवत के वाक्यों से अविभक्त ही वेद का ब्रह्मा के हृदय में परमेश्वर की शक्ति से प्रादुर्भाव पाया जाता है, वे भागवत के श्लोक इसी उक्त श्वेताश्वतरउपनिषद् के व्याख्यानरूप हैं और इसी उपनिषद् के अनुसार उन श्लोकों में जो ब्रह्मा के हृदय का आकाश कहा है वह परमेश्वर ही है और उन श्लोकों में भी यह कहा है कि ओंकार का आश्रय परब्रह्म ही हैं। तथा यह भी ध्यान नहीं करना चाहिये कि मुक्तिकोपनिषद् में जो वेद के अवयवों की संख्या कही है वह वेद के सम्पूर्ण अवयवों की संख्या है, क्योंकि यदि ऐसा स्वीकार किया जाय तो 'दश दश तच्छतं दश शतानि तत्साहस्रं तत्सर्वम् अनन्ता वै वेदाः' (शत और सहस्र आदि जहां तक संख्या हो सकती है वह सब वेद के अवयवों में है क्योंकि वेद के अवयव अनन्तसंख्याक हैं) इस श्रुति के साथ मुक्तिकोपनिषद् का विरोध पड़ जायगा क्योंकि प्रसिद्ध है कि जिनकी संख्या अनन्त होती है उनका परिगणन नहीं हो सकता और जिनका परिगणन होता है उनकी संख्या अनन्त नहीं होती, तो यदि मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार वेद के अवयवों का परिगणन ठीक है तो वे अनन्त नहीं हो सकते और यदि 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति के अनुसार वे अनन्त हैं

न्त्यश्रुतिस्तु ऋग्वेदत्वादितत्तद्धर्मोल्लिखितानामृग्वेदाद्यवयवानां सङ्ख्या नास्त्येवेत्यभिप्राया। इत्थमेव च परिगणनानन्त्यश्रुत्योर्न मिथो विरोधः। अतएव 'उपर्युपरिबुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धय' इत्यादिकमपि सङ्गच्छते। नित्यानन्तसर्वविषयकभगवज्ज्ञानसमानधर्मा चासौ वेदः स कथमिवोपरिबुद्धीनामप्यशेषतो ग्राह्यः स्यादिति शक्यते संभावयितुम्। अतएव च 'आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्रसंमितः' इति पूर्वोदाहृतं विष्णुपुराणवाक्यम्, 'आद्यो वेदः वेदविभागात्पूर्वकालिको वेदः चतुष्पादः ऋग्वेदादिचतुष्टयसमूहरूपः शतसाहस्रसंमितः अनन्तसङ्ख्याक' इति महिदासकृतं तद्व्याख्यानं च साधु सङ्गच्छेते। अत्र हि शतानि च तानि सहस्राणि चेति बहुवचनान्तयोरेव समासः। सचानन्त्यश्रुतिप्रमाणकत्वादानन्त्यतात्पर्यकः, तथैव वेदानन्त्योपपादनसंभवात् इत्यनन्तसङ्ख्याक इति वदतो महिदासस्याशयः। शाखासंख्या त्वोपनिषदी जीवग्राह्येष्वेव ऋग्वेदादीनां भागेषु ध्येया, वेदानन्त्यश्रुत्यविसंवादानुरोधादेव सा च तादृशतत्तद्भागावयवरूपधर्मिपरिगणनाभिप्रायैव। इदं धर्मिपरिगणनमपि चाविभागावस्थायामेव

॥ भाषा ॥

तो परिगणन नहीं हो सकता। इस विरोध के परिहारार्थ यह अवश्य कहना उचित है कि मुक्तिकोपनिषद् में जो परिगणन है वह केवल जाति का परिगणन है अर्थात् बेद के अवयव चार जाति के होते हैं तात्पर्य यह है कि बहुत से अवयव ऋग्वेदजातीय और बहुत से यजुर्वेदजातीय इत्यादि, जैसे जगत के अवयव दो प्रकार के होते हैं एक जंगमजातीय दूसरा स्थावरजातीय। और 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति का यह तात्पर्य है कि वेद के अवयवव्यक्तियों के अनन्त होने से वेद अनन्त हैं जैसे जगत् के प्रत्येक वृक्षादि अवयवों के भेद से जगत् अनन्त है निदान जैसे 'जगत् के दो भेद हैं एक जंगम दूसरा स्थावर' इस वाक्य का, 'जगत् के मनुष्य आदि की एक २ व्यक्तियों के भेद से जगत् अनन्त है' इस वाक्य से विरोध नहीं होता वैसे ही पूर्वोक्त मुक्तिकोपनिषद् का, 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति से विरोध नहीं है। इसी से पूर्वोक्त विष्णुपुराण में 'आद्यो वेदः, शतसाहस्रसम्मितः' यह कहा है इसका यह अर्थ है कि प्रथम अर्थात् अविभक्त एक वेद के मिलितभागों की संख्या, लाखों अर्थात् अनन्त हैं। और महिदास वृत्तिकार ने भी 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति को लिख कर, 'आद्यो वेदः' इत्यादि उक्त पुराणवाक्य का यही अर्थ कहा है। तथा मुक्तिकोपनिषद् में ऋग्वेदादि के शाखाओं की संख्या जो कही है वह भी ऋग्वेदादि के उसी भाग की शाखाओं की संख्या है जो कि जीवों के ग्रहणयोग्य है और ऋग्वेदादि के जो भाग जीवग्राह्य नहीं हैं किन्तु परमेश्वरमात्र के ग्राह्य हैं उनके शाखाओं की संख्या मुक्तिकोपनिषद् में भी नहीं कही गई है। क्योंकि ऋग्वेदादि के दो२ भाग हैं एक२ जीवग्राह्य और दूसरे २ परमेश्वरमात्र के ग्राह्य। इस में भी 'अनन्ता वै वेदाः' यही श्रुति प्रमाण है क्योंकि यदि पूर्ण ऋग्वेदादि की शाखाएं उतनी ही हैं जितनी कि मुक्तिकोपनिषद् में परिगणित हैं तो वेद की अनन्तता कदापि ठीक नहीं हो सकती। मुक्तिकोपनिषद् में जो शाखापरिगणन है वह भी ऋग्वेदादिपरिगणन के समान, अविभक्त ही वेद की अवस्था में है और इस विषय में वृक्षदण्ड का दृष्टान्त पूर्व में कह दिया गया है। 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति और पूर्वोक्त मुक्तिकोपनिषद् के तात्पर्य की यह प्रथम वर्णनरीति है।

ऋग्वेदत्वादिधर्मपरिगणनवत् । यदित्वनन्तानामृग्वेदादीनामेवेयमवयवपरिगणना नतु जीवबोध्यानां तद्भागमात्राणामिति विभाव्यते तदात्वियमुपलक्षणमेव । नच परिगणनं चोपलक्षणं चेति विरोध इति वाच्यम् परिमेयविषयएव तस्य दूषणावहत्वात् । अपरिमेये तु गणनाया उपलक्षणत्वं भूषणमेव । तत्र तस्या अवयवसाकल्यपर्यवसायित्वाभ्युपगमे तस्य वस्तुनोऽपरिमेयताया एवाप्रामाणिकत्वापातात् दृष्टश्चायमेव सङ्ख्योपादानप्रकार इतरत्राप्यानन्त्यस्थले ।

तथाच श्रीभगवद्गीतासु १० अध्याये विभूतिवर्णनस्यान्ते —

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥ इति ।

परिमितस्य हि पदार्थस्य येंऽशाः परिमिता भवन्ति तेषामेकस्याभिधित्सायां सङ्ख्यावाचकैकपदस्वभावसिद्धद्वित्वादिसङ्ख्याव्यवच्छेदगर्भितनिर्द्धारणावधिभूतसङ्ख्यावाचीनि पदान्युपादायैवैकादिपदं प्रयुज्यत इति नियमः, यथा 'द्वयोरेकः त्रयाणामेकः' इत्यादौ । ये तु तदंशा न परिमेयास्तत्रांशसङ्ख्यानां दुरधिगमतया गतिविरहादुक्तनिर्द्धारणावधिवाचिसङ्ख्यापदानां प्रयोक्तुमशक्यत्वात्तान्यनुपादायैव सङ्ख्यावाचीनि पदानि प्रयुज्यन्त इति नियमः, यथा 'विन्ध्यस्य स एकः परमाणुः, तौ द्वौ ते त्रयः' इत्यादौ । इत्थं च परिमेयस्य पदार्थस्यावयवगणनायामियं द्वयी गतिः । अनन्तस्य तु पदार्थस्यांश-

॥ भाषा ॥

अब दूसरी वर्णनरीति दिखलाई जाती है कि यदि यह स्वीकार किया जाय कि अनन्तऋग्वेद आदि ही के अवयवों का परिगणन मुक्तिकोपनिषद् में है न कि ऋग्वेदादि के जीवग्राह्य भागमात्र के अवयवों का तब भी वह परिगणन उपलक्षणमात्र है अर्थात् वेद के सब अवयवों का नहीं है ।

प्रश्न—पूर्णविभाग का परिगणन नाम है उसको उपलक्षण कहना कैसे ठीक है ?

उत्तर—परिमेय (जिसके अवयवों की संख्या गिनने के शक्य है) ही के अवयवों का गणन उपलक्षण नहीं होता और अपरिमेय (अनन्त) के अवयवों का गणन तो उपलक्षण ही होता है क्योंकि यदि उसके सब अवयवों का पूर्णगणना हो जाय तो वह सान्त ही हो जाय न कि अनन्त । अन्यत्र भी अनन्तपदार्थ के अवयवों के गणन में यही रीति देखी गई है जैसे कि भगवद्गीता १० अध्याय ४२ श्लोक 'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन । विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' ॥ है । इसका यह अर्थ है कि हे अर्जुन अथवा इन पूर्वोक्त विभूतियों के ज्ञान से तुमको क्या काम है ? तुम यही निश्चय करो कि मैं (परमेश्वर) इस सब जगत् को अपने केवल एक अंश से धारण कर स्थित हूं । यहां भगवान् ने यह नहीं कहा कि कितने अंशों में एक अंश से मैं जगत् का धारण करता हूं, क्योंकि भगवान् तो निरवयव (निरंश) और अनन्त हैं उनमें अंशों (अवयव) की कल्पना, उनके मायामात्र से होती है इस से कल्पितअंशों की संख्या भी अनन्त ही है जिसकी पूर्णगणना नहीं है और ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि इतने अंशों में से एक अंश, इस से यह, एक अंश की गणना, अपूर्ण अर्थात् उपलक्षण ही है । तात्पर्य यह है कि जो पदार्थ परिमेय (अनन्त नहीं) है उसके अवयवों की गणना में दो चालें हैं । एक यह कि जिसके सब अवयवों की संख्या निश्चित होती है वहां कहा जाता है कि 'इतनों में इतना' जैसे 'दो में एक' 'अथवा तीन में एक' इत्यादि । दूसरी चाल यह है कि जिस

गणनायामंशानामपरिमेयत्वनियमान्निर्द्धारणावधिवाची संख्याशब्दो नैव प्रयुज्यत इति द्वितीयैव गतिरनन्यगतिकत्वादाश्रीयते । एवंच श्रीभगवताऽपि स्वस्यानन्त्याद् द्वितीयामेव गतिमङ्गीकृत्य निर्द्धारणावधिवाचिनं संख्याशब्दमनुपादायैवैकांशेनेत्युक्तम् । एवमेव च वेदस्यानन्तस्यांशानामप्यानन्त्यस्यावश्यकतया कतिष्वंशेष्वेकविंशतिरित्यादिरीत्या निर्द्धारणावधितानियामिकानां संख्यानामवधारणमशक्यमेवेत्युक्तोपनिषद्यपि परिगणितोक्तधर्माक्रान्तवेदावयवसंख्यावर्णनमुपलक्षणमेव । तथाच परिगणिताभ्यः शाखाभ्योऽपरेऽप्यसंख्येया भगवदेकवेद्या वेदभागाः सन्तीति सिद्धम् ।

किंच चतुर्वर्गसाधनोपदेशपरायणस्य वेदस्यापवर्गोपयोगिनं तुरीयमंशमुपनिषदात्मकं स्वसृष्टजगत्स्थितिप्रतिकूलत्वप्रतिसन्धानादपहाय शिष्टमपि भागत्रयमादिसृष्टिकालिकैरपि महामहिमभिर्महर्षिभिर्दुरवगाहमूहमानस्तद्ग्रहणसौकर्यमनुसरँस्तस्यार्थास्त्रिवर्गोपदेशात्मना ग्रन्थेन लक्षेणाध्यायानां स्वयमेव संचिक्षेप भगवान् पितामहः । यं ग्रन्थं लक्षाध्यायीं पितामहस्मृति माचक्षते । सर्वस्मृतिषु च सैवाद्या स्मृतिः प्रकृतिरिवापरासां स्मृतीनाम्, या

॥ भाषा ॥

परिमेयपदार्थ के सब अवयवों की संख्या, निश्चित नहीं है वहां यह नहीं कहा जा सकता कि 'इतनों में इतना' किन्तु यही कहा जाता है कि 'इतना,' जैसे 'गृह का एक परमाणु दो तीन' इत्यादि । और अनन्तपदार्थ के अवयवों की गणना में तो अवयवों के अनन्त होने से किसी काल में किसी को उन सब अवयवों की संख्या के न होने के कारण, उन संख्याओं का निश्चय होना असम्भव ही है । इस से पूर्वोक्त प्रथमचाल इस विषय में हो ही नहीं सकती इस कारण अनन्तरोक्त दूसरी ही चाल इस विषय में होती है जिसको कि उक्त गीतावाक्य में भगवान् ने स्वीकार किया है । प्रकृत में वेद भी 'अनन्ता वै वेदाः' इस श्रुति के अनुसार अनन्त ही हैं इस से जो शाखाओं की गणना मुक्तिकोपनिषद् में है वह उक्त दूसरी चाल ही के अनुसार अर्थात् पूर्ण नहीं किन्तु उपलक्षण ही है इस से यह पूर्णरूप से सिद्ध होता है कि मुक्तिकोपनिषद् में परिगणितशाखाओं से अन्य भी बहुत से वेदभाग हैं जो कि जीवग्राह्य नहीं हैं किन्तु ईश्वरग्राह्य ही हैं । वैदिकप्रमाण के अनुसार वेद के शब्दविस्तर का यह वर्णन है ।

अब अन्य प्रमाणों से भी उसका वर्णन किया जाता है । आदिसृष्टि के समय ब्रह्मदेव ने यह विचार किया कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चार वर्गों में मोक्ष, प्रजाओं को न्यून करता है इस कारण, मेरे कर्तव्यसृष्टिकार्य में हानिकारक है इस से सृष्टि के लिये कल्याणकारी, अर्थ आदि तीन ही वर्ग हैं और प्रजाओं के लिये इन ही तीन के उपायों का उपदेश उपयोगी है और वेद के द्वारा कोई जीव अर्थात् देवता, ऋषि, मुनि आदि भी पूर्णरूप से उक्त उपदेश करने वा समझने में समर्थ नहीं है क्योंकि वेद के शब्दविस्तर अनन्त होने से ये लोग उसको पूर्ण नहीं जान सकते इस से मेरा ही यह कर्तव्य है कि मोक्षभाग अर्थात् वेदान्तों (उपनिषदों) को छोड़ कर वेद के स्थान २ पर विकीर्णरूप से स्थित त्रिवर्गसाधन के उपदेशों से तात्पर्यों को निचोड़ २ कर संक्षेप से एक ग्रन्थ प्रजाओं के लिये रचना करूं । ऐसा विचार कर ब्रह्मदेव ने आदिसृष्टि के समय लक्ष अध्यायों में वेद के त्रिवर्गभाग का संक्षेपरूपी एक ग्रन्थ स्वयं रचना किया जिसको **लक्षाध्यायी और पितामहस्मृति** भी कहते हैं । यही स्मृति, प्रथम बनी और इसी के अंशों के

सौ नेदानीमुपलभ्यते निबन्धकारास्तु कुत्र कुत्र चित् तस्याः पद्यानि गद्यानि चाद्यापि पितामहनामग्राहमुदाहरन्ति। यथा अत्रैव काण्डे तीर्थानुसरणप्रकरणे उद्धरिष्यमाणे वीरमित्रोदयैकदेशे मित्रमिश्रेण पितामहइत्युक्त्वा समभ्युद्धृताः 'शूद्रराज्येऽपि निवसेद्यत्र मध्ये तु जान्हवी' त्यादयः पञ्च श्लोकाः, तथा तत्रैव वीरमित्रोदये विवाहसंस्कारे सापिण्ड्यविचारे 'स्वयम्भूस्तु' इत्युपक्रम्य 'तत्र ब्राह्मणानामेकपिण्डस्वधानामादशमाद्धर्मविच्छित्तिर्भवति' इत्यादीनि गद्यान्यप्युद्धृतानि। अतएव चास्याः पैतामह्याः संहिताया गद्यपद्यमयीत्वमपि लभ्यते। तामेव च 'वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः तथैव धर्मान्स्मरति' इति पूर्वोपन्यस्ता पाराशरी स्मृतिरभिधत्ते व्याख्याता चासौ माधवपाराशरे तथैव माधवेन, तच्च व्याख्यानमस्माभिर्वेदापौरुषेयत्वनिरूपणावसरे प्रदर्शितम्। प्रयोगपारिजातेऽपि 'वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः' इत्युपक्रम्य 'इत्येते स्मृतिकर्तार एकविंशतिरीरिता' इत्युपसंहृतम्। एवं पैठीनसिनाऽपि 'प्रचेता नारदो योगी बोधायनपितामहौ' इति स्मृतिकारेषु पितामह उक्तः। उद्धृतकुल्लूकग्रन्थोपन्यस्ता 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' इति नारदीया स्मृतिरपि तामेव पैतामहीं स्मृतिमध्यायतः परिच्छिनत्ति। इयं च नारदोक्ता सङ्ख्या न श्लोकानां किंत्वध्यायानामेवेति तु 'प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणा-

॥ भाषा ॥

संक्षेप से अन्यान्य सब स्मृतियां बनी हैं। परन्तु इस समय यह लक्षाध्यायी नहीं मिलती अर्थात् लुप्त है किन्तु अब भी इस स्मृति के बहुत से वाक्य अन्यग्रन्थों में पितामहस्मृति के नाम से उद्धृत किये मिलते हैं जैसे 'शूद्रराज्येऽपि निवसेद् यत्र मध्ये तु जान्हवी' इत्यादि पांच श्लोक, वीरमित्रोदय में पितामहनाम से उद्धृत हैं जो कि इस ग्रन्थ के इसी काण्ड के तीर्थानुसरणनामक प्रकरण में लिखे जायंगे तथा वीरमित्रोदय ही में विवाहसंस्कार के सापिण्ड्यप्रकरण में "तत्र ब्राह्मणानामेकपिण्डस्वधानामादशमाद्धर्मविच्छित्तिर्भवति" इत्यादि गद्य (वार्तिक) स्वयम्भू (ब्रह्मा) नाम से उद्धृत हैं। और इसी से यह भी ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त लक्षाध्यायी पितामहस्मृति गद्यपद्यमयी थी और यह भी अनुसंधान के योग्य है कि जब उक्तस्मृति लक्ष अध्यायों की थी तो प्रतिअध्याय, सामान्य से २० श्लोक की भी संख्या लगाई जाय तो बीस लक्ष श्लोक उसके होते हैं जिस से यह निश्चय होता है कि वह स्मृति यदि न्यून से न्यून भी थी तो महाभारत की अपेक्षा बीस गुणों से न्यून न थी क्योंकि महाभारत में केवल श्लोकों की संख्या लक्ष है और उस स्मृति में अध्यायों की, और एक २ अध्याय में सैकड़ों श्लोकों का सम्भव है। इसी लक्षाध्यायी स्मृति के अभिप्राय से पूर्वोक्त 'वेदं स्मृत्वा चतुर्मुखः तथैव धर्मान् स्मरति' यह पराशरस्मृति का वाक्य है जिसका अर्थ पूर्व में कहा गया है और प्रयोगपारिजातनामक ग्रन्थ में भी धर्मशास्त्रकारों के नामगणना में 'वसिष्ठो नारदश्चैव सुमन्तुश्च पितामहः' यह स्मृतिवाक्य उद्धृत है जिस से यह निश्चित है कि पितामह (ब्रह्मदेव) ने ऐसा ग्रन्थ बनाया जिस में धर्मोपदेश है। और वह ग्रन्थ यही लक्षाध्यायी ही था। तथा पैठीनसिमहर्षि ने 'बोधायनपितामहौ' वाक्य से स्मृतिकारों में ब्रह्मदेव को 'पितामह' शब्द से कहा है और पूर्वोद्धृत मनुटीका मन्वर्थमुक्तावली में कुल्लूकभट्ट का उद्धृत 'शतसाहस्रोऽयं ग्रन्थः' (यह ग्रन्थ एक लक्ष अध्यायों का है) यह नारदस्मृति का वाक्य है जो कि इसी लक्षाध्यायी को बतलाता है। ऐसे ही बहुत स्पष्टरीति से 'प्रजापतिर्हि प्रजाः सृष्ट्वा तासां स्थितिनिबन्धनम् त्रिवर्गस्य साधनम्

ग्रे प्रोवाच' इति वात्स्यायनीयसूत्रादेव स्पष्टमुपलभ्यते। इदमेव च सूत्रम् चतुर्वर्गेत्यादिना- ऽपदान्तरमेव मदुक्तेऽर्थे प्रमाणम्। इमामेव च स्मृतिं पितामहः स्वपुत्रं मनुं मां प्रथमं विधि- वदध्यापिपदिति 'इदं शास्त्रन्तु कृत्वाऽसौ' इत्यादिना स्वायंभुवो मनुः स्वयमेव प्रोवाच जग्रन्थ चासावेवास्या धर्मभागमात्रेण संक्षिप्तेन स्ववाक्यानि, सैषा मानवी संहिता याव- दिदानीं प्रचरति। तदाह वात्स्यायनः 'तस्यैकदेशिकं मनुः स्वायम्भुवो धर्माधिकारिकं पृथक् चकार' इति। एतदंशप्राया एव चापरास्सर्वा धर्मस्मृतयः। अर्थभागमात्रं चास्या भगवान्बृहस्पतिः संजग्राह यदर्थशास्त्रमाचक्षते। तदप्याह वात्स्या० 'बृहस्पतिरर्थाधिकारि- कम्' इति। सर्वाणि च सूदकरितुरगनिधिनीतिकृषिवार्तायन्त्रमातृकाधारणमातृकाऽदिशा- स्त्राण्यनेकभेदानि साम्प्रतमपि यावल्लेशतः प्रचालितानि बार्हस्पत्यस्यास्यैवाद्यत्वेऽनुपलभ्यमा- नस्य शास्त्रस्य संक्षेपरूपाणि। एवमुक्तायाः पितामहस्मृतेरेव कामभागमपि तत्तत्कालिकपु- रुषमनीषाऽपकर्षतारतम्यानुसारेण तदा तदा ते ते महाशयाः संक्षिप्य स्वस्ववाक्यानि जग्रन्थुः। तद्यथा। श्रीशिवचरणानुचरो भगवान्नन्दी सहस्राध्यायी, औद्दालकिः श्वेतकेतुः पञ्चशताध्यायीं, पाञ्चालो बाभ्रव्यः सप्ताधिकरणामध्यर्द्धशताध्यायीं, ग्रन्थतोऽर्थतश्च यथा- क्रमं रचयामासुरित्यादिकमुक्तेभ्यो वात्स्यायनीयसूत्रेभ्यः सुलभमुपलम्भनीयम्। एवंचैवं- विधा लक्षाध्यायी पैतामही संहिताऽपि यदीयस्य तुर्यांशरहितस्यांशस्य सूचीप्राया, तस्य भगवतो वेदस्य ग्रन्थतो महिमानं को नाम महेन्द्रकल्पोऽपि जीवकोटिनिविष्टो विशेषतो

॥ भाषा ॥

अध्यायानां शतसहस्रेण अग्रे प्रोवाच' यह पूर्वोक्त वात्स्यायनसूत्र भी ब्रह्मदेव का रचित लक्षाध्यायी स्मृति के विषय में प्रमाण है।

और इसी लक्षाध्यायी को ब्रह्मदेव ने अपने पुत्र स्वायम्भुवमनु को प्रथम विधिवत् पढ़ाया जैसा कि 'इदं शास्त्रं तु कृत्वाऽसौ' इस पूर्वोक्तश्लोक से स्वायम्भुवमनु ने आप ही कहा है और उन्ही ने इस लक्षाध्यायी के धर्मभाग का संक्षेपरूपी एक ग्रन्थ भी रचना किया जो आज तक पूर्ण प्रचलित है जिसको मनुस्मृति और मनुसंहिता कहते हैं और इस बात को 'तस्यैकदेशिकं मनुः' इत्यादि पूर्वोक्तसूत्र से वात्स्यायनमहर्षि ने भी कहा है तथा इसी मनुस्मृति के तात्पर्य को ले २ कर अत्रिस्मृति आदि सबी धर्मशास्त्र रचे गये हैं। पूर्वोक्त लक्षाध्यायी के राजनीति आदि अर्थ- सम्बन्धी भागों को ले कर इन्द्र के गुरू बृहस्पतिमहर्षि ने अर्थशास्त्र बनाया जैसा कि 'बृहस्पतिर- र्थाधिकारिकम्' इस पूर्वोक्तवात्स्यायनसूत्र से स्पष्ट है। और सूदविद्या, गजविद्या, अश्वविद्या, निधिविद्या, नीतिविद्या, कृषिविद्या, वार्ता, (वाणिज्यविद्या' यन्त्रमातृका, (शिल्पविद्या) और धारणमातृका 'अध्ययन आदि की शिक्षाविद्या' आदि बहुत से शास्त्र उसी अर्थशास्त्र के तात्पर्यों को ले २ कर रचित हुए जिनके लोप होने पर भी उनकी शिक्षाप्रणाली कुछ न कुछ आजतक भारतवासी और अन्यान्यद्वीपवासी मनुष्यों में वर्तमान हो है और अब भी उनमें से किसी २ ग्रन्थों के खण्डित २ अंश जहां तहां मिलते भी हैं। और उसी लक्षाध्यायी के कामसम्बन्धी भाग को, पुरुषबुद्धियों की न्यूनता देख, समय २ पर नन्दीश्वर, श्वेतकेतु, बाभ्रव्य और दत्तक आदि ने ले २ कर संक्षिप्त २ कामशास्त्रों की रचना किया ये सब बातें भी पूर्वोक्तवात्स्यायनसूत्रों से स्पष्ट हैं। यहां तक पूर्वोक्त लक्षाध्यायी का शब्दकृत और अर्थकृत महत्त्व वर्णित हो चुका। अब ध्यान

मनसाऽपि स्पष्टमीष्टे किमुतापरे वराका इति कृतबुद्धयो विदाङ्कुर्वन्तु ।

अथार्थतो वेदस्य महत्त्वम्

अर्थतो महत्त्वं च वेदस्य किमिव वर्णनीयं यतः सकलान्येव चतुर्दश विद्यास्थानानि प्रत्येकमनेकग्रन्थगहनत्वात्स्वयमप्यनन्तानीव वेदार्थस्यैव व्याख्याभूतानि इति ।

अथ वेदविभागः

तं चैनमेकग्रन्थभूतमेव वेदं भगवान् हिरण्यगर्भः शिष्योपाध्यायिकया प्रचारयांबभूवेति 'तेनासौ' इत्यादिभ्यः 'चतुर्युगेषु' इत्यन्तेभ्य उक्तेभ्यः श्रीमद्भागवतवाक्येभ्यो लभ्यते । तत्र 'चतुर्भिर्वदनै' रिति तु शिष्याणां भूयस्त्वात्संघशः पृथक् पृथगध्यापनमित्यभिप्रायेण, नतु वेदविभागाभिप्रायेण, तथासति तदनन्तरं तत्रैवोक्तस्य व्यासकृतस्य वेदचतुर्धाविभागस्यासङ्गतप्रसङ्गात् । एवमेव भागवते तृतीयस्कन्धे द्वादशाध्याये स्वयम्भुवः पूर्वादिमुखक्रमेण ऋग्वेदादिसृष्ट्यभिधानमपि वेदस्यैकस्य ऋग्वेदादीनाम्पादानां ये येंऽशास्तत्र तत्र विकीर्णास्तेषां तेन तेन मुखेनोच्चारणनियममभिप्रेत्यैव, नतु वेदविभागमितिध्येयम् । सर्वेषु च महाकल्पेष्ववान्तरकल्पेषु चेयमेव रीतिर्यत् प्रत्येकद्वापरयुगावसानपर्यन्तमविभक्तएवैकग्रन्थभूतो वेदोऽध्याप्यते । तदा यावदेवाविभक्तवेदाध्ययनयोग्यपुरुषबुद्धिसद्भावात् । अतएव 'नारायणा-

॥ भाषा ॥

देना चाहिये कि यह लक्षाध्यायी, उपनिषदों से रहित जिस वेद का सूचीपत्र के समान अति संक्षेप है उस वेदभगवान् के शब्दविस्तार को, चाहो इन्द्र ही क्यों न हो परन्तु कौन जीव पूर्णरूप से जान सकता है । यह वेद का शब्दतः महत्त्व वर्णित हुआ ।

(वि. २) वेद के अर्थ का विस्तार ।

वेद के अर्थ के विस्तार का भी कौन वर्णन कर सकता है कि जिस के अर्थ का व्याख्यान, ये पुराणादि १४ विद्याएं हैं जिन में से एक २ विद्या के ग्रन्थों का विस्तार अनन्त है ।

अब वेद के विभाग का क्रम दिखलाया जाता है—

(वि. ३) 'तेनासौ' से 'चतुर्युगेषु' तक पूर्वोक्त श्रीमद्भागवत के श्लोकों से यह निश्चित है कि अविभक्त एक ही वेद के अध्ययन अध्यापन का प्रचार ब्रह्मदेव का किया हुआ है और उक्तश्लोक में जो चार मुख कहा हुआ है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वेद के चार होने से चार मुखों के द्वारा वेद का प्रकाश किया किन्तु यही अभिप्राय है कि शिष्यगण बहुत और पढ़ने के समय चारो दिशा में बैठते थे इस कारण चारो मुखों से व्याख्यान किया, क्योंकि यदि उसी समय वेद का विभाग माना जाय तो उक्त भागवतश्लोक ही से जो व्यासकृत चार विभाग वेद का कहा है उससे विरोध पड़ जायगा ऐसे ही भागवत ३ स्कन्ध १२ अ० में ब्रह्मदेव के पूर्व आदि मुख के क्रम से जो ऋग्वेदआदि की सृष्टि कही है उसका भी वेद के विभाग में तात्पर्य नहीं है किन्तु यह तात्पर्य है कि एक ही वेद में ऋग्वेद के वाक्य जहां २ आते थे वहां २ उनका उच्चारण पूर्व ही के मुख से किया इत्यादि । और प्रत्येक महाकल्प (ब्रह्मा का जीवनकाल) और कल्प (ब्रह्मा का दिन) में यही रीति है कि प्रत्येक चतुर्युग में द्वापरयुग के कुछ शेष रहते तक अविभक्त एक वेदका अध्ययन अध्यापन होता है क्योंकि तब ही तक पुरुषबुद्धियों में पिण्डित (मिलित) वेद के पढ़ने की शक्ति कुछ अवशिष्ट रहती है जैसा कि 'नारायणाद् विनिष्पन्नम्' इत्यादि पूर्वोक्त स्कन्दपुराण और 'वदे

द्विनिष्पन्नं ज्ञानं कृतयुगे स्थितम् । किंचित्तदन्यथाजातं त्रेतायां द्वापरे स्थितम्' इति श्रीमध्वाचार्योद्धृतः स्कान्दश्लोकः सङ्गच्छते । तत्र हि ज्ञायतेऽनेनेतिव्युत्पत्त्या वेदबोधकाज्ज्ञानपदादेकवचनं निर्दिश्यते । अतएवच 'वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः' रिति विष्णुपुराणमपि सङ्गच्छते त्रेतायां द्वापरे तज्ज्ञानं किंचिदन्यथाजातं स्थितमित्युक्तस्कान्दोक्त्यैव च सत्ययुगान्तमारभ्यैव शनैः शनैर्वेदाध्ययनसम्प्रदायह्रासोपक्रमः सूचितः । एकैकस्मिंश्चावान्तरकल्पे चतुर्दश मन्वन्तराणि भवन्ति । प्रतिमन्वन्तरं च द्वापरे द्वापरे व्यास एव वेदान्व्यस्यति । व्याससंज्ञा च वेदव्यसनाधिकारनिबन्धनेत्युक्तं प्राक् । पूर्वेषु च मन्वन्तरेषु वैवस्वताख्यैतन्मन्वन्तरीयसप्तविंशतितमद्वापरपर्यन्तेषु प्रतिद्वापरान्तमन्योऽन्य एव महर्षिर्व्यासास्पदभाग् यथायथं वेदं व्यास्थत् । तथाच 'अथ व्यस्ता द्वापरादौ महर्षिभिः । क्षीणायुषः क्षीणसत्वान्दुर्मेधान्वीक्ष्य कालतः । वेदान्महर्षयो व्यस्यन् हृदिस्थाच्युतनोदिताः' । इत्युदाहृतं श्रीमद्भागवतवाक्यम् । अत्र च 'द्वापरादावित्यत्र द्वापरमादिर्यस्य तदन्त्यांशलक्षणस्य कालस्य तस्मिन् इत्यर्थः । द्वापरान्ते वेदविभागप्रसिद्धेः शन्तनुसमकालं व्यासावतारप्रसिद्धेश्चे' ति श्रीधरस्वामिनः । कलियुगान्ते च शक्तीनामिव बुद्धीनामप्यस्तमयदेशीयेन ह्रासेन वेदस्यात्यन्तमुत्सादे धर्मस्य तुरीयं चरणमपि सीदन्तमवधार्य 'धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे' इति स्वप्रतिज्ञामनुरुध्यावतीर्णेन श्रीभगवता कल्किना कलिमपगमय्य भूयः स्थापिते सत्ययुगे पुनरपि पुण्यशालिनो महाबुद्धीनध्युष्य पूर्ववदेवाविभक्तवेदाध्ययनप्रचार समुज्जृम्भत इत्येषा शाश्वतिकी मर्यादा । अस्मिंस्तु वैवस्वतमन्वन्तरेऽष्टाविंशतितमेऽनन्तरे द्वापरेंऽशेनावतीर्णो भगवान् कृष्ण·

॥ भाषा ॥

मेकं चतुष्पादम्' इत्यादि विष्णुपुराण से सिद्ध है और इसी स्कन्दपुराण से यह भी सिद्ध है कि प्रति त्रेतायुग के आरम्भ ही से वेद के अध्ययनसम्प्रदाय की हानि का भी आरम्भ होता है और यह हानि पुरुषबुद्धियों में शक्तिहानि से होती तथा काल के बल से धीरे २ अधिक ही होती जाती है । तथा प्रत्येककल्प में १४ मनु होते हैं और एक मनु का अधिकार जब तक रहता है उतने समय को मन्वन्तर कहते हैं और एक मन्वन्तर में ७१ चतुर्युग होते हैं और प्रति द्वापरयुग में व्यास ही वेद का विभाग करते हैं तथा व्याससंज्ञा, किसी एक पुरुष की नहीं है किन्तु वेद के विभाग करने का अधिकारी जिस समय जो होता है वही व्यास कहा जाता है यह पूर्व में कहा गया है । इस श्वेतवाराहनामक कल्प का यह वर्तमान आठवां मन्वन्तर वैवस्वतमन्वन्तर कहलाता है अर्थात् वर्तमानसमय में विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र श्राद्धदेवनामक मनु का अधिकार है और इस मन्वन्तर में यह २८ वां चतुर्युग है जिसका कलियुग इस समय है तथा अव्यवहित द्वापर के पूर्व इस मन्वन्तर के २७ द्वापरयुगों में अन्यान्य ही महर्षियों ने वेद का विभाग किया, जैसा कि 'अथ व्यस्ता द्वापरादौ' इत्यादि पूर्वोक्त भागवतवाक्य से सिद्ध है तथा कलियुग के अन्त में पुरुषों की शक्ति और बुद्धि की अत्यन्त न्यूनता के कारण वेद के लुप्त होने से धर्म के बचे बचाए दुर्बल चतुर्थचरण को भी नष्ट होते देख 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे' (धर्म के स्थापनार्थ, मैं युग २ में अवतार लेता हूँ) इस अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार परमेश्वर कल्किनामक अवतार को धारण कर कलियुग के नाशद्वारा सत्ययुग का पूर्ववत् स्थापन करते हैं । तब से अविभक्त ही एक वेद का पुनः प्रचार होता है यही व्यवस्था सनातनी है । और इस व्यतीत द्वापर में अवतार ले कर भगवान्

द्वैपायनो नाम व्यासो येन प्रकारेण वेदं व्यास्थत् सोऽपि प्रकारः पूर्वोपन्यस्तेषु स्कान्दश्रीमद्भागवतविष्णुपुराणभागेषु 'गौतमस्य ऋषेः' इत्यारभ्य 'पुनस्तस्यार्थवित्तये' इत्यन्तेन, 'अस्मिन्नप्यन्तरे' इत्यारभ्य 'मन्त्रैर्मणिगणा इव' इत्यन्तेन, 'ब्रह्मणा चोदितो व्यास' इत्यारभ्य 'अत्रैव मत्सुतो व्यास अष्टाविंशतिमेऽन्तरे। वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः' इत्यन्तेन पराशरवाक्येन च यथाक्रममुक्तः। अत्रचा 'ष्टाविंशतिमे द्वापरयुगे इति शेषः' इति महिदासोक्तं स्मर्तव्यम्। तथाचायमुक्तपुराणत्रयैकवाक्यतासिद्धो मुक्तिकोपनिषदभिमतो वेदविभागक्रमः। प्रथमस्तावत्, मन्त्रब्राह्मणस्वरूपऋग्वेदादिवेदचतुष्टयस्य संग्रहरूपग्रन्थचतुष्टयनिर्माणपर्यवसितो विभागः। क्रमेण तत्तद्वेदग्रहीतारश्च पैलवैशम्पायनजैमिनिसुमन्तवो व्यासान्तेवासिनो महर्षयः। ततश्चोक्तेषु चतुर्षु ग्रन्थेषु शाखाविभागः स्कान्दोक्तो द्वितीयः तत्र चोपनिषदुक्ता एकविंशतिमृग्वेदशाखा, बोधसौकर्यमनुसरन् भगवान् कृष्णद्वैपायनः शाखांशानामावापोद्वापाभ्यां चतुर्विंशतिधा विभज्य चतुर्विंशतिं शाखाग्रन्थात् संकलयामास। यजुर्वेदस्य तु नवाधिकशतसंख्याकासूपनिषदुक्तासु तास्वष्टौ शाखा अवशिष्टास्वेव स्थाने स्थाने प्रकरणानुसारेण योजयित्वैकाधिकं शतं ग्रन्थान् संकलितवान्। सामवेदस्य तूपनिषदुक्ता यावतीः शाखास्तास्तथैव प्रचारयामास। अथर्ववेदस्य तु श्रुत्युक्तासु पञ्चाश-

॥ भाषा ॥

कृष्णद्वैपायननामक व्यास ने जिस प्रकार वेद का विभाग किया वह भी पूर्वोक्त 'गौतमस्य ऋषेः' से 'पुनस्तस्यार्थवित्तये' पर्यन्त स्कन्दपुराण और 'अस्मिन्नप्यन्तरे ब्रह्मन्' से 'मन्त्रैर्मणिगणा इव' पर्यन्त भागवत तथा 'अत्रैव मत्सुतो व्यासः' से 'चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः' पर्यन्त विष्णुपुराण से पूर्व में स्पष्ट ही कहा गया है। यहां तक के व्याख्यान से अनन्तरोक्त तीन पुराणों से सिद्ध और पूर्वोक्त मुक्तिकोपनिषद् का अभिप्रेत वेदविभाग का क्रम जो निश्चित हुआ सो यह है कि—

कृष्णद्वैपायन व्यास ने उस एक अविभक्त अर्थात् एक ही वेद में स्थान २ पर मिलितरूप से वर्तमान मन्त्र और ब्राह्मणरूपी ऋग्वेदादिभागों को संग्रह कर ऋग्वेदादिनामक चार ग्रन्थों की संकलना किया यह विभाग प्रथम है। और अपने छात्र महर्षियों को पढ़ाया भी। उनमें से मुख्य छात्रों के नाम से अध्यापन का विभाग यह है कि पैल को ऋग्वेद, वैशम्पायन को यजुर्वेद, जैमिनि को सामवेद और सुमन्तु को अथर्ववेद पढ़ाया उसके अनन्तर शाखाओं का विभाग किया यह द्वितीय विभाग है जो कि पूर्वोक्त स्कन्दपुराण में कहा है। और ये विभक्त शाखाएं भी ऐसी थीं कि प्रत्येकशाखा में मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग पृथक् २ एकत्रित नहीं था किन्तु प्रथम दो चार मन्त्र, तब उन मन्त्रों का ब्राह्मण, पुनः दो चार मन्त्र तब उनका ब्राह्मण, इस रीति से प्रत्येकशाखा का स्वरूप था और इन शाखाओं की संख्या इस रीति से व्यास ने स्थापित किया कि उक्त मुक्तिकोपनिषद् में कही हुई ऋग्वेद की २१ शाखाओं में से कुछ २ मन्त्र और ब्राह्मण के भागों को निकाल २ कर शिष्यबोध के सुभीते के लिये ३ शाखा और बढ़ा कर २४ शाखाग्रन्थों को संकलित किया और यजुर्वेद की १०९ शाखाओं में से ८ शाखाओं को अवशिष्टशाखाओं में ही प्रकरण के अनुसार स्थान २ पर मिला कर ८ संख्या न्यून कर १०१ ही शाखाग्रन्थों की संकलना किया तथा सामवेद की १००० शाखाओं की संख्या को तो जितनी की तितनी ही रखा। इस में यह स्पष्ट कारण है कि पूर्व में मन्त्रोपयोगवर्णन के अवसर पर कहे दृढ़तरप्रमाणों से यह सिद्ध

च्छाखासु द्वादशैव राशीन्कृत्वा द्वादश शाखाग्रन्थांश्चकार । मन्त्राणां च पूर्वोक्तमन्त्राधिकर
णन्यायेन स्वरगानयुक्तस्वरूपपाठतोऽपि च्छन्दोदेवतादिज्ञानपूर्वकमेव कर्मसूपयुक्तानां संस्
तानां द्रव्यान्तराणामिव ब्राह्मणभागैः कर्मसु विनियुक्तानां पदक्रमजटादिभिरभ्यासपरिप
टीभिरावश्यकात्यन्ताभ्यसनीयत्वं बुबोधयिषुर्भगवान् कृष्णद्वैपायनः स्वविभागसंगृहीता

॥ भाषा ॥

है कि साममन्त्र, अन्यमन्त्रों के समान अक्षररूपी नहीं हैं किन्तु केवल गान (नाद) रूपी अर्थात्
षड्ज, ऋषभ गान्धार आदि सप्तस्वरों के आवर्तरूपी हैं और उन साममन्त्रों का गान उन ऋक्
मन्त्रों में होता है जिनको कि योनि कहते हैं ऐसी दशा में साममन्त्रों में एक से दूसरे का सम्बन्ध वा
प्रकरणसाम्य हो ही नहीं सकता और एक ही योनिमन्त्र में यज्ञों के अवसर २ पर अनेक साम
मन्त्रों का गान भी होता है इस कारण, योनिमन्त्रों के अनुसार भी साममन्त्रों के मेलन
व्यवस्था ठीक नहीं हो सकती तथा सामवेद के ब्राह्मणभागों में भी उक्तकारण ही से अन्योन्यसम्बन्ध
प्रकरणबद्ध ठीक नहीं हो सकता इस रीति से जब नादमात्ररूपी साममन्त्र, ग्रन्थरूपी नहीं हो सकते त
उनका और उनके ब्राह्मणों का जैसा अनादिसम्बन्ध वेद में चला आता है उसी को ठीक समझ
चाहिये । इसी ध्यान से सामवेद की जितनी शाखाएं थीं व्यास ने भी उतनी ही रहने दिया उन
न्यूनाधिक नहीं किया, किन्तु इतनामात्र किया कि उन मन्त्रब्राह्मणरूपी शाखाओं को उस अविभ
अर्थात् पिण्डितवेद से निकाल कर पृथक् कर दिया । तथा अथर्ववेद की ५० शाखाओं में प्रकरणा
नुसार अंशों को अन्योन्य में योजना के द्वारा संग्रह कर १२ ही शाखाग्रन्थों की संकलना किया
अब तृतीय विभाग कहा जाता है कि पूर्वोक्त मन्त्राधिकरण से यह सिद्ध हो चुका है कि ब्राह्मण
की अपेक्षा मन्त्र में ये विशेष हैं कि मन्त्र, ब्राह्मणवाक्यों के नियोज्य हैं अर्थात् मन्त्र भी ब्राह्मण-
वाक्यों की आज्ञानुसार तण्डुल, यव, गोधूम, घृत, काष्ठ, सुवर्ण, रजत आदि द्रव्यों के नाईं यज्ञों
में लगाएजानेवाले द्रव्य ही हैं और ब्राह्मणवाक्यों का पाठ वा जप प्रायः यज्ञ का उपयोगी नहीं होत
किन्तु उनका वाक्यार्थबोध ही यज्ञोपयोगी होता है परन्तु मन्त्रों का पाठ और जप भी यज्ञोपयोगी
होता है अर्थात् पाठ वा जप के विना, मन्त्रों से यज्ञों में कोई उपकार नहीं होता और पाठ भ
मन्त्रों का तब ही यज्ञोपकारी होता है जब वह स्वरों वा गानों से संयुक्त हो । और उक्तगुण से
युक्त केवल मन्त्रों का पाठमात्र भी यज्ञोपकारी नहीं है किन्तु ऋषि छन्द और देवता आदि के
ज्ञानपूर्वक ही मन्त्रपाठ यज्ञोपकारी है अर्थात् जैसे प्रोक्षण, अवघात, पेषण, अवेक्षण और उत्पवन
आदि संस्कारों से संस्कृत ही यव, घृत आदि द्रव्य यज्ञोपकारी होते हैं वैसे ही अनन्तरोक्त सकल-
गुणों से संयुक्त पाठरूपी संस्कार से संस्कृत ही मन्त्ररूपी द्रव्य, यज्ञोपकारी होते हैं । तात्पर्य यह
है कि यज्ञक्रियाओं के अवसर पर मन्त्रों का विधिवत् पाठ आवश्यक है इससे मन्त्रों को अध्ययना-
वस्था ही में भली भांति रट २ कर स्वर वा गान से सहित कण्ठस्थ करना चाहिये जिस से यज्ञ के
समय पर बेधड़क और विधिवत् उनका पाठ हो सके इन्हीं सब बातों की सुभीता के लिये दो बार
विभागों के अनन्तर, व्यास ने यजुर्वेद की १५ शाखाओं से अन्य, अपने विभाग की हुई प्रत्येक
मन्त्रब्राह्मणरूपी शाखा में स्थान २ से उस २ शाखा के मन्त्रों को, निकाल २ कर प्रतिशाखा के
आदि में एकत्रित कर २ दिया जिस से कि प्रतिशाखा में वह एकत्रित किया हुआ शुद्ध मन्त्रभाग,
प्रथमखण्ड और अवशिष्ट ब्राह्मणभाग द्वितीयखण्ड हो गया । इस रीति से यजुर्वेद की १५ शाखाओं